स्वाध्याय-प्रेमियों के लिये
अमूल्य निधि

ब्रह्मचर्याङ्क (अनेकों चित्रों सहित) मूल्य २॥) सम्पादक—परमश्रद्धेय श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती।

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में आज तक जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं उन सभी से यह अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमे भारतकी महान विभूतियों ने अपने अनुभव व्यक्त किये हैं। विद्यार्थियों तथा युवक युवतियों के लिए यह नित्य पठनीय ग्रन्थ संग्रह की वस्तु है।

कर्त्तव्याङ्क (अनेक चित्रों सहित) मूल्य ३) सम्पादकः—श्रद्धेय श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज।

इस विशेषांक की उपयोगिता के सम्बन्ध में जितना कहा जाय कम है। कर्त्तव्य की जैसी विशद और सुन्दर मीमासा इसमें आपको मिलेगी वह अन्यत्र दुर्लभ है। सन्त समुदाय के गवेषणा पूर्ण लेखों से आप मुग्ध हो जायेंगे।

दोनों विशेषाङ्कों की प्रतियाँ बहुत सीमित संख्या मे बची हैं। स्वाध्याय प्रेमी मँगाने में शीघ्रता करें क्योंकि समाप्त होने पर उनका पुनर्मुद्रण असम्भव है। पूरे वर्ष की रुचितम फाइल (विशेषाङ्क सहित) का मूल्य केवल ६) रक्खा गया है।

व्यवस्थापक
'परमार्थ' मुमुक्षु आश्रम
शाहजहाँपुर

नोट—परमार्थ की उपयोगिता को राष्ट्रोत्थान एवम् चरित्र निर्माण में सहायक जानकर उत्तर प्रदेशीय सरकार के पंचायतराज विभाग ने पुस्तकालयों के लिये इसकी स्वीकृति दे दी है।

"सर्वभूत हितेरता:"

—: प र मा र्थ :—

दैवी गुण विकाशक, शान्ति संस्थापक, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रकाशक

[श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सचित्र मासिक पत्र]

संस्थापक

पूज्य श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

पूज्य श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

संचालक

तथा केवल इस विशेषाङ्क

दुःख निवारण अंक

के सम्पादक

श्री स्वामी सदानन्द सरस्वती जी

सम्पादक मण्डल

सर्वश्री 'मञ्जुल', रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री साहित्यरत्न, पं० हृदयनाथ शास्त्री साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० साहित्यरत्न, रामस्वरूप गुप्त

मुद्रक—रामबहादुर काश्यप

वार्षिक मूल्य—
भारत में ४॥)
विदेश में ५)

परमार्थ प्रेस,
मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

केवल दुःख निवारणाङ्क का मूल्य
भारत में ३॥)
विदेश मे ५)

आवश्यक-निवेदन

१—'परमार्थ' के चतुर्थ वर्ष का (विशेषाङ्क) प्रथम व द्वितीय अङ्क "दु:ख निवारण अङ्क" आप के कर कमलों में है। इसमे कई रगीन व कई सादे चित्र दिये गये हैं। कागज की प्राप्ति में कठिनाई एवं महँगाई होते हुये भी गतवर्ष की अपेक्षा इसका कलेवर बढ़ाया गया है।

२—जो सज्जन वार्षिक मूल्य ५।।) भेजकर पूरे वर्ष के ग्राहक बनेंगे उन्हें ३।।) का रंग-विरंगे चित्रों वाले 'दु:ख निवारण अङ्क व परिशिष्टाङ्क' के साथ-साथ शेष दस साधारण अङ्क [।।) प्रति अङ्क मूल्य वाले] प्रति माह मिलते रहेंगे, अर्थात 'दु.ख निवारण अङ्क' मुफ्त मिल जायगा।

३—यथा सम्भव कम से कम खर्च करने पर भी 'परमार्थ' घाटे में पड़ता जा रहा है। (विज्ञापन आदि तो 'परमार्थ' में लिये ही नहीं जाते।) यह आप जानते ही हैं कि सार्वजनिक संस्था होने के नाते यह घाटा आपका ही घाटा है, इसलिये इसको घाटे से बचाना एवं आध्यात्मिक-दान के प्रचार मे यथायोग्य सहयोग देना आपका कर्त्तव्य हो जाता है। अस्तु, सादर निवेदन है कि कुछ परिश्रम करके कम से कम दो-दो नये ग्राहक तो अवश्य ही बना देवें। भावना तथा लगन से चेष्टा करने पर यह कोई बड़ी बात नहीं है। जो लोग भगवान् का काम समझकर नि स्वार्थ भाव से परमार्थ के ग्राहक बना रहे हैं उनके हम हार्दिक आभारी हैं।

४—गत वर्ष के अन्तिम अंक में प्रकाशित सूचना के अनुसार जिन प्रेमी सज्जनों से मनीआर्डर अथवा ग्राहक न रहने का मनाही कार्ड नहीं मिला, उनकी सेवा मे दु:ख निवारणाङ्क' वी०पी० द्वारा भेजा जा रहा है। ऐसा भी सम्भव है कि उधर से आपने रुपये भेजे हों और यहाँ प्राप्त होने के पूर्व ही आपके नाम वी० पी० चली जाय, 'ऐसी परिस्थिति में आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपा पूर्वक वी० पी० लौटावें नहीं, प्रयत्न करके एक नवीन ग्राहक बनाकर वी० पी० छुड़वालें और नवीन ग्राहक का नाम-पता साफ-साफ यहाँ लिख भेजें। आपकी इस कृपा से परमार्थ' व्यर्थ की हानि से बच जायगा और आप 'परमार्थ' के प्रसार मे सहायक होकर पुण्य के भागी बनेंगे। कृपया यह सूचना 'परमार्थ' के अन्य प्रेमी ग्राहकों को भी दे दें।

५—'परमार्थ' प्रत्येक मास की १५ तारीख को प्रकाशित होता है जिसे शीघ्र भेजने की चेष्टा करने पर भी प्राय. एक सप्ताह लग ही जाता है। कार्यालय से सभी अंक बड़ी सावधानी से भेजे जाते हैं, गड़बड़ी पोष्ट आफिस मे ही होने की सम्भावना है, जिसके कारण अंक कभी-कभी रास्ते मे गुम हो जाते हैं। अत: प्रत्येक मास के अंत तक यदि उस मास का अंक न मिले तो पोष्ट आफिस में लिखित शिकायत करनी चाहिये। वहाँ से जो उत्तर मिले वह हमें भेज देना चाहिये। कुछ लोग चार-चार, पाँच-पाँच अंकों की शिकायत एक साथ लिखते हैं पर देरी होने के कारण न तो पोष्ट आफिस पर शिकायतों का प्रभाव पड़ता है न खोये हुये अंक उनको मिल पाते हैं। अतः इस विषय मे बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। जिनके अंक बराबर गुम होते रहें, वे अपने डिवीजन के 'सुपरिन्टेन्डेन्ट आफ पोष्ट आफिसेज' को शिकायत लिखने की कृपा करें।

६—इस विशेषाङ्क के लिफाफे पर आपका जो ग्राहक नम्बर, नाम व पता लिखा गया है, उसे खूब सावधानी पूर्वक देखलें। यदि कोई परिवर्तन कराना चाहें तो पत्र द्वारा कार्यालय को शीघ्र ही सूचित कर दें। पत्र देते समय ग्राहक नम्बर लिखना न भूलें।

व्यवस्थापक

परमार्थ के नियम

(१) दैवी-गुणपूर्ण, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य सदाचार समन्वित विचारों द्वारा जनता को परमार्थ पथ पर पहुँचाने का प्रयत्न करना ही इसका उद्देश्य है।

(२) 'परमार्थ' का नया वर्ष १५ जनवरी से आरम्भ होकर १५ दिसम्बर को समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरी से ही बनाये जाते हैं। वर्ष के किसी महीने मे भी ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु जनवरी के अङ्क के बाद निकले हुऐ तब तक सब अङ्क उन्हें लेने होंगे 'परमार्थ' के बीच के किसी अङ्क से ग्राहक नहीं बनाये जाते, छः या तीन महीने के लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(३) इसका विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्ष में ५।।) और भारतवर्ष से बाहर के लिये ८) नियत हैं। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुये पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(४) ग्राहकों को चंदा मनीआर्डर द्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देर से जा पाते हैं और खर्चा भी अधिक पड़ जाता है।

(५) इसमें बाहर के विज्ञापन किसी भी दर पर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(६) कार्यालय से 'परमार्थ' दो तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहक के नाम से भेजा जाता है यदि किसी मास का अङ्क समय पर न पहुँचे तो अपने डाकघर से फौरन लिखा पढ़ी करनी चाहिये। डाकघर का उत्तर शिकायती पत्र के साथ न आने से दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलने में अड़चन हो सकती है।

(७) पता बदलने की सूचना कम से कम १५ दिन पहले कार्यालय में पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना व नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो, अपने पोस्ट मास्टर को ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलने की सूचना न मिलने पर अङ्क पुराने पते से चले जाने की अवस्था मे दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(८) ग्राहकों को अपना नाम-पता स्पष्ट लिखने के साथ-साथ ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्र में आवश्यकता का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(९) पत्र के उत्तर के लिये जबाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बात के लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्र की तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१०) प्रबन्ध-सम्बधी पत्र, ग्राहक होने की सूचना मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक, "परमार्थ" मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के नाम से और सम्पादक से सम्बन्ध रखने वाले पत्रादि सम्पादक "परमार्थ" मुमुक्षु आश्रम-शाहजहाँपुर के नाम से भेजने चाहिये।

(११) पुस्तकों सम्बन्धी पत्र मैनेजर पुस्तक विक्रय विभाग के नाम भेजना चाहिये। तथा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम भेजना चाहिये।

(१२) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एक से अधिक अङ्क रजिस्ट्री से या रेल से मँगाने वालों से चंदा कम नहीं लिया जाता।

(१३) भगवद्भक्ति, भक्तचरित्र, ज्ञान, वैराग्यादि दैवी गुण विकाशक परमार्थ मार्ग मे सहायक अध्यात्म-विषयक, आक्षेपरहित लेखों के अतिरिक्त अन्य विषयों के लेख भेजने का कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखों को घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापने का सम्पादक को पूर्ण अधिकार है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेख मे प्रकाशित मत के लिऐ सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

विषय-सूची

परिशिष्टाङ्क

चित्र-सूची

तिरंगे

इकरंगे

निशचर हीन करउँ महि भुज उठाय पन कीन्ह

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख माग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकल परस्मै, नारायणायेव समर्पये तत्॥

वर्ष ४ } मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ जनवरी, १९५३ माघ कृष्ण पक्ष अमावास्या गुरुवार, सम्वत् २००९ { अङ्क १—२

—:प्रार्थना:—

न त्वहं कामये राज्यं,
न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां,
प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

नहीं चाह है राज्य-मोक्ष की, नहीं चाहता स्वर्ग-विलास ।
चाह यही प्रभु ! दुखी प्राणियों के हो जावें सब दुख नाश ॥

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—परीक्षा भवन में बैठने वाले परीक्षार्थी के सामने प्रश्न पत्र (Examination Question Papers) तो रक्खे जावेंगे ही, कठिन हो वा सरल। परन्तु यदि प्रश्न कठिन आये, तो क्या परीक्षार्थी को उन्हें देखकर उदास या दुखी होना चाहिये? अथवा शान्त चित्त होकर विचार पूर्वक उनको हल करना चाहिये? इसी प्रकार, सोचो तो—ससार मे जब जन्म हो ही गया तो अनुकूलता प्रतिकूलता, अपमान-रोग आदि भोग तो प्रारब्धानुसार आयेंगे ही—विचार शील को शान्तचित्त होकर विवेक पूर्वक उनको सहन करना तथा वैसे भविष्य मे न आने पावे इसके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये, किंवा दुखी होकर रोना-चिल्लाना चाहिये? याद रक्खो—जो सहनशीलता एव पुरुषार्थ का सहारा नहीं लेगा; उसका दु ख ब्रह्मा भी नहीं मिटा सकते।

विचार करो—बाप-दादा की गुप्त नोटबुक (बही) में यदि यह लिखा मिल जाय कि "चूल्हे के नीचे जमीन में एक गज पर अशर्फियों का घड़ा गड़ा है"—तो क्या उम्र भर उस नोटबुक की पूजा-अर्चा अथवा बारम्बार 'चूल्हे के नीचे जमीन में... "घड़ा गड़ा है" इस वाक्य के पाठ से वह अशर्फियों का घड़ा प्राप्त हो जायगा? कदापि नहीं। उस गुप्त धन को प्राप्त करना है तो फावड़ा उठाओ—चूल्हे के नीचे एक गज गहरा गड्ढा खोदो—घड़ा निकालो और आनन्द लूटो। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, केवल गीता-रामायणादि सद्ग्रन्थों की ही उम्र भर पाठ-पूजा करते रहे और उसमे लिखे अनुसार वचनों पर अमल नहीं किया तो दुःख की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति कदापि नहीं होगी। सतों व सत् शास्त्रों के उपदेशानुसार क्रियात्मक जीवन बनाने पर ही दुःख निवारण हो सकेगा।

विचार करो—सेठ जी अपनी बम्बई वाली दुकान का माल दिल्ली वाली दुकान पर भेजें तो बम्बई वाली दुकान के मुनीम को क्या इसके लिये रोना-धोना या दुखी होना चाहिये? कदापि नहीं। यदि वह दुखी होता है तो यह उसकी सरासर मूर्खता है। अरे भाई! सेठ जी की खुशी है वह अपना माल चाहे जहाँ भेजें। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, जो व्यक्ति भगवान की वस्तु अपना मानकर भगवान के इधर से हटाकर उधर भेजने पर मन मैला करते हैं वा दु.खी होते हैं वे भक्त नहीं बेईमान हैं। भक्तों को तो अपने स्वामी प्रभु के हर विधान में सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये।

विचार करो—सिनेमा हाल मे बैठकर यदि पर्दे पर के अश्लील एवं भयानक दृश्यों से अपना मन मैला नहीं करना चाहते हो तो जानते हो तुम्हें क्या करना चाहिये? या तो (१) पर्दे को सुधारने का प्रयत्न करने के बजाय फिल्म का सुधार करो—अर्थात् सदाचार शिष्टाचार पूर्ण शिक्षाप्रद फिल्म चढ़ालो। या (२) पर्दे की ओर से नजर हटाकर मशीनघर (Operator house) की ओर देखने लग जाओ (३) टार्च का प्रकाश डालने से तो दृश्य ही गायब हो जायगा और दिखाई पड़ेगा केवल पर्दा। इसी प्रकार नोट करलो, यदि जीवन में रोग-शोक आदि दुःख नहीं चाहते हो तो संसार को सुधारने की व्यर्थ चेष्टा मत करो बल्कि या तो (१) अपने निज कर्मों को सुधारो; या (२) संसार से मुँह मोड़ कर भगवान् की शरण ग्रहण करो। (३) ज्ञान से तो संसार का अभाव ही हो जायगा और रह जायगा केवल एक सर्वव्यापी परमात्मा! फिर कौन दु.ख? कैसा दुःख? और किसको दुःख?

'आनन्द'

दुःख किन पर नहीं आते ?

(महाभारत से—अनुवादक श्री प० तुलसीराम जी)

येसर्वातिथयो नित्यं गोपु च ब्राह्मणेपु च ।
नित्यं सत्ये चाभिरता दुर्गाण्यति तरन्ति ते ॥

जो अतिथि, गौ, और ब्राह्मणों का पूजन करने वाले हैं। सत्य के प्रेमी हैं उन पर दुःख नहीं आते हैं।

नित्यं शमपराये च तथा ये चानसूयकाः ।
नित्यं स्वाध्यायिनो येच दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो मनुष्य शान्त चित्त हैं, दूसरे के गुणों में दोष नहीं लगाते हैं, जो स्वाध्याय शील (अपने धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने वाले) है, उन पर दुःख नहीं आते हैं।

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति ये चैकं वेदमाश्रिता ।
श्रद्धानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो वेद शास्त्र में निष्ठा रखने वाले, सब देवताओं को नमस्कार करने वाले, श्रद्धावान् जितेन्द्रिय हैं, उन पर दुःख नहीं आते हैं।

तथैव विप्रप्रवरान् नमस्कृत्य यतव्रताः ।
भवन्ति ये दान रता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो अपने धर्म-कर्म में सावधान उत्तम ब्राह्मणों को नमस्कार करके यथाशक्ति दान करते हैं, उन पर दुःख नहीं आते हैं।

तपस्विनश्च ये नित्यं कौमार ब्रह्मचारिणः ।
तपसा भावितात्मानो दुर्गाण्यति तरन्ति ते ॥

जो बाल्यावस्था से ब्रह्मचारी, तपस्वी और तप से पवित्र अन्तःकरण वाले हैं, उन पर दुःख नहीं आते हैं।

देवतातिथिभृत्यानां पितृणां चार्चने रताः ।
शिष्टान्न भोजिनो ये च दुर्गाण्यति तरन्ति ते ॥

जो पुरुष देवता अतिथि भृत्य नौकरों पिता आदि का यथा योग्य सत्कार करते हैं तथा बलिवैश्वदेव करके भोजन करते हैं, उन पर दुःख नहीं आते हैं।

इन उपरोक्त शुभकर्मों मे से किसी भी कर्म को करने से मनुष्य दुःख की निवृत्ति कर सकता है।

दुःख यथार्थ में है ही नहीं

अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्री ब्रह्मानन्द जी सरस्वती महाराज)

आज कल चारों ओर लोग अशान्त और दुखी दिखाई देते हैं। इसका कारण यथार्थ ज्ञान का अभाव है। विवेक पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाहरी परिस्थितियाँ हमें तब तक प्रभावित नहीं कर सकतीं जब तक हम दृढ़ता पूर्वक उनसे अप्रभावित रहने के लिये उद्योग शील रहते हैं। जब हम अपने मन से बाह्य परिस्थितियों को सुखद या दुःखद मान लेते हैं तभी वे हमें सुखी दुखी बनाती हैं। यदि निरन्तर यह भाव बना रहे कि हम स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर त्रय से परे शुद्ध सच्चिदानन्दघन आत्मा हैं तो किसी भी परिस्थिति में दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती।

प्रारब्ध-भोग टाला नहीं जा सकता। ज्ञानी भी उसे भोगता है और अज्ञानी भी। अन्तर यह है कि ज्ञानी तो प्रसन्नता पूर्वक अच्छा बुरा सभी प्रकार प्रारब्ध भोगता है और अज्ञानी रोते हुये भोगता है। जब यह निश्चित है कि प्रारब्ध अवश्य भोगना पड़ेगा तब उसे प्रसन्नता के साथ ही क्यों न भोग

लिया जाय ! दु:ख यथार्थ में है ही नहीं । उसकी तो प्रतिभासिक सत्ता है जो केवल भ्रम के कारण दिखाई देती है । जैसे किसी कमरे मे पड़ी हुई रस्सी को अन्धकार में देखने वाला सर्प का अनुमान करके भय से काँपने लगता है, परन्तु जिसने सूर्य के आलोक मे उस रस्सी को देखा है वह न तो कम्पित होता है और न व्याकुल । यद्यपि वह भी उन्हीं लोगों के बीच मे है जो रस्सी में सर्प की कल्पना करके भयभीत हो रहे हैं । इसी प्रकार से ज्ञानी भी आपके बीच मे रहता है परन्तु दुःख उसे विचलित नहीं कर सकते ।

आप लोग विचार कर देखिये कि रस्सी तो सबके लिये समान थी परन्तु जो प्रकाश में उसके यथार्थ स्वरूप को देख चुका था वह अन्धेरे में उसको देखकर कम्पित नहीं हुआ । जो उसके स्वरूप को नहीं जानते थे वे भ्रम से उसे सर्प मानकर भयभीत और दुखी हुए । यदि किसी प्रकार उन लोगों का भ्रम दूर हो जाता तो फिर उनके लिये दु:ख का अस्तित्व ही नहीं रहता । इसका निष्कर्ष यही है कि दु.ख का कारण है भ्रम । भ्रम की निवृत्ति हो सकती है , इसलिये दु ख की भी निवृत्ति हो सकती है । यदि दु ख भ्रम मूलक न होता और पारमार्थिक सत्तावान् होता तो उसकी निवृत्ति विधाता भी नहीं कर सकते थे, क्योंकि सत् वस्तु का अभाव कभी भी नहीं होता ।

भ्रम नाश दो प्रकार से होता है। इसे समझने के लिये उसी रज्जु सर्प के दृष्टात को ले लीजिये। दीपक लेकर रज्जु के वास्तविक स्वरूप को देख लेने पर उसमें सर्प का भ्रम मिट सकता था। रस्सी से तो कोई भयभीत होता नहीं । केवल सर्प की कल्पना ही भय का कारण थी । अत. अधिष्ठान का प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर उसका अस्तित्व ही नहीं रहता। भ्रम-नाश का दूसरा उपाय है जानने वाले की बात पर विश्वास करना । जिसने उस रज्जु को दिन के प्रकाश में ठीक-ठीक समझ लिया है उसकी बात पर विश्वास करके भी भय को मिटाया जा सकता है ।

विवेक, वैराग्य षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता इत्यादि साधनों से सम्पन्न होकर ज्ञानी समाधि के द्वारा जगत् और ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है । वह जानता है कि आत्म और अनात्म सभी रूपों मे एक परमात्मा ही व्याप्त है। अत. जगत् में रहते हुये भी वह द्वन्द्व रहित हो जाता है । समाधि काल में प्राप्त किये हुए अज्ञान के बल से वह व्यवहार काल मे भी कभी व्यथित नहीं होता, क्योंकि जहाँ अज्ञानी लोग भय देखते हैं वहाँ भी ज्ञानी ईश्वर को देखता है । चराचर सम्पूर्ण जगत् का एकमात्र अधिष्ठान परमात्मा ही है, जैसे सर्प के अधिष्ठान रज्जु को जान लेने पर भय के लिये कहीं स्थान ही नहीं रहता ।

साधन हीनता के कारण जो परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान करने मे असमर्थ हैं वे भी यदि शास्त्र और ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओं के शब्दों मे श्रद्धा और विश्वास करना सीखें तो बहुत अंशों मे उनका दु.ख दूर हो जायेगा । जब तक अन्त.करण मे भ्रम बना हुआ है तब तक लाख उपाय करने पर भी दुःख से सदैव के लिये छुटकारा नहीं मिल सकता । व्यथित मनुष्य को यदि मदिरा पिलाकर बेहोश कर दिया जाय तो अवश्य कुछ क्षणों के लिये जब तक मदिरा का नशा रहेगा वह अपनी व्यथा भूला रहेगा परन्तु नशा उतरते ही वह पुन. उसी अवस्था को प्राप्त हो जायेगा । इसी प्रकार जगत् के विषयों में मन फँसा कर कोई दु खों से छुटकारा पाना चाहे तो यह सम्भव नहीं ।

आत्मा का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण दु.ख सदैव के लिये नष्ट हो जाते हैं ।

दुःखचतुष्टय के निवारक वर्ण चतुष्टय

(श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य-दार्शनिक सार्वभौम, विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड, वेदान्तवागीश श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज, महामण्डलेश्वर)

योऽनन्तोऽनन्तशक्तिः सृजति जगदिदं पालयत्यन्तरात्मा,
संविश्यान्ते निपीय स्वकमहिमगतः सत्यचिन्मूर्तिरास्ते ।
योऽनुग्रः सज्जनानां परमहिततमः पापिनामुग्रमूर्तिः,
सोऽस्माकं वाञ्छितानि प्रदिशतु भगवानात्मदः श्रीनृसिंहः ॥

दुःख चतुष्टय

संसार में चार प्रकार के दुःख देखने में आते हैं. एक अज्ञान का दुःख, द्वितीय अन्याय का दुःख, तृतीय आवश्यक पदार्थों के अभावों का दुःख, तथा
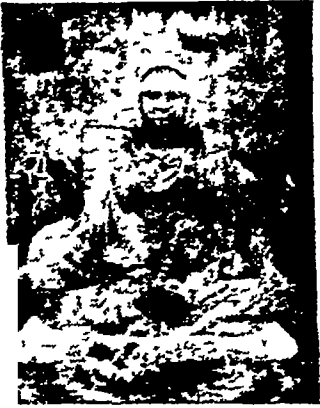
चतुर्थ अभिमानका दुःख, अज्ञान, अन्याय, अभाव एवं अभिमान ये चार बड़े भारी जगत् के शत्रु हैं। वे हरदम प्राणिओं को अनेक प्रकार के दुःख ही देते रहते हैं। संसार में दुःख कोई नहीं चाहता। प्राणिमात्र सर्व प्रकार के दुःखों के निवारण के लिये ही सतत प्रयत्न करते रहते हैं। तथापि जब तक दुःखों के कारणों का नाश न किया जाय, तब तक न चाहने पर भी कोई दुःखों का निवारण नहीं कर सकता। परन्तु लोग अपनी मूढ़ता के कारण दुःखों का निवारण चाहते हुए भी उनके कारणों का निवारण करना नहीं चाहते। एवं सुखों को चाहते हुये भी उनके कारणों का सम्पादन करना नहीं चाहते। ऐसी दशा में कारण नाश के बिना दुःखों की निवृत्ति एवं कारण लाभ के बिना सुखों की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती।

अज्ञान का दुःख

अज्ञान ही समस्त दुःखों की जड़ है। वही सबसे बड़ा कट्टर दुश्मन है। अतएव भगवान् वेदव्यास ने महाभारत में कहा है—

'एक शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुः,
अज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ।
येनावृतः कुरुते संप्रमत्तो,
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥'

हे राजन् ! अज्ञान के समान इस मानव का दूसरा कोई शत्रु नहीं है, अज्ञान ही एकमात्र अनेक प्रकार के दुःख देने वाला शत्रु है। जिसके वश में होकर मानव उन्मत्त एवं विवेक भ्रष्ट बनकर अनेक प्रकार के घृणित पाप-अत्याचार रूप दुष्ट कर्म करता रहता है।

अज्ञान भी कई प्रकार के हैं। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का अज्ञान, हेयोपादेय का अज्ञान, वक्तव्यावक्तव्य का अज्ञान, पाप पुण्य का अज्ञान, शत्रु मित्र का अज्ञान, आहार विहार का अज्ञान, इत्यादि अनेक अज्ञान हैं। परन्तु सब अज्ञानों का राजा, आत्मा परमात्मा का अज्ञान है। इसलिये भगवान् ने भी गीता में कहा है कि—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।'

इस अज्ञान के द्वारा वास्तविक आत्मा का ज्ञान शेवाल से जल की तरह ढका हुआ है–इससे समस्त जीव मोहित-भ्रान्त हो रहे हैं।

ऐसा अज्ञानी मानव ही श्रद्धाशून्य एवं संशय-ग्रस्त होकर शाश्वत सुख से भ्रष्ट होता है। अज्ञान का दु ख तो लोक मे भी प्रसिद्ध है। कोई मनुष्य लता-तरु-तृण सकुल जगल में जा रहा है, मार्ग मे तृणाच्छन्न कूप आता है। उसके अज्ञान से वह उसको न देखकर उसमे गिर जाता है एव दु ख पाता है। मन्दान्धकार के कारण सर्प नहीं दीखता, उसके अज्ञान से जब उसके ऊपर हाथ या पैर पड़ जाता है तब उसे सर्प काट लेता है, विष से उसकी मृत्यु होती है, यह मृत्यु दु:ख भी अज्ञान से ही हुआ। पैर मे काटा गडता है–वह भी अज्ञान का ही फल है। यदि वह काटा देख लेता, उसका अज्ञान न होता तो वह कॉटों के ऊपर पैर ही क्यों रखता? इसलिये ससार में प्राय दु:खों का कारण अज्ञान ही माना जाता है।

अन्याय का दु:ख

कोई अन्याय करता है, उसे देखकर भी दु ख होता है। मनुष्य अपनी मूढता से दूसरों के अन्यायों को तो हजारों ऑखों से देखता है, परन्तु अपने अन्याय को तो देखता हुआ भी देखना नहीं चाहता। 'पश्यन्नपि न च पश्यति मूढ़:।' यही तो स्वार्थान्धता है। जहॉ अपना स्वार्थ सिद्ध होता दीखता है, तब वह अन्याय को कुछ नहीं देखता। दूसरों के हानि की उसे परवाह नहीं किन्तु अपने लाभ की ही उसे परवाह है। दूसरों को दुखी बनाकर भी वह अपने सुख लाभ के लिये लालायित रहता है। जो कोई दूसरों को हानि पहुँचाता है, वह दूसरों की ही हानि नहीं करता, किन्तु अपनी भी हानि करता है। हानि देने वाले कोकभी लाभ नहीं मिलता। इस प्रकार जो कोई दूसरों को दु:ख देता है, वह दूसरों को ही नहीं देता किन्तु अपने को भी दु:ख देता है। 'जैसा देगा, वैसा लेगा' यह ईश्वरीय नियम है। दु ख देने वाले को सुख कभी नहीं मिलता, दु:ख ही मिलता है, यह प्रत्यक्ष है।

जैसा मनुष्य अपने लिये चाहता है। ऐसा ही यदि वह सबके लिये चाहे तो वह न्याय के मार्ग पर चलेगा। परन्तु जब अपने लिये चाहे कुछ और एवं दूसरों के लिये चाहे कुछ और तो वह अन्याय करता है। दूसरों के ही ऊपर नहीं किन्तु अपने ऊपर भी। मूढ़मानव चाहता है कि कोई मेरी बुराई न करे, परन्तु आप दूसरों की बुराई करता रहता है, ऐसी दशा मे उसकी वह चाहना, कभी सफल नहीं हो सकती। धर्म का यही लक्षण कहा है:—

श्रूयता धर्म सर्वस्वं, श्रुत्वा चावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्॥

धर्म का सर्वस्व-सार सुनो, सुनकर धारण करो। जो बातें हमें प्रतिकूल मालूम होती हैं उनका अन्यों के प्रति कभी आचरण न करो। यही धर्म एवं न्याय का राजमार्ग है। कोई हमारे सामने झूठ बोलता हो, हमारी बहिन-बेटियों को कुदृष्टि से देखता हो, हमारी निन्दा करता हो, हमे धोखा देता हो, हमारी चीज को हड़पना चाहता हो, इत्यादि कार्य हमे बहुत ही प्रतिकूल लगते हैं, अर्थात् अच्छे नहीं लगते। अत हम उनसे घृणा करते हैं। हम चाहते हैं कि कोई ऐसा न करे। जो काम हमें प्रतिकूल लगते हैं, वे ही काम दूसरों के प्रति जान-बूझकर किये जॉय तो वह अन्याय कहा जाता है। आजकल ये बड़े-बडे राष्ट्र अपने लिये कुछ और चाहते हैं, एवं दूसरों के लिये कुछ और। तथापि आश्चर्य की तो यह बात है कि मुँह से न्याय एवं शान्ति की बड़ी-बडी डींग हांकते रहते हैं। परन्तु मन के भाव कुछ और ही रहते हैं।

अभाव का दु:ख

आवश्यक-जीवननिर्वाहोपयोगी वस्तुओं का

अभाव भी दुःख के हेतु हो जाते हैं। इनमें अन्न का अभाव तो सबसे ज्यादा कष्टदायक माना गया है आज-कल देश में संतान वृद्धि बड़े जोरों से हो रही है। देश के नेताओं के लिये यह बड़ी चिन्ता का विषय बन गई है। संतानाभिवृद्धि के साथ यदि खाद्य सामग्रियों की भी अभिवृद्धि होती रहे, अर्थात् दोनों का संतुलन बना रहे, तो चिन्ता की कोई बात नहीं रहती। परन्तु एक ओर, प्रति वर्ष पचासों लाख से भी अधिक नये-नये खाने वाले मुँह प्रकट होते चले जाँय, दूसरी ओर खाने की चीजों की कमी होती चली जाय तो समाज तथा राष्ट्र दोनों के लिये दुःख का कारण हो ही जाता है। इस प्रकार अन्यान्य वस्त्र मकान आदि वस्तुओं का अभाव भी दुःख देता रहता है। वर्तमान समय में बाजार में प्राय सभी चीजों में नकली चीजों की मिलावट पाई जाती है। घी, तेल, आटा, आदि अनेक वस्तुयें असली रूप में नहीं मिलतीं। लेने जाते हैं—असली घी, उसके लिये तिगुना दाम भी देते हैं—परन्तु मिलता है—अस्सी प्रतिशत मिला हुआ डाल्डा। डाल्डा यानी मूँगफली खोपड़ा आदि का परिष्कृत जमाया हुआ तेल। देखने मे वह घी सा ही मालूम होगा। इसलिये तो असली नकली का पता प्राय नहीं चलता। परन्तु घी के गुण उसमे कहाँ से आवेंगे? इस प्रकार तेल भी शुद्ध नहीं मिलता। गेहूँ भी, चावल भी कूड़ा-कर्कट से भरा हुआ रद्दी क्वालिटी का मिलता है। अतएव असली खाद्य सामग्री के नहीं मिलने से लोगों का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। इसलिये देश मे अस्पतालों की एवं डाक्टरों की भरमार दिखाई देती है। इसप्रकार जीवनोपयोगी असली चीजों का अभाव भी दुःख का कारण माना गया है।

अभिमान का दुःख

अभिमान भी कई प्रकार के होते हैं, जात्याभिमान कुलाभिमान, धनाभिमान, विद्याभिमान, यौवनाभिमान, अधिकाराभिमान आदि-आदि। इन सभी अभिमानों का मूल है देहाभिमान। अनात्म देहादि में आत्मत्व का अभिनिवेश ही अनेक प्रकार के अभिमानों का सृजन करता है, और अभिमान परिणाम में दुःखों का ही कारण हो जाता है। अभिमानी मानव, प्रेम एव विनय से हजारों कोस दूर रहता है। वह दूसरों को तृण के समान तुच्छ समझता है, एवं अपने को ही एकमात्र बढ़ा-चढ़ा सर्वोत्तम समझता है। इसलिये वह दूसरों से अपनी ही सेवा, सत्कार, प्रतिष्ठा, कराना चाहता है, परन्तु वह दूसरों की सेवा सत्कार प्रतिष्ठा करना पसन्द नहीं करता। वह अपने मे अविद्यमान गुणों की बड़ाई अपने ही मुँह से हाँका करता है, परन्तु दूसरों के विद्यमान गुणों की प्रशंसा करना तो दूर रहा किन्तु फूटी आँखों से देखना भी पसन्द नहीं करता। इस प्रकार अभिमान मनुष्य के बडे भारी पतन का हेतु होता है।

वर्णचतुष्टय की क्या आवश्यकता है?

आजकल कुछ न्यूलाइट के लोग कहते हैं कि आप के सनातन धर्म मे माने हुये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र, इन चार वर्णों की अर्थात् वर्णव्यवस्था की क्या आवश्यकता है? इससे देश एवं समाज का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? देश की भलाई के बदले इनसे बुराई ही सिद्ध होती दिखाई दे रही है। ऊँच-नीच भाव, परस्पर घृणा, वैमनस्य, संगठन का अभाव, दलबन्दी आदि अनेक दोष इससे सिद्ध हो रहे हैं। इसके ही कारण देश मे गुलामी आयी, और करोड़ों की संख्या में यवन एव ईसाई हुये। पाकिस्तान बनने का, देश के टुकड़े होने का भी श्रेय इसी को है। इस प्रकार यह वर्ण विभाग ही अनेक अनर्थों की जड़ है, तब इसे क्यों माना जाय? इससे देश की कुछ भी भलाई होती

तो दीखती नहीं, सिवाय बुराई के। तो इसकी क्या आवश्यकता है?

वर्णों की आवश्यकता।

पूर्वोक्त दुःख चतुष्टय के निवारण के लिये ही हमारे शास्त्रों ने वर्ण चतुष्टय की आवश्यकता बतलाई है। इसके द्वारा देश का बडा भारी प्रयोजन सिद्ध होता है। प्रयोजन कहते हैं—दुःख की निवृत्ति एवं सुख की प्राप्ति को। प्रत्येक देश को शिक्षक रक्षक, पोषक एव सेवक इन चारों की आवश्यकता रहती ही है। इनमे से एक भी न रहे तो देश की सर्वाङ्गीण उन्नति नहीं हो सकती। शिक्षक न हों तो देश मे अज्ञान का अन्धकार फैल जायगा। रक्षक न हों तो देश पुनः गुलाम बन जायगा। पोषक न हों तो देश कंगाल बन जायगा। एव सेवक न हों तो देश का सौन्दर्य ही नष्ट हो जायगा। इसलिये देश को अज्ञानान्धकार, गुलामी, कंगालियत एवं भद्देपन से बचाने के लिये इन चारों की आवश्यकता रहती है। इन चारों का ही नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र हैं।

सच्चा ब्राह्मण।

सच्चा ब्राह्मण वह है, जो ज्ञान के द्वारा अज्ञान के दुःख को निवारण कर आनन्द को प्राप्त करता है। अज्ञान का नाम ही दुःख है, मृत्यु है, भय है, गाढ़तम है, उसकी निवृत्ति ज्ञान के द्वारा ही होती है। इसलिये ज्ञान का नाम ही सुख है। अमृत है, अभय है, पूर्णप्रकाश है। अज्ञान दुःख का निवारण करने वाला एवं ज्ञानरूपी आनन्द को प्राप्त कराने वाला देश का बडा भारी उपकारी माना जाता है। परन्तु वह ज्ञान का प्रकाश देश मे तभी फैल सकेगा, तब वह अपने मे प्रथम ज्ञान का प्रकाश फैलायेगा। जलते हुये एक दीपक से हम हजारों लाखों दीपक प्रकट कर सकते हैं-परन्तु जो दीपक जलता ही नहीं है, उस नाम मात्र के चित्राङ्कित दीपक से दूसरे दीपक प्रकट नहीं हो सकते, उससे अन्धकार की निवृत्ति भी नहीं हो सकती। इसलिये सच्चा ब्राह्मण वह है, जो देश एव समाज के अनेक प्रकार के अज्ञान दुःखों का निवारण करने मे एव ज्ञानज्योति के आनन्द प्रदान करने मे तथा अज्ञानमूलक अनेक प्रकार के दुराचार, अप्रामाणिकता, अविवेक, घृणा असद्भाव आदि दोषों को दूर करने में एवं ज्ञानमूलक अनेक प्रकार के सदाचार, प्रामाणिकता, विवेक, शान्ति, प्रेम, सद्भाव आदि प्रगत गुणों के विकास करने मे अनवरत प्रयत्नशील रहता है। वह वन्दनीय है, सत्करणीय है, एवं देश का सर्वोत्तम मुख स्थानापन्न प्रशस्त अग है।

सच्चा क्षत्रिय

सच्चा क्षत्रिय वह है, जो देश के अनेक प्रकार के अन्याय दुःखों को दूर करने के लिये तथा न्याय के द्वारा आनन्द को फैलाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहता है। ऐसे सच्चे क्षत्रियों की भी देश को बडी आवश्यकता रहती है। भगवान् श्रीराम ने एव भगवान् श्रीकृष्ण ने इस पावन धराधाम मे क्षत्रियावतार लेकर यही शिक्षा दी थी। उन्होंने दुष्टों का नाश कर ससार से अन्याय दूर किया था, एवं सज्जनों का परित्राण तथा धर्म की रक्षा कर न्याय के पवित्र आनन्द का विस्तार किया था।

भगवान् श्रीकृष्ण ने जब देखा कि—ये मेरे यादव मेरे ही आश्रय से एवं अनेक प्रकार के वैभव ऐश्वर्य से मदोन्मत्त हुये संसार मे अन्याय फैला रहे हैं—दुराचारों का सर्जन कर रहे हैं। वे सदाचार और विनय से हाथ धो बैठे हैं। ये मेरे ही पुत्र, शास्त्रीय-मर्यादाओं का अतिक्रमण कर रहे हैं तब श्रीभगवान् ने इनका विनाश करने का संकल्प किया। इस सकल्प की सिद्धि के लिये ऋषियों को निमित्त बनाया। श्रीमद्भागवत् के एकादशस्कंध में लिखा है—

किसी समय विश्वामित्र, वामदेव, वसिष्ट, अत्रि, नारद आदि मुनिगण, घूमते फिरते हुये द्वारिका के निकट पिण्डारक क्षेत्र मे श्रीकृष्ण दर्शन की लालसा से कुछ समय के लिये निवास करने लगे। उन महानुभावों की हँसी ठट्ठा करने के लिये यादवों के कुछ उद्दण्ड नवयुवक छोकरे, जामवती रानी के पुत्र साम्ब को स्त्री का वेष बनवा कर, उन के समीप ले गये, और बनावटी विनय के साथ चरण छूकर पूछने लगे कि—हे मुनियों! यह सुन्दर नारी गर्भवती है, यह आप से एक बात पूछना चाहती है—किन्तु स्वय पूछने मे लज्जित हो रही है अतः हमारे मुख से यह प्रश्न करवा रही है—यह पुत्र की कामना रखती है, अब प्रसव करने वाली है, आप बतलाइये कि—यह कौनसी सन्तान (पुत्र या पुत्री) उत्पन्न करेगी?

मुनि सर्वज्ञ थे। धोखे मे डालने वाली उनकी बात सुनकर तथा मर्यादाशून्य उद्दण्ड व्यवहार देख कर वे कुपित हो गये। तथा कहने लगे कि अरे मन्दमति बालकों! यह तुम्हारे कुल का नाश करने वाला एक मूसल जनेगी। मुनियों का यह शाप विश्व-प्रेरक भगवान् की ही प्रेरणा से हुआ था। भगवान् की यह प्रेरणा क्षत्रियत्व के अनुकूल ही हुई जो अन्याय दुःख का निवारण, एवं न्याय सुख का विस्तार करना चाहती थी। भगवान् की दृष्टि मे सब समान है, अपना पराया कोई नही।

ससार मे फैले हुए अनेक प्रकार के अन्यायों का निवारण साम (विवेक से प्रेमपूर्वक समझाना) दान (कुछ देकर सन्तुष्ट बनाना) भेद (फूट-डालना) एव दण्ड (सजा देना) इन चार प्रकार के उपायों द्वारा होता है। क्रमश इन उपायों का प्रयोग करना चाहिये। प्रथम सामका प्रयोग होना है—साम से जब अन्याय का निवारण नहीं होता, तब दान का प्रयोग करना चाहिये। दान जब विफल हो जाता है, तब कूटनीति का प्रयोग करना चाहिये। कूटनीति भी जब निरर्थक हो जाती है तब अन्तिम उपाय दण्ड प्रयोग ही रह जाता है। और यह अन्तिम उपाय अनिवार्य रूप से ही करना पडता है। इसी लिये राजर्षि मनु ने कहा है—

'दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्डएवाभिरक्षति।
दण्ड सुप्तेषु जागर्ति, दण्ड धर्म विदुर्बुधाः॥'

दण्ड ही समस्त प्रजा का शासन करता है, एव अभिरक्षण करता है। दण्ड ही अन्याय निद्रा मे सोये हुए मानवों को जगाता है, इसलिए विद्वान् लोग दण्ड को धर्मरूप से मानते हैं।

जिस समय वीराग्रगण्य महावीर हनुमान जी भगवता जनकनन्दिनी सीता जी की खोज करने के लिए लका मे गये थे। वहाँ उन्हे अशोकवाटिका मे भगवती सीता माता के दर्शन के साथ रावण के अन्यान्य का भी प्रत्यक्ष दर्शन होता है। महावीर मारुतिने विचार किया कि—यह दुष्ट, अत्याचारी उद्दण्ड रावण सामदाम एव भेद इन तीन उपायों के द्वारा मानेगा नहीं, अन्तिम उपाय पराक्रम द्वारा दण्ड प्रहार भी बाकी रह जाता है। अतएव वाल्मीकीय रामायण के सुन्दर काण्ड मे महावीर जी के विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं कि—

'न चास्य कार्यस्य पराक्रमादृते,
विनिश्चयः कश्चिदिहोपपद्यते।
हतप्रवीराश्च रणे तु राक्षसा,
कथं चिदीयुः यदिहाद्य मार्दवम्॥'
(५।४१।४)

इस अन्याय निवारण रूपी कार्य, पराक्रम के बिना, अन्य किसी उपाय से होता हुआ नहीं दीखता। इसलिए मुझे अपने पराक्रम के द्वारा ही इस कार्य को सिद्ध करना चाहिये। जब अपनी सेना के वीर राक्षस मेरे पराक्रम द्वारा अन्धाधुन्ध मारे जायेंगे, तब इस रावण की उद्दण्डता दूर हो

जायगी, और इसमें कुछ मृदुता अवश्य आ जायगी ।

सच्चा वैश्य

जो अन्नादि सामग्री को पर्याप्त रूप से उत्पन्न कर देश के अनेक प्रकार के अभावों के दुःखों का निवारण करता है, तथा आवश्यक सुलभ सामग्रियों के लाभ द्वारा आनन्द को फैलाता है, वह सच्चा वैश्य है। जिस प्रकार शिक्षण ब्राह्मण एवं रक्षक क्षत्रिय की आवश्यकता होती है, इस प्रकार पोषक वैश्य की भी अनिवार्य रूप से आवश्यकता रहती है। वह पोषक, जगत् का पिता कहलाता है। वह अपने परिश्रम के द्वारा अन्नवस्त्रादि पैदा कर देश की कंगाली को दूर करता है। गवादि पशुओं का पालन करता है। प्रामाणिकता पूर्वक वाणिज्य करता है। देश का सर्वाङ्गीण पोषण ही जिसके जीवन का एक मात्र ध्येय है।

सच्चा शूद्र

जो प्रेम एवं विनय के साथ सबकी यथाशक्य सेवा करता है। जो सेवा धर्म के द्वारा अपने अभिमान को दूर करता है, वही सच्चा शूद्र है। समस्त विश्व के साथ एकत्व की स्थापना ही सेवा धर्म का उद्देश्य है। ऐसा निःस्वार्थी, निरभिमानी सेवक स्वामी से भी बढ़ जाता है। इसलिए कहा है—'राम से अधिक राम कर दासा।'

वर्ण चतुष्टय का समन्वय

वेदों में विराट् भगवान् के मुख, बाहु, ऊरु एवं पाद रूप अभिन्न अंगों की उपमा से चारों वर्णों का वर्णन किया है। शरीर के ये अंग चतुष्टय एक दूसरे के निःस्वार्थ उपकारी हैं। एक दूसरे को हानि नहीं, किन्तु लाभ ही पहुँचाना उनका ध्येय होता है। मुख फल खाने की अभिलाषा करता है, उसकी अभिलाषा को सफल बनाने के लिये पैर चलकर वृक्ष के समीप जाते हैं, हाथ फल तोड़ते हैं, और साफ कर मुख मे डालते है। हाथ पैर के इस उपकार को मुख नहीं भूलता। रसास्वादन लेकर वह फल को अपने मुख में ही नहीं रखता, किन्तु तुरन्त ही उदर-सेठ के गोदाम में वितरण के लिये पहुँचा देता है। उदर सेठ भी स्वार्थी नहीं बनता, वह भी फल के सारतत्त्व को हाथ पैर आदि समस्त अंगों में पहुचाकर उन्हें पुष्ट करता है। इस प्रकार ये चार अंग अपने-अपने स्थान पर सभी श्रेष्ठ ही माने गये हैं। शरीर के अधिष्ठाता को ये चारो अंग समान रूप से ही प्रिय लगते हैं। वह इन चारों को सुरक्षित एवं पुष्ट ही देखना चाहता है। जिस प्रकार वह शिर को पगडी टोपी आदि से सुरक्षित रखना चाहता है उसी प्रकार पाद को भी बढ़िया कीमती बूट पहिनाकर सुरक्षित रखना चाहता है। उनमें किसी प्रकार का पक्षपात देखने मे नहीं आता। इस प्रकार ये चारों वर्ण भी एक दूसरे के उपकारी हैं। शिक्षक शिक्षा देता है, तो रक्षक रक्षा करता है, पोषक पोषण करता है तो सेवक सेवा करता है। देश के सर्वाङ्गीण अभ्युदय को लक्ष्य मे रखकर वे अपना-अपना कार्य करते रहते हैं, अतएव इन चारों का समान ही महत्व है। इनकी समानता मे किसी प्रकार के ऊँच नीच भाव का स्थान ही नहीं।

अतएव आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन मे इन चारों धर्मों (शिक्षा, रक्षा, पोषण एवं सेवा) का समन्वय देखने में आता है। एक तरफ वह श्रीकृष्ण शिक्षक बनकर अर्जुन को निमित्त बनाकर गीता के द्वारा जगत् को ज्ञान का दिव्य प्रकाश दे रहा है। दूसरी तरफ वह रक्षक बना हुआ हाथ में तलवार लेकर अन्यायियों का विनाश करके जगत् की रक्षा कर रहा है। तीसरी तरफ वह नन्द वैश्य के यहाँ निवास करता हुआ गोपाल बनकर गायों के पालन का महत्त्व बढ़ा रहा है

चौथी तरफ वह युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे विनय एवं प्रेम के साथ समागत अतिथियों को अर्घ्यपाद्य देता हुआ तथा कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन का सारथी बनकर रथ के घोड़ों की सफाई आदि सेवा कार्य करता हुआ, सेवा के महत्त्व को भी बढ़ाता है।

उपसंहार

इस प्रकार हमारे परमप्रामाणिक-परमहितकारी वैदिक सनातन धर्म की यह वर्ण व्यवस्था बड़ी ही प्रशस्त है। इसमें बड़ी उदारता है, देश की सर्वविधि सुख स्मृद्धि ही इसका ध्येय है। इसमे नाम मात्र की बडाई नहीं है। सद्गुणों की एवं सत्कर्मों की ही बड़ाई मानी गई है। 'गुणाः सर्वत्र पूज्यन्ते।' गुण ही सब जगह सम्मानित होते हैं। 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।' एकमात्र गुण ही सम्मान एवं आदर के स्थान होते हैं, गुणवानों का अमुक प्रकार का लिङ्ग (साधुओं-जैसा वेष जाति कुलादि का टाइटिल इत्यादि चिह्न) तथा वय (अवस्थाविशेष) सम्मान के हेतु नहीं होते। इसलिये आनन्द कन्द प्रभु श्रीकृष्ण ने भी 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' (४।१३) वर्ण चतुष्टय व्यवस्था का सर्जन तत्तत्प्रशस्त गुण कर्मों के विभाग पूर्वक ही बतलाया है। गुण कर्मशून्य केवल जातिवाद का कुछ भी महत्त्व नहीं। उस प्रशस्त जाति के मूल मे अप्रशस्त गुण कर्म ही प्रयोजक होते हैं। इसलिये गीता में 'ज्ञानविज्ञान मास्तिक्यं, ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।' (१८।४२) (शास्त्रों का यथार्थ ज्ञान, परमात्म-तत्त्व का अनुभव, आस्तिकता, ये गुण ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं) इत्यादि श्लोकों के द्वारा भगवान ने तत्तद्वर्णों की प्रशस्ति, प्रशस्त गुण कर्मों के द्वारा ही मानी है। इसलिए राजर्षि ऋषभदेव के इक्यासी (८१) पुत्र गुण कर्म के द्वारा ही ब्रह्मर्षि बन गये थे। श्रीमद्भागवत में व्यास ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है 'यवीयांस एकाशीति जयन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना, महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः।' (५।४।१३) इनसे भी छोटे ऋषभदेव तथा इन्द्रपुत्री जयन्ती के इक्याशी पुत्र, पिता की आज्ञा का पालन करने वाले, अति-विनीत, सुशील, महान् वेदवेत्ता, और निरन्तर यज्ञ करने वाले थे। वे प्रशस्त कर्मों के अनुष्ठान द्वारा शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे।

इस प्रकार प्रशस्त गुण कर्म मूलक भारतीय वर्णमर्यादा में घृणा एवं वैमनस्य का स्थान नहीं है। अपने अपने प्रशस्त गुण कर्मों के द्वारा वे देश मे प्रेम, सद्भाव, विनय एवं संघबल का ही सर्जन करते हैं। देश की सुखसमृद्धि को बढ़ाते हैं। अन्त मे भगवान् से यह प्रार्थना करता हुआ लेख समाप्त करता हूँ कि वह अन्तर्यामी परमात्मा सबको सन्मति प्रदान करे, एवं प्रामाणिक शास्त्रों के वास्तविक रहस्य को समझने के लिये पक्षपातशून्य बुद्धि का शुद्ध बल देकर देश का सर्वविधि अभ्युदय करे।

'जयहिन्द, हरिः ॐ तत्सत्। शिवोऽहं शिवः सर्वम्।'

दुःख का स्वरूप और उसकी परिभाषा

(श्री १०८ श्री स्वामी सुरेश्वरानन्द जी न्याय वेदान्ताचार्य, महामण्डलेश्वर)

जगत्स्थितिलयोद्भूतिहेतवे निखिलात्मने ।
सच्चिदानन्दरूपाय परस्मै ब्रह्मणे नमः ॥

इस संसार में सभी प्राणी सुख की प्राप्ति एवं दुःख के त्याग की इच्छा करते हैं उसमें भी निरतिशय सुख में सबका अधिक प्रेम होता है अब इस विषय में यह विचार करना है कि दुःख नामकी क्या वस्तु है जिसका सभी प्राणी परित्याग चाहते हैं दुःख शब्द के श्रवण से मनुष्यों के हृदय में एक प्रकार का मानुषिक संताप व अशान्ति अनुभव होती है । इसका एकमात्र कारण यही है कि शब्द-अर्थ का प्रकाशक व वाचक है, बिना सम्बन्ध के शब्द दूसरी वस्तु का बोध नहीं करा सकता परन्तु सम्बन्ध के द्वारा ही करा सकता है । जिस प्रकार धूम और अग्नि का साहचर्यव्याप्ति सम्बन्ध है । अतः हम धूम को देखकर अनुमान द्वारा अग्नि का ज्ञान कर सकते हैं तथा दूसरों को भी करवा सकते हैं, इसी प्रकार शब्द-और अर्थ का भी ऐसा कोई सम्बन्ध है जिसके द्वारा शब्द अर्थ का बोध करवाता हैं उसी का नाम शक्ति है । उसी सम्बन्धको कितने ही दार्शनिकों ने तादात्म्य सम्बन्ध माना है तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा ही शब्द अर्थ का बोध करवाता है यही कारण है कि नीबू शब्द के उच्चारण करते हैं मुख में पानी आ जाता है । कहने का अभिप्राय यह है कि शब्द और अर्थ का तादात्म्य होने से शब्द अर्थ का प्रत्यय करवाता है और अर्थ में उसके गुण-धर्म विद्यमान रहते हैं अतः उसका मन पर प्रभाव पड़ना संगत ही है । यही कारण है कि दुःख शब्द का उच्चारण करते ही दुःख पदार्थ का स्मरण हो जाता है और उस दुःख पदार्थ का स्मरण होते ही उस दुःख पदार्थ में मानुषिक अशान्ति होने से प्रत्येक मनुष्य को एक विलक्षण शक्ति

अनुभव होती है । यह तादात्म्य सम्बन्ध भी दो प्रकार का होता है, एक रूढ़ि दूसरा व्युत्पत्तिलभ्य जिन शब्दों का अवयवार्थ नहीं हो सकता वह शब्द रूढ़ि शक्ति द्वारा ही अर्थ बोध करवाता है । जैसे घट शब्द घड़े अर्थ को बोधन करता है रूढ़ि शक्ति द्वारा, परन्तु दुःख शब्द में यह बात नहीं है उसमें तो अवयवार्थ भी निहित है जैसे, दुर्हितं खेभ्यः इन्द्रियेभ्यः इति दुःखं इस व्युत्पत्ति से व्युत्पन्न दुःख शब्द होता है और इस दुःख शब्द की भगवान् गौतम परिभाषा भी लिखते हैं 'बाधना लक्षण दुःखम्' अर्थात् जिसका बाधना यानी पीड़ा लक्षण यानी स्वरूप हो वह दुःख कहलाता है । दुःखित होता हुआ पुरुष सब प्रपंच को दुःखमय समझकर सब सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो जाता है । विरक्त होकर मुक्त होता है । इसकी परिभाषा अन्यत्र भी इस प्रकार लिखी हुई है 'अधर्म मात्रा साधारण कारको गुणो दुःखम्' यह दुःख सिर्फ अधर्म का ही फल है, इसका मुख्य कारण अधर्म ही है । यह सब प्राणी मात्र को प्रतिकूल वेदनीय है अतः प्रतिकूल होने से सब इसको त्यागना चाहते हैं । यह दुःख अविद्योपाधि अन्तःकरण का धर्म है । ऐसा अद्वैतवादी मानते हैं तथा सांख्यानुयायी रजपरिणाम भेद रूप इस दुःख को अद्वैतवादी के अनुसार ही मानते हैं अर्थात् वे भी अन्तःकरण का ही धर्म मानते हैं । परन्तु नैयायिक लोग आत्मा का धर्म मानते हैं । उनके मत में सुख दुःखादि आत्मा ही के धर्म माने जाते हैं लेकिन श्रुति और युक्ति से विरुद्ध होने से हेय प्रतीत होता है । जैसे श्रुति भगवती कहती है ।

"कामः सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृति ह्रीर्धी भीरित्येतत्सर्वं मन एव" इस श्रुति से सुख दुःखादि सब धर्म मन का ही सिद्ध होता है, तथा युक्ति से भी मन का ही धर्म सिद्ध होता है जैसे "अयः पिण्ड को दग्धत्व" का अभाव होने पर भी अग्नी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने पर "अयोदहति" ये लोक व्यवहार होता है व देखने में आता है, अतः इस विषय में अद्वैत

सिद्धान्त ही श्रेयान् प्रतीत होता है।

जब इस विषय में परस्पर गौतम नैयायिक और कणाद नैयायिकों का परस्पर विवाद होता है। गौतम नैयायिक कहते हैं सुखाभाव ही दु.ख की परिभाषा है और दु:खाभाव ही सुख की परिभाषा है; परन्तु कणाद नैयायिक इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते. वे कहते हैं कि इष्टानिष्ट कारणविशेषाद् विरोधाच्चमिथ: सुखदु खयो रर्थान्तर भाव. इष्ट कारण विशेष स्रक् चन्दनादि से सुख उत्पन्न होता है तथा अनिष्ट कारण विशेष सर्प कण्टकादिकों से दु:ख उत्पन्न होता है अत. कारण भेद से कार्य भेद भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये तथा परस्पर विरोध होने पर भी दोनों अलग-अलग हैं। जैसे एक आत्मा मे एक काल में दु.ख-सुख का अनुभव नहीं होता है, इसलिए सुख तथा दु.ख अलग अलग पदार्थ हैं। तब तो गौतमीय प्रमेय परिगणित सूत्र में सुख को दु.ख का तरह क्यों नहीं गौतम ने परिगणित किया? ठीक है। पर वैराग्य होने के लिये सुख को भी दु.ख स्वरूप मानने से शीघ्र ही वैराग्य हो इसलिये भगवान् गौतम ने अलग सुख का निर्देश नहीं दिया। यही बात महर्षि पतञ्जलि भी अपने सूत्र द्वारा निर्देश करते हैं। परिणाम ताप संस्कार दु खैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दु:खमेव सर्वविवेकिन:।

विवेकी पुरुष के लिये समग्र प्रपंच दु.ख स्वरूप ही है।-क्योंकि? सब पदार्थ परिणाम स्वरूप ही हैं, केवल चेतन को छोड़कर। इस बात को अद्वैतवादी तथा सांख्यवादी स्वीकार करते हैं।

दु:ख तीन प्रकार का होता है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक। इनमें आध्यात्मिक दु ख दो प्रकार का होता है। प्रथम शारीरिक द्वितीय मानसिक। शारीरिक दु ख वह कहलाता है जो शरीर को उद्देश्य करके उत्पन्न होता हो। मानसिक दु.ख वह कहलाता है जो काम क्रोधादि से उत्पन्न हो। आधिभौतिक दु ख वह कहलाता है जो मनुष्य, पशु सर्पादिकों से उत्पन्न हो। आधिदैविक दु ख वह कहलाता है जो यक्ष राक्षसों से उत्पन्न हो। इस प्रकार यह त्रिताप कहलाते हैं। इस त्रिताप का परिहार सांख्य मत से प्रकृति पुरुष का भेद ज्ञान से होता है। इस विषय में महामुनीश्वर श्रीकृष्ण भी कहते हैं:—

> धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
> ज्ञानेन चापवर्गो विपर्य्ययादिष्यते वन्ध.॥

अर्थात् धर्म के द्वारा स्वर्गादि लोकों में गमन करता है अधर्म से भूतलादिलोकों मे गमन होता है। और विवेक ज्ञान से अपवर्ग होता है। अर्थात् मोक्ष होती है। अतएव ज्ञान से तीन प्रकार का बन्ध होता है अर्थात् वह पुरुष प्राकृतिक वैकृतिक और दाक्षणिक बन्धों में बध जाता है, अत: मुक्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है। यही बात अद्वैतवादी मानते हैं वे भी कहते हैं कि ममत्व होने से ही प्राणी बन्धन में फँसा रहता है। अगर ममत्व से मुक्त हो जाय तो वह 'अहं ब्रह्मास्मि" हो सकता है। अथवा दु ख मुक्त हो सकता है।

दु:ख मन की कल्पना है, सुख परमात्मा में है

(पूज्य श्री १०८ श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती)

सुख और दु:ख दो प्रकार के मानसिक अनुभव हैं। इच्छा से सुख का अनुभव होता है और सुख से दु.ख का। दु:ख को सुख के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है और सुख को दु.ख में। सुख और दु.ख, सच्चे शब्दों में केवल माया के खेल हैं।

मन की दो वृत्तियाँ होती हैं। लोग उन्हीं को सुख और दु:ख के नाम से जानते हैं। दो प्रकार के मानसिक अनुभवों का नाम है सुख और दु.ख। सुख में मन प्रफुल्लित होता है और दु.ख में संकुचित। इच्छा सभी प्रकार के दु:खों की जननी है। इच्छाओं के न होने से सुख का

अनुभव होता ही कहाँ है। शराबी शराब की इच्छा के ही कारण मद्य पीते समय सुख का अनुभव करता है। वही मद्य किसी पशु को पिला दो, उसे शराबी का सुख नहीं अनुभूत हो सकेगा; उसमें इच्छा का अभाव है। शराब से परहेज रखने वाले ब्राह्मण को ही देखिये, शराब का नाम सुनते ही उसका मन घृणा से व्यग्र हो उठता है, उसमें शराब की इच्छा का आत्यन्तिक अभाव है

जिस प्रकार इच्छाओं से मनुष्य को दुख का अनुभव होता है, उसी प्रकार सुखों का परिणाम दुःख के रूप में प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार बरफ का जल अग्नि की उष्णता के कारण गल कर प्रथमत. शीतल जल, पुन. उष्ण जल के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार इच्छायें ही मानसिक आधार ग्रहण कर सुख का रूप धारण कर लेती हैं और सुख अन्ततः दुःख में बदल जाता है ।

अत. दु:खों से मुक्त होना चाहते हो तो सुखों का त्याग कर दो, सुख प्राप्ति के लिये मदोन्मत्त न बनो। सुख के लिये श्रम न करो। जब आपको चाय मिलती है तो आनन्द का अनुभव होता है और जब नहीं मिलती तो दुख का। चाय पीने से जो आनन्द प्राप्त हुआ, मन बार बार उसकी याद कर चाय के न मिलने से दु:खी होता है, अत. इस दु:ख से मुक्ति पाने के लिये चाय की आदत ही छोड़ देनी होगी। यही उदाहरण लगभग सब किसी जगह घटाया जा सकता है।

सुख और दु:ख व्यावहारिक अभिवचन हैं, दोनों में प्रत्येक के दूसरे के अनुपात से तुलनात्मक सृष्टि हुआ करती है। चाय पीने से आपको जो सुख मिलता है, उससे अधिक सुख चाय के छोड़ने में अन्य किसी व्यक्ति को मिलता है। यदि चाय आप को प्रियकर है तो दूसरे को अप्रिय। अत. तुलनात्मक-सिद्धान्त द्वारा यह सिद्ध हुआ कि दृष्टिकोण का अन्तर सुख और दु.खकी तारतम्यता को जन्म देता है। अर्थात् मन के अनुसार सुख को दु:ख के रूप में और दु.ख को सुख के रूप में बदला जा सकता है। जो वस्तु एक के लिये दु:खकर सिद्ध हुई है, उसे ही तीसरे के लिये अति-सुखकर बनाया जा सकता है।

यहाँ पर हमें यह अवश्य जानना चाहिये कि विषयी जीवन में अनेकों त्रुटियाँ हैं। सन्त-महात्माओं की संगति में रहना चाहिये। वैराग्य भावों को उत्प्रेरणा देने वाला साहित्य हो सदा पढ़ा जाना चाहिये। वैराग्य के उदय होने पर विषयानन्द दुःख स्वरूप-प्रतीत होता है।

मनुष्य सदा भिन्न-भिन्न चीजें प्राप्त करना चाहता है। फल यह होता है कि वह स्वार्थी बन जाता है। स्वार्थ से आसक्ति पैदा होती है। आसक्ति के कारण ही अहंता और ममता का जन्म होता है और यहीं से दुःखों का आना आरम्भ हो जाता है। यहीं से माया के चक्र का परिभ्रमण आरम्भ हो जाता है। मनुष्य वासनाओं का दास बन जाता है। उसके हाथ पैर कठिन श्रृंखलाओं में बँध जाते हैं। मकड़ी की भांति वह अपने ही जाल में फँस जाता है और अपने विनाश का हेतु बन जाता है।

एकान्त, शान्त कमरे में बैठकर चिन्तन करना चाहिये विचार करना चाहिये। सुख मन की आन्तरिक अनुभूति है। यह धन सम्पत्ति पर अवलम्बित नहीं है और एसा नित्य देखा जाता है कि जहाँ धनी दुखी है, वहाँ निर्धन और साधारण व्यक्ति सुखी है। कौपीनधारी साधु के पास कौन साधन है? किन्तु वह तो सबसे अधिक सुखी रहता है। उसको आध्यात्मिक सुख प्राप्त रहता है।

विषय-भोग से वासना की शान्ति होने के बजाय काम-वासना अथवा तृष्णा उसी प्रकार प्रदीप्त होती है, जैसे आग पर घी डालने से उसकी लपटें। अभिलाषायें जितनी कम होंगी, उतना ही अधिक सुख भी प्राप्त होगा दूध कितने लोगों के लिये गुणकारी होता है और कितने ही लोगों के लिये अवगुणकारी भी। अधिक दूध पीने से वमन हो जाता है। ज्वर के दिनों में दूध तनिक भी अच्छा नहीं लगता। यदि पदार्थों में सच्चा सुख है तो वह शाश्वत और निर्विकार रहना चाहिये। क्यों कि विषयानन्दका अन्त होता है? इससे यही सिद्ध होता है कि सुख और दुःख केवल मानसिक प्रवृत्तियों की विशेषताएं हैं। आम मीठा होता है, क्यों? इसी लिये कि हमारे मनने उसमें मिठास की कल्पना की है। पदार्थ-विशेष में सौन्दर्य भी नहीं होता, हम ही उसमें सौन्दर्य की कल्पना का सन्निवेश करते हैं। कुरूपा नारी भी अपने पति को सुन्दर प्रतीत होती है। सुन्दरता मानसिक

कल्पना पर निर्भर है और सांसारिक पदार्थों में यदि राई भर सुख है तो पहाड़ भर दु:ख भी है।

अभीप्सित पदार्थों के न मिलने पर मनुष्य दुखी हो जाता है, क्षुब्ध हो जाता है। यदि किसी को भोजन के अनन्तर चाय, फल या दूध की आदत हो और उसको वे चीजें न मिलें तो उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहता। स्त्री की मृत्यु हो जाने पर पति दुःखित होता है, इस लिये नहीं कि उसका एक जीवन-संगी खो गया, किन्तु इसलिये कि उसके विषय-भोग का एक साधन नहीं रहा। सुखभोग की अभिलाषा ही दुःख का कारण है। अतः सुख की अभिलाषा और दुःख-मुक्त रहने की इच्छा वाले व्यक्ति को विषय-भोगों से दूर रहना चाहिये।

संसार में अनेकों प्रकार के सुख-साधन दिखाई देते हैं, किन्तु मैं डंके की चोट पर यही कहता आ रहा हूँ, मैं ही क्या सभी महात्मागण भी यही कहते आ रहे हैं कि संसार दुःखों से भरा हुआ है। मन सदा मनुष्य को छला करता है। मन की भ्रान्ति से मनुष्य दुःखों को सुख समझ लिया करता है। यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि संसार धधकता हुआ अग्निपिण्ड है। यह अग्निपिण्ड माया है।

संसार में कोई ऐसा नहीं जो दुःखमुक्त नहीं होना चाहता हो और संसार में विरले ही ऐसे हैं जो सच्चे सुख की वास्तविक स्थिति को अच्छी तरह समझ पाये हों।

इन्द्रियाँ मायाविनी हैं। सुख और दु:ख माया की लीला है। विषयानन्द केवल प्रतिबिम्बमात्र है। मन और इन्द्रियों के धोखे में मत आओ। मोहमय और चमत्कारपूर्ण विषयों के पीछे दौड़कर व्यर्थ में अपना समय न गँवाओ। यदि सुख के पीछे भागोगे तो दुःख के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगेगा। अच्छा तो यही है कि सत्य वस्तु की खोज करनी चाहिये। सुख परमात्मा के चरणों में ही मिला करता है, अतः वहीं जाकर सच्चे सुख को खोजो और दुःख से विमुक्त बन जाओ। मन और इन्द्रियों से परे चिर-कूटस्थ लीलामय भगवान् की सन्निधि में ही सच्चे आनन्द और सुख की प्राप्ति करो। यही सुख की प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है और दुःख से छुटकारा पाने का भी।

दुःखापहारी भगवान्

(श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामी श्रीराघवाचार्य जी महाराज)

सच्चिदानन्दघन भगवान् सुख स्वरूप हैं। सत्ता और चिन्मयता के साथ-साथ अनन्त भगवत्तत्त्व में स्वरूपगत सुख समष्टि है। फिर दुःख उनको स्पर्श भी कैसे कर सकता है? इतना ही क्यों? सुख समष्टि की ओर अभिमुख होते ही अनादि कर्मवासना जनित दुःख महासागर में गोते लगाने वाले जीव सुख का अनुभव करने लगते हैं। यह स्वाभाविक भी है। सुख के केन्द्र भगवान् और सुखाभिलाषी जीव। दुःखी जीव सुखमय भगवान् से सुख पा लेता है। अपना दुःख दूर कर लेता है। इसके लिये जैसे-जैसे जीव का प्रीतिपूर्वक अनुदिनध्यान बढ़ता जावेगा, सुख की अनुभूति बढ़ती जावेगी। प्रणाम, स्तवन आदि इसी अनुभूति के मार्ग की सीढ़ियाँ हैं। श्रीमद्भागवत् का अन्तिम श्लोक है:—

प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्।

अर्थात् 'उन हरि को नमस्कार, जिनके लिये किया गया प्रणाम, दुःख को शान्त करने वाला होता है।' महाभारत में पितामह भीष्म ने कहा है:—

लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्।

अर्थात् लोकपति भगवान् विष्णु का नित्य स्तवन करने वाला व्यक्ति समस्त दुःखों को पार कर जाता है। तात्पर्य यह कि प्रणाम, स्तवन आदि दुःख के निवार का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

कहना न होगा कि दुःख के निराकरण की इच्छा भगवान् के हृदय में सदा रहती है। रहनी भी चाहिये। वे दयालु जो हैं। दया उनका ऐसा गुण है जिसको किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रयोजन बिना ही भगवान् दुःख के निराकरण की इच्छा करते हैं। इस इच्छा की अभिव्यक्ति में कभी-कभी परदुःख का भाव भी दिखाई देता है। जब भक्त बालक प्रह्लाद भगवान् नृसिंह के सामने आया तो श्रीमद्भागवत् के अनुसार:—

विलोक्य देवः कृपया परिप्लुतः। (७.६.१)

प्रह्लाद को देखकर वे कृपा भाव से परिप्लुत हो गये। अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिनते हुये गीध को देखकर भी मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम दयार्द्र हो उठे थे। इस प्रकार की दयार्द्रता से यह तात्पर्य कदापि नहीं निकाला जा सकता कि दुःखत्व की भावना उनमें वास्तविक थी। परिपूर्ण, आनन्दमय, परब्रह्म समस्त कल्याण गुणों के आकर हैं। उनमें हेय गुण की कल्पना करना भी असंगत है।

दयालु जगत्प्रभु दुःख के निराकरण की इच्छा से जब प्रवृत्त होते हैं तो उनके सङ्कल्प मात्र से दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। फिर उनका दर्शन, साक्षात्कार मंगलमय है। अनीश्वरवादी दुःखों से त्राण पाने के लिये अलग-अलग उपाय सोचा करते हैं किन्तु ईश्वर वादी भक्तों के ये भगवान् ही समस्त दुःखों को दूर करने वाले हैं। पुराण और इतिहास साक्षी हैं कि जब-जब भक्तों पर कोई दुःख पड़ा और भक्तों ने भगवान् को आर्तनाद से पुकारा, वे आये। आकर उन्होंने अपने भक्तों की रक्षा की। उनका दुःख दूर किया।

प्रश्न यह हो सकता है कि जो प्राणी भगवान् की ओर अभिमुख हो जाते हैं उन पर दुःख पड़ता ही क्यों है। संचित कर्म तो भगवान् के अभिमुख होते ही समाप्त हो जाया करते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्म शरीर रहने तक रहा करते हैं। अत प्रारब्ध के अनुसार जीवन के भोग चलते रहने चाहिये। इन भोगों की ओर से उदासीन हुआ भक्त निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता रहता है। सर्व-शक्तिमान भगवान् प्रारब्ध को, विधि के विधान को मेटने की सामर्थ्य रखते हैं। वे "विधि के लिखे को मेटन हारा" हैं किन्तु मेटते नहीं। भक्त भी तो कहता है—

यद्यद्भाव्यं सकल भगवन् पूर्व कर्मानुरूपम्

अर्थात्—जो कुछ होना होगा। पूर्व कर्मानुसार होता है भगवन्, उसे उसी प्रकार होने दो। उसे चिन्ता यही रहती है कि भगवद्भक्ति उसके मन, वचन और कर्म में सदा बनी रहे। परीक्षा लेने के विचार से यदि भगवान् भक्त को दुःखी करते हैं तो भी उसे चिन्ता नहीं होती। कारण, वह जानता है कि—

हरि दुःखानि भक्तेभ्यो हितबुद्ध्या करोति हि

अर्थात्—भगवान् भक्त हित की भावना से ही दुःख दिया करते हैं और भगवान् देख लेते हैं कि भक्त दुःख पड़ने पर उनको भूलता तो नहीं है। भगवान् ने स्वयं कहा:—

तेन दुःखेन सन्तप्तो यदि मां न परित्यजेत्।
तं प्रसादं करिष्यामि यत्सुरैरपि दुर्लभः॥

अर्थात्—उस दुःख से दुःखी होकर यदि भक्त भगवान् को नहीं छोड़ देता तो प्रभु उस पर प्रसन्न हो जाते हैं और सुर दुर्लभ सुख प्रदान करते हैं।

ध्यान देने की बात यह भी है कि सर्वसाधारण लोग तो दुःख पड़ने पर भगवान् को याद किया करते हैं। कबीर ने ऐसे लोगों के लिये ही लिखा है—

दुख में सुमिरन सब करैं सुख में करै न कोइ।।

भक्तों पर यह उक्ति लागू नहीं होती। उनकी दुनियां निराली है। वे भगवान् से भी मचला करते हैं। तुलसी के शब्दों में वे 'हेतुरहित अनुराग राम पद' के दीवाने होते हैं। भगवान् सोचा करते हैं कि जब भक्त बुलावे तो मैं जाऊँ और भक्त सोचता है कि मैं भगवान् को पुकारूँ क्यों? यही भगवान् और भक्त में होड़ चला करती है। इसमें जहां भक्त मात खाते हैं वहीं आर्तनाद सुनाई देता है। गजराज, द्रोपदी, आदि इसी के उदाहरण हैं। किन्तु प्रह्लाद, उसने सारी आपदाओं का सामना किया कि भगवान् को पुकारा नहीं। भगवान् का दयालु हृदय पसीज उठा। वे अधिक प्रतीक्षा न कर सके। उनको नृसिंह के रूप में आना पड़ा। और इस तरह भगवान् मात खा गये।

भगवच्छरणागति मार्ग के पथिक भी भगवान् के सम्मुख पहुँचकर कह उठा करते हैं—

अभूतपूर्वं मम भावि किं वा
सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम्।
किं तु त्वदग्रे शरणागतानां
पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः॥

आशय यह है कि 'मैं तो सदा से दुःखों को सहन करता आया हूँ अब भी सारे दुःखों को सहन करलूँगा किन्तु हे नाथ, आपका शरणागत दुःख भोगे यह आपके

अनुरूप नहीं है ।' फिर भी वे दुःखों से भयभीत नहीं होते। अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठ कर वे शरण्य के संकल्प की अनुभूति में मग्न हो जाया करते हैं। इस प्रकार जो जो सुख दुःख उनके सामने आते हैं उनमें उनको दयामय भगवान् का सत्संकल्प दिखाई देता है। उनको कष्ट क्यों कर हो सकता है। हम भगवान् के हैं, भगवान् हमारे धारक, पोषक और नियामक हैं। भगवान् हमारे शरीरी आत्मा हैं और हम उनके शरीर। कोई भी अपने शरीर को दुःख पहुँचाना नहीं चाहता। सभी अपने शरीर को सुखी रखना चाहते हैं। फिर भला भगवान् के सत्य सङ्कल्प में अपने शरीरभूत जीव के लिये अहित की भावना ही कैसे हो सकती है। यह समझकर शरणागत सुख में ही सुखी नहीं अपितु दुःख में भी सुखी रहता है।'

महारानी कुन्ती

(श्रद्धेय श्री १०८ श्री ब्रह्मचारी प्रभुदत्त जी महाराज) ॐ

चले द्वारिकाधीश पृथा पुनि बाहर आई।
भ्रातृ पुत्र कूँ पकरि प्रेम तें विनय सुनाई॥
प्रभो! पुत्र परिवार सहित सब भाँति उबार
किन्तु जिही हैं एक अन्त में भीख हमारी॥
विपति वारि बारिद भरे, बार-बार बरसा करें।
दर्शन देवें दया वश, छत्र छाँह करि भय हरें॥

जो अपने प्राणों के समान प्यारे हैं, यदि सौभाग्य से उनके सहवास का सुख प्राप्त हो जाय—यदि कारण विशेष से बहुत दिन तक वे हिल मिल कर रह जायँ और हमसे बिछुड़ने लगें तो हृदय में एक मीठी-मीठी वेदना होने लगती है। चित्त चाहता है किसी भाँति वे रुक जायँ। प्रेम में तृप्ति नहीं स्नेह में संतोष नहीं।
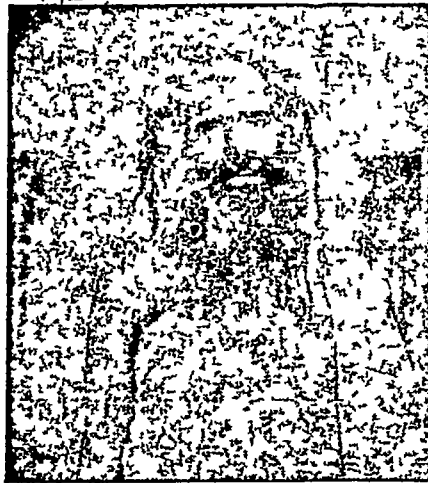
वासुदेव अब सबसे विदा होकर चलने लगे। उत्तरा को अभय देकर पाण्डवों को संकट से छुड़ा कर अब उन्हें द्वारिका की याद आई। विप्रों ने उनका स्वस्त्ययन किया; उन्होंने सबको अभिवादन किया और वे रथ पर आकर बैठ गये। इतने मे ही निज निवास से निकल कर दासियों सहित महारानी कुन्ती ने आकर श्री कृष्ण के रथ को रोक लिया। अपनी बड़ी बुआ को खड़ी देखकर श्यामसुन्दर शीघ्रता के साथ रथ से उतर पड़े। महारानी और आगे बढ़ी और आँखों में आँसू भर कर श्रीकृष्ण का

ॐ यह लेख श्री ब्रह्मचारी जी की 'भागवती कथा' के प्रकाशित खण्डों से उद्धृत है। पू० ब्रह्मचारी जी एक भागवती कथा नामक वृहद् ग्रन्थ लिख रहे हैं, जो १०८ भागों में होगा, जिसके २२ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। प्रति खण्ड' का मूल्य १)है और डाक खर्च सहित एक वर्ष के बारह खण्डों का मूल्य १२=) है। पुस्तक 'संकीर्तन भवन' पो० झूँसी (प्रयाग) से प्रकाशित हुई है, इसी पते से मिल सकती है।

पल्ला पकडकर वोली—वासुदेव ! मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ।

लज्जा का भाव प्रदर्शित करते हुये देवकीनन्दन बोले—बुआ जी! यह आप कैसी उल्टी गंगा वहा रही हैं। आप मेरे पिता की भी पूजनीया हैं। मेरी वडी बुआ हैं! नमस्कार तो आप के चरणों में मुझे करना चाहिये कि आपको? आप तो मुझ बालक पर अपराध चढ़ा रहीं हैं।

रुँधे हुए कण्ठ से कुन्ती ने कहा—आप सामान्य पुरुष नहीं हैं प्रभो! कौन आप की बहिन, कौन बुआ? आप तो प्रकृति से परे अनादि ईश्वर और अधोक्षज हैं। समस्त प्राणियों के भीतर वाहर समान रूप से स्थित हैं, किन्तु दिखाई नहीं देते। हाँ, निर्मल चित्त वाले महामुनि। परमहंस भक्ति-योग के द्वारा हृदय मन्दिर में आप क साक्षात्कार करते हैं। आप माया रूपी यवनिका से आच्छादित हैं आपने घूँघट काढ़कर अपना चन्द्र मुख छिपा लिया है। उसे निर्मल, शुद्ध, माया-मोह से रहित, भगवद्भक्त ही देख सकते हैं। माया के पाश से आबद्ध, हमारी जैसी अज्ञ स्त्रियाँ भला आप के रहस्य को कैसे जान सकती हैं?

भगवान् बोले—बुआ जी ! आप क्या कह रही हैं? मैं तो वही आप के भाई वासुदेव का पुत्र कृष्ण हूँ।

कुन्ती वोली—जनार्दन ! आज मुझे कह लेने दो। आज मुझे अपने आन्तरिक भावों को प्रकट कर लेने दो। आप वसुदेव देवकी के पुत्र ये कृष्ण नहीं हो, किन्तु सर्वत्र, सब में वास करने वाले, भक्तों को अपने सौन्दर्य माधुर्य से अपनी ओर खींचने वाले, इन्द्रियों से अतीत परब्रह्म हो। इतना सब होने पर भी आप नन्दनन्दन हो, गोपीजनवल्लभ हो। आप की नाभि कमल से ही चतुरानन ब्रह्मा उत्पन्न हुये हैं। वासुदेव! आज मुझे रोको मत—कह लेने दो, मैं तुम्हारी अहैतुकी कृपा के बोझ से बहुत अधिक बोझीली हो गई हूँ। अनेक अहैतुकी उपकारों के भार ने मुझे आभारी बना दिया है। जैसी दया आपने मेरे ऊपर की वैसी दया तो आपने अपनी सगी माता पर भी नहीं की। अपनी माता देवकी को तो आपने सीमित कारागार से ही मुक्त किया, किन्तु मुझे तो इस असीम संसार के बंधन से सदा के लिये मुक्त किया। मैं आपके उपकारों को कहाँ तक बताऊँ? कहाँ तक आप के गुण गाऊँ कहाँ तक आपकी अहैतुकी कृपा का वर्णन करूँ? अब मेरी आपसे एक अन्तिम प्रार्थना है। मैं आपसे एक वरदान चाहती हूँ, यदि आप देने का वचन दें तो माँगूँ।

भगवान् बात को टालने की दृष्टि से सकुचाते हुये बोले—बुआ जी कैसी बात कर रहीं हैं आप? मेरा सर्वस्व आपका है। मेरे रोम रोम आपके काम आवे तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा। मेरे चाम से आपका कोई काम निकले तो अभी इसी समय इस खड्ग से अपने आप अपना चर्म उधेड़ सकता हूँ। आप संकोच न करें जो आप माँगेगी मैं वही दूँगा।

रोती हुई कुन्ती ने सिसकियाँ भरते हुये कहा—लाल जी ! क्यों मुझे लज्जित करते हो? क्यों मुझे भार से दबी हुई को और अधिक दबाते हो? करुण सिन्धो ! तुम्हारा ही तो सहारा है। तुम कृपा न करते तो आज हम कहीं के भी न रहते। आपने जो करना था सब किया। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। मैं अब तुम्हारे सामने पल्ला पसार कर यही भीख माँगती हूँ कि हम पर सदा ही इसी प्रकार इससे भी अधिक विपत्तियाँ आती रहें यही मेरा अन्तिम वरदान है, इसी को हे दयालो जाते समय मुझे देते जाओ।

भगवान् आश्चर्य चकित होकर कुन्ती जी की

कुन्ती की अपूर्व मांग

ओर देखने लगे और अत्यन्त विस्मय के स्वर में कहने लगे—बुआ जी ! बुआ जी ! आपका चित्त ठीक है न ? आप यह क्या वरदान माँग रही हैं ? जानबूझ कर मुझसे फिर उन्हीं विपत्तियों की याचना करती हैं, जिनके कारण आपको इतना क्लेश हुआ और जिन्हें निवारण करने को मुझे बार-बार द्वारिका से दौड़ना पड़ा। आप उच्च से उच्च कुल में जन्म की याचना करें, अतुल ऐश्वर्य का वरदान माँगे, समस्त संशयों का उच्छेदन करने वाली विद्या माँगें जो लक्ष्मी चञ्चला और चपला कह कर प्रसिद्ध है, वह आपके यहाँ सौम्या—स्थिर और अचला बनकर निवास करें—तब तो ठीक भी है। विपत्ति आप क्यों माँग रही हैं ?

कुन्ती बोली—"वासुदेव ! मुझे अब अधिक मत बहकाओ। मैं तुम्हारे प्रभाव को तुम्हारी ही कृपा से समझने लगी हूँ। हमपर विपत्तियाँ न आती तो आप हमारे समीप क्यों आते। सम्पत्ति में हम आपकी क्यों याद करते। उसीके मद मे मदान्ध होकर, स्वतः आये हुये भी आपका अपमान ही करते। विपत्तियों ने ही तो हमें आपके दर्शन कराये, जिन दर्शनों के करने पर फिर कभी संसार का दर्शन नहीं होता। हम उन अनित्य क्षणभंगुर तुच्छ नाशवान सुखों को लेकर क्या करेंगे जो हमे आपसे अलग कर दें। हम उन विपत्तियों का हृदय से स्वागत करते हैं, जो बार-बार आपके दर्शनों का अवसर देती हैं। हे दया सागर ! विपत्तियों ने ही हमें आपकी शरण में जाना सिखाया। आपही एक मात्र दुःख दूर कर्त्ता हैं, यह बात विपत्तियों ने तो ही हमे बताई। उन्हें छोड़कर फिर हम सम्पत्ति की चाह क्यों करें ? जो हमे आपसे मिलाती हैं, आपका कृपा पात्र बनाती हैं, वे विपत्तियाँ हमारे लिये सम्पत्ति के समान हैं, और जो सम्पत्ति आपसे दूर हटाती है वह हमारे लिये घोर विपत्ति है अब रही सत्कुल मे जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और लक्ष्मी की बात सो प्रभो ये तो मादक वस्तुयें हैं। इनके मद मे मत्त हुआ प्राणी संसार में सभी का अपमान करता है। किसी को अपने समान नहीं समझता, सभी का तिरस्कार करता है। वह सबके सामने तुम्हारे सुमधुर नामों का निर्लज्ज होकर संकीर्तन कैसे कर सकता है और बिना संकीर्तन, बिना उच्चस्वर के पुकारे आप आते नहीं। अतः आपको भुलाने वाले धन वैभव विद्या आदि हमें नहीं चाहिये।

जिसे अपने धन व गुणों का अभिमान है उनके समीप आप जाते ही नहीं। आपको यदि ऐश्वर्य ही प्रिय होता, वैभव से ही आप प्रसन्न होते तो आप दुर्योधन की सुन्दर स्वादिष्ट सामग्रियोंको छोड़कर, विदुर के घर साग खाने क्यों जाते ? इससे पता चलता है आप-अकिंचन प्रिय हैं, दीनों के नाथ हैं, निर्धनों के धन हैं। कंगालों की सम्पत्ति हैं। आपको ऐश्वर्य की गुणों की सजी हुई सामिग्रयों की क्या अपेक्षा होगी। आप तो स्वयं माया प्रपञ्च से रहित, अपने आप में ही रमण करने वाले, शान्त स्वरूप तथा मोक्ष के भी स्वामी हैं। दुर्योधनादि दुष्टों ने आपको पकड़ना चाहा, किन्तु आप तो काल के भी काल हैं, नियम के भी नियन्ता हैं, आदि अन्त से रहित और सब में समान रूप से विचरण करने वाले हैं, आप के लिये न कोई प्रिय है न अप्रिय। आपकी दृष्टि मे सभी एक से हैं। सभी पर समान कृपा दृष्टि रखते हैं। अब आप से मेरी एक ही अन्तिम प्रार्थना है। जैसे भगवती भागीरथी का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ही ओर वेग के साथ बहता रहता है उसी प्रकार मेरी चित्तवृत्तियाँ आपके चरणों की ही ओर लगी रहें। सब ओर से हटकर मेरा मन आपकी ही ओर दौड़ता रहे। आपको छोड़कर मुझे किसी दूसरे की चिन्ता न हो इतना कहकर महारानी कुन्ती चुप हो गईं। उनकी आँखों मे प्रेमाश्रु अब भी डब-डबा रहे थे। जब कुन्ती ने इस प्रकार मधुसूदन की स्तुति की, तो

श्यामसुन्दर मन्द-मन्द मुस्कराये। उनकी मुस्कान में ही तो मादकता है। जगत् को उन्मादित करने वाली माया ही तो उनकी हँसी है। जहाँ ये हँस पड़े, तहाँ सब किया कराया चौपट।

वे बड़े प्रेम से अपनी बुआ से बोले—"अच्छी बात है तुम मना करती हो तो मैं नहीं जाता। चलो हस्तिनापुर चलें। यह कहकर सबके साथ श्यामसुन्दर महलों में आ गये। अब रोज ही जाने की तैयारियाँ होतीं, रथ तैयार होकर द्वार पर आजाता, कभी महाराज युधिष्ठिर कहते—"वासुदेव! आज तो मैं नहीं जाने दूंगा। आज नक्षत्र ठीक नहीं, आज दिशाशूल है, आज अब देर हो गई" कभी सुभद्रा कहती 'भैय्या! आज नहीं कल जाना" फिर कुन्ती बुआ की बारी आती "अरे आज तो किसी ने छींक दिया। सामने देखो रीते घड़े आगये आज नहीं।" इसप्रकार आज कल करते-करते ६ महीने श्यामसुन्दर वहाँ और रहे। इस प्रकार शत्रुओं को मारकर, महाराज युधिष्ठिर को समझा बुझाकर सिंहासन पर बिठाकर, भीष्म पितामह से धर्मराज को उपदेश दिलाकर उन्हें सद्गति देकर परीक्षित की रक्षा करके भगवान् वासुदेव द्वारिकापुरी को चले गये। भगवद्विरह को सहन करने में असमर्थ कुन्तीनन्दन अर्जुन भी भगवान् के साथ उनके सारथी बनकर द्वारकापुरी गये, और तब तक भगवान् के साथ रहे जब तक भगवान लीला सवरण करके गोलोक न पधारे। भगवान् के स्वधाम-पधारने के बाद अनमने से होके रोते बिलखते पार्थ हस्तिनापुर लौट पड़े।

× × ×

हस्तिनापुर आकर अर्जुन भीतर सभा में चले गये। उससमय धर्मराज अपने प्रधान-प्रधान मन्त्रियों, भाइयों और अन्तरङ्ग स्नेहियों के साथ बैठे भगवान् के ही सम्बन्ध में चिन्ता कर रहे थे, उसी समय ऐसे विचित्र वेश मे अर्जुन को अपने सम्मुख देखकर उन्होंने एक साथ ही अनेक प्रश्न कर डाले। अर्जुन ने उनमें से एक का भी उत्तर नहीं दिया, वे रोते ही रहे।

जब उन्होंने यदुकुल संहार और भगवान् के स्वधाम पधारने की सभी बातें सुनाई, तब तो सब के सब शोक सागर मे मग्न हो गये। एक बूढ़े बुद्धिमान मन्त्री ने रात्रि मे यह समाचार अन्तःपुर में या नगर में न फैलने पावे इसलिये सभा से बाहर के सभी द्वार इस अभिप्राय से बन्द कर दिये कि न तो कोई बाहर का आदमी भीतर आने पावे और न भीतर का बाहर जाने पावे। धर्मराज तो बेसुध बन गये थे। उन्हें अपने शरीर का भी ज्ञान नहीं रहा। वे प्राणों को धारण करने मे भी समर्थ नहीं थे; किन्तु उनके लिये प्राण-धारण का एक ही आधार था—श्रीकृष्ण कथा। श्री कृष्ण कथा सुनते-सुनते वे भाव में श्रीकृष्ण सयोग-सुख का अनुभव करने लगे और वियोग जन्य दुःख को भूल गये। वे अर्जुन के मुख से श्री कृष्ण कथा सुनते-सुनते ऐसे तल्लीन हो गये कि वह सम्पूर्ण रात्रि एक क्षण के समान व्यतीत हो गयी!

इस प्रकार जब अर्जुन ने सभी यादवों के संहार का समाचार सुनाया तो धर्मराज बड़े दुःखी हुये। इस पृथ्वी को भगवान् के पादपद्मों से शून्य समझकर अब वे उसपर रहना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने आत्मज्ञान से बढ़े हुये शोक को रोका। चित्त को स्थिर किया और फिर सभी भाइयों से सम्मति करने लगे। उन्होंने भाइयों से कहा—देखो भगवान् के पाद पद्मों से रहित इस पृथ्वी पर अब धर्म नहीं रह जायगा। सभी सद्गुण तो भगवान् के साथ ही उनके धाम को सिधार गये। अब तो इस धराधाम पर सर्वत्र अधर्म का ही साम्राज्य छा जायगा, सर्वत्र कलह का बोलबाला होगा अतः हम सबको अब क्या करना चाहिये? मेरी तो अब एक क्षण भी जीने की इच्छा नहीं

होती। मैं तो उत्तराखण्ड मे जाकर इस शरीर का परित्याग करना चाहता हूँ। परीक्षित अब समर्थ हो गया है, उसका आज ही राज्याभिषेक हो जाना चाहिये। वज्र को भी इन्द्रप्रस्थ मे समस्त माथुर मण्डल के सिहासन पर यहीं अभिषिक्त कर दो फिर सहदेव की ओर देखकर कहने लगे—"सहदेव भैय्या! जाओ, तुम अभी सब तैय्यारियाँ करो।"

अर्जुन ने कहा—महाराज! मैं माता जी के भी दर्शन कर आऊँ, अन्त:पुर मे मेरे आने का समाचार तो सम्भव है; उन्हें मिल ही गया होगा, वे चिन्तित हो रहीं होंगी कि अभी तक उनकी सेवा में उपस्थित नहीं हुआ?

धर्मराजने कहा—"हाँ ठीक है, तुम अन्त.पुर मे जाओ। भीम वहाँ जाकर सेनाओं को तैय्यार करावें। नकुल से कहो पुरवासियों से परीक्षित के राज्याभिषेक की तैय्यारियाँ करावें।" इस प्रकार सब को आज्ञा देकर धर्मराज नित्य कर्मों से निवृत्त होने के लिये उठे। उनके उठते ही सभी उठखड़े हुये।

अर्जुन प्रणाम करके अन्त.पुर की ओर अकेले ही चले। हाथ जोडे हुये नौकर जो उनके पीछे-पीछे आ रहे थे, उनको उन्होंने रोक दिया, "मेरे पीछे किसी के आने का काम नहीं है। तुम लोग सब अपना काम देखो, मैं अन्त.पुर का मार्ग जानता हूँ।" आज अपने स्वामी का ऐसा रूखा उत्तर सुनकर सभी सेवक उदास हुए और वे दुखित मन से लौट गये।

महारानी कुन्ती ने एक बूढ़ी दासी से कुछ सदिग्ध सा समाचार सुना तो थ। कि सम्भव है अर्जुन द्वारका से लौट आये हैं। जब रात्रि मे बहुत देर तक प्रतीक्षा करने पर भी अर्जुन नहीं आये, तो उन्होंने उस दासी से बार बार पूछना प्रारम्भ किया, "क्यों री तू तो कहती थी—अर्जुन आया है! आता तो मेरे पास सबसे पहले प्रणाम करने आता! तू जा, देख तो सही, सभा मे तो नहीं बैठा है?" विचारी दासी गई, लौटकर उसने समाचार दिया—"महारानीजी! आज सभा का तो द्वार बन्द है। प्रहरी ने मुझे जाने ही नहीं दिया। महाराज धर्मराज भी आज अपने महलों मे नहीं पधारे। कोई विशेष राज काज आ गया होगा। मुझे सम्भव है भ्रम ही हुआ हो, मझले महाराज सम्भव है द्वारिका से न भी लौटे हों।

महारानी कुन्ती को इन संदिग्ध बातों से बड़ी विकलता हो गई। चारों में से कोई मेरे पास प्रणाम करने भी नहीं आया। किसी ने आज ब्यालू भी नहीं पाई सभा का द्वार बन्द क्यों है—ऐसा कौन सा राज-काज आगया? दासी कहती है—मैंने मझले महाराज को भी जाते देखा है। तो क्या अर्जुन द्वारिका से लौट आया? द्वारिका मे कोई अशुभ घटना तो नहीं घट गई, कहीं श्यामसुन्दर का तो कुछ अनिष्ट नहीं हुआ? यही सब सोचते सोचते माता अधीर होगई। उन्हें रात्रि मे नींद नहीं आई। वे सपूर्ण रात्रि भाँति भाँति के तर्क वितर्क करती हुई घड़ियाँ गिनती रहीं। प्रात काल जब सूत मागध बन्दियों ने प्रात कालीन स्तुतियाँ आरम्भ की, तो उनका हृदय फटने लगा। न जाने क्यों रह-रह कर उन्हें आज समस्त यदुवंशियों के अनिष्ट की ही शका हो रही थी। प्रेम में पग-पग पर अनिष्ट की ही आशंका होती है। प्रेमी हृदय आशका से भरा रहता है।

अरुणोदय में जब दासियों ने समाचार दिया कि मझले महाराज आ रहे हैं तब चिरकाल के पुत्र-वियोग के पश्चात् जो मिलन का अनुपम आह्लाद होना चाहिये वह माता को नहीं हुआ। उन्हें बार बार द्वारिका के समाचारों के सम्बन्ध में भाँति-भाँति की शंकायें हो रही थीं। अर्जुन ने आकर अपनी बूढ़ी माँ के पैर पकड़े। उन्होंने माँ के अरुण चरणों में सिर रख कर उन्हें प्रणाम किया, माँ ने अपने पुत्र को प्रणाम करते देखकर

उसे हृदय से लगाया, सिर पर हाथ फेरा और भाँति भाँति के आशीर्वाद दिये। उन्होंने बिना कुशल प्रश्न पूछे ही कहना प्रारम्भ कर दिया—बेटा मैंने सुना था तुम कल ही आ गये थे क्या यह बात ठीक है ? यदि ठीक है तो तुम कलसे मेरे पास क्यों नहीं आये ? तुम किवाड़ बन्द करके अपने भाइयों से क्या सम्मति कर रहे थे ? पहले तुम जब भी कहीं से आते सबसे पहले मुझे प्रणाम करने आया करते थे, अबके द्वारिका से आने पर तुमने विपरीत आचरण क्यों किया, इतने दिनों बाद भी मुझे देखकर तुम प्रसन्न क्यों नहीं हो रहे हो ? तुम्हारा मुख म्लान क्यों है ? तुम्हारी कान्ति क्षीण क्यों हो रही है ? द्वारिका में तो सब कुशल है न ? मेरे भाई वसुदेव, उनके सब पुत्र-पौत्र अच्छी तरह तो हैं ? सब की बातें तब पीछे बताना, मुझे तो मेरे हृदय धन, जीवन-सर्वस्व श्रीश्यामसुन्दर के समाचार सुना दो, उनकी कुशल बता दो। उनकी कुशल से ही ससार की कुशल है।

एक साथ माता के इतने प्रश्न सुनकर अर्जुन रो पड़े। रोते-रोते उन्होंने कहा—माँ ! कुशल तो श्यामसुन्दर के साथ चली गई। समस्त यदुवंशी आपस मे ही लड़कर स्वर्ग सिधार गये। बलराम जी केसहित भगवान् वासुदेव भी निज धाम पधार गये। अब तुम्हारे वश मे अनिरुद्ध का पुत्र वज्र ही शेष है।

सम्भ्रम से माता ने पूछा—क्या श्यामसुन्दर इस धराधाम का परित्याग कर गये ?

रोते-रोते अर्जुन ने कहा—हाँ, माँ ! यह पृथ्वी विधवा बन गई, हम अनाथ हो गये। श्यामसुन्दर हमें छोड़कर चले गये।

बस, इतना सुनना था कि श्रीकृष्ण को सर्वस्व समझने वाली माँ कुन्ती का हृदय फट गया। आँखें पथरा गईं और उसी क्षण उनके शरीर से प्राण निकल कर श्यामसुन्दर की खोज मे चले गये। अब वहाँ कुन्ती माता नहीं थीं, उन्होंने त श्यामसुन्दर के पथ का अनुगमन किया। वहाँ रह गया था केवल उनका निर्जीव शरीर। महारानी की ऐसी दशा देख कर दासियाँ दौड़ पड़ीं। क्षण भर में समस्त अन्तःपुर में यह समाचार बिजली की भाँति फैल गया, अन्त पुरकी रानियाँ आ-आकर छाँतिया पीटने लगीं, भाँति-भाँति से विलाप करने लगीं। तुरन्त यह समाचार धर्मराज को दिया गया। सुनते ही वे अपनी जननी के शव के समीप आये। वे तो भगवान् के स्वधाम पधारने की बात सुनते ही सभी संसारी सम्बन्धों से उदासीन हो गये थे, अतः वे रोये नहीं, उन्होंने शोक भी प्रकट नहीं किया। किन्तु उन्हें अपनी माँ क ऐसी अद्भुत मृत्यु पर ईर्ष्या अवश्य हुई। हा ! हमारी माँ का ही प्रभु प्रेम धन्य है, जो उनके स्वधाम पधारने के समाचार को सुनते ही स्वर्ग-वासिनी बन गईं, भगवान् से रहित पृथ्वी पर उन्होंने एक क्षण भी जीना उचित नहीं समझा। एक हम भी भगवान् के भक्त कहलाते हैं जो इस समाचार को सुनकर भी जीवित हैं। संसारी काज कर रहे हैं, अवश्य ही हमारा हृदय वज्र का बना है, जो भगवान् के वियोग को श्रवण करके भी नही फटता।

रोती हुई स्त्रियों को रोककर धर्मराज बोले—तुम लोग माता जी के लिये रोओ मत। उनकी मृत्यु तो परमप्रशंसनीय है। तब उन्होंने अर्जुन से कहा—भैया अर्जुन ! अब विलम्ब का काम नहीं है। लोगों को बुलाओ। माँ का अभी दाह संस्कार आज ही परीक्षित का राज्याभिषेक कर दो। हम आज ही यहाँ से चल देंगे। अब हमे एक-एक पल यहाँ भारी हो रहा है।

दुःख का सदुपयोग

(पू० श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज, 'मुनि' पुष्कर)

विचार से यह बात भलीभाँति जानी जा सकती है कि माया रचित इस संसार में कोई भी वस्तु निरर्थक नहीं है, बल्कि प्रत्येक वस्तु अपने सदुपयोग द्वारा सार्थक और दुरुपयोग द्वारा निरर्थक बनाई जा सकती है। और तो और नीम भी अपने सदुपयोग द्वारा अमृत और शक्कर भी अपने दुरुपयोग द्वारा विष बनाई जा सकती है। इसलिये कहना चाहिये कि वस्तु अपने स्वरूप से भली बुरी नहीं, किन्तु उसका सदुपयोग व दुरुपयोग ही भला-बुरा हो सकता है। यहाँ तक कि विष से विष संखिया का भी यदि त्रिदोष से दूषित सन्निपात के रोगी पर उचित मात्रा व अनुपान से सेवन कराया जाय तो वह अमृत रूप बन सकता है। इसलिये बुद्धिमान की बुद्धिमत्ता का परिचय इसी से मिलता है कि उसने देश, काल व पात्र के अनुसार अमुक वस्तु का कहाँ तक सदुपयोग किया है? कहना चाहिये कि ब्रह्मा ने इस द्वन्द्वरूप संसार की रचना जीव की इस बुद्धि की परीक्षा के लिए ही की है कि वह इस संसार रूपी पैंठ बाजार में किस चीज का ग्राहक है? इसी विषय का चित्र प्रातः स्मरणीय भक्त शिरोमणि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी श्रीरामचरित्र-मानस के प्रारम्भ में ही इस प्रकार खैंचते हैं—

भलेउ पोच सब विधि उपजाये।
गनि गुण दोष वेद बिलगाये॥
कहहिं वेद इतिहास पुराणा।
विधि-प्रपञ्च गुण अवगुण साना॥
दुःख सुख पुण्य पाप दिन राती।
साधु असाधु सुजाति कुजाती॥
दानव देव ऊच अरु नीचू।
अमिय सुजीवनु माहुरु मीचू॥
माया ब्रह्म जीव जगदीशा।
लच्छि अलच्छि रङ्क अवनीशा॥
कासी मग सुरसरि क्रमनाशा।
मरु मालव महिदेव गवाशा॥
सरग नरक अनुराग विरागा।
निगमागम गुण दोष विभागा॥
जड़ चेतन गुण दोषमय विश्व कीन्ह करतार।
सत हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार॥

हम दो पादरियों की कथा सुनते हैं, जो परस्पर मित्र थे। उनमें एक ईश्वर भक्त आस्तिक था, परन्तु दूसरा ईश्वर में अविश्वासी नास्तिक। भक्त पादरी सदैव अपने नास्तिक मित्र को ईश्वर में ईमान लाने के लिए उत्तम रीति से उपदेश करता रहता था, परन्तु वह सफल न हुआ। कालवशात् नास्तिक मित्र मृत्यु का ग्रास हो गया। इसपर भक्त पादरी को बहुत खेद हुआ कि ईश्वर मे अविश्वास रखते हुए शरीर त्याग कर मेरा मित्र इस दुर्लभ मानुष-देह को हार कर चला गया। उसने सोचा कि इस नास्तिकता के फलस्वरूप वह अवश्य घोर नरक को प्राप्त हुआ है। चित्त से द्रवीभूत हो उसने विचार किया कि इस घोर कष्ट में अवश्य उसके लिए मेरा उपदेश सफल होगा। अतः घोर नरक में चलकर भी अब अपने मित्रतारूप कर्तव्य को सफल करना चाहिए। ऐसा निश्चय कर वह नरक को जाने वाली रेल गाड़ी में सवार तो हो गया, परन्तु ज्यों ज्यों रेल गाड़ी नरक की ओर आगे बढ़ती थी, त्यों त्यों दुर्गन्धादि के कारण उसका सिर चकराने लगा। उसने सोचा कि घोर नरक तक पहुँचने में न जाने मेरी क्या दुर्गति होगी? यहाँ तक कि घोर नरक से तीन-चार स्टेशन पहले ही वह अचेत हो गया। इधर गाड़ी घोर नरक की ओर बढ़ती चली जा रही थी। इस प्रकार घोर नरक के स्टेशन पर जब गाड़ी पहुँची तो

उसको सावधानी आ गई और खिड़की से मुँह बाहर निकाल कर देखा तो सुन्दर बगीचे दृष्टिगोचर हुए। इधर स्टेशन के साइन-बोर्ड (Sign Board) पर घोर नरक का नाम पढ़कर वह गाड़ी से उतर पड़ा और चकित हुआ कि यह क्या उल्टा मामला है ? घोर नरक और उसमें सुन्दर बगीचे ! सारांश, वह अपने मित्र की खोज करता हुआ उससे मिला और उससे पूछा कि घोर नरक में बगीचे, यह विपरीत वार्ता कैसी ? मित्र ने उत्तर दिया—"इसमे आश्चर्यजनक बात कोई नहीं, 'वस्तु का सदुपयोग' यही इसका रहस्य है। जब हम लोगों को गन्दी नालियों और तप्त लोहों मे डाला गया तो हमने गन्दी नालियों के पानी से तप्त लोहों को ठण्डा करना शुरू किया और शेष गन्दे जल को भूमि पर फैलाना शुरू कर दिया, जिसने खाद का काम देकर भूमि को उपजाऊ बनाने में सहायता की। इसी प्रकार वस्तु का सदुपयोग करते हुए हम घोर नरक में भी सुन्दर बगीचे लगाने मे सफल हो गये।"

इस प्रकार जब कि यह विषय सिद्धान्ततः सत्य है कि संसार में वस्तुतः कोई चीज भली-बुरी नहीं, किन्तु उसका सदुपयोग-दुरुपयोग ही भला-बुरा है। यहां तक कि अपने सदुपयोग-द्वारा जब कि नरक भी स्वर्ग बनाया जा सकता है, तब प्राणिमात्र के जीवन की सर्वोत्कृष्ट समस्या का एकमात्र लक्ष्य ससार मे जो यह 'दुःख' है, इसका सदुपयोग क्यों न किया जा सके ? बल्कि अवश्य इसका सदुपयोग किया जा सकता है। कहना चाहिए कि एकमात्र इसके सदुपयोग पर ही ससार में सब समस्यायें हल हो सकती हैं। इसके सदुपयोग पर ही जन्म-मरण के सभी बन्धन कट सकते हैं। और केवल इसके सदुपयोग पर ही परमपद की प्राप्ति निर्भर है। जिस किसी ने जब कभी परमानन्द की प्राप्ति की है वह तभी, जबकि उसने इस दुःख को अपनाया और इसका सत्कार किया है। यही जीव का ऐसा सच्चा परम मित्र है, कि यदि जीव इसकी बात [illegible] और यदि प्रेमपूर्वक इसको अपने हृदयसिंहासन प[illegible] विराजमान करे तो यह इसके सभी बन्धन का[illegible] और फिर इसके लिए अपने को भी भस्म करके उ[illegible] अखण्ड पद मे भली भाँति आरूढ़ कर देने का [illegible] जुम्मेवार है कि 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम [illegible] मम' अर्थात् जहाँ जाकर फिर आना नहीं पड़ता इसके विपरीत यदि इसका अनादर ही किया जा[illegible] रहा और एक कुत्ते के समान इसको दुर-दुर [illegible] किया जाता रहा तो एक बावले कुत्ते की भाँति य[illegible] इस जीव की पिंडली ऐसी पकड़ता है, जो कभी छु[illegible] भी नहीं छूटती। यहीं तक नहीं, बल्कि अनन्त ज[illegible] और योनियों तक भी यह इस जीव का पीछा नह[illegible] छोड़ने का। योगवाशिष्ठ, उपशम प्रकरण, में [illegible] के आख्यान मे हम सुनते हैं कि जब उनको आ[illegible] विश्रान्ति होने लगी, तब उन्होंने अपनी मस्ती मे [illegible] त्वचा, चक्षु, रसना व घ्राण—प्रत्येक इन्द्रिय [illegible] आह्वान किया और प्रत्येक को सम्बोधन कर[illegible] कहा—"हे इन्द्रिय ! तेरे सङ्ग से मैंने बहुत भोग भोगे, परन्तु तेरे संग से मुझे शान्ति न मिली। अ[illegible] मैं सच्ची विश्रान्ति को प्राप्त होता हूँ, इसलिए अब मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।" अन्त में उन्होंने बड़े प्रेम से दुःख का आह्वान करके कहा—"मित्र ! यदि तू मेरे हृदय में न उतरता और वहाँ अपना आसन लगाता तो आज मुझे यह विश्रान्ति कदापि प्राप्त न होती। ससार में तेरे समान मेरा और कोई भी मित्र न हुआ है और न होगा। ससार में एकमात्र तू ही मेरा ऐसा सच्चा निष्काम हितैषी है, जिसने मुझे अज्ञान निद्रा से जगाया, मुझे उस अचल अविनाशी पद मे स्थित किया और फिर मेरे लि[illegible] अपना भी समूल नाश कर डाला, इस लिये तू [illegible] है। अब मुझे तेरी भी जरूरत नहीं, इसलिये अब तू भी जा।"

अब हमे विचार करना चाहिये कि दुःख का

सदुपयोग क्या है ? इस विषय में आगे चलने से पहले हमें यह जानना जरूरी है कि दुःख का हेतु क्या है और प्रयोजन क्या ? अर्थात् यह किस निमित्त से आता है और इसकी माँगनी क्या है ? इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही अनुभव से यह स्पष्ट प्रमाणित कर सकता है कि जब कभी जिस किसी ने सांसारिक दृष्टि से ग्रहण करके किसी भी प्रकार की अहन्ता ममता को पकड़ा और उसके साथ में स्वार्थ-कामना का पुट लगाकर इस अहन्ता-ममता को सुदृढ़ किया, तब-तब ही 'दु.ख' सिर झुकाकर इसको प्रणाम करता है। इसके विपरीत जब कभी हृदय किसी भी प्रकार की स्वार्थ कामना से खाली होता है, तब-तब उसी अव्यवहित क्षण में दुःख का अभावरूप सुख प्रकट हो आता है। इस लिये कहना चाहिये कि प्रत्येक दु.ख के मूल में किसी न किसी प्रकार की रजोगुणी इच्छा का ही राज्य हुआ करता है, इसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता। वेद-वेदान्त का यह अटल सिद्धान्त है कि जिस सुख की खोज प्रत्येक प्राणी 'आसुप्तेरामृते', अर्थात् जागने से सोने तक और जन्म से मरणपर्यन्त अविराम गति से कर रहे हैं, वह सुख का भण्डार जीव के अपने हृदय देश में ही भरपूर है, परन्तु अज्ञान अन्धकार के कारण जीव उसको वहाँ खोज नहीं सकता। बल्कि अज्ञान से आवृत हुआ कस्तूरी-मृग की भाँति, अपने अन्त.स्थित उसकी गंध से मोहित हुआ संसाररूपी वन और भोग्य विषयरूप पदार्थों में उसके लिये भटकता फिरता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों इच्छा का वेग बढ़ता जाता है, त्यों ही त्यों अपने अन्त.स्थित भी वह सुख का भण्डार नित्य प्राप्त हुआ भी इसी प्रकार खोया हुआ सा हो जाता है, जिस प्रकार वायु के वेग से हिलते हुए दर्पण के सम्मुख रहता हुआ भी अपना मुँह दर्पण में प्रतीत नहीं होता। और जब-जब यह हृदयरूपी दर्पण किसी-न-किसी इच्छा से खाली होता है, तब-तब उस रजोगुणी इच्छा के निकलने से अन्तःकरण उस क्षण के लिए स्थित होजाता है और उस स्थित अन्त.करणरूपी दर्पण में उसी आत्मानन्द का आभास पड़ने से हमें सुख का अनुभव होता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि विषयानन्द में भी वास्तव में आनन्द तो उस आत्मानन्द के प्रतिबिम्ब से ही आता है, परन्तु बुद्धि की मन्दता करके हम उसकी पहिचान कर नहीं सकते।

दु ख का हेतु क्या ? इस विषय को कुछ अधिक स्पष्ट रखने के लिये हमें दु ख की वंशावली पर विचार करना चाहिये। इसलिये इसका नीचे अङ्कवार वर्णन किया जाता है—

१—जब यह जीव देश-काल-वस्तुपरिच्छेदशून्य अपने अखण्ड अविनाशी सुखस्वरूप आत्मा को भूल बैठता है, तब अपने को सीमित (परिच्छेद) रूप से कुछ जानता है। अपने को सीमित रूप से कुछ जानना और उसमें ही 'मैंपन' धार बैठना, इसी का नाम अज्ञान है और यह परिच्छेद-दृष्टि ही सब दु.खों का मूल है।

२—अपने को जब सीमित रूप से कुछ जाना और उसमे अहन्ता धारी, तब अपने से बाहर जितना कुछ भी प्रपञ्च-आडम्बर है, उसमे स्वाभाविक ही 'मैंपन' से इन्कारी होती है, अर्थात् मैं इतना ही हूँ और इससे अन्य मैं नहीं हूँ। इस प्रकार इस इन्कारी से भेद-बुद्धि खड़ी हो जाती है।

३—इस प्रकार जब परिच्छेद व भेद-दृष्टि खड़ी हुई, तब इस जीव को अपने नित्य-निर्विकार सुख-स्वरूप की विस्मृति स्वाभाविक ही हो जाती है, तब अपने सुखस्वरूप को भूल और उसको अपने से भिन्न जान यह जीव उसकी प्राप्ति का इच्छुक होता है। इस प्रकार अपने को अपने से भिन्न जान कर अपने को पाने की इच्छा—यही दुःख है, ऐसा जानना चाहिये।

४—इस प्रकार जब भेद व परिच्छेद-दृष्टि का राज्य हुआ, तब प्राकृतिक नियमानुसार अपने से भिन्न किसी वस्तु मे अनुकूलता और किसी मे प्रतिकूलता-बुद्धि स्वाभाविक ही जागृत हो आती है। और तब अनुकूल-बुद्धि के विषय पदार्थ में राग तथा प्रतिकूल बुद्धि के विषय पदार्थ मे द्वेष स्वत. ही इसी प्रकार प्रकट हो आता है, जैसे जहाँ कहीं मुर्दा सड़ता है वहाँ गृध्र व शृगालादि आप ही अपनी पञ्चायत लगा बैठते हैं।

५—राग-द्वेष के उदय होने पर राग-बुद्धि के विषय पदार्थ के ग्रहण और द्वेष-बुद्धि के विषय पदार्थ के त्याग की इच्छा होती है। और उस इच्छा से रजोगुण करके प्रेरा हुआ जीव तत्तत् नैमित्तिक कर्मों में प्रवृत्त होता है।

६—राग पुण्य का हेतु और द्वेष पाप का हेतु होता है तथा पुण्य से सुख और पाप से दु:ख की प्राप्ति होती है, यह तो प्रकृति में अटल नियम हो ही चुका है। इस प्रकार सुख-दु:ख रूप फल-भोग के लिए ही जीव को जन्म मरण की प्राप्ति होती है, जो कि महा दु:ख है। अत: सुख को भी दु:ख जानना चाहिये और वह दु:ख की पीठ पर ही आरुढ़ हो कर चलता है, क्योंकि नाशवान् संसारी सुख जब नष्ट होता है तो वह उस सुख को कई गुणा अधिक दु:ख में बदल देता है।

दु:ख की उपर्युक्त वंशावली पर विचार करने से ज्ञात होगा कि दु:ख के मूल मे प्रथम अपने परमात्मस्वरूप का अज्ञान ही मुख्य हेतु होता है। फिर उस अज्ञान के फलस्वरूप भेद-परिच्छेद एवं अनुकूल प्रतिकूल बुद्धि के कारण जब यह जीव अपने परमात्मस्वरुप से सर्वथा विमुख हो जाता है, तब अनेक प्रकार की ग्रहण-त्यागादि की इच्छाएँ ही इस जीव के सभी प्रकार के दु:खों का हेतु बनती हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों इच्छाओं का जाल फैलता है, त्यों-त्यों ही अपने परमात्मस्वरूप से अधिकाधिक विमुखता बढ़ती जाती है और ज्यों ज्यों विमुखता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों ही दु:खों की अधिकाधिक वृद्धि होती जाती है। अत. कहना चाहिये कि सभी दु:खों के मूल में साक्षात् अथवा परम्परा रुप से एकमात्र हेतु अपने परमात्मस्वरूप से विमुख होना ही है। इस विमुखता का फल संसार की पकड़ ही है। अर्थात् ज्यों-ज्यों अपने परमात्मस्वरूप से विमुखता होती जाती है, त्यों त्यों संसार की पकड़ बढ़ती जाती है और ज्यों-ज्यों यह पकड़ बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों ही कर्म बनते जाते हैं, जो अपना फल-भोग भुगाने के लिये इस जीव को जन्म-जन्मान्तर के बंधन मे लाये बिना नहीं छोड़ते। यहाँ तक कि ससार की पकड़ और उसके फलस्वरूप कर्म-जाल मे फँसा हुआ यह जीव आसुरी भाव मे पड़कर प्राकृतिक नियम से बँधा हुआ लख-चौरासी के चक्कर में भी पड़ सकता है। जैसा श्री भगवान् ने गीता अ-१६ श्लो -७ से २१ पर्यन्त उस आसुरी स्वभाव का विस्तार से लक्षण किया है और अन्त मे स्पष्ट कह दिया है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिं ॥

अर्थ—वे मूढ़ इस प्रकार आसुरी योनि को प्राप्त हुए मुझको न पाकर जन्म-जन्म मे अधम से अधम गति को ही प्राप्त होते रहते हैं।

उपर्युक्त व्याख्या से यह विषय किसी विवाद के बिना स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि दु:ख के मूल में एकमात्र अपने परमात्मस्वरूप से विमुखता और संसार की पकड़ ही हेतु रूप से रहा करती है। इस प्रकार जब दु:ख का हेतु स्पष्ट हो गया, तब इसका प्रयोजन तो स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है कि यह भगवान् का भेजा हुआ दूत केवल संसार सम्बन्धी पकड़ छुड़ाने के लिये तथा भगवान् के सम्मुख करने के लिये ही जीव के हृदय में उतारा

जाता है। यदि यह जीव सत्यता पूर्वक भगवान् के भेजे हुये इस दूत का आदर-सत्कार करे, प्रेम पूर्वक इसको अपने हृदय-सिंहासन पर विराजमान करे, इसकी बात पूछे और इसके आने के हेतु व प्रयोजन पर स्थिर चित्त से विचार करे तथा सत्यतापूर्वक इसका अनुसरण करे, तो यही एकमात्र जीव का ऐसा परम हितैषी है जो इस जीव को संसार-बन्धन से छुड़ाने का खरा जुम्मेवार है। फिर यहाँ तक कि यह आपे की बलि देकर भी जीव का उद्धार करने से नहीं चूकता। कहना चाहिये कि जो कोई और जब कभी संसार बन्धन को काट सका है, वह केवल उपर्युक्त रीति से त्याग की सड़क पकड़ कर ही बन्धन से छूट पाया है। क्योंकि 'प्रवृत्ति' व 'पकड़' ही संसार और निवृत्ति व त्याग ही भगवान् शंकर का स्वरूप है। जब इस शिवस्वरूप ने सर्व प्रकार की आसक्तियों तथा पकड़ों का त्याग करके नागेन्द्र का हार गले में पहना, मुरदों की भस्म का अपने शरीर पर विलेपन किया, रुण्डों की माला गले में विभूषित की, तभी इसके तृतीय ज्ञान-नेत्र का उद्घाटन हुआ। और ज्यों ही तृतीय ज्ञान-नेत्र का उद्घाटन हुआ त्यों ही तत्काल उत्तर क्षण में ही यह कामदेव (इच्छाओं) को भस्म कर पाया और त्यों ही यह कालकूट विष को हड़प कर गया।

'तत्र को मोह कः शोक एकत्वमनुपश्यत.'

अर्थात् जिसने एकत्व में स्थिति पाई, उसके लिए कहाँ मोह और शोक?

सारांश, सुख के अभिलाषियों को दुःख की इन म... पर ध्यान देना चाहिये और शीघ्र-से-शीघ्र इस शिव-शंकर की भेट इसके चरणों में रखना चाहिये इसके बिना गुज़ारा है ही नहीं। आज नहीं कल, अन्ततः इसकी पूरी पूरी भेट देनी ही पड़ेगी और वह यहीं दी जा सकती है। इसी लिये इसने अपना त्रितापरूपी त्रिशूल अपने दाहिने हाथ में धारण किया है, जिससे यह सूचित किया जा रहा है कि अपने से विमुखी जीवों के हृदयों में इसका वार निश्चत है और उनसे अपनी पूरी-भेट लिये बिना इसको कदापि संतोष न होगा। यदि हम एकमुश्त इसका पूरा ऋण चुकाने में असमर्थ हैं तो इसके सम्मुख होकर और त्याग की सड़क पकड़ कर *सोपान-क्रम से किस्तों के रूप में इसका यह ऋण चुकाने के लिए हमे कटिबद्ध हो जाना चाहिये। इस प्रकार इसके सम्मुख होकर ही हम इसकी प्रसन्नता के पात्र हो सकते हैं और फिर इसके पूरे ऋण से भी मुक्त हो सकते हैं। जैसा भगवान् ने श्री मुख से भी कहा है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

अर्थ—पार्थ! न तो इस लोक में और न तो परलोक में ही उसका विनाश होता है, क्योंकि तात्! कल्याण करने वाला कोई भी दुर्गति को तो जा ही नहीं सकता।

यही दु.ख का सदुपयोग है, यही मानव-जीवन का लक्ष्य है और इसी से मानव-जीवन की सफलता है। इस प्रकार दुःख का सदुपयोग ही दुःख निवारण की एकमात्र कुञ्जी है, इसके बिना दुःख-निवारण के लिए और जो कुछ भी किया जायगा, वह घाव न धोकर पट्टी धोये जाने के समान ही हो कर रहेगा।

* त्याग के सोपानों का वर्णन इस लेख के लेखक द्वारा लिखित 'आत्मविलास' पुस्तक में देखो।

दुःख का स्वरूप और उसके उपाय

(एक ब्रह्मनिष्ठ संत)

इच्छाओं की उत्पत्ति दुःख और उनकी पूर्ति सुख नाम से कही जाती है। इच्छाओं की उत्पत्ति का मूल कारण एकमात्र देहाभिमान है जो अविचार-रूपी भूमि में उपजता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध होजाता है कि दुःख की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह केवल अविचार का कार्य मात्र है। अतः विचार का उदय होते ही अविचार सदा के लिए मिट जाता है। फिर दुःख जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। पाठकों को यह भली भाँति समझ लेना चाहिये कि निवारण उसी का हो सकता है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता न हो।

दुःख का जन्म सुख भोग से होता है। यदि सुख का उपभोग न करके किसी दुखी की सेवा द्वारा सुख का सद्व्यय कर दिया जाय तो दुःख निवारण की योग्यता तथा शक्ति स्वतः आ जाती है। कारण कि स्वार्थ भाव मिटते ही चित्त शुद्ध होने लगता है और फिर स्वतः विचार रूपी सूर्य उदय होता है। वह अविचार रूपी अन्धकार को सदा के लिये खा लेता है। जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वतः मिट जाती है, उसी प्रकार विचार अविचार को खाकर स्वतः मिट जाता है। जिस प्रकार रोग तथा औषधि के मिट जाने पर केवल आरोग्यता ही शेष रहती है, उसी प्रकार विचार तथा अविचार के मिटते ही, केवल नित्य अनन्त जीवन ही शेष रहता है, जिसमे दुःख का लेशमात्र भी अस्तित्व नहीं है, क्योंकि तब सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाता है।

अभाव का अनुभव ही दुःख का स्वरूप है। अभाव का अभाव करने में एक मात्र विचार ही समर्थ है। निज ज्ञान के प्रकाश में अपने बनाये हुए दोषों का अन्त करना ही विचार को अपनाना है, जो मानव को स्वतः प्राप्त है, पर उसका आदर न करने से ही अप्राप्त जैसा प्रतीत होता है, जिससे प्राणी अनेक प्रकार के अभावों मे आबद्ध हो जाता है, जो वास्तव में प्रमाद है। उसकी निवृत्ति होने पर ही दुःख का निवारण सम्भव है, प्रमाद के मिटाने मे मानव परतन्त्र नहीं है क्योंकि प्राप्त विवेक के सदुपयोग मात्र से वह मिट जाता है। उसके लिये किसी अप्राप्त वस्तु की आवश्यकता नहीं है। प्राप्त का सदुपयोग ही प्रमाद मिटाने का मुख्य साधन है। प्रमाद का पोषण जानकारी के निरादर तथा बल के दुरुपयोग से ही होता है जो अपना बनाया हुआ दोष है।

बेचारे दुखी का दुःख तभी तक जीवित है जब तक कि दुखी अपने दुःख का कारण किसी और को मानता है। जिस काल मे दुखी अपने दुःख का कारण अपने को ही मान लेता है, बस उसी काल में दुःख स्वतः मिटने लगता है क्योंकि अपने बनाये हुए दोषों के मिटाने में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है।

प्राप्त बल के सदुपयोग से निर्बलता और प्राप्त विवेक के आदर से बेसमझी अपने आप मिट जाती है। सभी दुःखों के मूल मे बेसमझी तथा निर्बलता ही हेतु है, जो प्रयत्नशील होने पर मिटाई जा सकती है। अतएव दुःख मिटाने मे परतंत्रता नहीं है। प्राणी स्वयम् दुखी होकर ही समाज को दुःख प्रदान करता है। अतः अपने दुःख का अन्त करने पर ही समाज के दुःख का अन्त हो सकता है। जो स्वयं दुःखी नहीं है उससे किसी को दुःख नहीं होता। क्योंकि दुःख उन्हीं प्राणियों से होता है जो अपनी प्रसन्नता किसी अन्य पर निर्भर रखते हैं। सभी दुःखों का मूल अपना ही कोई न कोई दोष है। गहराई से देखिये—लोभ युक्त होने पर ही हानि का दुःख, मोह युक्त होने पर ही वियोग का

दुःख, और काम युक्त होने पर ही अभाव का दुःख होता है।

ये सभी दोष योग्यतानुसार साधन करने पर मिट सकते हैं। अब पाठक भली भाँति समझ जायेंगे कि दुःख मिटाने में साधनयुक्त मानव ही समर्थ है, साधन उसे नहीं कहते जिसके करने मे असमर्थता हो और करने पर असफलता हो। साधन वास्तव मे वही है जिसके करने में स्वाधीनता हो और परिणाम में सफलता हो। साधन का जन्म वर्तमान परिस्थिति से ही होना चाहिये क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसका आदर करना ही जीवन का आदर है। दुःख रहते हुए दुःखी न होना अर्थात् उसे दबाना अत्यन्त भूल है सन्देह की वेदना ही जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान से और परम व्याकुलता ही प्रेमी को प्रेमास्पद से अभिन्न करने मे समर्थ है। इस दृष्टि से दुःख बड़े ही महत्व की वस्तु है। इतना ही नहीं ऐसा कोई विकास नहीं है जिसके मूल मे गहरा दुःख न हो। दुःख मे भयभीत होना उचित नहीं दुःख को अपना लेने पर दुःख मे से दुःख मिटाने का बल तथा उपाय प्राप्त होते हैं, ऐसा मेरा अनुभव है।

उन्नति में दुःख की आवश्यकता

(पूज्य श्री नारायण स्वामी)

लोग समझ बैठे हैं कि संसार में दुःख अति निकृष्ट वस्तु है, जो किसी मन्दभागी को ही प्राप्त होती है। परन्तु यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो सिद्धान्त व परिणाम नितान्त उलटा ही निकलता दीखता है, और कहना पड़ता है कि "वे बड़े ही मन्दभागी लोग हैं जिनको दुःख प्राप्त नहीं हुआ, या जो दुःख से डरते और उसे बुरा अर्थात् निकृष्ट मानते हैं" क्योंकि जगत् मे दुःख ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य के हृदय में रड़क उत्पन्न करके उसे संसार से निरासक्त व उपराम करती और उन्नति की ओर लगाती है। बिना दुःख के संसार मे उन्नति होती नहीं दीखती। जिस मनुष्य व जाति को पहिले दुःख मिला, उसी ने फिर सुख पाने का यत्न किया, वही वास्तव में सुख की अधिकारिणी हुई, और उसी के यहाँ सुख का ठीक सम्मान होता है, क्योंकि जहाँ जिसकी आवश्यकता होती है वहीं वास्तव में उसका आदर सम्मान हुआ करता है, अन्य स्थान पर नहीं। जैसे भूखे पुरुष को पेट भरने की सूझती है, रझे हुए (तृप्त) पुरुष को नहीं; वैसे ही दुखी, अशान्त और शोकातुर को सुख, शान्ति और प्रसन्नता का पूर्ण स्वाद मिलता है। सुखी, शान्त और प्रसन्नचित्त पुरुष को नहीं।

हाँ, कभी-कभी इतनी समानता ऊपर से इनमे अवश्य दीखती है कि जो दुःख अशान्ति और शोक के निवारण निमित्त यत्न करता रहता है, तथा जो सुखी, शान्त तथा प्रसन्नचित्त हो जाता है वह प्रथम तो यत्न करता ही नहीं और यदि यत्न करता दीखता है तो दुःख अशान्ति और शोक के निवारण के निमित्त नहीं (क्योंकि वे तो उसके पहिले ही दूर हुए होते हैं), किन्तु सुख, शान्ति और प्रसन्नता की स्थिति के निमित्त यत्न करता है। अर्थात् एक (दुखी, अशान्त, और शोकातुर पुरुष) तो सुख, शान्ति और प्रसन्नता पाने की इच्छा से प्रेरित होकर दुःख, अशान्ति और शोक के निवारण निमित्त यत्न करता है, और दूसरा (सुखी, शान्त और प्रसन्नचित्त पुरुष) प्राप्त सुख, शान्ति और प्रसन्नता की लटक से (अर्थात् स्वाभाविक) उनकी स्थित निमित्त यत्न करता है। एक इच्छा का लादू पशु बनकर चेष्टा करता है और दूसरा किसी इच्छा का लादू बनकर नहीं किन्तु स्वाभाविक चेष्टा करता

है। इसलिये कहा गया है कि दुखी और भूखे पुरुष को सुख पाने और पेट भरने की सूझती है, सुखी और रज्जे हुए (तृप्त) पुरुष को नहीं। भगवान् ने जो गीता मे कहा है कि—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
(गीता ७ । १६)

"अर्थात् चार प्रकार के पुण्यात्मा पुरुष मेरा भजन करते हैं—पीडित (दुःखी), जिज्ञासु, किसी अर्थ के अर्थी. और ज्ञानी।" इससे भी तात्पर्य यही है कि पहिले के तीन (दुःखी, जिज्ञासु और अर्थार्थी) पुरुष तो सुख और अर्थ की इच्छा से प्रेरित होकर भगवान् का भजन करते हैं, और ज्ञानी केवल स्वभाव से ही भजन रूप चेष्टा करता है। पर चारों को भगवान् ने सुकृत जन (पुण्यात्मा) कहा है, पापात्मा नहीं। अर्थात् दुखी पुरुष को गीता ने भी पुण्यात्मा माना है। इसलिये वे पुरुष मूढ़ हैं जो दुःख को निकृष्ट वस्तु समझते हैं, विचारवान् पुरुष तो दुःख को उत्तम वस्तु और दुखी को पुण्यात्मा अर्थात् भाग्यवान् पुरुष ही समझते हैं।

इस दुःख की आवश्यकता को अमरीका देश के सुप्रसिद्ध लेखक 'एमरसन' ने भी अपने उपदेशों मे अति बड़े बड़े शब्दों मे ऐसे लिखा है कि—

["Pains and sufferings are necessary for the development of character, especially in its higher phases. The world's greatest teachers, Dante, Shakespeare, Darwin e g. have been men who suffered utmost. Suffering moreover develops in us pity, mercy, and the spirit of self-sacrifice. It develops in us self-respect, self reliance and all that is implied in the expression, strength of character. In no other way could such a character be conceivably acquired. Even (Christ, Guru Nanak, Budha, Krishna and Rama and other) prophets became perfect through sufferings. And there is also further necessity for pain, arising from the reign of Low. (Emerson)]

"उच्च अवस्था मे आचरण वा स्वभाव की शुद्धि तथा उन्नति के लिये दुःख का होना आवश्यक है। जगत् के बड़े-बड़े प्रसिद्ध पुरुष ऐसे हुए हैं कि जिन्होंने प्रथम अत्यन्त दुःख वा कष्ट सहे और फिर जगद्विख्यात गुरु, महात्मा और सुप्रसिद्ध महापुरुष हुए, बिना दुःख के उत्तम आदर्श, आचरण नहीं हो सकता। जगत्प्रसिद्ध (भगवान् रामचन्द्र, कृष्ण, बुद्ध, ईसामसीह और गुरु नानक इत्यादि ऐसे) अनेक महात्मा तब बने जब कि उन्होंने प्रथम आनन्द पूर्वक दुःख सहा। दुःख हममे दया, नम्रता, क्षमा, स्वार्थत्याग वा दानशीलता का भाव, आत्म विश्वास, आत्म-सम्मान और आचरण-बल उत्पन्न करता है। इसलिये दुःख की आगे चलकर भी आवश्यकता होती है"।

"आचरण रूपी स्वर्ण की शुद्धि के लिये दुःखों की भट्टी में उसको डालना (अर्थात दुःखों मे से गुजरना) आवश्यक है" (To come out pure gold, the charater is required to pass through the furnace of afflictions and troubles") बल्कि सिद्धान्त यह है कि "जब दुःख अत्यन्त प्राप्त होते हैं, तब समझ लेना चाहिये कि ईश्वर प्राप्ति (अर्थात् आत्म-साक्षात्कार) अत्यन्त निकट है, क्यों कि भारी दुःखों मे ईश्वर का स्मरण स्वत होने लगता है। इसी सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से करने के लिए वेद-व्यासजी ने गीता में सबसे पहिले अर्जुन-विषादयोग नामका अध्याय आरम्भ किया है, या यों कहा जाय कि यही सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय मे ही स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है।

जिससे उसका नाम अर्जुन-विषाद-योग पड़ा है। इस अध्याय में केवल अर्जुन का शोक वा दुःख ही दुःख वर्णन हुआ है, जिस शोक के वशीभूत होने से अर्जुन क घमण्ड दूर होता है, अपने आपको निर्बल, दुखी, अशान्त और अज्ञानी मानकर भगवान् की शरण लेता है, उनका शिष्य बनता है और उनसे उपदेश लेने की प्रार्थना करता है जिससे वह (इस दुःख के कारण) अपने आचरण से अपने आप को तत्त्वोपदेश का अधिकारी दर्शाता वा सिद्ध करता है और जिस अवस्था के प्राप्त होने पर फिर उसे साक्षात् भगवान् के मुखारविन्द से तत्त्वोपदेश मिलता है। इस प्रसग से यही स्पष्ट होता है कि उन्नति वा ज्ञानप्राप्ति के मार्ग में दुःख भी एक भारी और आवश्यक अवस्था व मञ्जिल है, जिसका पाना और शान्त चित्त से सहना पुरुष को उन्नति तथा तत्त्वोपदेश के योग्य बना देता है।

इसी सिद्धान्त से भारतवासियों को अपने को भाग्यवान समझना चाहिये कि उन पर हजारों वर्षों से दुःख आये और आ रहे हैं। जब भी दुःख बढ़े तब उनके नेत्र खुले और कुछ उनकी उन्नति होगई और जब सुख ने मुँह दिखाया झट उन्हें निद्रा आई। आजकल तो विशेषतः सौभाग्य के दिन हैं क्योंकि क्या अमीर क्या गरीब, क्या साधु क्या गृहस्थ, और क्या बड़े क्या छोटे, सबके सब दुःख को प्राप्त हुए हैं। यह धर्मशास्त्रसिद्ध नियम है कि "दुःख देने वाले का तो अपना नाश और दुःख पाने वाले का नित्य कल्याण होता है" इसलिये जिस किसी ने भारतवासियों को दुःख दिया, या भविष्यत् में जो दुःख देंगे वे सब धन्यवाद के योग्य हैं क्योंकि चाहे उन्होंने अपने ऐसे कर्मों से अपना बुरा व नाश कर लिया हो पर भारतवासियों का अति-कल्याण ही किया और करेंगे, इसी से वे भारतवासियों के तो कल्याणदाता हुए, यदि कैकेई और रावण ने श्री रामचन्द्र जी को अति दुःख न दिया होता तो भगवान श्रीराम को अक्षुण्ण्य कीर्ति, अतुल यश एवं त्रैलौक्य विजय प्राप्त न होता। यदि श्री प्रह्लाद को अपने धर्म मार्ग में उसके अधर्मी पिता द्वारा अत्यन्त कष्ट न मिलता तो आज प्रह्लाद के धर्म में दृढ़ रहने के यश का डंका न बजता न वह स्वयम् आज तक इतना पूजा जाता और न उसके अधर्मी पिता हिरण्यकश्यपु का साक्षात् भगवान् द्वारा उद्धार होता। यदि श्रीकृष्णचन्द्र जी को बालकपन से ही अपने मामा कंस से दुःख न मिलते तो उसका नित्य के लिये नाश और श्रीकृष्णचन्द्रजी का प्रताप और यश आज तक बने न रहते और वे (भगवान् श्रीकृष्ण) अपने समय में भी सर्वोपरि श्रेष्ठ व पूजनीय माने न जाते। यदि दुष्ट दुर्योधन ने पाण्डवों को अत्यन्त कष्ट न दिया होता तो, उसका समस्त रूप से नाश और पाण्डवों का यश, नाम, विजय व धर्म बने न रहते, और न यह अमूल्य रत्न रूप गीता संसार को प्राप्त होती, और न पाण्डवों को श्री विजय और कीर्ति प्राप्त होती। यदि हजरत ईसामसीह को अत्यन्त कष्ट न मिलते तो न उनका अपना धार्मिक बल दृढ़ व प्रभावशाली होता, न वह आज तक करोड़ों के सिर पर राज्य करते और न सर्व संसार में पूजे जाते। यदि गुरू नानकजी, मीराबाई इत्यादि को अत्यन्त कष्ट न मिलते तो सम्भव नहीं कि वे उस पदवी को पाते जो आज उन्हें मिल रही है। यदि औरंगजेब के हाथों हिन्दुओं को दुःख न मिलता तो न हिन्दू जाति के नेत्र खुलते, न हिन्दू धर्म के रक्षक शिवाजी और गुरू गोविन्दसिंहजी प्रकट होते। यदि गुरू गोविन्दसिंहजी को औरंगजेब के हाथों कष्ट न मिलते और उनके बच्चे तक मारे न जाते तो न गुरूजी का धार्मिक बल दृढ़ होता और न उनको यह यश और प्रताप प्राप्त होता जो कि आज उन्हें प्राप्त है। यदि स्वामी दयानन्द जी को भी आज दुःख न दिया जाता तो न उनका अपना निश्चय और धार्मिक बल वृद्धि पाता और न उनकी जय व कीर्ति ही भारतवर्ष में फैलती। यदि आधुनिक

काल के श्रीयुत बालगंगाधर तिलक तथा कर्मवीर गांधी जी को अति दुःख न मिलते तो भारतवर्ष के कोने कोने में जो "तिलक महाराज की जय," "महात्मा गांधी की जय" हो रही है वह कभी न होती, न वे इस यश तथा कीर्ति को भी प्राप्त होते, न उनके उपदेशों का किञ्चित् प्रभाव भारत-वासियों पर पड़ता, और न कोटिशः प्राणी लाखों प्रकार के राजकीय बन्धन होने पर भी उनके चरणों पर गिरने को उद्यत होते। यह सब दुःख का ही प्रताप है जिससे उक्त पुरुषों को ये महान् बल, विजय, कीर्ति और यश प्राप्त हुए, और हो रहे हैं।

अतः प्राणिमात्र की उन्नति व विजय के मार्ग में दुःख उपयोगी और आवश्यक अवस्था वा मञ्जिल है। बस प्रथम अध्याय से पुरुष को यह उपदेश मिलता है कि (१) वह पुरुष धन्य है जिसको अर्जुन के समान दुःख मिले, (२) दुःख के प्राप्त होने पर चित्त को छोड़ न देना चाहिए किन्तु अर्जुन के समान घमण्ड रहित होकर साक्षात् भगवान् अथवा किसी महात्मा की शरण में जाना चाहिये, इस प्रकार भगवान् व महात्मा की शरणागत होकर उनसे अपने दुःख के निवारण निमित्त उपाय तथा साधन पूछने चाहिये, और साधनों का उपदेश मिलने पर उसपर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखते हुए उस उपदेश को अपने आचरण में लाना चाहिये। इस प्रकार महात्माओं के तत्त्वोपदेश से दुःखनिवृत्ति का यत्न करना चाहिए, (३) दुःख मिलने पर अपने आपको भाग्यहीन नहीं, किन्तु उत्तम भाग्यवान् समझना चाहिये, (४) और अन्त में दुःख देने वाले को धन्यवाद देना चाहिए, उसकी व्यर्थ निन्दा करके उसे निरुत्साह नहीं करना चाहिये।

दुःख निवृत्ति का उपाय

(वीतराग पूज्य श्री स्वामी रामदेवजी महाराज)

संसार में मनुष्य समस्त प्राणियों में अधिक बुद्धि सम्पन्न है अतएव इसमें विचार करने की शक्ति भी अधिक है। यद्यपि सभी प्राणी स्वबुद्धिबल के अनुसार विचार करते हैं, तथापि मनुष्य के समान परिपूर्ण रीति से विचार करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। मनुष्यों में सभी मनुष्य एक प्रकार की बुद्धि वाले न होने से सब के विचार विभिन्न प्रकार के होते हैं। इसी कारण अनेक मत मतान्तर संसार में फैले हुए हैं। अपने अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक प्रकार की युक्तियों द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं। पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष से परिपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण करते हैं। उनमें संसार में दुखी मनुष्यों के दुःख दूर करने का उपाय बतलाते हैं। इस छोटे से लेख में समस्त विद्वानों के मतों का प्रदर्शन करने का अवकाश नहीं है, अतएव सर्वतन्त्र सिद्ध उपाय को ही दिखलाया जायगा जिसके आचरण के बिना कभी भी कोई दुःख से रहित नहीं हो सकता, चाहे वह किसी भी मत का मानने वाला हो जाय, किसी का भी शिष्य बन जाय, अपना नाम कुछ भी रखले, वर्तमान समय के अनुसार किसी भी सभा का सदस्य बन जाय।

वह उपाय संक्षेप में यह है कि मनुष्य स्वभाव से जो अपने लिए चाहता है वही दूसरों के लिए भी चाहे।

१—सभी मनुष्य चाहते हैं कि हमको कोई किसी प्रकार की पीड़ा न पहुँचावे। अतएव दूसरों को जिससे दुःख होता हो वह कार्य्य न करे। इसी को अहिंसा कहते हैं। यदि मनुष्य मनवचन कर्म से किसी को दुःख न दे तो उसको भी कोई दुःख नहीं देगा यह निश्चित सिद्धान्त है।

२—ऐसे ही सभी चाहते हैं कि हमसे कोई असत्य भाषण न करे। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह किसी प्रकार से भी झूठ न बोले, अर्थात् सत्य व्यवहार करे। जो मनुष्य कभी झूठ नहीं बोलता है। उससे सभी लोग स्वभावतः प्रेम करने लगते हैं।

३—मनुष्य चाहता है कि हमारी वस्तु कोई न ले अर्थात् बिना हमारी अनुमति के हमारी वस्तु को कोई अपने व्यवहार में न लावे। अतएव मनुष्य को चाहिये कि दूसरे की वस्तु को बिना उसकी आज्ञा के अपने व्यवहार में न लावे। इसी को अस्तेय कहते हैं। इस प्रकार यह तीन नियम ऐसे हैं कि इनके बिना आचरण किये मनुष्य कभी भी सुखी नहीं हो सकता है, चाहे वह कितनी बड़ी बड़ी बातें करे। वर्तमान समय में अधिकतर उपदेश करने वाले ही इन नियमों का पालन नहीं करते हैं। यही कारण है कि वे दुखी रहते हैं। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय को पालन करते हुए मनुष्य को जितेन्द्रिय होना परमावश्यक है। मनुष्य में सबसे बड़ा दोष है जितेन्द्रिय न होना। अतएव सभी धर्म ग्रन्थों में इन्द्रियों को वश में करने का विधान है। जो मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं है वही रोगी होता है। रोगी मनुष्य किसी प्रकार का सुख नहीं प्राप्त कर सकता है। वर्तमान समय में मनुष्य अधिकतर विषयों के वश में होता जा रहा है। यही कारण है कि अनेक वैद्य डाक्टरों के होने पर भी शरीर निरोग नहीं होता है। जो विषयोपभोग में सुख मानते हैं अथवा जो निर्विषय होने में सुख मानते हैं उन सबको जितेन्द्रिय होना चाहिये जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं। वह विषय का भोग भी नहीं कर सकता क्योंकि संयम न होने से थोड़े ही दिन में इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है। जब विषय भोग की शक्ति नहीं रही तो वही विषय दुःख रूप हो जाते हैं।

वास्तव में तो विषय सुख दायक हैं ही नहीं, विषयों के त्याग में ही सुख है। जो लोग विषयों के त्याग में सुख मानते हैं उनको कभी भी विषयों में नहीं फँसना चाहिये अर्थात् वैराग्य युक्त होना चाहिये। सभी साधु-सन्यासी गृह त्यागी तथा उपदेशकों का परम कर्तव्य है कि स्वयं जितेन्द्रिय बन और अन्यों को जितेन्द्रिय होने की शिक्षा देवें।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये पांच विषय हैं। इनके ग्रहण के लिये श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना-घ्राण यह पांच इन्द्रियाँ हैं। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा मनुष्य विषयों का सेवन करता है। यदि नियम पूर्वक विषयों का सेवन किया जाय तो शक्ति की वृद्धि होती है। अनियमित रूप से विषय-सेवन से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। अतएव समस्त मनुष्यों को बचपन से ही संयमी होना चाहिये। इसीलिये वैदिक सिद्धान्त के अनुयायियों में माता-पिता के द्वारा प्रथम बालक को संयम से रखने का विधान है। उसके अनन्तर गुरुकुल में गुरु के द्वारा ब्रह्मचारी को संयम में रखने का विधान है। किन्तु यदि माता-पिता या गुरु स्वयं संयमी न हों तो वे अपने पुत्र या शिष्य को संयमी नहीं बना सकते। प्राचीन समय में दृढ़ता से संयम का पालन किया जाता था, इसी कारण मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक शक्ति से सम्पन्न था। राजा से लेकर रंक तक संयमी होते थे। वर्तमान समय में प्रायः संयम का अभाव होता जा रहा है। इसी कारण दुःखों की वृद्धि होती जा रही है। प्रमाद आलस्य निन्द्रा दोष घेरते जाते हैं। इन दोषों को कहीं प्रारब्ध के, कहीं ईश्वर के, कहीं काल के ऊपर छोड़ दिया जाता है। यदि मनुष्य वास्तव में सुखी बनना चाहता है तो संयम को दृढ़ता से ग्रहण करे, नहीं तो उसको कोई भी सुखी नहीं बना सकता। वर्तमान समय में उपदेशों-उपदेशकों तथा लेखों-लेखकों की न्यूनता नहीं है। इनकी वृद्धि दिन प्रति दिन होती जारही है, किन्तु आचरण करने वालों की न्यूनता होती जारही है। बिना आचरण किये मनुष्य कभी भी दुःख से रहित नहीं हो सकता है। अतएव दुःख निवारक के पाठकवृन्द आचरण करने का विशेष प्रयत्न करें तथा जितेन्द्रिय होने का अभ्यास करें। समस्त दुःखों को सहन करें, मन को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर करें तो स्वयं अनुभव हो जायगा। बिना संयम के न तो भगवान ही मिलेंगे न तत्व का साक्षात्कार ही होगा। न शान्ति ही मिलेगी न समस्त दुःखों की निवृत्ति होगी।

गो-कुल का दुःख

(श्री दामोदर सहाय जी एल० टी०, कवि किंकर)

नमो नमो गोमात विश्व की जननी प्यारी
उऋण नही हो सकती तुमसे दुनिया सारी
निश्चय ही तुमने बढ़ता धन-धान्य हमारा
द्वापरान्त में व्यासदेव ने तथ्य विचारा
सोना चाँदी रत्न मणि सब धन केवल नामका,
यदि कोई धन जगत मे तो गोधन है बस काम का ॥

दूध दही घी गोबर औ गोमूत्र गव्य मे
पंच बने निष्पन्न रोग मे हव्य कव्य मे
यह न समझिये आप मूत्र उपयोगी कम है
कुछ रोगों की दवा एकनहि इसके सम है
करती सबका नित्य प्रति गोमाता कल्याण है।
खाकर भूसा घास ही अहह ! बचाती प्राण है ॥

गोकुल के ही साथ मनुज कुल बढ़ सकता है
उन्नति गिरि के उच्च शिखर पर चढ़ सकता है
भारतीय ऋषियों का यह सिद्धान्त पुराना
पश्चिम के सभ्यता मानियों ने जब माना
तब वे भी विज्ञान से गोपालन करने लगे।
सुख समृद्धि सौभाग्य से निज समाज भरने लगे ॥

कृषि प्रधान यह देश त्राण गोधन से पाता
पर गोकुल का कष्ट हाय ! कुछ कहा न जाता
गोशाला में जहाँ खूब दुर्गन्धि सड़ी है
मशक दश से गो माता अतिव्यग्र खड़ी है
जाती वायु न रोशनी नहीं बैठने की जगह।
दम घुटता रहता वहाँ मानो कोई नरक वह ॥

भोजन भूसा घास नहीं भर पेट खिलाते
पानी तक भी साफ समय पर नही पिलाते
जब तक रही दुधार दूहते रहे बराबर
जब विसुकी तब दिया बेच थोडे दामों पर
दे कसाइयों को हमी कटवाते निज धेनुधन।
झगड़ा करते व्यर्थ हो अब समझो चेतो सुजन ॥

गोकुल का ही नाश हमें कमजोर बनाता
दूध दही जनता को कुछ नहिं मिलने पाता
दूध न पाते बच्चे तक दुधमुँहे हमारे
इसी हेतु से काल कवल हो जाते प्यारे
बहती रहती थी रात दिन गोरस की नदियाँ जहाँ।
गोवश निरादर हेतु से दुर्गति है ऐसी वहाँ ॥

जो समर्थ सबभाँति आज गो रक्षा मे हैं
बड़े खेद की बात ध्यान नहिं देते वे हैं
वे चाहें तो गो हत्या तक रुक सकती है
साधारण जनता सुधार पर झुक सकती है
पर जूँ तक है नहीं रेंगती उनके कानों पर कभी।
कृपा करें वे आज तो गो दुख टल सकते सभी ॥

अब भी चेतो आर्य वैश्य कुलकी सन्तानों
गोपालन प्रधान 'कर्त्तव्यों मे 'निज' जानो
गोधन की सम्भाल करो धन आय जुटेगा
सुख सम्पति पाओगे दुख दारिद्रय छुटेगा
गोपालन साहित्य से अन्धकार अज्ञान हर।
कर विज्ञान प्रचार को हे भारत के मनुजवर ॥

दानवीर धनियों का यहाँ नहीं टोटा है
पर अपना ही भाग्य समझ पड़ता खोटा है
सस्त: गो साहित्य प्रचार अगर हो पावे
तो सम्भव है गो-कुल का दुख कम हो जावे
कमी समझ की ही यहाँ कमी न धन की है कभी।
भारत सुखसम्पन्न हो यदि हम चाहें तो अभी ॥

गो सेवा नित करो हाथ से लज्जा छोड़ो
हो उद्योग परायण आलस से मुख मोड़ो
करके विपुल प्रयत्न रोक दो गोवध सारा
गोवध ही से सर्वनाश हो रहा हमारा
हे हे सेठो पूँजी पतियो ! राजा बाबू नरवरो।
हे नेताओ ! मिलकर सभी गो रक्षा हो सो करो ॥
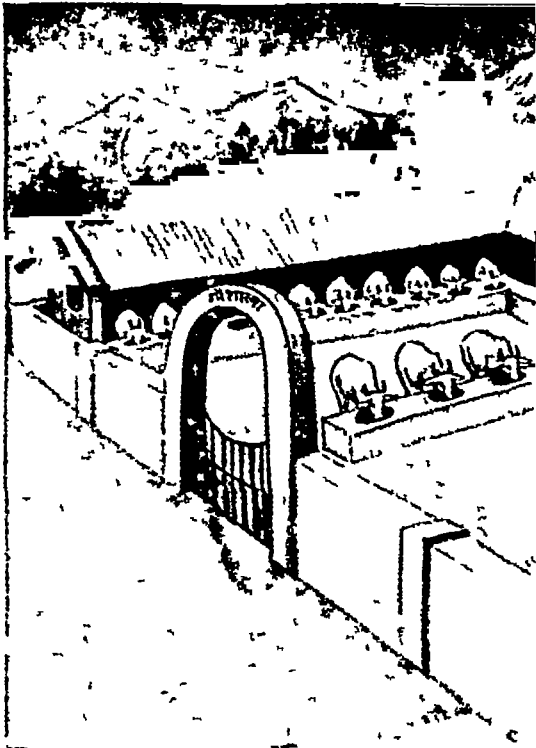
गो सेवा नित करो हाथ से लज्जा छोड़ो,
हो उद्योग परायण आलस मे सुख मोड़ो।
करके विपुल प्रयत्न रोक दो गोवध सारा,
गोवध ही से सर्वनाश हो रहा हमारा।

दुःख के कुछ क्षण और उन पर प्रकाश

(पूज्य श्री स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज)

मेरी उम्र छ वरस की थी। कक्षा 'व' में पढ़ता था। एक दिन कलम बनाने का चाकू बस्ते से निकाल कर फेंटे में खोंस लिया। थोड़ी देर के बाद इस बात का स्मरण नहीं रहा। मैं रोने लगा—'मेरा चाकू खो गया।' अध्यापक ने सब लड़कों को खड़ा कराया। डाँटा डपटा, वेंत उठाकर धमकाया। कुछ नतीजा नहीं निकला। इतने में ही एक लडके ने कहा—'यह देखिये चाकू तो इनके फेंटे मे ही खुँसा हुआ है'। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि चाकू अपने पास ही है। बचपन की यह एक छोटी-सी घटना है। जब बड़ा हुआ और विचार किया तब मालूम पडा कि उस समय अपने को और दूसरों को भी दुखी करने का एक मात्र कारण हमारी भूल ही थी।

तब मेरी अवस्था लगभग नौ वर्ष की हो चुकी थी। मैं एक दूर के सम्बन्धी के घर गया हुआ था। उनके घर मे एक युवक थे। उस समय उनकी अवस्था सतरह-अठारह वर्ष के आस-पास रही होगी। दो ही तीन घटों में उन्होंने मुझसे इतना प्यार किया कि मेरे मन में यह दृढ़ धारणा जम गयी कि ये मुझे सबसे अधिक प्यार करते हैं। माँ-बाप-सगे-सम्बन्धी आचार की शिक्षा और पढ़ने-लिखने के लिये प्राय. मेरे स्वच्छन्द खेल-मेल में बाधा डालते थे, इसलिये उनकी प्रीति कम जँचती थी। इन महाशय के उन्मुक्त प्यार ने मुझे मोहित कर लिया। परन्तु उस दिन के बाद संयोगवश आठ-नौ वरस तक उनसे भेंट न हो सकी। सतरह-अठारह वर्ष की अवस्था तक मैं उनकी स्मृति और प्यार को अपने हृदय में पालता रहा। जैसे भक्त ईश्वर का नाम जपते हैं वैसे ही कभी-कभी मैं उनके नाम का जप करता। जैसे नैयायिक ऊहापोह एवं परामर्श के द्वारा अनुमान लगाते हैं वैसे ही मै उनकी गतिविधि के सम्बन्ध में कल्पनाओं की लड़ी जोड़ता रहता। जैसे प्रेमी अपने प्रियतम के लिये छटपटाते रहते हैं वैसे ही मैं उनके लिये व्याकुल हो उठता। परन्तु उनके पास जाने और मिलने का अवसर नहीं मिला। जब मैं उनके पास गया वे एम० ए० पास करके किसी सरकारी पद पर नियुक्त हो चुके थे। मैंने बहुत चेष्टा की कि मैं किसी प्रकार उनकी सोयी हुई पुरानी स्मृति जगाऊँ परन्तु वे मुझे नहीं पहचान सके और अन्त तक नहीं पहचान सके। मेरे मन में यह प्रश्न उठा कि क्या यह प्यार, सम्बन्ध, ममता, आसक्ति, केवल अपने मन का एक स्वतन्त्र विकार ही है ? जिसके लिये यह होता है उसके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ? होता होगा। मैं इस विषय की कोई मनोवैज्ञानिक व्याख्या नहीं करना चाहता। परन्तु मेरे मन में उनसे मिलने के लिये जो वर्षों तक व्याकुलता रही, दु ख रहा उसका कारण वे नहीं थे मेरी भूल ही थी और जिस समय यह बात मेरी समझ मे बैठ गयी उसी समय मेरा सारा दु ख-दर्द मिट गया।

उन्हीं दिनों की बात है, मैं घर से भाग कर अयोध्या जी गया और भगवान् की कृपा से जानकीघाट वाले पण्डित जी के पास पहुँच गया। जब पण्डित जी को मालूम हुआ कि मैं घर-द्वार के गोरखधन्धे से घबड़ाकर साधु होने के लिये आया हूँ तब उन्होंने मुझसे पूछा—'तुम्हारा घर कच्चा है या पक्का ?' मैंने उत्तर दिया—'कच्चा।' उन्होंने पूछा—'घर में कितने प्राणी हैं ?' मैंने कहा— चार।' वे बोले—'भोजन क्या मिलता है ?' मैं—'रोटी, दाल, चावल।' पण्डित जी ने कहा—'तुम्हारा घर कच्चा है और मेरा मठ पक्का। तुम्हारे घर में चार

प्राणी हैं, मेरे साथ सौ चेले रहते हैं। तुम अपने घर पर रोटी-दाल खाते हो, यहाँ लड्डू पूरी हलवा, मालपुए छकते रहते हैं। तो क्या इसी का नाम वैराग्य है ? तुम भगवान् की दी हुई प्रतिकूल परिस्थिति यदि प्रेम से, उत्साह से सहन नहीं करोगे तो तुम्हारे अन्तःकरण में धृति-शक्ति की उत्पत्ति नहीं होगी। धैर्य के बिना मनुष्य के जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। घर के लोगों की तो प्रतिकूलता भी ममता और प्रेम से भरी होती है। क्या तुम समझते हो कि साधु हो जाने पर तुम्हें प्रतिकूलता का सामना नहीं करना पड़ेगा ? सहिष्णुता का जितना पक्का अभ्यास घर-गृहस्थी में हो सकता है उतना बाहर नहीं।' पण्डित जी ने बड़े प्रेम से मेरे घर लौटने की व्यवस्था कर दी।

उसके कुछ ही दिन बाद घर पर बिना किसीसे कहे सुने एक महात्मा के साथ कर्णवास चला गया। वे महात्मा थे परमहंस रामकृष्ण के शिष्य के शिष्य स्वामी योगानन्द जी पुरी। मैंने उनसे श्रीकृष्ण मन्त्र की विधिपूर्वक दीक्षा ली थी और अनुष्ठान कर रहा था। पक्के घाटपर श्रीराधाकृष्ण के मन्दिर में ऊपर बैठकर प्रायः जप किया करता था। जब जप करने बैठता तो मुझे ऐसा जान पड़ता मानो मेरी माता, पत्नी आदि मेरे सामने दीन-हीन वेष में खड़ी हैं। उनकी आखों से टपाटप आँसू टपक रहे हैं और वे रो-बिलखकर मुझसे घर लौटने का आग्रह कर रही हैं। मैं कर्णवास में एक महीने तक रहा। जप करने के लिये बैठते ही मेरे चित्त की ऐसी दशा हो जाती। अन्ततोगत्वा स्वामी जी से आज्ञा लेकर मैं घर लौट गया। जब मैं घर पहुँचा तो वहाँ का दृश्य ही दूसरा था। मेरे लिये किसी के चित्त में किंचित् भी दुःख नहीं था। इसका कारण यह हुआ कि मेरे चले जाने के बाद उन लोगों के मन में यह कल्पना हो गयी कि बिहार के दक्षिणी जिलों में जो हमारे बहुत से परम्परागत शिष्य रहते हैं और जहाँ से प्रतिवर्ष पर्याप्त आमदनी भी होती थी मैं वहाँ चला गया हूँ और लौटने पर बहुत-सा धन-वस्त्र साथ लाऊँगा। इसी से मेरे जाने का दुःख किसी को नहीं हुआ और न उन्हें मेरी कोई चिन्ता ही थी। उन्हें दुःख तो तब हुआ जब मेरे वहाँ पहुँचने पर उन्हें यह बात मालूम हुई कि मैं किसी साधु के चक्कर में था। खाली हाथ आया हूँ और आगे भी इसी प्रकार भाग जाने की सम्भावना है। इस घटना ने मेरे चित्त में बहुत ही गहराई तक प्रवेश किया। मेरे मन में निश्चय हो गया कि अपनी ममता ही दुःख देती है। उन्हें बिल्कुल दुःख नहीं था और मैं उनके दुःख की कल्पना कर रहा था। वे कुछ प्राप्ति की आशा से सुखी थे और निराश होने पर दुःखी हो गये। ममता और आशा ही दुःख की जननी हैं। इनके काट देने पर उनकी जड़ ही कट जाती है।

× × ×

बनारस के पास पाँच-सात कोस की दूरी पर एक महात्मा रहते थे। बड़े ही निष्ठावान् तत्त्वज्ञ, फक्कड़ और सिद्ध। वे अपने पास आने-जाने वालों को गाली दिया करते थे। मैं भी जब उनके पास जाता, कभी चौकी पर बैठाकर सिर पर फूल चढ़ा देते और कभी गालियाँ सुनाते। एक दिन उन्हें प्रसन्न देखकर मैंने पूछा—महाराज! आप गाली क्यों देते हैं ? उनकी मुख-मुद्रा तुरन्त बदल गयी। रुष्ट होकर तुरन्त गालियों की वर्षा करने लगे। बोले—तुम्हें मेरी गाली काटती है ? अरे भाई यह संसार है। इसमें गालियाँ-ही-गालियाँ तो मिलती हैं। तुम से मेरी गाली सहन नहीं होती तो संसार में किस रास्ते चलोगे ? यहाँ तो जो सहता है उसी के अन्तःकरण में दृढ़ निष्ठा का उदय होता है और परिपक्वता आती है। दुःख को मिटाओ मत, सहो! उससे लड़ो मत, उससे प्यार करो! प्यार का रस मिलते ही दुःख का ऐसा रासायनिक काया-कल्प हो जाता है कि वह परमात्मा के रूप में दर्शन देते हैं।

पहले-पहले उसी समय मेरी समझ में यह बात आयी थी कि भक्तजन भगवान् से दुःख का वरदान क्यों माँगते हैं ।

मैं काशी से हरद्वार जा रहा था । किसी कारण से बरेली मे ठहर गया । जब दूसरे दिन रात्रि के समय गाड़ी मे घुसा तो एक कबायली सज्जन थर्ड क्लास में पूरे बर्थ पर लेटे हुए थे । उन्होंने पहले तो मुझे वहाँ से हटाने के लिये बहुत गाली-गुप्ता किया, परन्तु मैं नहीं टला । उनके पाँव के पास बैठ गया । इस पर उन्होंने लेटे-लेटे अपने पैरों से पीटना शुरु कर दिया । मैं मौन हो गया । अन्त में उसने चिढ़ कर कहा—'यह तो गाँधी जी का दादा मालूम पड़ता है । मेरे मन मे कुछ विक्षेप और दुःख हुआ, परन्तु हरद्वार तो पहुँच ही गया । वहाँ मैंने एक महात्मा से पूछा—'तिरस्कार होने पर दुःख क्यों होता है । ?' महात्मा ने कहा—'जिस समय तुम्हें तिरस्कार य दुःख की प्राप्ति होती है उस समय तुम सर्वथा उसी के योग्य रहते हो ।' मैंने पूछा—'यह कैसे ?' महात्मा जी ने कहा—'कोई कूड़े पर या गन्दे नाले मे जाकर सो जाय और उस पर कोई एक टोकरा कूड़ा और गन्दा पानी डाल दे तो क्या वह दोषी है ? मैंने कहा—'इसका क्या अभिप्राय है ?' वे बोले—यह शरीर क्या कूडे-कचड़े अथवा गन्दे नाले से कुछ कम है ? हड्डी, मास, खून, लार, विष्ठा, मूत्र, सभी तो इसमें भरा है । जब तुम इसी का अभिमान करते हो । इसी में यहीं बनकर बैठे हुए हो तो तिरस्कार और दुःख नहीं मिलेगा तो क्या ब्रह्मपद अथवा परमानन्द की प्राप्ति होगी ?

सचमुच देहाभिमानी ही बिखरे हुए दुःख को चुम्बक के समान अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है । यह अपने लिये एक घेरा—क़ैद बना लेता है । और-वही इतना ठोस बन्धन हो जाता है कि हम दुःख से घुल-घुल कर मरने लगते हैं । यदि हम विचार करके देखें तो हमारे जीवन के अधिकांश दुःख देहाभिमान के आधार पर ही टिके हुए हैं । उनकी निवृत्ति का उपाय यही है कि यह देहाभिमान का खम्भा फेंका जाय ।

मेरे मित्र की एक लड़की है । उन दिनों उसकी अवस्था दस वर्ष की रही होगी । एक दिन अकारण ही वह रोने लगी । घर के लोगों ने, पड़ोसियों ने बहुत समझाया-बुझाया, पूछताछ की—'बेटी तू क्यों रो रही है ?' परन्तु उसने कुछ नहीं बताया । रोती ही गयी और रोती ही रही । मैंने उससे कहा—'तुझे जो चाहिये वही मिलेगा । बता तो सही कि तू क्यों रो रही है ।' उसने आश्वस्त होकर कहा—'मेरे पास अट्ठानवे रुपये हैं, दो रुपये और चाहिये । उसे दो रुपये मिल गये और वह चुप हो गयी । परन्तु क्या दो रुपये मिल जाने से उसका रोना मिट गया । नहीं, उसे हजारों नहीं, लाखों मिले परन्तु अभी और चाहिये । आज भी वह जीवित है । परन्तु यह एक लड़की की कहानी नहीं है, यह संसारी मनुष्य के जीवन का एक चित्र है । क्या बड़े-बूढे भी 'और-और' के चक्कर मे नहीं हैं ? वासना पूर्ति का रस ही बन्धन का हेतु है । 'विषयों के भोग और संग्रह मे सुख है—इस बुद्धि से ही उसका जन्म हुआ है ।

श्री उड़िया बाबा जी महाराज के पास एक सेठ आया करते थे । वे प्रायः यही रोना रोया करते थे कि 'हमारे पास रुपयों की बड़ी तंगी है । महाराज ! ऐसी कृपा करो कि आमदनी कुछ बढ़ जाय ।' श्रीमहाराज ने एक दिन कहा—"एक दृष्टान्त सुनो ! एक भिखारी जाड़े के दिनों में रात्रि के समय छोटा-सा कम्बल लपेटे खुले मे पड़ा था । वह दुःख के मारे हाय-हाय कर रहा था । उधर से एक महात्मा निकले । उन्होंने कहा 'क्यों भाई ! तुम्हें क्या दुःख है ? भिखारी ने कहा—'बाबा मेरा कम्बल बहुत छोटा है । सिर ढकता हूँ तो पाँव

उघड़ जाता है और पाँव ढँकता हूँ तो सिर उघड़ जाता है। जाड़े के मारे ठिठुर रहा हूँ।' महात्मा ने कहा—'भले मानुष! इस संसार मे तुमसे भी बहुत अधिक गरीब रहते हैं जिनके पास ओढ़ने के लिये छोटा-सा कम्बल तो क्या जीर्ण-शीर्ण सूती कपड़े का टुकड़ा भी नहीं है। सोचो तो सही उनका समय कैसे बीतता है? बेवकूफ! यदि कम्बल बढ़ नही सकता तो तू अपना शरीर सिकोडकर गुड़ी-मुड़ी बैठकर इसी कम्बल से सारा शरीर ढक तो सकता है?

श्री महाराज जी ने उस सेठ से कहा—'तुम्हारे पास आठ-दस मोहरें हैं। तीन-चार घोड़ागाड़ियाँ हैं। अनावश्यक बहुत से नौकर-चाकर हैं। बड़ा-सा मकान घेर रक्खा है, तुम अपना खर्च घटा क्यों नहीं देते? बाहर की चमक-दमक और झूठी शान-शौकत और इज्जत के वहम में पड़कर क्यों मन-ही-मन घुल-घुलकर अपनी अन्तरात्मा को सता रहे हो? मोह का यह झूठा आवरण भग कर दो। अभी तो तुम्हारे पास लाखोंकी सम्पत्ति और हजारों की आमदनी है। दुखी होने का तो कोई कारण ही नहीं है।'

आजकल लोगों की जैसी मनोवृत्ति हो रही है उसपर यह कितनी करारी और मर्मभेदी चोट है।

× × ×

एक बार हम लोग बदरीनाथ की यात्रा कर रहे थे। हमारे साथ एक ब्रह्मचारी थे। उन्हें किसी भक्त ने एक कीमती घड़ी दे रक्खी थी। रुद्रप्रयाग से आगे जाने पर रास्ते मे कहीं वह घड़ी गिर पड़ी। दो-तीन मील आगे बढ़ जाने पर ब्रह्मचारी जी को पता चला। वे लौट कर चार-पाँच मील दौड़े-दौड़े गये। घटों तक ढूँढते रहे। अन्त मे निराश होकर दोपहर तक हमारे पास आ गये। मैंने डाँटा-डपटा। मेरा अभिप्राय यह था कि इनके दुःख की दिशा बदल जाय, परन्तु उनका मन कचोटता ही रहा। भगवत्कृपा से शिवाला चट्टी के पास ही झरने पर उन्हें एक पड़ी अँगूठी मिल गयी और उसकी चमक-दमक देखकर कुछ तो स्वयं और कुछ दूसरों के कहने से ब्रह्मचारी जी ने मान लिया कि यह अँगूठी घड़ी की अपेक्षा अधिक कीमती है और बिहारीजी ने मेरी प्रार्थना सुनकर उसके बदले में दी है। बस, उनके मुँह की उदासी भाग गयी, चेहरे पर रौनक आगयी और एक नवीन स्फूर्ति-रसका सञ्चार हो गया। कई दिनोंके बाद बदरीनाथ पहुँचने पर उन्हें इस बात का पता चला कि इस अँगूठी मे बहुत ही साधारण काँच का नग है और उसकी कीमत दो-चार आने से अधिक नहीं है। परन्तु इतने दिन मे घड़ी भूल चुकी थी और उसका दुःख भी मिट चुका था।

मेरे मन मे इस घटना पर विचार हुआ। असल मे दुःख की सृष्टि उस समय नहीं हुई जब घडी खो गयी या उसका खोना मालूम पडा। दुःख की नींव तो तभी पड़ गयी थी जब दूसरे की दी हुई घडी अपनी समझ ली गयी। वह पहले ब्रह्मचारी जी के पास नहीं थी। वह आयी और मन के बही-खाते मे अपने नाम से लिखी गयी। जब गयी तब हिसाब किताब मे घाटे की प्रतीति करा गयी। यह दुःख का मूल कारण है। हम ईश्वरीय एवं प्राकृत वस्तुओं को अपनी करकें मानते हैं और ईश्वरेच्छा से प्रकृति के प्रवाह मे उनके इधर-उधर बट जाने पर आँखों से ओझल होने पर दुखी होते हैं। शास्त्र की भाषा मे यही प्रज्ञापराध (नासमझी का कसूर) कहा गया है। सतत सावधानी, निरन्तर जागरण, दुःखरूपी चोर को मन-मन्दिर मे प्रवेश करने से सर्वथा रोक देता है।

मेरे एक मित्र किसी पत्र के सम्पादन विभाग मे कार्य कर्ता थे। वे बड़े ही विद्वान् और सदाचारी थे। साधारणतः स्वास्थ्य भी उनका अच्छा ही था। एक दिन वे आफिस मे काम कर रहे थे। मिलने के लिये स्थानीय अस्पताल के सिविलसर्जन आये।

बात-चीत के सिलसिले में उन्होंने मेरे मित्र की जाँच की और यह कह दिया कि तुम्हारे फेफड़ों में खराबी आ गयी है और कुछ-कुछ टी० बी० के लक्षण हैं। डाक्टर के जाते ही उन्होंने ऑफिस का काम छोड़ दिया और पलंग पर लेट रहे। डाक्टर-वैद्यों की चिकित्सा हुई। उपचार किये गये। परन्तु कुछ लाभ न हुआ। अन्त में पहले के सिविलसार्जन से भी बड़ा एक प्रसिद्ध डाक्टर बुलवाया गया और उसने भिन्न-भिन्न प्रकार से परीक्षण-निरक्षण करके कह दिया—यदि कोई चिकित्सक इनके शरीर में टी० बी० सिद्ध करदे तो मैं अबसे चिकित्सा का कार्य ही छोड़ दूँगा। कुछ ऐसे ढंग से उसने अपनी बात जँचायी कि मेरे मित्र को पूरा विश्वास हो गया कि मैं रुग्ण नहीं हूँ। कहना न होगा कि उसी दिन से वे फिर ऑफिस में जाकर पूर्ववत् अपना कार्य करने लगे।

वर्तमान युग में स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर में अधिक रोग देखने में आते हैं, इसका कारण है लोग बाहरी शरीर को जैसा भोजन-वस्त्र, तेल-फुलेल और स्नो-पाउडरके द्वारा सजाने-सँवारने में लगे रहते हैं, वैसा ख्याल भीतरी शरीर—मन का नहीं करते। बेचारा भूखा-नगा, रूखा-सूखा, रोता कलपता पागल-सा इधर-उधर भटका करता है। वह अल्प सार, अल्प धृति, अल्प शक्ति और अल्प प्राण हो गया है। थोड़ी थोड़ी बात मे घबरा जाता है। शरीर मे कहीं चोट लग गयी टिटनेस का भूत सिर पर सवार हो गया। शरीर में फुंसी हुई और विषैली हो जाने के बहम ने दु:ख को सौ गुना कर दिया। इसके लिये शारीरिक चिकित्सा नहीं, मानसिक चिकित्सा अपेक्षित है। यदि हमारा मन अपने शुद्ध स्वरूप अथवा भगवान्‌के चिन्तन में लगा रहे और अपनी स्वरूप निष्ठा अथवा भगवद्विश्वास में दृढ़ रहे तो संसार के दुःखों की गन्ध भी न आवे।

एक वयोवृद्ध एवं विद्वान् सज्जन हैं। सभी उनका आदर करते हैं। परन्तु उनका स्वभाव विचित्र है। वे बात-बात में दु:ख ढूँढ़ लेते हैं। उन्हें भोजन किसी भी किस्म का मिले तो रोने लगते हैं। घटिया भोजन मिले तो रसोइये पर नाराज होने लगते हैं। बढ़िया भोजन मिले तो भी रसोइये पर नाराज होने लगते हैं कि कल तुमने ऐसा क्यों नहीं बनाया? दोनों ही दिन दुखी रहते हैं। पिछले दिनों वे कांग्रेस सरकार से रुष्ट थे। जब रेल गाड़ी सामने से निकली तो पाँव पीट कर कांग्रेस सरकार को गाली देते कि जब से इसका शासन हुआ है तब से रेलगाड़ी की चाल ही बेसुरी हो गयी है। उसी समय गाँव के लड़के ताली पीटकर नाचते होते कि गाड़ी आयी, गाड़ी आयी। वास्तव में सुख-दु:ख किसी वस्तु, घटना, व्यक्ति और स्थिति मे नहीं हुआ करता। ये केवल मन में होते हैं। जिसका मन पुण्य के मसाले से बनता है वह प्रत्येक परिस्थिति में सुख ढूँढ़ लेता है और जिसके मन का उपादान पाप है उसे प्रत्येक परिस्थिति में दुःख-ही-दुःख सूझता है। चींटी की नाक गन्दी चीजों से भी चीनी ढूँढ़ निकालती है और गुबरीला मीठी चीजों मे भी मल की ही ओर आकृष्ट होता है। एक दृष्टान्त है। दो सज्जन कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक मरे कुत्ते की लाश सड़ रही थी। एक ने कहा—'हाय हाय! कितनी दुर्गन्ध है!' दूसरे ने कहा—इसके सफेद सफेद चमकते हुए दाँत कितने सुन्दर हैं।

आनन्दमय परमात्मा में ही विवर्त अथवा मूल परिणाम से बनी यह समूची सृष्टि अपने अधिष्ठान अथवा मूल कारण सच्चिदानन्दघन परमात्मा से अलग नहीं है। इसलिये इसकी प्रत्येक वस्तु आनन्द-रस की अगाध एवं अबाध धारा से परिपूर्ण ही है। केवल भ्रान्तिवश इसमें दु:ख की कल्पना होती है और यह कल्पना ही ठोस होकर दुःखग्राही

स्वभाव का रूप धारण कर लेती है। इसे परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करके अनायास ही वदला जा सकता है।

एक वड़े ही उच्चकोटि के भक्त महात्मा थे। उनके सैकड़ों सत्संगी उन्हीं को अपना सर्वस्व समर्पित करके उन्हीं पर पूर्ण निर्भर रहते थे। जब महात्मा की वृद्धावस्था आयी तब सत्सगियों के मन मे यह ख्याल आया कि एक-न-एक दिन इनका शरीर छूट जायगा और तब इनके बिना हम लोग कैसे रहेंगे और यह दुखद घटना देख भी कैसे सकेंगे? उनमे से दस-बीस इकट्ठे होकर मेरे पास आये। उन लोगों ने एकान्त मे मुझसे बात चीत की और कहा—'हम लोग उनसे पहले ही इकट्ठे होकर किसी नदी मे कूद पड़ें और प्राण-त्याग दें, क्योंकि उनके बिना हमारा जीना असम्भव है।' मैंने समझाया—'उनके जीवित रहते ऐसा करना उचित नहीं है, क्योंकि तुम लोगों के आत्मघात की बात जान-सुनकर महात्मा के कोमल चित्तपर एक कठोर आघात पहुँचेगा और सम्भव है उनकी स्वस्थ मनोवृत्ति पर भी प्रभाव पड़े। अभी तो यह संकल्प त्याग देना ही उचित है।' उन लोगों ने मेरी बात मान ली। कुछ महीनों के बाद महात्मा का शरीर पूरा हो गया।

महात्मा का शरीर छूटने पर उनके सत्सगियों को अकथनीय कष्ट हुआ, इसमे सन्देह नहीं। कुछ ने मरने की चेष्टा भी की, परन्तु ईश्वर-कृपा से किसी की मृत्यु नहीं हुई। यह घटना घटित हुये वर्षों वीत चुके हैं। आज भी उनके सत्संगी जीवित हैं। उनके बच्चे होते हैं, विवाह होते हैं, हँसते हैं, गाते हैं, नाचते हैं, खेलते हैं—सारे ही व्यवहार पहले की तरह चलते हैं। और यह ठीक भी है क्योंकि जीव की प्रकृति लगातार हमेशा दुखी रहने की नहीं है। वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा का स्वरूप अथवा अंश है। वह दुखी रह ही नहीं सकता।

मेरे मन मे इस बात को लेकर अनेकों वार गम्भीर ऊहापोह हुआ—जब हृदयाकाश मे दुःख के वादल मँडराने लगते हैं एक वार अपने आत्मसूर्य का आनन्द-प्रकाश आवृत्त-सा हो जाता है और अज्ञानी-जन मान बैठते हैं कि अब सर्वदा के लिये अँधेरा हो गया, परन्तु यह स्वयं प्रकाश आत्मदेव कभी पूर्णतः अस्त नहीं हो सकते। जिस समय हम कहते हैं—'अब तो नहीं सहा जाता' उस समय भी हम सहन ही करते होते हैं। जिस क्षण हमारा जीवन दु.ख से अभिभूत होता है उस समय यदि यह विचार उदय हो जाय कि आज से छः महीने वाद हमारे चित्त की स्थिति क्या होगी? क्या यह उस समय भी ऐसा ही दुखी रहेगा?" यदि उस स्थिति का ध्यान दु ख के क्षणों मे ही आ जाय तो वहुत कुछ दु ख निवृत्त हो जाय। पन्द्रह-सोलह वर्ष पहले इसी देश का एक प्रसिद्ध सेठ किसी लड़की पर रीझ गया था और कहता था कि उससे व्याह न हुआ तो मैं मर जाऊँगा। या पागल हो जाऊँगा। उस लड़की ने तो विवाह किया नहीं पर सेठ ने पॉच-सात विवाह कर लिये। वे आज भी जीते-जागते हैं और उनकी आज की मनोदशा में उस स्थिति की तुलना कीजिये।

तीन-चार वर्ष पहले की बात है मैं माँ आनन्दमयी के कोटि सावित्री यज्ञ के अवसर पर उनके काशी स्थित आश्रम में ठहरा हुआ था। एक दिन अपने पूर्व परिचित पण्डित जी के घर गया। उस समय पण्डित जी कहीं वाहर गये हुए थे। घर मे केवल माता जी थीं। उन्होंने मुझे पहचान लिया। सात-आठ वर्षों के बाद उनसे मिलना हुआ था। इस बीच मे उनके एक जवान पुत्र की मृत्यु हो गयी थी। वे मुझे देखते ही रोने लगीं। थोड़ी देर बाद उन्हें अपने दूसरे पुत्र के विवाह की बात याद आ गयी जो इसी बीच में हुआ था, उसका सवाद सुना-सुनाकर हँसने लगीं। इसके बाद आगे आने वाले लड़की के विवाह की

चर्चा छिड़ी, चिन्ता की रेखा चेहरे पर झलकने लगी और फिर मृत पुत्र की याद करके रोने लगीं। घंटे भर में चार-पाँच वार रोयीं और चार-पाँच बार हँसी। आज मनुष्य के मन की यही दशा है। उसमे न कोई क्रम है, न संगति है, न विचार की गम्भीरता है। छिछोरा-सा छिछले पानी मे छलकता फिरता है, न सुख न दुःख। मानों अनुभूति की गम्भीरता ही नष्ट हो चुकी है। अपना दुःख अपने ही मिटाये मिटेगा। इसे कोई दूसरा मिटा नहीं सकता। क्योंकि दुःख शरीर के बाहर अथवा ऊपर नहीं होता, भीतर होता है। वहाँ केवल विचार का रसायन ही अपना असर डाल सकता है।

दुःख के तीन स्तर हैं—दुःख के निमित्त, दुःखाकार वृत्तियाँ और दुःख का अभिमान। संसार के पामर और विषयी पुरुष जी जान से अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर दुःख के निमित्त दूर करने मे लगे हुये हैं। परन्तु निमित्तों का पूर्णरूप से दूर होना कदापि सम्भव नहीं है। सरदी-गरमी, रोग-मृत्यु, दरिद्रता-अपमान संसार मे सदा से रहते आये हैं और रहेंगे। इनको मटियामेट करके सुखी होने की आशा स्वप्नमात्र है। और यथार्थता से बड़ी दूर है। यह एक ऐसी योजना है जो पीढ़ी दर पीढ़ी से कभी पूरी नहीं हुई है और होगी भी नहीं। दूसरी बात है—दुःखाकार वृत्तियों के प्रवाह को बन्द कर देना। यह बात उन लोगों के लिये साध्य नहीं है जिनके मन उन झूठ-मूठ के निमित्तों को ही दुःख का हेतु समझकर उन्हें दूर करने के प्रयत्न मे लगे हुये हैं। मनोवृत्तियों को दुःखाकार न होने देना निवृत्ति परायण विरक्त पुरुषों के लिये ही सम्भव है जो भगवत् स्मरण अथवा योगाभ्यास के द्वारा अपनी वृत्तियों को निरन्तर भगवदाकार अथवा शान्त रखते हैं।

तीसरी बात है—किसी भी परिस्थिति मे मैं दुःखी हूँ ऐसा अभिमान धारण न करना। यह प्रत्येक विचारवान् के लिये सुगम तथा व्यावहारिक है। दुःख की स्वीकृति ही उसे सत्ता देती है। साहस के साथ दुःख को अस्वीकार कर देना चाहिये। वास्तव में अपने स्वरूप मे दुःख का लेश भी नहीं है। आत्मा को दुःख की छाया भी नहीं छू सकती। सत्संग और विचार के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का सच्चा उपाय है।

मेरे पास एक बालक आता है। वह न धनी है, न स्वस्थ है, न विद्वान् है और न तो बुद्धिमान् ही। केवल कुछ वर्षों तक उसने सत्सग किया है और ईमानदारी से उसने शुद्ध विचारों को धारण करने की चेष्टा की है। कुछ महीने पूर्व उसने दृढ़ता से शपथ-पूर्वक भगवान् के सामने प्रतिज्ञा करली कि अब चाहे कैसी भी परिस्थिति आ जाय मैं उसे दुःख नहीं मानूँगा। इन पिछले कुछ महीनों मे उसके सामने अनेकों वार दुःख के निमित्त उपस्थित हुये और मन मे दुःखाकार वृत्ति का स्पर्श होने-सा लगा परन्तु उसने तत्काल कह दिया—नहीं नहीं, मैंने कभी दुखी न होने की प्रतिज्ञा करली है। अवश्य ही उसके दुःखों का बोझ इस समय तो उतर-सा गया है। आगे उसका भविष्य उसकी दृढ़-निष्ठा और ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। कहने का अभिप्राय यह है कि सामान्य पुरुष को भी दुःख के सामने हार नहीं माननी चाहिये। पूरे साहस के साथ ईश्वर पर भरोसा रखकर सिंह के समान दुःख के सिरपर पाँव रखकर दहाड़ते हुये अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना चाहिये।

जो भगवद्भक्त एवं तत्वज्ञानी महापुरुष हैं उनके सम्बन्ध मे तो कुछ कहना ही नहीं।

दुःख की महिमा

दुःख जीवन में परम आवश्यक वस्तु है, क्योंकि प्यारा दुःख हमको अनित्य से हटाकर नित्य आनन्द से मिलाता है। दुःख सब प्रकार के विकारों को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट जाता है, दुःख के मिटने पर आनन्द का अनुभव होता है दुःख के बिना जीवन बेकार समझना चाहिये, क्योंकि दुःख के बिना जीवन की पूर्णता सिद्ध नहीं होती।

दुःख जैसी प्रिय वस्तु किसी और को न देनी चाहिये। यदि मिल सके तो दूसरों से ले अवश्य लेनी चाहिये। क्योंकि जो दूसरों के दुःख से दुखी होते हैं उनको अपने दुःख से दुखी नहीं होना पड़ता।

दुखियों के दुःख के आधार पर ही सुखियों का सुख, उन्नतिशीलों की उन्नति, विचारशीलों का विचार, प्रेमियों का प्रेम, विज्ञानियों का विज्ञान तथा योगियों का योग जीवित है। अर्थात् ऐसी कोई अच्छाई नहीं कि जिसका जन्म दुःख से न हो। दुखी को दुःख उस समय तक न भूलना चाहिये कि जब तक स्वयं मिट कर आनन्द में विलीन न हो जाय। दुःख से डरो मत। जो दुःख से डरता है वह कुछ नहीं कर सकता। आप के निज स्वरूप में अपार आनन्द छिपा है, जो दुःख की कृपा से मिलेगा, सुख की कृपा से नहीं।

जीवन के दो ही स्वरूप सार्थक हैं, या तो हृदय में दुःख रूप अग्नि जलती रहे या हृदय में आनन्द का सागर लहराता रहे। इसके सिवा अन्य प्रकार का जीवन मनुष्यता के विरुद्ध है।

यह जग स्वप्न है रजनी का

यह जग स्वप्ना है रजनी का, क्या कहे मेरा मेरा रे। (टेक)
मात तात सुत दारा मनोहर, भाई बन्धु अरु चेरा रे॥
आपी अपने स्वारथ के सब, कोई नहीं है तेरा रे॥ १॥
जिन के हेत करत धन संचय, कर-कर पाप घनेरा रे।
जब यमराज पकड़ ले जावे, कोई न संग चलेरा रे॥ २॥
ऊँचे ऊँचे महल बना के, देश दिगंतर घेरा रे।
सब ही ठाठ पड़ा रह जावे, होत जंगल में डेरा रे॥ ३॥
इतर फुलेल मले जिम तन को, अन्त भस्म का ढेरा रे।
ब्रह्मानन्द स्वरूप बिन जाने, फिरत चौरासी फेरा रे॥ ४॥

आध्यात्मिक दृष्टि में दुःख का स्वरूप

(पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

देव दुर्लभ मानव शरीर की प्राप्ति के लिये देवता लालायित रहते हैं क्योंकि जगन्नियन्ता को अपने निर्मित इस जग में सर्वाधिक प्रिय मनुष्य शरीर ही है। चक्रवर्ती सम्राट अपने राजकुमार को हर प्रकार का सुख पहुँचाने के निमित्त अनेकानेक सुख सुविधायें एकत्रित करता है आनन्दघन जगदीश्वर ने भी इसीप्रकार अपने अविनाशी अंश के लिये सम्पूर्ण आनन्द-सामिग्री एकत्रित कर दी। सूर्य-चन्द्र, आकाश-पृथ्वी अनल-अनिल, वनस्पतियाँ नद-नदी वन-पर्वत सभी कुछ मनुष्य के लिए ही तो उस परमपिता ने निर्माण किए हैं। इनके सदुपयोग से वह सुखोपभोग करता हुआ आनन्द की अनुभूति कर सकता है। वास्तव में आनन्दघन का अंश यह जीव भी आनन्दघन ही है और आनन्द के सिन्धु में इसका वास है। किन्तु ऐसा होते हुए भी यह मानव देहधारी-जीव आज त्रिविध तापों से संतप्त है। उसके दुःखों की वृद्धि उत्तरोत्तर होती ही जा रही है। दुःखों से मुक्त होने का कोई उचित मार्ग उसे दिखाई नहीं देता। हताश और निरुपाय मानव जाल में फँसे पंछी की भाँति फड़फड़ा रहा है। घोर तमसाच्छन्न अंधकारमयी रजनी में भटके हुए पथभ्रष्ट पथिक की भाँति आज उसकी दशा है। संसार में सर्वत्र दुःखों की बाढ़ आई हुई है। सभी कहते हैं हम दुःखी हैं, चिन्तित हैं, अशान्त हैं। रंक और राजा, भिखारी की झोपड़ी और धनकुबेर का राजमहल, किसी के सुख पर अथवा किसी स्थान पर आनन्द की वह जगमग ज्योति नहीं जगमगाती, जिसका वर्णन हम भक्त भारत की पुनीत प्राचीन गौरवमयी गाथाओं में पढ़ते हैं। आज जिस किसी से प्रश्न किया जाय वह तुरन्त किसी न किसी अभाव की बात सुनाकर अपने को दुःख सागर में पड़ा हुआ बता देगा। निर्धन तो धनाभाव से दुःखी हैं और धनकुबेर कहते हैं जमाना बहुत नाजुक है। यह बात व्यक्तिगत रूप में ही सीमित हो ऐसा नहीं है, अपने दुःखों का कारण अपने से ही उत्पन्न हुआ ऐसी बात स्वीकार करने की बात कभी मन में नहीं आती। तात्पर्य यह कि परछिद्रान्वेषण-रत आज का मानव अपने दुःखों का कारण स्वयं अपने को नहीं दूसरों को मानता है।

एक व्यक्ति की आँखें दुखती थीं और उदर-शूल से भी वह पीड़ित था। वैद्य ने उसे आँखों में लगाने के लिये बढ़िया शीतल सुर्मा दिया और उदर-शूल के लिये चूर्ण की एक पुड़िया दी। रोगी ने भूल से सुरमे की पुड़िया घर आकर फाँक ली और उस तीव्र चूर्ण को सलाई से आँखों में लगाया। सुर्मे के विष ने पेट में भयंकर ऐंठन उत्पन्न कर दी और चूर्ण ने आँखों का बुरा हाल कर दिया। जब वह भयकर वेदना से चिल्लाने लगा तो घर वालों ने वैद्य को बुलाया। औषधि तथा वैद्य ने ही पीड़ा बढ़ा दी ऐसा जानकर रोगी तथा उसके घर वाले वैद्य को भला बुरा कहने लगे, किन्तु जब वैद्य ने उसकी भूल का बोध कराया तब उन्हें विदित हुआ कि हमने स्वयं भ्रम से औषधियों का उलटा प्रयोग करके ऐसी स्थिति बना ली है।

दुःखों की दुर्निवार बाढ़ के मूल कारणों में भी यही दृष्टान्त चरितार्थ हो जायगा। अपने पर आये हुए दुःखों दूसरों के द्वारा आये हैं यह भ्रामक धारणा व्यापक रूप से सर्वत्र दृष्टिगत हो रही है। मैं स्वयं ही अपने दुर्भाग्य का निर्माता हूँ, ऐसा विचार तो किसी विरले व्यक्ति के ही अन्तःकरण में उत्पन्न होता होगा। आज तो प्रायः अधिकांश जन-समुदाय, देश-काल-परिस्थिति और शासन सत्ता को दोषी मानता हुआ स्वयं अपने को निर्दोष समझ रहा है। वास्तव में तो जिस प्रकार उस रोगी ने आँखों में सुरमे का प्रयोग न करके चूर्ण की सलाई लगाने की मूर्खता की थी ऐसे ही समस्त दुःखों की उत्पत्ति भी मानव-जीवन के दुरुपयोग से ही हुई है। प्रत्येक क्रिया के प्रभाव को तनिक गहराई से सोचते जाइये तो आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मनुष्य स्वयं

अपने सुख अथवा दुःख का निर्माता है। ससार के दैनिक व्यवहार में यदि हम अपनी सीमित दृष्टि के कारण, उचित और अनुचित प्रत्येक उपाय का अवलम्ब लेकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करते हैं, यदि हम अपने आपको सुखी बनाने के लिए दम्भ-छल-कपट आदि आसुरी वृत्तियों का सहारा लेते हैं तो यह निश्चय समझना चाहिये कि हमारा पापाचरण सहस्र गुना होकर भविष्य में हमारे सामने आयेगा। प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है, प्रकृति का यह अटल नियम है, निर्विवाद सिद्धान्त है। यह जग तो कर्मों की खेती है, जिस प्रकार खेत मे डाला हुआ बीज समय आने पर सहस्र गुना बनकर प्राप्त होता है, इसी प्रकार मानव शरीर भी कर्मों का खेत है। विश्व को व्यापक धर्म का सुखद-सन्देश देने वाला सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है।

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहु. क्षेत्रज्ञ इतितद्विदः॥

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा—यही शरीर क्षेत्र है, ऐसा शास्त्रों का मत है। इसे जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

जिस प्रकार खेत में बोए हुए बीजों के अनुरूप फल समय पर प्रकट होते हैं, इसी प्रकार मानव द्वारा किये गये कर्मों के संस्काररूप बीजों के सुख दुःख रूप फल भी अवश्य प्रकट होंगे, इसमें रंचक मात्र भी सन्देह नहीं। केवल गीता ही नहीं वरन् अन्यान्य संत महापुरुषों एव सद्ग्रन्थों ने भी इस रहस्य का उद्घाटन किया है। कवि-कुलचूड़ामणि पूज्यपाद गोस्वामी जी की सम्मति पर विचार कीजिये:—

कोउ न कहु सुख दुःख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥
करइ जो कर्म पाव फल सोई।
निगम नीति अस कह सब कोई॥

इस प्रकार सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने दुःखों का उत्पादक है। वह स्वय ही अपने लिये जाल बुनता है, उसमें फँसता है और फिर सिर धुन धुन कर पश्चात्ताप करता रहता है। माया नटी का यह अनादि क्रम मानव को अपनी मादकता के मोहक जाल में जकड़े रहता है इस दुखद पाश से मुक्त हो सदा सर्वदा के लिये आनन्दामृत को प्राप्त करने के निमित्त ही जीव को यह नर देह मिली है। आज हमें जो प्राप्त है उसमें ही यदि हम संतुष्ट नहीं हैं, कल अधिक प्राप्त करने की कामना यदि हमारे अन्तःकरण में छिपी है तो यह निश्चय समझना चाहिये कि भविष्य के लिये दुःख को निमन्त्रण भेजने की तैयारी है। मानव के मन में जिन नवीन वस्तुओं की प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है उन्हीं की प्राप्ति और अप्राप्ति में ही वह अपने सुख दुख का अनुभव करता है। वर्तमान मे जो प्राप्त है उससे अधिक की इच्छा करते रहना भविष्य को सुखमय बनाने की कल्पना मे अहर्निश चिन्तित और अमर्यादित कार्य-प्रवृत्त रहना दुःख की सृष्टि करना है। अपनी छिपी हुई इच्छा और वासना को सतर्कता और सूक्ष्म दृष्टि से देखिये तो आप को स्वय आश्चर्य होगा कि व तो अनन्त हैं। इन्द्र का वैभव और कुबेर की धन राशि पाकर भी कुछ और पाने की इच्छा यदि बनी है तो सुख कब और कहाँ मिले? अभाव का पुजारी मानव इसी भूल भुलैया भटक-भटक कर अपना सर पटक रहा है। यदि आज हमारी छिपी इच्छा की पूर्ति हो जाती है तो कल दूसरी नई इच्छा आगे अपना कदम बढ़ा देती है। अर्थात् ज्यों-ज्यों मनुष्य की वासनाओं की पूर्ति होती जाती है त्यों-त्यों उसकी दौड़ भी आगे बढ़ती जाती है। और यह तो निश्चित है कि सभी इच्छाओं का पूर्ण होना सम्भव नहीं तब निस्सन्देह समझना चाहिये कि मनुष्य दुखी हुए बिना रह नहीं सकता। प्राप्त सुख सामग्री से मनुष्य की तृप्ति नहीं होती, कामनायें बढ़ती जाती हैं। किन्तु जब उनकी प्राप्ति नहीं होती तो मन कहता है कि पूर्व प्राप्त सुखों को ही अधिकाधिक भोगते रहना चाहिये। यही कारण है कि मन से इच्छा और कामना का दमन नहीं हो पाता। महाराज ययाति जब गुरू शुक्राचार्य के श्राप से बुड्ढे हो गये तो वे बहुत दुखी हुये क्योंकि वृद्धावस्था में तो इन्द्रियाँ शिथिल होजाती हैं। वृद्ध हो जाने पर मैं स्त्री सुख से वंचित हो जाऊँगा। तब वे दुखी होकर शुक्राचार्य की शरण में गये। दयालु शुक्राचार्य ने उनकी दीनता से द्रवित होकर कहा—'अच्छा तुम किसी को अपना बुढ़ापा

देकर उसकी जवानी ले सकते हो। राजा ययाति ने अपने आज्ञाकारी पुत्र पुरु की तरुणावस्था माँग ली और पूरे एक सहस्र वर्षों तक सब प्रकार के विषय सुखों का उपभोग किया। इतने दीर्घकाल के पश्चात् अन्त में उन्हें यही अनुभव हुआ कि संसार के समस्त पदार्थ भी यदि मनुष्य को एकसाथ प्राप्त हो जायँ तो भी वे उसकी सुख-कामना को तृप्त करने के लिये पर्याप्त नहीं हो सकते। एक सहस्र वर्षों का अनुभव प्राप्त करने वाले उन्हीं महाराज ययाति ने कहा:—

न जातु काम: कामानां उपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते
(मनु २ ९४)

अर्थात् सुखों के उपभोग से विषय वासना की तृप्ति तो होती नहीं, वरन् विषय वासना दिनोंदिन उसी प्रकार बढ़ती जाती है जैसे अग्नि ज्वाला हवन के पदार्थों की आहुतियों से बढ़ती जाती है।

तात्पर्य यह कि सुखोपभोग की बहुलता होने पर भी उन्हें दबाने और रोकने का उपाय यदि नहीं किया जायगा तो उत्तरोत्तर अशान्ति बढ़ती जायगी, मनुष्य कदापि दुःखों से अपना पीछा नहीं छुटा सकेगा। अपने पूर्वज ऋषियों ने मानव को सुख मार्ग की ओर ले जाने के लिये प्रत्येक विषय-सुख को धर्म की मर्यादा के बन्धन में बाँध दिया था। यदि मनुष्य मर्यादा का उल्लंघन करेगा तो पाप का भागी होगा। अर्थात् धर्म भय से मनुष्य के मन पर अंकुश लगा रहेगा तो वह भावी दुखों से बचा रहेगा। यही बात प्रकारान्तर से प्रत्येक धर्माचार्य ने अपने अनुयाइयों को बताई है।

महाभारत के अन्तर्गत शान्तिपर्व में कहा गया है:—

यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हत: षोडशीं कलाम्॥

अर्थात् सांसारिक काम अर्थात् वासना की तृप्ति होने से जो सुख होता है, जो सुख स्वर्ग में मिलता है, उन दोनों सुखों का योग तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख के सोलहवें हिस्से के बराबर भी नहीं है।

अनादि काल से वर्तमान समय तक जितनी महान विभूतियों का अवतरण इस धराधाम पर हुआ उन सभी की पुनीत गाथाओं का मनन करने पर आप किसी ऐसे एक महापुरुष का नाम नहीं बता सकते जिसके जीवन में कभी दुःख न आये हों। वस्तुत: जिन पर अधिक दुःख आये वे ही अधिक पूज्य बने। संगमर्मर की मूर्ति को चतुर शिल्पी के छेनी हथौड़ों की मार ने ही देवमन्दिर में स्थान दिलाया। दहकती आग में तपाकर और गलाकर ही स्वर्ण अपने रूप को परिवर्तित कर किसी के गले का हार बन सका। साधारण मानव जिस बात को गम्भीर निराशा और वेदनामयी दृष्टि से देखते हैं, जो बात उनके लिये अभिशाप सी लगती है उसी को हमारे श्रद्धास्पद महापुरुष वरदान जानकर आलिंगन करते रहे हैं। यदि इसमें कोई गूढ़तम रहस्य अन्तर्हित न होता तो पाण्डवों की जननी प्रातःस्मरणीया माता कुन्ती जीवन के अन्तिम क्षणों तक को दुःखों का वरदान क्यों माँगती? महाभारत का भयंकर नर-संहार समाप्त होजाने पर जिस समय जन-मन रंजन लीलापुरुषोत्तम पार्थ सारथी श्यामसुन्दर से ऐसा अनोखा वरदान उनकी पूज्या बुआ ने माँगा तो आश्चर्य-चकित होने का नाट्य करते हुए उन नटवर ने कहा—बुआजी! समस्त चराचर जगत तो, सुख-प्राप्ति के निमित्त अहर्निश संघर्ष करता है किन्तु इसके विपरीत तुम दुःखों का आह्वान करती हो ऐसा क्यों?

कुन्ती माता बोलीं—माधव! यदि दुःखों से छुटकारा मिल गया तो हृदय में सुख भोग की कामना तुम्हारी मधुर-स्मृति को आच्छादित कर लेगी और तुम्हारी विस्मृति का अर्थ है सर्वनाश। इस अकाट्य तर्क से जगद्गुरु श्रीकृष्ण निरुत्तर हो गये।

शास्त्रकारों का मत है कि जिस मनुष्य के जीवन में केवल इन्द्रियों के सुखों का ही बाहुल्य हो वह कोई आदर्श जीवन नहीं, वह तो एक प्रकार से पशुवत् जीवन है, क्योंकि उसे केवल अपने शरीर की रक्षा और इन्द्रियों की तृप्ति का ही ध्यान रहता है। इसके आगे वह देखने में असमर्थ है। वास्तविक जीवन तो वही है जिसे पग-पग पर कठिनाइयों और प्रतिकूलताओं से संघर्ष करते हुए आगे बढ़ने का अवसर मिलता है। निस्पंद और नीरव जीवन किस काम का। लौकिक अथवा पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नतिके लिये यदि सांसारिक प्रतिकूलताएँ सामने नहीं आयेंगी तो फिर निश्चय ही नवनिर्माण का

भाग अवरुद्ध हो जायगा। विचार कीजिए, मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम यदि सार्वभौम साम्राज्य को ठुकरा कर वनगमन न करते तो उस आदर्श राम राज्य की स्थापना कैसे होती जिसके गीत आज भी गाये जाते हैं। समस्त सुखों को स्वेच्छा से त्याग कर यदि वे चक्रवर्ती सम्राट बन कर बैठ जाते तो संसार का सामूहिक संकट किस प्रकार दूर होता, असुरों का संहार कैसे होता ? विश्ववन्द्य स्वर्गीय महात्मा गाँधी यदि बैरिस्टर बन कर दो-चार करोड़ मुद्रा एकत्रित करके सुख की नींद से बंगलों में विश्राम करते रहते तो आज वन्दिनी भारत माता के दासत्व की कष्टमयी शृंखला को कौन छिन्न-भिन्न करता ? तात्पर्य यह है कि जिन्होंने सहर्ष कष्ट और विपत्तियों को सहन किया, वे ही पराये दुःखों का निवारण करने में सफल हुए उन्हीं की कीर्ति पताका यावत् 'चन्द्र-दिवाकर तावत्-दिग-दिगन्त में फहराती रहेगी।

तत्त्वदर्शी सन्तों ने इस संसार को दुःखालय बताया है। जिस प्रकार पुस्तकालय में पुस्तकें, औषधालय में औषधियाँ, भोजनालय में भोजन प्राप्त होता है, इसी प्रकार यह संसार भी दुःखालय है अर्थात यहाँ मनुष्य को दुःख ही दुःख हाथ लगता है। जिसे मनुष्य भ्रम से सुख माने बैठा है वह भी दुखरूप ही है। उसमें भी अनेक दुःख छिपे हुए बैठे हैं। आज अधिकांश मनुष्य सुख वैभव के कारण अपने से अच्छी स्थिति वालों को देख सुन कर ईर्ष्याग्नि में दग्ध होते रहते हैं, वे यदि विवेक का आश्रय लेकर सूक्ष्मता से विचार करें तो जान सकते हैं कि इन दिखाई देने वाले अपार सुखों में इतने दुःख और कष्ट छिपे हुए हैं जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आँखों से सुन्दर दीखने वाली, स्पर्श में शीतल, सर्पिणी के अन्तर में कितना भयकर विष छिपा रहता है। ठीक इसी प्रकार भोगों की रमणीयता और सुखरूपता की बात है। अग्नि में शीतलता और नीम में जैसे मिठास का मिलना असम्भव है इसी प्रकार भोगों में भी कभी सुख नहीं मिलेगा जो वस्तु जहाँ है ही नहीं वह किस प्रकार वहाँ मिल सकती है ? स्वामी रामतीर्थ जीने लिखा है कि झोपड़ी में रहने वाली एक बुढ़िया ने अपनी सुई खो दी किन्तु वहाँ अंधकार था इसलिये वह सुई को खोज सड़क पर जलती हुई लालटैन के प्रकाश में करने पहुँची। किसी ने पूछा—मैया क्या तलाश करती है। बुढ़िया बोली—सुई खोई गई है। उसने कहा—क्या यहीं पर गिरी थी ? बुढ़िया ने कहा—गिरी तो झोपड़ी में थी लेकिन वहाँ अंधेरा होने से यहां ढूँढ रही हूँ। हम उस बुढ़िया की मूर्खता पर हँसेंगे किन्तु आज हम स्वयं उसी मूर्खता में अपनी बुद्धिमानी समझ रहे हैं। श्रीमद्भगवद्-गीता में स्पष्ट रूप से भगवान कहते हैं कि विषयरूप जग दुःख योनि है, समझदार लोग इसमें नहीं रमते !

> ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
> आद्यन्तवन्त. कौन्तेय न तेषु रमते बुध.॥

अर्थात्—यह जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निस्सन्देह दुःख के ही हेतु हैं और आदि अन्त वाले अर्थात् अनित्य है, इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें आसक्त नहीं होता, तात्पर्य यह है कि जो विवेकशील और बुद्धिमान हैं वे तो विषयों की रमणीयता और सुखरूपता में लिप्त नहीं होते, और जो लिप्त होकर उनकी प्राप्ति और अप्राप्ति में सुखी दुःखी होते हैं वे बुद्धिमान नहीं मूर्ख है। मूर्ख और बुद्धिमान की यह कसौटी, अपने तत्त्वज्ञ-मनीषी बता गये हैं। इस कसौटी द्वारा आत्म-निरीक्षण करने पर स्वय अपनी वास्तविक स्थिति का अनुमान हो जाता है। अपनी अन्तर्वृत्तियों की वास्तविकता का पता लगाकर हम भविष्य में आने वाले अवश्यभावी दुःखों से सावधान हो सकते हैं।

पाँच वर्षों तक अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले, गाण्डीवधारी अर्जुन सशरीर इन्द्रलोक को गये, देवराज इन्द्र तथा समस्त देवताओं ने उनका हार्दिक स्वागत किया। वहाँ से वे यशस्वी बन कर लौटे उन्होंने आशुतोष भगवान शकर को समरांगण में प्रसन्न किया। त्रैलोक्य में उनकी प्रशसा के गीत गाये जाते थे किन्तु उन्हीं, भगवान श्रीकृष्ण के प्रियतम सखा महावीर अर्जुन को जब युद्धारम्भ से पूर्व मोह पाश ने अपने दुःखद जाल में फांस लिया तो वे अपने असली रूप को भूल गये। उनके हाथ से गाण्डीव गिर गया, शरीर में रोमांच हो गया, वह दुःख से व्याकुल होकर रथ के पिछले भाग में

बैठ गये। तब समस्त व्याधियों और दुःखों के आदि कारण मोह का नाश करने के लिये ही लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश किया। मोहमयी विचारधारा के कारण ही तो हम असत्य को सत्य और नाशवान को अविनाशी मानकर अपने भ्रम से स्वय ही दुःखों का आह्वान करते हैं। गोस्वामीजी मोह को समस्त दुःखों का मूल मानते हैं:-

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तेहि ते पुनि उपजहिं बहु शूला॥

मोह-ग्रस्त मानव के लोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं। अधर्म को धर्म मानकर व्यवहारिक जीवन बनाने वाला यह मोह ही जीव का परमशत्रु है। प्रत्येक समय भगवान के साथ रहने वाले अर्जुन को ही जब इस दानव ने न छोड़ा तो साधारण मनुष्य की बात ही क्या।

सन्तप्त अर्जुन के मोह को नष्ट करने के लिए भगवान ने सर्व प्रथम साख्य योग का उपदेश किया था। श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेश के क्रम पर विचार करने से विदित होता है कि जीवन सग्राम में विजयी बनने की महत्वाकांक्षा रखने वाले नर-नारियों को सबसे प्रथम मानव जीवन के लक्ष्य की ओर ध्यान रखना चाहिए। नरदेह का परम लक्ष्य तो आध्यात्मिक तत्त्व की प्राप्ति ही है। उस परम पद की ओर अग्रसर होने की दृढ़ इच्छा शक्ति मानव को दैहिक, दैविक और भौतिक दुःखों के दावानल में दग्ध होने से बचाती रहती है, क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तो दुःख का अत्यन्ताभाव ही है। तत्त्वदर्शी जानता है कि ससार में दो ही वस्तु हैं, एक सत् दूसरी असत्। सत् अविनाशी है सदा एकसा रहने वाला है और असत् नाशवान है, एकसा रहने वाला नहीं, प्रत्येक क्षण में परिवर्तन होने वाला है। अपरिवर्तित और त्रिकाल में एकसी रहने वाली स्थिति को प्राप्त करने के लिये, कृतसंकल्प होने से अपने मार्ग में आने वाली विघ्न बाधायें नगण्य ज्ञान पड़ेगी। अनुकूल अथवा प्रतिकूल दोनों प्रकार की परिस्थितियों में भगवत्कृपा का सम्पादन होगा। सचित प्रारब्धवश जब दुःखों की बाढ़ आवे तो निश्चय करना चाहिए कि यह पिछले ऋण का परिशोध हो रहा है।

भवन निर्माण के पूर्व जैसे मानचित्र बन जाता है इसी प्रकार पहिले हमारी प्रारब्ध बनी तब उसके आधार पर इस शरीर का निर्माण हुआ है। अतएव जो आने वाले दुःख हैं वे तो आकर रहेंगे। हाँ, वे हमें उद्विग्न न कर सकें, ऐसा प्रयास करने में हम स्वतन्त्र हैं। इस प्रयत्न की सफलता का सरल और सर्व श्रेष्ठ साधन सत्संग है जिसकी आश्चर्यजनक महिमा से विज्ञ-पाठक अनभिज्ञ नहीं हैं। सर्प से लड़ाई होने पर न्योला बीच-बीच में सर्प-दशन के विष को उतारने के लिए बूटी सूँघने भाग जाता है। बूटी के प्रभाव से उसका विष दूर हो जाता है और पुनः नवीन स्फूर्ति और उत्साह से लड़ता हुआ वह अपने शत्रु को परास्त कर देता है, इसी प्रकार सत्संग की बूटी से इस मायामय संसार के दुःखों का विष अपना प्रभाव नहीं डाल सकेगा। अतएव आजीवन सत्संग का आश्रय नहीं छोड़ना चाहिए। जिन्होंने अपने दुःखों की किंचित् परवाह न कर सबके दुःखों का निवारण किया उन सभी प्रातः-स्मरणीय महापुरुषों के आश्रय से ही आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त की जा सकती है उनके चरण-चिह्नों का अनुसरण ही हमारा दुःख निवारण करेगा।

"महाजनो येन गत. स पन्थः"

दुःख निवृत्ति का अमोघ मन्त्र

"सर्व मङ्गल माङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोस्तुते॥" (दुर्गा सप्तशती से)

इस मन्त्र का प्रातः काल नित्य प्रति जो कोई १०८ बार जाप करेगा उसके समस्त दुःख निश्चय ही नाश होजायेंगे।

दुःखदशा में सुविचार का प्रभाव

(श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, वेदान्त शास्त्री)

शास्त्र में दुःख के तीन प्रधान भेद किये हैं। देह सम्बन्धी, मन सम्बन्धी, देव सम्बन्धी—वैसे

प्रत्येक के अनेक भेद भी हैं। भेदों के अनुसार निवृत्ति के उपाय भी पृथक्-पृथक् हैं, साधारण तया कहा जाता है कि शारीरिक क्लेश आने पर शरीर-शास्त्री डाक्टर, वैद्य या हकीम के पास जाना चाहिये। मानसिक वेदना मे मानसिक चिकित्सक या इष्ट-बन्धु का सहारा लेना चाहिये। दैविक कष्ट में पूजा-पाठ हवन यज्ञादि अनुष्ठान करने चाहिये। कष्ट की विभिन्नता उपाय विभिन्नता चाहती है। इस प्रकार हम देखते हैं—एक कष्ट का कोई एक उपाय करते हैं, जब तक वह दूर हो पाता है कि उसी प्रकार का दुःख सामने आ खड़ा होता है। उसे उपायान्तर से हटाते हैं तभी एक और विपत्ति उपस्थित होती है.—

"एकस्य दुःखस्य न यावदन्त
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे"

—एक दुःख का पूर्णतया अन्त भी नहीं हो पाता कि द्वितीय उपस्थित ही देखता हूँ।

इस दुःख मीमांसा के सम्बन्ध में वेदान्त का सार्वभौम अद्वितीय उच्चतम मनोरम सिद्धान्त है—"ऋते ज्ञानान्न मुक्ति"—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं, छुटकारा नहीं, बन्धन बना रहेगा, किसी प्रकार के बन्धन मे जकड़े हुए को दुःख अवश्यंभावी है। ज्ञान की पूर्वावस्था है: अज्ञान—नासमझी। बस यही नासमझी अज्ञान की दशा ही दुःख की अवस्था है। इसे हटाने के लिये ज्ञान अपेक्ष्य है।

सभी दुःखों की जननी नासमझी, (भूल) अज्ञान की दशा ही है।

अब चाहे वह दुःख शरीर का हो या मन का हो, जब अज्ञान ही अखिल दुःखों का जनक है तब सभी दुःखों के नाश की एकमात्र रामबाण औषधि है—ज्ञान।

वेदान्त को विभिन्नता मे शान्ति नहीं दिखाई देती अतः अनेकता स्वीकार नहीं है।

जिस अनुपात से ज्ञान होता जायेगा उसी अनुपात मे अज्ञान कम होगा तथा अज्ञान-जन्य दुःख भी घटता जायेगा। तब सभी प्रकार के दुःखों के लिये हमे ज्ञानार्जन करना चाहिये। छोटे-छोटे ज्ञानों मे छोटे दुःख हटते जायेंगे।

महान् ज्ञान के होने पर—पूर्णज्ञान मे सम्पूर्ण दुःख भी निःशेष हो जायेंगे।

कल्पना करें एक अबोध मनुष्य प्राकृतिक नियमों से अनभिज्ञ है, खान-पान रहन-सहनादि कर्मों मे भूल करता है। कौन चीज कब-कैसे, कितनी खानी चाहिये नहीं जानता। नियम विरुद्ध भोजन करता है। मूली खाकर दूध पीता है। तरबूज़ खाकर छाछ (मट्ठा) पीता है। भोजन के बाद ही कठिन व्यायाम करता या दौड़ता है। ऐसी ही अन्य भूलें करता है, तब आये दिन एक न एक रोग में फँसा रहता है। डाक्टर वैद्य से दवा खाता है—पर जब तक वह आहार का ज्ञान प्राप्त न करेगा तब तक उसका रोग से छुटकारा नहीं। उसे आहार सम्बन्धी ज्ञान, प्राकृतिक नियम को जानना होगा। दवा की शीशी मे यह शक्ति नहीं कि रोग से उसे बचा सके। तब शारीरिक दुःख के लिये हमें दवा की अपेक्षा शरीर-शास्त्र का

ज्ञान ही प्राप्त करना होगा। तभी विभिन्न प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलेगी। अन्यथा एक रोग के लिये एक दवा खाई कि दूसरा रोग सामने ही खड़ा देखा। इन उपायों के सहारे भले ही शरीर की मशीन को किसी प्रकार चलाये जायें, खूब खायें व मोटे बन जायें पर न दुःखों से छुटकारा ही है और न सच्चा स्वास्थ्य एव तज्जन्य सच्चा सुख ही पा सकते हैं। हमे शास्त्रीय दृष्टि से स्वस्थ बनना होगा केवल बाह्य दृष्टि से नहीं। आयुर्वेद मे स्वस्थ मनुष्य का लक्षण करते हुए कहा है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुः मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

—कफ वात पित्त, सम हों, पाचन क्रिया ठीक हो, रक्त मेदमांसादि धातुओं में कोई विकार न हो, उनका ठीक परिपाक होता रहे, मलाभिसरण उपयुक्त रूप मे हो, तथा साथ ही चित्त इन्द्रियाँ एवं मन प्रसन्न रहे वही स्वस्थ कहा जाता है।

शास्त्रीय ज्ञान के अभाव मे—नासमझी मे भले कोई मनुष्य अपने को स्वस्थ्य कहले परन्तु पूर्ण स्वस्थ्य होने के लिये ज्ञान व यत्न अपेक्षित है।

शारीरिक दुःख से बचने के लिये मन को स्वस्थ बनाना होगा, क्योंकि विचारों का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। सुविचार से मन स्वस्थ रहेगा मन की स्वस्थता में इन्द्रिय क्रिया ठीक होगी और शरीर स्वस्थ बना रहेगा। शरीर के दुःख से मुक्ति पाने के लिये अन्य प्राकृतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के अतिरिक्त यह भी जानना होगा कि कैसे मनको स्वस्थ बनाये रखें ? मन स्वस्थ होगा सुविचार से। कोई मनुष्य अन्य जानकारी रखता है पर विचारों के प्रभाव से अनभिज्ञ है वह शरीर से रोगी बना रहेगा। उसे शारीरिक दुःख से मुक्ति नहीं मिलेगी।

विशेषज्ञों का कहना है कि चिन्ता का प्रभाव आँतों पर पड़ता है, उनकी क्रिया बिगड़ती है। भय से दिल की धड़कन बढ़ती है, खून पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जैसे पानी पर पाले का। क्रोध से रक्त मे विष उत्पन्न हो जाता है, वह विषाक्त हो दूषित हो जाता है, क्रोध उसे वैसे ही सोखता है जैसे गर्म पत्थर पर डाला पानी सूखता है। कंजूस व कृपण मनुष्य की आँतों में भी कृपणता बनी रहती है। कब्ज बना रहता है।

क्रोध से काम से अधिक भय से शरीर में ज्वर आ जाता है। प्रिय के वियोग से शरीर मे उथल पुथल मच जाती है। मन के सभी विकार शरीर में रोग पैदा कर सकते हैं। स्वस्थ मन के बिना स्वस्थ शरीर पाया नहीं जा सकता। बिना स्वस्थ शरीर के शरीर का दुःख दूर न होगा और स्वस्थ शरीर स्वस्थ मन के अधीन है। स्वस्थ मन सुविचार के आश्रित है। तब यहाँ हम शारीरिक दुःख निवृत्ति के लिये भी सुविचार तक पहुँच आये, क्योंकि इसके पूर्व ठिकाना ही नहीं। केवल मोटा ताजा हट्टा कट्टा भोगों मे लगी इन्द्रियों वाला, चिन्ता भयादि उद्वेगों वाले मन सहित शरीर स्वस्थ नहीं। अस्वस्थ शरीर मे ही रोग हैं। रोगों मे ही शारीरिक दुःखों के बाढ़ की अनुभूति है। तब इसका तात्पर्य यह हुआ कि सुविचार से ही स्वस्थ बने रह सकते हैं। तथा जिन आकस्मिक कष्टकारी घटनाओं मे हमारा दोष नहीं, वैसी परिस्थिति मे भी हम आई विपत्ति को सुविचार द्वारा नहीं के बराबर या हल्की कर सकते हैं। हम अपने सोचने का ढंग ही ऐसा बनालें कि आकस्मिक विपत्ति भी विपत्ति न जान पडे। हम प्रत्येक घटना मे सोचें—मगल-मय भगवान् का ही सर्वत्र साम्राज्य है, मगल स्वरूप प्रभु के दरबार मे प्रत्येक घटना मगलमयी ही है। सूर्योदय होने पर जैसे प्रकाश ही प्रकाश चहुँओर दिखाई देता है क्योंकि सूर्य प्रकाश रूप है। सूर्य के प्रकाश मे अन्धकार है ही नहीं,'' वैसे ही मगला-त्मक भगवान् के राज्य मे सब कुछ मंगल ही है—

ऐसा भान होने लगे। यह भावना सुनिश्चित तथा पूर्ण है, तथापि इतना सुनकर मन वैसा मानता नहीं-मस्त नहीं होता-कारण है अपवित्रता।

यह सिद्धांत वाक्य आदर्शरूप से सामने बना रहे, उधर मानसिक पवित्रता बढ़ती जाये, रागद्वेष रहित क्रियायें होने लगें, ज्यों-ज्यों प्रभु की समीपता का अनुभव होगा त्यों त्यो यह सिद्धात हृदय मे घर करता जायगा। हम मोचने का यह काम अपनालें कि हर वस्तु या घटना के भद्र व अभद्र, उज्वल एव अन्धकार रूप दो भाग होते हैं। जब हम चटाई-टाट, मेज कुर्सी जैसी वस्तुएँ देखते हैं तो उसमे भी दो भाग दिखाई पड़ते हैं, एक साफ चमकता हुआ ऊपर का भाग दूसरा खुरदरा अभद्र, पर हम सदैव ऊपर से चमकते भाग को सीधा मानते हैं, उसीसे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, काम लेते हैं, दूसरी ओर ध्यान ही नहीं देते। ऐसे ही हम हर घटना के उज्ज्वल-उपदेशात्मक भाग को लें, उससे सम्बन्ध मानें, कष्टदायक भाग की उपेक्षा करने का अभ्यास करें तो बस बन गया काम। दुःख नाश का उपाय हाथ लग गया। होता यह कि है एक छोटी सी घटना घटी, हमने उसके अभद्र-कष्टकारी भाग के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर उसे महत्व दे दिया। वस्तुत कष्ट इतना नहीं था जितना मान लिया, मान लेने से ही उसने मान पा लिया।

बच्चा गिरा कुछ चोट भी लगी। माँ ने देखा, आँख बचाकर अलग होगई—बच्चा उठा और फिर अपने व्यापार मे लग गया। चोट सह्य थी, उपेक्षा की अतः समाप्त। उसी दशा में यदि माँ ने कह दिया होता कि अरे मेरे लाल! तुम गिर गये, तुम्हारे चोट लग गयी, वारी जाऊ मैं तुमपर, बस यह सुनना था कि बच्चा रोने लगा उस साधारण चोट को मान मिल गया—उसने रुला दिया।

विपरीत इसके भयकर चोट है रक्त बह रहा है—बच्चा चिल्ला रहा है, मां झट से गोद मे लेकर दूध पिलाने लगती है, बच्चे का मन दूध पीने मे लग जाता है, और दुख को भूल कर चुप-चाप शान्त हो जाता है।

ऐसे ही हम घटना के उपदेशामृत-दूध के पान मे मन को लगा दें तो भयकर विपत्ति भी विस्मृत हो सकेगी, अन्यथा किंचित् विपत्ति के कष्टकर अभद्रांश की उधेड़ बुन में पड़ गये तो वह पनपती जायेगी और खूब रुलायेगी, तभी लोग कहने लगते है—मुसीबत अकेली नहीं आती। वास्तव मे आयी तो अकेली थी, हम डर गये भय से मानसिक सतुलन खो बैठे, मस्तिष्क सम्यक् विचार-रहित हो गया, अतः आगे की भूलों ने साथ मिलकर उस एक मुसीबत को शतधा—या सहस्रधा बना डाला।

एक बूढ़े सेठ जी एनिमा लेने को चले, पैर ठीक से नहीं जमा पाये लुढ़क कर गिर गये, थोड़े ही गिरने से कमर के नीचे चोट लग गई, कुछ हड्डी टूट गई। सेठ जी भली प्रकार चल सकते हैं कोई सहारे की आवश्यकता नहीं। यह एक साधारण घटना हुई पर बुद्धि भेदसे विचार विभिन्न है। इसी घटना मे एक व्यक्ति तख्ते पर क्रोध दिखा रहा है, अरे इसके कारण यह मुसीबत आई, उसे उठा कर पटकता है। दूसरा एनिमा की क्रिया मे ही दोषारोपण करता है। तीसरा चिकित्सक के प्रति ही अश्रद्धा प्रकट करता है। जिसे जो सूझा—अरे यह नाहक का कष्ट ऐसे अनेक विचार चले। सेठ जी बड़े धनिक थे झट से इधर-उधर के गुणी जानकार तथा डाक्टर आगये। चली परीक्षा और होने लगे उपचार। एक दो जिज्ञासु, जो ऐसी घटना या दशा मे क्या करना चाहिये, यह भयकर कष्ट कैसे टाला जा सकता है, यदि ऐसा अवसर कहीं आ उपस्थित हो तो क्या किया जा सकता है? इत्यादि जिज्ञासा वृत्ति से सतर्क होकर उन सब विशेषज्ञों के निदान व उपचार प्रकार को देख व सुन रहे हैं।

सहज में उन्हें घर बैठे विशेष ज्ञान व विशिष्ट पुरुष प्राप्त हो गये। जिन्हें वह विपुल धन व्यय कर के भी नहीं पा सकता था। इसी घटना का दूसरा अंश जो विशेषज्ञ वहाँ आए, उनके भाग्य मे इतना धन मिलने का योग है। यह सप्ताह इस राशि वाले के लिए अर्थकारी है। धन भी मिलना है सेठ जी से, घटना घटे तो धन मिले यों तो उठा कर कोई देने से रहा। धन मिला, घर के लोग खुश हैं, यह महीना तो भाग्यशाली था।

चिकित्सक को सेठ की चिकित्सा मे जो एक सफलता दिखाई दे रही थी, समझता था भविष्य मे 'यों हो जायेगा वो हो जायेगा!" अपनी चिकित्सा के भरोसे ही मानो भविष्य वक्ता बनने जा रहा था, ईश्वरी विधान और कर्म गति का ध्यान ही नहीं था, कब क्या हो सकता है। भविष्य के गर्भ मे क्या है ? इसे समझे बिना चुप रहना, कम बोलना ही उचित है, नहीं तो व्यर्थ ही असत्य बोला जाता है एवं वाक् शक्ति का अपव्यय होता है। उसने भी कुछ उपदेश पाया

सेठजी दुखी हैं—आस्तिक हैं मानते हैं दान से कल्याण होता है—चलो कल ११००) ग्यारह सौ रु० के वस्त्र मँगवा कर दान कर दिये जायँ। सर्दी के दिन हैं गरीब लोग कपड़े से तग हैं—बस कितने गरीबों को तन ढाकने का कपड़ा मिल गया और भी कुछ लोगों को कुछ दान मिल गया। ऐसे ही और भी इसी प्रकार के अश समझे जा सकते हैं।

अब दूसरी ओर विचारे सेठ जी व उनके परिवार के दु ख का भी विचार करें। सेठ जी गिरे हड्डी टूटी महान् दुःख हुआ, समवेदना प्रकट करने की बात है। पर किया क्या जाय ऐसा ही विधान था। कर्मगति ऐसी थी। किसी ने नहीं गिराया, स्वयं गिरे। न लकड़ी का दोष न क्रिया या चिकित्सक का दोष। कर्मफल का विधान अटल है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।

शुभाशुभ कर्म का फल अवश्य ही भोक्तव्य है, ऐसा समझ मन में धैर्य रखें मेरे कार्यों का ही मुझे फल मिल रहा है। इसमे किसे अपराध लगाऊँ।

अवश्यं भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि ।
तदादुःखैर्नलिप्येरन् नलरामयुधिष्ठराः ॥

अवश्यम्भावी का यदि कोई टालने का उपाय होता तो नल जैसे धर्मज्ञ, राजा राम से मर्यादा पालक, एव युधिष्ठिर से सत्यव्रती धर्मात्मा दुःख न भोगते।

साथ ही गोस्वामी जी की चौपाई याद करें—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता ।
निजकृत कर्म भोग सब भ्राता ॥

तुलसी जस भवितव्यता तैसी बनै सहाय ।
आप न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय ॥

तथा अन्यच्च-संसार तो एक ऋणानुबन्ध से चल रहा है—लेन देन चुकाया जा रहा है। हो सकता है इन सब लोगों का ऋण चुकाना था, चुकाया गया।

प्रारब्ध कर्म का भोग से ही क्षय होना है—उसे हँसते ही क्यों न भोगें।

सेठ जी धर्मात्मा तो हैं ही, दानवीर भी हैं, अन्य भी अनेक सद्गुण हैं। इतना होते हुये भी शरीरासक्ति एवं कौटुम्बिक ममता अभी बनी है। कौन जाने यह वज्र प्रहार शरीरासक्ति एवं ममता पर ही हुआ ताकि ये दोनों हटे, पूर्वपुण्योदय होकर ज्ञान व सर्वदु.ख का अत्यन्ताभाव हो सच्चिदानन्द-स्वरूप आत्मानन्द की प्राप्ति हो जाय।

सांसारिक नाते ऐसे कष्ट के अवसर में ही फीके जान पड़ते हैं। प्रारब्ध-कर्म फल शेष रहा तो जन्मान्तर होगा, अतः यहीं इसी जन्म में जीवन में चुकती करदें दिवाला निकल जाये।

ऐसे प्रत्येक घटना पर विचार कर लें

तो असह्य कष्ट किञ्चित् विचार बल से उपेक्ष्य या सह्य बना सकते हैं। हम यह समझ रहे कि संसार कर्म भूमि है जैसा बोयेंगे वैसा ही फल पायेंगे। हम चाहते हैं—शांति, सुख, प्रेम, ऐश्वर्य, आनन्दादि बस जो चाहते हैं उन्हीं को विचारें, उन्हीं का प्रसार करें, लोगों के प्रति वैसा व्यवहार करें। लोगों के साथ सत्यप्रेम का व्यवहार करना मानों उनके हृदयरूप खेत मे अपने लिये सुख, शान्ति, प्रेम, आनन्द का बीजारोपण करना।

ईश्वर को आनन्दघन समझ उसीके समीप पहुँचने के लिये हम इन्द्रिय संयम करें, मन को सुविचार से भरें, तब देखेंगे मानसिक या दैविक दु:ख भी सुविचार की स्थिति मे अदृश्य होते जायेंगे और इस प्रकार मन को प्रसन्न रखते हुये हम उत्तरोत्तर ईश्वर सान्निध्य प्राप्त कर एक ऐसी दशा का अनुभव कर सकेंगे जहाँ आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा है। आनन्द की रसभरी धार आ रही है। वही अवस्था दु:ख के अत्यन्ताभाव की है जो हर एक मनुष्य का लक्ष्य है व आन्तरिक चाह है।

प्रभु हम सब को सुविचार दें कि अपने लक्ष्य को पाने मे समर्थ हों।

दु:ख ही सुख का मूल है

(पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

ईश्वर की सृष्टि मे मानव ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है। विचारना यह है कि मानव की सर्वश्रेष्ठता किसमे है ? स्थूल शरीर की दृष्टि से तो मानव की अपेक्षा अन्य प्राणियों (पशु-पक्षीआदि) के स्थूल अंग प्रत्यंग ही अधिक सुन्दर होते हैं तभी तो मानव के सुन्दर नाक की उपमा तोते की नाक से, सुन्दर नेत्रों की उपमा हरिण के नेत्रोंसे गर्दन की उपमा कबूतर की गर्दन आदिसे दी जाती है। वास्तव मे मानवकी विशेषता इसके स्थूल शरीर के किसी अंग से नहीं है वरन् इसकी बुद्धि से है। वैसे तो भोग बुद्धि पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर अन्य प्राणियों मे भी होती है परन्तु मानव की विशेषता भोग परायण बुद्धि से नहीं धर्म परायण बुद्धि से है कहा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च ।
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ॥
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो ।
धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ॥

इसी धर्म विशेष विवेकनी बुद्धि का मानव यदि सदुपयोग करे तो वह अपने एक जन्म के क्या अनेक जन्मों के दु:ख दूर कर सकता है। सत् असत् को जानकर सत् को ग्रहण कर असत् का त्याग करना ही बुद्धि का सदुपयोग है। जैसे हंस की शक्ति दूध और जल को पृथक् करने वाली है और चींटी मिट्टी और शक्कर को अलग-अलग कर देती है इसी प्रकार सात्विकी बुद्धि दु:खप्रद बन्धन को त्याग कर सुख शाली मुक्ति को ग्रहण करती है। श्रीकृष्ण भगवान् ने गीतामे सात्विकी बुद्धि का लक्षण इस प्रकार कहा है:-

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभयौ ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति साबुद्धि पार्थ सात्विकी ॥

अर्थात्-हे पार्थ जो बुद्धिप्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य भय व अभय, बन्धन और मोक्ष को तत्त्वत: जानती है वही सात्विकी है।

इस सात्विकी बुद्धि से ही मनुष्य आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति कर सकता है। सात्विकी बुद्धि सदैव भविष्य की ओर दृष्टि रखकर मन को वर्तमान नाशवान् सुखों से हटाती रहती है। मन और बुद्धि में यही अन्तर है कि मन वर्तमान के सुख पर टूट पडता है और बुद्धि भविष्य की ओर देखती है। दूरदर्शिता ही बुद्धि की विशेषता है। दूर तक देखने वाले तत्व का आदर होना ही चाहिये। जैसे पैर और नेत्रों में पैर की अपेक्षा नेत्रों का विशेष महत्त्व है। आकार और तौल में तो आँख से पैर ही भारी पड़ते हैं परन्तु आँखें पैरों से प्रिय अधिक होती हैं। उदाहरणार्थ किसी अपराधी को दण्ड सुनाया जाय कि या तो तुम अपनी टाँग काट दो अथवा एक नेत्र निकाल दो तो वह अपनी टाग ही कटवाने को राजी होगा, क्योंकि आँख छोटी होने पर भी अधिक उपयोगी तथा दूरदर्शिनी है। अतएव आगे दूर तक देखने वाली बुद्धि ही का विशेष महत्त्व है।

जो कर्तव्य पालन में किञ्चित् दुःख सहन करके अक्षय सुख की उपलब्धि करना है वही वास्तव में मनुष्य हैं, वही अपनी मानवता को सफल बनाये हैं किन्तु जो व्यक्ति वर्तमान के सुख अर्थात् मन-इन्द्रियों के सुख में ही संलग्न हैं वे मनुष्य पशु के समान हैं। जैसे मृग कर्णेन्द्रिय के वशीभूत होकर नाश को प्राप्त होता है, मदोन्मत्त हाथी स्पर्शेन्द्रिय के कारण बन्धन में पड़ जाता है, पतिङ्गा नेत्रेन्द्रिय के रूप सुख पर मर मिटता है, गन्ध के वश होकर भ्रमर कमल के बन्धन में आ जाता है, मछली जिह्वा के स्वाद में फँसकर अपना नाश कर लेती है, इसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रियों के भोगों में रचे-पचे रहकर अपना सर्वनाश करने पर जुटे हैं वे पशु नहीं तो और कौन हैं? यथार्थतः उन्हें पशु से भी गया बीता कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं, क्योंकि पशु तो एक एक इन्द्रिय के ही वश में होकर अपना नाश करते हैं, और मनुष्य तो पाँच इन्द्रियों के वश में है। पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत मानव की क्या दशा होगी यह कही नहीं जा सकती कहा है,—

कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्गा, मीनाहताः पञ्चभिरेवपञ्च
एकप्रमादी स कथं न हन्येत, यः सेवते पञ्चभिरेवपञ्च

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपनी दोहावली में यही बात लिखी है,—

अलिपतङ्ग गजमीनमृग, इनके एकहि आँच।
तुलसी तिनकी कौन गति जिनके पीछे पाँच॥

इसलिये अपनी बुद्धि द्वारा इन्द्रिय मन को प्रिय लगने वाले वर्तमान के सुखों को त्याग कर अक्षय सुख की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। गीता में भगवान श्यामसुन्दर वर्तमान के सुख को राजस सुख कहते हैं।

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसम्स्मृतम्॥

अर्थात् जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है और भोगकाल में तो अमृत की तरह सुखदायी और परिणाम में विष के समान है वह राजस सुख है। इसके विपरीत बाद में अक्षय आनन्द की प्राप्ति और प्रारम्भ में भले ही दुःख हो वह सात्विक सुख है:—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखंसात्विकं प्रोक्तम् आत्मबुद्धिप्रसादजम्॥

अर्थात् जो सुख प्रारम्भ में विषवत् और परिणाम में अमृत तुल्य हो वह सात्विक सुख है, वह आत्मा और बुद्धि को परम आनन्द देता है। इसलिए वर्तमान के सुख को त्यागकर परिणाम में अक्षय आनन्द देने वाले सात्विक सुख को ही प्राप्त करने की चेष्टा प्रत्येक जीव को करनी चाहिये, अन्यथा न जाने कितनी योनियों में जा जाकर अपार

दुःख उठाने पड़ेंगे। विद्यार्थी यदि अध्ययन काल मे अध्यापक की ताड़ना का साधारण दुःख सहन नहीं करेगा तो वह बाद मे जीवन भर पछितायेगा, फिर तो उसे पल्लेदार या कुली बनकर सिरपर बोझा ही उठाना पड़ेगा। इसी प्रकार सत्कर्म करने मे कुछ सयम नियम का दु.ख न उठाकर जो इन्द्रियोंके सुख भोगने में लगे हैं उन्हें जन्मान्तर मे भैंसा, घोड़ा गधा आदि अनेक योनियाँ प्राप्तकर असह्य दु.ख भोगने पड़ेंगे।

घोड़े को देखिये विचारा दौड़ते-दौड़ते थक जाता है, इक्कास्टेन्ड पर पहुँच कर सवारी उतारता है कि पुन. उस पर चार छः सवारियाँ लाद दी जाती है और जब वह नहीं चलता तब चाबुक पड़ता है। यह असह्य कष्ट उसे सहना ही पड़ता है। भैंसों को देखो उन पर बीस-बीस मन लदाना लाद दिया, गर्मी है दुपहरी है वह हाँफ रहे हैं चल नहीं पाते ऊपर से लाठी पड़ती है पर वे बेचारे कुछ कह नहीं पाते बिलबिला कर रह जाते हैं। उनकी कोई परवाह नहीं करता। इसी प्रकार जो इन्द्रियों के सुख मे ही फँसे हैं नरक की अवर्णनीय यातना के बाद उनकी भी यही दशा होगी। इसलिये अभी अल्प दुःख सहन कर लो फिर अक्षय आनन्द उठाओ।

पूर्व काल में अनेक व्यक्तियों ने अपने जीवन काल में दुःखों को सहन किया और अक्षय कीर्ति एवं अखण्ड सुख की प्राप्ति की। ध्रुव ने अपनी माता की गोद का सुख छोड़कर वन के दु ख सहे उसका परिणाम यह हुआ कि आज भी आकाश मे स्थिर हैं। अन्य नक्षत्र उनकी परिक्रमा करते हैं। यमराज ने भी ध्रुव के चरणों की धूलि अपने सिर पर चढ़ाई थी। जब ध्रुव परमधाम को जाने लगा तब यमराज ने आकर कहा कि हे ध्रुव! तुम मेरे सिर पर पैर रखकर परमधाम को जाओ, जिससे हम पवित्र हो जावें।

तदोत्तानपादपुत्रो ददर्शान्तकमागमतम्।
मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्वा आरुरोहाद्भुतगृहम्॥

अर्थात्—इसके उपरान्त उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव यमराज को आया देखकर उनके सिर पर पैर रख कर परम धाम को चले गये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि यमराज ने अपने सिर पर ध्रुव के चरणों की धूलि धारण की, भगवान् भी तो ऐसे अनन्य भक्तों की चरण धूलि लेने को तैयार रहते हैं। भगवान् कहते हैं कि—

अनुपेक्षं मुनेः शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्य पूतये तेऽङ्घ्रिरेणुभिः॥

अर्थात्—जो भक्त शान्त, मननशील, इच्छारहित और समदर्शी हैं, मैं उनके पीछे पीछे उनकी चरण धूलि लेने को दौड़ा करता हूँ। इस प्रकार दु ख सहन करने वाले के सभी ऋणी रहते हैं। दु.खों में अनन्त सुख छिपा है, इतिहासों मे ऐसी अनेक गाथायें आती हैं जिनमें दुःख द्वारा भगवत्प्राप्ति हुई। मोरध्वज पर जब आरा चला तब उस आरा मे ही भगवान् छिपे थे। राजा हरिश्चन्द्र ने असह्य सकटों को झेल कर ही ईश्वर प्राप्ति की थी। कुन्ती ने भी भगवान् से दु ख का वरदान माँगा था।

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरु।
भवतो दर्शनम् यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥

अर्थात्—हे जगद्गुरु जहाँ जहाँ निरन्तर दुःख रहता है वहीं पर आप का दर्शन होता है। अत. हे प्रभो हमें दुःख का ही वरदान दो। जब भी दु ख आता है तो उसके अन्तस् में सुख भरा रहता है, रात प्रभात को छिपाये ही रहती है। दुःख मे भगवान् का स्मरण होता रहता है। कबीर जी कहते हैं कि—

सुख के माथे सिल परे, नाम हृदय से जाय।
बलिहारी उस दुःख की, पल पल नाम रटाय॥

के और भी कहा है—

दुख आये तो दुःख को, सुख का ज्यों पुचकार।
ना जाने इस दुःख में, छिप आया हो यार॥

अतः हमे वर्तमान दुःख प्राप्ति मे घबड़ाना नही चाहिये अपितु उसका सत्कार करना चाहिये। इससे यह दुःख हमारी सभी अभिलाषाओं की पूर्ति कर देगा और अक्षय आनन्द की प्राप्ति करायेगा।

दुःख निवृत्ति का एकमात्र उपाय

(श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज)

अनादि काल मे जीवमात्र की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का लक्ष्य एक ही रहा है—किस प्रकार दुःखों से छुटकारा मिले। अन्य जीव तो दुःख आनेपर केवल उसकी तात्कालिकी निवृत्तिका ही प्रयत्न करते हैं और एकबार उससे छुटकारा पा लेनेपर फिर निश्चिन्त हो जाते हैं, किन्तु सम्पूर्ण प्राणियों में श्रेष्ठ समझा जानेवाला यह मानव तो सदा से ही सब प्रकार के दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति के लिये लालायित रहता है और जानबूझकर अथवा बिना जाने इसी प्रयत्न में लगा रहता है कि उसे कभी किसी प्रकार का कोई कष्ट प्राप्त न हो। किन्तु कैसी विचित्र बात है कि वह जितना-जितना उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयास करता है और जितनी-जितनी सुखसामिग्रियों का आविष्कार, उपार्जन एवं संग्रह करता जाता है उतनी-उतनी ही उसकी अशान्ति और दुःख एवं विपत्तियों की विभीषिका बढ़ती जा रही है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैसे-जैसे संसार में रहन-सहन की सुविधा के नये-नये साधनों का आविष्कार हुआ है, जैसे जैसे लोगों के जीवन निर्वाह का स्तर ऊँचा उठा है, वैसे-वैसे ही जनता के लिये विश्वशान्ति दूर पड़ती गयी है। आजकी बड़ी-बड़ी राष्ट्रशक्तियाँ दुहाई तो देती हैं विश्वमें शान्ति-स्थापन की, किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है पारस्परिक संघर्ष और विद्वेष ही। इस प्रकार जैसे यह मनुष्य अन्य सम्पूर्ण प्राणियों से श्रेष्ठ माना जाता है वैसे ही इसका दुःख भी उन सबसे बढ़ा-चढ़ा है।

अब देखना यह है कि वास्तवमें दुःख है क्या वस्तु? सामान्यतया अनुकूलता का नाम सुख और प्रतिकूलता का नाम दुःख है। कहा भी है—'अनुकूलवेदनीयं सुखम्' एवं 'प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।' किन्तु क्या वास्तव में ये सुख-दुःख मनुष्य के लिये सर्वथा उपादेय अथवा हेय हैं? यदि जीवन में केवल अनुकूलता ही रहे तो क्या वह सचमुच सुखमय हो सकता है? यदि गम्भीरता से विचार करें तो बिना यत्किञ्चित् प्रतिकूलता के तो सुख का आस्वादन ही नहीं हो सकता। यदि क्षुधा की व्यथा न हो तो भोजन में क्या आनन्द मिलेगा? यदि ऊष्मा का ताप न हो तो शीतल जल से स्नान करने में क्या सुख होगा? यदि चलते-चलते थकान न हो तो किसी सघन वृक्ष की छाया में विश्राम करनेका भी क्या आनन्द होगा? इसी प्रकार संसार के प्रत्येक सुख का स्वारस्य तभी सिद्ध होता है जब उसके पूर्व क्षण में उससे ठीक विपरीत परिस्थिति प्राप्त हो। अतः सुख-दुःखका उपर्युक्त लक्षण व्यावहारिक दृष्टि से यथार्थ होने पर भी जीवन में किसी प्रकार इस द्वन्द्व से सर्वथा मुक्त रहकर केवल विशुद्ध सुख का उपभोग नहीं किया जा सकता।

इसके सिवा संसार में यह भी नियम देखा जाता है कि प्रत्येक भोगका परिणाम दुःख रूप ही होता है; जितने भी रोग हैं वे किसी न किसी भोग के ही परिणाम से होते हैं। मनुष्य भोगों से कभी तृप्त तो होता नहीं, किन्तु भोगते-भोगते अन्त में उसकी भोगशक्ति का ह्रास हो ही जाता है। इस प्रकार तृष्णा की तृप्ति न होने से भी प्रत्येक भोग परिणाम में दुःखरूप ही है। भोग-काल में जिन पदार्थों के संसर्ग से जीव को सुख की अनुभूति होती है उनमें उसका राग भी हो जाता है। अतः प्रत्येक भोग परिणाम में राग या आसक्ति का जनक है। और राग तो क्लेश ही है। इस राग के अधीन होकर ही वह दूसरे प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्त होकर भी अपने अभीष्ट भोगों को भोगना चाहता है। इस प्रकार राग के साथ

उसमें द्वेष की भी प्रवृत्ति हो जाती है। इसके सिवा जितने भी भोग्य पदार्थ हैं वे सभी नाशवान् हैं, एक दिन उनसे वियोग हो जाना निश्चित् है। अतः भोगी पुरुष को भोगकाल में भी उनके वियोग की सम्भावना से एक प्रकार का भय या ताप बना रहता है। भोगों में तारतम्य भी रहता ही है—प्रत्येक व्यक्ति को जो कुछ भोग प्राप्त हैं वे किसी की अपेक्षा न्यून और किसी की अपेक्षा अधिक होते हैं। इस न्यूनाधिकता के कारण वह अपने से अधिक भोगवानों को देखकर तो ईर्ष्या की अग्नि में जलता रहता है और अपने से न्यून भोगसम्पन्नों को देखकर अभिमान से ऐंठने लगता है। इस प्रकार इन ईर्ष्या और अभिमान के ताप से उसे किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त भोगों से जो सुख होता है उसका हृदय में एक संस्कार बन जाता है और जब कालान्तर में उनका वियोग हो जाता है तो वह संस्कार बार-बार उनकी स्मृति लाकर दुःख देता रहता है। अतः संस्काररूप से भी समस्त विषय-सुख दुःखरूप ही हैं। ये जितने विषय हैं गुणों के ही कार्य हैं, और गुण कभी अकेले नहीं रहते। सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण सर्वदा साथ-साथ ही रहते हैं। किन्तु इनकी वृत्तियों में परस्पर बहुत विरोध है। सत्त्व सुख और प्रकाश-स्वरूप है तो रजोगुण दुःखमय और तमोगुण अज्ञान एवं अन्धकारमय है। ये परस्पर एक-दूसरे को दबाकर ही प्रवृत्त होते हैं। अतः भोगकाल में भी इनकी वृत्तियों का संघर्ष बना रहने से जीव को विशुद्ध सुखकी अनुभूति नहीं हो सकती। इन सब दोषों के कारण ही योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि कहते हैं:—

'परिणामताप संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन.॥' (२।१५)

अर्थात्—परिणाम, ताप और संस्काररूप तीन प्रकारके दुःखों के कारण तथा गुणों की वृत्तियों में विरोध रहने के कारण विवेकी पुरुष की दृष्टि में सो सब (सारे भोग) दुःखरूप ही हैं। इसी प्रकार श्रीभगवान् भी गीता में कहते हैं:—

'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुध'॥ (६।२२)

अर्थात् इन्द्रिय और विषयों के संसर्ग से होने वाले जितने भी भोग हैं वे सब दुःख के ही कारण हैं तथा आदि और अन्त वाले हैं। विवेकी पुरुष उनमें कभी आसक्त नहीं होता। तथा श्रीमद्भागवत में भक्तराज उद्धव से भी आप कहते हैं:—

'दुःखं कामसुखापेक्षा' (११।१६।४१):—भोगजनित सुख की इच्छा ही दुःख है।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि जिन भोगजनित सुखों के लिये लालायित होकर मनुष्य रात-दिन दौड़ धूप करते रहते हैं वे वास्तव में दुःखरूप ही हैं। भगवान् वसिष्ठ श्री रामभद्र से कहते हैं—

'य. स्वादयन् भोगविष रतिमेति दिने दिने।
सोऽसौ स्वमूर्त्ति ज्वलिते कक्षमक्षयमुज्झति॥'
(यो० वा० ६ उ०।३६।२२)

अर्थात् जो मनुष्य रोज रोज भोगरूप विषका आस्वादन करके प्रसन्न होता है वह तो मानों निरन्तर अपने शरीररूपी ईंधन को प्रज्वलित अग्नि में झोंक रहा है।

भोगों का मूल है तृष्णा और परिणाम है अतृप्ति एवं सन्ताप। फिर भला इनमें सुख कहाँ है? तृष्णा की व्यथा बढ़ते-बढ़ते अभीष्ट वस्तु के मिलने पर जो क्षणिक विश्राम मिलता है उसी के कारण मनुष्य समझता है कि मानों कि उसका सुख उस अभीष्ट पदार्थ में ही बँधा हुआ है। किन्तु कुछ काल पश्चात् या तो वह वस्तु उसे अतृप्त छोड़कर ही चली जाती है, या अपना आकर्षण शिथिल पड़ जाने पर उसमें और अधिक उत्कृष्ट भोग की तृष्णा जाग्रत कर देती है। इस प्रकार परिणाम में उसका वियोग अतृप्ति का और संयोग तृष्णा का ही कारण होता है। अत. भोग्य पदार्थों के द्वारा भोगवासनाओं की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती, प्रत्युत उनसे तो वह और भी अधिक प्रज्वलित हो जाती हैं। भोगोंका ऐसा परिणाम देखकर ही राजा ययाति ने कहा था:—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥' भाग० ९।१९।१४

अर्थात् भोगों के द्वारा भोगों की लालसा कभी शान्त नहीं हो सकती। वह तो उनके द्वारा आहुति से अग्नि के समान और भी बढ़ जाती है।

अत. गम्भीरता से विचार किया जाय तो दुःख का

मूल कारण भोगों की लालसा या इच्छा ही है। इच्छा ही ने हम भगवदंश जीव को अत्यन्त दीन हीन और परतन्त्र बना रक्खा है। यदि इच्छा न होती तो फिर भला हममें और इसके अंशी भगवान् में क्या भेद था। लोक में भी कहते हैं.—

'चाह चमारी चूहरी सब नीचन की नीच।
तू तो पूरन ब्रह्म था, जो चाह न होती बीच॥'

योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्ध में भगवान् वसिष्ठ भी कहते हैं:—

'यावती यावती जन्तोरिच्छोदेति यथा यथा।
तावती तावती दुःखवीजपुष्टि. प्ररोहति॥' (३६।२५)

अर्थात्—जितनी-जितनी जिस-जिस प्रकार की जीव में इच्छा उत्पन्न होती जाती है उतनी-उतनी ही मानों उसके लिये दुःखरूपी बीजों की मुट्ठी ही उपजती जाती है। अत: जब तक यह जीव इच्छाओं के बन्धन से मुक्त नहीं होगा तब तक इसके दु.खों की निवृत्ति नहीं हो सकती।

अब विचारना यह है कि जीव में यह सम्पूर्ण अनर्थों की बीजभूता इच्छा या तृष्णा कहाँ से आगयी और यह इससे किस प्रकार मुक्त हो सकता है। इच्छा का मूल देहाध्यास या परिच्छिन्नता का अभिमान है। जब तक जीव अपने को स्थूल या सूक्ष्म देहरूप मानता रहेगा तब तक वह देहजनित सुखकी आसक्ति से मुक्त नहीं हो सकेगा। यह आसक्ति जितनी दृढ़ होगी उतनी ही उसकी भोगतृष्णा भी अधिक प्रबल होगी। वर्तमान संसार बड़ी तेजी से भौतिकता की ओर अग्रसर हो रहा है, आध्यात्मिकता तो उसके लिए इतिहास और उपहास की वस्तु होती जा रही है। इसी से उसकी भोग-तृष्णा भी उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही है। अत: यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि जब-तक मानव देहाध्यास से मुक्त होकर आत्मोन्मुख नहीं होगा तब-तक वह भोगासक्ति के बन्धन से छूटकर कदापि सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं कर सकेगा। देहाध्यास का कारण है अविवेक या अज्ञान और वह केवल आत्मज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है। आत्मज्ञान के द्वारा ही जीव देह-जनित सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो सकता है। जब उसे यह दृढ़ बोध हो जायगा कि देहजनित सुख-दुःख से उसका कभी किसी भी दशा में कोई सम्बन्ध नहीं है तो वह इन विषयजनित भोगों के लिये क्यों लालायित होगा? और क्यों प्रारब्धवश प्राप्त हुए शारीरिक दुःखों से उसे किसी प्रकार का उद्वेग होगा?

अत: केवल आत्मज्ञान ही एक ऐसा अमोघ शस्त्र है जिससे मनुष्य सुख-दु.ख के बन्धनों को काटकर अपने अखण्ड अविनाशी और स्वतः सिद्ध आत्मानन्द का अनुभव कर सकता है। वास्तव में सुख-दु.ख से परे हो जाना ही सच्चा सुख है—'सुखं दुःखसुखात्यय' (भाग० ११।१९।४१)। जब-तक जीव सुख को कहीं बाहर ढूँढता है तब-तक तो वह दुःखी ही है। जो सुख किसी बाह्य साधन के अधीन है वह तो दुःख ही है—'यत्सुखं साधनाधीनं तत्सुखं दुःखमेव हि।' भला जो परतन्त्र हो, प्रयत्न-साध्य हो, सातिशय हो, और अन्त में अपने से बिछुड जाने वाला हो वह पदार्थ हमें क्या सुखी कर सकता है?

वास्तव में सुख का उद्गम स्थान तो यह आत्मतत्त्व है। उद्गमस्थान नहीं, यही तो स्वयं सुख है—रस है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है—'रसो वै स:। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। कोऽह्येवान्यात् क: प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।' (७।२) अर्थात् यह आनन्दमय आत्मा रस ही है। इस रसस्वरूप आत्मतत्त्व को पाकर जीव आनन्दमय हो जाता है। यदि यह आकाश के समान परिपूर्ण आनन्दमय आत्मतत्त्व न होता तो कौन जीवित रहता और कौन प्राणों की क्रिया करता। वास्तव में यही सबको आनन्द प्रदान करता है।

इस आत्म-धाम में प्रवेश करने पर फिर जीव के लिए कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वास्तव में यही तो सबका अधिष्ठान है; रज्जु में सर्प, जल में तरंग अथवा सुवर्ण में आभूषणों के समान सम्पूर्ण प्रपञ्च इसी में तो अध्यस्त है, सब इसी की चिज्ज्योत्स्ना का ही तो चमत्कार है। जब इससे भिन्न और कुछ है ही नहीं तो इसे पा लेने पर जीव और किस वस्तु की इच्छा करेगा? अत: यहाँ पहुँचने पर सम्पूर्ण इच्छाओं की समाप्ति हो जाती है और जीव आप्तकाम पूर्ण-काम और आत्माराम होकर परमानन्द का उपभोग करता है। जब-तक वह इस परमतत्त्व का साक्षात्कार नहीं करेगा तब-तक किसी प्रकार

उसके दुखों का अन्त नहीं हो सकता। यह बात श्रुति डंके की चोट कहती है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

अर्थात् जिस समय लोग आकाश को चमड़े की तरह लपेट लेंगे तब भले ही आत्मा देव को बिना जाने भी उनके दुःख का अन्त हो जाय।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार आकाश को चमड़े की तरह लपेटना असम्भव है उसी प्रकार आत्मदेव बिना जाने दुःखों का अन्त होना भी असम्भव है। अतः आत्मज्ञान ही दुःख निवृत्ति का एक मात्र उपाय है।

दुःख क्यों है ?

(श्री स्वामी समतानन्दजी महाराज)

'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टा दृष्ट जन्यः वेदनीयः'

(पातञ्जलि योग दर्शन)

अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग और द्वेष के मूल मे क्लेश है। ससार में दुःख के दो ही कारण हैं, प्रिय वस्तु का वियोग पर अप्रिय का संयोग, इसी को दूसरे शब्दों मे हम इष्ट का विनाश या अनिष्ट की प्राप्ति कह सकते हैं। ज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार दो ही पदार्थ माने गये हैं जड और चेतन, दूसरे शब्दों मे सत् या असत्

सत वह है कि उसका कभी नाश न हो और असत् वह जिसका नाश शीघ्र होना स्वाभाविक है।

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सत.।

(गीता २—१६)

अर्थात्–असत् का तो अस्तित्व ही नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इसी से संसार मे असत् वस्तु के वियोग में मनुष्य को दुखी नहीं होना चाहिये। संसार के सारे पदार्थ स्वप्नवत् हैं जिनका नाश होना अवश्यभावी है। इसलिये उनके वियोग में मनुष्य को कष्ट का अनुभव नहीं करना चाहिये। बाली के मारे जाने पर उसकी पत्नी तारा को भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने शरीर की रचना पचभूतों से बतायी और जीव की नित्यता प्रदर्शित की और कहा तुम जीव-जो नित्य है उसके लिये व्यर्थ रो रही हो। गोस्वामी जी के शब्दों मे कहा है।

छिति, जल, पावक, गगन, समीरा।
पंच रचित अति अधम शरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा॥

ज्ञान के होने पर दुःख का विनाश होता है क्योंकि सत् एवं असत् का उसे ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार भक्ति के सिद्धान्त मे जड़ चेतन सभी पदार्थ यहाँ तक कि भक्त स्वयं भी अपने को भगवान के समर्पण कर देता है। इस कारण किसी भी सासारिक वस्तु के विनाश मे उसे दुःख नहीं होता। नौकर मालिक के किसी वस्तु के माँगने पर उसे देता है यदि उसे वस्तु के देने मे दुःख हो तो वह सच्चा नौकर नहीं है। भक्त प्रभु के विधान मे सदा सन्तुष्ट रहता है। भगवान की सारी क्रियाओं को वह अपने हितार्थ समझता है और सारी परिस्थितियों मे प्रसन्न रहता है।

किसी वस्तु में अनुराग या ममता ही वस्तु के

चले जाने पर दुःख पैदा करती है। इस कारण यह आवश्यक है कि हम असत् वस्तुओं से ममता हटावें और सत् वस्तु में लगावें। बस आनन्द ही आनन्द है। उदाहरणार्थ मान लीजिये किसी व्यक्ति के दो मकान हैं। उनमे से एक मे उसकी ममता है, दूसरे में उसकी ममता नहीं है। यदि ममता रहित मकान मे हानि हो जाती है तो उसे दुःख नहीं होता। पर जिस मकान में उसकी ममता है उसमे से यदि एक ईंट भी निकल जाती है तो उसे महान दुःख होता है ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर को ही कोई नोच रहा है। पर कुछ दिन बाद जब उसकी ममता मकान से हटकर रुपये में चली जाती है, तो वह उसी मकान को बेचकर रुपया प्राप्त कर लेता है और मकान के चले जाने पर उसे दुःख नहीं होता, कारण उसके अन्दर मकान के प्रति वह ममता नहीं रही। इसी प्रकार अज्ञानी जीव संसार मे यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी जमीन है, यह मेरी सम्पत्ति है, यह मेरा शरीर है इस प्रकार सभी सांसारिक पदार्थों मे ममता पैदा करता है और उनके नष्ट होने पर उसे दुःख होता है। ममता के मूल मे अज्ञानता छिपी है। यदि ज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो ममता ही न रहे और इस प्रकार दुःख नाश हो जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान एवं भक्ति ही हमे दुःख से छुटकारा दिलाने मे सार्थक सिद्ध हो सकते हैं। गीता मे भी दुःख नाश और परम शान्ति प्राप्त करने के ये ही दो मुख्य उपाय बताये गये हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

ब्रह्मनिष्ठ गुरु की सेवा एवं उसके आशीर्वाद से ही जितेन्द्रिय साधन-परायण और श्रद्धावान पुरुष को तत्वज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, जिसके द्वारा मनुष्य परमात्मा की कृपा से परम शान्ति प्राप्त करता है। ईश्वर की शरण ही दुःख से सदा के लिये छुटकारा दिला सकती है। इसलिये यह आवश्यक है कि हम अपने मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और समस्त जन आदि को परम पिता परमेश्वर के चरणों मे समर्पण करके सर्वदा सन्तुष्ट बने रहें, और समस्त कर्मों से ममत्व, अभिमान, आसक्ति और कामना का त्याग कर भगवान की आज्ञा समझकर अपने कामों को उचित रूप से संपादन करें। जो कुछ भी दुःख-सुख प्राप्त हो उन्हें भगवान का प्रसाद समझ कर झेलें। मान, बड़ाई एवं प्रतिष्ठा का त्याग करें। भगवान के सिवा हमें किसी भी सांसारिक वस्तु मे ममता एवं आसक्ति नहीं रखनी चाहिये। अतिशय श्रद्धा और आनन्द से भगवान् के गुणों एवं लीलाओं का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि उन्हीं की कृपा से हमे परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है।

ज देखा सो दुखिया देखा

जो देखा सो दुखिया देखा तनुधरि सुखी न देखा।
उदय-अस्त की बात कहत हौं ताकर करहु विवेका॥
जोगी दुखिया जङ्गम दुखिया तापस को दुख दूना।
आशा तृष्णा सब घर व्यापै कोई महल न सूना॥
साँच कहौं तो सब जग खीझै झूठ कह्यो नहि जाई।
कहै कबीर तेई भै दुखिया जिन यह राह चलाई॥

—सत कबीर

"दुःख से दुःख की निवृत्ति"

(पूज्य श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

स्वतन्त्र स्वर्गीय सुख सदृश माँ की मोदमयी गोद का विहार कम हो चला। हृदय में "मैं हूँ मेरा है" ऐसे भाव का निश्चय दृढ़ हो चला। विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का चित्र मस्तिष्क मे ठहरने लगा तथा उनका नाम, काम भी याद हो जाने लगा। जब से बडों के साथ घूमने फिरने का अवसर मिला तब से तो रूप व नामों की झड़ी सी लग पड़ी। जिससे मस्तिष्क एक अजायब घर बन गया। इसके पश्चात् स्वयं ही घूमने को मन ललचाया व नये-नये विज्ञान की जिज्ञासा का चाव लगा, उसी समय से अपने आप न जाने कहाँ से और क्यों यह एक स्वाभाविक अभिलाषा हृदय क्षेत्र मे उत्पन्न हो आई कि "हम को दुःख न हो सदा ही पूर्ण सुख मिलता रहे"। जब से यह अभिलाषा जाग्रत हुई तब से अब तक माता पिता मित्र घर व देह आदि कुछ वस्तुयें व परिस्थितियाँ मिट गईं कुछ परिवर्तित हो गईं किन्तु यह अभिलापा देवी ज्यों की त्यों आसन जमाये हृदय मे निवास कर रही है।

"दुःख कभी न होवे सदैव ही पूर्ण सुखी रहूँ" इसकी पूर्ति के लिये यह समझ में आया कि जब कुछ कष्ट व परतन्त्रता स्वीकार कर एक अच्छा प्रमाण-पत्र (सार्टीफिकेट) प्राप्तकर लिया जावे, तब इसकी पूर्ति हो सकती है, अतएव मित्रों व घर के सुख से वैराग्य तथा स्कूल के मास्टरों द्वारा पुस्तकों का अभ्यास किया, स्कूल मे कैट फैट रटते, घर आकर हैन मैन करते, पिता व अध्यापकों की दयारूपी पटरियों पर चलते चलते प्रमाणपत्र रूप एक स्टेशन पालिया। यहाँ पहुँचने पर एक अच्छा पढ़ा लिखा व्यक्ति समझा जाने लगा तथा मान सम्मान भी मिलने लगा किन्तु वह अभिलापा ज्यों की त्यों दिखलाई पड़ी।

सुन्दर गठीला शरीर अपनी युवा अवस्था पर पहुँच चुका था इधर पढ़ने का संकल्प समाप्त हुआ तो इस विचार ने आक्रमण किया कि "एक अच्छी नौकरी के मिल जाने से आनन्द हो जावेगा" चूँकि पिता जी एक विशेष प्रतिष्ठित पुरुष थे अतएव उनके व्यक्तित्व ने बड़ी सहायता दी जिससे एक बड़े दफ्तर मे नौकरी मिल गई। पास मे पैसा है, मकान अच्छा है, नौकर सच्चा है फिर भी "स्त्री होती तो पूर्ण सुखी हो जाते" ऐसा सकल्प रह रह कर सताने लगा। अवस्था व्यवस्था सभी प्रकार से सँभली हुई थी, अतएव शीघ्र ही अपने अनुरूप पढ़ी लिखी सुशील युवती से विवाह भी हो गया। कुछ समय तक आशा रही कि इस नव वधू द्वारा सुख की पूर्ति हो जावेगी किन्तु वह प्रश्न हृदय मे ज्यों का त्यों बसते हुये पाया साथ ही एक दूसरी स्फुरणा कि "सन्तान की कमी है" हृदय भूमिपर कभी धीरे और कभी वेग से दौड़ने लगी। कुछ समय पश्चात् मनौती का भी नम्बर आ लगा कि हे गंगा मैया! हे देवी भवानी! हे सत्यनारायण स्वामी! मुझ दीन पुत्र हीन पर दया करो जिससे घर का दीपक जले, हाल मे लालका मुँह देखने व चुमकारने को मिले। प्रार्थना की सुनाई हुई और अच्छे रूप मे, बड़ी छोटी चार सन्तानों के पिता बन गये किन्तु दुःख दूर नहीं हुआ (हृदय पहिले की ही भाँति अशान्त है।)

इस समय शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गध के तरह तरह के सामान अच्छे प्रमाण मे उपस्थित हैं।

नवीन बनावट का सजा हुआ बँगला है जिसके समीप हरा-भरा अच्छा बागीचा भी लगा हुआ है, आने जाने के लिये घोड़ा गाड़ी व बढ़िया कार तैयार रहती है। शहर में कई दूकानें व प्रेस निजी हैं धीरे-धीरे बदल-बदल कर कई विभागों में नौकरी करके देख ली गई है, अब अन्त में एक बड़े कालेज के प्रिन्सपल पद से छुट्टी ले रक्खी है। अर्थात् बाह्य सम्पन्नता सभी प्रकार से नृत्य कर रही है, किन्तु हृदय में एक विचित्र प्रकार का अभाव है कुछ निराली माँग है; कुछ अनोखी खोज है, मन छटपटाया हुआ तथा जीवन भार सा हो रहा है। बुद्धि में बारम्बार यह आता है कि सभी कुछ करके देख लिया किन्तु दुःख दूर नहीं हुआ। यद्यपि उन्हें देखने व मिलने वाले सज्जन इनको पूर्ण सुखी बताते हैं, किन्तु बाबू जी आज कल दिन खाने व सोने तथा रात्रि सुबकने में बिताते हैं।

यह समस्या सुलझ नहीं रही है अतएव मसूरी चल कर ही कुछ दिन व्यतीत करें ऐसा निश्चयकर नौकर व महाराज से संकेत किया और आवश्यकीय सामान सहित आप आकर बैठ गये प्लेटफार्म पर लगी हुई यहीं से चलने वाली बोगी के सेकिन्ड क्लास में। साथ ही पास के डिब्बे में एक संत जी को लगभग उनके साथ में दस सज्जनों सहित बैठते देखा। संत जी त्यागी, और सभी व्यक्ति अच्छे घर के समझदार पढ़े लिखे ज्ञात हो रहे थे। बाबू जी आज तक साधु भेष को महा निकम्मा व धूर्तपन की वस्तु समझते आये हैं इसी लिए मन में रह-रह कर प्रश्न उठ आता कि यह सभी अच्छे व्यक्ति इस साधु के समीप बैठे हुए बड़े प्रेम से वार्तालाप करते तथा उनकी बड़ी श्रद्धा व प्रसन्नता से जल फलादि द्वारा सेवा कर रहे हैं, क्या ऐसे गेरुवे वस्त्र वालों से भी प्रेम व्यवहार करना बुद्धिमानी है? फिर मन में लगे कहने कि यह साधु इन्हीं के कुटुम्ब का होगा इसी लिए ममता के कारण ऐसा व्यवहार किया जा रहा है फिर भी मन नहीं माना तो उन्हीं दस में से एक व्यक्ति को संकेत कर अपने पास बुलाया और लगे कहने बातें अंग्रेजी में। उस वार्तालाप का यह फल हुआ कि हृदय में साधु के प्रति आदरभाव व विश्वास उत्पन्न हुआ और यह भी ज्ञात हो गया कि यह सभी व्यक्ति कुछ समय के लिए संत जी के साथ सतसंग, भजन व एकान्त साधन करने के अभिप्राय से ऋषीकेश जा रहे हैं। तथा अभी उस सत्संगी युवक से यह भी समझा था कि—

सरदातप निशि शशि अप हरई।
संत दरश जिमि पातक टरई॥
"तेहि दरश परश समागम दिहि राग राशि नसाइये"

अतएव कुछ फलादि लेकर पहुँच गये सन्त जी के पास और प्रेम से फल रख दिये उनके सामने तथा झुक कर सीट के ऊपर बिछे आसन पर बैठे सन्त जी को चरण पकड़ कर प्रणाम किया।

हाथों से चरणों का स्पर्श होना था कि संत जी के मुँह से आनन्दमय गंभीर ॐ उच्चार हुआ तथा सन्त जी ने अपनी ज्ञान विकासिनी, प्रेमप्रकाशिनी एवं अज्ञान विनाशनी दृष्टि से बाबू जी की ओर देखा। हाथों का स्पर्श, तेजस्वी गभीर ॐ नाद तथा शान्ति स्वरूपणी दृष्टि इन तीनों के एकीभूत होने से एक विचित्र सतोमयी महाशक्ति स[illegible]मित हो बाबू जी के हृदय स्थल पर शान्ति का अनुभव कराने वाली बनी। इधर गाड़ी का इंजन जुड़ गया है चलने का समय है ऐसा समझ कर सभी लोगों ने बाबू जी से उनके स्थान पर जाने के लिए संकेत किया, अब वह अपने स्थान पर पहुँच कर विचार करने लगे कि संत जी के इस संग से ही कुछ शान्ति मिली अब सभी के साथ ऋषीकेश ही जाना लाभदायक होगा।

विचार द्वारा भोग स्थल के [illegible] से पथ

मुडा और योग स्थल मे पहुँचने का मार्ग जुड़ा तथा पहुँच भी गये बड़े आराम से सभी के साथ दूसरे दिन ऋषिकेश। वहाँ रहने का अच्छा प्रबन्ध भी हो गया। सत्संग के अतिरिक्त सभी व्यक्ति जिज्ञासु भाव से कभी कभी सन्त जी से पूछने लग जाते हैं ऐसा समझ कर बाबू जी अपने अशान्त जीवन के सम्बन्ध में सन्त जी से बाबा जी कह कर वार्तालाप करने लगे।

बाबू जी—श्री बाबा जी! यद्यपि हमारे पास सभी प्रकार की वस्तुयें अच्छे प्रमाण में हैं फिर भी हम हृदय से महान दुःखी हैं?

बाबा जी—हाँ ठीक है "दुःखी सदा को ? विषयानुरागी"।

बाबू जी—भगवन्! मैं समझ नहीं सका। कुछ साधारण रूप मे समझाने की दया करें?

बाबा जी—विषयों से अनुराग करने वाला प्राणी सदैव ही दुखी रहता है।

बाबू जी—प्रभो! विषय किसे कहते हैं तथा उनसे अनुराग कैसे हो जाता है?

बाबा जी—प्रेमात्मन्! जहाँ तक मन व इन्द्रियों की पहुँच है वह सब माया है यथा.—

गो गोचर जहँ लग मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥

जो असत्, व जड है वह दुःख रूप है तथा परमात्मा सत् चिद् व आनन्द रूप है। माया को १ शब्द २ स्पर्श ३ रूप ४ रस ५ गंध पाँच प्रकार का कहा जाता है— अर्थात् यह नाम रूप वाला जगत् क्षणभंगुर व दुःख रूप है। जिसमे जो शब्द के पदार्थ हैं उनको मन श्रवणेन्द्रिय द्वारा २ स्पर्श के समान को त्वचा द्वारा, ३ रूप की वस्तुओं को नेत्रों द्वारा ४ रस की सामिग्री को जिह्वा द्वारा और ५ गंध की चीजों को नासिका के द्वारा भोगता है और उनके भले या बुरेपन अथवा सुख या दुःख के रस की अनुभूति करता है, किन्तु यह विचित्रता है कि मन जिस वस्तु से आज सुख का रस अनुभव करता है दूसरे समय मे उसी वस्तु से दुखी होने लगता है। फिर यदि यह सुख का रस समझता है तो उस सुख का स्वाद उस वस्तु से राग तथा उस वस्तु को उसी प्रकार रक्षणीय या उस से विशेष रूप मे होने की इच्छा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार दुःखका रस उस वस्तु से द्वेष तथा उस वस्तु को त्यागने या नष्ट हो जाने की इच्छा उत्पन्न करता है। इस प्रकार राग व द्वेष से दुःखी होता है। वास्तव मे यह पञ्च भौतिक विषय-पदार्थ क्षण भंगुर व सीमित हैं, इसी लिये इनसे प्रतीत होने वाला सुख भी परिवर्तनशील होता है जो मिलता सा ज्ञात होता है, किन्तु हृदय-कोष मे उसका पता नहीं चलता कि कहाँ चला गया? जिस प्रकार बाजीगरी का रुपया चाँदी का सच्चा समझ पड़ता है पर थोड़ी ही देर मे अदृश्य हो जाता है, इसी भाँति मायिक सुख से तृप्ति तो हो नहीं पाती किन्तु भ्रम से विषयों मे सुख समझने से मन मे उस विषय-सुख की लिप्सा बढ़ती जाती है जो (लिप्सा) भविष्य मे उस विषय की अप्राप्ति या अभाव के अवसर पर उसकी सुधि दिला-दिलाकर रुलाती है, फिर इन मायिक पदार्थों के योग (अप्राप्ति की प्राप्ति) व क्षेम (प्राप्ति की रक्षा) में बड़ा ही कष्ट होता है, जब कभी एकत्रित किये हुये सामान नष्ट हो जाते हैं तब भी दुःख होता है।

विषय नाम भी इनके काम (गुण) के अनुरूप ही है। विषय अर्थात् विष+य (य+विष) यह विष हैं। इस विषय-रूपी विष का अनुरागी प्राणी चौरासी लाख बार जन्मा मरा किया करता है, साधारण विष का सेवन करने वाला एक बार ही मरता है देखो न.—

दो०—एक एक इन्द्रिय विषय, लोलुप मीन मतंग।
मारे जात अनाथ सम, भृङ्ग कुरंग पतंग॥

अर्थात्—मछली जिह्वा की २ हाथी स्पर्श की ३ भ्रमर (भौंरा) गंध की ४ हिरन शब्द की ५ पतंग रूप की लोलुपता के कारण बाँधे व मारे जाते हैं, तब फिर पंच विषयों का अनुरागी मानव किस प्रकार सुखी हो सकता है। इसी लिये तो जगन्नियन्ता सर्वेश्वर कृष्ण ने अठारह अक्षौहिणी के बीच में उच्च स्वर से घोषणा कर दी कि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं वे सब दुःख के हेतु हैं, बुद्धिमान पुरुष उनमें रमते नहीं हैं। हाँ आसक्ति रहित काम निकाल लेना दूसरी बात है इसी प्रकार प्रातः स्मरणीय श्री गोस्वामी तुलसी दास जी भी संकेत कर रहे हैं कि—

नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं॥
यहि तनु कर फल, विषय न भाई।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुख दाई॥
देह धरे कर यह फल भाई।
भजिय राम सब काम विहाई॥

अर्थात्—मानव-शरीर विषयों की उपलब्धि व उनके भोगने के लिये नहीं है, विषय सुख के लिये तो एक कम चौरासी लाख योनियाँ हैं उन योनियों में विषय सुख बड़ी सरलता व स्वतन्त्रता से उपलब्ध हो रहे हैं। देखो जैसा सुख एक राजा को सजी धजी रानी के स्पर्श में है वैसा ही कुत्ते को एक खजुही (खाज वाली) कुतिया के स्पर्श में होता है, किन्तु राजा को भरण पोषण का भार तथा समय आदि का प्रतिबन्ध है पर कुत्ते को कुतिया का भार आदि कुछ भी नहीं, ऐसे ही जितना सुख किसी अमीर पुरुष को पूड़ी हलवा मिठाई आदि के भोजन में है उतना ही शूकर को विष्ठा में मिलता है। यद्यपि अमीर को भोजन बनाने व रक्षा करने में कष्ट है किन्तु शूकर को कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जितना सुख किसी सेठ को निवाड़ के मुलायम गद्दे वाले पलंग पर सोने में हैं उतना ही गधे को धूल व कीचड़ में लेटने पर है। अर्थात् पुरुष को विषयों के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, तथा अन्य योनि वालों को यों ही सुलभ हैं। इसी लिये एक कम चौरासी लाख *योनियाँ भोग योनियाँ कही जाती है किन्तु पुरुष* शरीर योग योनि है (साधन धाम मोक्ष का द्वार) अतएव इस मानव देह द्वारा तो योगी बनना है, क्योंकि निरतिशय आनन्द स्वरूप सच्चिदानन्द से यह वियोगी और विषयों का भोगी रहा है इसी लिये विषयातीत अपने पूर्ण श्रेष्ठ शाश्वत परमानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द की सतत स्वाभाविक अभिलाषा है। पुरुष सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र व विषयों की प्राप्ति के लिये परतन्त्र है क्योंकि विषय पदार्थों की प्राप्ति व उनकी रक्षा तथा उनका सेवन (भोग) मन व इन्द्रियों द्वारा होता है, वह भोग के पदार्थ व इन्द्रियाँ उससे कभी भी प्रबल शक्ति द्वारा छीने या नष्ट कर दिये जा सकते हैं, किन्तु परमात्मा अक्षय व आनन्द स्वरूप हर देश, काल, व वस्तु में सदैव सर्वत्र ही एक रस विद्यमान है जिसका न किसी प्रकार अभाव होता है न किया ही जा सकता है, इसी लिये हर अवस्था व हर स्थान में उसे श्रेष्ठ व सूक्ष्म बुद्धि द्वारा अनुभव गम्य कहा गया है बल्कि उसकी तो कंठ में पड़े उसे भूले हुए माला की भाँति प्राप्ति है, हाँ आवश्यकता है अति सूक्ष्म व श्रेष्ठ बुद्धि तथा मन व इन्द्रियों के नियमन करने की:—

सन्तजी ने इतना कहकर विराम किया। बाबूजी विषयों के द्वारा दुःख की निवृत्ति न होने के कारण उनसे ऊब गये थे जिससे उनका हृदय जिज्ञासु बन रहा था। अतएव उन्होंने भली भाँति समझ लिया

कि "दु:खी सदा को ? विषयानुरागी" तथा उन्हें यह भी ज्ञान हो गया कि "शेते सुख कस्तु ? समाधिनिष्ठ" अर्थात् वास्तव मे सुख से कौन सोता है जो परमात्माके रूप में स्थित है। अतएव बुद्धि के विवेक से मन व इन्द्रियों के निग्रह का साधन आरम्भ कर दिया किन्तु बारम्बार उपाय करने व समझाने पर भी मन स्थिर न होता था, पुराने अभ्यासानुसार विषयों का चिन्तन करने ही लग जाता तब अपने को धिक्कारते व दुःखी भी हो जाते। कुछ समय के बाद फिर प्रश्न करने लगे।

बाबू जी:—सत्यपथ प्रदर्शक गुरुदेव ! आपकी आज्ञानुसार विवेकादि साधन करता हूँ किन्तु मन व इन्द्रियों की प्रबलता अब समझ पड़ रही है, यह स्थिर नहीं हो रही हैं। इस साधन मे तो विषय पदार्थों के योग-क्षेम से भी अधिक कष्ट प्रतीत होता है।

बाबाजी—मेरे प्रेमात्मन् ? ज्ञान, उपासना व कर्म इन तीनों से बनी हुई यह साधना रूप बड़ी ही उत्तम व दिव्य रसायन है, जिसको आदर युक्त, निरन्तर दीर्घकाल तक सेवन करने से आवरण विक्षेप व मल रोग की निवृत्ति हो जाने पर स्वयं निखिल रसामृत स्वरूप पर रह जावेगा। अर्थात् श्रद्धा व विश्वास युक्त इसका सेवन करने से तुम अपने को 'अहरहित' शाश्वत दिव्य आनन्द स्वरूप में परिणित पावोगे। यह जीते जी मर जाना है और मरकर अमृत स्वरूप से नित्य सर्वत्र रहना है। पुराना अशुद्ध अभ्यास दीर्घकाल का है और नया अभ्यास अभी निर्बल है, जब नया अभ्यास दृढ़ता पकडेगा तब फल दृष्टिगोचर होगा। देखो न ? क्षुद्र विषयों की पूर्ति के लिये पढ़ने मे कितना त्याग व अभ्यास तथा परिश्रम करना पड़ा फिर अनन्त शाश्वत सुख के साधनाभ्यास मे कितना समय लगा पाये हो, हाँ प्रथमावस्था मे इस में भी कष्ट प्रतीत होता है, विवेक द्वारा "मैं देह हूँ" को बदलना मनोभावों को परमात्म-तत्त्व के सम्मुख करना, तथा भोजन, भेष, संग आदि को सतोगुणी बनाना व शरीर व धनादि को सेवा मे लगाना, कोई बच्चो का खेल नहीं है। यह बड़ी शूरता का काम है, यही तो साधु का कोर्स है, धैर्य का मार्ग है। यह साधना का कष्ट चौरासीलाख व यम यातना के कष्ट को समाप्त कर स्वयं भी विलीन ऐसे हो जावेगा जैसे सर्दी से दुःखी पुरुष को अग्नि व लकड़ी के लाने व जलाने मे पहिले सिमटे बैठे हुये से कष्ट अधिक बढ़ जाता है किन्तु अग्नि जल चलने पर सभी सर्दी का कष्ट समाप्त हो जाता है।

बाबूजी सेवा व सत्संग करते, कभी सभी के साथ रहते, कभी एकान्त मे जा रमते, इस प्रकार अभ्यास मे सदैव ही निरत रहते अन्त में एक दिन श्री सन्तजी के समीप आकर बोले !

बाबूजी:— निष्केवली भाव में सर्वात्मन ! पहिले कुछ समय तो कष्ट सा रहा किन्तु अब आपकी असीम अनुपम अनुकम्पा मे यह आनन्दात्म-स्फुरण दिव्य स्वर्गीय सुख सदृश आनन्द मयी तरुण तुर्या की गोद में मोद से रम रहा है तथा आपका वह प्रथम वाला बाबू अदृश्य हैं।

ॐ शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

चार वेद छः शास्त्र में बात मिली हैं दोय।

दुख दीने दुख होत है सुख दीने सुख होय॥

सुख कैसे मिले ?

(श्री स्वामी रामसुखदास जी)

जो मन-इन्द्रियों को अनुकूल मालूम देता है वह सुख और जो प्रतिकूल मालूम देता है, वह दुःख है। यह है सुख दुःखकी साधारण परिभाषा।

हम सोचते हैं कि हमें रोटी, कपड़ा, स्त्री, मकान, सवारी, जमीन, खेत, न्याय, विद्या, औषधि आदि वस्तुएँ सस्ती और पुष्कलमात्रा में प्राप्त हो जायँ तो हम सुखी हो जायँ। किन्तु विचारिये, जिसके पास उक्त पदार्थ प्रचुर मात्रा में हैं, क्या वह वास्तव में सुखी है ? कदापि नहीं। क्योंकि पदार्थों के बढ़ने से उनकी लालसा बढ़ती है और वस्तुओं की लालसा ही सम्पूर्ण पापों और दुःखों की कारण है। गीता में अर्जुन ने भगवान् से जब पापों का हेतु पूछा तब भगवान ने पापाचरण का हेतु काम (लालसा) को बतलाया है। तथा दुःख का कारण भी लालसा ही है। कैद में, नरकादि मे या जहाँ-कहीं भी कोई दुखी देखने में आते हैं, उन सबके दुःखों के कारण पूर्व में किये हुए पाप या वर्तमान में पदार्थों की लालसा ही है। पर लालसा (चाह) करने से पदार्थ मिलते भी नहीं। संसारी लोग भी चाहने वाले को नहीं देते, बल्कि जो नहीं लेना चाहता, उसे लोग आग्रह और प्रसन्नता पूर्वक देना चाहते हैं। किसी व्यक्ति को यदि सम्पूर्ण ससार की उपर्युक्त सभी चीजें मिल जायँ तब भी उनसे तृप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत उसकी लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी—'*जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।*' इस लालसा के बढ़ाने का अर्थ यही है कि आपको अपने में कमी का अनुभव है; और जब तक अपने में कमी का अनुभव होगा तब तक सुख हो ही कैसे सकता है, प्रत्युत दुःख ही बढ़ेगा।

जरा गम्भीरता से सोचेंगे तो आप को मालूम हो जायगा कि पदार्थों के मिलने से सुख नहीं होगा, वरन् पदार्थ मिलने से दुःख की कारण इच्छा (चाह) और बढ़ेगी। कहा भी है—

> यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
> नालमेकस्य तृप्त्यर्थमिति मत्वा शमं व्रजेत् ॥
> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

'पृथ्वी में जितने भी धान्य-चावल, जौं गेहूँ, सुवर्ण, पशु और स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब मिलकर एक मनुष्य की तृप्ति के लिये भी पर्याप्त नहीं है, ऐसा मानकर तृष्णा का शमन करे। क्योंकि विषय-पदार्थों के उपभोग से कामना कभी शान्त नहीं होती, बल्कि जैसे घी की आहुति डालने पर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोग-वासना भी भोगों से प्रबल हो जाती है।'

सभी मनुष्य चाहते तो सुख को ही हैं परन्तु सुख की सामिग्री इस संसार की वस्तुओं को ही समझते हैं, इसलिये इन्हीं को प्राप्त करना चाहते हैं। आज पृथ्वी पर ढाई अरब मनुष्य माने जाते हैं, उनमें से प्रत्येक व्यक्ति को ससार की समस्त वस्तुयें कैसे मिल सकती हैं, क्योंकि वस्तुओं पर सभी का हक है एवं वस्तुयें सब मिलकर सीमित हैं और उनके चाहने वाले हैं बहुत अधिक। जब एक को भी पूरी नहीं मिल सकती तब प्रत्येक को सभी वस्तुयें पूरी कैसे मिलें? मान लो, यदि सभी को मिल भी जायें तब भी इन वस्तुओं से सुख होना सम्भव नहीं। क्योंकि चेतन जीव को केवल चिन्मयता से ही शांति मिल सकती है, जड़ वस्तुओं से नहीं। यदि इनसे सुख होता है ऐसा मान भी लें तो भी जड़ वस्तुयें तो प्रतिक्षण परिवर्तनशील और नाशवान् हैं तथा जीव नित्य और अविनाशी है। अत एक बार मिलकर

भी इन दोनों का नित्य संयोग कैसे रह सकता है।

तो फिर सुख कैसे मिले, सुख का उपाय क्या है? सुख का उपाय है—चिन्मय परमात्मा की प्राप्ति का लक्ष्य तथा धर्म व न्याय का आचरण। अभिप्राय यह है कि जब हमारे आचरण धर्मयुक्त होंगे और जब हम न्याय से प्राप्त अपने हक के अतिरिक्त और ग्रहण नहीं करेंगे, तभी असली सुख की उपलब्धि हो सकेगी। यह होगी त्याग और उदारता आने से। जिन वस्तुओं को हम सुख देनेवाली समझते हैं, उनको जब हम सभी त्याग और उदारता के भाव से एक दूसरे को देना चाहेंगे, और लेना नहीं चाहेंगे, तब उन वस्तुओं की स्वतः ही बहुतायत हो जायगी और लेने वाले हो जायगे कम। उस समय हमारी उदारता के फल स्वरूप दैवी शक्ति भी पूरा काम करेगी, जिससे वस्तुओं का उत्पादन भी अधिक होगा। इस प्रकार सर्वत्र सुख का ही साम्राज्य छा जायगा।

त्याग और उदारता की भावना से हमारा मन ज्यों-ज्यों जड़ पदार्थों की तरफ से हटेगा, त्यों-त्यों वह चेतन परमात्मा की तरफ लगेगा। जड़ की ओर से दृष्टि हटते ही चेतन की ओर स्वत. ही होगी। तब उसकी जो यह मूल धारणा थी कि इन पदार्थों मे सुख है, वह मिट जायगी। तथा वह चेतन परमात्मा बोधस्वरूप और आनन्द स्वरूप है, उसकी ओर लक्ष्य दृढ़ हो जाने पर जीव स्वय ही ज्ञानवान् और आनन्द स्वरूप हो जायगा। फिर तो ऐसे पुरुष के दर्शन, भाषण और स्पर्श से दूसरे जीवों को भी सुख पहुँचेगा, वह स्वय महान सुखी है, इसमे तो कहना ही क्या है? जो अपने स्वार्थ का त्याग करके जनता का हित चाहता है और बदले में किसी भी जड़ चीज को लेना नहीं चाहता, वही असली सुखी है।

कुछ भाइयों की यह धारणा है कि धनी आदमियों के पास जो धन है, उसे लेकर अभाव ग्रस्तों को वितीर्ण कर दिया जाय तो सब सुखी हो जायँ किन्तु सोचना चाहिए कि धनी आदमियों को जिस जाति का सुख प्राप्त है, वह तो दुःख वाला (दुःख युक्त) ही सुख है, जिससे वह रात दिन जलते रहते है, उन्हें कभी शान्ति नहीं मिलती। अतः उनसे जो सुख मिलेगा, वह तो उसी जाति का सुख मिलेगा, जो कि दुःख पूर्ण है। जिससे धन छीना जायगा उसे तो महान् कष्ट होगा ही, उसे कष्ट देकर लेने से लेने वाले को भी सुख कैसे होगा, जलन ही होगी, तथा वह धन जहाँ जायगा, जिसे दिया जायगा उसे भी दुःख अशान्ति और जलन ही प्राप्त होगी।

यह सिद्धान्त है कि देने वाला दे ही दे, और लेने वाला सेवक, प्रचारक लेना ही न चाहे। इससे देने वाले को तो उदारता पैदा होकर प्रसन्नता होगी और देने वाले की प्रसन्नता से लेने वाले को भी त्याग पूर्वक लेने से आनन्द आयेगा। तभी सबको सुख मिलेगा और तभी सबके हृदय के भाव उदार होंगे। क्योंकि सुख वस्तुओं मे नहीं हैं, सुख है हृदय की उदारता मे। शास्त्र का वचन है:—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्य महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलाम्॥

'संसार मे जो भी कामोपभोग का सुख है तथा जो दिव्य महान् सुख है—ये दोनों ही तृष्णानाश से होने वाले सुख के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं।'

किसी कवि ने भी क्या ही सुन्दर कहा है:—

चाह गयी चिन्ता मिटी मनुआ बे परवाह।
जिसको कछू न चाहिये सोई शाहन्शाह॥

अतः यह बात सिद्ध हो गयी कि पदार्थों के अभाव मे दुःख नहीं है दुःख पदार्थों के अभाव के अनुभव मे। मान लीजिये, एक आदमी एकादशी को निराहारव्रत किया और और एक दूसरे आदमी को उस दिन कुछ भी उपार्जन न होने से निराहार

ही रहना पड़ा। इन दोनों को ही अनादि पदार्थों का अभाव है, किन्तु एक प्रसन्नता पूर्वक व्रत रखकर सुखी होता है, और दूसरा पेट मे अन्न न पहुँचने से दुःख का अनुभव करता है। अतः अभाव का अनुभव ही दुःख है। यदि अभाव मे ही दुःख हो तब तो विरक्त साधु सन्यासियों को भी दुःख होना चाहिये क्योंकि उनके पास न तो स्त्री है, न धन है, न मकान है, न कपड़े हैं, न सवारी है और न पहले से किया हुआ उदरपूर्ति के लिये इन्तजाम है। किन्तु इन सब के न रहते हुये भी वे सब बड़े सुखी हैं। क्योंकि उनके पास जाकर बड़े-बड़े महाराजा और धनी भी अपने अन्त करण की जलन मिटाकर सुखी होते हैं। इसका कारण यह है कि वे पदार्थों के अभाव में भी नित्य भावरूप सच्चिदानन्द परमात्मा की अनुभूति करके मस्त रहते हैं। वास्तव मे अभाव का अनुभव होता है मूर्खता से। इसलिये चाहे कितना ही अभाव क्यों न हो, मनुष्य को अभाव का अनुभव न करके नित्य भावरूप परमात्मा का चिन्तन करना चाहिये। जो पदार्थों के न होने से या उनकी कमी होने से अभाव या कमी का अनुभव नहीं करेगा, वह भगवान् के मङ्गल विधान के अनुसार आये हुये दुःख मे दुखी नहीं होगा, प्रत्युत उसमें अपने पूर्वकृत पापों का नाश और भगवान् की कृपा समझकर सुखी ही होगा।

जो धन को मूल्य देकर रोटी कपड़े आदि पदार्थों से सुख पाना चाहते हैं, वह भूल करता है। जड़ को मूल्य देने से अधर्म होगा और अधर्म का आचरण होने से सुख कभी न हुआ और न होगा ही। इसके विपरीत, यदि सत्य चेतन और अक्षय सुख के भण्डार भगवान् को मूल्य देकर उनके द्वारा (भगवान् के भावों के प्रचार द्वारा) सुख पाना चाहेंगे, तो सदा के लिये सुखकी प्राप्ति हो जायगी।

इसलिये हमें परमात्मा की प्राप्ति का ही लक्ष्य बनाना चाहिये। तथा सांसारिक पदार्थों से सदा ही विरक्त रहना और उनकी लालसा को मनमें आने ही नहीं देना चाहिये। एवं तत्परता से परमात्मा के चिन्तन में लग जाना चाहिये और परमात्मा के चिन्तन में सहायक सत् शास्त्रों का अध्ययन, संत-महात्माओं का सङ्ग, परमात्मा से स्तुति-प्रार्थना तथा निरन्तर नाम का जप निष्काम-भाव-पूर्वक करना चाहिये।

कलियुग में तो केवल परमात्मा के नाम के जप को जो गुप्तरूप से, निष्काम-भाव-पूर्वक, निरन्तर, ध्यानसहित, आनन्द और आदर से करता है, उसे परमानन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति शीघ्र और सहज ही हो जाती है:—

गुप्त अकाम निरन्तर, ध्यान-सहित सानन्द।
आदर युत जप से तुरत, पावत परमानन्द॥

धर्म का सार

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवाप्यधार्यताम्, आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

धर्म का सार सुनो, और उसको धारण करके अपना दुःख निवृत्त करो। सार यह है कि—"जो अपने को प्रतिकूल लगे वह आचरण दूसरों के प्रति कदापि नहीं करना चाहिये।

भक्ति भाव से दुःख की हानि

(श्री मञ्जुल जी)

सब दुःख निवारण की सुनो एक कहानी।
होती है भक्ति भाव से सब दुःखों की हानी ॥

हरिपुर के थे गोविन्द श्री गोविन्द सनेही।
भगवान् को वे मानते थे मित्र एक ही ॥
दिन काटते दरिद्रता व दुःख मे सही।
सन्तोष था परन्तु वृत्ति भक्ति मे रही ॥
हरिमित्र के भजन मे न दिन रात थी जानी।
होती है भक्ति भाक से.... .... ॥१॥

अद्भुत कराल काल की गति वक्र है न्यारी।
उस देश में दुर्भिक्ष पड़ गया बड़ा भारी ॥
बिन अन्न त्राहि-त्राहि प्रजा कर उठी सारी।
मरने लगे भूखों सहस्रों नर तथा नारी ॥
फिर विप्र के घर के भी दुखी हो गये प्रानी।
होती है भक्ति भाव से .. .. ॥२॥

बच्चों ने तीन दिन से नहीं अन्न है पाया।
रो-रो के विप्रदेव को पत्नी ने सुनाया ॥
बिन अन्न नाथ कैसे रहे इनकी यह काया।
कर्तार बिन करेगा कौन, जाया पै, दाया ॥
दुखिया की सुनेगा भला कोई और क्यों बानी।
होती है भक्ति भाव से .. .. ॥३

यदि कोई आपका हो मित्र अन्य देश में।
तो देश छोड़ उनके पास चलें क्लेश में ॥
दिन दुख के निकल जायेंगे दुर्दिन विशेष मे।
भगवान् कभी लायेंगे सुख के सुवेष में ॥
अब शीघ्र चलो अन्यथा हैं प्राणों की हानी।
होती है भक्ति भाव से... .... ॥४॥

सुनकर तिया की बात विप्र मन में विचारे।
हरि के सिवा हैं कौन भला मित्र हमारे ॥
अच्छा है चलो दरस होगा इसके सहारे।
पत्नी ने कहा ठीक चलो मित्र के द्वारे ॥
वे मित्र हमारे हैं बड़े प्रेम के ज्ञानी।
होती है भक्ति भाव से .... ॥५॥

कह कर के चले विप्र पुत्र काँधे बिठाया।
पत्नी ने छोटे पुत्र को निज गोद उठाया ॥
प्रिय वृन्दावन की ओर ज्यों ही पैर बढ़ाया।
करने लगे फिर राह मे बहु मेघ भी छाया ॥
एक लालसा दरस की थी बस मन मे समानी।
होती है भक्ति भाव से ....॥६॥

दिन भर जो चले विप्र देव पैर बढ़ाके।
सध्या को रुके पत्नी बोली पति को सुनाके ॥
रोता है भूखा लाल खिलाऊँ क्या मै लाके।
बोले ये विप्र देंगे मित्र अन्न भी आके ॥
वे मित्र हमारे हैं बड़े प्रेम पयानी।
होती है भक्ति भाव से... .... ॥७॥

पत्नी ने कहा नाथ न अब देता दिखाई।
बिन अन्न के नैनों में अँधेरी सी है छाई ॥
मर गये तो मित्र करेंगे क्या सहाई।
मरने के बाद पाई सुधा काम क्या आई ॥
कैसे हैं मित्र कौन हैं वे कैसे हैं दानी।
होती है भक्ति भाव से .. ..॥८॥

भूखा कुटुम्ब विप्र का यह जान दुखारी।
ग्वाले के रूप धर के धाये बाँकेबिहारी ॥
पक्वान्न भोग स्वर्ण थाल भरके मुरारी।
ले आये विप्र पास बोले बात ये प्यारी ॥
जाते हो कहाँ कौन हो है क्यों परेशानी।
होती है भक्ति भाव मे .... ॥९॥

बोले ये विप्र हम हैं सभी काल के मारे।
बिन अन्न दुखी मित्र के द्वारे हैं सिधारे ॥
पूछा कहाँ पै मित्र जी रहते हैं तुम्हारे।
बोले वो वृदावन के बिहारी जी हैं प्यारे ॥
उनके है पास आस लगी मन मे समानी।
होती है भक्ति भाव से .... ॥१०॥

अच्छा तुम्ही क्या विप्र श्रीगोविन्द हो भाई ।
यह लो तुम्हारे मित्र ने भेजी है मिठाई ॥
तुम भूखे चले घर से उन्हें चैन न आई ।
हमसे मिठाई भेज कर यह बात कहाई ॥
हम अपना भोग थाल तुम्हें भेजूँ निशानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥११॥

इसको खिलाओ बालकों को आप भी खाओ ।
आनन्द मनाते हुए वृजधाम में आओ ॥
पूछें जो उसे मित्र मुझे अपना बताओ ।
पहचान मे ये स्वर्ण थाल मेरा दिखाओ ॥
हम हैं उन्हींके जो हैं, मेरे मित्र सुजानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१२॥

इतना जो कहके ग्वाल थाल छोड़ सिधाया ।
लख कर के प्रेम नीर विप्र नैन में छाया ॥
परिवार सहित विप्र ने फिर भोग लगाया ।
पाया प्रसाद मन मे था आनन्द समाया ॥
मित्राभिमानी विप्र कृपा मित्र की मानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१३॥

प्रात. जो पट खुले तो देखा थाल नहीं है ।
आपस मे पूछा थाल कहीं ख्याल नहीं है ॥
सोचो ये विहारी जी का क्या माल नहीं है ।
इसमे गलेगी कुछ किसी की दाल नहीं है ॥
बतलाओ शीघ्र जिसको है निज जान बचानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१४॥

थाने मे की रिपोर्ट गया चोरी स्वर्ण थाल ।
पायेगा वह इनाम जो पकड़ेगा साथ माल ॥
होने लगी थी ढूँढ खोज जाच थी तत्काल ।
अब तक न कोई जान सका था प्रभू की चाल ॥
लीला प्रभू की कैसे जाने अज्ञ हैं प्रानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१५॥

परिवार सहित विप्र उधर भोग लगाके ।
आनन्द सहित पाके चले हर्ष मनाके ॥
बस मित्र बिहारी की ओर ध्यान लगाके ।
चिथड़ों मे थाल बॉध चले पैर बढ़ाके ॥
निज मित्र निशानो की बड़ी बात बखानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१६॥

पहुँचे उसी समय वहाँ जब जाँच थी जारी ।
देखा ललाम व्रज मे धाम बाँकेविहारी ॥
मनमें मगन हो पत्नी से ये बात उचारी ।
देखो ये मित्र का है धाम स्वर्ग से भारी ॥
अविराम अश्रुधार प्रेम मग्न थी बानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१७॥

पीछे से किसी व्यक्ति ने ओ भिक्षु पुकारा ।
घूमा तो दौड़ा आता सिपाही को निहारा ॥
उसने पकड़ के चोर चोर कह के जो मारा ।
इसने चुराया थाल बना भिक्षु विचारा ॥
अब तो पड़ेगी तुमको हवा जेल की खानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१८॥

सब दौड़ दौड़ उसको लगे मार लगाने ।
तब विप्र लगे कृष्ण कृष्ण नाम को गाने ॥
पत्नी ने रोके दुःख से दिये मित्र को ताने ।
आते नहीं क्यों मित्र को अब मित्र बचाने ॥
कैसे हैं मित्र मित्र की जो पीर न जानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥१९॥

हाकिम ने पूछा तूने कहाँ थाल यह पाया ।
बोले ये विप्र मित्र निशानी में पठाया ॥
हैं बाँकेविहारी जी मित्र उनकी है दाया ।
सब बोल उठे चोर है ये थाल चुराया ॥
चोरी की सजा चाहिये अब इसको दिलानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥२०॥

कहकर यों ठूँसा जेल में बच्चे भी सगये ।
दिन भर की भूख मार से टूटे सुअग थे ॥
पर विप्र कृष्ण कृष्ण रटें अति उमग से ।
ये ढग देख जेल कर्मचारी दग थे ॥
पत्नी बिलख के रोई देख मार निशानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥२१॥

बोले ये विप्र मार नहीं प्यार है देवी ।
इस मार में भी यार का उपकार है देवी ॥
है यार का यह प्यार यादगार है देवी ।
उपहार भेजे यार सो स्वीकार है देवी ॥
इस प्रेम पथ की विचित्र है यह कहानी ।
होती है भक्ति भाव से ·········॥२२॥

गोविन्द वन्द जेल में निशि आगई स्वछन्द।
मंदिर के पुजारी ने किये शयन को पट वन्द॥
वेचैन विहारी जी थे लख मित्र के दुखद्वन्द।
हाकिम के पास स्वप्न मे पहुँचे श्रीकृष्णचन्द्र॥
वोले ये कान खोल सुनले वात गुमानी।
होती हैं भक्ति भाव से ....॥२३॥

तूने मेरे एक मित्र को है खूब सताया।
मारा है खूब जेल में तू बाँध के लाया॥
वह निरपराध है वो थाल मैंने पठाया।
वह मार मैंने तन पै ली मम दुख रही काया॥
कल उसको छोड़ वरना करूँ सर्व की हानी।
होती है भक्ति भाव से ....॥२४॥

हाकिम उठा घवराके देखा कुछ न दिखाया।
दिन का चरित्र रात्रि में अत्र जान वह पाया॥
नैनों में नीर भरके जेल ओर को धाया।
वाहर था घोर अँधकार रात्रि का छाया॥
झट जेल का फाटक खुला लखि बुद्धि भुलानी।
होती है भक्ति भाव से ....॥२५॥

इत पत्नी पुत्र सोये दिन मे दुख थे उठाये।
गोविन्द ध्यान लीन थे सुधि तन की भुलाये॥
आये प्रभू ज विप्र किन्तु जान न पाये।
खोले नयन तुरन्त तो प्रभू सामने पाये॥
आनन्द मे गोविन्द की मति मन्जु समानी।
होती है भक्ति भाव से ....॥२६॥

गोविन्द ने देखा कि मित्र सामने खड़े।
फैली प्रभा ज्यों कोटि सूर्य्य हों उदय बड़े॥
सुन्दर शरीर श्याम शिर मुकुट रतन जड़े।
सन्मुख खड़े हैं मित्र लखके विप्र पग पड़े॥
चरणों को धोये प्रेम अश्रु जल से वे ध्यानी।
होती है भक्ति भाव से ....॥२७॥

प्रेम में विभोर होके उन्हे पद से उठाये।
वोले हे मित्र तुमने दुःख हाय क्यों पाये॥
मेरे लिये ही दु:ख उठाते हुए आये।
हम भी तुम्हारी मार अपने तन पै हैं खाये॥
मति गति तुम्हारे हाथ ही अव मित्र विकानी।
होती है भक्ति भाव से ....॥२८॥

गोविन्द वोले नाथ अब तो हम हैं तुम्हारे।
आये भटक भटक के नाथ तेरे ही द्वारे॥
हरि वोले हम तुम्हारे हैं अव तुम हो हमारे।
मदिर मे भोग भाग मिले सुख तुम्हें सारे॥
यह कह के अन्तर्ध्यान हुए मित्र प्रमानी।
होती है भक्ति भाव से.........॥२९॥

पत्नी व पुत्र जोग नींद अपनी विसारी।
देखा कि हाकिम रोते आये संग पुजारी॥
पद पड़ के कहा कीजै क्षमा चूक हमारी।
तुम सॉचे हरि के मित्र कही वात विहारी॥
मंदिर मे सुख से रखना कही हमसे जवानी।
होती है भक्ति भाव से ....॥३०॥

कर जोर पुजारी ये कहैं वात सही है।
हमसे भी हरि ने स्वप्न मे ये वात कही है॥
अव तो रहो मंदिर मे मित्र की जो मही है।
सव वोले धन्य मित्र प्रेम सही यही है॥
सादर ले चले संग महिमा मित्र की जानी।
होता है भक्ति भाव से ....॥३१॥

परिवार सहित विप्र को मंदिर मे ही लाये।
सुन्दर सदन मे वास उन्हें आप दिलाये॥
मदिर के भोग राग मे दे भाग वसाये।
गोविन्द भी आनन्द के दिन खूब विताये॥
'मञ्जुल' मिले फल भुक्ति मुक्ति जो पढ़े प्रानी।
होता है भक्ति भाव से ....॥३२॥

यह चार मनुष्य कभी दुखी नहीं रहते

१—जो द्वार पर आये हुये अतिथि, साधू, ब्राह्मण तथा भिक्षुक को कभी तिरस्कार पूर्वक रीता नहीं लौटाता।

२—जो विना सन्ध्योपासन, तर्पण, वलिवैश्व किये हुये भोजन नहीं करता।

३—जो कष्ट सह कर भी दूसरों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करता है।

४ -जो गुरुजनों का आदर और छोटो से प्रेम करता है।

सुख दुःख का झमेला

(पूज्य श्री स्वामी एकाक्षरानन्द जी सरस्वती)

आज संसार में सुख दुःख का बड़ा झमेला है। कोई कहता है कि हमको धन प्राप्त हो जावे तो हम सुखी हो जावें, कोई कहता है कि यह धन ही हमारे दुःख का कारण है, यानी यह धन हमारे पास न होता तो हम सुखी हो जाते। कोई कहता है कि हमारी शादी (विवाह) हो जावे तो हम सुखी हो जावें और जिनकी शादी हो गई है वह कहते हैं कि मेरी स्त्री मर जावे, तो हम बेधड़क हो जावें, यानी कोई स्त्री बिना दुखी है तो कोई स्त्री के कारण दुखी हैं। कोई कहता है कि मूंग की दाल अच्छी है कोई कहता है अरे भाई मूंग की दाल तो मरीजों का खाना है उर्द की दाल बहुत बढ़िया होती है। कोई कहता है कि अरहर की दाल अच्छी है। कोई किसी को अच्छा कहता है कोई किसी को। जिसको पहिला बुरा कहता है दूसरा उसको अच्छा कहता है और दूसरा जिसको अच्छा कहता है पहिला उसको बुरा बताता है, दुःख का कारण बतलाता है। पिता, पुत्र व स्त्री को दुःख का कारण बतलाता है पुत्र माता-पिता को दुःख का कारण बतलाता है। इन सबके माने यह हुए कि वास्तव में न कोई किसी के दुःख कारण है और न कोई या कोई पदार्थ सुख कारण है। यह सब मेरी अज्ञान भरी कल्पना का कारण है क्योंकि यदि धन ही सुख का कारण होता तो आज तक धन से कोई तो सुखी हो गया होता किन्तु ऐसा आज तक नहीं हुआ। हाँ जिनके पास धन नहीं है वह अवश्य यह समझते हैं कि धन हमको मिल जावे तो हम सुखी हो जावें किन्तु उन्हीं को जब धन मिल जाता है तो वह धन ही के कारण दुःखी देखे गये हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि धन से सुख की आशा व्यर्थ है। यह उनका भ्रम है कि जो धन से सुख की आशा करते हैं। इसी प्रकार स्त्री से सुख प्राप्त होने पर विचार करना है क्या स्त्री सुख का हेतु कही जा सकती है। यदि स्त्री ही सुख की हेतु होती यानी स्त्री सुख स्वरूप होती तो हम समझते हैं कि स्त्री को स्वयं सुखी हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा न होकर स्त्री भी समझती है कि हमारे सुख का कारण पुरुष है। किन्तु न तो पुरुष स्त्री के सुख का कारण होता है और न स्त्री पुरुष के सुख का कारण होती है। यह केवल न प्राप्त होने तक की कल्पना है, जो सुख की व्यर्थ आशा से जीव को बाँधती है और प्राप्त होने पर वही दुःख का कारण होकर उससे छुटने की आशा कराती है। यदि वास्तव में संसार का कोई भी पदार्थ या कोई भी सम्बन्धी हमारे सुख का कारण होता तो आज तक संसार में उन पदार्थों से अथवा उन सम्बन्धियों से कोई भी तो सुखी हो गया होता। किन्तु आज तक ऐसा नहीं हुआ कि संसार में किसी भी पदार्थ से कोई भी सुखी हो गया हो तब यह निश्चय हुआ कि संसार का कोई भी पदार्थ हमारे दुःख सुख का कारण नहीं किन्तु हमारी कल्पना ही हमारे दुःख सुख का कारण है।

आज लोग पदार्थों को दुःख सुख का हेतु समझकर उसके त्याग और ग्रहण की इच्छा करते हैं। क्या स्वरूप से पदार्थों का त्याग या ग्रहण हो सकता है? क्या आँखों से देखना बन्द हो जाता है? या कानों से सुनना बन्द हो जाता या जिह्वा से रसा स्वाद बन्द हो जाता है? क्या मिर्च जिह्वा को कड़वी नहीं मालूम होती अथवा शक्कर क्या मीठी नहीं मालूम होती अथवा जिह्वा क्या भोगों का स्वरूप से त्याग कर सकती है? मालूम होता है कि इनका त्याग इनको स्वरूप से ही त्याग करने पर होगा। तब मैं एक बात यह अवश्य कहूँगा कि क्या विश्व में कोई ऐसा स्थान होगा जहाँ इन पांच प्रकार के विषयों में से कोई विषय उपस्थित न हो। तो आप यदि ठंढी तबियत से विचारेंगे तब आपको विदित हो जावेगा कि ऐसा स्थान तो कोई नहीं जहाँ यह विषय न हों। अब यदि मान भी लिया जावे कि कोई ऐसा स्थान हो भी तब भी तो आप विचारें कि इन पञ्च विषयों के बगैर क्या आप जीवित रह सकते हैं? यह पदार्थ तो जीवन का आधार ही हैं, क्या यह संसार के पदार्थ हमारे दुःख के लिये बनाये गये हैं? यह तो हमारी जीवन रक्षा के लिये ही भगवान् ने बनाये हैं, किन्तु बजाय जीवन रक्षा के जो हम ने इनको सुख का हेतु समझ लिया है यही हमारी भूल है। यही भूल दुःख का कारण होती है, जो न प्राप्त होने पर दुःखी और प्राप्त होने पर सुखी सा मालूम होता है। यदि इन पदार्थों में सुख की आकांक्षा न होती तो

वास्तव में हम दुःखी नहीं होते। इस आकांक्षा ने ही हमको दुःखी किया है किसी कवि ने कहा है कि:—

कान निरन्तर गान तान सुनिबो ही चाहत।
आँखें चाहति रूप रैन-दिन रहत सराहत॥
नासा इतर सुगन्ध चहति फूलन की माला।
त्वचा चहति सुख सेज संग कोमल-तन वाला॥
रसना हू चाहति रहति निति खाटे मीठे चरपरे।
इन पाँचन को प्रपञ्च ही भूपन को भिक्षुक करे॥

अतः सिद्धान्त यह निकला कि यह चाहना ही हमारे दुःखों का हेतु बन जाती है। यदि यह चाहना न होती तो हमको दुःख भी नहीं होता? इन की अप्राप्ति ही दुःख है। जिनको संसार में इन विषयों के प्राप्त करने की इच्छा नहीं है वह तो फिर सुख स्वरूप ही है।

चाह चमारी चूहरी सब नीचन में नीच।
तू तो पूरण ब्रह्म था जो चाह न होती बीच॥
चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये सोई शाहं शाह॥

अतएव जिनको किसी की इच्छा नहीं है वे ही सुखी हैं और जो संसारी पदार्थों से सुखी की इच्छा करते हैं या ऐसा उनको विश्वास है कि इन पदार्थों के प्राप्त हो जाने से हमारे दुःख की निवृत्ति हो जावेगी और हम सुखी हो जावेंगे, यही हमारे दुःख सुख का झमेला है जिसका कारण अज्ञान और अविचार है। इसको दूर करने के लिये ही सत्संग की आवश्यकता, अज्ञान के नष्ट करने और विचार धारा को जागृत करने में मुख्य कारण सत्संग ही है, क्यों कि बिना सत्सग के हमारी बुद्धि का वह परदा जो पूर्व के कल्मषों से बन गया है दूर नहीं हो सकता। यह परदा ही हमारे ज्ञान और विचार को ढक कर बुद्धि को अन्धा बना देता है, जैसे जब साँप पर केंचुली चढ़ जाती है तब उस को रास्ता नहीं दिखाई देता ठीक यही दशा आज के प्राणियोंकी हो गयी है। उन्हे वास्तविकता का पता लगता ही नहीं, वे जीवन भर सांसारिक पदार्थों से सुख प्राप्तकर लेने के झमेले में जीवन को व्यतीत कर देते हैं और अंत में जब किसी प्रकार भी अपने को सुखी नहीं कर पाते तब, जब इन्द्रियाँ बेकाबू हो जाती हैं—शरीर जर्जरी-भूत हो जाता है तब कहते हैं अब तो हम मर जावें तो सुखी हो जावें किन्तु यह भी भैया भ्रम ही है क्योंकि यदि तुम जीवन में सुखी नहीं हुये तो मरने पर कैसे सुखी हो सकते हो। हाँ बेहोशी और निद्रा में जैसे दुःख का अभाव सा हो जाता है ऐसे थोड़े समय के लिये चाहे भले ही दुःख दूर हुआ मालूम हो, किन्तु जहाँ बेहोशी या निद्रा दूर हुई वहीं फिर वैसा ही दुःख सामने आ जावेगा। इस लिये इस दुःख सुख के झमेले को यथावत समझकर इन विषयों से सुख की आशा हमें नहीं करनी चाहिये। यही जीवका पुरुषार्थ है इसी आशा ने इसको दीन व दुःखी बनाया है, इसी आशा से मनुष्य जन्म से जन्मान्तर तक ससार से बंधा रहकर आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है और घोर से घोर जो जन्म मरण का दुःख है उससे छुटकारा नहीं पाता अरे जन्मना तो वह अच्छा होता है जिसमें मरना न हो और मरना वह अच्छा है जिसपर जन्म न हो किन्तु ऐसा नहीं होता और वह सुख की आशा से ही बन्धा रहता है और उसे अपनी आशा—रूप ज दुःख की मूल है दिखाई नहीं पड़ती। इस प्रकार वह बराबर भटकता रहता है। वह एक पदार्थ से सुख की आशा करता है जब वह पदार्थ पूरा हुआ और सुखी नहीं हुआ तब दूसरे पदार्थ से सुख की इच्छा की। इसी प्रकार एक के बाद दूसरे पदार्थ की इच्छा करता हुआ व्यतीत कर देता है, जैसे किसी कवि ने कहा है:—

जा संसार में रे कोई सुखी नजर नहीं आता,
कोई दुखी धन बिना निर्धनी दीन वचन यूँ बोले।
भ्रमत फिरे परदेशन में नर धन की चाह में डोले॥ जा-
देश विदेश नौकरी करके धन तो बहुत कमायो।
किन्तु अनियमित भोग परिश्रम रोग ने आन दबायो॥जा-
तन निर्मल और धन बहुतेरा तो भी सुख को रोता।
पूजत फिरे कुदेवन को औ पुत्र न कोई होता॥ जा-
तन निर्मल धन पुत्र पाइके तो भी रहा दुखारी।
पुत्र नहीं आज्ञा को माने घरे कर्कसा नारी॥ जा-
तन धन पुत्र सुलक्षणनारी पुत्र है आज्ञाकारी।
तो भी दुखिया रहे जगत में भये न छत्तर धारी॥ जा-
चक्रपति और छत्रपति भये तो भी सुख को रोयें।
आशा तृष्णा घटी न उनकी परनारी पर मोहें॥ जा-

ऊपर के पद से आपको भली भांति विदित हो गया होगा, कि इस ससार के कोई भी पदार्थ हमारे सुख का कारण नहीं बल्कि सुख की आशा से दुःख मे बाँधने वाले हैं। अतः इस आशारूप झमेला को छोड़कर ही मनुष्य सुखी हो सकता है।

दुःखदलिनी दुर्गा

अक्षस्रकपरशुं गदेषु कुलिशं पद्मं धनुष्कुण्डिकां।
दण्डं शक्तिमसिं च चर्म जलजं घण्टा सुराभाजनम्॥
शूलंपाश सुदर्शनं च दधतीं हस्तै प्रसन्नाननाम्।
सेवे सैरिभमर्दिनीमिह महालक्ष्मीं सरोजस्थिताम्॥

अमरों के आहों से अन्तरिक्ष कराह उठा, महिषासुर के अत्याचार से समस्त देव पीड़ित थे, युद्ध में महिषासुर के दुर्द्धर्ष तेज से पराजित होकर गिरि कन्दराओं मे छिपकर भी देवगण उस असुरराज से छुटकारा न पा सके थे, वहाँ भी उस दुष्ट के राक्षस जा जाकर पकड़-पकड़कर मारते थे, कोई मार्ग न देखकर सभी देवता ब्रह्मा जी की शरण गये और बोले कि प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये महिषासुर ने इन्द्रासन छीन लिया है स्वर्ग का अधिपति बनकर हम सबको कष्ट दे रहा है, ब्रह्मा जी ने कहा—सुना तो हमने भी है पर हम कर ही क्या सकते हैं? किसी वेद-मन्त्र का अर्थ पूछते तो हम बता देते, लड़ने-भिड़ने का काम तो विष्णु और शंकर ही करने में समर्थ हैं, चलो हम लोग उन्हीं परम दयालु दुःखहारी की स्तुति करें। सभी देवताओं को साथ ले ब्रह्मा उस स्थान पर गये जहाँ विष्णु और शकर एक ही आसन पर विराजमान थे, सभी देवताओं ने गद्गद कण्ठ से भगवान् की स्तुति की और रोते-रोते अपना दुःख निवेदन किया, 'दुःखदायी महाबली महिषासुर का अत्याचार सुनकर भगवान् के अधर फड़कने लगे मुख लाल होगया, नेत्रों से अग्नि की ज्वाला निकलने लगी। उसी समय भगवान् चक्रपाणि श्रीविष्णु के मुख से महान् तेज प्रकट हुआ, तत्क्षण शंकर के भी शरीर से बड़ा भारी तेज निकला, फिर सभी देवताओं के शरीर से तेज निकल-निकल कर एकत्रित हो गया। वह तेज जाज्वलमान पर्वत सा प्रतीत होता था उसकी ज्वालायें दशो दिशाओं में व्याप्त थीं।

क्षणभर में वह तेज एक नारी के रूप में परिवर्तित हो गया, उस तेजोमयी शक्ति से समस्त लोक आलोकित हो उठे, परमसुन्दरी तरुण अवस्था वाली दुःखदलिनी देवी को देवताओं ने प्रणाम किया, देवी की आठ भुजायें थीं, कौशेय वस्त्र धारण किये थीं अनेक रत्नालंकारों से उनका स्निग्ध कोमल शरीर सुशोभित था, भयंकर सिंह पर सवार थी, मधुर मुस्कराती हुई देवों के दुःख दलन के लिये अपना वरदहस्त उठाये थी, सभी देवोंने "जगन्माँ दुर्गे की जय" कहकर महाघोष किया, तदन्तर सभी ने भगवती शक्ति देवी की पुष्पों, आभूषणों तथा अनेक सुगन्धित दिव्य पदार्थों से अभ्यर्चना की और उन्हें अपने समस्त शस्त्रास्त्र समर्पण किये। परशु पट्टिश चक्र धनुष त्रिशूल खड्ग कालदण्ड नागपाश आदि अनेक आयुधों से सुशोभित देवी ने महाभयकर गर्जना की, उनके सिंहनाद से सम्पूर्ण आकाश गूँज उठा विश्व में हलचल मच गई समुद्र काँप उठे पृथ्वी डोलने लगी और पर्वत हिल गये, देवों ने विजय दुन्दुभि बजाई दुखविनाशिनी माता दुर्गा दैत्यों का संहार करने चल पड़ी।

दैत्याधिप महिषासुर ने देवी की गर्जना सुनी वह भी अपनी अपार सेना लेकर समराङ्गण में आ गया, माँ दुर्गा भी वहाँ पहुंच चुकी थीं, असुरों ने दुर्गा को देखकर विकट अट्टहास किया 'खाओ खाओ' करके माता की ओर दौड़े। तीनों लोकों को अपने तेज से उद्भासित करने वाली देवी ने अन्तरिक्ष के अन्तर को विदीर्ण करने वाली हुंकार से सामने दौड़ते आते हुये राक्षसों को भस्म कर दिया। फिर क्या था सभी राक्षस अनेक शस्त्रास्त्र देवी पर फेंकने लगे।

देवी सहस्रों भुजाओं से सम्पूर्ण दिशाओं को आच्छादित करके खड़ी थीं, राक्षसों के प्रहार को वे क्षणमात्र में निष्फलकर देतीं थीं और अपने शस्त्रों के एक ही वार में हजारों दैत्योंको स्वर्ग भेज देतीं थीं, माता के शस्त्रास्त्रों की चमक से दिग्दिगन्त चमक उठते थे, चिक्षुर चामर, असिलोमा, वाष्कल, महाहनु आदि अनेक महाबली दैत्य अपनी सेना लेकर माता पर टूट पड़े और क्षणभर में ही माता के असह्य तेज में स्वाहा हो गये, शोणित की धारा बहने लगी, आहत दानवों की कराह से आकाशमण्डल सिहर उठा, भगवती परमेश्वरी उन्मत्त होकर राक्षसों पर अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा कर रहीं थीं, देवी का वाहन सिंह भी राक्षसों को मार मार कर उनका मांस खा रहा था। देवी ने क्रोध में भर कर जो निश्वास छोड़े उनसे अनेक गण पैदा होगये। वे भी नाच नाचकर राक्षसों को खाने लगे। ऊपर आकाश में देव किन्नर माता की स्तुति गाने लगे। देवी ने अपने जलते हुये त्रिशूल से हजारों महादैत्यों का संहार कर डाला, कितनों को अपने घण्टा और शंख की ध्वनि से मूर्छित किया, कितनों को नागपाश में बांध बांधकर घसीटा, कितनों के तीक्ष्ण खंग

से टुकड़े-टुकड़े कर दिये, जगदम्बा ने महिषासुर की असंख्य सेना को थोड़ी देर में ही नष्ट कर डाला। जैसे रुई के ढेर को अग्नि अल्प समय में ही भस्म कर देती है उसी प्रकार महाभयकरी देवी के पैने आयुधों से सभी दैत्यनष्ट हो गये। देवों ने जगदम्बा पर फूल बरसाये।

महिषासुर ने जब देखा कि हमारी महाबलवती चतुरङ्गिणी सेना क्षणभर में देवी ने विध्वंस करदी है तब वह स्वयं प्रलयकरी गर्जना करता हुआ समर भूमि में आया। भैंसे के रूप धारणकर वह देवी के गणों का संहार करने लगा। उस महाभयंकर दैत्यराज ने देवी के कितने गणों को थूथन से कितनों को वज्र सदृश खुरों से कितनों को पूँछकी चपेट से, कितनों को पैने सींगों से धराशायी कर दिया। वह महापराक्रमी दानव सींगों से बड़े-बड़े पर्वत उखाड़-उखाड़कर माता की ओर फेंकने लगा, आकाश में देवता भयभीत हो उठे। वह पृथ्वी को कँपाता हुआ समुद्र को क्षुब्ध करता हुआ बादलों को विदीर्ण करता हुआ जगदम्बा की ओर झपटा, मातेश्वरी ने अपनी ओर आते देख अपना तीक्ष्ण और कठोर त्रिशूल उस दुष्ट के मस्तक पर मारा। मस्तक पर लगते ही बड़ा भयंकर शब्द हुआ जिससे सभी दिशायें गूँज उठीं और त्रिशूल से स्फुलिंग निकलने लगे, चोट खाकर उस दुष्टने बड़े जोरसे नाद किया और अपना विशाल मुँह खोलकर देवी को निगलने दौड़ा उस समय उस भयकर राक्षस को देखकर प्रतीत होता था कि यह समस्त विश्वको निगल लेगा। जगदम्बा ने जब उसका यह रूप देखा तब बड़े वेग से हुङ्कार मारी जिससे वह राक्षस अर्ध मूर्च्छित हो गया, माता ने तत्क्षण ही अपने नागपाश में उसे बाँध लिया, बँधते ही उसने अपना भैंसा का रूप छोड़कर सिंह का स्वरूप धारण कर लिया और गर्जने लगा, माता ने तुरन्त अपने रक्तरञ्जित खड्ग से उसपर प्रहार किया, तत्क्षण उसने विशाल राक्षस का रूप धारण कर लिया और अनेक अस्त्रशस्त्र माता पर फेंकने लगा भगवती जगदम्बा ने भी अपनी बाण वर्षा करके उसका शरीर वेधडाला वह आकाश में उड़ने लगा माता भी उसके साथ ऊपर ही युद्ध करने लगीं उस घमासन युद्ध को देखकर देव किन्नर ऋषि मुनि सभी रोमाञ्चित हो गये, थोड़ी देर में माता ने उसे नीचे गिरा दिया, उसने महागजराज का रूप बना लिया और अपनी लम्बी सूँड से सिंह को पकड़कर खींचने लगा, माता ने उसकी सूँड परशु से काट दी, तब वह पुनः भैंसे के रूप मे आकर विश्व को कँपाने लगा, देवताओं ने स्तुति की कि हे महादेवी ! अब शीघ्र ही इस दुष्ट का संहार करिये अधिक खेल न खिलाइये, देवताओं का व्याकुलता देख कर जगदम्बा ने विकट अट्टहासकिया और मधु-पात्र से मधुपीने लगीं। महिषासुर अपने सींगों पर एक विशाल पर्वत उठाकर फेकने लगा और भयंकर गर्जनाकर बोला ऐ सुन्दरी नारी! अब तेरी मृत्यु आ गई, मैं तुझे अभी चबाता हूँ तेरा कोमल शरीर मेरे दाढ़ों के नीचे आयेगा, यह कह उसने पुनः महान अट्टहास किया। देवी का मुख मधुपीकर अरुण हो रहा था, आखों से अगारे बरस रहे थे, वे समुद्र के गम्भीर गर्जन के स्वरमें बोली—"अरे दुष्ट ठहर अब तू अधिक खेल चुका अभी तेरी सभी गर्जना बन्द हुई जाती है देवता लोग अभी विजय दुन्दुभि बजायेंगे" ऐसा कहकर दुर्गादेवी बड़ी जोर से उछलीं और भयंकर भैंसा रूप महिषासुर को दबोच लिये, उसने सींगों से देवी को उछालना चाहा पर अनन्त शक्ति महाभारवती भगवती को वह न हटा सका माता ने खड्ग से उसका सिर काट डाला सिर कटते ही धड़ से एक मनुष्य निकला जो तलवार लेकर माता से लड़ने लगा माता ने तुरन्त ही उसका भी सिर काट दिया महिषासुर निष्प्राण हो कर चीत्कार करके सदा के लिये शान्त हो गया। सभी देवताओं ने जगदम्बा पर पुष्प बरसाये, और अनेक प्रकार से स्तुति की माता ने प्रसन्न होकर कहा देवताओं वरदान माँगो, देवों ने कहा हे अम्बे आज तुमने समस्त विश्व के दुःखनिवारण कर दिये। दुःख के साक्षात् रूप महाराक्षस का सहार कर दिया अब हमें क्या चाहिये ? हाँ यदि आप प्रसन्न हैं तो यह वरदान कीजिये कि जो कोई भी आप के इस चरित्र को पढ़े या सुने उसके भी दुःखनिवारण हो जाँय। जगदम्बा ने तथास्तु कहकर मुस्करा दिया उनका वह सौम्य मुख सदैव सबके दुःख दूर करे। तदनन्तर "जो भी मेरा स्मरण करेगा उसके दुःख दूर करने को मैं वात्सल्यवश दौड़ी आऊँगी" ऐसा कहकर जगदम्बा अदृश्य हो गई।

(ह० शा०)

रुको नहीं और आगे बढ़ो

(स्वामी सदानन्द सरस्वती)

"रुको नहीं—और आगे बढ़ो" यह प्रकृति का खुला ढिंढ़ोरा है—अटल नियम है। अपूर्ण नहीं—पूर्ण हो जाओ, दुखी नहीं—सुखी हो जाओ, माता अपने युवराज को दुखी नहीं देख सकती—उसको सम्राटों के सम्राट परमपिता परमेश्वर से मिलाये विना चैन नहीं लेने देती। जब तक असमर्थ है—माता के आश्रय पर निर्भर है—तब तक वह स्वय आगे बढ़ाती है, जब समर्थ हुआ—बोधवान हुआ—स्वतन्त्रता दे देती है। "सीधे-सीधे चलते रहो—कहीं रुको नहीं—न पीछे आने का प्रयास करो" चोंटे मार के—डन्डे लगा के फिर आगे बढ़ायेगी। तुम फिक्र मत करो—बस आगे बढ़ते रहो मर्यादानुसार—तुम्हारी फिक्र मुझे तो है ही।"

गंगाजी जल-विन्दुओं को हिमालय से लाती है—मैदान मे पहुँचने तक ऊँचे-ऊँचे किनारों के मध्य मे दौड़ाती हुई आगे बढ़ाती है। मैदान मे आते ही कुछ स्वतन्त्रता देती है—किनारे नीचे कर लेती है। जो इस स्वतन्त्रता का सदुपयोग करके किनारों के बीच ही बीच बढ़ता जायगा—वह अपने निधान (लक्ष्य) महासागर की गोद मे पहुँच जायगा, परन्तु जो स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करेगा—स्वच्छन्द बन जायगा—उछल कूद मचाकर किनारे के बाहर कूद पड़ेगा तो खड्डे मे पड़ा-पड़ा सड़ेगा और भाप बनकर फिर वहीं हिमालय पर जाना पड़ेगा। और फिर बारम्बार वैसे ही चक्कर लगाते रहेगा, जब तक कि महासागर मे मिल न जाय। ठीक इसी प्रकार यह जीव पेड़-पौधे की योनि से कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि योनियों में विकास पाते हुए प्रकृति-माता के द्वारा मनुष्य-योनि मे पहुँचा दिया जाता है।

आप प्रश्न करेंगे—कैसे ?

देखिये! पेड़-पौधे आदि उद्भिज योनि में यह जीव सुषुप्ति अवस्था मे होता है—खाना-पीना करता है, बढ़ता है, फूलता है फलता है अर्थात् केवल अन्नमय कोष का ही विकास होता है। प्रकृति माता ने विकास किया—जूँ-खटमल आदि स्वेदज योनि मे पहुँचा दिया। यहाँ जीव स्वप्नावस्था मे होता है। इस योनि मे खाने-पीने के साथ-साथ श्वासोच्छ्वास की क्रिया भी होने लगी अर्थात् अन्नमय के साथ प्राणमय कोष का भी विकास हुआ। परन्तु अभी इसमें न बच्चों का प्यार, न कोई बौद्धिक चेष्टा ही नजर आती है। प्रकृति ने "और आगे बढ़ाया"—और इसे कीट-पक्षी आदि अंडज योनि मे पहुँचा दिया। बढ़ा रजोगुण—चल पड़ा चंचलता का वेग तीव्र गति से और होने लगा बच्चों मे प्यार तथा एक दूसरे मे वैमनस्य का भाव। अब मनोमय कोष का भी विकास होगया।

"रुको नहीं—और आगे बढ़ो" प्रकृति ने अब इसे पशु आदि जरायुज योनि मे पहुँचा दिया। अब यह खाता-पीता है, श्वास लेता है, बच्चों को प्यार करता है, और बौद्धिक विकास भी होने लगा। गाय-घोड़ा-कुत्ता आदि की तरह अपने मालिक को पहिचानता है, आज्ञा पालन भी करता है—चौकीदारी भी करता है। अर्थात् अब विज्ञानमय कोष का भी विकास हो गया। मनुष्येतर योनियों मे मीठा-नमकीन, सुगन्ध-दुर्गन्ध, कोमल-कठोर, निन्दा-स्तुति आदि के अनुभव का पूर्ण विकास नहीं हुआ था—अब प्रकृति ने विकास की अन्तिम योनि मनुष्य-योनि मे पहुँचा दिया। बौद्धिक विकास होने लगा—दु:ख-सुख, भले-बुरे को भलिभाँति पहिचानने लगा। अब तक खान-पान, रहन-सहन, सोना-जागना मैथुनादि सारी चेष्टायें प्रकृति के अधीन होती थीं—कोई

भी चेष्टा—प्रकृति विरुद्ध करने में असमर्थ था। इसलिये अब तक यह किसी कर्म का जुम्मेवार भी नहीं था—तो पाप-पुण्य का भागी भी नहीं बनाया जा सकता। जैसे सिंह का भोजन केवल माँस है—उसके अंगों की प्राकृतिक रचना ही ऐसी ही है—इसलिये जीव-हिंसा रूपी पाप का वह उत्तर-दायी नहीं ठहराया जा सकता। परन्तु इस मनुष्य-योनि मे आकर यह कुछ समर्थ हो गया—अब यह प्रकृति-विरुद्ध भी अनेक चेष्टायें करने लगा। जब कुछ बन गया अर्थात् कर्त्तव्य-अहंकार पूर्ण स्वतन्त्र चेष्टायें करने लगा तो कर्मफल का जिम्मेवार भी बन गया, पाप-पुण्य का भागी भी बन गया।

हाँ तो, जीव का विकास करते-करते प्रकृति माता ने देव दुर्लभ कल्पवृक्ष रूप मानव-देह मे पहुँचा दिया। अब यह स्वतन्त्र है—विधि-निषेध रूप दोनों किनारों के मध्य अर्थात् मर्यादानुसार आगे बढ़ता हुआ परमानन्द की प्राप्ति कर ले, अथवा सब शास्त्र तथा लोक-मर्यादाओं को नमस्कार करके मनमाने अनर्गल भोगों मे प्रवृत होजावे. और अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के स्वार्थों को भी कुचल डाले। "येन केन प्रकारेण अपने स्वार्थों को सिद्ध कर लेना और विषयों की प्रज्वलित अग्नि मे अपने तन-मन-धन की आहुति देते रहना—(Eat drink & be merry) अर्थात् खाओ, पीओ, और मौज करो" इसी को जो अपना कर्त्तव्य मान बैठे हैं, वे मानव-देह मे होते हुए भी पशु ही नहीं दानव हैं। श्री भर्तृहरि महाराज कहते हैं—

तेऽमी मानुषराक्षसाः परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे।

"अर्थात् वे राक्षस-मनुष्य हैं जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के हित को कुचल डालते हैं। परन्तु जो विना मतलव ही दूसरों के हित को कुचलने वाले हैं, वे कौन हैं ? हम नहीं जानते !" वे पाप-पुण्य, लोक-परलोक, वन्धन-मोक्ष, ईश्वर आदि कुछ नहीं मानते। ऐसे "*विविध सकामी पामर*" जीव जीवन पर्यन्त तो काम क्रोध-लोभादि अग्नि में तपते रहते है तथा मरणोपरान्त कूकर-सूकर, कीट-पतंग आदि नारकीय योनियों को प्राप्त होते हैं।

और यदि शास्त्र मर्यादानुसार विधि-निषेध रूप दोनों किनारों के वीच ही वीच मे वढ़ता जायगा तो एक न एक दिन अखण्ड, एकरस आनन्द पद को निश्चय प्राप्त हो जायगा—जहाँ न शोक न मोह न चिन्ता न भय, सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। ध्यान रहे यह एक क्षण का काम नहीं है—जैसे जीने (stairs) द्वारा छत पर चढ़ने वाले को अपना एक पैर प्रथम सोपान(सीढ़ी) पर भली-भाँति जमाकर ही दूसरा पैर द्वितीय सोपान के लिए उठाना चाहिये—और ऐसे ही तृतीय, चतुर्थ आदि सोपानों पर थम-थम चढ़ते हुए सरलता पूर्वक छत पर पहुँच जाये। इसके विपरीत जहाँ एक-दो सोपान वीच मे छोड़कर अथवा किसी एक सोपान पर भली भाँति पैर जमाये विना छत पर पहुँचने की शीघ्रता की तो 'पैर ऊपर सिर नीचे आयेगा, लुढ़कता-पुढकता ठेठ नीचे।" ठीक इसीप्रकार इस परमानन्द पद की सोपानें हैं—अथवा, इस पारमार्थिक-कालेज की (classes) कक्षायें हैं। इन कक्षाओं का (course) पाठ्य क्रम इस प्रकार हैं—

प्रथम कक्षा—मे वे *शुभ सकामी सज्जन* समझे जाते हैं जो भोग तो भोगना चाहते हैं परन्तु शास्त्र व लोक मर्यादानुकूल, जिससे कि परलोक भी न विगड़े। वे मानते हैं कि यह संसार ईश्वर रचित है—शुभ कर्मों का फल 'पुण्य' और बुरे कर्मों का फल 'पाप' अवश्य होता है "as you sow, so you must reap. अपने स्वार्थ के लिये दूसरे के स्वार्थ को

कुचलना अत्यन्त नीच कर्म है । वे कथा-सत्संग,दान-तप यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हैं जिससे पुण्य की प्राप्ति होती है—मनोकामना की पूर्ति होती है—और यश तथा परलोक भी बन जाता है। ऐसे सज्जन वर्तमान में तो ऐहलौकिक सुख भोगते हैं और मरणोपरान्त स्वर्गादि भोगकर "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" पुण्य समाप्त होने पर फिर मानव-देह में ही जन्म पाते हैं।

द्वितीय कक्षा (*निष्काम कर्मी*)—भोगों से स्थायी-सुख की प्राप्ति न होने पर तथा नित्य कथा-सत्संग श्रवण और यज्ञ-दानादि से सुबुद्धि होने लगी—विषय भोग तुच्छ लगने लगे—स्वार्थ-बुद्धि कूच करने लगी—विचार उठा—

'मिटादे अपनी हस्ती को अगर कुछ मर्तबा चाहे।
के दाना खाक में मिलकर, गुले गुलज़ार होता है ॥

—स्वार्थ का दायरा बढ़ा—देह से कुटुम्ब सेवा, कुटुम्ब से मुहल्ला, इसीप्रकार शहर, जिला, प्रान्त और बढ़ते-बढते देश सेवा तक दायरा बढ़ा। "रुको नहीं—और आगे बढ़ो" देश सेवा से विश्व सेवा, मानव से प्राणी मात्र तक दायरा बढ़ा। और अब प्राणीमात्र की 'सेवा के भाव से' उसकी सभी चेष्टायें होने लगी। वह अपना कर्त्तव्य समझकर—आसक्ति व फल की इच्छा त्यागकर—प्राणीमात्र की सेवा द्वारा ईश्वर की सेवा करने लगा। *ध्यान रहे—सेवा की भावना है इसके भीतर—सुधार की भावना नहीं*। सुधार की भावना तो बड़ी तुच्छ भावना है। जो सुधार की भावना से कर्म करते हैं वे बड़ी भूल मे है—बिगड़े तो हैं भीतर से वे स्वयं और देखते हैं संसार को बिगड़ा हुआ ? स्वामी रामतीर्थ ने भी कहा—

"सुधारको ! सुधारकों के पद लेने वालों ! तुम दुनिया को पापिनी समझते हो, तुम जगत को बिगड़ा समझते हो और उसको गाली देते हो—यह सब तुम्हारी दृष्टि का भ्रम है। दुनिया इतनी दीन क्यों मानी जाय कि उसको तुम्हारी सहायता की जरूरत हो। ईसा, कृष्ण, बुद्ध आदि कई संत-महापुरुषों ने चेष्टा की—पर संसार को हम आज ज्यों का त्यों पाते है। तार-टेलीफोन, रेल-जहाज आदि वैज्ञानिक रचनाओं ने क्या हमे पहले से अधिक सुखी कर दिया ? सम्पत्ति जरूर बढ़ी पर साथ ही कई गुनी अधिक बढ़ गई (आवश्यकतायें, व) इच्छायें। सज्जनों ! सुधार अपना करना है न कि संसार का—क्योंकि आपा बिगड़ा ही संसार बिगड़ा नजर आता है।"

"The moment we stand up as reformers of the world, we become deformers of the world. Physician heal thyself"

अर्थात् "जिस क्षण हम संसार के सुधारक बनकर खड़े होते हैं, उसी क्षण हम संसार के बिगाडने वाले बन जाते हैं। वैद्य पहले तू अपनी चिकित्सा कर।'

सुधार की भावना से कर्म करने वालों से भी मान-प्रतिष्ठा की इच्छा से कर्म करने वाले तो महातुच्छ हैं। विचार से देखे तो चेष्टा (कर्म) तो वही है जो एक सेवा-भावी निष्काम कर्मी कर रहा है—परन्तु भावना के अन्तर से, सुधार-भावी तथा मान-प्रतिष्ठा-भावी उस उत्तम फल से वञ्चित रह जाते हैं जो सेवा भावी को प्राप्त होता है। सेवा-भाव से अन्तःकरण शुद्ध होता है (मलदोष हट जाता है) तथा भगवान् की भक्ति का प्रादुर्भाव होता है, सुधार-भाव से पुण्य तो होता है परन्तु साथ ही राग द्वेष तथा अहंभाव की वृद्धि होती है, और मान-प्रतिष्ठा भाव से कचित् पुण्य-फल-स्वरूप मान की प्राप्ति तो जरूर हो जाती है, किन्तु ईर्ष्या-द्वेष, मद कभी अभिमान आदि कई अवगुण तथा कभी-कभी निन्दा-अपमान का भी स्वागत करना पड़ता है।

सेवा-भावी निष्काम कर्मी को भीतरी प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा देह त्याग कर श्रीमानों के गृह में योगभ्रष्टों की भाँति जन्म होता है।

तृतीय कक्षा (*निष्काम-भक्त*)—हाँ तो सेवा-भाव से निष्काम-कर्म करने वाले का अन्तःकरण तो शुद्ध हुआ, पर विक्षेप (चचलता रूपी) दोष अभी नहीं मिटा। अब तक तो प्राणीमात्र की सेवा रूप कर्म का कर्त्ता बना हुआ था (……ऐसा करना मेरा कर्त्तव्य है) परन्तु अब भावना उठने लगी—"मेरे किये क्या होता है—प्रभु जिससे जैसा चाहते हैं कठपुतली की नाईं करवा लेते हैं" "किये गोपाल के सब होइ" "Gods will be done" मैं व्यर्थ मे 'सेवा भावना' का अभिमानी क्यों बनूं—कठपुतली के समान नाचकर सूत्रधार मालिक को रिझाना और प्रसन्न करना ही मेरा एक मात्र कर्त्तव्य है।" उसका सारा समय श्रवण-कीर्तन, स्मरण-अर्चन आदि मे ही व्यतीत होता है। अभ्यास बढाते-बढाते अपने प्रभु को ही प्राणीमात्र के रूप मे देखने लगता है—

सीय राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

वर्तमान मे हृदय मे शान्ति मिलती है, अह कर्त्ता भाव शिथिल हो जाता है, सांसारिक विषय भोगों से सुख-बुद्धि खिसक जाती है तथा मरणोपरान्त "अन्त काले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्" अर्थात् "अन्त मता सो गति" के अनुसार उपास्य लोक की प्राप्ति किंवा वैराग्यवानों के कुल मे योगभ्रष्ट होकर जन्म लेता है।

चतुर्थ कक्षा (*वैराग्यवान्-तत्त्व-जिज्ञासु*)—ईश्वर-भक्ति द्वारा जैसी शान्ति प्राप्त होती है वैसी ही अखण्ड-शान्ति की प्राप्ति कैसे हो? उस क्षणिक शान्ति की अपेक्षा ससार बिल्कुल तुच्छ लगने लग जाता है "भगवान् ही सबको कठपुतली की नाईं कर्म करवाते हैं तो फिर दुःख-सुख, पाप-पुण्य, का भागी मुझे क्यों बनाया जाये? मैं कौन हूँ? परमात्मा क्या है? संसार क्या है? मेरा कल्याण कैसे हो? मुझे परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो? इस प्रकार अनेक जिज्ञासाएँ उसके हृदय मे तूफान मचा देती है। व्याकुलता बढ़ जाती है—छटपटाहट होने लगती है। वर्तमान में उसे शान्ति की विशेष अभिव्यक्ति होती है तथा दोष दृष्टि, राग-द्वेष, काम-क्रोधादि से छुट्टी मिल जाती है तथा ॐकार की उपासना करते हुये प्राणान्त हुआ तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति और चिन्तन की त्रुटि रहने पर उत्तम योगियों के कुल मे जन्म होता है।

पञ्चम कक्षा (*जीवनमुक्त व तत्त्वज्ञानी*)—परम वैराग्य-जिज्ञासा एवं व्याकुलता प्राप्त होने पर उसे अधिकारी जान, ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय सद्गुरु तत्त्वज्ञान का उपदेश देते हैं। श्रवण-मनन एवं निदिध्यासन से "जब उसे तत्त्वज्ञान का योग होता है अर्थात् अपरोक्ष अनुभव होता है तो "मैं-मेरा, कर्त्ता-कर्त्तव्य, दुःख-सुख" आदि भावों का उसमे सर्वथा अभाव होजाता है। क्योंकि सिद्धान्तत कर्त्ता-कर्त्तव्य भाव (परिच्छिन्न भाव) रहते पूर्णता तथा दुःख की निवृत्ति ख-पुष्पवत् है। फिर केवल एक सच्चिदानन्द "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ही रहता है। जब "न तुम न हम—दफ्तर गुम" तो फिर कैसा दुःख? और किस को दुःख?

'यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशावास्योपनिषद् मन्त्र ७)

अर्थात् दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और बस आनन्द ही आनन्द शेष रह जाता है।

अस्तु, इस प्रकार क्रम से पारमार्थिक पाँचों कक्षाओं से उत्तीर्ण होने पर ही पूर्णता प्राप्त होगी—तभी प्रकृति चैन लेने देगी, तभी इसका "रुको नहीं—और आगे बढ़ो" शान्त होगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

समझ में किसी रोजगार के लिये, किसी प्रकार की जीवन-वृत्ति प्राप्त करने के लिए उन संस्थाओं को छोड़कर और कोई दूसरा रास्ता नहीं है और इसलिये जो संस्थायें सब प्रकार की शिक्षा और मौलिक विचार के केन्द्र होनी चाहिए वे भी छोटी-मोटी नौकरियों के लिये कारखाने बन जाती हैं। मै चाहता हूँ कि हमारे शिक्षा-शास्त्री लोग शिक्षा के सम्बन्ध में और जिससे उसकी उन्नति हो, इस विषय पर गहराई से विचार करें और जो परिवर्त्तन आवश्यक जान पड़े उसे शिक्षाक्रम में दाखिल करें।

आज के शिक्षाक्रम में चरित्रगठन का कोई स्थान नहीं है और न उसको कोई महत्त्व दिया जाता है। हमारी संस्कृति में गुरू और शिष्य का सम्बन्ध बहुत ही सुन्दर और मीठा हुआ करता था। इसका कारण यही था कि दोनों का एक दूसरे पर विश्वास हुआ करता था। गुरू शिष्य को पुत्रवद् मानते थे और उस पर स्नेह रखते थे।

शिष्य गुरू को पिता तुल्य पूज्य और विश्वसनीय समझता था। गुरू का शिष्य के जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा करता था, आजकी भांति गुरु शिष्यके बीच केवल व्यापारी सम्बन्ध जिसमें पैसे के बदले में कुछ पुस्तकें पढ़ा देने मात्र तक का सम्पर्क होता है, न रहकर आध्यात्मिक सम्बन्ध हो जाता था, जो बहुत घनिष्ट हुए बिना रह नहीं सकता था। आज आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलता है कि कहीं विद्यार्थियों ने शिक्षकों के विरुद्ध हड़ताल कर दी तो कहीं शिक्षकों में ही दलबन्दियाँ हो गई और विद्यार्थी भी कुछ एक दल में और कुछ दूसरे दल में शरीक हो गये और एक या दूसरे का समर्थन करने लगे। हाल में एक भयंकर दुर्घटना भी सुनने में आई कि शिक्षक के परीक्षा सम्बन्धी कड़ाई करने से असन्तुष्ट होकर कुछ विद्यार्थियों ने शिक्षक के प्राण भी ले लिये। यदि दूसरे किसी ने भी उनकी बुराई की या उनके किसी बुरे काम का विरोध किया तो उनके साथ भी लड़ने-झगड़ने से बाज नहीं आते। अगर कोई एक विद्यार्थी ऐसी कोई बात करे तो वह समझ में आ सकती है। पर जब किसी स्कूल या कालेजों के विद्यार्थी एक दल बनाकर ऐसे काम में लगते हैं तो यह चिन्ता का विषय हो जाता है। जहाँ तक मैं देख और समझ सकता हूँ इसका मौलिक कारण चरित्र-गठन पर ध्यान नहीं देना और छात्रगण पर शिक्षक वर्ग के नैतिक प्रभाव का न होना ही है। मेरा यह कथन किसी प्रदेश विशेष के लिए नहीं है। साधारणतया यह समस्या तो सारे देश में वर्त्तमान है।

यद्यपि हमारे शिक्षालयों में विद्यार्थियों के चरित्रगठन पर पहले इतना ध्यान नहीं दिया जाता था तो भी एक दूसरी शक्ति और सस्था थी जो इस त्रुटि को कुछ हद तक दूर करती थी। हमारा कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन कुछ ऐसा था कि उसका असर बचपन से ही हम पर पड़ता था। घर-घर में धार्मिक कृत्य किसी न किसी रूप में बराबर हुआ करते थे, रामायण और महाभारत की कथा होती थी। कथा, पुराण, प्रवचन कुछ न कुछ दूर गावों में भी सुनने को मिला करते थे और जो त्यौहार धार्मिक उत्सव होते थे वे भी किसी न किसी रूप में देखने को मिला करते थे। आज कौटुम्बिक जीवन वर्त्तमान परिस्थिति के कारण विश्रृंखल होता जाता है और बहुत अश में हो भी चुका है। सामाजिक रोक थाक जो हमें बुराइयोंसे बचाया करती थी वह भी अब ढीली पड़ गयी है। और भी इस तरहके उत्सव और मेले जो मन रंजनके साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हुआ करत थे, आज कलके लोगों के मनोनुकूल नहीं होते हैं और टूटते जा रहे हैं। इस लिये उनका जो प्रभाव बच्चों और सयानों पर पड़ा करता था वह प्रतिदिन कम होता जा रहा है। अत. यह आश्चर्य की बात नहीं है कि ऐसे समय मे जब मनुष्य के जीवन पर ज्यादा संस्कार पड़ते हैं, विभिन्न प्रकार की विचार धाराओं में पड़कर आज के युवक युवतियाँ बिना पतवार की नाव की तरह टकराती हुई धाराओं के शिकार बन जाती है। यदि नैतिक जीवन पर शिक्षा आधारित न हो तो महाविपत्ति से राष्ट्र को न बचाया जा सकेगा। इस लिये समस्त शिक्षा व्यवस्था का जड़ से नया संस्कार करना आवश्यक है। शिक्षकों और जातीय

नेताओं के केवल भाषणों से अच्छे युवक और युवतियाँ तैयार नहीं हो सकेंगी। उनका अपना चरित्र और व्यवहार हर तरह से ऐसा होना चाहिए कि उनके काम और कथन में कोई अन्तर न हो तब ही देश का सुन्दर भविष्य बनेगा जब यह आदर्श सामने रहेगा।

आज पश्चिमीय विचारों का जितना प्रभाव पड रहा है उतना शायद कभी भी इस देश पर पहले नहीं पड़ा। इसका एक कारण यह है कि आज दुनिया वैज्ञानिक प्रगति के कारण बहुत सिकुड़ती जा रही है। यातायात के इतने द्रुतिमान के साधन आज मनुष्य के हाथ में आ गये हैं कि दुनिया के किसी भी भूभाग में आज अगर कोई घटना होती है तो उसकी सूचना घटना घटते ही हर स्थान पर पहुँच जाती है। कहीं-कहीं तो पहले से प्रबन्ध रहने से अथवा साथ-साथ घटना-क्रम के वर्णन किये जाने से घटना होते समय ही उसे दूरस्थ देशों से भी आदमी देख और सुन सकते हैं। अपने पलंग पर सोये अमेरिका में होते हुये भाषण और गानों को हम सुन सकते हैं। आस्ट्रेलिया में होते हुये क्रीकेट मैच का आँखों देखा वर्णन हम सुनते जाते हैं। यदि इतना ही रहता तो भी किसी तरह से इतनी बुराई नहीं होती। हम तो दूरस्थ देश के चोरों और डाकुओं की क्रिया देखते हैं और यह स्वाभाविक ही है कि उनकी नकल करने का हमें सुयोग मिलता है। अन्यान्य देशों के रसम रिवाज रहन-सहन वेशभूषा को बिना वहा गये ही केवल पुस्तकों में पढ़कर ही नहीं उनका चलता फिरता और बोलता चित्र भी देख सकते हैं। इन सब का असर तो हमारे युवक युवतियों और अविज्ञ लोगों पर पड़े बिना रह नहीं सकता। दुःख की संसार की सब से बड़ी समस्या है वह तो विज्ञान के कारण ही उपस्थित हो रही है, आज नैसर्गिक शक्तियों पर मनुष्य ने बहुत हद तक आधिपत्य प्राप्त कर लिया है और अपनी शक्ति इतनी बढ़ा ली है जिसका कभी शायद आज से ५० वर्ष पूर्व अनुमान और स्वप्न भी नहीं किया गया होगा। भाफ बिजली और अणुशक्ति ने मनुष्य के हाथ में वैसे साधन दे दिये हैं जो एक ओर तो मनुष्य चाहे तो इस दुनिया को यहा के सभी रहने वालों के लिये स्वर्ग बना दे और दूसरी ओर वही शक्ति मनुष्य चाहें तो इसे श्मशान बना दे। इन्हीं शक्तियों पर आधिपत्य पाकर आज सारी दुनिया में इस बात की होड़ चल रही है कि इन का सबसे अधिक घातक उपयोग कैसे किया जा सकता है और कौन कर सकता है। इन वैज्ञानिक खोजों के फलस्वरूप मनुष्य को अपने जीवन के लिये शारीरिक श्रम से बचने के बहुत साधन और उपाय भी मिल गये हैं और बहुत प्रकार के रोगों से बचने के लिये जो असाध्य माने जाते थे उपचार और औषधियां भी हाथों में आ गई हैं और आती जा रही हैं। इन्द्रियों के लिये आराम और विलासकी सामग्री चाहे वह जरूरी हों अथवा गैर जरूरी तैयार करने की सहज रीति जानी जा चुकी है। जिस काम को मनुष्य बहुतही परिश्रम से कर पाता था उसे आज वह बैठे हुये आराम से करा सकता है। बहुतेरी कष्ट साध्य क्रियाओं को आज किये बिना ही उनसे जो लाभ पहुंच सकता है. हम पा सकते हैं आज मानव समाज के पास अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये शारीरिक सभी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये साधन मौजूद हैं और किसी को किसी के साथ उन आवश्यक वस्तुओं के लिये लड़ने झगड़ने की जरूरत नहीं है। उनका इतना प्रचुर उत्पादन होता है और उनका उत्पादन और विभाजन बढ़ाया जा सकता है कि यदि हम यह सीख लें कि मानव मात्र एक कुटुम्ब अथवा परिवार के लोग हैं और जैसे हमारे देश में किसी परिवार अथवा कुटुम्बके लोग अपनी सब चीजों को बिना किसी और सोच विचार के आपस में बाँटकर सुखी रह सकते हैं, उसी तरह सारा मानव समाज सुखी रह सकता है और किसी चीज की कमी नहीं महसूस होगी। परन्तु आज उसकी सारी शक्ति आपस में फैले हुये झगड़ों को बढ़ाने में लग रही है सुलझाने में नहीं। विज्ञान मनुष्य के लिये दैवी वरदान न बनकर आसुरी अभिशाप बन रहा है। श्रेष्ठतम विद्वानों और वैज्ञानिकों की मानसिक शक्ति और तपस्या भीषण से भी भीषण घातक शस्त्रों और यन्त्रों के आविष्कार में लगी है और कोई भी आज चैन की नींद से नहीं सो सकता है।

मनुष्य ने दैविक शक्ति तो पा ली है पर उसे सब के उपकार और कल्याण के लिये उपयोग करना नहीं सीखा है। हमारा दिमाग और मस्तिष्क आसमान पर चढ़ गया है पर हृदय सकुचित और छोटा रह गया है। मैं मानता हूँ कि मानव शरीर को पोषक रक्त पहुँचाने की शक्ति हृदय में है मस्तिष्क में नहीं और मस्तिष्क भी अपने भरण-पोषण के लिये हृदय पर ही निर्भर रहता है। उस हृदय की उपेक्षा कर के केवल मस्तिष्क द्वारा हम न तो अपने को और न दूसरों को ही सुखी कर सकते हैं। उस को कैसे बलवान और महान बनाया जाय यही प्रश्न आज मानव जाति के सामने है। हम मस्तिष्क की उन्नति की निन्दा नहीं करते और न उसका अवरोध करना चाहते हैं। विज्ञान को तो अबाध रूप से अपना काम करना चाहिये और करने देना ही श्रेयस्कर है पर उसके साथ कुछ और भी करना चाहिये जो हृदय को बल पहुँचा सके।

हमारे उपनिषदों में इन विषयों पर गहराई से केवल विचार विमर्श ही नहीं किया गया है उनका अनुभव और साक्षात्कार भी किया गया है। कहीं-कहीं तो उसकी भाषा हम आज ठीक समझ भी नहीं सकते क्योंकि हम केवल बुद्धि द्वारा ही उन को समझने का प्रयत्न करते हैं और जो अनुभव सिद्ध स्पष्ट बात है उसे हम चार-दीवारी के अन्दर उसके दरवाजे छोटे होने के कारण लाने में असमर्थ होकर उसकी सत्यता और प्रमाणिकता पर ही सदेह करने लगते हैं। मानव समाज आज अविद्या को पार करके घोर अन्धकार के बाहर चले जाने के प्रयत्न में तो बहुत कुछ सफल हुआ है। पर विद्या में रमे रहने अथवा रत रहने के कारण उससे भी घोर अन्धकार में चला गया है। आत्म-तत्व अथवा आत्म-विद्या को जो अविद्या और विद्या दोनों से भिन्न है वह मानव समाज आज प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं कर रहा है। उसके प्राप्त होते ही हृदय शुद्ध हो जायेगा और मनुष्य-मनुष्य से वैमनस्य न रख कर ऐक्य अनुभव करने लगेगा और मनुष्य के साथ ही क्यों सभी दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुओं के साथ आत्मत्व प्राप्त कर लेगा और सारे झगड़े समाप्त हो जायेंगे। तात्विक दृष्टि से यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य कर्त्तव्य है, यही भारत की अमर वाणी है और हमें विश्वास है कि एक दिन यह भारत में फैल जायेगी। तो भी हमारे समाज और मानवमात्र की कमजोरी हमें इस दुर्गम पथ पर चलने नहीं देती और हम इधर-उधर भटकते फिरते हैं। हमें समझ लेना चाहिए कि जब तक इस आत्म-तत्व की ओर भी दृष्टि नहीं जायेगी और इसकी प्राप्ति के लिये हम प्रयत्नशील नहीं होंगे, समाज की विशृंखलता और दुनिया की फैली हुई अराजकता दूर नहीं की जा सकती। इस देश मे सुनते हैं कि जन-साधारण और शिक्षित लोगों का चरित्र भी आज जितना उन्नत और उदात्त होना चाहिये उतना नही है। उसका कारण इस परा-विद्या के प्रति हमारी उपेक्षा और तज्जन्य शिक्षा संस्थाओं में उसके शिक्षा और अभ्यास के साधनों का अभाव है। मै इस लिये चाहता हूँ कि विश्व-विद्यालय इस अभाव को दूर करें क्योंकि इसकी आवश्यकता केवल भारत के लिये ही नहीं सारे ससार के लिये है। इसी का नाम महात्मा गाधी ने सत्य और अहिंसा दिया है इसकी जरूरत सभी समझ रहे हैं पर हाम भी सभी चुप बैठे देख रहे हैं। जब तक हम अपने छात्रों के चरित्र-गठन पर भी उतना ध्यान नहीं देंगे जितना उनके बुद्धि विकास पर आज दे रहे हैं, तब-तक वह अविद्या से कुछ हद तक निकल कर और विद्या पाकर भी घोरतम अन्धकार मे पड़ते जायेंगे। भारत की ससार को सबसे बड़ी देन यही आत्मविद्या हो सकती है और उसे भारत तभी दे सकती है जब वह स्वयं प्राप्त कर लेगा।

(सं०)

धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता

(उपराष्ट्रपति श्री डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन मैनन)

विश्व के दुःखों का कारण भौतिक साधनों या बौद्धिक प्रतिभाकी कमी नहीं है, किन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण की कमी है। वैज्ञानिक आविष्कार वैज्ञानिकों के सम्पूर्ण जीवन के सर्वाङ्गीण और सतत प्रयत्नों के परिणाम हैं। परन्तु जब ये आविष्कार राजनीतिज्ञों या कूट नीतिज्ञों के हाथ में पड़ जाते हैं तब उनके दुरुपयोग का भय रहता है।

विज्ञान और टैक्नोलाजी (शिल्प कला विज्ञान) ने हमें सभ्यता के साधन दिये हैं। इनका सर्वोत्तम उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है यह उनके बारे में हमारे दृष्टि कोण पर निर्भर करता है। अतः यह आवश्यक है कि मानव कल्याण के लिये नैतिक शक्ति प्राप्त करने के हेतु दर्शन और धर्म शिक्षा प्राप्त की जाय।

सन्देश

(माननीय श्री गोविन्द वल्लभ पन्त, प्रधान सचिव उ० प्र०)

मुझे आशा है कि 'परमार्थ' का दुःखनिवारणाङ्क पाठकों को उनके तथा उनके द्वारा औरों के दुःखों का निवारण करने की राह दिखलाने में सफल सिद्ध होगा। परमार्थ के नववर्षाङ्क के लिये मेरी शुभ कामना है। आज के युग में ऐसे ही पत्रों की आवश्यकता है।

क्या हम निर्धनी हैं ?

एक महात्मा थे बडे मस्त और प्रसन्न वदन, उनके पास एक दुखी व्यक्ति आया, बड़ा घबड़ाया और उदास था वह, बोला महात्मन्! मैं बड़ा निर्धन हूँ मेरे पास कुछ नहीं है परिवार का निर्वाह करने में असमर्थ हूँ, कुछ कृपा कर देते महाराज! महात्मा मस्ती मे बोले—वाह भाई! यह क्या कह रहे हो? तुम्हारे पास तो सभी कुछ है, अच्छा तुम अपनी चीजें देकर रुपया ले लो।

मनुष्य आश्चर्य चकित होकर बोला—क्या दे दूं?

'तुम अपनी एक आँख निकाल दो मैं एक हजार रुपया तुम्हें दूंगा' हँसते हुए महात्मा बोले। 'यह तो नहीं होगा महाराज!' उसने उत्तर दिया।

'तो पाँच हजार रुपये ले लो।'

'नहीं प्रभो! कृपा रखिये।'

'दस हजार सही।'

'नहीं बाबा! मैं आँख निकालकर नहीं दे सकता।'

'अच्छा भाई आँख नहीं दे सकते तो एक टाँग फाटकर दश हजार रुपया ले लो' यह कहकर महात्मा मुस्कराये।

'टाँग कटवाकर मुझे अपाहिज नहीं बनना है।'

'हाथ कटवाने में तो कोई हर्ज नहीं?'

'ना बाबा' यह भी नहीं होगा।'

'तो नाक या कान काट कर ही दे दो।'

'महाराज! मुझे ऐसे रुपये की आवश्यकता नहीं यह वस्तुएँ हम नहीं दे सकते'

तो तुम अपने को व्यर्थ ही निर्धन क्यों कहते हो, ५० हजार का तो थोड़ा ही सामान होगया अभी तो तुम्हारे पास बड़ी बड़ी अमूल्य वस्तुयें हैं, बुद्धि और मन इन्द्रियाँ आदि तो तुम्हारे पास असंख्य सम्पत्ति की हैं। यह सुनकर वह चौंक पड़ा—मुख पर म्लानता के स्थान पर प्रसन्नता चमक उठी। मानो उसके सभी दुःख सदा के लिए समाप्त हो गये हो, वह महात्मा के चरणों मे प्रणाम कर बोला—आप ने मेरी खोई निधि प्राप्त करा दी, सचमुच मैं अब निर्धन नहीं रहा बल्कि सबसे अधिक धनवान् हो गया हूँ। मुझे अपनी सम्पत्ति ज्ञात हो गई।

नारी शिक्षा का उद्देश्य

(श्रीमती महादेवी वर्मा)

वास्तव मे शिक्षा का उद्देश्य स्त्रियों के लिये एक स्वस्थ और सम्पन्न गृहस्थी का निर्माण करना है, किन्तु यह दुःख का विषय है कि आज की बालिकाएँ पढ़ने के बाद इस बात की कामना करती हैं कि उनको कोई अच्छा स्थान मिले, अच्छा काम मिले और एक धनीमानी पति, जिसके पास कार और बँगला हो। यह देश के लिये बड़ी लज्जा की बात है कि आज की शिक्षा से नारी-समाज बड़ा ही भ्रमित और दोषपूर्ण हो गया है।"

जहाँ तक मेरा विचार है हर स्त्री एक संस्था है। वह गृहस्थी का केन्द्र-बिन्दु है। १० पुरुष एक गृहस्थी का निर्माण नहीं कर सकते, किन्तु एक स्त्री गृहस्थी को बना सकती है। इसलिये स्त्री को घर से हटा देना मैं ठीक नहीं समझती। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि स्त्री गृहस्थी के निर्माण के अलावा देश के निर्माण मे योगदान न दे। भारत का आदर्श यही है कि स्त्री हमारी माता है जो समाज का पालन-पोषण करती है। वैदिक काल के इतिहास से ऐसा पता चलता है कि उस समय स्त्रियाँ पुरुषों के समान विद्या और बुद्धि से पूर्ण थीं। उनमें सांस्कृतिक चेतना का विकास था। मेरे विचार से जैसा स्थान उनका पहले था, आज वैसा नहीं है। अधिकारों की बात है। वह पुरुषों के समान अधिकार की माँग करती हैं। किन्तु अधिकार कोई माँगने या बाँटने की वस्तु नहीं है, वह तो कर्त्तव्य की भावना से अपने आप प्राप्त होते हैं। अगर हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो स्त्री सब अधिकारों से पूर्ण है। विद्या और बुद्धि के रूप मे सरस्वती स्त्री है, दुर्गा के रूप मे स्त्री है, और सम्पत्ति के लिये भी लक्ष्मी के रूप में स्त्री है। अर्थात् नारी ही हमारी अधिष्ठात्री देवी है। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिये कि स्त्रियों की कार्यक्षमता ही इन आदर्शों का निर्माण करती हैं। इसलिये अधिकार माँगने से नहीं मिलते जो उनका पात्र है उसके अधिकार कोई नहीं छीन सकता।

यदि हमे सचमुच अधिकारो को पाना है तो उसके लिये हमे कार्य करना होगा। हमे समाज के लिये ऐसी शिक्षा का निर्माण करना होगा जो उनकी कठिनाइयाँ हल कर सके। आज चीन और रूस की स्त्रियाँ अधिक क्रियाशील हैं। वे अधिक परिश्रम करती हैं। उनमें समाज के भीतरी और बाहरी रूप को सँवारने की पूर्ण क्षमता है। आज हमारे देश

की स्त्रियों को ऐसा ही करना होगा। किन्तु हमारी स्त्रियाँ आन्तरिक रूप पर प्रभावित न होकर बाहरी रूप पर लुब्ध हैं। एक शिक्षित स्त्री कुछ अशिक्षित स्त्रियों के पास जाने में, उनसे बात करने में बड़ा अपमान अनुभव करती हैं। वास्तव में यह बड़ी बुरी बात है। इस प्रकार की मनोवृत्ति उनके लिये ही घातक नहीं, अपितु समाज के लिये भी विनाशकारी साबित होगी।

आज हमारी शिक्षित स्त्री कहीं जाने के पूर्व यह सोचती कि उसकी लिपिस्टिक ठीक लगी है, उसकी चूड़ियाँ साड़ी आदि ठीक हैं। वास्तव में यह हमारे जीवन का छिछला स्वरूप है यह आडम्बरी नुमाइश हमारे जीवन के लिये कभी अच्छी न होगी। हमारे मन में जो व्यर्थ के अपमान की भावना है उसे भी छोड़ना है और सम्पूर्ण नारी-समाज को विकास के लिये कार्य करना होगा।

प्रायः लोग मुझे लिखा करते हैं कि आप उन लोगों के लिये कुछ नहीं लिखती जो नारियों का अपमान किया करते हैं। उनके सम्बन्ध मे मैं इतना ही कहना पर्याप्त समझती हूँ कि हमारे देश के पुरुषों का जीवन ब्रह्मचर्य का है, पत्नी के लिये वह पति और बहनों के लिये वह भाई के रूप मे है। यह मेरा विश्वास है कि किसी भी नारी की राखी के लिये किसी भी पुरुष का हाथ कठोर नहीं हो सकता। पाशविक प्रवृत्तियाँ नारी की सहज कोमलता से ही विनष्ट हो सकती हैं। किन्तु जो उनका निरादर करते हैं वे किसी के तो भाई हैं, किसी के तो पुत्र हैं। भाई के रूप में यदि हम पुरुषों का आवाहन करें तो हमारे लिये अपमान की भावना अपने आप समाप्त हो जायगी।

आज हमारी बालिकाओं के ऊपर इसका भारी उत्तरदायित्व आ गया है। वह शिक्षा व्यर्थ है जो जीवन का विकास न कर सके। वास्तव मे जब तक शिक्षा के आदर्श सिद्धान्त जीवन में न उतर आये तब तक वह कल्याण करने में समर्थ नहीं हो सकती। हमने अपनी विद्यापीठ के लिये पुस्तकों का निर्वाचन करते समय इस बात का ख्याल रक्खा कि हमारी पुस्तक हमारी बालिकाओं के जीवन सम्बन्धी समस्याओं का कहाँ तक समाधान कर सकती है? वह घर, गृहस्थी की कठिनाइयों को हल करने मे कहाँ तक योग दे सकेंगी? हमें अनेक विद्यालयों और अनेक बालिकाओं की आवश्यकता नहीं है। हमे तो ऐसी बालिकाओं और विद्यालयों की आवश्यकता है जो शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य को पूर्ण करके दिखायें। हमें ऐसी स्त्रियों की आवश्यकता नहीं है जो तितलियों की भाँति इधर उधर घूमती फिरें। हमें तो वही बालिकायें चाहिये जो शिक्षा के द्वारा समाज के निर्माण में देश के उत्थान में और नारी वर्ग की उन्नति में सहायक हों। जब तक इस देश के लिये ऐसी शिक्षा न होगी तब तक जीवन के निर्माण की बात अधूरी रह जायगी।

हमें स्त्रियों की कठिनाइयों का भी ज्ञान है, उनके मार्ग मे क्या बाधायें हैं, उनसे भी मैं परिचित हूँ, किन्तु सबसे बडी बात उनके लिये यही है कि वह शिक्षा को जीवन में उतारने के लिये अभ्यास करें। आज स्त्रियों की अग्नि-परीक्षा का समय है, जब कि पाशविक प्रवृत्तियाँ उभरती चली आरही हैं उनकी पशुता का अभिशाप भी स्त्रियों को ही सम्भालना पड़ेगा। इसलिये आज हमें अपनी शिक्षा को अपने लिये ही नहीं अपितु समष्टि के लिये सुलभ बनाना है। जिसमें एक सुन्दर और स्वस्थ गृहस्थी बन सके, जिसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की सम्भावना की जा सके। हम जिस पद्धति का निर्माण करें उसमे निष्क्रियता न आने पाये, उस समाज की बेड़ियाँ काटने की शक्ति हो। शिक्षा जो देश को, समाज को तथा व्यक्ति को कर्मठ तथा क्रियाशील बना सके, वही देश के काम आयेगी। (स०)

समस्त दुःखों से निवृत्ति का उपाय ईश्वर-भक्ति

(परमभागवत सेठ श्री जयदयाल जी गोयन्दका)

ईश्वर की भक्ति के प्रभाव से दुर्गुण-दुराचार, प्रमाद, दुर्व्यसनरूप आसुरी सम्पदा का तथा दुःखों का स्वाभाविक अपने-आप ही अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसमे सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पदा के लक्षण अपने-आप ही आ जाते हैं, जिससे सदा के लिये परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। इसमें न तो पैसे खर्च होते हैं, न कोई समय व्यय होता है और न कोई परिश्रम ही है। जैसे रात्रि के समय सोने के बाद कोई कार्य तो होता भी नहीं, समय केवल सोने मे ही जाता है, और स्वप्न भी वैसे ही आते हैं, जैसे कि सोने के आरम्भ समय मे संकल्प होते हैं। इसलिये शयन के समय मे सांसारिक संकल्पों के प्रवाह को हटाकर परमात्माविषयक संकल्प करते हुये अर्थात् परमात्मा के नाम, रूप, गुण प्रभाव का स्मरण करते हुये शयन करने से रात्रि मे परमात्माविषयक ही संकल्प होते रहेंगे इसमे बुद्धि सात्त्विक होगी और हम परमात्मा के निकट पहुँचेंगे। बतलाइये, इनमे हमको क्या परिश्रम है? एवं न तो इसमे पैसों का खर्च है और न समय का ही। फिर इसके न होने में कारण श्रद्धा प्रेम ही की कमी है श्रद्धा और प्रेम हम लोगों का स्वाभाविक संसार में हैं, उसको भगवान् की ओर कर देने से महान् लाभ है और संसार की ओर रखने से महती हानि है। भगवान् हैं और मिलते हैं तथा वे अन्तर्यामी परम दयालु और सर्व शक्तिमान् हैं इस प्रकार का जो विश्वास है, इसी का नाम श्रद्धा है। इस प्रकार परमात्मा में विश्वास होने पर उसके द्वारा कोई भी दुराचार रूप पाप नहीं बन सकते। क्योंकि उसको यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं, तथा सब जगह उनकी आँखें हैं और सब जगह ही उनके कान हैं। अत. हम जो कुछ कर रहे हैं, भगवान् उसे देख रहे हैं और जो कुछ हम बोल रहे हैं उसे वे सुन रहे हैं। भगवान् ने गीता मे भी कहा है—

> सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
> सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
> (१३।१३)

'वह सब ओर हाथ-पैर वाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुख वाला, तथा सब ओर कान वाला है। क्योंकि वह संसार मे सब को व्याप्त करके स्थित है।'

जब मनुष्य को इस प्रकार विश्वास हो जाता है तो फिर वह दुराचार दुर्व्यसन और प्रमाद रूप पाप को जो कि परमात्मा से विपरीत कार्य हैं, कैसे कर सकता है?

ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास करके उनकी शरण होने पर मनुष्य में निर्भयता आजाती है तथा उसमे धीरता, वीरता गम्भीरता ईश्वर कृपा से स्वाभाविक ही आ जाती है। अस्त्र-शस्त्रों द्वारा दूसरों की हिंसा करने वाला वीर नहीं कहलाता। वीर वही पुरुष है, जो अपने पर भारी-से-भारी आपत्ति पड़ने पर भी भक्त प्रह्लाद की भाँति अपने सिद्धान्त को, कर्त्तव्य को नहीं छोड़ता, वरन् उसपर डटा रहता है, उससे फिसलता नहीं। ईश्वर के सद्गुण और निर्गुण स्वरूप की प्राप्ति या ज्ञान न होने के कारण उसका यथार्थ चिन्तन न हो तो कोई हानि नहीं किंतु जीव ईश्वर का अंश होने से उसका भगवान् मे प्रेम स्वाभाविक ही होना चाहिये। अत. भगवान् के साथ आत्मीयता दृढ़ होने के लिये भगवान् से दास्य, सख्य आदि मे से किसी भाव का सम्बन्ध, उसकी सत्ता मे विश्वास, उसका भरोसा तथा नामकी स्मृति अवश्य और दृढ़ होनी चाहिये। फिर उसके द्वारा

कोई भी पाप नहीं हो सकता।

दुराचार आदि पापों के संस्कार ही दुर्गुण के रूप मे हृदय मे जमते हैं। जब उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं होता तो दुर्गुण कैसे जम सकते हैं, बल्कि पहले के सञ्चित दुर्गुणों के संस्कार भी भगवान् की भक्ति के प्रभाव से नष्ट हो जायेंगे। उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार शयन करने का अभ्यास करने से शयन-काल भी,साधन में परिणित हो सकता है। विचारना चाहिये, यह कितने उत्तम लाभ की बात है। यह सब समझकर भी यदि हम इसके लिये चेष्टा न करें तो हमारे समान कौन मूर्ख होगा?

इसी प्रकार चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते सभी समय मे भगवान् के गुण-प्रभावसहित नाम रूप और चरित्र को याद रखते हुये ही उपर्युक्त सारी क्रियायें करनी चाहिये। जैसे, व्रज की गोपियाँ वाणी के द्वारा भगवान् के नाम-गुणों का कीर्तन और मनसे भगवान् का स्मरण करती हुई ही घर का सब काम किया करती थीं। श्रीमद्भागवत्में लिखा है:—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप,
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठयो,
धन्याव्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

जो गौओं का दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकों को पालने मे झुलाते समय, रोते हुये बच्चों को लोरी देते समय, घरों में जल छिड़कते समय, और झाड़ू देने आदि कर्मों को करते समय, प्रेमपूर्ण चित्त से आँखों मे आँसू भरकर गद्गद् वाणी से श्रीकृष्ण का गान किया करती हैं—इस प्रकार सदा श्रीकृष्ण मे ही चित्त लगाये रखने वाली ये व्रज वासिनी गोपियाँ धन्य हैं?'

अतएव हम लोगों को इस प्रकार वाणी के द्वारा भगवान् के नाम गुणों का कीर्तन तथा मन से उनका स्मरण करते हुए ही सब चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करने पर स्वाभाविक ही दुर्गुण-दुराचारों का नाश होकर तथा सद्गुण-सदाचारों का आविर्भाव होकर परम शान्ति मिल सकती है। ऐसा करने में न तो समय का खर्च है, न पैसों का ही है। यह अलौकिक परम लाभ स्वाभाविक ही मिल सकता है, जिसके फलस्वरूप भगवान् मे प्रेम होकर भगवान् की प्राप्ति हो सकती है।

प्रात.काल और सायकाल, जो नित्य कर्म के लिये समय निकाला जाता है, उसको विशेष सार्थक बनाना चाहिये। उस समय भजन, ध्यान, पूजा, पाठ आदि जो कुछ भी किया जाता है, अर्थ और भाव की ओर ख्याल रख कर करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति और आदर पूर्वक नियमित रूप से किया हुआ नित्यकर्म भी बहुत दामी हो जाता है, किन्तु जो बिना आदर व बिना मन के साधन किया जाता है, वह विशेष दामी नहीं होता।

भक्त ध्रुव ने बड़े आदर पूर्वक साधन किया था जिसके फलस्वरूप साढ़े पॉच महीनों में ही उसे भगवान् मिल गये। सौतेली माता सुरुचि के आक्षेप भरे वचनों ने भी उसके हृदय मे उपदेश का काम कर दिया। और जन्म देने वाली माता सुनीति तथा श्री नारद जी का उपदेश पाकर ध्रुव जप, ध्यान और तपश्चर्या मे संलग्न हो गया, जिससे वह शीघ्र ही परम पद को प्राप्त हो गया। इसी प्रकार श्री नारद जी का उपदेश पाकर भक्त प्रह्लाद ने निष्काम भाव से भक्ति करके उत्तम से उत्तम गति प्राप्त की। प्रह्लाद ने पाठशाला में पढ़ते समय भारी से भारी अत्याचारों को सहते हुये भी भगवान् की भक्ति करते तथा बालकों से कराते हुये भगवद् दर्शन प्राप्त किये। उसकी भक्ति का प्रभाव देखिये।

जहरीले सर्पों के विष तथा अग्नि की लपटों का भी उस पर कोई असर नहीं हुआ। इसके सिवा, उस-पर और भी बहुत से अत्याचार हुये, किन्तु प्रह्लाद का बाल भी बाँका नहीं हुआ।

जाको राखै साइयाँ मार सकै ना कोय।
बाल न बाँका कर सके जो जग बैरी होय॥

प्रह्लाद मन से सर्वत्र भगवान् के नाम गुणों का कीर्तन किया करते थे। हिरण्यकशिपु के भय, लोभ और त्रास देने पर भी प्रह्लाद अपनी भक्ति पर डटे रहे तथा अत्याचारों को सहते रहे। अतः किसी अत्याचार का प्रतिकार बिना किये ही भक्ति के प्रभाव से सब अत्याचार निष्फल हो गये। यह समझकर हम लोगों को बड़े उत्साह के साथ भगवान् के नाम और रूप को याद रखते हुये ही सब काम करते रहना चाहिये। भगवान् ने अर्जुन को भी यही आदेश दिया है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥७-८॥

'इस लिये हे अर्जुन! तू सब समय मे निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमे अर्पण किये हुए मन बुद्धि से युक्त होकर तू निस्सन्देह मुझे ही प्राप्त होगा।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ भी मेरी कृपा से सनातन अवि-नाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है।'

अतएव हम लोगों को सदा सर्वदा सब प्रकार से भगवान् का आश्रय लेकर ही सब कर्मों को करना चाहिये। इस प्रकार करने पर सम्पूर्ण आधिभौतिक आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों का तथा पापों का अत्यन्त अभाव होकर परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है।

दुखी जीवन

(स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी)

हिन्दू दर्शन दुःखवाद है, बौद्ध दर्शन दुःखवाद है और ईसाई दर्शन भी दुःखवाद है। मनुष्य सुख की खोज मे आदिकाल से रहा है और इसी की प्राप्ति उसके जीवन का सदैव मुख्य उद्देश्य रही है। दुःख से वह इतना घबराता है कि इस जीवन मे ही नहीं, आने वाले जीवन के लिये भी ऐसी व्यवस्था करना चाहता है कि वहाँ भी सुख का उपभोग कर सके। जन्नत और स्वर्ग, मोक्ष और निर्वाण, सब उसी आकांक्षा की रचनायें हैं। सुख की प्राप्ति के लिये ही हमने जीवन को निस्सार और संसार को अनित्य कहकर अपने मन को शान्त करने की चेष्टा की। जब जीवन मे कोई सार ही नहीं, और संसार अनित्य ही है, तो फिर क्यों न इनसे मुँह मोड़कर बैठें? लेकिन हम क्यों दुखी होते हैं, वह कौन-सी मनोवृत्ति है जो हमें दुख की ओर ले जाती है, इस पर हमने विचार नहीं किया। आज हम इसी प्रश्न की मीमांसा करेंगे और देखेंगे कि इस अन्धकार मे कहीं प्रकाश भी मिल सकता है या नहीं।

दुःख के दो बड़े कारण हैं—एक तो वे रूढ़ियाँ जिनमें हमने अपने को और समाज को जकड़ रक्खा है, दूसरा वे व्यक्तिगत मनोवृत्तियाँ हैं जो हमारे मनको सङ्कुचित रखती हैं और उसमे बाहर की वायु और प्रकाश नहीं जाने देतीं। रूढ़ियों से तो हम इस समय बहस नहीं करना चाहते, क्योंकि

उनका सुधार हमारे बसकी बात नहीं, वह समष्टि की जागृति पर निर्भर है, लेकिन व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का संस्कार हमारे बस की बात है, और हम अपना विचार यह तक परिमित रक्खेंगे।

अक्सर ऐसे लोग बहुत दुखी देखे जाते हैं जो असंयम के कारण अपना स्वास्थ्य खो बैठे हैं, या जिन पर लक्ष्मी की अकृपा है। लेकिन वास्तव में सुख के लिये न धन अनिवार्य है न स्वास्थ्य। कितने ही धनी आदमी दुखी हैं, कितने ही रोगी सुखी हैं। सुखी जीवन के लिये मनका स्वस्थ होना अत्यन्त आवश्यक है। लेकिन फिर भी सुखी जीवन के लिये नीरोग शरीर लाजिमी चीज है। सभी तो ऋणी नहीं होते। बलवान् और स्वस्थ मन, बलवान् और स्वस्थ देह मे ही रह सकता है। साधना और तप इस नियम मे अपवाद उत्पन्न कर सकते हैं, लेकिन साधारणत स्वस्थ देह और स्वस्थ मन मे कारण और कार्य का सम्बन्ध है। यद्यपि वर्तमान रहन-सहन ने इसे दुस्तर बना दिया है, तथापि सामान्य मनुष्य अगर बुद्धि से काम ले और प्राकृतिक जीवन के आदर्श की तरफ से आखे न बन्द कर ले, तो वह अपनी देह को नीरोग रख सकता है। देह तो एक मशीन है। इसे जिस तरह कोयले-पानी की जरूरत है उसी तरह इससे काम लेने की जरूरत है। अगर हम इस मशीन से काम न ले तो बहुत थोड़े दिनों मे इसके पुर्जों मे मोरचा लग जायगा। मजदूरों के लिये यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तो केवल उन लोगों के लिये है जो गद्दी या कुर्सी पर बैठकर काम करते हैं। उन्हें कोई न कोई कसरत जरूर करनी चाहिये। क्रिकेट और टेनिस के लिए हमारे पास साधन नहीं हैं तो क्या हम अपने घर मे सौ-पचास डड बैठक भी नहीं लगा सकते ? अगर हम स्वास्थ्य के लिये एक घन्टा समय नही दे सकते तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि हम सुख को ठोकरों से मार कर अपने द्वार से भगाते हैं।

भोजन का प्रश्न भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। कौन चीज किस तरह और कितनी खाई जाय, इस विषय मे मूर्खों से अधिक शिक्षित लोग गलती करते हैं। अधिकतर तो ऐसे आदमी मिलेंगे जो इस विषय मे कुछ जानते ही नहीं। जिन्दगी का सबसे बड़ा काम है भोजन। इसी धुरी पर ससार का चक्र चलता है, और उसी के विषय मे हम कुछ नही जानते ! बच्चों मे शील और विनय का तथा बड़ों में संयम का पहला पाठ भोजन से आरम्भ होता है। यह हास्यास्पद सी बात है, पर वास्तव में आत्मोन्नति का पहला मन्त्र भोजन में पथ्यापथ्य का विचार है।

दुःख का एक बड़ा कारण है अपने ही आप में डूबे रहना, हमेशा अपने ही विषय मे सोचते रहना हम यों करते यों होते, वकालत पास करके अपनी मिट्टी खराब की, इससे कहीं अच्छा होता कि नौकरी कर ली होती। अगर नौकर हैं तो यह पछतावा है कि वकालत क्यों न कर ली ? लड़के नहीं हैं तो यह फिक्र है कि लड़के कब होंगे ? लडके हैं तो रो रहे हैं कि ये क्यों हुये, यह बच्चे-बच्चे न होते तो कितने आराम से जिन्दगी कटती। कितने ही ऐसे हैं जो अपने वैवाहिक जीवन से असन्तुष्ट हैं। कोई माँ-बाप को कोसता है जिन्होंने उसके गले मे जबरदस्ती जुआ डाल दिया—कोई मामा या फूफा को जिन्होंने विवाह पक्का किया। अब उनकी सूरत भी उसे पसन्द नहीं। बीबी से आये दिन ठनी रहती है—वह सलीका नहीं रखती, मैली है, फूहड है, मुर्दा है। या मुहर्रमी है। जब देखा, मुँह लटकाये बैठी रहती है। यह नहीं कि पति महोदय दिन भर के बाद घर मे आये हैं तो लपक कर उनके गले से लिपट जाय, इस श्रेणी मे अधिकतर लेखक-समाज और नव-शिक्षित युवक हैं। ये दूसरों की बीबीयों को देख कर अपनी क़िस्मत ठोकते हैं—वह कितनी सुघड़

है, कितनी हँसमुख, कितनी सुरुचि रखने वाली ! दिन-रात बेचारे इसी डाह मे जलाकरते हैं । कुछ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि सारी दुनियाँ उनकी प्रशसा करती रहे । खुद जब मौका पाते हैं, अपनी तारीफ शुरू कर देते हैं । वे खुद किसी के प्रशंसक नहीं बनते, किसी से प्रेम नहीं करते । लेकिन इच्छुक हैं कि दुनियाँ उनके आगे नतमस्तक खडी रहे, उनका गुण-गान करती रहे । दुनियाँ उनकी कद्र नहीं करती इस फिक्र मे घुले जाते हैं, इससे उनके स्वभाव और व्यवहार मे कटुता आ जाती है। और ऐसे लोग तो घर-घर मिलेंगे जो निन्नानवे के फेर मे पडकर जीवन को भार बना लेते हैं। संचय-संचय लगातार संचय ! इसी मे उनके प्राण बसते हैं। ऐसा आदमी केवल उन्हीं से प्रसन्न रहता है,जो सचय में उसके सहायक होते हैं। और किसी से उसे सरोकार नहीं । बीबी से हँसने-बोलने का उन्हें समय नहीं, लड़कों को प्यार करने और दुलारने का उन्हें बिलकुल अवकाश नहीं। घर मे किसी से धेले का नुकसान भी हो गया तो उसके सिर हो जाते हैं। बीबी ने अगर एक आने की जगह पाँच पैसे की तरकारी मँगवाली तो पति को रात भर भौंकने का मसाला मिल गया—तुम घर लुटा दोगी, तुम्हें क्या खबर पैसे कैसे आते हैं, आज मर जाऊँ तो भीख माँगती फिरो । ऐसे-ऐसे दिल जलाने वाली बातें करके आप रोता है और दूसरों को रुलाता है। लडके से चिमनी टूट गई, तो कुछ न पूछो। बेचारे निरपराध बालक की शामत आ गयी । मारते-मारते उसकी खाल उधेड़ डाली। माना लड़के से कुछ नुकसान हुआ, तुम गरीब हो और तुम्हारे लिये दो चार आने का नुकसान भी कठिन है। लेकिन लडके को पीटकर तुमने क्या पाया ? चिमनी तो जुड़ नहीं गयी ? हाँ स्नेह का बन्धन जरूर टूटते-टूटते हो गया । यह सब अपने मे डूबे रहने वालों का हाल है। उनके लिये केवल यही औषध है कि अपने विषय मे इतनी चिन्ता न करे, दूसरों मे भी दिलचस्पी लेना सीखे—चिडिया पालना फूल-पौधे लगाना, गाना-बजाना, गप-शप करना, किसी आन्दोलन मे भाग लेना। गरज मन को अपनी ओर से हटाकर बाहर की ओर ले जाना ही ऐसे चिन्ताशील प्रकृतिवालों के लिये दु.ख-निवारक हो सकता है ।

उदासीन प्रकृतिवाले भी अक्सर दुखी रहते हैं। ससार मे इनके लिये कोई सार वस्तु नहीं। यह मरज अधिकतर उच्चकोटिके विद्वानों को होता है। उन्होंने संसार के तत्त्व को पहचान लिया है और जीवन मे अब ऐसी उन्हें कोई वस्तु नहीं मिलती जिसके लिये वे जियें ! संसार रसातल की ओर जा रहा है, लोगों से प्रेम उठ गया, सहानुभूति का कहीं नाम नहीं, साहित्य का डोंगा डूब गया जिससे प्रेम करो वही बेवफाई करता है, ससार मे विश्वास किस पर किया जाय ?—यह चीज तो उठ गयी, अब लखन से भाई और हनुमान से सेवक कहाँ ? यह उदासीनता अधिकतर उन्हीं लोगों मे होती है जो सम्पन्न हैं, जिन्हें जीविका के लिये कोई काम नहीं करना पड़ता। मजे से खाते हैं और सोते हैं। क्रियाशीलता का उनमें अभाव होता है। वे दुनियाँ में केवल रोने के लिये आये हैं, किसी का उनकी जात से उपकार नहीं होता। हरएक चीज मे ऐब निकालना, हरएक चीज से असन्तुष्ट रहना, यही उनका उद्यम है। ऐसे लोगों का इलाज यही है कि तुरन्त किसी काम में लग जायें। और कुछ न हो सके तो ताश खेलना ही शुरू कर दें। कोई भी व्यसन उस रोने से अच्छा है, ससार कब रसातल की ओर नहीं जा रहा था ? जब कौरवों ने द्रौपदी को भरी सभा मे नंगा करना चाहा और पाण्डव बैठे टुकुर-टुकुर देखते रहे, क्या तब ससार रसातल को नहीं जा रहा था ? किस युग में भाई ने भाईका गला नहीं काटा, कब मित्रों ने विश्वास-घात नहीं किया,

व्यभिचार नहीं हुआ, शराब के दौर नहीं चले, लड़ाइयाँ नहीं हुईं, अधर्म नहीं हुआ ? मगर पृथ्वी आज भी वहीं है जहाँ दस हजार वर्ष पहले थी ! न रसातल गयी न पाताल ! और इसी तरह अनन्त काल तक रहेगी। सन्देह जीवन का तत्त्व है। स्वस्थ मन में सदैव सन्देह उठते हैं और ससार मे जो कुछ उन्नति है उसमे सन्देह का वहुत हाथ है। लेकिन सन्देह क्रियाशील होना चाहिये, जो नित नये आविष्कार करता है, जो साहित्य और दर्शन की सृष्टि करता है। संसार अनित्य है तो आपको इसकी क्या चिन्ता है ? विश्वास मानिये, आपके जीवन मे प्रलय न होगा। और अगर प्रलय भी हो जाय तो आपके चिन्ता करने की वजह ? जो सवकी गति होगी वही आपकी भी होगी। घर से वाहर निकलकर देखिये – मैदान मे कितनी मनोहर हरियाली है, वृक्षों पर पक्षियों का कितना मीठा गाना हो रहा है, नदी मे चाँद कैसा थिरक रहा है ? क्या इन दृश्यों से आपको जरा भी आनन्द नहीं आता ? किसी झोपडीमें आकर देखिये। माता फाके कर रही है, पर कितने प्रेम से वालक को अपने सूखे स्तन से चिपटाये हुये है ! पत्नी अपने वीमार पति के सिरहाने बैठी मोती वरसा रही है और ईश्वर से मनाती है कि पति की जगह वह खुद वीमार हो जाय। विश्वास कीजिये, आप सेवा और त्याग तथा विश्वास के ऐसे ऐसे कृत्य देखेंगे कि आपकी आँखें खुल जायेंगी। हो सके तो उनकी कुछ मदद कीजिये, प्रेम करना सीखिये। उस उदासीनता की, उस मानसिक व्यभिचार की यही दवा है।

आजकल दु.ख की एक नई टकसाल खुल गई है और वह है—जीवन संग्राम ! जीवन-संग्राम ! जिधर देखिये, यही आवाज सुनायी देती है। इस संग्राम में आप किसी से सहानुभूति की, क्षमा की, प्रोत्साहन की आशा नहीं कर सकते। सभी अपने अपने नख और दन्त निकाले शिकार की ताक मे वैठे हैं। उनकी क्षुधा प्रशान्त महासागर से भी गहरी है; किसी तरह शान्त नहीं होती। काश ! यह दिन चौवीस घंटों की जगह अड़तालीस घंटों का होता। इधर सूर्य निकला और उधर मशीन चली। फिर वह दो वजे रात से पहले वन्द नहीं हो सकती—एक मिनट के लिये भी नहीं। नाश्ता खड़े-खड़े कीजिये, खाना दौड़ते-दौड़ते खाइये, मित्रों से मिलने का समय नहीं, फालतू वातें सुनने की फुर्सत नहीं। "मतलव की वात कहिये साहव, चटपट ! समय का एक-एक मिनट अशर्फी है, मोती है, उसे व्यर्थ नहीं खो सकते"। यह संग्राम की मनोवृत्ति पच्छिम से आई है और वड़े वेग से भारत मे फैल रही है। वडे-वड़े शहरों पर तो उसका अधिकार हो चुका। अव छोटे-छोटे शहरों और कस्वों में भी उसकी अमलदारी होती जाती है। मन्दी, तेजी, वाजार के चढ़ाव-उतार, हिस्सों का घटना-वढ़ना—यही जीवन है। नींद मे भी यही मन्दी-तेजी के स्वप्न देखते हैं ! पुस्तकें पढ़ने की किसे फुरसत, सिनेमा देख लेंगे। उपन्यास कौन पढ़े, छोटी-छोटी कहानियों से मनोरञ्जन कर लेते हैं। लेकिन यह खब्त भी है कि हम किसी क्षेत्र मे भी किसी से पीछे न रहें। साहित्य और दर्शन और राजनीति, हर विषय मे नई से नई वातें भी हमसे वचने न पायें। सुरुचि और सर्वज्ञता के प्रदर्शन के लिये नई से नई पुस्तकें तो मेज पर होनी ही चाहिये। किसी तरह उनका खुलासा मिल जाय तो क्या कहना, दस मिनट में किताव का लुव्वे-लवाव मालूम हो जाय। आलोचना पढ़कर भी तो काम चल सकता है। इसीलिये लोग आलोचनाएँ वडे शौक से पढ़ते हैं। अव हम उन ग्रन्थों पर अपनी राय देने के अधिकारी हैं। सभ्य समाज मे कोई हमे मूर्ख नहीं कह सकता।

इस भाग-दौड़ के जीवन मे आनन्द के लिये कहाँ स्थान हो सकता है ? जीवन मे सफलता अवश्य आनन्द का एक अंग है, और बहुत ही महत्वपूर्ण अंग, लेकिन हमें उस तेज घोड़े को अपने कोड़े के नीचे रखना चाहिये। यह नहीं कि वह हमे जिधर चाहे लिये दौड़ता फिरे। जीवन को संग्राम समझना—यह समझना कि यह केवल पहलवानों का अखाड़ा है और हम केवल अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पछाड़ने के लिये ही संसार में आये हैं, उन्माद है। इसका परिणाम यह होता है कि हमारी इच्छा तो वलवान्

हो जाती है, लेकिन विचार और विवेक का सर्वनाश हो जाता है। इसका इलाज केवल यह है कि हम सन्तोष और शान्ति का मूल्य समझें। जीवन का आनन्द खोकर जो सफलता मिले वह वैसी ही है। जैसे अन्धी आँखों के सामने कोई तमाशा। सफलता का उद्देश्य है आनन्द। अगर सफलता से दुःख बढ़े, अशान्ति बढ़े, तो वह वास्तविक सफलता नहीं है।

भविष्य की चिन्ता दुख का कारण ही नहीं, प्रधान कारण है। "कल कहीं चल बसे तो क्या होगा? घर का कुछ इन्तजाम भी न कर सके। मकान न बनवा सके। पोते का विवाह भी न देखा। इधर हमने आँखें बन्द कीं और उधर गृहस्थी तीन तेरह हुई। लड़का उड़ाऊ है, पैसे की कद्र नहीं करता, न ज़माने का रुख देखता है"। इस चिन्ता में रात को नींद नहीं आती, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। ऐसा मनोवृत्ति नई-नई शंकाओं की सृष्टि करने में निपुण होती हैं। दो-च्चार दिन खाँसी आई तो तुरन्त तपेदिक की शंका होने लगी। दो-च्चार दिन हल्का ज्वर आया तो शंका हुई जीर्ण ज्वर है, अगर जवानी में आँखें बहक गयी हैं तो अब पाप की भावना हृदय को दबाये हुये है। यही शका लगी हुई है कि उस अपराध के दण्ड स्वरूप न जाने आफ़त आने वाली है। लड़का बीमार हुआ और मान-मनौती होने लगी। बस वही दण्ड है। किसी बड़े मुकदमे मे हारे और वही शंका सिर पर सवार हुई। बस यह सब उसी का फल है। इतना बोझा लेकर बैतरणी कैसे पार होगी? नरक की भीषण कल्पना खाना-पीना हराम कर देती है। इलाज यही है कि आदमी हर एक विषय पर ठण्डे मन से विचार करे यहाँ तक कि उसपर उसके सारे पहलू रोशन हो जायँ। तुम क्यों समझते हो कि तुम्हारे लड़के तुम से ज्यादा नालायक होंगे? इसी तरह देख-भाल मजे से कर रहे हो। तुम्हारे बाद इसी तरह तुम्हारा लड़का भी घर सम्भाल लेगा। मुमकिन है, वह तुमसे ज्यादा चतुर निकले।

× × स्वयं विचार करो कि वास्तव में दुष्कर्म क्या हैं? अपने कारोबार में काइयाँपन, नौकरों से कटु व्यवहार, बाल-बच्चों पर अत्याचार, अपने सहवर्गियों से ईर्ष्या और द्वेष, प्रतिद्वन्दियों पर मिथ्या आरोप, बुरी नीयत, दग़ा-फरेब—ये सब वास्तव में दुष्कर्म हैं, पाप हैं जिनकी क़ानून में भी सजा नहीं, लेकिन जिनसे मानव-समाज का सर्वनाश हो रहा है। मन में पाप की कल्पना का बैठ जाना हमारे आत्म-सम्मान को मिटा देना है और जब आत्म-सम्मान चला गया तब समझ लो कि बहुत कुछ चला गया। पापाक्रान्त मन सदैव ईर्ष्या से जला करता है, सदैव दूसरों के ऐब देखता रहता है, सदैव धर्म का ढोंग रचा करता है। जब तक वह दूसरों के पाप का पर्दा न खोल दे और अपनी कर्म-परायणता प्रमाणित न कर दे, उसको शान्ति नहीं।

हमारे दो-एक मित्र ऐसे हैं जिन्हें हमेशा यह फ़िक्र सताया करती है कि लोग उनसे जलते हैं, उनके लेखों की कोई प्रशंसा नहीं करता, उनकी पुस्तकों की बुरी आलोचनाएँ ही होती हैं। अवश्य ही कुछ लोगों ने एक गुट बनाकर उनका अनादर करना ही अपना ध्येय बना लिया है। ऐसे आदमी सदैव दूसरों से इस तरह सशंक रहते हैं, मानो वे खुफिया पुलिस हों। बस, जिसने उनकी प्रशंसा न की उसे अपना दुश्मन समझ लिया। इसका कारण इसके सिवा और क्या है कि वे अपने को उससे कहीं बड़ा आदमी समझते हैं जितने वे हैं। संसार को क्या ग़रज़ पड़ी है कि उनके पीछे हाथ धोकर पड़ जाय। हम अपनी रचना को अमूल्य समझें, इसका हमें अधिकार है, लेकिन दूसरे तो उसे तभी अमूल्य समझेंगे जब वह अमूल्य होगी। यह मनोवृत्ति जब बहुत बढ़ जाती है तब आदमी अपने लड़कों को ही अपना बैरी समझने लगता है। वह कदाचित् आशा करता है कि उसके लड़के अपने लड़कों से ज्यादा उसका ख़याल रक्खें। यह अस्वाभाविक है। किसी को यह अधिकार नहीं कि वह किसी दूसरे को, चाहे वह उसका लड़का ही क्यों न हो, उसके स्वाभाविक मार्ग से हटाकर अपनी राह पर लगाये। (सं०)

आत्मविस्मृति ही दुःख है

(पं० श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे)

संसार जैसा कुछ दिखाई देता है, वैसा नहीं है यह है आनन्दमय और दिखाई देता है दुःखमय, यही तो माया है और यह माया हमारे एक एक रग और रेशे में फैली हुई है। इसी कारण से संसार की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सम्बन्ध प्रत्येक घटना जैसी है वैसी नहीं दिखाई देती, कुछ भिन्न ही प्रकार की दिखाई देती है। हमारा शरीर पञ्चभूतों से बना है और पञ्चमहाभूतों का अंश है, पर दिखाई ऐसा देता है मानों पञ्चमहाभूत कोई दूसरी चीज़ हैं और यह शरीर कोई दूसरी चीज, उस पञ्चमहाभूतात्मक शरीर को हम जैसा समझते हैं वैसा नहीं है इसका कोई भी भाग इन पञ्चमहाभूतों से पृथक नहीं है। हमारे शरीर में जो आकाश है वह ऊपर के महाकाश से सदा मिला हुआ है, हमारे शरीर में जो पृथ्वी का अंश है वह सदा संसार भर की पृथ्वी से अभिन्नतया मिला हुआ है, यह शरीर जिस पृथ्वी पर है उसी पृथ्वी से एक क्षण के लिये भी पृथक नहीं हो सकता, योगियों के शरीर पृथ्वी से अलग होते हैं, पर जिस हालत में होते हैं उस हालत में यह पृथ्वी भी अपने पार्थिवरूप से अलग होती है, हमें जल दिखाई देता है पृथ्वी पर, पर वास्तव में पृथ्वी जल में है और जल अग्नि में है जो एक असम्भव सी बात मालूम होती है, इसी प्रकार अग्नि वायु के भीतर और वायु आकाश के भीतर है। हमें घट में घट की मिट्टी आकाश को घेरे हुये दिखाई देती है पर यथार्थ में आकाश घट को घेरे हुये है, यह लम्बी चौड़ी पृथ्वी एक महान् जलार्णव के बीच में मिट्टी के एक लौंदे के समान कही गयी है। यह महान् जलार्णव अग्नि के बहुत बड़े आग्नेयार्णव के भीतर एक सरोवर सा है और वह आग्नेयार्णव उससे भी कई गुना बड़ा वायव्यमहार्णव के भीतर है, और वह वायव्य महार्णव उससे अनन्त गुणा महान् आकाशार्णव के भीतर है। यह आकाशार्णव अविद्या नाम्नी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृति के भीतर है और यह अपरा प्रकृति परा प्रकृति के भीतर है, और यह परा प्रकृति परमात्मा के भीतर है। परमात्मा सारे संसार को घेरे हुये है उसके भीतर यह सब महार्णव हैं और इन सबसे घिरा हुआ हमारा ये संसार है। यह भगवान् से घिरा हुआ है, इसका एक एक अणु भगवान् से घिरा हुआ है और भगवान् आनन्दमय हैं, इसलिये यह संसार आनन्दमय के सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

पर यह दिखाई देता है दुःखमय इसका कारण क्या है? इसका कारण माया अर्थात् हमारा अज्ञान—हमारा यह न देख पाना कि हमारा यह संसार आनन्दमय भगवान् के भीतर है। जैसे समुद्र के भीतर मछली हो, और वह जल के लिये छटपटाये, वैसी ही अवस्था हम लोगों की है कि आनन्द महार्णव के भीतर रहते हुये भी हम लोग आनन्द के लिये छटपटा रहे हैं। आखिर यह अज्ञान भी कहाँ से आया? इसका उत्तर यही है कि यह हमारे अन्दर से आया, सर्वव्यापक भगवान् में जो कुछ है उसमें भी स्वभावतः ही वह चैतन्य है जिसमें एक होते हुये भी बहु होने की शक्ति है। और पूर्ण से पृथक् होकर पृथक् रूप से बहु होने की जो इच्छा है उस इच्छा से चैतन्य का वह अंश मन से घिर जाता है, यह जो घिर जाना है उसी को 'अहंकार' कहते हैं, 'अहंकार' और 'ममकार' रूप में जब यह प्रकट होता है तब चैतन्य अपृथक् होने पर भी पृथक् बना हुआ अंश बद्ध जीव हो जाता है उस बद्धता से अपना वास्तविक स्वरूप वह भूल जाता है आत्मरूप को इस विस्मृति के कारण वह बाह्य स्वरूप—सारे संसार के प्रत्येक पदार्थ को इसी आत्मविस्मृति के कारण पैमाने से देखता है और उसे तब संसार जैसा कुछ वास्तव में है वैसा नहीं दिखाई देता आनन्दमय संसार उसे दुःखमय दिखाई देता है और इस दुःखमय संसार में वह आनन्द को ढूंढ़ता है अपने आपको जो भूला हुआ है वह दूसरे को कैसे पहचान सकता है। और जो चीज वह चाहता है, जिसकी खोज में वह भटकता है, वह भी उससे ऐसे भटकने से कैसे मिल सकती है।

संसार में जितने उद्योग हो रहे हैं वे सब आनन्द की खोज के ही उद्योग हैं, चाहे वह बच्चों का स्कूल में पढ़ना हो या मैदान में खेलना, युवकों का ब्याह रचना हो या सन्तान की आशा करना, धन कमाना हो या नाम करना,

साँप-बिच्छू और सिंह व्याघ्र से डरना हो या उन्हें मार डालने की फिक्र करना, मृत्यु से भागना हो या मृत्यु के वश होना, युद्ध हारना हो या युद्ध जीतना, राज्य क्रान्ति हो या पर राष्ट्र पर आक्रमण करना, व्यापार की दुकान हो या कल कारखाना यह सब बद्ध जीवों के आनन्द की खोज के उद्योग हैं। यह उद्योग अच्छे या बुरे कुछ नहीं हैं, इनसे यदि आनन्द मिल जाय तो अच्छे हैं न मिले तो बुरे हैं, पर जब तक आत्म विस्मृति बनी हुई है, हम अपने आप को भूले हुए हैं, तब तक पहचान भी भूले हुए हैं रास्ता भी भूले हुये हैं, और इसी लिये फल भी भूला हुआ होता है। इसी लिये यह देखा जाता है कि आत्म विस्मृत कोई भी मनुष्य संसार में सुखी नहीं हुआ, सब प्राणियों के जीवनों का अन्तिम अनुभव यही रहा कि जीवन व्यर्थ ही बीता आनन्द की खोज में कहाँ-कहाँ भटके पर आनन्द मिला नहीं, उलटे दु:ख ही बढ़ता गया, इसी लिये कहा जाता है कि संसार दु:खमय है, पर दु:खमय है पूर्ण से पृथक होने के कारण पूर्ण से वियोग होने के कारण। बन्द कोठरी में अखिल वायु मण्डल से पृथक् होते ही जैसे हमारे प्राण घबराने लगते हैं वैसे ही पूर्ण जो श्री भगवान् हैं, उनसे पृथक् होते ही, सर्वाङ्ग दु:ख से व्याप्त हो जाता है, पूर्ण से अपूर्ण का यह वियोग है—संसार का सारा दु:ख विरह दु:ख है संसार का प्रत्येक दुखी प्राणी विरही है, चाहे उसके दु:ख का कोई भी प्रकार हो प्रत्येक दु:ख भगवान् का विरह है।

आत्मविस्मृति के जीवन में कुछ समय के लिए जो सुख मिलता है जिससे कभी-कभी मनुष्य उद्धत और उन्मत्त भी हो जाते हैं, वह तो दु:ख का बड़ा ही भयंकर स्वरूप है, उससे अच्छा हाल उन लोगों का है जो बेचारे दु:खी हैं क्योंकि वे उन्मत्त नहीं हैं, और संसार को दु:खमय ही मानकर, संसार-स्वामी की कुछ सुध लेते हैं। पर इनसे भी अच्छे शायद वे लोग हैं कि जो संसार के दु:ख मात्र को भगवान् के विरह का दु:ख मानते हैं, क्योंकि सच्ची बात यही है कि संसार में जो दु:ख हैं वह भगवान् का विरह ही है विरही सदा अपने प्रियतम का चिन्तन करता रहता है। और चिन्तन ही अपूर्ण का पूर्ण से मिलन का मार्ग है।

यह दु:खमय संसार अपने दु:ख से यही सूचित करता है कि वह आनन्दमय भगवान् की ओर जा रहा है और यही कारण है कि यह विश्व-जननी अपने उन्हीं सुपुत्रों को धन्य मानती है जो इस संसार में उत्पन्न हो कर भगवत्साक्षात्कार करके इस संसार का दु:ख हरते हैं और इसी लिये ऐसे महात्मा 'सर्वभूत हितेरता:' कहलाते हैं, भूतमात्र का कल्याण यही है कि भगवान् से जो उनका वियोग हो गया है सो फिर भगवान से योग होजाय।

संसार का सबसे बड़ा कल्याण यही है, जो लोग देश सेवा या संसार सेवा करना चाहते हों वे भगवान् योग करके सबके वियोग दु:ख को दूर करने की परम्परा से सिद्ध मुनि महात्माओं का जो योग चला आया हो उसमें युक्त हों, अन्य सब उद्योग जिनमें अपने स्वरूप की पहचान नहीं और इस कारण संसार के रूप की भी पहचान नहीं केवल दु:ख के ही साधन हैं।

संसार भगवान् का कर्म है, कर्म नाम संसार का है कर्म कहते हैं विसर्ग को अर्थात् सृष्टि रचने को—अपना संकल्प मूर्तिमान करने को और उस मूर्ति में आत्म-स्वरूप डालने को। मूर्ति कर्म है और मूर्ति को चैतन्य करना उस कर्म की परिसमाप्ति है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते

यदि परिसमाप्ति यही है कि श्री भगवान् के संकल्प से जो चैतन्यांश निकलकर कामवशात् अहंभाव से बद्ध होकर मूर्तिमान हुआ वह अपने अंश रूप को जानकर पूर्ण रूप के साथ योग युक्त हो। इस प्रकार यह संसार रूप कर्म—व्यष्टिश: और समष्टिश:—भगवत्संकल्प का मूर्तिमान रूप है और इसकी परिसमाप्ति श्री भगवान् के साथ इसका योग है। यह योग समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर उसको घेरे हुये है, श्री भगवान् की निज सत्ता में—जो नित्य योग है—तो किसी समय भी वियोग नहीं, परकर्म सत्ता में आत्मविस्मृति से जो वियोग हुआ है उसीसे संसार आनन्दमय होकर भी दु:खमय प्रतीत हो रहा है—नित्य योग के भीतर ही यह विरह दु:ख है, संसार के प्राणिमात्र का दु:ख इसी दु:ख का अंश है। आत्मविस्मृति के नष्ट होते ही संसार भगवान् से नित्य युक्त है ही।

आत्मविस्मृति की अवस्था में संसार दु:खमय है, आत्मस्मृति (कल्पना नहीं) के होते ही संसार आनन्दमय है, क्योंकि भगवान् के साथ संसार का नित्य योग प्रकट होगया इसी योग के लिये नानाविधि भावों से संसार तरस रहा है।

दुःख का आत्यन्तिक नाश

(परमभागवत श्रद्धेय श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार)

दु:ख का आत्यन्तिक नाश ही यथार्थ दु:खनाश है। यह आत्यन्तिक दु.ख नाश किसी भी स्थिति या वस्तु जन्य नहीं होता। यह स्वाभाविक होता है और दुःख के मूल कारण का नाश हो जाने पर स्वरूप सिद्ध आत्यन्तिक सुख के रूप मे प्रकट हो जाता है।

जो दु.ख नाश अनुकूलता की प्राप्ति से और प्रतिकूलता के नष्ट होने पर होता है, वह स्थायी नहीं होता परिस्थिति या भावना बदलने पर उसका पुनः प्रकाश हो जाता है। जगत् के सुख-दु.ख वस्तुत: किसी वस्तु घटना या स्थिति में नहीं हैं, वे तो अनुकूल-प्रतिकूल भावों में हैं। और यह अनुकूलता-प्रतिकूलता जगत् की वस्तुओं को अज्ञानवश नित्य, सत्य और सुखकर मानने के कारण भावों के परिवर्तन के अनुसार ही बदला करती हैं।

एक वस्तु में हमें अमुक लाभ दिखाई देता है, हमारी अमुक आवश्यकता की उससे पूर्ति होती है, इसलिये वह हमारे अनुकूल है, उससे हमे सुख मिलता है और उसके अभाव मे, न मिलने में या चले जाने में प्रतिकूलता का बोध होता है और हमें दुःख होता है। पर वही वस्तु यदि किसी हेतु से हानिकारक दिखाई देती है तो उसमें प्रतिकूल भावना हो जाती है, उससे होने वाला सुख मिट जाता है और दु ख का अनुभव होने लगता है। इससे यह सिद्धि होता है कि वस्तु में सुख-दुःख नहीं हैं, वे अनुकूल-प्रतिकूल भाव में हैं।

किसी एक आदमी की मृत्यु होती है, उसमें जिसका राग या ममत्व है, उसे दुःख होता है, जिसका द्वेष या द्रोह है, उसे सुख होता है। किसी कारण से परिस्थिति वश उसी पुरुष का वही राग का भाव बदलकर यदि द्वेष का हो जाता है और द्वेष का बदलकर राग के भाव में परिणित हो जाता है तो दुःख न होकर सुख होता है, और सुख न होकर दु ख होता है। अतएव किसी घटना में सुख-दुःख नहीं है, वह अनुकूल-प्रतिकूल भाव में ही है।

एक आदमी ध्यान करने के लिये अपनी इच्छा से कमरे मे किवाड़ बंद करके बैठता है या अपनी इच्छा से सर्वस्त्र त्यागकर फकीर हो जाता है एवं दूसरे एक आदमी को जबरदस्ती कमरे में बंद करके किवाड बंद कर देता है या उसका सर्वस्य छीनकर उसे फकीर बना देता है। इन दोनों की बाह्य स्थिति या स्वरूप सर्वथा एक-सा होता है परन्तु अनुकूल और प्रतिकूल भाव के कारण एक को सुख होता है, दूसरे को दु.ख। अतएव सुख-दु ख किसी स्थिति में नहीं हैं, वह अनुकूल-प्रतिकूल भाव में ही हैं।

ये अनुकूल-प्रतिकूल भाव मोह—भ्रान्त ज्ञान-जनित होते हैं। अतएव जब तक यह मोह रहेगा, तब तक अनुकूल-प्रतिकूल भाव रहेंगे ही। और तब तक इन भावों के कारण उत्पन्न होने वाले एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी सुख-दुःख भी रहेंगे ही वस्तुतः न यह सुख सुख है और न यह दु:ख ही दु.ख है।

वास्तविक दु:ख है आत्म-विस्मृति—भगवान् से विलग स्थिति। यह स्थिति जब नहीं रहेगी, तब वह सहज स्थिति प्राप्त होगी जिसमें आत्यन्तिक सुख की अनुभूति तथा दु.ख का आत्यन्तिक नाश है। उस स्थिति के सम्बन्ध में श्री भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(गीता ६। २२)

उस लाभ के प्राप्त होने पर उससे बढ़कर दूसरा कोई भी लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित होने पर भारी से भारी दुःख से भी चलायमान नहीं होगा।

सिनेमा पर बड़े-बड़े लोग क्या कहते हैं ?

आचार्य श्री विनोबा भावे

××× फिल्म-निर्माताओं पर प्रतिबन्ध लगाये जाने चाहिये जिससे कि वे ऐसे फिल्म न बनायें, जो समाज जनता के दिमाग को गन्दा करते हैं तथा स्वस्थ-साहित्य की मांग कम कर देते हैं।

यदि हम अपने नौजवानों को सही रास्ते पर बढ़ने देना और उन्हें स्वस्थ नैतिक चरित्र से पूर्ण वीर पुरुष बनाना चाहते हैं तो हमे ऐसे साधनों को खोजना होगा, जो उन्हें मनोरञ्जन के साथ ही साथ समुचित शिक्षा भी प्रदान करते हैं।

सभी सच्चे साहित्यिक 'सिनेमा के बढ़ते हुए खतरे' से चिन्तित हैं। पुराने जमाने में लोग दिन भर के काम-काज के बाद भजन कीर्तन मे भाग लेते थे और भगवान् के नाम का स्मरण करते हुए सोते थे और कोई आश्चर्य नहीं कि वे भले विचारों के होते थे। सिनेमा का प्रभाव इसके बिल्कुल विपरीत है।

××× स्वराज्य प्राप्ति के बाद अगर हम अपने—चारित्र्य में शिथिलता आने देंगे तो उसको कमाये हुए स्वराज्य को खोने की क्रिया का आरम्भ समझना होगा।

मुझे ऐसा मालूम हुआ है कि करीब बीस लाख लोग हर शाम सिनेमा देखते हैं। मुझे पता नहीं कि यह अन्दाज कैसे लगाया गया है ? लेकिन अगर यह सही है कि बीस लाख लोग हर रोज सिनेमा देखते हैं तो यह स्पष्ट है कि हिन्दुस्तानके तरुणों की मनोवृत्ति पर उसका देशव्यापी परिणाम होता है। मैंने हिसाब लगाया कि मैं एक साल से घूम रहा हूँ। रोजाना दो व्याख्यान देता था। इसके अलावा चर्चायें भी होती थीं। तो भी शायद ही बीस लाख लोगों के कानों पर मेरा सन्देश पहुँच पाया हो। अगर जितना प्रचार मेरे इतने परिश्रम से एक साल में हुआ, उतना तो हर रोज शामको इस प्रकार होता रहता है, तो वह कोई मामूली बात नहीं है। इसबात पर ध्यान देना जरूरी हो जाता है।

चर्चा में मैंने सुना कि सिनेमा-नियन्त्रण के खिलाफ यह विचार पेश किया जाता है कि 'उसके हमारे विचार-प्रकाशन के स्वातन्त्र्य पर आक्रमण होता है। हमारे संविधान मे विचार स्वतन्त्र्य को हर नागरिक का मौलिक अधिकार समझा गया है। उस अधिकार पर सिनेमा-नियन्त्रण से आक्रमण होता है'—ऐसा कहा जाता है।

यह सोचने का ढग बिल्कुल गलत है। विचार-प्रकाशन के स्वातन्त्र्य पर आक्रमण तो तब माना जायगा कि जब एक विचार-पंथोंवाले लोग दूसरे विचार-पन्थवालों के विचारों को दबायें। लेकिन सर्वसामान्य नीतिमत्ता, शील-संवर्धन और तरुणों के पुरुषार्थ के हित में यदि सोचा जाय तो इसको स्वातन्त्र्य में बाधा पहुँचाने वाला मानना गलत होगा। ऐसी मान्यता विचार-प्रकाशन के स्वातन्त्र्य को ही न समझने के बराबर है। यदि कोई आदमी खुले आम हिंसा, व्यभिचार, शराबखोरी, का प्रचार करना चाहे तो क्या हम उसपर डाले हुये नियंत्रण को विचार-प्रकाशन के स्वातन्त्र्य पर आक्रमण मानें ? और इसमे कोई विशेष सम्प्रदाय के विशिष्ट विचारों को दबाने की भी बात नहीं है।

× × ×

अगर हम ऐसे नियमों को नहीं मानेंगे तो हमारी आजादी बर्बादीका पर्यायवाची बन जायगी।

× × ×

इस विषय मे स्वैर वृत्ति से नहीं चलेगा। सिनेमा का नियमन सर्वसाधान्य चरित्र दृष्टि से, सदभिरुचि की दृष्टिमे तथा भारतीय संस्कृति की दृष्टि से करना चाहिये। हमारे नियमन की यह तीन कसौटियाँ होगी। अगर हम इन कसौटियों को मान्य रखते हैं और अपने सिनेमाओं का उचित नियमन करते हैं तो उसमे देश का हित है। नहीं तो, यह समझ लीजिये कि देश की रक्षा करना मुश्किल हो जायगा। मैं तो मानता हूँ कि उत्तम सेना से भी अधिक जरूरत दिमाग को बहकने न देने की तथा उसे शुद्धि के रास्ते पर चलाने की है। अगर हम देश की इस प्रकार रक्षा नहीं करेंगे तो हमारी सेना मे भी पुरुषार्थ नहीं रहेगा। जनरल करिप्पाने इस बात पर कहा है, वह उनकी क्षात्र-वृत्ति के अनुरूप ही है। सिनेमा-नियमन मे ढीलापन करना तो अपनी सरकार के लिये भी योग्य नहीं है। हमारी सरकार लोक कल्याण के लिये बनी है। इस लिये लोक कल्याण का ध्यान रखते हुए सज्जनों की राय को प्रमाण समझ कर नियमन का जल्दी से जल्दी इन्तजाम करना उसका कर्तव्य हो जाता।

मद्रास के वयो ज्ञान वृद्ध मुख्य मन्त्री श्री चक्र वर्ती राजगोपालाचारी जी

(१) मजदूरों के समारोह में आप ने कहा था —सिनेमा-निर्माता लोग गरीबों की कठिन कमाई का शोषण कर रहे हैं और जनता के चरित्र को भ्रष्ट कर रहे हैं। ××× वे मनुष्य की कमजोरियों को जानते हैं और गन्दे चित्र निर्माण करके लोगों की नीच प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर उन्हें दुर्भाग्य की ओर प्रेरित करते हैं। यदि श्रमजीवी लोग बार-बार सिनेमा गृहों मे नहीं जायेंगे तो वे अपना समय परिवार को सुखी बनाने मे लगा सकेंगे।

(२) छात्रों को सिनेमा देखने से विरत करने का प्रयास करते हुये आपने कहा—सिनेमा न देख कर आप लोगों को अपने घरों पर रहना अथवा अन्य कोई कार्य करना चाहिये। मैं सिनेमा व्यवसाय का विरोधी होने के कारण ऐसी बातें नहीं कह रहा हूँ, बल्कि इस लिये कि आज कल सिनेमा-चित्र आप के दिमाग को सड़ा डालते हैं। इसके कारण आप लोग सदैव इस प्रकार की बातें सोचने लगते हैं जो आप को नहीं सोचनी चाहिये। इससे आप का न केवल नैतिक और आत्मिक पतन होगा, प्रत्युत बौद्धिक अवनति भी अवश्यम्भावी है!

उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्री कन्हैलाल मणिकलाल मुंशी महोदय

×× प्लेटो ने कहा है कि मनुष्य सुन्दर वस्तुओं से सुन्दर विचारों की ओर और सुन्दर विचारों से सुन्दर जीवन की ओर अग्रसर होता है और सुन्दर जीवन से सर्वनिरपेक्ष परम सौन्दर्य की ओर बढ़ता है, किन्तु हालीउड की कुत्सित परम्परा के अनुकरण में बनायी गयी ऐसी वाहियात फिल्में हमें कुत्सित वस्तुओं से घृण्य विचारों की ओर और घृण्य से गर्हित जीवन की ओर ले जाती हैं। फिर हम गर्हित जीवन से चरम कुरूपता और वीभत्सता की ओर बढ़ने लगते हैं। जो स्त्री-पुरुष इस प्रकार के अनैतिक चित्रों के निर्माण मे योग देते हैं—उनमें से अनेक अपने निजी जीवन मे सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति होते हैं—क्या उन्होंने कभी यह सोचा है कि वे जनता के सामने और खासकर युवक और युवतियों के सामने कैसा गंदा चित्र पेश कर रहे हैं? और ऐसा वे क्यों करते हैं? इसका केवल एक ही उत्तर है—मनुष्य की गंदी-से-गंदी प्रवृत्तियों को उभाडकर पैसा कमाने के लिये!

शिक्षा की दृष्टि से सिनेमा से एक दूसरा और बड़ा खतरा है। हमारी संस्कृति मे सत्य और

अहिंसा क अन्यतम महत्त्व है। गांधी जी ने इन दोनों तत्त्वों को हमारी नयी शक्ति का आधार बना दिया है। शान्ति और न्याय के मान्य अग्रदूत हमारे प्रधान मन्त्री नेहरू जी गांधी जी की इस विरासत की रक्षा करने में सलग्न हैं और उन्होंने हिंसा के विरुद्ध राष्ट्र को सतर्क रहने की चेतावनी दी है, किन्तु ऐसे चित्र अपराध और हिंसा को आकर्पक बना देते हैं। रोज-ब-रोज हजारों सिनेमा घरों मे लाखों व्यक्तियों को अपराध, हत्या, कमीनापन और गंदे जीवन के बारीक-से-बारीक साधनों की शिक्षा दी जा रही है। इस प्रकार जनता के उच्च मनोभावों एव सौन्दर्य भावना को नष्ट किया जा रहा है। अखबारों के हास्य-स्तम्भ भी हत्या, अपहरण, डकैती आदि घटनाओं को सामान्य जीवन की मान्यता देकर जनता में अपराधी मनोवृत्ति को बढ़ावा दे रहे हैं। ऐसी स्थिति मे यदि सारे देश में हिंसा और अपराधों की बीमारी फैल रही है तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है!

मुझे मालूम हुआ है कि बहुत से युवक हजरत गंज मे लखनऊ की मुख्य सड़क पर ऐसे बुशकोट पहने हुये, जिनपर सिनेमा-स्टारों के भद्दे चित्र या गंदे डिजाइन छपे होते हैं, मटर गश्ती किया करते हैं। मुझे बताया गया है कि इसमे विश्वविद्यालय के छात्र भी शामिल हैं। मुझे इस पर विश्वास नहीं होता। एक शिक्षित और सम्भ्रान्त परिवार का व्यक्ति इस प्रकार की फूहड़ वेपभूपा मे सार्वजनिक सड़कों पर कैसे निकल सकता है।

उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मंत्री श्री हरगोविन्दसिंह जी

[कुछ दिन हुये बम्बई-मेल से यात्रा करती हुई सिनेमा की एक अभिनेत्री को देखने के लिये इलाहाबाद स्टेशन पर हजारों आदमी एकत्र हो गये। उनमे विद्यार्थियों की संख्या बहुत थी। आध घंटे गाड़ी को रुकना पडा। आतुर सिनेमा प्रेमियों ने जिस डिब्बे मे अभिनेत्री बैठी थी, उसके शीशे की खिड़कियों को तोड डाला, जय के नारे लगाये गये। इस उत्पात मे चार व्यक्ति घायल भी होगये। किसी महात्मा, महापुरुष या देश के विशिष्ट नेता के दर्शनार्थ लोगों का जमा होना जैसे उनकी नैतिकता को सिद्ध करता है, वैसे ही केवल नाच-गान तथा भाव व्यक्त करने में चतुर नाना प्रकार की कमजोरियों से भरी हुई किसी एक नटी के दर्शनार्थ भीड़ का इकट्ठा होना और उत्पात मचाना नैतिकता के निम्न स्तर का और असयम के नग्न नृत्य का मूर्तिमान् प्रदर्शन कराता है। इसी दुर्भाग्य का उल्लेख करते हुए उत्तर प्रदेश के शिक्षा मन्त्री श्री हरगोविन्द सिंह ने कहा—]

×××× लखनऊ मे बैठकर विभिन्न स्थानों से प्राप्त विद्यार्थियों की कृतियों के समाचार सुनकर मैं मारे शर्म के गड़ जाता हूँ। इलाहाबाद के स्टेशन पर कामिनी कौशल (सिनेमा की एक नटी) के जय के नारे लगा कर विद्यार्थियों ने जिस शिक्षा और नैतिक स्तर का परिचय दिया है क्या वही आज कल की शिक्षा का उद्देश्य है? यदि हाँ, तो मैं समस्त विश्वविद्यालयों और कालिजों का सदैव के लिए बन्द किया जाना ही श्रेयस्कार समझूँगा। क्या हम 'कामिनी कौशल की जय' बोलने के लिये ही उन्हें तैयार कर रहे हैं? एक दिन मैंने नैनीताल मे देखा कि विद्यार्थियों की बड़ी भीड़ चली जा रही है। पूछने पर मालूम हुआ कि किस सिनेमागृह में एक प्रसिद्ध एक्ट्रेस आयी हुई थी। आज कल के विद्यार्थियों को फिल्मी अभिनेताओं के जीवन की प्रत्येक बात मालूम है, परन्तु अपने देश के इतिहास और अपने नेताओं के सम्बन्ध मे उनका ज्ञान एकदम शून्य पडा है।

नोट—यह लेख श्रद्धेय श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार द्वारा लिखित "सिनेमा-मनोरंजन या विनाश का साधन" से उद्धृत है। स्थानाभाव के कारण पूरा लेख न दिया जा सका, आगामी अङ्क में पूरा किया जायगा।

सती श्यामा

(श्री मञ्जुल जी)

"जाको राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोय"

"शीघ्र आओ और आकर अन्तिम समय एक बार दर्शन कर जाओ" पत्र के यह वाक्य श्यामा के हृदय में शूल की भाँति चुभ रहे थे। प्राण पति के भावी वियोग की आशंका से उसे प्राणान्तक पीड़ा होरही थी, उसे आज ही अपने पिता के यहाँ श्वसुर का भेजा हुआ पतिदेव की बीमारी का पत्र प्राप्त हुआ है।

धीरपुर के प० लीलाधर ने अभी तीन वर्ष हुये तब अपनी प्रिय पुत्री श्यामा का विवाह शिवपुर निवासी पं० शिवमोहन के एकमात्र सुयोग्य पुत्र श्याम मोहन के साथ कर दिया था। बारात बड़ी धूम धाम से आई थी। पं० लीलाधर ने यथोचित सत्कार करके पर्याप्त दहेज देकर अपनी पुत्री को विदा कर दिया था।

श्यामा साधारण पढ़ी लिखी गृह कार्य में दक्ष हरि-भक्ति परायण कन्या थी। उसने अपनी माता से भगवान् की भक्ति तथा उत्तम पतिव्रतधर्म की शिक्षा पाई थी, उसका विश्वास था कि नारी का एकमात्र कल्याण पति भक्ति में ही है। नित्य निरन्तर भगवान् का भरोसा रखना उसका सहज स्वभाव सा बन गया था। ससुराल पहुँचते ही उसने अपने विनीत मधुर भाषण एवम् सहज स्वभाव से अपने सास ससुर एवम् स्वामी को वश में कर लिया था, वह बड़े सबेरे सबके जागने के पहिले उठकर भगवान् का नाम लेती थी। उसके पश्चात् सास ससुर तथा पति के चरण छूकर उनकी शय्या अपने हाथों समेट कर उठाती थी, अपने हाथों गृह में झाड़ू बुहारी लगाकर शीघ्र ही स्नान कर लेती थी, स्वयं स्नान करके यथा शक्ति अपने सास-ससुर तथा स्वामी के स्नान के लिये जल भरकर रख देती थी, स्नान के पश्चात भगवान् का पूजन, तुलसी-पूजन तथा थोड़ा सा हरिनाम जप करके तत्काल ही भोजन बनाने में लग जाती थी। ठीक समय पर स्वादिष्ट भोजन बनाकर सबको बड़े प्रेमसे खिलाती, भोजन से निवृत्त होकर जब उसे गृह कार्यों से अवकाश मिलता था तब वह अपनी सास को रामायण सुनाया करती थी। इस प्रकार उत्तम आचरण के द्वारा उसने सबको अपने वश में कर लिया था। सभी लोग उसको अपने प्राणों के समान प्यार करते थे, ठीक डेढ़ वर्ष के पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, शिवमोहन का गृह अब स्वर्ग से भी अधिक सुखदायक बन गया; दस महीने के पश्चात् एक दिन उसके पिता उसे अपने यहाँ धीरपुर ले आये, सास ससुर को पुत्रवधू के बिना घर सूना लगने लगा। ठीक १५ दिन बाद उसके स्वामी श्याममोहन को भयकर ज्वर चढ़ आया। श्याममोहन की माता घबड़ाती हुई अपने स्वामी से बोली, बहू को शीघ्र ही बुला लो उसके बिना अच्छा नहीं लगता। शिवमोहन ने कहा अभी इतनी शीघ्रता करने की आवश्यकता नहीं अभी पन्द्रह दिन हुये अपने माता पिता के यहाँ गई, अभी बुला लेने से उसके माता पिता दुखी होंगे, तनिक धीरज धरो, कुछ दिनों में जब श्याममोहन ठीक हो जायगा तब वह स्वयं अपनी पत्नी को वहाँ से बुला लायेगा। श्याममोहन की माता चुप होगई। शिवमोहन ने बहुत औषधोपचार किया किन्तु श्याम की हालत बिगड़ती ही गई। अन्त में उसको घोर सन्निपात ने धर दबाया वह मूर्छित होगया। बीच बीच में कुछ बकने लगता था, अन्त में उसकी मरणासन्न दशा देखकर शिवमोहन ने एक आदमी के द्वारा केवल पत्र भेजकर बहू को लिख दिया कि श्याम की हालत बहुत खराब है, यहाँ से कोई आ नहीं सकता। तुम चाहो तो किसी को साथ लेकर शीघ्र चली आओ और आकर अन्तिम समय एक बार दर्शन कर जाओ।

श्यामा के पिता लीलाधर जी घर पर नहीं हैं, उनका एक भाई भोला वह अर्ध विक्षिप्त सा है दुराचारियों ने उसको [illegible] पीना सीखा दिया था, जिससे वह प्रत्येक

समय पागल सा बना रहता है श्यामा ने सोचा कि पिता जी घर नहीं हैं. भाई की दशा शोचनीय है अब किस प्रकार शीघ्रता से स्वामी के अन्तिम दर्शन किये जावें।

उसके मन में बार-बार यह संकल्प उठता था कि हाय विधाता तुमने चिड़ियों की भाँति हमें पंख क्यों न दिये, जिससे मैं तत्काल ही उड़कर अभी पति के चरण पकड़ लेती, उसका जी तड़प रहा था अन्तरात्मा पति के दर्शन के लिये छटपटा रही थी बहुत सोच विचार कर उसने यह निश्चय किया कि चलो भोला को ही लेकर चल देवें, भगवान् सब रक्षा करेंगे। उसने तत्काल ही भोला को बुलाकर साथ चलने के लिये कहा, भोला तैयार हो गया। उसने अपने सुवर्ण के आभूषण सब पहन लिये तथा एक रेशमी साड़ी पहन कर बच्चे को गोद में लेकर भोला के साथ चल पड़ी, धीरपुर ग्रामसे स्टेशन दो मील थी, वह शीघ्रता से पैर बढ़ाती हुई भाई के साथ स्टेशन पर आ गई, थोड़ी देर में ट्रेन आई; वह टिकट लेकर ट्रेन पर सवार हो गई उसका भाई भोला ट्रेन पर बैठते ही खाली सीट पर लेट गया, ट्रेन रवाना हुई, भोला मदक के नशे में खूब सोने लगा ट्रेन पूरे वेग से जा रही थी। श्यामा का मन श्याम के चरणों में लगा हुआ था।

जब वह मन ही मन यह सोचने लगती कि क्या अब स्वामी के दर्शन नहीं होंगे तब उसके प्राण छटपटाने लगते। पत्र के वे शब्द यदि चाहो तो अन्तिम समय आकर एक बार दर्शन कर जाओ, उसको मर्मान्तक पीड़ा पहुँचा रहे थे, वह अपने हृदय में दीनबन्धु सर्व दुःख हारी, श्रीकृष्ण मुरारी से प्रार्थना कर रही थी कि दीनानाथ नारी का सर्वस्व पति ही है, उनके प्राण बचाना प्रभो! आप के हाथ है, यदि प्राण वल्लभ के दर्शन न कर पाऊँगी तब मैं जीकर क्या करूँगी, प्रभो शीघ्र दौड़कर इस अबला की रक्षा करो स्वामी को बचाओ, प्रार्थना करते-करते दो-तीन स्टेशन मध्य में निकल गये किन्तु उसका ज्ञान उसे कुछ भी न हुआ, अन्त में वह रुपेमपुर स्टेशन जहाँ उसे उतरना था पहुँच गई, वह झटपट उठकर भोला को जगाने लगी भइया, भइया! शीघ्र ही उठो उतरो देखो स्टेशन आ गया है भोला आँखें मलता हुआ उठा और फिर लेट गया। श्यामा यह समझकर कि भोला उठकर मेरे पीछे उतरता हुआ आ रहा है बच्चे को गोद में लेकर उतर गई। गाड़ी से नीचे उतरकर उसने देखा कि भोला अभी नहीं आया। अतएव वह भोला-भोला कहकर जोर से पुकारने लगी, किन्तु भोला नहीं उठा ट्रेन सीटी देकर चल दी श्यामा अपने बच्चे को गोद में लिये हुई अकेली प्लेटफार्म पर खड़ी रह गयी।

संध्या का समय निकट आ रहा है भगवान् भुवन भास्कर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर जा रहे हैं, ग्राम शिवपुर स्टेशन से ६ मील दूर है। अकेले किस प्रकार पहुँच सकूँगी स्वामी के दर्शन आज हो कैसे प्राप्त होंगे? अपने को असहाय अवस्था में पाकर वह क्षण भर के लिये बहुत व्याकुल हुई किन्तु सती नारियों का आत्मबल अद्भुत होता है, उसने धैर्य धारण करके अपनी सारी कथा स्टेशन मास्टर से जाकर निवेदन की और रोते हुये कहा कि पिता जी आप इस असहाय अबला की इस समय यदि थोड़ी सी सहायता कर देवें तो आपको महान् पुण्य होगा। यहाँ से दो मील की दूरी पर भद्रपुरा ग्राम में मेरी ममेरी बहन का घर है यदि आप दो विश्वासी सज्जन व्यक्ति मेरे साथ कर देवें तब मैं उनके साथ एक घंटे भर में अपनी बहन-बहनोई के यहाँ पहुँच जाऊँगी, वहाँसे अपने बहनोई के साथ आज अपने मरणासन्न पति के अन्तिम दर्शन प्राप्त कर लूँगी, आपका बहुत बड़ा सुन्दर उपकार होगा।

स्टेशन मास्टर भगवद्भक्त थे उन्होंने श्यामा से सान्त्वना भरे शब्दों में कहा बेटी घबड़ाओ नहीं मैं अभी तुम्हारे साथ दो आदमी भेजता हूँ. श्यामा मन ही मन भगवान् श्याम सुन्दर को धन्यवाद देने लगी। स्टेशन-मास्टर ने दो सज्जन रेल-कर्मचारी उसके साथ कर दिये, वे श्यामा को लेकर भद्रपुरा चल दिये। श्यामा अपने बच्चे को गोद में लिये हुये उनके पीछे-पीछे रवाना हुई।

भगवान् अंशुमाली अस्ताचल की ओर चले गये अभी कुछ लालिमा शेष थी समस्त पक्षी चह-चहाते हुये बसेरे के लिये अपने-अपने घोंसलों की ओर जा रहे थे वे लोग एक घंटे बाद भद्रपुरा पहुँच गये। ग्राम में पहुँचकर उन्होंने एक आदमी से पूछा भाई भोंदूलाल का घर कौनसा है ? उसने कहा वह सामने पेड़ के नीचे है।

उन्होंने भोंदू के द्वार पर पहुँच कर आवाज़ लगाई अजी भोंदूलाल जी, भोंदूलाल जी ! नाम का शब्द सुनकर घर के भीतर से एक व्यक्ति जो गठीला बदन, छोटी छोटी आँखें, क्रूर आकृति वाला था निकल आया उसने आते ही पूछा क्या है ? कौन किस लिये बुला रहा है, उन दोनों कर्मचारियों ने कहा कि देखो यह युवती स्त्री तुम्हारी सम्बन्धिनी है यह आज अभी शाम की ट्रेन से अकेले स्टेशन पर रह गई थी इसके कहने पर हम लोग तुम्हारे यहाँ इसको भेजने आये हैं। शेष अधिक विस्तार अब इससे ज्ञान लेना, हम लोग जाते हैं।

इतना कहकर वे लोग तीव्र गति से स्टेशन की ओर चले गये, भोंदूलाल ने अँधेरे में श्यामा से पूछा कि तुम कौन हो कहाँ से आई हो ? श्यामा ने अपने बहनोई को कभी देखा था नहीं उसकी ममेरी बहन कमला जब जीवित थी तब वह उसके गृह धीरपुर एक बार आई थी। साधारण वार्तालाप के प्रसंग में उसने बतलाया था कि मेरा घर स्टेशन से २ मील दूर भद्रपुरा में है, उसके बाद वह अपने घर चली गई श्यामा का विवाह होगया, विवाह के दो वर्ष बाद कमला का देहान्त होगया, भोंदू का आचरण दुष्ट होने के कारण सम्बन्धियों के यहाँ उसका आना जाना खान पानादि सभी व्यवहार बन्द थे, वे श्यामा के यहाँ कभी नहीं गये थे, अतएव श्यामा और भोंदू दोनों ही परस्पर एक दूसरे की सूरत से नितान्त अपरिचित थे। केवल दोनों को सम्बन्ध का ज्ञान था।

श्यामा ने कहा—आप धीरपुर के प० लीलाधर जी को जानते होंगे, मैं उन्हीं की पुत्री श्यामा हूँ।

भोंदूलाल—हाँ, हाँ मैं उन्हें अच्छी तरह से जानता हूँ वे मेरे फुफिया श्वसुर हैं उनके साले की कन्या मुझे ब्याही हुई थी, परन्तु श्यामा तुम रात्रि में अचानक कहाँ से आगई।

श्यामा—आपको मालूम होगा कि मैं आपके निकट ग्राम शिवपुर में ब्याही हुई हूँ, अभी १५ दिन हुए अपने पिता जी के साथ धीरपुर आगई थी, कल अचानक मेरे ससुर का पत्र मिला जिसमें लिखा था कि पतिदेव बहुत बीमार हैं, शीघ्र आओ और एक बार आकर अन्तिम दर्शन कर जाओ। पिता जी घर नहीं थे, विवश होकर मैं अपने पागल सरीखे भोला भाई को साथ लेकर चल पड़ी ट्रेन में भाई सो गया स्टेशन आने पर मैंने उसे बहुत जगाया किन्तु वह नहीं उठा, मैं नीचे उतर कर उसको पुकारती रही किन्तु वह नहीं उठा. ट्रेन सीटी देकर रवाना होगई मैं अकेली प्लेटफार्म पर रह गई. मैं बहुत व्याकुल हुई, अकेले रात्रि में शिवपुर कैसे पहुँचूँगी तत्काल ही मुझे कमला बहन का स्मरण आया उन्होंने बतलाया था कि स्टेशन से दो मील भद्रपुरा में मेरा घर है, मैंने स्टेशनमास्टर से जाकर अपनी कथा सुनाई उन्होंने दया करके दो व्यक्ति मेरे साथ कर दिये। उन्हीं के साथ मैं आप के पास आई हूँ मेरी आप से हाथ जोड़कर विनय है कि आप मुझे किसी प्रकार आज अभी मेरे साथ चलकर शिवपुर भेज आवें, मैं सदा ही उपकार मानूँगी।

भोंदू—श्यामा ? तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु इस घोर अँधेरी रात्रि में अकेला तुमको लेकर कैसे चल सकता हूँ। मेरी समझ से आज रात्रि भर तुम अपने इस गृह में निवास करो। कल प्रातः काल तुमको मैं अवश्य ही शिवपुर पहुँचा दूँगा।

श्यामा—(ठंडी गम्भीर श्वाँस लेकर) वैसे जैसी आप की इच्छा मेरा कोई दबाव. आप पर तो है नहीं किन्तु मैं आज ही शिवपुर पहुँचना चाहती हूँ, मेरा जी छट-पटा रहा है मुझे एक-एक क्षण वर्ष के समान व्यतीत हो रहा है. अतएव यदि आप कृपा करके अभी मेरे साथ चलकर शिवपुर पहुंचने का प्रयत्न करें तब आप को महान् पुण्य होगा। यद्यपि हमारी बहन कमला इस समय नहीं है किन्तु फिर भी आप उसके पति तो

अभी विद्यमान हैं, अस्तु मुझे जितनी अपनी उस बहन से सहायता की आशा थी उससे अधिक आप मेरी सहायता करेंगे, मुझे आप शिवपुर अभी भेज आवें मैं आप का जन्म भर उपकार मानूँगी।

भोंदू—आओ ऊपर चबूतरे पर आकर चौपाल में बैठो, देखो मैं प्रयत्न करता हूँ यदि कोई सवारी मिल गई तब तो मैं अभी तुमको शिवपूर ले चलूँगा, श्यामा कृतज्ञता पूर्ण हृदय से धीरे-धीरे चबूतरे पर चढ़कर चौपाल में आ गई—भोंदू दौड़ कर घर के भीतर से मिट्टी का दीपक उठा लाया, अभी तक अँधेरे के कारण वह श्यामा को भली भाँति नहीं देख सका था अब दीपक के प्रकाश में श्यामा का सहज सौंदर्य देखकर उसका मन मोहित हो गया, साथ ही श्यामा के शरीर पर बहुमूल्य स्वर्ण के आभूषण देखकर उसका मन और भी ललचाया उसने सोचा कि ऐसी सुन्दरी का उपभोग और धन दोनों का एक साथ ही लाभ लेना चाहिये। अन्त में इसको आज ही कहीं जंगलों में ले जाकर समाप्त कर दिया जावें। उसने चटाई बिछाते हुए कहा कि तुम इस पर यहा थोड़ी देर बैठो, अभी सवारी का प्रबन्ध करता हूँ तुम्हें शिवपुर लिये चलता हूँ श्यामा उसके कथनानुसार चटाई पर बैठ गई और भोंदू तीव्रगति से सवारी लेने के लिये चला गया।

श्यामा दीपक के प्रकाश में भोंदू की क्रूर आकृति देखकर डर गई थी, किन्तु आज ही शिवपुर पहुँचकर स्वामी के अन्तिम दर्शन प्राप्त हो सकेंगे इस आशा से धैर्य धारण करके वह भोंदू की प्रतीक्षा करने लगी।

थोड़ी देर बाद भोंदू अपनी पार्टी के एक आदमी का इक्का लेकर आगया, इक्का द्वार पर आकर ठहर गया भोंदू ने कहा चलो शीघ्र ही इक्के पर बैठो मैं अभी तुमको शिवपुर भेजे आता हूँ, तुम कुछ भय न करो हम दो आदमी तुम्हारे साथ हैं। श्यामा उसकी बात सुनकर सहम गई, किन्तु धैर्य धारण कर वह झट पट बच्चे को गोद में लेकर इक्के पर बैठ गई, रात्रि के दस बजने वाले थे, ग्राम का कोलाहल प्रायः बन्द सा हो गया था माघ का महीना था, सर्दी जोर से पड़नी प्रारम्भ हो गई। ग्राम के लोग अपने अपने घरों में मुख ढाँक कर सोने लगे। श्यामा के बैठ जाने पर इक्का रवाना हुआ हवा के झोंके उसके हृदय को हिलाये दे रहे थे, वह अपने एक मात्र कलेजे के टुकड़े को अञ्चल में छिपाये हुए मन ही मन भगवान् से प्रार्थना करती हुई जा रही थी, "नाथ? इस दुखिया अबला की लाज केवल एक तुम्हीं बचाने वाले हो, स्वामी मरणशय्या पर पड़े हुये हैं, इधर इस भयानक रात्रि में दो दुष्टों के साथ मैं अकेली जा रही हूँ प्रभो तुम्हीं रक्षा करोगे"।

इधर इक्का दो मील चलने के बाद सीधा मार्ग छोड़कर जंगल की घनी झाड़ियों की ओर चल पड़ा श्यामा ने धड़कते हुये कलेजे को थाम कर भोंदू से पूछा जीजा जी सीधा मार्ग छोड़कर इधर कहाँ लिये जा रहे हो, भोंदू ने कहा घबड़ाओ नहीं हमें मालूम है, इधर से सीधा मार्ग पड़ेगा उधर जाने से बहुत चक्कर पड़ता है श्यामा भोंदू की बात सुनकर चुप हो गई।

इक्के वाले ने तेजी के साथ इक्का निर्जन स्थान की झाड़ियों की ओर बढ़ाया, नितान्त जन शून्य स्थान में झाड़ियों के निकट झुरमुट में पहुँचकर इक्का सहसा रुक गया भोंदू ने विचित्र बोली में अपने साथी इक्के वाले से कुछ कहा, इक्के वाला उसकी बात सुनकर इक्के से कूद पड़ा, इक्का रुकते ही श्यामा ने पूछा, जीजा जी, इक्का खड़ा क्यों हो गया? मुझे शीघ्र ही शिवपुर पहुँचना है इसलिए शीघ्रता करो जल्द चलो। भोंदू ने हँसकर कहा प्यारी तनिक ठहरो फिर आगे चलेंगे, जो मरने वाला है वह मर ही गया होगा उसके पीछे तुम क्यों इतनी हैरान परेशान होरही हो, भोंदू की यह विकट हँसी देखकर श्यामा डर गई, परन्तु भाव बदलती हुई मधुरता से बोली जीजा जी, यहाँ एकान्त में आकर ऐसे संकट के समय मुझसे इसप्रकार विनोद करना आपको शोभा नहीं देता।

भोंदू ने डाँट कर कहा चुप रहो, मैं तुम्हारी बात कोई नहीं सुनना चाहता, झट पट इक्के से नीचे उतर
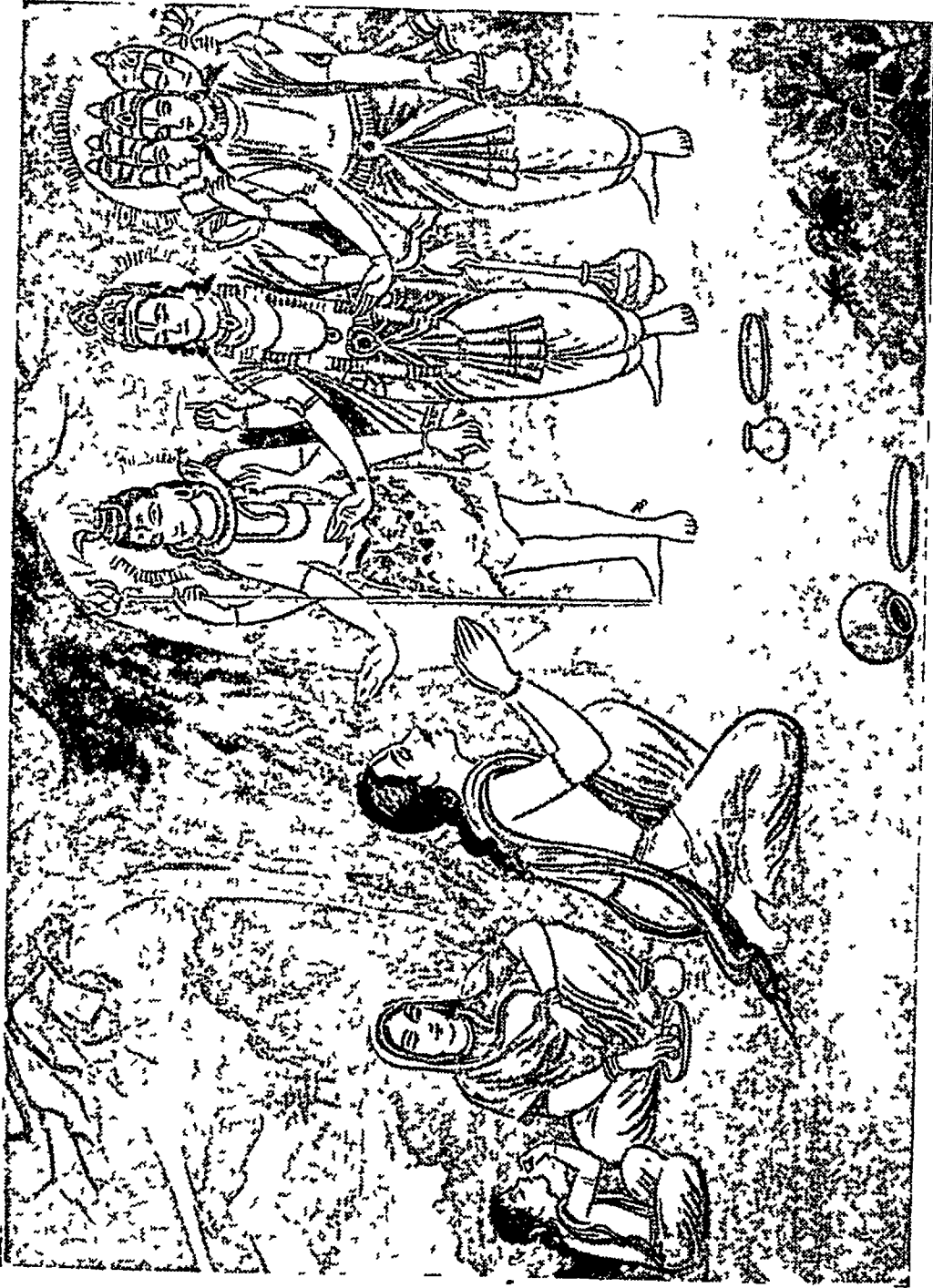
परदुख कातर रन्तिदेव ने किया सभी निज वैभव दान।
त्याग देख प्रगटे ब्रह्मादिक बोले माँगो कुछ वरदान॥
राजा बोले—चाह नहीं प्रभु स्वर्ग, सिद्धि, गति मिल जावे।
दुखियों के दुख मिले मुझे, वे अक्षय सुख-समृद्धि पावें॥

श्यामा ने जब आर्तभाव से टेर सुनाई हे! करतार।
होकर प्रगट दुष्ट-कर पकड़ा, दुखिया को झट लिया उबार ॥

आओ और जो मैं आज्ञा देता हूँ वह तत्काल करो।

श्यामा भय के मारे थर-थर काँपने लगी। इक्के वाले ने श्यामा का हाथ पकड़ कर नीचे घसीट लिया, वह घबड़ाकर गिर पड़ी उसका बच्चा इक्के पर ही छूट गया, भोंदू ने इक्के से अपना गँडासा निकाल लिया, उसे तान कर दिखाते हुये श्यामा से कहा कि पहले अपना कुल जेवर और साड़ी उतार कर मुझे दे दो, यदि तुमने मेरी आज्ञा पालन में पल भर का भी विलम्ब किया तब खूब समझ लो कि अभी मैं इस गँडासे से तुम्हारा सिर काट कर फेंक दूँगा। श्यामा ने घबड़ाकर रोते हुये कहा कि जीजा जी! तुम मेरे सोने के आभूषण और साड़ी सब कुछ ले लो किन्तु मुझे मारो नहीं छोड़ दो, एक बार मुझे अपने स्वामी के अन्त समय में मुख देख लेने दो उसके पश्चात् मुझे मार डालना। मैं मरने के लिये तैयार हूँ। ऐसा कहकर उसने अपना सब आभूषण और साड़ी उतार दी। भोंदू ने गरज कर कहा कि अब तुम शिवपुर जीवित नहीं जा सकती, तुम्हें जीवित छोड़ देने से मैं पकड़ा जाऊँगा, तुम जाकर सभी हाल बतला दोगी. जिससे मुझे अन्त में फाँसी हो जायगी। इसलिये शीघ्र मरने के लिये तैयार हो जाओ। श्यामा ने अत्यन्त आर्त स्वर में रोते हुये कहा जीजा जी! दया करो, दया करो, मुझे एक बार अपने स्वामी का अन्तिम दर्शन कर लेने दो, मैं किसी से आपका नाम नहीं लूँगी मेरे अभी मार जाने से यह मेरा लाल इस जंगल में बिलख बिलख कर मर जायेगा। इसे कोई न कोई जंगली जीव खा लेगा। इसलिये मुझे दया करके छोड़ दो, भोंदू ने कहा नहीं नहीं मैं तुम्हें कदापि नहीं छोड़ सकता, अब तो तुम्हें मारने के पहले मैं तेरे इस बच्चे को मार कर तेरी चिन्ता मिटाये देता हूँ।

श्यामा ने दृढ़ता पूर्वक कहा मारो मारो पहले मेरे कलेजे के टुकड़े को काटकर समाप्त कर दो फिर मैं भी मरने के लिये तैयार हूँ।

भोंदू ने झपट कर बच्चे को इक्के पर से खींचकर भूमि पर गिरा दिया, बच्चा और भी जोर से रोने लगा, भोंदू बच्चे का पैर पकड़ कर लटकाते हुये झाड़ी के समीप ले आया। आधी रात का घनघोर अंधकार छाया हुआ है, निकटवर्ती झाड़ियों ने भी मानों इस अत्याचार को देखने से अपना मुख छिपा लिया है, आकाश में मंद मंद टिमटिमाते हुये तारे चुपचाप इस नृशंस कृत्य को देख रहे हैं, माघमास की शीतल पवन झकोरे भोंदू के दिल को कपाये दे रहे हैं, उसके हाथों ने ठिठुर कर मानों इस जघन्य कर्म को करने से इन्कार सा कर दिये हैं, किन्तु फिर भी वह नर पिशाच उस बालक को मारने के लिये तैयार हो गया। श्यामा इस भयानक दृश्य को देखकर विलख कर रोते हुये बड़े दीन आर्त स्वर में नेत्र बन्द करके भगवान को पुकारने लगी हे दुःखभञ्जन भगवान् दौड़ो दौड़ो शीघ्र बचाओ! हे भक्त-भय-हारी मुरारी आओ-आओ शीघ्र आओ, मेरे नाथ तुम सब कुछ देख रहे हो तुम तो घट-घट विहारी हो तुम्हीं अशरण शरण हो तुम्हारे सिवा हम अबला जनों की रक्षा कौन करता। तुम्हीं ने कौरव सभा में चीर रूप बनकर देवी द्रौपदी की लाज बचाई थी तुम्हीं ने लाक्षागृह में पाँचों की रक्षा करके माता कुन्ती का रक्षा की थी! आओ आओ प्रभो शीघ्र आओ! आज इस दासी को जीवन सर्वस्व जा रहा है शीघ्र बचाओ।

श्यामा की करुणा भरी आर्त, पुकार पर भगवान् शीघ्र आये। भोंदू ने ज्यों ही उस बच्चे को मारने के लिये अपना गँडासा ऊपर उठाया कि ऊपर से ही प्रभू ने उसका गँडासा थाम लिया, भोंदू ने भयभीत होकर जो ऊपर देखा तो उसे दिखाई दिया कि आकाश में भयंकर काल के समान रुद्र-रूपधारी एक पुरुष ने उसके हाथ से एक ही झटके में गड़ासा छीन लिया है और वह अंगारके समान अपने लाल-लाल नेत्रों से उसकी ओर देखता हुआ क्रोध से दाँत पीसता हुआ उसकी गर्दन पकड़ने के लिये अपना हाथ बढ़ा रहा है। भोंदू बच्चे को वहीं छोड़कर भय से चिल्लाता हुआ एक ओर को भाग खड़ा हुआ। आधे फर्लाङ्ग की दूरी पर उसे एक वृक्ष दिखाई दिया।

उस वृक्ष की ओट में जैसे वह छिपने के लिये खड़ा हुआ वैसे ही तत्काल एक भयंकर विषधर काले सर्प ने उसके पैरों में लिपटकर पैरों को कसकर बाँध दिया भोंदू को मारे भय के कारण दस्त हो गया। वह थर-थर काँपने लगा। इधर श्यामा रो-रोकर भगवान् श्यामसुन्दर को बुला रही थी, उसकी अति-आर्तपूर्ण करुणा

उसने मुझे पुकारा, मैंने प्रकट होकर ऊपर ही दुष्ट हाथ से गड़ासा छीन लिया, वह डरकर भागा. एक वृक्ष के नीचे जैसे हो वह खड़ा हुआ कि मैंने काला नाग बनकर उसके पैरों को बाँध लिया, उधर से चार सिपाहियों को भेजकर मैंने भोंदू को पकड़वा लिया है। वे सिपाही तुम्हारे पुत्र तथा पत्नी को लेकर अभी आ रहे हैं. तुम्हारा कल्याण हो, मैं अब जाता हूँ, श्याम प्रभु की मुनिमनहारी दिव्य छवि देखता हुआ मन्त्रमुग्ध की भाँति उनकी मधुर बातें सुन रहा था। ज्यों ही भगवान् अचानक अन्तर्ध्यान होने लगे कि कि उसने अधीरता के साथ कहा। प्रभो ठहरिये ! अभी ज़रा ठहरिये। हमारे वृद्ध माता पिता को भी दर्शन दे दीजिये। प्रभो ! प्रभो ! उसके पिता मूर्च्छावस्था का प्रलाप समझकर अधीर होकर दौड़े और नाड़ी देखी. नाड़ी बिलकुल ठीक चल रही थी ज्वर रञ्चमात्र भी नहीं था। अब उन्होंने धीरेसे अपने पुत्र को पुकारा बेटा श्याम ! श्याम अपने पिता की वाणी सुनकर झट-पट उठ बैठा, उनके पूछने पर उसने अपनी मूर्च्छा अवस्था में हुई सब बातें अपने माता-पिता को बतलाई। तीनों व्यक्ति बड़े आश्चर्य और आनन्द में भरे हुये आपस में चर्चाकर ही रहे थे कि इतने में द्वार से आवाज आई कि भाई शिवमोहन जी शीघ्र ही द्वार खोलो देखो तुम्हारी पुत्र वधू और पौत्र कुशल पूर्वक आ गये हैं। शिवमोहन ने आनन्द पूर्वक दौड़कर द्वार खोल दिया उन्होंने देखा कि चार सिपाही द्वार पर खड़े हैं एक सिपाही भोंदू को बाँधे हुये हैं। पुत्रवधू अपने पुत्र को गोद में लिए हुये इक्के से उतर रही है, सिपाहियों को धन्यवाद देते हुए शिवमोहन ने कहा कि तुम्हारी सहायता से आज हमने अपनी प्राण प्यारी पुत्रवधू तथा पौत्र को पाया, उन्होंने कहा नहीं महाराज !

"जाको राखो साइयाँ मारि सके नहिं कोय"

इनके रक्षक तो स्वयं जगदीश्वर हैं उन्होने सचमुच इनकी जान बचाई है अब आप अपनी पुत्रवधू तथा पौत्र सहित आनन्द से जीवन बिताइए। हम इस दुष्ट को लेकर जाते हैं उचित दण्ड दिलावेंगे। इतना कहकर वे लोग भोंदू को लेकर चल दिये। श्यामा ने दौड़कर अपने पूज्य ससुर जी के चरणों में मस्तक रख दिया, साथ ही बच्चे को भी उनके पैरों पर डाल दिया उन्होंने प्यार से बच्चे को गोद में लेते हुये कहा, बेटी तुम धन्य हो तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं। आज तुम्हारी भक्ति के कारण तुम्हारी तथा तुम्हारे पुत्र एवम् तुम्हारे स्वामी के प्राण बचे बेटा श्याम अब बिलकुल ठीक हो गया। उसे आज स्वप्न में भगवान् सब कुछ बतला गये हैं। तुम शीघ्र ही भीतर चलो वहाँ श्याम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। श्यामा आनन्दाश्रु बहाती हुई घर में गई सास के चरणों को आसुओं से धोते हुए कहा माँ आज प्रभु की कृपा से हम लोग बचे सासु को प्रणाम करके वह अपने पति को प्रणाम करने के लिये बढ़ी, श्यामने उसको देखकर बड़े हर्ष के साथ कहा धन्य हो देवी तुमने आज मेरी जान बचाई है तुम धन्य हो, श्यामा ने दौड़कर पति के चरणों में गिरते हुए कहा नाथ यह सब पति परमेश्वर की भक्ति का प्रताप है।

चाहत जो सब दुःख निवारो

द्रोपदि औ गनिका गज गीध अजामिल को जिसने दुख टारो।
सौंपि दियो ध्रुव को ध्रुव लोक विदारि सुखम्भ प्रह्लाद उबारो ॥
और असरुयन के दुःख द्वन्द हरे सब वेद पुरान पुकारो।
नाम रटो तिनको निशवासर चाहत जो सब दुःख निवारो ॥

दुःख का कारण और निवारण

(पं० श्रीराम जी शर्मा आचार्य, सम्पादक "अखण्ड ज्योति")

मनुष्य की उत्पत्ति आनन्द से हुई है। सच्चिदानन्द का पुत्र होने के कारण जीव की स्वाभाविक स्थिति भी आनन्द ही है, पर हम देखते हैं कि आज अधिकांश व्यक्ति दुःख-दारिद्रय से ग्रस्त और सन्त्रस्त हो रहे हैं, जिधर देखिये उधर दुःख ही दुःख दृष्टिगोचर होता है, लोग अनेकों अभावों, कष्टों, व्यथाओं और वेदनाओं से पीड़ित हो रहे हैं।
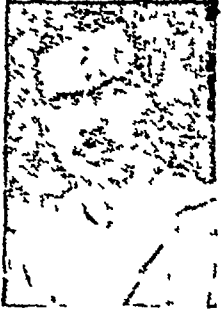
शोक, चिन्ता, भय, व्याकुलता, बेचैनी, अशान्ति, आशंका से सारा जन समाज विक्षुब्ध हो रहा है।

परमात्मा का अमर युवराज होने के कारण जीव को आनन्द उपलब्ध होना चाहिये था परन्तु उस स्वाभाविक स्थिति के सर्वथा प्रतिकूल दुःख ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उसका कारण तलाश करने पर एक ही सामने आता है, वह है सद्-बुद्धि का परित्याग करके कुबुद्धि से अपनी मनोभूमि एवं विचारधारा को भर लेना। संसार में ठीक तरह जीवन यापन करने के लिए परमात्मा ने सद्बुद्धि रूपी एक बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तु प्रदान की है। यदि हम उसे ठीक प्रकार अपनाये रहें तो दुःखों का कोई कारण नहीं रह जाता। परन्तु खेद है कि हम उस ईश्वरीय उपहार का तिरस्कार करके एक ऐसे घृणित तत्व को अपनाते हैं जो हमारे लिये विपत्ति के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता। कुबुद्धि को ही ऋषियों ने माया, असुरता, अविद्या आदि नामों से पुकारा है।

शरीर पर यदि मैल की मोटी तह जम जाय तो उससे खुजली दुर्गन्धि फुन्सी आदि की उत्पत्ति हुए बिना नहीं रह सकती। इसी प्रकार जिसके मस्तिष्क में कुबुद्धि भर रही होगी वह दुःख-दारिद्रय क्लेश और कलह से सदैव ग्रसित रहेगा। खून में विषैले विजातीय पदार्थ भर जाय तो फिर आये दिन अनेकों रंग, रूप, चिह्न और लक्षणों की बीमारियाँ उत्पन्न होंगी। कुबुद्धि-ग्रस्त मन में अनेकों पेचीली समस्यायें और चिन्ता जनक परिस्थितियाँ पैदा होती रहेंगी।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से धर्म, कर्त्तव्य, परमार्थ, प्रेम, लोकहित आदि शुभ कार्यों पर विचार करना सद्बुद्धि का लक्षण है। कुबुद्धि में भोग-लोभ और अहंकार की प्रधानता रहती है। कुबुद्धि ग्रस्त मानव अमर्यादित इन्द्रिय भोगों का, अनैतिक लोभ का और निरंकुश अहंकार का शिकार रहता है। वह जो कुछ सोचता और करता है वह सब इसी दृष्टि से करता है।

आइये अब यह विचार करें कि केवल दृष्टिकोण में हेरफेर होने से किस प्रकार जीवन का रूप बदल जाता है और उस थोड़े से ही हेर-फेर से क्या से क्या उलट-पलट हो जाती है।

आप अपने रेडियो सेट पर दिल्ली से काश्मीर सम्बन्धी विचार सुन रहे हैं। रेडियो की सुई दिल्ली स्टेशन के मीटर नम्बर पर लगी हुई है। इस सुई को जरा सा घुमा दीजिये और उसे पाकिस्तान के लाहौर स्टेशन के मीटर नम्बर पर लगा दीजिये। अब आपको दिल्ली के भाषण की अपेक्षा बिल्कुल विपरीत तर्क, प्रमाण और विचारों वाला काश्मीर सम्बन्धी भाषण सुनने को मिलेगा। अभी इंगलैन्ड का रेडियो अंग्रेजी में भाषण कर रहा था जरा सी सुई घुमाइये कि अफगानिस्तान से अरबी भाषा सुनाई पड़ने लगेगी। सुई जरा सी घूमती है पर उसके परिणाम में बहुत भारी अन्तर पड़ जाता है। रेल पटरी पर जहाँ से कैंची कटती है वहाँ

की दो लाइनों का फासला एक इच भी नहीं होगा पर कैंची में थोड़ा हेर-फेर कर देने से ही एक रेल दिल्ली से बम्बई की दिशा मे चल पड़ती है और दूसरी कलकत्ता की ओर दौड़ने लगती है। कैंची मे रेल की लाइन का अन्तर जरा सा था पर वे रेलें अन्त मे जहाँ पहुँचती हैं उन स्थानों की दूरी मे सैकड़ों मीलों का फासला पड़ जाता है। एक पूर्वी समुद्र तट पर पहुँचती है तो दूसरी पश्चिमी तट पर। दृष्टि कोण का अन्तर भी यद्यपि एक बहुत मामूली प्रतीत होता है पर उसके अन्तिम परिणाम में भारी अन्तर रहता है। सद्बुद्धि से भरा हुआ मानस अपने लिये तथा दूसरों के लिये सदैव आनन्द, कल्याण और सुख-शान्ति की उत्पत्ति करता है। इसके विपरीत कुबुद्धि ग्रस्त मनुष्य स्वयं तो सदा चिन्तित, अशान्त एवं दुःखी रहता ही है साथ ही अपनी आन्तरिक दुर्गन्धि से और भी अनेक लोगों के चित्त बिगाड़ देता है और जहाँ रहता है वहीं पर भावनायें, समस्यायें, कठिनाइयाँ एवं विपत्तियाँ उत्पन्न करता है।

रगीन काँच का चश्मा पहन लेने पर सब वस्तुयें उस काँच के रग की ही दिखाई पड़ती है। जिसके मस्तिष्क मे चक्कर आने का रोग होता है उसे हर चीज घूमती हुई दिखाई देती है। बुखार के रोगी का मुँह कड़ुआ रहता है और उसे हर वस्तु का स्वाद कड़ुआ लगता है। कुबुद्धि ने जिसके दृष्टिकोण को कड़ुआ बना दिया है, विचार-प्रवाह को दूषितकर दिया है, उसे चाहे स्वर्ग मे रक्खो, चाहे कुबेर सा धनपति, इन्द्र सा सत्ता-सम्पन्न बना दो तो भी वह दुःखों से छूट न सकेगा। सन्त इमर्सन कहा करते थे कि "यदि मुझे नरक मे रक्खा जाय तो मैं वहाँ भी अपने लिये स्वर्ग का निर्माण करलूँगा" वस्तुतः बात ऐसी ही है। यदि हम अपनी विचार धारा इच्छा, आकांक्षा और कार्य-प्रणाली को सुधार लें तो निश्चय ही अनेक कठिनाइयों और आपत्तियों से बच सकते हैं।

दुनियाँ दर्पण के समान है जिसमें अपनी ही सूरत दिखाई पड़ती है। जो व्यक्ति क्रोधी है उसे प्रतीत होगा कि सारी दुनियाँ उससे लड़ती-झगड़ती है। जो व्यक्ति झूठा है उसे सब लोग अविश्वासी दीखते हैं। जो स्वयं नीच हैं वह सारी दुनियाँ को नीच समझता है। जो निकम्मा और आलसी है उसे सर्वत्र बेकारी फैली मालूम देती है। इसीप्रकार व्यभिचारी, लम्पट, मूर्ख, कंजूस, गँवार, सनकी, पागल भिखारी, चोर या अन्यान्य मनोविचारों वाले लोग अपने गज से सबको नापते हैं और दूसरों को अपने ही जैसा बुरा मानकर उनपर दोषारोपण करते रहते हैं। यदि हम समझदारी से अपनी भूल को पहिचान लें, अपनी त्रुटियों और बुराइयों को दूर करदें तो अपनी स्थिति ऐसी मजबूत हो जाती है कि वस्तुतः जो बुराइयाँ इस ससार मे मौजूद हैं उनसे निपटना एक बहुत ही सरल हो जाता है।

कुबुद्धिका प्रधान लक्षण यह है कि हम तत्काल का लाभ देखकर चिरस्थायी सुख का परित्याग कर देते हैं। तुरन्त का लाभ देखकर मछली काँटे मे लिपटे हुए आँटे की गोली को निगल जाती है। जाल मे फैले हुये दानों को बिना परिश्रम तत्काल प्राप्त कर लेने के लोभ मे चिड़िया जाल में फँस जाती है। मूर्ख लोग भी जरा से प्रयत्न मे बहुत सा लाभ कमा लेने के लोभ को अपनी बुद्धिमानी समझते हैं और मछली तथा चिड़िया की भाँति फूले नहीं समाते परन्तु थोड़े ही समय मे उन्हें पता लग जाता है कि यह लोभ अन्तत बड़ा कष्ट कारक परिणाम उपस्थित करता है।

किसान धैर्य पूर्वक खेती करता है, घर से अन्न लेजाकर खेत मे बो देता है और छः महीने तक अपनी खेती की पूरी सेवा करता है। विद्यार्थी वर्षों निरन्तर श्रम करता है। पढ़ाई का खर्च और गुरु-जनों की फटकार सहता है। इस त्याग, परिश्रम

और धैर्य के मार्ग को अपनाये विना न किसान को अन्न लाभ हो सकता है न विद्यार्थी को विद्यालाभ। इन्द्रिय-संयम से मनुष्य को अनेक स्वादों से वचित रहना पडता है, परन्तु उसे दीर्घ जीवन और स्थिर स्वास्थ्य अवश्य मिलता है। उतावले लोग जो आज का, अभी का, इसी क्षण का लाभ ढूढते हैं। वे किसान होंगे तो वीज के अन्न को ही बेच खायेंगे, विद्यार्थी होंगे तो पाठ्य-पुस्तकों को वेंचकर सिनेमा देखेंगे तथा सामान्य जीवन मे संयम का मार्ग त्याग कर तत्काल के आकर्षक विषय-सुखों में व्यस्त हो जायेंगे। उन्हें तुरन्त तो लाभ दिखाई देता है और अपनी बुद्धिमानी पर गर्व भी होता है पर थोड़े ही दिनों मे वे कष्टकारक परिणाम सामने आते हैं जिनके कारण उन्हें अदूरदर्शिता पर भारी खेद करना पड़ता है। जैसे वने वैसे, जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी, जितना अधिक प्राप्त किया जा सके उतना धन,भोग और मान प्राप्त करने के लिये मनुष्य बुरे से बुरे काम करने को तत्पर हो जाते हैं। तुरन्त के लाभ के आगे भविष्य की खाई-खन्दक कुछ नहीं सूझती। पश्चात्ताप उस समय होता है जव उतावली के अन्वेषन मे अपनाई गई अनीति के भयकर परिणाम सामने आते हैं।

वीमारी क्या है? आहार विहार के असंयम का परिणाम। गरीवी क्या है? अयोग्यता का परिणाम। राज दड क्या है? अनैतिकता का परिणाम। कलह क्या है? अनुदारता का परिणाम। दैवी प्रकोप क्या है? हमारे पूर्व सचित दुष्कर्मों का परिणाम। शोक, चिन्ता, भय आदि अशान्तियों क्या हैं?—हमारी मानसिक अपरिपक्वता का परिणाम। ससार मे जितने भी कष्ट दिखाई पड़ते हैं उन सब के पीछे एक ही तत्व काम कर रहा है, वह है "कुबुद्धि"। वर्तमान की हो या भूतकाल की व्यक्तिगत हो या सामूहिक, मनुष्य को कुबुद्धि ही दुख देती है।

दूसरों की गलतियों से जो कष्ट हमे प्राप्त होते हैं उसमे भी हम सर्वथा निर्दोष नहीं होते क्योंकि व्यक्ति समाज का ही एक अंग है। व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी त्रुटियों को सुधारने की ही भाँति अपने विशाल शरीर समाज को भी शुद्ध वनाने का जी जान से प्रयत्न करे, अन्यथा गाली देने पर सिर पिटने की भाँति अन्यों की बुराइयों का दड हमे भी सहना होगा। सिर और जिह्वा वैसे तो अलग-अलग हैं पर एक ही शरीर के अभिन्न अंग होने के कारण वे एक ही माने जायेंगे और एक को दूसरे के भले बुरे कार्यों का भी भागीदार वनना पड़ेगा। जो लोग अकेले पन की दृष्टि से समस्याओं पर विचार करते हैं और समाज की सम्मिलित जिम्मेदारी से वचना चाहते है वे भारी भूल करते हैं। बुरे लोगों के वीच रहने से हमे भी बुरे परिणाम भुगतने पड़ेंगे। पड़ोसी के घर हैजा फैले या आग लगे तो अपने घर की भी सुरक्षा नहीं, इसी प्रकार अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को ही सुलझाना और सामूहिक शुद्धि का प्रयत्न न करना एक ऐसा पाप है जिसके कारण हमे दूसरों के द्वारा अकारण ही आक्रमण आदि के त्रास सहने पड़ते हैं।

आगत दुःखों के लिये किसी अन्य को दोष देने से काम न चलेगा हमे अपनी कमजोरियों को ढूँढने और सुधारने के लिये सद्बुद्धि का आश्रय लेना पडेगा। दूरदर्शिता, विवेक, तत्वज्ञान एव आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाकर अपने विचारों,स्वभावों एव कार्यों का नये सिरे से परीक्षण सुधार एव निर्माण करना पड़ेगा। ईश्वर को दोष देने से भी काम नहीं चल सकता, उनसे दु:खों की निवृत्ति को जो प्रार्थना की जाती है उसकी सुनवाई होना तभी सम्भव है, जव हमारी अन्तश्चेतना में सद्बुद्धि का प्रकाश भी दृष्टिगोचर हो। परमात्मा स्वय दयालु है। वह सुख तो हमे देता ही है, दुःख भी कल्याण भावना से देता है। माता

अपने बच्चे को फोड़ा चिरवाने की निष्ठुरता इसलिये दिखाती है कि उसके शरीर मे भरा हुआ विषैला मवाद निकलवा कर उसे आरोग्य बना सके। प्रभु हमारी आवश्यकताओं को समझते हैं। हमारे हित के मार्ग को भी जानते हैं। वे कष्ट की अग्नि परीक्षा मे डालकर सोने को तपा कर शुद्ध करने का हमारे लिये आयोजन करते हैं। कष्ट से पीड़ित होकर हम लोग भोग की अनुचित मात्रा का परित्याग करें। कष्टों के पत्थर पर चाकू की धार की तरह अपनी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करें, यही दैवी सकेत दुःखों में छिपा रहता है। यदि इन सकेतों को समझकर हम अपनी गतिविधि सुधार लेते हैं तो अपना भविष्य सुस्थिर और शान्तिमय बन सकता है।

दुःख से दुखी होकर मानसिक संतुलन खो बैठना, निराशा, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता, आत्महनन, अवसाद आदि मे ग्रस्त हो जाना सर्वथा अनुपयुक्त है। यह प्रभु के सकेतों की प्रत्यक्ष अवज्ञा है इससे कष्ट घटते नहीं बरन् और बढ़ते हैं। दुःखों से छुटकारे का केवल एक ही उपाय है, वह है—कुबुद्धि को जीवन के हर भाग मे से ढूंढकर बहिष्कृत करना और उसके स्थान पर विवेकपूर्ण आध्यात्मिक दृष्टिकोण की सद्बुद्धि अपनाकर जीवन को धर्म, कर्त्तव्य, सयम, सेवा एव आस्तिकता से ओत-प्रोत करना। दुःखों का छुटकारा केवल इसी मार्ग पर चलने से मिल सकता है। गायत्री मत्र मे परमात्मा से सद्बुद्धि की ही याचना की गयी है, प्रभु इससे बड़ा दान और कुछ मनुष्य को दे भी नहीं सकते। जहाँ सद्बुद्धि होगी वहाँ सब प्रकार का आनन्द ही आनन्द रहेगा, रामायण ने ठीक ही कहा है—

जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निधाना॥

दुःख दुर्बलता हरो

(राष्ट्रकवि श्री मैथलीशरण जी गुप्त)

हम दूसरों के दुःख को थे दुःख अपना मानते,
हम मानते कैसे नहीं जब यह सदा थे जानते।
जो ईश कर्त्ता है हमारा दूसरों का भी वही,
हैं कर्म्म भिन्न परन्तु सब में तत्त्व-समता ही रही॥

पर आज विद्या के बिना हम दुर्गुणों के दास हैं,
हैं तो मनुज हम किन्तु रहते दनुजता के पास हैं।
दाये तथा बायें हमारे दनुज सहचर चार हैं,
अविचार अन्धाचार हैं व्यभिचार अत्याचार है।

अब आय तो है घट गई पर व्यय हमारा बढ गया,
तिस पर विदेशी सभ्यता का भूत सिर पर चढ गया।
ऋण-भार दिन दिन बढ रहा है दब रहे हैं हम यहाँ,
देना जिन्हें हो, कुछ नहीं भी पास उनके हैं कहाँ॥

प्रत्येक जन प्रत्येक जन को बन्धु अपना जान लो,
सुख दुःख अपने बन्धुओं का आप अपना मान लो।
सब दुःख यों घट कर रहेंगे सौख्य पावेंगे सभी,
हाँ, शोक में भी सान्त्वना के गीत गावेंगे सभी॥

हा दीनबन्धो ! क्या हमारा नाम ही मिट जायगा,
अब फिर कृपा कण भी न क्या भारत तुम्हारा पायगा।
हा राम ! हा ! हा कृष्ण ! हा ! हा नाथ ! हा रक्षा करो,
मनुजत्व दो हमको दयामय ! दुःख दुर्बलता हरो॥

(भारत भारती)

चिन्ता-चिता

(श्री विट्ठलदास जी मोदी सम्पादक 'आरोग्य')

चिन्ता का संसारव्यापी महायुद्ध अनादि काल से चल रहा है पर आधुनिक सभ्यता के साथ यह उग्रतर होता जा रहा है। संसार में फैले हुये अधिकतर रोग और शोक का कारण चिन्ता ही है। इसमें फँसकर कितने ही व्यक्तियों ने अपने प्राण गँवाये हैं और गँवा रहे हैं।

चिन्ता का रोग अति व्यापक अवश्य है, पर मानस-शास्त्रियों ने इस रोग को दूर करने के उपाय भी ढूढ़ निकाले हैं। वे कहते हैं कि इस रोग को भगाने के लिये रोगी को सहयोग की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। पहले रोगी का भय दूर करना चाहिये; क्योंकि भय की नींव पर ही हर प्रकार की चिन्ता पनपती और बढ़ती है।

खोज करने पर ज्ञात होगा कि प्रत्येक प्रकार की चिन्ता का स्रष्टा मनुष्य स्वयं ही होता है। बाहरी वातावरण तो हमारी चिन्ता की जड़ में केवल खाद-पानी का काम करता है।

कुछ लोग कहते हैं कि चिन्ता रोग पैतृक है। पर उनका कथन कतई गलत जान पड़ता है, क्योंकि चिन्ता अनिष्ट की आशंका के कारण उत्पन्न होती है और इस अनिष्ट की आशंका करने का अपराधी तो मनुष्य स्वयं ही होता है।

जब चिन्ता किसी के हृदय में जड़ जमा लेती है तो उसमें एक भावना यह भी उत्पन्न हो जाती है कि वह अपने को औरों के मुकाबले में छोटा समझने लगता है। वह अपनी कठिनाइयों को सोच-सोच कर बड़ा बना लेता है और उन्हें मान्यता देता रहता है। केवल सोचने से तो कठिनाई दूर नहीं होती और कठिनाई दूर न होने पर वह सोचने लगता है कि उसकी बेइज्जती हो रही है और फिर अपने जीवन को वह हेय समझने लगता है।

इस नासमझी मे कोई लाभ तो होता नहीं, पर स्वास्थ्य अवश्य बिगड़ जाता है। चिन्ता करने से गुर्दे की ग्रन्थि से अधिक रस निकलने लगता है यह रस बहुत तेज होता है और खून में मिलकर उसे दूषित कर देता है। फल यह होता है कि शरीर की कांति फीकी पड़ जाती है, त्वचा पीली पड़ जाती है, मुँह से दुर्गन्धि आने लगती है, शिरमें हमेशा दर्द रहता है और थकान बनी रहती है। भूख भी मारी जाती है और उसका उपचार करते-करते मंदाग्नि रोग आ घेरता है भोजन नहीं पचता, रोगी नित्य कमजोर होता जाता है, फिर तो उसमें वह शक्ति ही नहीं रह जाती कि रोगों से लड़ सके। अतः उसे अनेक प्रकार के रोग घेरते रहते हैं।

अधिक चिन्ता करते रहने से स्नायु-जाल में विकार भी उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तक कि चिन्ता करते रहने वाले अनेक व्यक्ति पागल भी होते देखे गये हैं। कम से कम इसका असर शारीरिक सौन्दर्य और स्वास्थ्य पर तो पड़ता ही है। कोई भी इस रोग के रोगी की सूरत देखकर उसे पहचान सकता है। चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ जाती है, बाल कुसमय में ही पक जाते हैं, भौंहों के नीचे सिकुड़न-सी पड़ जाती है और मुँह लटका-सा रहता है।

चिन्ता का असर चरित्र और स्वभाव पर भी पड़ता है। चिन्ता जब जड़ जमा लेती है तो उत्साह मर जाता है, स्फूर्ति चली जाती है, इच्छाशक्ति निर्बल हो जाती है, शान्ति पूर्वक तर्क करने की शक्ति नष्ट जाती है। चिन्ता को हम मूर्छा और ज्वर के सम्मिश्रण की अवस्था कह सकते हैं।

चिन्ता का रोगी चिन्ता विखेरता सा फिरता है अतः इसका कुपरिणाम दूसरों को भी भोगना पड़ता है। उसकी दूसरों को चिन्ता करनी पड़ती है। वह अपने प्रसन्नचित्त मित्रों एव सम्बन्धियों तक में अपने उदासी भरे व्यवहार के कारण झुँझलाहट पैदा कर देता है और अन्त मे उन्हें उससे नाता तोड़ लेने तक के लिए मजबूर कर देता है। चिन्ता के रोगी के मित्रों, सम्बन्धियों को यही मन्त्रणा दी जा सकती है कि वे अपने मित्र का असर अपने पर न आने दें।

चिन्ता करने से हानि के सिवाय कोई लाभ तो होता नहीं। चिन्ता करने से ही कठिनाइयाँ दूर हो जाती हों तो अवश्य कीजिये, पर होता यह है कि चिन्ता करने से गुत्थियाँ सुलझने के वजाय उलझती ही जाती हैं। जहाँ विचार वृत्ति का अन्त होता है वहीं से चिन्ता आरम्भ होती है। चिन्ता सहारक वृत्ति है विचार सृजनात्मक। फिर विचार से ही काम क्यों न लिया जाय ? चिन्ता और चिता मे शब्दसाम्य ही नहीं अर्थसाम्य भी है।

चिन्ता को दूर भगाने के लिये यहाँ कुछ उपाय वताये जाते हैं। पहली वात जानने की यह है कि कैसा भी सकट क्यों न आता दिखाई दे घवराइये नहीं। उसका विश्लेषण कीजिये, उसे चारों तरफ से देखिये और उसके तथ्य को समझकर उन वातों को प्रकाश में लाइये जो आप को डरा रही हैं। प्रकाश में लाने का यह अर्थ नहीं है कि आप सवसे अपना दुःख कहते फिरिये। फिर तो आपके पास विचार करने का समय ही न रह जायगा। सवसे कहते रहने से समस्या हल नहीं होगी, आप की वातें सुन-सुनकर लोग ऊब अवश्य जायेंगे। फिर आप एक नई चिन्ता और मोल ले बैठेंगे कि लोग आप की वातों से ऊवते क्यों हैं ? पर यह भी ठीक नहीं कि आप अपनी वातें किसी से कहें ही नहीं और खुद सोच-सोचकर अपने दिल में घुटते रहें। किसी विश्वासपात्र मित्र को अपने दिल की वातें कहकर जी अवश्य हलका कर लीजिये। आप के मित्र से आप को जो सान्त्वना और मन्त्रणा मिलेगी वह आप के लिये वड़े लाभ की होगी। पर यदि आपका कोई विश्वासपात्र आदमी नहीं है, तो निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं। कोरे कागज और पेंसिल को अपना मित्र वनाइये। यह आप की चिन्ता भगाने मे आप की वडी मदद करेगा। कागज पर अपनी कठिनाइयाँ लिख डालिए ? सोने के समय के अलावा और कोई समय भी इस कार्य के लिये नियत कीजिये, हाथ में पेंसिल और कागज लेकर शान्ति पूर्वक वैठ जाइये। अव अपनी चिन्ताओं के ढेर पर विचार कीजिये, फिर देखिये आपकी चिंता के कारण कितने हैं। होता यह है कि हम एकपर दूसरी समस्या को लादते जाते हैं और फिर उनका समूह अपनी मानस दृष्टि के सामने रखकर घवराते रहते हैं। सवको अलग-अलग कर डालिये और उनकी एक सूची वनाइये सूची तैयार हो जाय तो प्रत्येक समस्यापर तथ्य-निरूपण की दृष्टि से विचार कीजिये औरप्रत्येक समस्या का एक हल निकालने की कोशिश कीजिये। भावुकता को दूर रखकर वुद्धि से काम लेते हुये अपने विचारों को एकत्र कीजिये और जो हल निकले उसे भी लिख लीजिये।

मान लीजिये कि मनोहर ने अपनी चिन्ताओं को एक-एक करके सोचा और उसके जीवन को भारमय वनाने वाली चिन्तायें ये निकलीं—

१ तनख्वाह कैसे वढ़ेगी ?

२ वनिये का कर्ज कैसे चुकेगा ?

३ सोहन पढ़ता ही नहीं कैसे पास होगा ?

४ पैसा तो है ही नहीं, छोटे लड़के का मुण्डन-संस्कार कैसे होगा ?

५ पिछले सप्ताह कैसी गलती हुई, जो आइना गिरकर टूट गया ? मनोहर सोचकर शायद ये

उपाय ढूंढ़ निकालेगा.—

१ जब रोजगार बढ़ेगा तो वह अपने मालिक से प्रार्थना करके तनख्वाह बढ़वा लेगा।

२ वह मितव्ययी बनेगा और पिछला कर्ज धीरे-धीरे चुका देगा। जिस बनिये ने अब तक उधार दिया, आगे भी देगा।

कुछ समय निकाल कर वह सोहन को अवश्य पढ़ावेगा।

४ मुण्डन-संस्कार देर से भी हो सकता है। वह सिगरेट-पानके खर्चको खतम करके पैसा बचायेगा ताकि मुण्डन-संस्कार साल-छः महीने बाद हो सके।

५ पिछली गल्ती याद करने से क्या फायदा, वह उसे अवश्य भुला देगा।

मनोहर के ये विचार बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण न भी हों तो भी निश्चय पर न पहुँचने से कुछ निश्चय कर डालना तो अच्छा ही है। कुछ करना चाहिये चाहे वह गल्त ही क्यों न हो, कुछ न करने से तो अच्छा ही है।

सोचना और सोचकर कुछ कर डालना चिन्ता राक्षसी के पैर उखाड़ने का पहला रास्ता है। तो आप ने अपनी प्रत्येक चिन्ता को भगाने के लिये कुछ उपाय लिख डाले हैं। फिर जो आप ने लिख डाला है उसपर अमल कीजिये। जब निशाना साध लिया है तो तीर छोड ही दीजिये। जो शक्ति आप चिन्ता करने मे व्यय करते थे उसे कार्य-क्रम मे संलग्न कीजिये फिर आपकी असफलतायें सफलता मे परिणित होने लगेंगी।

चेतावनी के तौर पर यह बता देना आवश्यक है कि सोते समय तो कोई चिन्ता कीजिये ही मत। जब आप चारपाई पर लेटते हैं तो सोने या कम-से कम आराम के लिये तो लेटते ही हैं। उस समय चिन्ता को भगाने के लिये मुट्ठी बाँधकर और दाँत भींचकर यह कहना ठीक न होगा कि अब मैं चिन्ता को पास न फटकने दूँगा। ऐसा करने से तो आप के शरीर की नसें तन जायेगी, नाड़ी मडलपर झटका सा लगेगा। अत' आप आत्मशक्ति से अधिक प्रबल आधार दिवा-स्वप्न से काम लीजिये। सोचिये आप के दिन फिर गये हैं, कोई मधुर-सा स्वप्न देखिये। स्वप्न देखने के लिये रात से बढ़कर और कौन-सा अच्छा समय होगा ? मैं एक विद्यार्थी को जानता हूँ जो लड़के पढाकर, अखबार बेचकर, अध्ययन कर रहा है। थका-मादा जब वह सोने जाता है तो वह सोंचता है कि पढ़-लिख कर वह यात्रा पर निकलेगा। सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखेगा। ऐतिहासिक स्थानों के दर्शन और नये नये व्यक्तियों से परिचय प्राप्त करेगा। क्यों, आप ऐसा नहीं कर सकते ?

दूसरी बात बताने की यह है कि मनोहर से शीशा टूट जाने के कारण उत्पन्न हुई-सी चिन्ता के लिये आप कुछ नही कर सकते। इसलिये उन्हें भूल जाना ही ठीक है। पुरानी गलतियों के लिये यही एक रास्ता है। गलतियो तो सभी से होती हैं, आप से भी हुई तो कौन सी नई बात हुई। पुरानी गलतियों को याद करके अपने को कोसते रहना बुरा है। की हुई गलतियों को भूल जाइये और अपराधी को क्षमा करने के सिद्धान्त को अमल मे लाइये।

लोग अपनी चिन्ता से तो परेशान रहते ही हैं पर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जिन्हें दुनिया की चिन्ता घेरे रहती है। ये वह लोग होते हैं जो अपनी हस्ती को नही पहचानते। वे अपने साथ व्यर्थ का बड़प्पन जोड़े रहते हैं। उन्हें अपना व्यक्तित्व पहचानना चाहिये।

अन्त मे यही कहना है कि वर्तमान पर दृष्टि रखिये और भविष्य के बारे मे आशापूर्ण भावना। कठिनाइयों का डटकर मुकाबला कीजिये। मन को मजबूत रखिये, फिर चिन्ता आपके पास नहीं फटकेगी।

नई चिकित्सा विधि

(प्रोफेसर श्री लालजीराम शुक्ल)

मानसिक चिकित्सा का मूल केन्द्र रोगी का आत्म-विश्वास बढ़ाना है। मानसिक रोगी की इच्छा शक्ति आन्तरिक संघर्ष से दुर्बल हो जाती है। मानसिक रोगी अपना कटु आलोचक होता है। और अपनी कटु आलोचना को भुलाने की चेष्टा करता है। जब तक किसी व्यक्ति को अपने कृत्य के लिये आत्म-ग्लानि का अनुभव होता रहता है। तब तक उसे मानसिक रोग नहीं होगा। चेतन मन पर चलने वाला संघर्ष मानसिक शक्ति का ह्रास भले ही करे, वह मानसिक क्लेश भले ही दे, मानसिक रोग का रूप धारण नहीं करता। जब व्यक्ति इस द्वन्द को भुलाने की चेष्टा करता है और जब वह व्यक्ति की स्मृति से चला जाता है तभी मानसिक रोग उक्त द्वन्द्व के प्रतीक होते हैं। एक नवयुवक ने कामवासना के वशीभूत होकर समलिंगी व्यभिचार मे भाग लिया। पीछे इससे उसे भारी भर्त्सना हुई। वह ऊँचे आदर्श का व्यक्ति था। वह अपने कृत्य के कारण चैन नहीं पाता था। कुछ काल के बाद वह अपनी उक्त आत्म-ग्लानि को भूल गया। परन्तु अब उसे सफेद कुष्ठ का रोग हो गया। यह रोग देखने में तो शारीरिक था परन्तु उसका कारण मानसिक था।

यह रोग उक्त युवक को तब तक बना रहा जब तक उसका सम्पूर्ण मानसिक परिवर्तन नहीं हो गया। इस के लिये एक ओर रोगी से तप और इन्द्रिय निग्रह का अभ्यास कराया और दूसरी ओर उसके नैतिक दृष्टि कोण को भी उदार बनाया। अत्युक्त आदर्शवाद मानसिक रोगों का जनक होता है। इसी कारण सभ्य और सुशिक्षित परिवार के लोगों को जितने मानसिक रोग होते हैं। अशिक्षित और साधारण परिवार के लोगों को नहीं होते। जितनी अधिक मनुष्य की नैतिक धारणा और प्रबल आवेगों मे विषमता होती है। उतनी ही अधिक मानसिक रोग की सम्भावना रहती है। अतएव मानसिक चिकित्सक का कार्य एक ओर मनुष्य के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना होता है। और दूसरी ओर उसे दिखाऊ नैतिकता से मुक्त कर देना होता है। नैतिकता मनुष्य को ऊँचा बनाने का सर्वोत्तम साधन है। परन्तु इसका ढोंग मनुष्य को जितना मानसिक क्लेश और रोग देता हैं उतना अन्य वस्तु नहीं देती। यह नैतिकता के ढोंग की उपस्थिति का ज्ञान स्वयं मानसिक रोगी को नहीं रहता। अतएव उससे रोगों की मुक्त करना बड़ा कठिन होता है। रोगी इसे अपना बन्धन न मानकर उसे अपना आभूषण मानता है। अतएव वह उससे मुक्त भी होना नहीं चाहता। परन्तु प्रकृति अपना काम करती रहती है और जिस भूल को रोगी अपने आप सुधारना नहीं चाहता वह रोगी को दुःख देकर प्रकृति सुधार देती है।

हमारी मानसिक चिकित्सा मे आये गतवर्ष के दो एक रोगियों की चिकित्सा का वर्णन यहाँ उल्लेखनीय है। एक रोगी लखनऊ विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था। उसने मैत्री भावना द्वारा मानसिक और शारीरिक रोगों के निराकरण सम्बन्धी लेखक का एक लेख किसी पत्रिका मे पढा। उसने उस लेख मे बताई विधि के अनुसार मैत्री भावना का अभ्यास आरम्भ कर दिया इससे उस रोगी का उकवत का रोग (Fczema) अच्छा हो गया पीछे उसने लेखक से पत्र व्यवहार किया। इस रोगी को दो प्रकार का रोग था। उसे सदा भय बना रहता था कि लोग उसके बारे मे सोचते हैं कि वह चोर है। दूसरे उसे अपने को नपुन्सक होने का भय भी था। वह इन रोगों के कारण इतना परेशान था कि आत्म-हत्या करने के लिये कई बार उतारू हो जाता

था। उसका कहना था कि यदि मैं घर का अकेला लड़का न होता तो मैं आत्म-हत्या अवश्य कर लेता। उक्त रोगी की दो स्त्रियाँ हैं। उसका पहला विवाह पाँच वर्ष की अवस्था मे हुआ। उस समय स्त्री की अवस्था दस वर्ष की थी। इस स्त्री से रोगी सदा दवता रहा। इस स्त्री से कोई बच्चा नहीं हुआ, फिर दूसरा विवाह किया गया। परन्तु इस स्त्री से भी कोई सन्तान नहीं हुई। रोगी की आयु अभी पचीस वर्ष की है। लोगों में खबर हो गई कि स्वय युवक नपुंसक है। युवक को वहम हो गया कि उसकी जननेन्द्रिय अन्य लोगों के जननेन्द्रियसे छोटी है। अतएव उसे अपने आप किसी प्रकार का दोष युक्त होने का भ्रम भी हो गया है। परन्तु उसका यह विश्वास नहीं है कि उसकी कमी के कारण उसके बच्चे नहीं हुये। उसकी स्त्रियों में भी अनेक प्रकार के रोग हैं जिसके कारण उनका गर्भ धारण करना कठिन है।

परन्तु उक्त बात से चोरी की बात का कोई सम्बन्ध नहीं है। एक बार उक्त युवक को चोरी का दोष अवश्य लगा था। परन्तु वह झूठा था और उसका उसी समय समाधान हो चुका था। परन्तु उस समय का मानसिक संघर्ष इतना दुखद था कि रोगी उसे कभी न भुला सका। वह उस समय बनारस में पढ़ता था और अपने इस संस्कार को भुलाने के लिये वह लखनऊ पढ़ने चला गया। परन्तु अब भी उसका भ्रम जैसे का तैसा बना रहा। जब कभी वह किसी दो व्यक्तियों को फुसफुसा कर बात करते देखता तो वह सोचता कि वे उसकी चोरी की ही बात कर रहे हैं। और इससे वह घबड़ाता। यदि कोई पुलिस का आदमी दिखा जाता तो उसका दिल धड़कने लगता। यदि कोई इसके कमरे की ओर आता तो वह सोचता कि अब मेरी तलाशी की जायगी। वह मानता था कि ऐसा कुछ न होगा तिस पर भी वह अपने विचार को न छोड़ पाता।

जब यह युवक लेखक के पास आया तो लेखक ने उसे अपने घर पर ही रक्खा। उसे पर्याप्त प्यार दिखाया गया, उसे नींद की कमी हो गई थी। अतएव उसे आनापानसति का अभ्यास कराते हुऐ प्रतिदिन सुलाया गया, लेखकने उक्त रोगीसे एकबार कहा कि वह अपनी काम वासना सबंधी किसी बात को छिपा रहा है। इसी के कारण उसे यह रोग है। उसने चोरी किसी द्रव्य की नहीं की है वरन् सत्य की चोरी की है। उसने स्वीकार कर लिया। उक्त आत्म-स्वीकृति का तुरन्त यह प्रभाव हुआ कि रोगी का अनिद्रा का रोग जाता रहा। उसका मन प्रसन्न हुआ, रोगी के पुराने कुकृत्यों के प्रायश्चित को कुछ उपाय बता दिया गया। उसे सांत्वना दी गई। उससे बतलाया गया कि उसके नैतिकता का अभिमान ही उसके मानसिक रोग की उपस्थिति का प्रधान कारण है।

उसके समान दूसरे लोग भी अनेक कृत्य करते हैं। पर उन्हें वैसे रोग नहीं होते जैसा उसे हो गया। अब आवश्यकता है कि वह एक ओर झूठी नैतिकता के अभिमान को छोंडे और दूसरी ओर समाज सेवा के संकल्प को दृढ़ करे। किसी प्रकार का कुकृत्य समाज के प्रति अन्याय है। समाज के प्रति सद्भावना प्रकट करके उसके उपकार के लिये विशेष प्रकार का प्रयत्न करके हम अपने पुराने मानसिक संस्कारों को बदल सकते हैं।

मम शरीर की वायु-स्पर्श से हटता यदि इनका दुखभार।
तो न चलूँगा स्वर्ग नरक में रहना ही मुझको स्वीकार॥

एक संत राजा

एक बहुत ही धर्मात्मा राजा था। धर्म पूर्वक राज्य करने पर यथाकाल उसकी मृत्यु हो गई। पुण्यात्मा होने पर भी किसी एक पापका फल भुगताने के लिये यमदूत उसे सम्मान पूर्वक नरक मार्ग से ले गये। नरकों का दृश्य देखकर राजा का हृदय दहल गया, वहाँ के पीड़ित प्राणियों का चीत्कार उससे सुना नहीं जाता था। वहाँ का दृश्य देखकर ज्यों ही वह यम सेवकों के साथ नरक छोड़कर जाने लगा त्यों ही नरक की असह्य पीड़ा भोगने वाले सबके सब नरकवासी चिल्ला उठे और करुण विलाप करते हुये, पुकार कर राजा से कहने लगे—"हे राजन्! आप प्रसन्न होइये। घड़ी भर आप यहाँ और ठहर जाइये। आप के अंग से स्पर्श करके आने वाली हवा से हमें बड़ा ही सुख मिल रहा है, इस सुख शीतल वायु के स्पर्श मात्र से हमारी सारी पीड़ा और जलन एकदम जाती रही है, और हम पर मानों आनन्द की वर्षा हो रही है। दया कीजिये।"

राजा ने यह सुनकर यमदूतों से पूछा—"मेरे यहाँ रहने से इन लोगों को सुख मिलने का क्या कारण है? मैंने ऐसा कौन सा पुण्य किया है जिसके कारण इन पर आनन्द की वर्षा हो रही है?" यमदूतों ने कहा "महाराज! आपने पितृ, देवता, अतिथि और आश्रितों का भरण पोषण करके उनसे बचे हुये द्रव्य से अपना भरण-पोषण किया है तथा श्रीहरि का स्मरण किया है, इसीलिये आप के शरीर से स्पर्श की हुई हवा से पापियों की पीड़ा नष्ट हो रही है। आप के तेज से और आप के दर्शन से पापियों को पीड़ा पहुँचाने वाले यमराज के अस्त्र-शस्त्र, तीक्ष्ण चोंच वाले पक्षी, नरकाग्नि आदि सभी तेजोहत होकर मृदु हो गये हैं। इसी लिये नरक वासियों को इतना सुख मिल रहा है।

यह सुनकर राजा ने कहा—'इनके सुख से मुझको बड़ा सुख हो रहा है, मेरी ऐसी मान्यता है कि आर्त प्राणियों की रक्षा करने मे जो सुख होता है, स्वर्ग या ब्रह्मलोक में भी वैसा सुख नहीं होता। यदि मेरे यहाँ रहने से इनकी पीड़ा दूर होती है तो दूतो! मैं पत्थर की तरह अचल होकर यहीं रहूँगा। राजा की यह बात सुनकर यमदूतों ने कहा—"चलिये यह तो पापियों के नरक भोग की जगह है, आप यहाँ क्यों रहेंगे? आप अपने पुण्यों का फल भोगिये"

राजा ने वेदनामयी वाणी में कहा—'जब तक इनका दुःखों से छुटकारा नहीं होगा तब तक मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा, क्योंकि मेरे यहाँ रहने से इन्हें सुख मिल रहा है। आर्त और आतुर होकर शरण चाहने वाले शत्रु पर भी जो मनुष्य अनुग्रह नहीं करता उसके जीवन को धिक्कार है। दुखियों के दुःख दूर करने में जिनका मन नहीं है उसके यज्ञ, दान, तप आदि कुछ भी इस लोक और परलोक में सुख के कारण नहीं होते। बालक, आतुर, दुखी और वृद्धों के प्रति जिसका चित्त कठोर है मेरी समझ में वह मनुष्य नहीं राक्षस है। इन लोगों के पास रहने से मुझे नारकीय अग्नि के ताप से अथवा भूख प्यास के कारण बेसुध कर देने वाला महान् दुःख भी क्यों न भोगना पड़े, इनको सुखी करने से मिले हुये उस दुःख को अपने लिये स्वर्ग ही समझूँगा। मुझ एक के दुःख पाने से यदि इतने आर्त जीवों को सुख होता है तो इससे बढ़कर मुझे और क्या लाभ होगा?

यमदूतों ने कहा—'महाराज, देखिये ये साक्षात धर्म और इन्द्र आप को ले जाने के लिए यहाँ आये हैं अब आप को जाना ही पड़ेगा, अतएव पधारिये'। धर्म ने कहा, "राजन्! आपने सम्यक् प्रकार से मेरी उपासना की है इसी

लिये मैं स्वय आपको स्वर्ग ले जाऊँगा आप देर न करें विमान पर जल्दी सवार हों'। राजा ने कहा, "हे धर्म! हजारों जीव नरक मे दुःख पा रहे हैं, और मेरे यहाँ रहने से इनका दुःख दूर होता है ऐसी हालत मे मैं यहाँ से नहीं जा सकता। इन्द्र वोले— 'राजन्! अपने अपने कर्म फल से ये पापी लोग नरक भोग रहे हैं। आपको भी अपने कर्मों का फल भोगने के लिये स्वर्ग मे चलना चाहिये। · · इन नरक वासियों पर दया करने से आपका पुण्य लाखों गुना और भी वढ़ गया है। अतएव इस पुण्य फल के भोग के लिये आप स्वर्ग चलिये। राजा ने कहा, 'जब मेरे पुण्य से इनको सुख मिलता है तो मैं अपना सब पुण्य इनको देता हूँ, इस पुण्य से ये सारे यातना भोगी पापी नरक से छूट जायें'। इन्द्र ने कहा—'इससे तो आपका पुण्य और वढ़ गया, आपकी और भी उच्च गति हो गई यह देखो सारे पापी नरक से छूटकर जा रहे हैं।

राजा पर पुष्प वृष्टि होने लगी और इन्द्र उन्हें विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग में ले गये। नारकी प्राणी सभी राजा के पुण्य प्रभाव से सद्गति को प्राप्त हुये।

(सं०)

दुःख में मुक्त की भावना ❀

(श्री बालकृष्ण जी नागर सम्पादक 'कल्पवृक्ष')

इस विषम संसार मे दुःख और क्लेश किसी को सताये विना नहीं छोड़ते। इसका मुझे अच्छी तरह अनुभव हो चुका है। मैं दुःख या विपत्ति के प्रसग मे जरा भी नहीं घवराता। वार-वार घोर कष्टों के आने पर भी दुःख की सत्ता का असर अपने ऊपर किंचित् मात्र भी नहीं होने देता। रुला देने वाले विकट प्रसग आने पर एक आँसू भी नहीं गिराता। स्त्री पुत्र मान प्रतिष्ठा प्रभाव धन ऐश्वर्य सर्वस्व नष्ट होने पर भी मैं परमेश्वर की श्रद्धा को नहीं छोड़ता।

मैं दुःखों का पहाड़ टूट पड़ने पर भी अपनी श्रद्धा से जरा भी विचलित नहीं होता। दुःख संताप की भट्टी मे जलकर मेरी आत्मा विशुद्ध हो रही है। मै किसी भी भय के आधीन नहीं हो सकता। मुझमे ऐसा ज्ञान प्रदीप्त हो गया है कि मेरे सव मोह शोक नष्ट हो गये हैं। दिन मे, रात मे, अन्धकार मे, प्रकाश मे, विपद् मे, संपद् मे, अनुकूलता में, प्रतिकूलता मे, सब अवस्थाओं मे सदा निर्भय हूँ। परमात्मा मुझ पर तो अमृत वर्षा कर रहा है। मेरा चित्त, मन, हृदय निरन्तर इस महासत्य पर स्थिर हो गया है कि संसार के सव दुःख क्लेश, भय, संकट, क्षणभंगुर हैं, चले जाने वाले हैं।

परमात्मा ही एक सत्य है, उसीके एक मात्र आधार पर मैं जीता हूँ। उसीके शरण मे पड़ा हूँ। उसके सामने दुःख विपत्ति के वादल क्षण भर भी नहीं ठहर सकते, उसी समय छिन्न-भिन्न हो जाने वाले हैं। कोई भी भारी से भारी बन्धन भय दुःख क्लेश मेरी श्रद्धा को हिला नहीं सकते। मेरी आत्मा मा की अमृतमय गोद में विश्राम कर रही है। वाहरी वस्तुओं पर मेरा सुख निर्भर नहीं है। अतएव मैं अपने दुःख दूर करने को वाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता।

❀ सुख दुःख के द्वन्दों से मुक्त होने के लिये यह भावना रोज सुबह सोकर उठने समय मन ही मन दुहरावें।

रुदन

(श्री रसिकेन्दु)

रुदन तो मनुष्य के मूल में है, ज्ञात होता है कि यह उसके पूर्व जन्म का सञ्चित किया हुआ कोई पदार्थ-सुकृत है, जिसे साथ लेकर वह संसार में आया, माँ के गर्भ से जैसे ही वह पृथ्वी पर आया वैसे ह रुदन करने लगा। यह रुदन ही उसका अभिन्न सहचर बना, जिसने जीवन भर उसका साथ दिया। किन्तु यह उसके जीवन का साथी तो पीछे बना, प्रथम तो उसका जीवन-दाता है— बालक पैदा होते ही रो उठा, जीवन की एक झलक दिखाई दी, संसार हँसा और खुशियाँ मनाने लगा, रुदन ने बालक को जीवन और संसार को आनन्द प्रदान किया। इसप्रकार रुदन जीवन और सासारिक आनन्द का दाता हुआ।

जैसे-जैसे बालक की उम्र बढ़ती गई वैसे ही उसका चिर सहचर रुदन भी नी अवस्था में भेद करता गया, बचपन में जिस रूप से वह मनुष्य का साथी बना रहा, आगे उसी रूप से वह उसका साथी नहीं रहा। बच्चे को रोते देखकर प्राय. सभी उसके प्रति दया या प्यार प्रदर्शित करने उसके पास दौड़ते हैं। मनुष्य जब दु:ख से घिरा हुआ होता है तो बहुधा सभी सहृदय उसके प्रति दयार्द्र होते हैं, बच्चा समय पाकर मनुष्य होता है तो उसका चिर सहचर रुदन भी अवस्था भेद से दु:ख गया, यन दु:ख-रुदन का ही नाम है। वह मनुष्य का बाल्यावस्था में रुदन नाम से और शेष-जीवन में दु:ख नाम से साथ देता है।

मनुष्य बचपन तो अबोध होने के कारण उससे न घबराया, परन्तु बड़े होने पर दुर्बोध का आश्रय लेकर उससे घबराने लगा उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करने लगा तथा उससे दूर रहने की भरसक चेष्टा करने लगा। अपने जीवन दाता को जीवन बिगाड़ने वाला समझने लगा। जितना ही वह इससे अलग रहने की कोशिश करने लगा, उतना ही वह अपनी अभिन्नता दिखाने लगा परिणाम यह हुआ कि उसने अपने को दु.ख से घिरा हुआ पाया। दु.ख ने अपने पाश में फाँसकर यही कहा:—मैं तेरा जीवन दाता चिर-संगी हूँ। इस जीवन में तो चोली दामन का साथ है यदि तू मुझसे दूर भागने की कोशिश करेगा तो मेरा इस फन्दे से निकल भागना असम्भव है। यह एक जीवन क्या, तू ऐसे अनेक जीवन इसी चेष्टा में लगाये रहे तो भी तू मुझसे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकता। अत: तू मुझसे अलग होने की चेष्टा न कर, मुझसे मिलने को हर समय तैयार रह। वह सुख जिसे प्राप्त करने के लिये तू आया है मेरे ही द्वारा प्राप्त होगा। मैं इसी कारण जन्म की घड़ी से तेरे साथ हूँ क्योंकि उस सुख का बीज मेरे में ही निहित है। समझले—तू लोहा है मैं पारस हूँ। मुझ से मिलकर सोना हो जाना अच्छा है या मुझसे दूर रहकर लोहे का लोहा ही बना रहना, जो जंग लग जाने पर अपने अस्तित्व को भी खतरे में डाल देता है।

जो दु:ख से डरता गया वह अपना जीवन लोहे की भांति व्यर्थ ही बनाता गया, परन्तु इसके विपरीत जिसने दु:ख का आलिङ्गन किया वह अपना जीवन सोने के तुल्य बना ले गया, दु.ख के साथ जीवन व्यतीत करना एक नाम पैदा करना है, ख्याति दु:ख की अनुचरी है। मनुष्य दु:ख का सहचर है, अत वह ख्यातनामा तभी हो सकता है, जब दु.ख क हमजोली बनकर रहे, सम्भवतः इसी कारण एक कवि ने लिख मारा है—

'कठिनाइयों, दु:ख का इतिहास ही सुयश है।'

अज्ञानी मनुष्य ही दु.ख से डरता है और अपना जीवन मृतक-तुल्य मनुष्येतर प्राणी की भाँति बिताकर जीवन लीला समाप्त कर देता है जो जीवन का दाता हो जीवन में जान डालने वाला हो, उससे डरना अज्ञान की पराकाष्ठा है। ज्ञानी मनुष्य दु:ख से नहीं डरता, उसे ईश्वर ने ज्ञान दिया है इस जगत में जीव को सुख कहाँ? सुख से तो वह कोसों दूर है उसके लिये तो ससार में दु.ख ही दु:ख हैं; सुख तो सच्चिदानन्द के पास है। जीव के पास तो सत् और चित् ही है।

जीव-शिरोमणि मनुष्य सत् चित् और दु:ख से युक्त है और ईश्वर सत् चित् और आनन्द से युक्त है, मनुष्य और ईश्वर में केवल दु ख और सुख का ही अन्तर है।

जिस समय उसे सुख की प्राप्ति हो जाती है वह सच्चिदानन्द हो जाता है यदि मनुष्य केवल सत् और चित् से ही युक्त होता तो वह कभी भी सुख प्राप्त न कर पाता। ईश्वर ने उसे दु:ख-प्रदान कर अपनी कृपालुता का परिचय दिया, या यों कहिये अपना प्यार प्रकट किया। एक कवि ने चमेली पर अन्योक्ति लिखते हुये क्या ही सुन्दर कह डाला है:—

जग यात्रा में सहने होंगे तुम्हें कठिन दु:ख भार चमेली।
काट छाँट से मत घबराना यह भी उसका प्यार चमेली॥

मनुष्य का दु:ख युक्त होना उसका प्यार है जिस प्रकार बालक रुदन करके अपने माता-पितादि का कृपा-पात्र बन जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी दु:ख भोगकर अपने परम-पिता की कृपा-दृष्टि अपनी ओर खींच लेता है। दु:ख भोगते मनुष्य (सत्—चित्) पर ईश्वर की (सत्-चित्-आनन्द की) कृपा-दृष्टि होनी सुख की प्राप्ति है।

मनुष्य का बचपन में रुदन करना तथा शेष जीवन में दु:ख उठाना सुख की ओर अग्रसर होना है। (सं०)

दु:ख निवारण के लिये दिव्य-सूत्र

(श्री विश्वमित्र वर्मा)

संभव होता तो इन दो शब्दों की व्याख्या तो दो वाक्यों मे ही लिख देता। कोई महान् दार्शनिक सिद्धान्त की विवेचना नहीं, वरन् यह तो व्यावहारिक जीवन का स्वर्ण सूत्र है जिसके द्वारा जीवन की कठिन समस्यायें हल हो जाती हैं। गाल बजाने दौड़-धूप करने और हाय-हाय करने की आवश्यकता नहीं। जो कुछ भी करते हो, वह सब इस सूत्र के साथ, इसके सहयोग से तथा इसी के आधार पर करो। इस दिव्य सूत्र को हृदयगम करके सब काम करते रहो इस दिव्य सूत्र का अर्थ तुम्हारे जीवन मे सिद्ध होता जायगा। यह केवल हृदय और मन का व्यावहारिक संदेश है, कोई जादू नहीं, तन्त्र नहीं, वरन् दिव्य विधान का आह्वान करने की कुञ्जी है।

जब कोई कठिन समस्या आती है, तो लोग इधर उधर दौड़-धूप कर मित्रों और अनुभवी लोगों से सलाह लेते हैं, उनका सहयोग चाहते हैं, बड़े-बड़े ग्रन्थों में कोई चमत्कारिक मन्त्र-उपदेश ढूंढते है, विद्वानों योगियों की शरण जाते हैं, न जाने क्या क्या साधन करते हैं परन्तु कुछ होता नहीं।

इस दिव्य सूत्र को बार-बार पढ़ो, जब तक इसका अर्थ तुम्हारे हृदय मे न बैठ जाय, इसका मनन करो, और इसके अनुकूल व्यवहार करो। इसके अनुकूल व्यवहार करने से हजारों लोगों को बहुत प्रकार के लाभ हुये हैं, तुम्हें भी होंगे।

इसके व्यवहार से, कठिनाइयों से मुक्त होकर, मुसीबतों से निकलकर तुम्हारे लिये स्वास्थ्य, स्वतन्त्रता और दिव्य ज्ञान का मार्ग मिलेगा।

जब मुसीबत आती है तो मुसीबत का चिन्तन करने से वह दूर नहीं होती, वरन् बढ़ती है, अधिकाधिक उलझती है, मन पर उसका बोझ बढ़ता जाता है, विचारों के जाल मे तुम फस जाते हो।

जो लोग प्रार्थना और दिव्य भावना के प्रभाव को नहीं जानते, जिन्होंने गम्भीरता पूर्वक सच्चे हृदय से कभी प्रार्थना नहीं की, दिव्य भावना को परमात्म-तत्त्व से आत्मसात् नहीं किया, उन्हें पहले यह दिव्य सूत्र केवल उपहासास्पद ढकोसला और व्यर्थ बकवाद मालूम होगा। कहा भी है। मन के लड्डुओं से पेट नहीं भरता। परन्तु हजारों लोगों ने इस दिव्य भावना के प्रभाव को अपने जीवन में इसके व्यवहार द्वारा सिद्ध कर लिया है। जीवन की सभी समस्याओं मे लाभ उठाया है। तुम भी स्वय कर देखो। तुम्हारी समस्यायें तुम्हारे लिये

पहाड़ मालूम होती है परन्तु परमात्मा की दृष्टि में वे समस्यायें कुछ नहीं है। परमात्मा से बड़ा कौन है ? परमात्मा सर्वशक्ति रूप सर्वव्यापक महत्तत्व चेतन है, मनुष्य उसका स्वरुप प्रतिमूर्ति है, संसार में सर्वत्र उसका साम्राज्य है। यह बात अक्षरशः सत्य है मनुष्य का अर्थ है हर एक व्यक्ति।

चाहे जहाँ रहो, चाहे जैसी परिस्थिति हो, चाहे जो काम करो, यह दिव्य सूत्र सदैव याद रक्खो, इसे अपने मन मे अंकित रखो, मन में इसे बराबर दुहराते रहो, इसका 'सुमिरन' करते रहो तो तुम परमात्मा के ज्ञान, शक्ति एवं बाहुल्य भण्डार में लीन रहोगे। तुम्हें फिर कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब प्रबन्ध करने वाला परमात्मा है-जिसके विधान से दिन और रातें होती है, ऋतुयें होती हैं, फसलें उगती और पकती हैं और संसार के सब जीव पलते हैं। वह अनन्त और असीम है, उसमें कोई सीमा या बन्धन—प्रतिबन्ध नहीं। तुम केवल उसके माध्यम—यंत्र की तरह हो, परन्तु जड़वत् नहीं—चेतन यंत्र।

परमात्मा में आत्मसात् करने से इस दिव्य सूत्र, इस दिव्य भावना द्वारा तुम्हारे अन्दर जीवन और व्यवहार मे दिव्य क्रिया होने लगेगी।

"चाहे तुम्हारा कोई भी धर्म हो, कोई भी सिद्धान्त हो, समस्या के विषय मे चिन्ता करना छोड़कर, परमात्मा का विचार कर परम शक्ति का आह्वान करो।" यही वह दिव्य संदेश है। जीवन मे चाहे कोई बड़ा काम हो या छोटा काम हो, रोग हो, आकस्मिक दुर्घटना हो, कुछ भी समस्या हो, व्यक्तिगत संकीर्ण अहं बुद्धि से विचार करना छोड़ परमात्मा की अव्यक्त भावना से उसे देखो कि समस्या परमात्मा की है। समस्या तुम्हारी नहीं। तुम परमात्मा के हो, और उसी का काम करते हो। संसार मे कोई वस्तु तुम्हारी नहीं, कोई व्यक्ति तुम्हारा घनिष्ट आत्मीय नहीं—क्योंकि मृत्यु से सब का वियोग निश्चय है, परमात्मा ही सब का आत्मीय सर्वस्व है, अतएव संसार की किसी वस्तु या व्यक्ति से मोह का कोई कारण नहीं। सब कुछ परमात्मा का है। तुम उसके मुनीम हो और उसकी शक्ति तथा पूँजी से उसीकी अव्यक्त नीति और आदेश के अनुसार काम करो। जब तक अहंभाव रखकर सम्बन्धियों और व्यावहारिक वस्तुओं का विचार करते हो तभी तक वह समस्या के रूप में चिन्ता का 'पहाड़ बनकर तुम्हारे मन में सवार रहती है और तुम्हें परेशान करती है। तुम्हें चैन नहीं लेने देती। इसका एक मात्र मुख्य कारण है अहंभाव से स ार में तुम्हारा लगाव।

मत कल्पना करो कि जो बच्चा बीमार है, वह मेरा है, व्यापार मे घाटा हुआ वह मुझे हुआ, अमुक घनिष्ट सम्बन्धी मर जाने से मेरी हानि हुई, और मेरे मर जाने से अमुक नुकसान हो जायगा। मत कल्पना करो कि दूरस्थ बीमार—मरणासन्न प्रेमी के निकट उसकी मृत्यु के पूर्व पहुँच जाऊँ, अमुक यत्न से उसे बचा लूँ, अथवा ऐसी भयानक हानि की परिस्थिति में—आग लगने पर वहाँ मैं होता तो बहुत कुछ बचा लेता।

जो कोई बीमार है-मरणासन्न है-वह परमात्मा का पुत्र है, जो जन्मा है उसकी मृत्यु अवश्य होगी। यह सब उसके आहार और सयम पर भी निर्भर है,-सृष्टि के विधान के विरुद्ध तुम अपनी बुद्धि और इच्छा के अनुसार कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। तुम भी तो उसी प्रकृति और विधान के अन्तर्गत श्वाँस लेते जाते हो, और तुम मरणासन्न होगे तब क्या करोगे ? जिस प्रकार तुम परमात्मा के चेतन स्वरूप हो, उसी प्रकार सब जीव हैं और परम तत्त्व सबमें सम्यक् रूप से विद्यमान अपना काम पूर्ण रीति से कर रहा है, सभी उसके आश्रित

हैं, तुम पर कोई आश्रित नहीं, फिर तुम्हें अपने कल्पित आत्मीयों के जीवन मृत्यु की अथवा व्यापार मे हानि की क्यों चिन्ता ? इन थोड़े दिनों के जीवन के पश्चात् भी सब कुछ वैसा रहेगा। तुम्हारा हानि अथवा मृत्यु का विचार केवल भ्रम है।

मत कल्पना करो कि परमात्मा क्या है, कैसा है, अमुक समस्या वह कब हल करेगा, कैसे करेगा। यह तुम नहीं जान सकोगे। संसार की हरएक चीज में उसे देखो तो कुछ झलक दिखाई देगी और किंचित् समझ में आवेगा। परमात्मा पूर्णज्ञान पूर्ण प्रेम, सर्वत्र शिव रूप है। बस इन्हीं शब्दों की मानसिक रटंत लगाते रहो। समस्याओं का चिन्तन छोड़ दो। मुसीबत के चिन्तन में ईश्वर का चिन्तन नहीं होता। सिर पर बोझ रखकर बार बार उसका विचार करने से वह हल्का नहीं होता। अपने मन में से मुसीबत का विचार निकाल दो। मुसीबत का विचार ह मुसीबत है—यही मुख्य बात है। यदि तुम अपनी समस्या को भूलकर परमात्मभाव मे बिल्कुल डूब जाओ—तभी तुम्हारी समस्या हल हो जायगी। मालूम होगा- चमत्कार हो गया। इस चमत्कार से तुम्हें उसे सिद्ध करने का मार्ग मिल जायगा।

यदि किसी व्यक्ति की दुष्टता से तुम्हें उस पर क्रोध है, द्वेष है तो, उसका विचार करने की अपेक्षा परमात्मा के सत् का विचार कर उसमें बिल्कुल डूब जाओ, और उस व्यक्ति को भी लेकर उसी भावना मे डूब जाओ, और देखो कि जैसा सत और दिव्य मैं हूं, वैसा ही वह व्यक्ति भी है। इसी प्रकार किसी भी विषमता या संघर्ष की परिस्थिति मे अव्यक्त भाव में लीन हो जाओ, व्यक्तिगत—संकीर्ण—स्वार्थमय दृष्टिकोण को छोड़ दो। जब तक व्यक्तिगत संकीर्णता है तभी तक समस्यायें और संघर्ष है। अव्यक्त में सब लीन हो जाते हैं—यह बड़े महत्व की बात है। इसका एक मंत्र याद कर लो।

"केवल परमात्मा ही शक्ति है उसका पुत्र हूँ। उसकी शान्ति और शक्ति से भरपूर हूँ। उसके प्रेम से ही मेरा जीवन एवं व्यवहार संचालित है। मैं परमात्मा के अनुकूल ही आचरण करता हूँ।"

यह मन्त्र चाहे पहले निरर्थक मालूम हो, परन्तु मनन पूर्वक इसे रटते रहने पर कुछ समय बाद तुम्हारा मन जब अव्यक्त में रग जायगा तब स्वतः शुद्ध हो जायगा। परिस्थिति, समस्या अथवा किसी व्यक्ति से संघर्ष मत करो, सब बोझ अपने सिर कांधे पर मत लादो। व्यक्त भाव से मुक्त हो सब कुछ अव्यक्त मे लीन कर दो। मत चिंता या विचार करो, कि अमुक काम कब कैसे होगा ? हवा कैसे चलती है, पानी कैसे बरसता है, लोग कैसे जीते हैं—किसी से यह पूछो, वह कहेगा—इसकी चिंता करना मूर्खता है।

एक बहुत अच्छा मंत्र यह है। यही दिव्य सूत्र है। "मैं अपना जीवन और व्यवहार, बच्चे की तरह श्रद्धा, और प्रेम पूर्वक परम पिता परमात्मा के हाथों सौंपता हूँ। मेरे लिए जो अच्छी बात है वही होगी। जो कुछ होगा हमारे लिए अच्छा ही होगा।"

दो बातन को याद रख, जो चाहे कल्यान।
'नारायण' एक मौत को, दूजे श्री भगवान्॥

दुःख की उत्पत्ति और निवृत्ति

दुःखों से घबराओ मत, दुःख तुम्हारी भलाई के लिये ही तुम्हारे पास आते हैं, प्रत्येक दुःख को अपने पहले किये हुये किसी कर्म का फल समझो। याद रक्खो—दुःख की प्राप्ति से तुम्हारे कर्म का भोग पूरा हो जाता है, और तुम कर्म फल के बन्धन से मुक्त होकर निर्मल हो जाते हो। भीष्म पितामह ने तो देह त्याग के पूर्व कर्मों को पुकार कर कहा था कि 'यदि मेरे कोई कर्म शेष हों तो वे आकर मुझे अपना फल भुगता दें।" अतएव कोई भी दुःख प्राप्त हो तो उसको शान्ति पूर्वक भोगो और मन में यह जानकर सुखी होओ कि कर्म फल का भोग हो गया यह बहुत उत्तम हुआ।

तुम्हारे प्रत्येक सुख दुःख का विधान भगवान् किया करते हैं भगवान् परम दयालु हैं उनका कोई विधान ऐसा नही होता जिसमें तुम्हारा कल्याण न भरा हो, इस लिये प्रत्येक दुःख की प्राप्ति में उनका विधान समझ कर आनन्द प्राप्त करो। निश्चय समझो, कि इन दुःखों को तुम्हारे मंगल के लिये ही भगवान् ने तुम्हारे ऊपर भेजा है।

निश्चय समझो कि अभाव के अनुभव या प्रतिकूल अनुभव का नाम ही दुःख है, अभाव का अथवा प्रतिकूलता का बोध राग द्वेष के कारण तुम्हारी अपनी भावना के अनुसार होता है। राग द्वेष न हो तो सब अवस्थाओं में आनन्द रह सकता है। संसार मे जो कुछ होता है भगवान् की लीला होती है, उनका खेल है यह समझ कर कहीं राग और ममता तथा द्वेष और विरोध न रखकर प्रतिकूलता या अभाव का बोध त्याग कर दो, फिर कोई भी दुःख तुम पर कभी असर नहीं डाल सकेगा।

मन के अनुकूल विषयों की अप्राप्ति अथवा नाश का नाम ही दुःख है, विषयों की प्राप्ति से मन विषयों में अधिक फँसता है, इसी लिये मुमुक्षु साधक जानबूझ कर धन, मान, सम्पदा, यश आदि सुख रूप विषयों का त्याग किया करते हैं। यदि तुम्हारे पास ये विषय न रहें या होकर नाश हो जायँ तो यही समझो तुम एक घने दुःख जाल से छूट गये, इस अवस्था में किसी प्रकार से भी व्यथित न हो।

सासारिक सुख दुःख नाम और रूप को लेकर होते हैं तुम आत्म स्वरूप हो तुम न शरीर हो, न नाम हो, तुम तो सदा सुख दुःखों के द्रष्टा हो, तुमने लड़कपन को देखा, और जवानी देखी, बुढ़ापा देखते हो। अवस्थायें बदल गई, परन्तु तुम देखने वाले वह के वह हो, इसी से तुम्हें वे देखी हुई बातें याद आती हैं। निश्चय करो, तुम भोक्ता नहीं हो तुम तो द्रष्टामात्र हो, सुख दुःखों से सर्वथा परे हो निर्लेप हो। तुम्हारे आत्म स्वरूप में आनन्द ही आनन्द है। वह न कभी धन-हीन होता है न निन्दित होता है, न बीमार होता है न मरता है, वह सब अवस्थाओं में सम रहता है, फिर तुम नाम रूप से सम्बन्धित घटनाओं को दुःख का नाम देकर व्यथित क्यों होते हो? इस मूर्खता को छोड़ कर हर हालत मे आनन्द का अनुभव करो तुम पर दुःख कभी आ ही नहीं सकता, तुम दुःख को ग्रहण करते हो इसी से दुःख आता है, ग्रहण करना छोड़ दो फिर कोई भी दुःख तुम्हारे पास तक नहीं फटकेगा।

अपना तन मन धन सब भगवान् के अर्पण कर दो, तुम्हारा है भी नहीं, भगवान का ही है। अपना मान बैठे हो —ममता करते हो इसी से दुखी होते हो, ममता को सब जगह से हटाकर केवल भगवान के चरणों में जोड़ दो, अपने माने हुए सब कुछ को

भगवान के अर्पण कर दो। फिर वे अपनी चीज को चाहें जैसे काम में लावें, बनावें या बिगोड़ें तुम्हें उसमे व्यथा क्यों होने लगी? भगवान को समर्पण करके तुमतो निश्चिन्त और आनन्द मग्न हो जाओ। याद रक्खो, विधान और विधाता में कोई भेद नहीं है खेल भी वही और खिलाड़ी भी वही। इस परम रहस्य को समझकर हर हालत में प्रत्येक अवस्था मे विधान के रूप में आये हुये विधाता को पहचान कर उन्हें पकड़ लो फिर आनन्द ही आनन्द है।

दुःख-सुख-आनन्द मीमांसा

(आचार्य श्रीनरदेव जी शास्त्री वेद-तीर्थ, सदस्य विधान-सभा उ० प्र०)

कौन प्राणी है जो सुख नहीं चाहता? सभी चाहते हैं। पर क्या सब सुख पाते हैं? नहीं। कौन है जो दुःख चाहता है? कोई नहीं, पर क्या सृष्टि के आदि से लेकर अब तक किसी का दुःखों से छुटकारा हुआ है? किसी का नहीं। सुख के लिए कर्म करते हैं पर मिलता देखा है दुःख। दुःख भी सभी दुःख नहीं होते। पहिले-पहिले अपना भयंकर रूप दिखला कर वे सुख में परिणत हो जाते हैं। सभी सुख, सुख नहीं होते। वे भी कुछ काल अपना मोहकस्वरूप दिखलाकर दुःख में परिणित हो जाते हैं। तब दुःख निवारण का क्या अर्थ है? तब यह सुख-दुःख मीमांसा का विषय हो जाता है। साधारण मनुष्य तो समझ भी नहीं पाता कि दुःख सुख की स्थिति क्या है? असली दुःख क्या है और असली सुख क्या है? सुख वह है जिसमें प्रतिकूलता प्रतीत हो:—

"अनुकूलवेदनीय सुखम्"

दुःख वह है जिसमें प्रतिकूलता प्रतीत हो:—

"प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्"

साधारण जनता तो अपनी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता देखकर ही सुख-दुःख का निर्णय कर लेती है। किन्तु विज्ञ जन तो परिणाम पर दृष्टि रखकर सुख-दुःख का निर्णय करते हैं। परिणाम में जो सुखावह वह सुख, परिणाम में जो दुःखावह वह दुःख।

मनुष्य त्रिगुणात्मक प्रकृति का पुतला है। इसमें तीनों गुणों क प्रतिबिम्ब मिलेंगे—सत्व, रज, तम। इन तीनों गुणों में सात्विक कर्म परिणाम में सुखावह होते हैं। रजोगुण में अन्त तक सुख के पश्चात् दुःख और दुःखों के पश्चात् सुख चलता रहता है। तम तो है ही मोह इसमें अज्ञान ही अज्ञान रहता है, अज्ञान का परिणाम दुःख ही दुःख है।

इसलिये न्यायदर्शन में सब दुःखों का मूल अज्ञान को, मिथ्याज्ञान को विपरीत ज्ञान को माना गया है। इसी अज्ञान, मिथ्याज्ञान अथवा विपरीत ज्ञान को हटाने का उपदेश दिया है:—

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानाना—
मुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥

मिथ्याज्ञान को हटाने से दोष निवृत्त होंगे, दोष (रागद्वेषमोह) के हटने से यथार्थ प्रवृत्ति होगी। कुप्रवृत्ति से बचोगे। जब कुप्रवृत्ति से बचे तब सुप्रवृत्ति के कारण जन्म से बचोगे। जहाँ जन्म से बचे वहाँ फिर दुःख कहाँ? दुःखों का अत्यन्ताभाव ही मोक्ष है।

इन दुःखों के अत्यन्ताभाव एवं अत्यन्तनिवृत्ति के लिये ही सांख्य दर्शन कहता है कि:—

'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः

आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक दुःखों की निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है।

इस अत्यन्त पुरुषार्थ में अत्यन्त दुःख पहिले होता है किन्तु परिणाम में अत्यन्त सुख मिलता है। मैं भूलता

हैं सुख नहीं आनन्द—मोक्षानन्द मिलता। सुख वह है जिसका ख अर्थात् इन्द्रियों की अनुकूलता से सम्बन्ध रहता है। दुःख वह है जिसका ख इन्द्रियों की प्रतिकूलता से सम्बन्ध रहता है। आनन्द का सम्बन्ध आत्मा से और आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा के साथ होने से मोक्षानन्द कहलाता है। संसारी जन सुख पा सकते हैं आनन्द नहीं। आनन्द इन्द्रियों का विषय नहीं। वह इन्द्रियातीत हैं। उसका वर्णन हो ही नहीं सकता.—

> न शक्यते वर्णयितुं तदा गिरा।
> स्वयं तदन्त.करणेन गृह्यते ॥

इस सुख-दुःख-आनन्द के यथार्थ तत्व को समझकर ही शास्त्रकारों ने संसारी जनों के लिये भोग पूर्वक त्याग का उपदेश दिया है। इसी लिये वर्णाश्रम व्यवस्था का उपदेश है। जो संस्कारी जीव हैं वे एक-दम किसी आश्रम से किसी आश्रम में जाकर जिस दिन उनका तीव्र संस्कार उठे उसी दिन संसार छोड़कर आत्मानन्द की खोज में चल पड़ते हैं। संसारी जन धीरे-धीरे छोड़ सकते हैं, यदि फँसे ही रहे तो उनके पीछे "लायस्व" "त्रायस्व" का पचड़ा लगा ही रहता है फिर इनका दुःख निवारण कहाँ? सच्चा दुःख-निवारण तो मोक्ष में है। पर वे पुरुष भी धन्य हैं जो मोक्षानन्द को भी लात मारकर संसारी जनों के उद्धारार्थ सतत संलग्न रहते हैं। इसलिये संसार को लात मारकर स्वात्मा के आनन्द के लिये एकान्त में जाकर प्रयत्नशील व्यक्ति (ध्यानयोगी) बड़ा कि मोक्षानन्द को लात मारकर संसारी जनों के हितार्थ संसार में ही रहकर प्रयत्नशील व्यक्ति (कर्मयोगी) बड़ा हम इस विवेचना में नहीं पड़ेंगे। जिससे जो बनता है करे।

दुःख निवारण की समस्या का सहज हल

(विद्यालङ्कार श्री व्रजभूषण जी मिश्र एम० ए०, बी० टी०

किसी भी समस्या को सुलझाने के लिये आवश्यक है परिस्थिति पर विचार। मूलाधार की प्रकृति को जाँच कर ही समस्या पर विचार किया जा सकता है। प्रकृति में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कोई वस्तु चिरस्थायी नहीं। महाप्रतापी रावण, विस्तृत रोमसाम्राज्य, आर्यों का महान् उत्कर्ष, अँग्रेजों का विशाल राज्य स्थायी नहीं। धन, जन रूप, यौवन सहायता सभी चलनशील हैं। इस स्थिति को प्रत्यक्ष किया गया है श्री को चञ्चला कहकर। संसार, जगत्, विश्व आदि शब्द का प्रातिपादित अर्थ ही चलनशील है। इस चलाचली में एक अचल है और वह है द्वन्द्वाधीन परिस्थिति। आलोक-छाया, दिवारात्रि, जन्म मृत्यु, अच्छा-बुरा, पाप पुण्य, हास रुदन, राग द्वेष, विरह मिलन, ऊँच नीच, जय पराजय, व सुख दु.ख— ये जोड़े ही द्वन्द्व कहलाते हैं। चलनशील में अचल ये द्वन्द्व भी चिरस्थायी नहीं। ये द्वन्द्व भी घूमते रहते हैं। हम प्रकृति के प्रकाशमान आद्यन्त हीन अखिल विश्व के जिस किसी दिशा में दृष्टिपात करते हैं उसी ओर देखते हैं आदि नहीं, अन्त नहीं. आगे सोचकर देखने का समय नहीं, पीछे फिर कर देखने का अवसर नहीं। सतत् अस्थिर तथा अविरत परिवर्तनशील चराचर के अति विराट् भास्वर भास्कर से छुद्रातिछुद्र परमाणु तक सब खेल तक के नशे में चूर होकर स्थिर, अनन्त महाप्रकाश रूपी भैरवी चक्र में घूम फिर कर, चढ़ उतर कर, अविराम उद्दाम ताण्डव होता रहता है। आठो प्रहर घूम फिर कर आया जाया करते हैं, रवि सोमादि सब वार भी वही करते हैं. शुक्ल कृष्ण दोनो पक्ष भी वही करते हैं, सब तिथियाँ, सब मास, सब संवत्सर, सब ऋतु, सब मन्वन्तर, सब कल्प, घूमते हैं। रुदनशील आकाश का कलेजा फाड़कर पृथ्वी हँसती हँसती जलपान करती है। फिर क्षण भर के बाद आकाश भी सूर्य किरणों के

सहारे हँसते हँसते रोती पृथ्वी को जला कर उसका सब रस रक्त चूस लेता है। वृत्त के रस रक्त का शोषण कर बीज पैदा होकर सुख पूर्वक बढ़ता है फिर कुछ दिन बाद बीज का कलेजा फटता है और हँसता हुआ पेड़ निकल आता है। पर्वत शिखर से वर्फ पिघल पिघल कर जल रूप से नद-नदी सागर को परिपूर्ण करता है, फिर उसका जल भी सूर्य-ताप मे सूखकर भाफ बन वायु से परिचालित होकर पर्वत के ऊपर हिम होकर जा गिरता है। अखिल विश्व में यही खेल चक्राकार अविराम होता रहता है। कोल्हू के बैल के चक्र सा कभी खतम न होने वाला यह चक्कर है।

ऊपर लिखित परिस्थिति में हमारा प्रेरक आकर्षक उद्देश्य क्या है यह भी देखना चाहिये। निरुद्देश्य कोई काम नहीं होता। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सब सतत् द्रुतगति से दौड़ रहे हैं। विद्यार्थी पढ़ लिखकर सुख भोग भोगना चाहता है, व्योपारी धन को तिजोरी में रख कर सतत मौंज मारना चाहता है। सबका परम साध्य है, सतत अविच्छिन्न सुख धारा का प्रवाह। इस आप्तव्य को हम पाना चाहते हैं देहेन्द्रिय मन के सहारे क्योंकि लक्ष्य का वेधी करण औजार से ही तो होता है। हम जो कुछ भोगते हैं वह मन देहेन्द्रिय के सहारे ही भोगते हैं। तन-मन को भोगने की कितनी क्षमता है व भोग मे उनका कितना सहयोग है, देखना चाहिये। जिस मन द्वारा हम साधारणत नाना प्रकार के सुख की इच्छा करते हैं इस इच्छा पूर्ति में यही मन देहेन्द्रियों का सम्पूर्णतः मुखापेक्षी रहता है। मन असीम इच्छा करता है। मन की राक्षसी क्षुधा की शान्ति में आवश्यक शक्ति देहेन्द्रियों मे नहीं। लाखो सेर खोये का सामान खाने की इच्छा होती है पर एक या दो सेर तक पहुँचते-पहुँचते सब वमनकर फेंक देते हैं। मन चाहता है कि पृथ्वी का समस्त रत्नभंडार एक पल मे ही उसके अधिकार में हो जावे किन्तु दो-चार लाख कमाते-कमाते शरीर जर्जर हो जाता है। मन चाहता है असीम शून्यनील आकाश मे दुग्ध फेनिल शुभ्र कोमल ज्योत्स्नाशैय्या पर हाथ पॉव फैलाकर मंद-मंद मलयानिल के स्निग्ध शीतल स्रोत का मजा लेना। पर हम देखते हैं कि मनकी इच्छा का लक्षांश भी (पूरा करने की) पूरने की शक्ति इसमे नहीं। यह तो हुई तनकी बात। मन की बात इससे कम विलक्षण नहीं। मन की पराधीनता का कोई अन्त नहीं। किसी राह चलते भिक्षुक के कुवाच्य सुनकर आँखें लाल हो जाती हैं, माथे पर वल पड़ जाता है, नाक से गर्म हवा निकलने लगती है, क्रोध से समूचा शरीर थर-थर कॉपने लगता है और अपमान की कटु ज्वाला में समस्त तन मन दहकने लगता है। अस्वस्थ होने से नौकर काम पर न आ सका हमारे सिर पर पहाड़ टूट पड़ा। रास्ता चलते असावधान होने से मनीवेग के चोरी हो जाने से हम पागल हो जाते हैं पुत्र को बीमार देखकर हाय हाय करने लगते हैं। यही जो अनुक्षण सबका मुखापेक्षी होकर रहना, दिन-रात सबकी अनुनय विनय करना, प्रति दिन सबसे डरते हुये जीवन विताना, अहोरात्र सबके मनोनुकूल चलने का प्रयास करना बात-बात मे भगवान् से मनौती करना—इस प्रकार शिरके प्रत्येक बाल के साथ और देह के हर-एक रोयें के साथ इन सब पराधीनताओं की सॉकल वॉधकर हम परम साध्य सिद्ध करना चाहते हैं। हमारी यह आशा और हमारा यह साहस कितना भ्रान्त है। अस्तु लक्ष्य सिद्धि के लिये जो उपकरण प्राप्त हैं वे पूर्णतया अनुपयुक्त हैं। कमजोर औजारों से अभिलाषित वस्तु कैसे पाई जा सकती है।

अभीष्ट प्राप्ति की प्रयोगशाला की भी दशा देखनी चाहिये। वहाँ का हाल भी जानने योग्य है।

विश्व की प्रयोगशाला में हम देखते हैं कि प्रत्येक सुखद वस्तु की प्राप्ति मे परिश्रम, सरक्षण मे दुश्चिन्ता तथा विनाश में शोक करना पड़ता है— चाहे उसे हम स्वयं करें या दूसरों से करावें। हमारे पास जिस परिणाम में धन सचित होगा उसी परिमाण में पृथ्वी मे कहीं न कहीं उसका ह्रास होता रहेगा, अर्थात् किसी एक स्थान पर धन की कमी न होने से दूसरे स्थान पर धन की वृद्धि संभव नहीं। धनवान् तथा शक्तिशाली मनुष्य को नाना प्रकार सेवा आज्ञापालनादि से सुखी बनाने को इस भूमंडल मे एक या अनेक नर नारी को दरिद्र एवं दुर्बल होकर जन्म ग्रहण करके उसका नौकर या आज्ञाधीन होना पड़ता है। वीर की स्वर्ण गाथा चिरकाल ही पराजित की कलक कालिख से लिखी जाती है। विजेता की विजयपताका हताहत सैनिकों के हृदय रक्त से रजित होकर ही सगौरव फहरानी है। खेल मे भी एक पक्ष के हारने पर ही दूसरे पक्ष को विजयोल्लास प्राप्त होता है। शिशु के आगमन से जिस समय सबके मुख पर हँसी लहराती है ठीक उसी समय एक ओर प्रसविनी अति वेदना से अर्ध-मूर्च्छित पड़ी रहती है और दूसरी ओर हम लोगों की हँसी खुशी का मूल कारण यह अभिनव पथिक भूमिस्थ होकर जहाँ से अनेक को रुलाकर आया है स्यात् उसीके विरह मे 'केहाँव केहाँव' करता है। घोड़ा गाड़ी पर बैठने की सब इच्छा करते हैं, घोड़ा बनकर कितने खींचने को लालायित हैं। रिक्शा पर चढ़ना सब चाहते हैं कोई उसे खींचना नही चाहता। अत. यह स्पष्ट है कि यदि घोड़ा बनने का दु.ख इस ससार मे न होता तो घोड़ागाड़ी पर चढ़ने का सुख भी न होता। यदि जगत् मे कहीं मृत्युजन्य दुख न हो तो कहीं जन्मजात सुख भी न होगा। पराजय जनित दुःख पर जयजनित सुख है। अस्तु प्रयोगशाला का एक निरीक्षण है कि कहीं किसी को किसी प्रकार दुःख न होने से कहीं किसी को किसी प्रकार सुख भी संभव न होता। हमारा लक्ष्य है सतत सुख, अतः यह निरीक्षण उस तक पहुँचाने मे असभव है। प्रथम निरीक्षण से ही समझ गये कि जैसे कोई स्थिर समुद्र के समतल जल मे गह्वर न होने से दूसरे स्थान पर वह ऊँचा तरंगाकर नहीं हो सकता वैसे ही इस संसार मे भी कहीं किसी का किसी प्रकार दुख न होने से कहीं किसी का किसी प्रकार सुख भी नहीं हो सकता। इस निरीक्षण के आधार पर हम यह भी देखते हैं कि सब जीव स्वरूपतः एक ही समान हैं और उन सब का यहाँ आने का अभिप्राय भी एक है। अतएव यदि एक बार ठीक ठीक निरपेक्ष होकर विचार करें तो समझ सकते हैं कि यदि हम तुम्हें दुखी कर स्वय सुख लें ता कभी न कभी हमें भी दुःख भोगकर तुम्हें सुखी बनाने का दु ख उठाना पड़ेगा। साइकिल के पहिये की एक तीली यदि यह हठ कर बैठे कि वह सदा ऊपर ही रहेगी नीचे नहीं जायगी तो फिर काम नहीं चलनेका। जिस पैडिल चलाने रूप कर्म द्वारा वह लौहशलाका (Spoke ऊपर पहुँची है उसी कर्म द्वारा वह नीचे भी आती है। एक ही क्रिया के ये दो आजू-बाजू हैं। अत यह निरीक्षण भी हमारे काम का नहीं। सृष्टि प्रयोगशाला के ये दो निरीक्षण तो फेल हो गये। तीसरा फिर देखना चाहिये। हार ही विजय का दृढ़ाधार है।

निरीक्षण प्रणाली मे भी हमे किञ्चित् परिवर्तन करना होगा। अभी तक हम सुख को पाने के लिये खोजते थे अब सुख को आधार मानकर उसके सहारे किसी निर्णय को पाने की चेष्टा की जायगी। सुख का यथार्थ अर्थ क्या है? एक प्रकार अनुभूति का नाम ही सुख है। यदि यह सत्य है तो धनैश्वर्य, बाग-बगीचा जड़ पदार्थों मे सुख क्यों ढूढ़ते हैं जिनमें किसी प्रकार की अनुभूति नहीं। अत. जड़ पदार्थ मे सुखानुभूति नहीं। स्वप्न जगत् में जागृति कालीन वस्तु के न रहते हुये भी स्वप्न मे विविध सुख

दु:ख भोगते हैं। स्वप्न कालीन वस्तु के अभाव मे हम सुख दुख उठाते हैं। अतएव स्वप्न कालीन या जागृति कालीन जगत् की किसी वस्तु मे वास्तविक सुख या दुःख नहीं अर्थात् वे किसी सुख दुख के यथार्थ मूल कारण नहीं, मूल स्थान है हमारा मन। सुषुप्ति मे मन के अदृश्य होते ही सारे सुख दु.ख छू मन्तर हो जाते हैं। अतएव इन तीनों अवस्थाओं के सहारे यह समझ लिया कि मन निरपेक्ष होने से ही वास्तविक (दृष्टि) सुख की प्राप्ति सम्भव है। इसी निरीक्षण से अपना इष्ट समझ मे आगया।

मन निरपेक्ष होने के दो मार्ग हैं—एक तो मन को कहीं पर ऐसा दृढ़ लगा दे कि तत् से एकाकार हो जाय, उसके सिवा कुछ दिखे ही नहीं और दूसरा उपाय है मन के अस्तित्त्व की जानकारी कर ली जाय। मन को लगाने के लिये उसको आकृष्ट करने के लिये सगुणतत्त्व मे सौन्दर्य, शक्ति और शील का समावेश किया गया। उसे प्रिय, प्रिया, सखा, उपास्य, प्रभु आदि रूप देकर उसे सर्वेसर्वा मानकर उसमे ही अपने को चौबीसों घण्टे लगाये रक्खा जाता है। दूसरा मार्ग है। मन के अस्तित्व को पहचानने का। मन है क्या ? मन एक गोलक मात्र है जिसको बल मिलता है ज्ञान के पावरहाउस से। टार्च की तरह ज्ञान द्वारा यदि मन सबकी यथार्थता, पोल (खोखलापन) देख ले तो फिर वह कहीं लगेगा नहीं, अटकेगा नहीं और वह मन निरपेक्ष हो सकता है। पहली स्थिति एक नशीली अवस्था है जो श्रद्धा और विश्वास के सहारे लायी जाती है और दूसरी वास्तविक तर्क की इति श्री कर ज्ञान का सम्यक् सम्पूर्ण विवेचन है।

अस्तु तत्त्व यह निकला कि दुःख निवारण सुख की प्राप्ति से सम्भव नहीं, निवारण अभीष्ट है तो सुख का भी निवारण करना होगा। वरण करना होगा तो दोनों को वरना होगा इस समस्या का हाल है वरण निवारण के कर्मचक्र से स्व को निकाल कर मन गोलक से दूर निरपेक्ष सत्य को प्राप्त करना। जिसे पाने के बारे में कहा गया है कि रिकाब पर पैर रखकर घोड़ा पर चढ़ने मे देर हो सकती है, फूल मसलने मे देर हो सकती है, पर ज्ञान प्राप्ति में देर नहीं। यह सभव है सत्संग से से जो आज कठिन होते हुए भी प्राप्य है। कलि में यही एकमात्र मार्ग है, इसलिये ही तो आजकल स्थान स्थान पर सङ्कीर्तन भवन खोले जा रहे हैं। इनके सहारे परमार्थवादी अध्यात्म चर्चा करना तो सीखेंगे। अध्यात्म चर्चा मे लगे रहना ही जीवन है और दु:ख सुख दोनों से अलग रहना ही श्रेयस्कर प्राप्तव्य है

जीवनोपयोगी बचन

(प्रेषक—सेठ श्री बिशनचन्द्र जी)

१. प्रतिष्ठा और मान, चाहने वालों से दूर भागता है।
२. ये संसारी नाट्यकार स्वय को न भूलकर अपने कर्त्तव्य का पालन कर।
३. संसार में दु:खी ही यथार्थ भाग्यवान हैं, क्योंकि वही ईश्वर के साक्षात्कार का परम सुख प्राप्त कर सकता है।
४. मूर्ख किसी की बुराई न कर, तू भी उन्हीं बुरों में से एक है।
५. सफलता का मूल मंत्र दृढ विश्वास है।
६. सबको प्रसन्न करने की कल्पना करना मूर्खता है।

त्रिपुरारी के समक्ष देवताओं की आर्त पुकार

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पये तत् ॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ फरवरी, १९५३ | अङ्क २
फाल्गुन शुक्ल पक्ष २ द्वितीया रविवार, सं० २००९

जागु जागु

जागु जागु जीव जड़ ! जोहै जग जामिनी ।
देह गेह नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति संताप रे ।
बूड्यो मृग-बारि खायो जेवरी को साँप रे ।
कहैं वेद बुध तू तो बूझि मन माहिं रे ।
दोष-दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे ॥
तुलसी जागे ते जाय ताप तिहूँ ताय रे ।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥

(विनय पत्रिका से)

अनुशासन की समस्या

(प्रिंसपल श्री जे० पी० गुप्ता)

आज हमारे राष्ट्र के निर्माता हमारे स्वातन्त्र्य नौका के कर्णधार अनुशासन के लिये व्यग्र हैं, हर शिक्षित सभ्य व संस्कृत पुरुष अनुशासन के अभाव में भविष्य की अन्धकार मयी कल्पना पाकर वज्रपात का अनुभव करता है, हमारे दैनिक व गार्हस्थ्य जीवन के संगीत की माधुर्य लहरी अनुशासन-हीनता के कारण नष्ट सी हो चली है, और आज हम घर में, समाज में और जीवन के हर क्षेत्र में अनुशासन के अभाव में टूटी वीणा के अस्त-व्यस्त स्वरों का अनुभव करते हैं। आखिर प्रश्न यह है कि हमारे वर्तमान जीवन में अनुशासन का इतना महत्व क्यों हुआ प्राचीन समय में तो इसकी इतनी आवश्यकता न थी—हमारा जीवन सरल था। हमारी इच्छायें सीमित थीं, और हम पूरी प्रकार से एकदेशीय सी न थे, आज की अन्तर्राष्ट्रीयता की उस समय कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, हमारा उत्थान व पतन एकाकी नहीं हो सकता हमें सारे विश्व के साथ होकर चलना है। यदि हम अनुशासित हैं, यदि हम अपने शिक्षकों और नेताओं में अडिग विश्वास कर सकते हैं, और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अनुशासन से आलोकित कर सकते हैं तो भविष्य हमारा है उत्थान का प्रकाश हमारे देश को जगमगा देगा और हम अन्तर्राष्ट्रीय दौड़ में गर्व व मान से मस्तक ऊँचा कर सकेंगे, अन्यथा सभ्य संसार हमारे ऊपर हँसेगा, हमारा पुरातन गौरव कल्पना की वस्तु ठहराई जायगी और हम इतिहास में स्वतन्त्रता के अयोग्य माने जाकर सदा के लिये कलंकित हो जावेंगे।

परन्तु हम भारतीय तो अनुशासन जानते ही नहीं हैं, भेड़िया धसान तो हमारी ऐतिहासिक परम्परा सी हो चली है, इतिहास इस बात का साक्षी है कि अधिक अनुशासित और संयमित विदेशियों ने हमको पराजित कर गुलाम बनाया मुसलमान जो विदेशी थे, उच्च अनुशासन के कारण ही भारत में सत्ता कर सके, और अंग्रेज जाति तो अनुशासन प्रियता के लिये विख्यात है ही—अंग्रेज साम्राज्य की ः ही अनुशासन पर जमी है।

हमारे यहाँ तो इसके विपरीत अनुशासन-हीनता रक में व्याप्त है, सच्ची राष्ट्रीयता का सदा अभाव रहा है, धर्म और जाति का सदैव बोल बाला रहा है और क्षुद्र स्वार्थ के झंझावात ने हमारे महान् उद्देश्यों को सदा ही उखाड़ फेंका है, क्या हम स्वतन्त्रता के सैनिक राणा प्रताप और पदलोलुप मदमस्त तथा स्वार्थान्ध मानसिंह की पारस्परिक शत्रुता को भुला सकते हैं? क्या हम जयचन्द्र के घृणित कार्य को इतिहास के पृष्ठों से मिटा सकते हैं? क्या सिंधिया नरेश ने प्रथम स्वाधीनता संग्राम को वीर सेना ने, झाँसी की रानी के साथ १८५७ में विश्वास घात करके भारत को और भी ६० वर्ष विदेशियों के बन्धनों में जकड़े नहीं रक्खा? और क्या मानव इतिहास में ऐसी जघन्यता कहीं अन्यत्र मिल सकती है कि जहाँ विश्ववन्द्य अहिंसा शान्ति के साक्षात् अवतार राष्ट्र पिता और मानवता के अनन्य पुजारी बापू जी की हत्या एक भारतीय ने और एक हिन्दू ने हिंसावादी पिस्तौल की गोली से की हो, सम्भवतः यह हमारे लिये सबसे बड़ा कलंक है और इससे जो राष्ट्र की महान क्षति हुई है वह वर्णनातीत है।

अंग्रेज यहाँ आये, उनका हर काम अनुशासन से होता था—जहाँ देखो वहाँ अनुशासन फौज में सरकारी पद पर, जीवन के हर क्षेत्र में। क्या गत महायुद्ध में हमने अंग्रेजों का अनुशासन नहीं देखा, और क्या छत्तीस घण्टे की अनवरत पार्लियामेंट की मीटिंग अनुशासन प्रियता का प्रमाण नहीं। इस अनुशासन की छाप शिक्षण सस्थाओं में भी पड़ी, हमारे स्कूल और कालेजों में अनुशासन आया, विद्यार्थी भी सरकारी नौकरी के लालच के कारण अधिक लगन से पढ़ते थे, १८५७ से १९१९ तक अनुशासन का इतना अभाव न था और न समस्या इतनी गम्भीर ही थी। १८५७ में अंग्रेजों ने जो विजय पाई उससे भारतीय कुछ आतङ्कित से हुये और अंग्रेजों के अनुशासन की छाप यथावत् बनी रही।

भारत में स्वाधीनता संग्राम छिड़ा दिवंगत बापू जी ने नेतृत्व किया—राष्ट्रीयता की आग जगी घर घर में क्रान्ति की लहर पहुँची 'भारत हमारा है, स्वाधीनता

हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, 'इनकलाब जिन्दाबाद, दिल्ली चलो,' आदि नारों से देश गूँज उठा, शिक्षण संस्था इस देश-व्यापी आन्दोलन से अछूती कैसे रह सकती थी, स्वतन्त्रता युद्ध के नायकों ने बिगुल बजाया और स्कूल कालेजों से विद्यार्थी निकल पड़े छात्र वृन्द कूद पड़ा स्वतन्त्रता की धधकती आग में—केसरिया बाना पहने—प्राणों की आहुति लेकर स्कूल और कालेजों का वातावरण राजनैतिक हो गया–प्रधानाध्यापक और अन्य अध्यापकों के प्रति आदर का अभाव हुआ, उनके शासन का आसन डगमगाया।

इसके अतिरिक्त बेकारी फैली, शिक्षा का मूल्य धन के में घटा, फैशन का बाजार गर्म हुआ, विद्यार्थी सिनेमा, पान सिगरेट आदि दुर्व्यसनों तथा बनाव शृंगार में फँसने लगे, शिक्षा की ओर से रुचि कम हुई और दुर्व्यसनों को भोगने के लिये पैसे की कमी को किताबें साईकिल तथा घर की चोरी करके पूरा किया जाने लगा और ये प्रवृत्तियाँ जोर ही पकड़ती गईं। सैकिण्ड-हैंड बुक स्टाल इन्हीं चोरियों के कारण फले फूले। इस के अतिरिक्त जो थोड़ा सा अनुशासन विद्यार्थी स्कूल कालेज में सीखे उस पर भी संरक्षकों की उदासीनता के कारण झूठे लाड़ दुलार में तथा रूढ़ियुक्त वातावरण में तुषार-पात होने लगा।

अध्यापक जो अनुशासन के साधन थे उनके बारे में भी कुछ कहना है। अध्यापकों के साथ समाज की कोई सहानुभूति नहीं रही है समाज उनका आदर क्यों करे? वे एम० ए० हैं मैट्रिकधारी हैं और डाक्टर हैं तो उन्हें क्या? उनके बच्चों के ही तो मास्टर हैं न, उनके तो नहीं। वे पूँजीपति नहीं, उन्होंने चोर बाजारी करके मोटी मोटी रिश्वतें देकर गगन चुम्बी महल नहीं बनवाये? कारें नहीं खरीदीं और आमोद प्रमोद के साधन नहीं जुटाये, बैंक बैलेंस के युग में सरस्वती के दीन हीन पुजारी को कौन पूछता है? और इधर जीवन का माप दण्ड बढ़ा, चीजों के भाव अपूर्वगति से बढ़ने लगे, बेचारे अध्यापक को वेतन में से अपने और आश्रितों का पेट भरना भी दूभर हो गया और तन ढाकने को रफ कहा जाने वाला कपड़ा भी खरीदना उसके लिये एक समस्या बन गई। लाचार अध्यापक प्राइवेट ट्यूशन की ओर अधिक से अधिक झुका और स्कूल कालेज के कर्त्तव्यों की ओर से उदासीन होने लगा, फलत. अनुशासन का पतन होता गया।

इधर नेतागीरी का भूत फिर विद्यार्थी वर्ग पर भी सवार हुआ। वह क्या करे? उसके सामने समाजवाद है, कम्युनिष्ट है, स्वयं सेवक संघ है और हैं अनेकों समस्यायें जो कालेज स्कूल से बाहर उन्हें बुलाती हैं सक्रिय भाग लेने को। विद्यार्थी सोचता है कौनसी समस्या को अपनाकर नेता बनूँ, किस संस्था का भोंपू बजाकर लीडर कहलाने लगूँ। लीडर बनने की धुनि तो विद्यार्थी वर्ग को है ही। आखिर इतनी सस्ती नेतागीरी भारत के अलावा और मिल भी कहाँ सकती है? जब लीडर बनने का आकर्षक और रंगीन क्षेत्र दोनों भुजाओं से उनका अभिवादन करने को प्रस्तुत है तो फिर वे अध्यापक से शासित क्यों हों? क्या ही विचित्र विडम्बना है।

इतना ही नहीं, हम ऐसे दूषित वातावरण में ही सोच बैठे एक रात में ही सतयुग की स्थापना करने का, एजूकेशन कोड जो शिक्षण संस्थाओं तथा प्रधानाध्यापक व अन्य अध्यापकों के लिये लौह-कवच है वहाँ से भी शारीरिक दण्ड उठा लिया गया जिससे अब भय नहीं रहा। यदि प्रधानाध्यापक किसी को अनुशासन हीनता में निकाल दे तो मैनेजर उसपर अबुद्धिमता और टैक्टलैस का अपराध लगाते हैं, भय का अनुशासन यद्यपि स्थायी नहीं होता पर इस दूषित वातावरण से मुक्ति पाने में वह सहायक अवश्य होता है, फिर अनुशासन अन्य सुन्दर साधनों से स्थापित करने के मार्ग में इतनी कठिनाइयाँ नहीं रहती मार्ग उतना कण्टकाकीर्ण नहीं रहता, विडम्बना तो यह है कि सरकार भी इस समस्या को अभी कोई गम्भीरता से नहीं ले रही है। उसके रुख में दृढ़ता नहीं है यद्यपि अब अनुशासन का अभाव सब को खलता है और फिर जब हमारा राजनैतिक उद्देश्य प्राप्त हो गया हमने लौह शृङ्खलाओं को तोड़ दिया और अब स्वतन्त्रता के मनोहर प्रभात की झाँकी से कृतकृत्य हुये तब तो अनुशासन की समस्या "प्रायारिटी न० १ है" और विशेष कर उन शिक्षण संस्थाओं में जो स्वतन्त्र भारत के नागरिकों की नर्सरी हैं। जहाँ से कर्मवीर गाँधी रणवीर जवाहर और वज्रधारी पटेल निकलेंगे जिनकी

ओर भविष्य अपलक दृष्टि लगाये हुये है, और जिनके आधार पर भारत माता विश्ववन्द्या होने के सुनहले स्वप्न देख रही है। अब प्रश्न यह है कि आखिर अनुशासन कैसे स्थापित हो।

पूर्व इसके कि अनुशासन स्थापित करने के साधनों की खोज करें हमें यह समझना है कि अनुशासन का अर्थ क्या है? अनुशासन का अर्थ शारीरिक और मानसिक संयम है।

सर्व प्रथम हमें नष्ट प्राय: आदर को फिर से स्थापित करना चाहिये। अध्यापकों और विद्यार्थियों का सम्बन्ध शिक्षा काल में रहता है, इसी में विद्यार्थी के आने वाले रूप का निर्माण होता है अत अध्यापकों के पद को आदरणीय बनाना आवश्यक है इनको अच्छा वेतन देना है। उदाहरणार्थ एक प्रधानाध्यापक का वेतन डिप्टी कलेक्टर से दूना नहीं तो ड्योढ़ा अवश्य हो। उसका स्थान भी अधिक आदर का हो। उसकी सर्विस भी सुरक्षित हो सामने उन्नति के मार्ग प्रशस्त हो, ताकि वे अपना जीवन भली प्रकार बिता सकें, ट्यूशनों की उन्हें आवश्यकता न पड़े और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति इस राष्ट्रनिर्माण के पद का भार सम्भालने के लिये उत्साहित हों। जिसमें इस नर्सरी में से उच्च कोटि के नागरिक उत्पन्न हों।

शिक्षा का रूप ऐसा स्थिर कर दिया जाये जिसमें विद्यार्थियों को अधिक जीविका के साधन खोज निकालने का अवसर मिले। इससे उनकी शिक्षा उन्हें व्यर्थ का जंजाल और समय नष्ट होने का साधन प्रतीत न होगी और उनके अन्दर शिक्षा के प्रति पुन: रुचि जागृत होगी।

एक ही प्रकार की शिक्षा सब विद्यार्थियों की रुचि के अनुकूल नहीं होती, पर आज विविध प्रकार की शिक्षा के अभाव में एक ही विद्यालय रूपी प्रयोगशाला में सब पदार्थों का निर्माण होता है। 'फलत' वे विद्यार्थी जिनकी रुचि नहीं होती अनुशासन भङ्ग के साधन बनते हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षा से उनकी रुचि मालूम करके उन्हें रुचि के आधार पर शिक्षा देनी चाहिये—जैसे यदि कोई विद्यार्थी संगीत आदि ललित कलाओं में रुचि रखता है तो उसे एस्थेटिक स्कूल में पढ़ने जाना चाहिये—जो साधारण विद्यार्थियों की सतह से नीचे हैं उनके लिये 'रिफार्मेटरी स्कूल' लखनऊ जैसे स्कूलों का आयोजन हो।

अनुशासन स्थापित करने के लिये सरकारी सहायता की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है—सरकार को अश्लील फिल्मों पर रोक लगानी होगी और उसके स्थान पर शिक्षात्मक और सुन्दर मनोरंजक चित्रपटों का आयोजन करना होगा—भद्दे विज्ञापनों पर प्रतिबन्ध लगाना होगा ताकि बच्चों की मनोवृत्तियाँ दूषित न हों साथ ही अश्लील साहित्य जो वासना प्रधान है जिससे मानसिक पतन बड़े तीव्र वेग से होता है उसका प्रकाशन रोकना होगा। हड़तालों का प्रभाव बुरा पड़ता है, इन पर यथासाध्य प्रतिबन्ध लगाना पड़ेगा।

राष्ट्रीय सरकार के प्रति अटूट भक्ति होनी तो अनिवार्य है ही—कालेज के बाहर जो ऐसी संस्थायें हों, जो सरकार द्रोही हों उनका दमन करना होगा ताकि विद्यार्थियों के समक्ष वे पथभ्रष्ट होने के मार्ग ही न रहें, और बाहर के गन्दे वातावरण का प्रभाव विद्यार्थियों पर न पड़े।

संरक्षक अपने कर्त्तव्यों की ओर से बिल्कुल विमुख हैं वे अपने बच्चों के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं समझते, उन्हें तो कमाने की और धनवान् होने की धुनि सवार रहती है। बच्चों की ओर देखने को उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता, बच्चों के निर्माण कार्य में सहयोग देते ही नहीं, बच्चा स्कूल कालेज में केवल पाँच घण्टे ही रहता है शेष समय संरक्षक के पास ही व्यतीत होता है। संरक्षकों को स्कूल शिक्षण तथा संस्थाओं के अधिक सम्पर्क में आना होता है, उन्हें अपने कर्त्तव्यों की ओर सजग बनाना पड़ेगा, क्या राष्ट्र की निधि को वे इतनी भयानक उदासीनता से पतनोन्मुख होने देंगे? क्या स्वतन्त्र भारत के उत्थान मार्ग में रोड़े बनकर ही वे भारतीय होने का झूठा अभिमान करेंगे? उन्हें इस घातक निद्रा से सचेत होना है और भावी नौनिहालों के निर्माण में सक्रिय भाग लेना है—

इसके साथ ही शिक्षण संस्थाओं का वातावरण स्वास्थ्यपूर्ण और आकर्षक खेल-कूद से सम्पन्न बनाना चाहिये रेडियो, उद्यान, उनके नियम आदि का सुप्रबन्ध होना चाहिये, विद्यार्थियों के पढ़ने के कमरे आकर्षक और सजे हुये हों।

यह देखा गया है कि साम्प्रदायिक संस्थाओं में मैनेजिंग कमेटी के सदस्यों की पार्टीबन्दी के कारण कुछ शिक्षक

समुदाय में आपसी मनोमालिन्य के कारण अनुशासन हीनता हो जाती है, ऐसी संस्थायें स्थगित ही कर दी जावें, और उनके स्थानपर राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण हो

हमको विद्यार्थी वर्ग में कुछ सुन्दर आदतें डालने के लिये साधन जुटाने पड़ेंगे, उन्हें पक्के अनुशासन के लिये फौजी शिक्षा देनी होगी।

विशेषकर १८ वर्ष की आयु से ऊपर के विद्यार्थियों के लिये। उनके मनोरञ्जन के लिये रेडियो, बैण्ड और शिक्षात्मक सिनेमा का आयोजन सुन्दर रहेगा। शारीरिक जीवन मानसिक संयम के लिये आधारभूत है। सबसे अधिक विद्यार्थियों के हृदयपट पर यह भावना अंकित होनी चाहिये कि उन्हें विद्यालय और देश का भक्त बनना है।

इस योजना का अभाव ही अनुशासन हीनता की जड़ को सींचता है। जब यह भावना अमिट रूप से हृदयंगम हो जावेगी तब अनुशासन की समस्या बहुत अंशों में स्वतः ही सुलझ जायगी और फिर हम देखेंगे कि शिक्षा संस्थाओं से निकले नागरिक जीवन के हर क्षेत्र को यथाशक्ति सुन्दर बनाकर भारत की उन्नति में सक्रिय रूप से सहायक होंगे।

फिर अध्यापकों को भी अपना उत्तर दायित्व समझना है, उदासीनता को त्याग पत्र देना पड़ेगा। उनकी उदासीनता राष्ट्र के निर्माण में घातक सिद्ध होगी। अब तो हम स्वतन्त्र हो गये हैं, स्वतन्त्रता के सुनहले वातावरण में नौकर शाही विचार धारा को परिवर्तन करना ही होगा। क्या अध्यापकों से यह आशा की जावे कि वे यथाशक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करेंगे। स्वाधीन राष्ट्र के नाते ही कम से कम १० वर्ष तक तो निष्काम भावना से वे अपने पद का भार सम्भालें, आखिर बच्चे अपने ही तो हैं बन्धन मुक्त भारत माँ की सन्तान हैं। जापान के शिक्षकों का कर्त्तव्य हमारे सामने है जिन्होंने युद्धकाल में चने चबाकर शिक्षा दान दिया।

क्या आशा की जावे कि सरकार उपरोक्त सुझावों का क्रियात्मक रूप देने का यत्न करेगी। अध्यापक अपने पद को आदरणीय बनावें। अध्यापक वर्ग अपने उत्तरदायित्व को समझें और राष्ट्र निर्माण का कार्य त्याग और राष्ट्र सेवा की भावना से करें। किन्तु बिना सरकार के सहयोग से सब योजनायें स्वप्न सी हो जाती हैं। सरकार आर्थिक सहायता तो करे ही साथ ही कानून के बल से अवाँछित साहित्य सिनेमा तथा अन्य दुर्व्यसनों को रोके। फिर हम देखेंगे कि जीवन के सभी क्षेत्र अनुशासन से सुव्यवस्थित होंगे और उन्नति के पथ पर तीव्र वेग से बढ़े चले जावेंगे।

हे मन कनक ! तपो

(श्री हरिशंकर जी श्रीवास्तव "शलभ")

हे मन कनक ! तपो।
चांद सितारों के नर्तन में किसकी कविता गाती।
शून्य गगन से चरण चरण की नूपुर ध्वनि टकराती ॥
इधर कुमुद के कानों में मधुकर गुन गुन कह जाता।
वितरण करती सुरभि-माधवी पँखुरियों पनपो ॥
हे मन कनक ! तपो ॥

"बैद सँवलिया अजहुँ न आये" मीरा के दृग गीले।
बजा खँजरी कबिरा गाते—"पिउ के पथ कटीले" ॥
विकसित जग-जीवन की कलिका हास्य रुदनके स्वर से-
प्राण-पपीहे ! तुम भी निशि दिन पिउ का नाम जपो।
हे मन कनक ! तपो ॥

दुःख निवारणार्थ संस्कृताध्ययनकी परमावश्यकता

(श्री पं० रामाधार जी पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य)

जागतिक प्राणि-मात्र अर्थात् समस्त जलचर, थलचर, नभचर, यावत् अणोरणीयान् महतो महीयान् जीव कोटि मे चैतन्य हैं सभी किसी न किसी कार्य मे संलग्न एवं अस्त-व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। क्या मानव, क्या पशु, क्या पक्षी सभी कीटाणु तक कहीं न कहीं प्रवृत्त अवश्य हैं। योगी-यती, सन्त-विरागी संन्यासी-वानप्रस्थी, गृहस्थ-ब्रह्मचारी आदि साक्षात् उत वा परम्परा सम्बन्ध से इन्द्रियों किमुत मन से ही किसी न किसी कर्म क्षेत्र में उतरे ही हैं। कुछ न कुछ रचना रच ही रहे हैं। शारीरिक नहीं तो मन से ही सही। कुछ तो अवश्य ही कर रहे हैं। जहाँ पर ही जो है अपना राग अलाप रहा है। कोई राजनीति क्षेत्र में ही कौशल कार्य सम्पादन में लगा है तो कोई धर्मनीति से भीति भगाना चाहता है। कोई सुधारक बनकर समाज के सुधारने के प्रयत्न में है तो कोई शिक्षा की भिक्षा मांगना आरम्भ कर रहा है। कोई अध्यापन प्रणाली मे नवीन लाली भर रहा है तो कोई छात्रों की आलोचना कर रहा है। कोई भौतिकता से भूति अर्जना कर रहा है, तो कोई नैतिकता की नींव सुदृढ़ करने पर तुल गया है। कोई व्यापार-व्यवहार के झंझट मे दक्ष है तो कोई कृषक के पक्ष में है। कोई यन्त्र-निर्माण से कल्याण झोंक रहा है तो कोई मन्त्र फूँक रहा है। कोई तन्त्र से स्वतन्त्र रहना चाहता है तो कोई कला की बला मोल ले रहा है। कहनेका तात्पर्य यह कि कोई भी बिना काम करते दिखाई नहीं देता है।

हाँ, तो जब इस प्रकार प्रवृत्ति है तो इसका प्रयोजन क्या है।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य मूर्खोऽपि न प्रवर्तते"

बिना किसी प्रयोजन के उद्देश्य से मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। तो समझदार व्यक्ति निष्प्रयोजन कार्य क्यों करने लगेगा। अवश्य कुछ न कुछ प्रयोजन रहता है। वह क्या है, दुःख की निवृत्ति एवं सुख की प्राप्ति। क्योंकि जीव की सुख की ओर सहज प्रवृत्ति है। जिसका जो स्वभाव होता है उसका उसपर सहज अनुराग होता है। जीव, सुख—आनन्द रूप ही है। कहा भी है "ईश्वर अंश जीव अविनाशी"। ईश्वर है, 'रसो वै' अर्थात् आनन्द स्वरुप, अत प्रत्येक जीव की सुख के प्रति स्वतः प्रवृत्ति होती है। अत. साक्षात् उत परम्परा रूप से भ्रान्ति से अथवा सावधानता से जीवमात्र की प्रवृत्ति दुख की निवृत्ति व सुख के प्राप्ति के लिये ही होती है। किन्तु अनवरत प्रयत्न शील रहते हुये भी सुख प्राप्ति की कौन कहे? सुख की झलक मिलना भी दुष्प्राप्य हो जाती है। कार्य में थके पगे सभी दुःख की कहानी सुनाते हैं। किसी को कभी भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती है। या होती है तो पहचान नहीं पाते उसे पकड़ नहीं पाते। निकल जाती है। क्या मामला है? बात समझ में नहीं आती। साधारण जनों की बात तो जाने दीजिये, बड़े-बड़े पुजारी पंडा, साधु-विरागी पण्डित नीतिज्ञ भी दुःख का दुशाला ही ओढ़े रहते हैं। बात क्या जो दुःख दूर नहीं होता। सभी प्रयास निष्फल हो जाते हैं। संसार दुःखमय है। संसार मे सुख है ही नहीं। क्योंकि संसार मे यदि सुख होता तो सबको; नहीं सही, किसी को तो अवश्य प्राप्त होता। अब यह विचार करना है कि अघटित घटना पटीयसी निखिल रचना चातुरी उस जगत्स्रष्टा कलावान् की कला अविकला निष्फला ही ठहरी। तो उस सुखराशि अखण्ड आनन्द सिंधुने ऐसा व्यर्थ प्रयास ही क्यों कर डाला, जिसकी एक भी छींट अपनी कृतियों पर नहीं पड़ी।

जैसे जल जल-कृति वीचि मे अन्तर नहीं वैसे सुख-राशि सुखराशि-कृति ससार में अन्तर नहीं चाहिये।

तो क्या सचमुच संसार मे सुख है ही नही ? नहीं, संसार मे सुख है। परन्तु उसको कोई पहचानता नहीं। उसकी प्राप्ति की आशा मे रहता है। उसी के भ्रम से सुखाभास को सत्य सुख समझने लगता है। सच्चा सुख क्या है समझ नहीं पाता। पहचान नहीं पाता। चारों तरफ भटकता फिरता है सभी चतुरता, सभी कौशल, सभी कलायें, समस्त विज्ञान के कान खड़े हो जाते हैं। शान्ति नहीं, प्रसन्नता नही, उलझन सी पड़ जाती है। बुद्धि काम नहीं करती है। शिथिलता छा जाती है। निराशा घेर लेती है। हाँ क्या करें, कैसे करें, कहाँ जॉय, किससे कहें, कोई सुनने वाला नहीं। फिर दु.ख कैसे दूर हो।

समस्त भौतिक कुशलता लापता हो जाती है। काम नहीं आती। प्रत्युत सतत सताती है। सत्य है, कोई भी विज्ञान, दर्शन, कला, कृति, नीति, इतिहास, भूगोल, गणित आदि दु ख दूर नहीं कर सकते हैं। इन साधनों से दु.ख दूर तभी हो सकता है जब मनुष्य आकाश मण्डल को चर्म से आच्छादित कर दे।

आशय यह है कि जैसे चर्म से नभ का आच्छादन दुष्कर एव असम्भव है वैसे ही इन सब साधनों से दु.ख नाश नहीं होगा।

दुःख का नाश आत्म-ज्ञान से होता है। विना आत्म साक्षात्कार से दुःख का नाश होना नितान्त असम्भव है। कहा भी गया है कि—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

संसार की कोई भी सामिग्री ऐसी दिखाई नहीं देती कि जिससे दु ख नाश हो जावे। किंचिन्मात्र भौतिक सुखोपार्जन के लिये अनेकों कष्ट झेलने पड़ते हैं। बाधाओं का सामना करना पड़ता है। पश्चात् सेमर पुष्प की भॉति वह तूल ही हाथ लगता है। वास्तविकता तो यह है कि ससारी पदार्थ मात्र मे सच्चा सुख तो है ही नही केवल सुखाभास की झलक मात्र है, जो पलक मारते ही पलायन कर जाती है। ठहर नही सकती। ठहरना उसका स्वभाव नहीं। वह है अस्थिर, चंचल, लहरी की तरह। एक पर एक दृष्टि गोचर होती रहती हैं।

जैसे कोई सम्राट् निखिल भूमण्डलेश्वर को सांसारिक सभी पदार्थ पुत्र, कलत्र, यान, भक्ष्य, भोज्य, पेय, इष्ट मित्र, धन ऐश्वर्य, शासन आदि उपलब्ध हैं। तथापि उसके मन मे शान्ति नहीं रहती है। देखा गया है कि जिसकी कामना होती है उसके मिल जाने पर कामना नाश हो जाती है। परन्तु भौतिक सुख सभी मिलते रहने पर भी उत्कण्ठा ज्यों की त्यों बनी रहती है। इससे सिद्ध होता है कि वास्तविक सुख सासारिक पदार्थों में प्राप्त होना दुर्लभ नहीं, असम्भव है।

अत' यदि सच्ची सुख शान्ति प्राप्त करना है तो आत्मज्ञान की आवश्यकता है। बिना आत्मज्ञान के सुखोपलब्धि सभव नहीं। आत्मज्ञान ही सुख है, अमृत है।

यह आत्म ज्ञान एव सुखामृत कैसे प्राप्त होगा इस विषय मे श्रुति बतलाती है कि 'विद्ययाऽमृत मश्नुते" विद्या के द्वारा ही अमृत सुख की उपलब्धि होती है। वह विद्या कौन जिसके द्वारा अमृतोपलब्धि निश्चित है। हिन्दी, उर्दू, इंगलिस, फ्रेंच, आदि नहीं। ये हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि विद्या नहीं भाषायें हैं विद्या उसे कहते हैं—'वेत्ति अनया परब्रह्म' इति विद्या। जिससे परम तत्त्व ब्रह्म का ज्ञान हो वही विद्या है। उस परम तत्त्व ब्रह्म का ज्ञान वेद वेदाङ्ग शास्त्र स्मृति आदि के अध्ययन से

जाना जाता है कि अमुक कर्म या अमुक अनुष्ठान से ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होगा। अत वेद की भाषा ही विद्या है। वह कौन सी भाषा है—'संस्कृत'। संस्कृत भाषा ही विद्या है। इसी से सुखामृत की प्राप्ति हो सकती है। विना संस्कृत भाषा के ज्ञान के सुख प्राप्ति का मार्ग निकलना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। इसलिये सुख शान्ति स्थापित करने के लिये संस्कृत विद्या का अध्ययन करना तथा प्रचार करना परमावश्यक है।

अपने लिए, अन्य के लिए अर्थात् विश्व भर में यदि सुख शान्ति स्थापना की कामना है तो संस्कृत विद्या पढ़िये। अपना दुःख दूर करिये। समस्त संसार का भी दुःख भगाइये। विना संस्कृत ज्ञान के किसी प्रकार दुःख निवारण नहीं हो सकता। अतः समस्त भारतीय जनता को एकाग्र मन होकर संस्कृत विद्या का अध्ययन तथा प्रचार करना परमावश्यक है।

परदुःख निवारक महात्मा

(श्री पं० गयाप्रसाद जी त्रिपाठी, शास्त्री, साहित्यरत्न)

एक वार श्री बोधिसत्व ने विप्रवंश में जन्म लिया।
माता और पिता ने विधिवत् जातादिक संस्कार किया॥
होनहार, मेधावी, गौतम विद्याभ्यास लगे करने।
निशि दिन गुरुचरणों में रहकर ज्ञाननिधान लगे भरने॥१॥

अष्टादश विद्या पारंगत, कलाकुशल, आचार्य हुए।
राजनीति में सिद्ध हस्त हो, धीर, वीर, कृतकार्य हुए॥
दोष पूर्ण सब जग के धन्धे, उन्हें स्वतः यह ज्ञान हुआ।
जन्म मरण से मुक्ति मिले क्यों? एकमात्र यह ध्यान हुआ॥२॥

शुभ मुहूर्त में इसी ध्येय से गहन विपिन में वास किया।
शान्ति-प्रभावित, पशुओं ने भी हिंसा से संन्यास लिया॥
वैर विरोध भुला बेखटके, लगे सभी चरने फिरने।
भ्रातृ-भाव सम्पन्न सुखी हो, हिलमिल मोद लगे भरने॥३॥

उपदेशों को सुनकर उनके, आकर शिष्य हुए कितने।
सुत, कलत्र, परिवार त्याग कर, हुए विपिन वासी कितने॥
नित उपदेश भजन कीर्तन से, आश्रमपद था दिव्य बना।
देते थे उपदेश मनोहर, बोधिसत्व श्रीमहामना॥४॥

व्रत, उपवास, नियम, संयम से नहीं शान्ति जब उन्हें मिली।
और न चंचलता ही अपनी छोड़ सका, मन सुघर छली॥
अजित नाम का शिष्य संग ले योग-साधने बुद्ध चले।
कानन, कुञ्ज, कन्दरा, तजते, निर्जन वन में जा निकले॥५॥

देखा एक सिंहनी को, जो अभी दे चुकी बच्चे चार।
प्रसव-वेदना और क्षुधा से गिर गिर पड़ती वारम्बार॥
धँसी हुई आँखों से पलभर, देख न सकती प्रकृति-पसार।
तो भी अपने ही शिशुओं को निज अहार हित रही निहार॥६॥

छोड़ दुधमुहे निज बच्चों को दौड़ पड़ी बाघिन भूखी।
लगी चबाने चर-चर मर-मर रुधिर मॉस हड्डी सूखी॥

ज्यों भूचाल कभी आने से हिल जाता है अचल महान्।
बोधि सत्व का हृदय कँप उठा बोले देखो ! शिष्य सुजान ॥
क्षुधित सिंहनी स्नेह रहित हो, निज शिशु खाने को तैयार।
देखो क्षण भंगुर जग की यह लीला कितनी है निस्सार ॥७॥
यही तुच्छ ! वात्सल्य प्रेम है, जो लोकोत्तर कहा गया।
हाय ! अभी तक मैं भी इसके कपट वेष से छला गया॥
प्राणों के रक्षार्थ चाहती, जननी प्रिय सुत को खाना।
अरे क्रूर जग ! मैंने जाना, तुझे भली विधि पहचाना ॥८॥
कहा शिष्य से शीघ्र करो जी ! जब तक छूट न जायें प्राण।
लाकर दो आहार कहीं से इन सबका कीजै कल्याण ॥
"जो आज्ञा" यह कहा अजित ने और किया सत्वर प्रस्थान।
भेज शिष्य को स्वयं बुद्ध जी, चिन्ता में पड़ गये महान् ॥९॥
स्वस्थ शरीर बचा मैं अपना, मांस खोजने कहाँ ? चला।
कौन ! कहेगा मुझे सयाना, दया धर्मरत, धीर भला ॥
सारहीन, अपवित्र दुःखमय, तन से हो यदि पर दुख नाश।
तो मम जीवन परम धन्य हो, और मिले वह परम प्रकाश ॥१०॥
सत्य संध, वह महापुरुष झट शैल शिखर से कूद पड़ा।
प्राण पखेरू उड़े देह तज, सिंही को सुन शब्द पड़ा॥
छोड दुहमुहें निज बच्चों को, दौड़ पड़ी बाघिन भूखी।
लगी चबाने चर-चर मर-मर रुधिर मांस हड्डी सूखी ॥११॥
खाली हाथ शिष्य जब लौटा, देखा गुरु का अद्भुत कार्य।
किंकर्त्तव्य विमूढ, विकल हो, बोला हे गुरुवर ! हे आर्य ! ॥
धन्य तुम्हारी दया, दीन पर, धन्य तुम्हारा निज सुख त्याग।
परम धन्य वैराग्य जगत् से, धन्य जीव हित जीवन त्याग ॥१२॥

बड़ी मुश्किल है ?

विषय भोगें तो रोग घेर लेते हैं। धन संग्रह करें तो चोर डाकुओं का डर रहता है, उनसे बचो तो राजा छीन लेता है। कुलवान हों तो पतित होने का डर है। मौन धारण करें तो लोग "दीन हो, मूर्ख हो" कहकर धिक्कारते हैं। सौन्दर्य प्राप्त होने पर बुढ़ापे का भय रहता है। शास्त्र पढ़ने पर लोग वाद विवाद करने लगते हैं। शरीर में मौत का डर रहता ही है। भैय्या सब जगह मुश्किल ही मुश्किल है। आनन्द तो केवल वैराग्य में ही है मस्ती से भजन करो और मौज उड़ाओ।

(भर्तृहरि)

न्याय-वैशेषिक दर्शनों के अनुसार दुःख और उसका प्रतिकार

(पं० रघुवर मिट्ठूलाल जी शास्त्री विद्याभूषण, साहित्याचार्य, काव्य-वेदान्त-तीर्थ, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०,)

"बाधना-लक्षणं दुःखम् (अ० १, आह्निक १, सूत्र २१) अर्थात् जो बाधना (उपघात) उपजावे, वही दुःख है। शरीर, सुख, दुःखादि सभी मिश्रित होने से दुःखरूप हैं। यह सब कोंचते-सताते हैं। जन्म भी इसी दृष्टि से दुःख है।

तदत्यन्त-विमोक्षोऽपर्ग (अ० १, आ० १, सू० २२) अर्थात् उस जन्मरूप दुःख से अत्यन्त छूट जाना अपवर्ग (मोक्ष) कहलाता है।"

दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये, तदनन्तरापायादपवर्गः (अ० १, आ० १ सूत्र २) अर्थात् मिथ्याज्ञान (मोह वा विपर्यय वा भ्रम) रूप कारण के नाश से दोषों (राग और द्वेष) का नाश होता है। ये राग-द्वेष और मोह रूप दोष ही (जिनमें मोह अधिक पापी है क्योंकि इसके बिना राग-द्वेष उत्पन्न हो नहीं हो सकते हैं) धर्म और अधर्म के जनक पुण्य वा पाप-रूप कर्मों में प्रवृत्ति कराते हैं, अत. इन दोषों के नाश से प्रवृत्ति की भी समाप्ति ही जाती है। और इस वाणी, मन तथा शरीर की क्रिया-रूप प्रवृत्ति (अर्थात् सत्य प्रिय और हित वचन वाली पुण्य-रूप वाचिकी क्रिया तथा असत्य अप्रिय और अहित वचन वाली पाप-रूप वाचिकी क्रिया, एव प्राणियों पर दया-भाव इत्यादि की पुण्य-रूप मानसी क्रिया तथा उसकी विपरीत पाप-रूप मानसी क्रिया, एव दान-सेवादि शारीरी पुण्य-क्रिया तथा उसकी विपरीत पाप-रूप शारीरिकी क्रिया) के न रह जाने पर फिर आगे उत्पन्न होना (पुनर्जन्म, प्रेत्य-भाव) बन्द हो जाता है। जन्म (आगे के लिये नया शरीर मिलना) बन्द हो जाने पर फिर २१ प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध ही नहीं होता है। २१ दुःख यह हैं—शरीर, ६ इन्द्रियाँ, तथा इनके ६ विषय, ६ बुद्धियाँ, सुख और दुःख। सुख भी दुःख—मिश्रित होने से दुःख ही है, जैसे मधु भी विष के सम्पर्क से विष कोटि में ही आता है। इन २१ भेदों में गौण वा मुख्य-रूप से विभक्त होने वाले दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है।"

कणादमुनिकृत वैशेषिकदर्शन में भी यह समस्त विषय विषदरूप से, ५।२।१५-१८, ६।२।१० १६, १०।१।१-६ इत्यादि स्थलों में आया है। यहाँ विशेष-विषयक सूत्र देना पर्याप्त होगा। "आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थसन्निकर्षात्सुखदुःखे" (अ० ५, आ० २, सू० १५) अर्थात् जब आत्मा मन से, मन इन्द्रिय से और इन्द्रिय अपने विषय से, सन्निकर्ष (समीप) में होती हैं तभी सुख-दुःख होते हैं।

तथा "तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः" (अ० ५, आ० २, सू० १६) अर्थात् जब मन का उक्त कार्य उत्पन्न नहीं होता है और मन निश्चल होकर केवल आत्मा में स्थित होता तब शरीर-सम्बन्ध का दुःख नहीं रहता है। यही योग है जिसका स्वरूप मन का बाह्य विषयों से हट (लौट) कर आत्मा से ही सयोग होना है।

एवं वैशेषिक दर्शनानुसार—

"तदभावे सयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः" (अ० ५, आ० २, सू० १८)

उस अदृष्ट (धर्माधर्म) के न रह जाने पर (अर्थात् प्रारब्ध से अतिरिक्त अदृष्टों का आत्मसाक्षात्कार से ही नाश हो जाने पर और प्रारब्ध अदृष्टों का भोग से नाश हो चुकने पर) देह से आत्मा का संयोग नहीं रहता है (अर्थात् देह-प्रवाह से आत्मा का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है) और फिर कोई हेतु न रह जाने पर दूसरे किसी शरीर से अन्य संयोग का प्रादुर्भाव नहीं होता है। यही मोक्ष है।

संतों के संकल्प-मात्र से दुःख निवृत्ति

(श्री रामबहादुर जी काश्यप)

कविकुल चूडामणि पूज्यपाद गोस्वामी जी ने श्रीरामचरित मानस में लिखा है कि "*राम से अधिक राम कर दासा*" इस कथन की पुष्टि संत महापुरुषों की चमत्कारमयी जीवनी से यदा-कदा होती ही रहती है। अपने मनीषी शास्त्रकारों ने भी संतों को मंगल-मय प्रभु के नित्यावतार रूप में सम्बोधित किया है। सर्वशक्तिमान जगन्नियन्ता के प्रतिनिधि रूप संत और जगदीश्वर में वस्तुतः कोई भेद नहीं। इसीलिये वैदिक सनातन-धर्मावलम्बी मनुष्य, संत महापुरुषों को भगवन् ! कह कर सम्बोधित करते हैं। इस अनादि-प्रदत्त उपाधि का कारण है संतों का ऐश्वर्य और माधुर्य। ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ तो संत-चरणों में लोटती रहती हैं किन्तु वे वीतराग उनकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते और माधुर्य इतना अपार कि उनके सम्पर्क में जाने वाला सदैव यही अनुभव करता है कि महाराज मुझे बहुत स्नेह करते हैं। संत के सत्य संकल्प से क्या नहीं हो सकता? वे जिस पर प्रसन्न हों जाँय उसे एक क्षण में निहाल करदें। विधि के विधान को परिवर्तित करने की शक्ति भी उनमें छिपी रहती है किन्तु वे कभी उसका प्रयोग नहीं करते। इस प्रकार की महाशक्तियों की अनेक गाथायें अपने पुरातन इतिहास में मिलती हैं। महर्षि विश्वामित्र का नवीन सृष्टि-निर्माण, राम विरही-भरत की पहुनई में महर्षि भरद्वाज का अलौकिक ऐश्वर्य, संत ज्ञानेश्वर का चांगदेव के स्वागत में दीवाल चला देना आदि आदि घटनायें भावुक जन-मन में, दिव्य भावनाओं का संचार करती रहती हैं।

'परमार्थ'-प्रेमियों को इसी श्रेणी के एक ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष के संकल्प द्वारा होने वाली चमत्कारमयी दिव्य घटनाओं की किञ्चित् झाँकी कराने की सुखद लालसा का संवरण मैं नहीं कर सका। इन प्रातः स्मरणीय संत के श्रीचरणों में कभी-कभी रहने का सौभाग्य उन दिनों मुझे भी प्राप्त होता रहता था। उनकी निस्सीम ज्ञान-गरिमा, अद्भुत आकर्षण शक्ति, ऐश्वर्य और माधुर्य का वर्णन करना एक प्रकार से सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही समझा जायगा। उनके निकट सम्पर्क में आने वाले सहस्रों भावुक भक्त आज भी उनकी मधुर स्मृति से अपने अन्तःकरण की कलुष-कालिमा को धोते रहते हैं। अधिकांश परिचित भक्तों की यह धारणा है कि उन वन्दनीय श्रीचरणों में जो भी पहुँचा वह आज भी किसी न किसी रूप में अपनी भावना के अनुरूप स्वर्गीय सुखोपभोग कर रहा है। यद्यपि उन महापुरुष का पंचभौतिक शरीर इस नश्वर धराधाम से अन्तर्हित हो चुका है किन्तु दैवी सम्पद् मंडल के रूप में उनकी अमर-कीर्ति-पताका यावत् चन्द्र-दिवाकर, इस पुण्य-भू भारत में फहराती रहेगी। उन्हीं सद्गुरुदेव ब्रह्मलीन संत-शिरोमणि स्वामी एकरसानन्द जी महाराज के जीवन काल की कुछ चमत्कारमयी घटनायें प्रेमी पाठकों के सामने रखने की इच्छा तो बहुत दिनों से थी किन्तु वह संयोग आज बना। यों तो श्री 'मंजुल' जी द्वारा 'सद्गुरुदेव' शीर्षक से उन पूज्यचरण का जीवन-चरित्र धारावाहिक रूप से 'परमार्थ' में प्रकाशित हो ही रहा है किन्तु यह अलौकिक घटनायें भी भावुक भक्तों की निष्ठा को दृढ़ बनायेंगी ऐसा मेरा विश्वास है।

कई वर्ष पहिले की बात है। कानपुर में दैवी सम्पद् मंडल के विराट् महोत्सव का आयोजन हुआ था। भारत के विभिन्न प्रान्तों से कई सहस्र भक्तों ने उस पुनीत समारोह में सम्मिलित होकर अपने

श्रवण तथा नयनों को सफल बनाया। प्रात काल पुण्य-तोया सुरसरि मे मरसैया घाट के उसपार स्नानार्थी भक्त नौका द्वारा पहुँचकर नित्य नियमादि से निवृत्त हो सम्मेलन में संतों की पावन-वाणी का प्रसाद पाते थे। उस दिन प्रात' कालीन प्रार्थना के पश्चात् सभी भक्त गगा तट पर पहुँचे। भीड अधिक थी।

भीड़ और धक्कम धक्का से मेरी स्वाभाविक अरुचि है। मैं श्री स्वामी समतानन्द जी महाराज के साथ अलग एक नाव पर बैठा। अन्य भक्तों की एक भीड़ दूसरी नौका पर सवार हुई। माँझी चिल्लाता रहा कि इतनी सवारियों को लेकर नहीं जाऊँगा किन्तु "हिन्दुस्तानी भेड़ चाल" की कहावत् को चरितार्थ करते हुये उसमे जो बैठ गये सो बैठ गये। नौका मझधार मे पहुँची, श्री भगवन्नाम की सुमधुर सकीर्तन स्वर लहरी वायुमण्डल में आनन्द का वातावरण बना रही थी। उस नौका से लगभग १०-१५ हाथ पीछे हमारी नाव जा रही थी। मैंने देखा सहसा वह नौका एक ओर को झुकी और उसमें जल भर गया, भयभीत नौकारोही दूसरी ओर झुके तो उधर से भी जल आ गया। नाव जल मे बैठने लगी। आर्त्त-कण्ठों की सामूहिक आकुल-पुकार 'गुरुदेव भगवान रक्षा करो" कीर्तन का तुमुल नाद, "गुरु-भगवान की जै" आदि से गंगा माता का वक्षस्थल हिल्लोलित हो उठा। तटवर्ती स्नानार्थी चिल्लाने लगे "नाव डूबी, नाव डूबी"। मेरे माँझी ने शीघ्रता से अपनी नौका को उसके समीप लगाया और उस नाव से कुछ भक्तों को अपनी नाव में लिया। उस समय घुटनों तक जलमग्न नौका में भयार्त्त-भक्त, भगवान् को हृदयस्पर्शी भावना से स्मरण करते हुये सत्रस्त खडे थे। कुछ तैराक कूदने की तैयारी कर रहे थे। जघा तक जल पहुँचते पहुँचते ऐसा लगा मानो वह नौका नीचे किसी आधार पर रुक गई है जैसे किसी टीले या चट्टान का सहारा मिल जाने से वह हो गई हो। तब तक तीन चार नौकायें आगई और सभी व्यक्ति उतार लिये गये। इस आसन्न लोम-हर्षक दुर्घटना से छुटकारा पाने के पश्चात् उसी स्थान पर मेरे माँझी ने अपनी लग्गी लगाकर देखा तो हमारे आश्चर्य का पारावार नहीं था। उस स्थान पर न तो कोई आधार ही था और न कोई चट्टान या टीला। नाव गगा के गर्भ में समा चुकी थी और लग्गी बता रही थी कि वहाँ पर लगभग १४-१५ फिट से कम गहराई नहीं थी। किसी से सुनी सुनाई बात होती तो कदाचित् सहसा विश्वास न होता किन्तु यह अघट घटना तो स्वयं अपने चर्म चक्षुओं ने देखी। अकाल में काल कवलित होने से बचने वाले उन भाग्यवान् भक्तों में अधिकांश जन शाहजहाँपुर के ही थे जो आज भी साक्षी रूप में उस अलौकिक चमत्कार का वर्णन गद्-गद् कण्ठ से किया करते हैं। स्वामी समतानन्द जी ने कहा—आज गुरुदेव भगवान् का वरद-हस्त इस नौका के नीचे इस रूप मे आ पहुँचा। उस समय हम सब के हृदयों में श्रद्धा और विश्वास की निर्झरिणी प्रवाहित होने लगी बड़ी देर तक नेत्रों से अविरल जलधार के रूप में आनन्दातिरेक प्रकट होता रहा। मन और बुद्धि से परे इस अकथनीय घटना को भुक्त भोगी भक्तों से सुनकर युगावतार संत भगवान ने किंचित मुसका कर कहा प्यारे! दु:खहारी हरी अपने भक्तों के दुख सदा से दूर करते आये हैं। तुम सब उन्हीं मंगलमय के मांगलिक समारोह मे सहयोग देने आये हो तो फिर भला यह कैसे हो सकता था? उनकी स्पष्ट घोषणा है—

"करउँ सदा तिनकी रखवारी।
म बालकहि राखु महतारी॥

श्रीमहाराज के अलौकिक प्रभाव की कई घटनाये ऐसी महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी स्मृति से सदैव श्रद्धा और विश्वास को प्रोत्साहन मिलता रहेगा। उनके संरक्षण में उन दिनों जब किसी स्थान पर महोत्सव का अयोजन होता था तब श्री स्वामी जी

सन्त शक्ति श्रद्धारत भावुक भक्त जारहे गगा पार।
लगी डूबने सहसा नौका भारवती होकर मझधार॥
'सद्गुरु की जय' 'प्रभो बचाओ' व्याकुल हो सब रहे पुकार।
हाथ लगा नौका के नीचे गुरुवर ने झट लिया उबार॥

को आवश्यक प्रवन्ध करने के लिये दो-चार दिन पूर्व भेज देते थे। एक वार फर्रुखावाद मे ऐसा आयोजन हुआ। सभी तैयारियाँ हो चुकी थीं। अखण्ड रामचरित मानस यज्ञ चल रहा था और यज्ञशाला में होने वाली स्वधा-स्वाहा की मोदमयी ध्वनि कानों को तृप्त कर रही थी। सुवासित धूम्र से वायुमण्डल आच्छादित था। सहसा आकाश मेघाच्छन्न हो उठा। काले-काले वादलों की गड़गड़ाहट और कड़कती विजली की चमक से कार्यकर्त्ता और भक्त हताश होने लगे। ऐसा अनुमान होता था कि घनघोर वर्षा प्रारम्भ होगी और महोत्सव की योजना नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। भक्तों ने उदास होकर श्री स्वामी ‥‥जी से कहा महाराज! अव क्या होगा? स्वामी जी ने हँसते हुये कहा—तुम अपना काम मनोयोग से करते रहो उन्हें अपना काम करने दो, जिनका कार्य है वे ही सव सभाल करेंगे। आशा और निराशा के संघर्ष में भावी आशंका से भयभीत भक्त यन्त्रचालित कठपुतली की भाँति अपने अपने कर्त्तव्य मे लगे थे। वादलों की गड़गड़ाहट और क्षण-क्षण मे होने वाला विजली की कड़कड़ाहट उत्तरोत्तर वढ़ती जा रही थी। नगर की ओर से आने वाले वर्षा-जल से लथपथ भीगे हुये व्यक्तियों ने वताया शहर में तो वड़े जोर से पानी वरस रहा है। आश्रम के वाहर निकल कर कुछ लोगों ने देखा—आश्रम के चारों ओर लगभग एक फर्लाङ्ग तक की भूमि के आगे घनघोर वर्षा हो रही है, और अछूता वचा है केवल वह पृथ्वी का टुकड़ा जिसपर इस-तूफान का प्रभाव न होने की प्रार्थना धड़कते हुये हृदयों से कार्यकर्त्ता और भक्तजन मन ही मन कर रहे थे। मैंने प्रत्यक्ष देखा जन-मन की वह कातर पुकार सुनी गई और रामवाग के उस आश्रम पर न तो जल की एक वूँद ही पड़ी और न किसी प्रकार की असुविधा हुई। वह माङ्गलिक समारोह मंगलमय प्रभु के उन नित्यवतार संत शिरोमणि की अहैतुकी कृपा से सानन्द सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार की एक घटना पीलीभीत के महोत्सव मे हुई थी। कार्यकर्त्ताओं के अथक परिश्रम से देवहूति के समीप सुरम्य पण्डाल सजाया गया। आकर्षक शामियाने में विजली के लट्टुओं की सजावट सुन्दर रूप से हुई भगवान् के सिंहासन को सजाने मे कला-पूर्ण ढंग से मूल्यवान वस्त्रों का प्रयोग हुआ था। लाउडस्पीकर फिट हो गये और जनता के वैठने के लिये विछौने भी विछाये जा चुके थे। सभी तैयारी रात्रि मे समाप्त हुई थी और प्रातः काल की प्रार्थना के वाद उत्सव का कार्य-क्रम प्रारम्भ होना निश्चित था। दैवदुर्विपाक से उसी रात्रि में भयकर आँधी आई और वड़े-वड़े ओलों के साथ घनघोर वर्षा हुई। पण्डाल की समस्त सजावट नष्ट-भ्रष्ट हो गई। हताश और खिन्नमना कार्यकर्त्ता स्वामी ‥‥जी के पास पहुँचे। स्वामी जी ने कहा—भैया प्रकृति के इस उत्पात में भी अवश्य कोई रहस्य छिपा जान पड़ता है। ऐसा विदित होता है कि कुछ अश्रद्धालु व्यक्तियों ने भी इस महोत्सव में अपना आर्थिक सहयोग, किसी व्यक्ति विशेष के दवाव से दिया है वात सत्य थी, अर्थ व्यवस्था से संवन्धित कार्य कर्त्ताओं ने वताया कि अमुक महाशय के प्रभाव से अमुक-अमुक सज्जनों ने सहयोग तो दिया किन्तु उनकी श्रद्धा में पूर्ण सन्देह है।

मेघाच्छादित आकाश में उस समय भी गम्भीर गर्जन हो रहा था। सारा पण्डाल जल से भरा हुआ था और पुन घोर वर्षा की आशका से महोत्सव की आशा निराशा में पूर्ण रुपेण परिवर्तित हो चुकी थी। "अव यह उत्सव नहीं हो सकेगा" सभी के मनमें यही सकल्प वन रहा था। सहसा स्वामी‥‥ जी ने कहा—अच्छा उनको अपना काम करने दो और हम सवको भी अपना काम करना चाहिये। दूसरे स्वामी ‥‥जी ने कहा—सरकार अव आप कुछ लीला दिखायें तो यह विगड़ी वन जायगी। स्वामी

...... " जी कुछ गम्भीर होकर बोले—अच्छा तो मैं स्नान उसी समय करूँगा जब यह रौद्र-रूपिणी प्रकृति माता अपनी माया समेट लेगी। स्वामी जी ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठ गये और उपस्थित भक्तों ने महामंत्र का घोष उच्चस्वर से प्रारम्भ किया। लगभग १० मिनट के पश्चात् हम सबने जो अभूतपूर्व दृश्य देखा उस पर सहसा विश्वास नहीं होता था। पूर्व दिशा की ओर से वे काले काले प्रलयंकर मेघ सहसा फटने लगे और भुवन भास्कर भगवान् मरीचिमाली की प्रखर किरणें हमारे हृदयों में एक अलौकिक दिव्य भावना का संचार करने लगीं। लगभग एक घण्टे के भीतर ही मेघाच्छादित आकाश मेघ रहित हो गया और सूर्य-भगवान् की तप्त किरणमाला ने शीघ्र ही पण्डाल की पंकिल भूमि को सुखा डाला। नवीन स्फूर्ति, उत्साह और उमङ्ग से भोजन और विश्राम को भुलाकर सभी कार्यकर्त्ता अपने कार्य में संलग्न हुए। सायंकाल के निर्धारित समय से पहिले ही पुनः उसी रूप में वह पंडाल तैयार हो गया। नगर में इस अद्भुत घटना की सर्वत्र चर्चा हुई और तब सहस्रों की संख्या में भावुक नर-नारियों ने उस समारोह में सम्मिलित हो कर अपने मानव जीवन को सफल बनाया।

महाभारत में वर्णित जयद्रथ वध के प्रसंग में जब लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्री श्यामसुन्दर ने अपने प्रियतम गाण्डीवधारी अर्जुन का दुःख उसकी प्रतिज्ञा पूर्ति के द्वारा निवारण किया होगा तब कदाचित् इसी रूप में उन्होंने भी माया मेघों का निराकरण किया होगा? इस 'अघट घटना" की अमिट छाया आज भी अनेक भक्तों के हृदयों में ज्यों की त्यों बनी हुई हैं।

मुमुक्षु-आश्रम के सर्वप्रथम महोत्सव में भी एक ऐसी अनहोनी घटना हुई थी जिस पर भौतिकवादी दृष्टिकोण से विश्वास होना नितान्त असंभव है। किन्तु उन दयामय दीनवत्सल, दुःखहारी हरि के दरबार में असंभव को संभव बन जाने में एक पल का भी विलम्ब नहीं होता। उन दिनों यह आश्रम सिविल लाइन में था। पूज्यपाद श्री स्वामी ....जी की प्रेरणा से इस आश्रम का निर्माण हुआ था। आश्रम पर दैवी सम्पद् मंडल के विराट महोत्सव का आयोजन हुआ। संभवत उस दिन उत्सव का प्रथम दिवस था। एक फूस की कुटिया में नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के यहाँ से पंडाल की सजावट के निमित्त माँगकर आई हुई मूल्यवान वस्तुयें एकत्रित करके रक्खी गई थीं। किसी कार्यकर्त्ता ने भूल से उसी कुटिया में रक्खी हुई एक छोटी सी मेज पर जलता हुआ टेबिल लैम्प रख दिया। वह मेज कुछ ऊँचे पर रक्खी थी और उस लैम्प की प्रज्वलित लौ फूस को स्पर्श करती थी। उस लैम्प को रखने के कई घंटे बाद किसी कार्य से एक सज्जन कुटिया के भीतर आये, उन्होंने देखा फूस में वृत्ताकार अग्नि धीरे धीरे सुलग रही है, उस गुलाई के आगे नहीं बढ़ती। कहावत है फूस के जंगल के लिये एक चिनगारी काफी होती है किन्तु यहाँ तो यह अनोखी घटना, उस सत्य को असत्य सिद्ध कर रही थी। कई भक्तों ने इस आश्चर्यजनक व्यापार को देखा। कुटिया का फूस बिल्कुल सूखा था और लैम्प की तीव्र ज्वाला उसे भस्मसात् करने के लिये पर्याप्त थी।

पूज्य श्री स्वामी जी महाराज ने भक्तों से कहा—भैया! यह सर्वहितकारी मांगलिक समारोह जिन दयामय की प्रेरणा से हो रहा है उन्हीं पूर्ण, परात्पर, परब्रह्म-परमात्मा का एक तुच्छ चाकर यह अग्निदेव है यदि यह बेचारा इस कुटिया को भस्म कर देता तो उनके दरबार में वह दंड का भागी बनता क्योंकि यहाँ के भक्तों ने निष्काम-सेवा-भावना से यह सभी सामान महोत्सव की सफलता के लिये इधर उधर से माँग कर एकत्र

किया था। यदि यह सब अग्नि में भस्म हो जाता तो प्रभु के प्यारे भक्तों को कैसी मानसिक वेदना होती? अपने भक्तों को उस सकट से बचाने के लिये उन्हीं सर्वेश्वर ने अग्नि की दाहक शक्ति को सीमोल्लघन नहीं करने दिया। भक्तों ने कहा—महाराज! हम न तो भक्त हैं और न निष्काम-सेवी, यह चमत्कार तो केवल आपके श्रीचरणों के पुण्य प्रभाव से ही हुआ है। हमारे दुःख और सकटों का निवारण आपकी असीम अहैतुकी कृपा मे ही अन्तर्हित है। संत-महिमा की पुनीत गाथायें जो हम सुना करते थे उसे आज अपनी आँखों से देख लिया, आपकी कृपा से यह असभव भी सभव हो गया।

वास्तव में संत-गुण-गान की सामर्थ्य मानव की सीमित बुद्धि मे सभव नहीं। विस्तार भय से उन प्रात. स्मरणीय संत सद्गुरु तथा उनके प्रभा-पुञ्ज प्रतिनिधि रूप समर्थ शिष्यों की अनेक चमत्कारमयी घटनायें इस लेख द्वारा पूर्ण रूप से नहीं लिखी जा सकतीं। मेरा तो अटल विश्वास है कि उनके चरणों मे पहुँचकर त्रिविधि ताप संतप्त जीव अपने समस्त दु.खों को एक क्षण मे भूल जाता है। जन्म जन्मान्तर की पाप राशि उनकी किंचित् कृपा कटाक्ष से भस्मसात् हो जाती है। अपने मानव जीवन को सफल बनाने के इच्छुक प्रेमियों को अपनी पूर्ण श्रद्धा औ विश्वास के पात्र संत-सद्गुरु की शरण का सहारा लेकर इस दु.खमय संसार के दु.खों से छुटकारा पाने मे किंचित सन्देह नहीं रहता। अन्त मे 'परमार्थ' प्रेमी पाठक-पाठिकाओं के चरणों मे यह निवेदन कर दूँ कि यह घटनायें किसी से सुनी सुनाई नहीं अपनी आँखों से स्वयं देखी हुई हैं—

कहउँ न करि कछु जुगुति विशेषा।
यह सब मैं निज नयनन देखा॥

मेरा संस्मरण

यह बात लगभग अब से पॉच छः वर्ष पहले की है। उन दिनों में गंगोत्री की ओर पहाडों पर भ्रमण कर रहा था। "सर्वत्र भगवान् हैं और मैं उन्हीं की सुखमय गोद में हूँ—उनकी शरण हूँ" यह धारणा दृढ कर रहा था। एक दिन अपने साथियोंसे छुट कर मैं भगवत्स्मरण करता हुआ पर्वत के ऊपरी भाग के शून्य प्रदेश में पहुँच गया। सामने मार्ग मुडा था, अत आगे का कुछ दिखाई न पडा, और मैं मोड पर पहुँचा। मुड कर ऊपर दृष्टि उठाई तो सम्मुख का दृश्य देखकर रोमाञ्चित हो उठा हृदय कॉपने लगा, सामने २० कदम पर ही एक झरने के पास एक भयंकर सिंह मेरी ओर मुख किये जमुहाई ले रहा था। भयकम्पित हृदय में तत्क्षण यह भी भाव उठे कि "अरे! तुम तो सर्वत्र भगवद्भाव ही देख रहे थे? प्रथम परीक्षा मे ही अनुत्तीर्ण हुये जाते हो? फिर तुम तो उनके शरणागत हो चुके हो, फिर भय कैसा? न जाने तेरे स्वामी ही इस स्वरुप में परीक्षा लेने को प्रकट हुये हों" यह विचार आते ही भय के स्थान पर आनन्द की तरङ्ग तरङ्गित हो उठी। सिंह को देखकर हृदय श्रद्धा से गद्गद हो गया और मैं हाथ जोडकर नेत्र बन्दकर सिंह रूप में भगवान् को प्रणाम करने लगा। सिंह उठा और शान्त मुद्रा से मेरी ओर देखने लगा "मानो कह रहा हो कि अरे निकल जाओ व्यर्थ क्यों हटने का कष्ट दे रहे हो" और वह नीचे उतर गया। मैं आगे निकल गया पुन. आध फर्लाङ्ग के बाद पीछे मुडकर देखा तो वह अपने स्थान पर नहीं बैठा था। सचमुच भगवत् शरणागति में दुःख दूर करने की कितनी महान् शक्ति है।

'आनन्द'

दुःख का महत्त्व

(श्री हृदयनाथ जी अग्निहोत्री, शास्त्री साहित्यरत्न)

कौन कहता है कि दुःख निवारण करना चाहिये ? युग युगों की साधना के अनन्तर प्राप्त हुई सिद्धि क्या निवारण योग्य है ? जन्म जन्मान्तरों के सुकृतों के फल-स्वरूप आया हुआ तत्त्व क्या दूर कर दिया जाता है ? यदि कोई प्राप्त दुःख की अवहेलना करना चाहता है तो वह भगवान् का अपमान कर रहा है, उन्हें ठुकरा रहा है। जैसे किसी महात्मा को प्रार्थना करके अपने घर बुलाया जाय और फिर उसका आदर सत्कार न करके उसे मार कर निकाल दिया जाय वही बात प्राप्त दुःख का तिरस्कार करने में है। वास्तव में जिसपर भगवान् की परम कृपा होती है—जिसे भगवान् अपने आनन्दमय क्रोड़ में शीघ्र ही लेना चाहते हैं उसी को दुःख जैसी अपनी प्यारी वस्तु प्रदान करते हैं। भगवान् अपने अनुग्रह का तत्त्व समझाते हुए कहते हैं कि:—

> यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
> करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति॥

अर्थात्—जिसपर हम अनुग्रह करते हैं उसका प्रथम तो धन हर लेते हैं, जो हमारी प्राप्ति में परम बाधक है फिर उसके भाई बन्धुओं का विनाश कर उसे दर-दर भटकाते हैं तदनन्तर उसे दुःख प्रदान करते हैं। यह है भगवान् के अनुग्रह का रहस्य। जो इनके इस रहस्य को जानते हैं वे दुःख का भगवान् के समान ही आदर करते हैं, उन्हें दुःख प्राप्ति में ही परम आह्लाद प्राप्त होता है, सुख तो उन्हें फूटी आँखों से भी नहीं सुहाता। कबीर जी तो सुख के पीछे पत्थर लेकर दौड़ते हैं। कहते हैं कि:—

> *सुख के माथे सिल पड़े नाम हृदय से जाय।*
> *बलिहारी उस दुःख की पल-पल नाम रटाय॥*

विचारवान पुरुष सदैव दुःख का सत्कार करते हैं। भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद ने क्या दुःख का समादर नहीं किया ? द्रौपदी ने क्या दुःख को गले नहीं लगाया ? धर्मराज ने दुःख से कब कहा कि भैय्या दुःख ! अब तू चला जा। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम भी तो दुःख के माधुर्य पर लट्टू हो पड़े उन्होंने भी उसे अपनाया। जितने भी महापुरुष हुए सभी ने दुःख पाकर अपने को कृतकृत्य समझा फिर आज उसके निवारण की बात कैसी ? दुःख निवारण का नहीं अपितु दुःख धारण का उपाय सोचना चाहिये। ऐसी युक्ति की जाय कि जीवन भर दुःख में ही सिसकना पड़े उसी के अथाह सिन्धु में डुबकियाँ लगती रहें।

जिसे दुःख का एक बार भी अनुभव हो जायगा वह उससे हटेगा ही नहीं उसे त्रैलोक्य के समस्त सुख फीके लगेंगे। वह किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। श्रीभरत को उस दुःख का अनुभव हुआ था उन्होंने करोड़ों देवराजों को लज्जित करने वाले अयोध्यापुरी के भोगों का आर इधर पात भी नहीं किया और दुःख का रस पीकर नन्दिग्राम में ही निवास करते रहे। दुःख का स्वाद कवयित्री मीरा से पूछो जो अपने सितार पर सदैव वेदना की ही रागिनी अलापती रहती थी, जो जितना ही दुःख के भीतर घुसेगा वह उतना ही अधिक सुखशान्ति पा सकेगा, इस जहर में भी अमृत छिपा है, इस कराह में भी आनन्द है, इस तड़पन में भी शान्ति है जो "सिसकि सिसकि मरि मरि जियैं उठैं कराहि-कराहि" वाली स्थिति में पहुँच जायगा, उसकी सुखानुभूति कही नहीं जा सकती।

दुःख वह शक्ति है जिसके समक्ष संसार की समस्त शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं इन्द्र का इन्द्रत्व उसके सामने खिंचा चला आता है, ब्रह्मा का वेद ज्ञान संकेत मात्र से उसे प्राप्त हो जाता है, शिव और विष्णु भी उस शक्ति के सामने झुकते हैं, दुःखी पुरुष के सामने प्रकृति नटी बनकर नृत्य करती है। शारदा उसे अपनी वीणा सुनाने में कृतार्थ होती है, काठकलादि उसमें साकार हो जाते हैं, ऋद्धि सिद्धि उसको सहयोग देने में अपनी सफलता समझती हैं। ऋतुयें भी अपना स्वभाव त्यागकर उसके अनुकूल बन जाती हैं, अभिप्राय यह है कि समस्त

शक्तियाँ उसके वशीभूत हो जाती हैं जो वास्तविक दुःख की अनुभूति कर चुकता है।

दुःख भगवान् का दाहिना चरण है प्रभु जिस उर मन्दिर में प्रवेश करना चाहते हैं उसमें प्रथम अपना दक्षिण चरण ही रखते हैं वह देखते हैं कि यह मुझे प्राप्त करना चाहता है कि नहीं। जो भगवान् के प्रथम पैर को हटाना चाहता है—दुःख को दुतकारता है—वह भगवान् को पीछे ढकेलता है। भगवान् उसे अभागा समझकर उससे अलग ही जाते हैं। उसकी युग युग की साधना नष्ट हो जाती है वह जन्म जन्मान्तर की कमाई पर पानी फेर देता है। भगवान् अपना दक्षिण पैर इसलिये प्रथम रखते हैं कि हृदय कोमल हो जाय इसमें अपूर्व शक्तियाँ भर जाँय, हमारे रहने के लिये स्थान ठीक बन जाय, परन्तु यहीं पर भोला मानव भूलकर बैठता है, अन्तिम साधना में—चरम परीक्षा में—वह अपने को खो देता है। यहीं पर—दुःख प्राप्ति के समय में तो मानव को विशेष सावधान रहना है यह मानवता की कसौटी है।

दुःख की वृद्धि में ही सद्गुण आने प्रारम्भ होते हैं, और इसकी चरमावस्था में हृदय पर्वत विखर कर अनेक अद्भुत रत्नों को उत्पन्न कर देता है। दुःख ही में तो हृदय कोमलतम होकर साहित्य संगीत का सृजन करता है। आदि कवि तपस्वी वाल्मीकि को दुःख की एक मुस्कान ने ही कविता का वरदान देदिया था, दुःख ने ही तो हृदय को करुणा विगलित बनाकर वाणी को सरस काव्यमय एवं छन्दोमय अद्भुतरूप देकर बाहर निकाला था। आनन्द से विहार करते हुये क्रौञ्च दम्पति के निषाद ने बाण मारा उनमें एक तो तत्क्षण स्वर्ग सिधार गया, दूसरा उसके विरह में शोक का साकार रूप बनकर तड़पने लगा। उसे देखकर ही तो मुनिवर के हृदय में दुःखाभिनिवेश हुआ और उसी दुःख की कृपा-कटाक्ष से वाणी का एक नूतन रूप बनगया:—

मा निषाद प्रतिष्ठास्त्वां अगमः शाश्वतीःसमाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी. काममोहितम्॥

फिर क्या मुनिवर ने दुःख के रहस्य को समझ लिया, और हृदय तन्त्री में वेदना के स्वर भरकर रामायण महाकाव्य गाया। महाकवि भवभूति ने भी तो दुःख का रसास्वादन किया और उस रसकी मत्तता में विहाग-राग गाया, और इस राग को ही सर्वोत्तम कहडाला। इस प्रकार दुःख से ही तो कविता का जन्म हुआ।

कहा भी है:—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुप-चाप,
वही होगी कविता अनजान।

दुःखरस में इतना माधुर्य है कि वह पाकर छोड़ा ही नहीं जा सकता, मीठी कसक में इतनी मादकता है कि उसकी उन्मत्तता में कुछ दिखाई ही नहीं देता। यह दुःख रस हमें तभी मिल सकता है जब उसे अपने हृदय में ठहरने दें उसका आदर करें उसे मित्र बनायें। मित्र बन जाने पर तो वह तुम्हें ऐसे रत्न देगा जो तुम्हें अनेक जन्मों के तप से भी प्राप्त नहीं हो सकते। दुःख की गोद इतनी सुरक्षित होती है कि वहाँ किसी का भय नहीं रहता मृत्यु उसके पास बुलाने पर भी नहीं आती, उससे भयभीत रहती है। दुखी (प्रभुविरही) पुरुष संसार की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता वह तो उसी में निमग्न रहता है। दुखी गोपियों को देखिये उन्हें विरहदुःख की गोद से हटने का इच्छा ही न होती थी।

दुःख में बहिर्मुख वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं। वाह्य सुख न मिलने के कारण वे अन्तर् की टटोल में लग जाती है हृदय में सुख की खोज करने लगती हैं। यही कारण है कि प्रायः दुखी व्यक्ति एकान्त में चुप चाप बैठना चाहता है। स्वभावतः बहिस्सञ्चरणशील मन जब बाहर से तिरस्कृत हो जाता है, तब वह आनन्द प्राप्ति के लिये भीतर भटकने लगता है। हृदय में तो सुख के केन्द्र भगवान् निहित हैं ही "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"। मन जितना ही हृदय पटल को खोलेगा उतना ही उसे सुख प्राप्त होता रहेगा। वैसे तो मन का स्वभाव हृदय के परदों को न खोलकर वाह्य भोग पदार्थों की ओर जिनमें भगवान् का सबसे न्यून सुखाभास पड़ता है—दौड़ना है। परन्तु जब वह दुःख की कृपा से बाहर से तिरस्कृत हो जाता है तब वह झक मारकर भीतर लौटता है और सुख शान्ति पा लेता है। बाह्य भोगों में उलझा हुआ मन भीतर भगवान् में नहीं

लग सकता, दुखी व्यक्ति उसे सहज में लगा लेता है। हाँ, दुःख प्राप्ति में जब मन अन्तस् की टटोल में लगे उस समय बुद्धि को विशेष सावधान रहना चाहिये वह मन को आन्तरिक सुखाभास कराने लगे। यदि उससमय मन को सुखाभास प्राप्त हो गया तो वह उत्तरोत्तर सुख के लिये हृदय ही में भीतर घुसता रहेगा। और अन्त में सुखधाम आनन्द-केन्द्र भगवान् के निकटतम पहुँच जायगा। हृदय के कुछ पटल उधेरने के बाद ही साहित्य संगीत लेखन कला आदि की प्राप्ति होने लगती है साथ ही परम सुख भगवान् की प्राप्ति की कामना भी बढ़ती जाती है। जो आगे बढ़कर व्याकुल एवं प्रभु विरह में तड़पन का रूप बन जाती है। इसप्रकार साधारण दुःख भी हमें सच्चा दुःख देने में समर्थ हो सकते हैं। सच्चा दुःख प्राप्त होने पर तो जीव का कल्याण होजाता है, मानव जीवन सफल हो जाता है, परम तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार दुःख मानव जीवन के विकास का मुख्य साधन है। अनेक प्रकार की शक्तियों का प्रदाता है, दुःख की पूर्ण वृद्धि होने पर ईश्वर की भी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु इस अमूल्य वस्तु का सदुपयोग हमें बड़ी सावधानी से करना चाहिये यही मानव की मानवता है। यहीं पर मानव और देवत्व में सन्धि है। इसका सदुपयोग ध्रुव, प्रह्लाद, सूर, तुलसी, शिव, दधीचि आदि ने किया और तभी वे महापुरुष बन पाये। ध्रुव को सौतेली माता ने डपटकर दुःख प्रदान किया जिसके सहारे से ही उन्होंने ईश्वर को प्राप्तकर ध्रुव-पद प्राप्त किया। तुलसीदास की स्त्री ने उन्हें स्त्रैण कहकर फटकारा, जिससे उन्हें दुःख मिला उसका उन्होंने सदुपयोग किया और उससे भगवान् राम की प्राप्ति करली।

अर्जुन के दुःख ने भगवान् से हठात् गीता का उपदेश कहलाया जिससे विश्व का महान् कल्याण हो रहा है। महात्मा गाधी को भी "हम गुलाम हैं" इस भावना से दुःख की प्राप्ति हुई, अन्त में उसी ने उन्हें अनन्त से मिला दिया।

इसप्रकार दुःख बड़े ही महत्त्व की वस्तु है, जिसे यह नहीं प्राप्त वह अभागा है, जिसके हृदय में वेदना की टीस नहीं वह हृदय नहीं। भगवान् जिनसे बहुत दूर हैं वे ही इस कृपा प्रसाद से वञ्चित हैं। इसीलिये कुन्ती ने भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र से दुःख का ही वरदान माँगा था। क्योंकि:—

बिना दुःख के सब सुख बेकार।
बिना आँसू के जीवन भार॥

अतः हम प्राप्त दुःख का सदुपयोग करलो अन्यथा चिरकाल तक पछताना पड़ेगा। भगवान् ने मानव शरीर इसी के सदुपयोग के लिये दिया है। अन्त में भगवान् से प्रार्थना है कि सदैव हृदय को सूर जैसी सिहरन मीरा जैसी सिसकन और तुलसी जैसी व्याकुलता एवं विरह-वेदना प्रदान करदे, जिससे जीवन भर उसी सिसक और वेदना में तड़पता रहूँ।

दुःख निवारण

वन्दौ प्रभु दीन बन्धु दीनानाथ दया सिन्धु।
दुःख के विनासी सुखरासी अभिराम हैं॥
चेतना विकासी बेगि ज्ञान के प्रकाशी नाथ!
घट घट निवासी अविनासी घन श्याम हैं॥
सर्व दुःख हारन संहारन समूल रिपु।
संकट निवारन को सर्वशक्तिधाम हैं॥
'गिरजेश' विश्व दुःख दैन्यता निवारन को।
जीवन सुधारन को सीता पति राम हैं॥

—श्री गिरजेश जी त्रिपाठी

आचार और दुःख निवारण

(प० हरिहरकुमार जी मिश्र)

आज के युग का प्रत्येक मानव, चाहे वह कितना ही सम्पत्ति और साधनवान् हो, हमें दुखी ही दिखाई पड़ता है। सुख के समस्त साधनों को एकत्रित करने के प्रयास मे वह निरन्तर तल्लीन हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक इन्द्रिय को सुख-प्रदानार्थ उसने विविध भाँति के वैज्ञानिक आविष्कार कर डाले हैं और आज भी वह अबाध गति से उस दिशा में अग्रसर हैं। अनेक प्रकार के अभूतपूर्व साधनों को आज उसने अपने दुःख की निवृत्ति के लिये एकत्रित कर लिया है। आज साधारण सी पर्णकुटीरों के स्थान पर उनके रहने के लिये गगन-चुम्बी राजप्रासाद हैं, उसके यातायात के लिये पवन और जल को भी चीरकर चलने वाले वायुयान हैं, उसके श्रवण सुख के लिये रेडियो और नेत्रेन्द्रिय के लिये चित्रपट जैसे सुन्दर साधन हैं परन्तु फिर भी क्या आज उसे इन सबसे रञ्चक मात्र भी वास्तविक सुख या शान्ति की प्राप्ति हो सकी है? क्या उसके दुःखों का निवारण हो सका है। स्पष्ट उत्तर है नहीं। उसके दुःख आज बढ़ते ही जा रहे हैं, नये नये प्रकार के शारीरिक, मानसिक और दैविक ताप उसके चारो ओर अपना जाल बिछाये हुये हैं। मानव आज अत्यन्त दयनीय दशा को पहुँच चुका है। जो जितना ही अधिक जनबल, धनबल और बाहुबल वाला है, वह उतना ही अधिक दुखी है।

परन्तु क्या कभी हमने एकबार शान्त चित्त और स्थित प्रज्ञ होकर एक क्षण के लिये विचार किया है कि इसका कारण क्या है? हमारे इन विविध दुःखों का जन्म कहाँ से होता है और किस अभाव की पूर्ति कर देने पर इनका अन्त हो सकता है। यदि हम थोड़ी भी गम्भीरता के साथ सोंचे तो सर्व प्रथम तो हम अपने को किसी संस्कृत श्लोककार की सूक्ति "सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा" के साथ सहमत होते पायेंगे। वास्तव मे ठीक ही है कि हमारे दुःखों का कारण दूसरा कोई न होकर स्वयम् हम ही हैं। हमारे और हमारे समाज के आचरण ही हमे दिनरात दुखित किया करते हैं। हमारे आचरणों का विधिवत् एवम् विचार पूर्वक सचालन न होना ही हमारे दुःख का कारण है।

यदि हमारे पारस्परिक आचार के आदान प्रदान मे, हमारे दैनिक व्यवहार मे, हमारे सामाजिक कृत्यों मे शिष्टता का समावेश हो जाय सदाचार द्वारा वे अनुप्राणित व अनुशासित हो जाय तो हमे पूर्ण निश्चय है कि सुख के इन कृत्रिम साधनों के अभाव मे भी हम पूर्ण सुखी रह सकते हैं। हमारे दुःखों का पूर्णतया अन्त हो सकता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमारे पूर्वज जिनके पास आज के कृत्रिम सुख के साधनों का शतांश भी न था, इससे कहीं अधिक सुखी थे। दुःख से उनका परिचय भी न था। देखिये महाकवि गोस्वामी तुलसीदास कैसे दृढ़ शब्दों मे रामराज्य के नागरिकों के सम्बन्ध मे घोषणा कर रहे हैं कि—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज्य नहिं काहुहिं व्यापा॥
अल्प मृत्यु नहि कवनेहु पीरा।
सब सुन्दर सब विरुज शरीरा॥

क्या ऐसे नागरिक वास्तव मे सुखी न होंगे, उनके समक्ष भी दुःख निवारण का प्रश्न आज की भाँति उपस्थित होता होगा। नहीं कदापि नहीं। परन्तु इस दुःख रहित सुखपूर्ण स्थिति के कारण

पर भी तो ध्यान दीजिये। उनके पारस्परिक आचार विचार पर तो ध्यान दीजिये। भाई भाई के, गुरु शिष्य के, सास वधू के, पिता पुत्र के, राजा प्रजा के पारस्परिक व्यवहारों की पुण्य कल्पना तो कीजिये। तुरन्त आपको अपने दु:ख का कारण इन चरित्रों के प्रकाश मे मिल जायेगा और साथ ही साथ मिल जायेगा अपने दु:ख के निवारण का उपाय भी।

हमारे ग्रन्थ बताते हैं कि एक वह भी काल था जिसमे अरुणि से आज्ञा पालक, एकलव्य से त्यागी युधुष्ठिर से सत्यवादी और कर्ण से धैर्यशाली शिष्य होते थे गुरु को प्रसन्न करने के लिये, उसकी सेवा करने के लिये, उसे सर्वदा संतुष्ट रखने के लिये वे अपने शरीर को घोरातिघोर यातनायें भी दे सकते थे। अरुणि भी एक शिष्य था जो गुरु के खेत में बहते हुए पानी के प्रवाह को रोकने के लिये घोर शीत की तनिक भी चिन्ता न कर स्वयम् मेड़ के स्थान पर लेटा रहा था। एकलव्य भी एक भील विद्यार्थी था जो गुरु से तिरस्कृत होकर भी उनकी मूर्ति बनाकर ही बाण विद्या का अभ्यास करता रहा था, और उसी की कृपासे बाण विद्या मे अर्जुन जैसे गाण्डीव धारी से भी अधिक निपुण हो गया था। जिसने गुरु-दक्षिणा स्वरूप अपना अँगूठा ही काट कर दे डाला था। आज द्रोणाचार्य के आशीर्वाद से आज भी उसकी ही जाति इस विद्या मे सर्वाधिक निपुण है। और आज देखिये कि विद्यालयों मे विद्यार्थी नाम धारी कुछ जीव हमे शिक्षा ग्रहण करने का अभिनय सा करते मिलते हैं। उनके समक्ष गुरु का सम्मान कोई विषय नहीं उनकी आज्ञा का कोई महत्त्व नहीं Stand up (खड़े हो जाओ) Get out fromthe class (कक्षा से बाहर जाओ) इत्यादि कहने पर वह उससे वाद विवाद करने पर तैयार हो जाता है, ज़िद करता है और आज्ञा का उल्लंघन करता है यहाँ तक तो स्थिति सह्य है, परन्तु जब हम ऐसे-ऐसे लोमहर्षक समाचार सुनते हैं कि अमुक विद्यार्थी ने अपने अध्यापक को गालियाँ दी, या उनको अपमानित किया अथवा उन्हें मारने से भी न चूके, तो वास्तव में कानों मे उँगली लगा लेने की ही इच्छा होती है। क्या ऐसा समाज भी कभी सुखी रहने का अधिकारी हो सकता है, क्या ऐसे कर्त्तव्यान्ध छात्र समाज को भी कभी दु:ख से छुटकारा मिल सकता है? कभी नहीं।

परन्तु अभी स्थिति को हमने एक ही कोने से देखा है, उसके एक ही अङ्ग का अध्ययन किया है निश्चय ही उसके दूसरे अङ्ग मे भी कुछ दोष है। अन्यथा स्थिति यहाँ तक न पहुँच सकती थी। छात्रवर्ग के साथ ही शिक्षक वर्ग भी इस विषय स्थिति के लिये उत्तरदायी है। उसकी अक्षमता, उसका पाश्चात्य सभ्यता का अन्धानुकरण, उसका अनुत्तर-दायित्व भी इसका कारण है। आज का अध्यापक अपने को केवल उस समय तक ही उत्तरदायी समझता है जब तक कि वह lecture theatre में विद्यार्थियों के समक्ष है। उसके पश्चात् वह अपने पर अपने आचरण पर और अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण नहीं रख पाता। वह भूल जाता है कि उसकी प्रत्येक क्रियाकलाप को विशेषतया अनुचित् कृत्यों को प्रत्येक समय विद्यार्थी देखता रहता है। वह भूल जाता कि उसे प्रतिक्षण अपने व्यवहार को आदर्श रूप मे हो उपस्थित करना है क्योंकि किसी भी समय का उसका व्यवहार विद्यार्थी वर्ग के लिये अनुकरणीय हो सकता है। यदि वह आशा करता है कि स्वय धूम्रपान करते रहने पर या द्यूत क्रीडा इत्यादि कुकृत्यों में फँसे रहने पर अथवा मांसाहार और मद्यपान करते रहने पर भी वह अपने वाचिक उपदेश द्वारा विद्यार्थियों को इन अवगुणों से दूर रख सकता है तो उसकी यह आशा प्रायः निराशा में ही परिवर्त्तित होती पायी जायगी। अतः यदि वह चाहता है कि विद्यार्थी उसका सम्मान करें,

उसके साथ शिष्टता एव सभ्यतापूर्ण व्यवहार करें तो उसे अपना चरित्र एक उच्च कोटि का आदर्श चरित्र बनाना होगा। और इसी प्रकार यदि छात्र-वर्ग चाहता है कि उसे विद्याकी प्राप्ति हो वह आचार निपुण बन सके वह ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख की प्राप्ति कर सके, उसके दुःखों का निवारण हो सके तो उसे पर-छिद्रान्वेषण को छोड़कर अपने स्वभाव को शिष्टता तथा सभ्यता से अनुशासित करना होगा। उसे पुन. देश मे अरुणि और एकलव्य के उदाहरण उपस्थित करने होंगे, तभी उसके दुःखों का अन्त हो सकेगा, और वह अपनी लक्ष्य प्राप्ति में सफल हो सकेगा।

इसप्रकार यह तो हुआ समाज के एक प्रमुख अङ्ग का निरूपण, अभी हमें अन्य अंङ्गों की ओर भी दृष्टिपात करना है। हम देखेंगे कि हमारे समाज के गैहिक वातावरण की अशान्ति का भी यही एक प्रमुख कारण है। आज कल नवयुवक एवं बालक समुदाय यह भूल गया है कि सोने से पूर्व और सोकर उठने के पश्चात् उसे अपने से बड़ों का अपने माता पिता का अपने गुरुजनादिकों का अभिवादनादि भी करना है। वह भूल जाता है कि—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्॥

अर्थात् नित्य अपने से बड़े को अभिवादन करने वाले तथा वृद्ध जनों की सेवा करने वाले की आयु, विद्या, बल और यश की निरन्तर वृद्धि केवल उनके प्रसन्न और संतुष्ट हृदयों की शुभ कामनाओं, आशीषों से ही होती रहती है। आज का कालेज शिक्षा प्राप्त करता हुआ ग्रामीण बालक अपने सीधे सरल पिता को अपने Uptodate समाज में पिता कहते हुए भी लज्जित होता है, वह उसे दण्डवत् प्रणाम करना भूल कर दण्डवत् प्रहार करने की ही सोचने लगता है। क्या ऐसा नवयुवक समाज भी अपनी अभ्युन्नति की आशा करता है? क्या ऐसे समाज के भी दुःखों का कभी निवारण हो सकता है? क्या एक गृहणी जो अपने श्रान्त क्लान्त कार्य भार से थके आये हुये स्वामी से सहानुभूति के चार शब्द भी नहीं कह सकती, या अपने वृद्ध सास ससुर की सेवा में अपना किंचित् समय नहीं लगा सकती? वह भी अपने दु.खों का अन्त चाहती है। यदि वह ऐसा चाहती है तो उसका यह चाहना नितान्त ही निराधार है। यदि उसे वास्तव में अपने दुःखों का अन्त करना है, अपने जीवन को सुखी बनाना है, जीवन के माधुर्य का रसपान करना है तो उसे अपने आचार को *संयमित करना पड़ेगा उसे शिष्ट और सभ्य* बनना पड़ेगा।

अस्तु, इसी प्रकार हमें निश्चय हो गया होगा कि हमारे दुःखों का अन्त सदाचार और शिष्टाचार से ही हो सकता है। सदाचार और शिष्टाचार ही हमारे जीवन को मधुमय और स्वर्गीय बना सकता है। शिष्ट और सभ्य आचार हमारे जीवन मे एक ऐसा अभूतपूर्व माधुर्य उत्पन्न कर देंगे कि हम सुख के कृत्रिम साधनों के अभाव में भी अपने जीवन से पूर्ण संतुष्ट होंगे। देखिये अंग्रेजी साहित्य के प्रसिद्ध लेखक A G. Gardiner इसी विषय का महत्व बताते हुये कह रहे हैं कि:—"The small attentions & civilities we bestow or forget to bestow on each other make the atmosphere in which we live. या उन्हीं के शब्दों मे अन्यन्त्र देखिये:—It is the graces of conduct that give life its flavour and make it sunny for ourselves as well as for others. शिष्टाचार और सदाचार के ऐसे अवसर हमारे जीवन में चारो ओर सर्वदा व्यापक रहते हैं इनकी अवहेलना ही हमारे दु.खों का कारण बनती है और इनका पालन ही हमारे दुःखों का निवारक हो सकेगा।

अस्तु यदि हम चाहते हैं कि हमारे दुःखों का निवारण हो जाये तो हमें शिष्टाचार और सदाचार को दृढ़ता के साथ अपनाना होगा।

राम वाण औषधि

(श्री व्रजनन्दन जी अग्निहोत्री)

पीलो प्रिय ! मत हो परेशान ।

(१)

संसृति-तापों से दह्यमान !
अर्जित पापों से ग्रह्यमाण !
युग युगसे विकसित शतदल सा
आश्चर्य्य एक शुचितम महान ।
भव भीम रोग का चिर निदान
हरि पद रस औषधि रामवाण ।
पीलो प्रिय ! मत हो परेशान ॥

(२)

जग के आदान प्रदान तिक्त ।
स्वादिष्ट गरल से गान सिक्त ।
चमकते पाप पीने दौड़े,
फिर भी यह काले प्राण रिक्त ।
जी भरलो तुलसी लुटा रहा ।
शङ्कर-मानस का अमर-दान ।
पीलो प्रिय ! मत परेशान ॥

(३)

जो प्रचुर पुण्य ही पाते है ।
पी जिसे न सन्त अघाते हैं,
पृथ्वी पर जिसको पीने को,
दिवि में सुरगण ललचाते हैं ।
उन्मत्त सूर मीरा ने भर भर ।
ढरकाया वह महा पान ।
पीलो प्रिय ! मत हो परेशान ॥

(४)

किस अतल सिन्धु की गहराई-
ने थाह कभी उसकी पाई ।
उत्तुंग शैल शत उचकों से,
छू सके न उसकी ऊँचाई ।
लघु अणुमें वह ब्रह्माण्ड निखिल-
की अद्भुतता का सहज मान ।
पीलो प्रिय ! मत हो परेशान ॥

(५)

चिपटने मधुप दे फूलों में ।
कवि उड़ न प्रकृति के झूलों में ।
चल रे चलरे क्यों शुष्क प्राण
पी—कालिन्दी के कूलों में-
कल्पना कुञ्ज का चरम हर्ष,
माधुर्य्य लोक का सगुण गान ।
पीलो प्रिय ! मत हो परेशान ॥
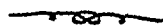
दुःख का कारण और उसकी निवृत्ति के चार उपाय

(श्री ठाकुर गंगासिंह जी)

मनुष्य को दुःख क्यों होता है, इस पर यदि विचार करें तो पता चलता है कि हमारे पूर्वकृत पाप कर्म का फल ही दुःख है। मनुष्य पाप करना नहीं चाहता फिर भी उससे बलपूर्वक पाप कौन करवाता है? यही प्रश्न अर्जुन के मन में उठा था, इसका उत्तर भगवान् ने यह नहीं दिया—पाप मनुष्य के प्रारब्ध से होता है, न उन्होंने यही कहा कि परिस्थिति वश मनुष्य को पाप करना पड़ता है, उन्होंने यह भी नहीं कहा कि पाप मैं करवाता हूँ, उन्होंने यह कहा है –

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव'।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥
(गीता ३ । ३७)

रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह महा अशन अर्थात् अग्नि के सदृश भोगों से तृप्त न होने वाला और बड़ा पापी है, इस विषय में इसको ही तू बैरी जान।' मनुष्य के मन में जो सुखोपभोग की—विषयों द्वारा सुख पाने की जो अतृप्त लालसा है वही उसे पाप में लगा देती है। आज का मानव कहता और ऐसा ही समझता है कि असत्य, छल, कपट, और बेईमानी के बिना उसका काम नहीं चल सकता। यही उसका पाप पर विश्वास है। अतः सबसे पहले पाप से विश्वास हटाना नितान्त आवश्यक है और यह विश्वास तभी हटेगा जब विषयों से सुख मिलने का भ्रम निकल कर उनमें दुःख का निश्चय हो जायगा। इसी को दूसरे शब्दों में वैराग्य कहते हैं। इतना होने पर ही सच्चा सुख कहाँ है इसकी दूसरी ओर (विषयों में) नहीं खोज होगी जिसमें सन्त शास्त्र और भगवान् के वचनों में श्रद्धा रखकर उनके आज्ञानुसार उपाय करना होगा। तब तब कहीं जाकर चित्त की एकाग्रता से, भगवान् की कृपा से सच्चे आनन्द की अनुभूति होगी जो चित्त में विषय-सुख-संस्कार के लेश को भी जड़मूल से मिटा देगी। वस्तुतः तभी विषय-रस की निवृत्ति होगी—

रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।
(गीता २ । ५९)

विषय रस की निवृत्ति तथा भगवत्प्रेम की अनुभूति के लिये प्रधानतः चार उपाय हैं—(१) कुसंग का तथा शरीर-इन्द्रिय से पाप का परित्याग (२) सत्संग (३) भगवान् के नाम का सेवन और (४) भगवत्कृपा का आश्रय।

१—कुसंग तथा शरीर द्वारा पाप का परित्याग—

कुसंग से ही पाप होते हैं, "पाप में सद्बुद्धि और गौरव बुद्धि तक हो जाती है। आज कल सबसे बड़ा कुसंग 'सिनेमा देखना' है। यह सभी प्रकार की बुराइयाँ सिखा देता है। रेडियो के भद्दे गाने, गन्दा साहित्य, विषयासक्त मनुष्य का संग—ये सारे कुसंग हैं और कुप्रवृत्तियों को बड़ी तीव्रता से उभाड़ने वाले हैं इसी लिये कहा गया है कि—

बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ विधाता।

इस प्रकार कुसंग सभी प्रकार का त्याज्य है। कुसंग पाप का सर्वथा त्याग किये बिना काम नहीं चलेगा। जिधर देखो उधर कुसंग ही कुसंग देखने को मिलता है। बहुत बार तो हम कुसंग को कुसंग के रूप में पहचान भी नहीं पाते। वह धर्म और सत्संग का वेष धारण कर हमारे सामने आकर हमें मोहित करता है। दिन भर में हमसे यदि १००० व्यक्ति मिलते हैं तो उनमें ९९९ के द्वारा हमें कुसंग ही प्राप्त होगा केवल एक व्यक्ति ऐसा मिलेगा जो हमसे भगवान् की बात करे। किसी वाचनालय (लाइब्रेरी) में जाकर देखिये सैकड़ोंसहस्रों पुस्तकें तथा पत्र ऐसे मिलेंगे जो संसार तथा विषय की चर्चा से ओत-प्रोत हैं। उनमें एकाध पत्र या पुस्तक ही ऐसी मिलेगी जो हमें भगवान् की ओर अग्रसर करने वाली हो इसी प्रकार अन्यान्य सभी बातों की बड़ी बुरी दशा है अतः अत्याधिक सावधानी रखकर एवं शरीर तथा कुसंग

इन्द्रियों द्वारा होने वाले पापों से बचना ही आवश्यक है।

(२) सत्सग-कुसंग का तो परित्याग कर दिया पर किसी अच्छे सत्संग का आश्रय नहीं लिया तब भी कुसग के प्रवाह से बचना असम्भव सा है। आज कल के पाखण्ड को देखते हुये सत की पहिचान करना बड़ा ही कठिन है फिर भी साधारण कसौटी यही है कि जिसके सग से भगवान् का चिन्तन बढ़े, सात्विकता और दैवी सम्पदा के गुणों की वृद्धि हो—उन्हीं का संग करे चाहे जगत् उन्हें महात्मा न कहता हो, न जानता हो। सत्संग के अभाव में रामचरित मानस, गीता भागवत् आदि सद्-ग्रन्थों को अध्ययन करे। यह भी सत्सग ही है।

(३) भगवान् के नाम का सेवन—कलियुग में तो भक्ति ज्ञान और कर्मयोग इन तीनों का होना अत्यन्त दुष्कर है।

नहिं कलि करम न भगति विवेकू।
राम नाम अवलम्बन एकू॥

नाम जप के समान पाप नाश का अन्य कोई भी उपाय नहीं, फिर उससे बढ़कर होना तो सम्भव ही नहीं:—

जबहि नाम हिरदय धरयो भयो पाप को नास।
मानों चिनगी अग्नि की परी पुराने घास॥

भगवान् के नाम का जोर-जोर से संकीर्तन करना सारे दोषों को दूर करने का एक मात्र उपाय है। संकीर्तन के सम्बन्ध में कुतर्क करते हुये नास्तिक या अज्ञ व्यक्ति कहते हैं कि इतने जोर से क्यों चिल्लाते हो, क्या ईश्वर बहरा है। परन्तु वे भोले भाई नहीं जानते कि उच्च स्वर में किया जाने वाला नाम सकीर्तन एक ऐसा दुर्भेद्य किला है जिसमें पाखण्डियों की नास्तिकों की और ईश्वर को बहरा मानने वालों की कटूक्तियाँ तथा दुर्भाव-बुरेविचार तक प्रवेश नहीं कर पाते, प्रत्युत हृदयके सारे दुर्भाव दोष दूर होकर उसमें भगवत्प्रेम को मंदाकिनी प्रवाहित होने लगती है, जिसके नगण्य कण भी जगत के जड़ चेतन समस्त जीवों को पावन करने की सामर्थ रखते हैं।

नाम लेते ही भवसागर सूख जाता है—"*नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं*" स्वाँस के साथ या मानसिक जप से भी बड़ा लाभ होता है। नाम की महिमा अनन्त है उसे मुझ सरीखा बालक कह ही क्या सकता है जबकि:—

राम न सकहिं नाम गुन गाई।

(४) भगवत्कृपा का आश्रय—भगवत्कृपा किस पर नहीं? सभी पर है। परन्तु इतनी सुलभ होने पर भी उससे लाभ वही उठा सकता है जो अपने पर उस कृपा को मानता है और ऐसा व्यक्ति लाखों करोड़ों में विरला ही होता है। "मुझ पर भगवान् की कृपा तो है पर इतनी नहीं जितनी होनी चाहिये" इस वाक्य में जहाँ एक ओर कृपाकी अशत: मान्यता है वहीं दूसरी ओर अत्याधिक अश में अमान्यता है। जो सांसारिक पदार्थों में, विषयों में भगवान् की कृपा समझकर उन पदार्थों के अभाव में अपन पर भगवान् की अकृपा मानते हैं वे तो कृपा के तत्त्व को तनिक भी नहीं समझते। किसी अश में अपने पर कृपा मानते हैं किन्तु सर्वांशमें नहीं वे भी कृपा के महत्त्व को नहीं जानते। उनमें भगवत्कृपा के प्रति अश्रद्धा ही अधिक है। जिस प्रकार लकड़ी के तख्ते पर खड़े होकर बिजली क तार स्पर्श करने पर भी उसकी अनुभूति नहीं होती इसी प्रकार अश्रद्धा के तख्ते का आश्रय लेने वाले के लिये भगवत्कृपा की अनुभूति सम्भव नहीं। अत: अश्रद्धा क परित्याग एव श्रद्धा का ग्रहण परमावश्यक है।

यदि हम दु:ख में भगवत्कृपा की अनुभूति करने लग जायें तो वह दु:ख परमानन्द में परिणत हो जाता है। दु:ख तो उस समय भी नहीं रह जाता जब हम उसे तपस्या मान लेते हैं। तपस्या की मान्यता से उसे तप का फल मिलता है। दु.ख प्रियतम के हाथ की करारी चपत अवश्य है परन्तु इसमें प्रियतम के हाथ का आनन्ददायी स्पर्श नहीं है क्या? इसमें प्रियतम के हृदय क सौहार्द—हमें दु.ख से बचाकर सुख सागर में डुबो देने क प्रयास, भाव और सावधानी नहीं भरी हुई है क्या? जिस प्रकार तुरन्त की ब्यायी गाय अपने नव जात शिशु का सारा मल अपनी जीभ से चाटकर साफ कर देती है उसी प्रकार भगवान् भी अपने पर निर्भर करने वाले भक्त के दोषों को चट्ट कर जाते हैं। अत: भगवत्कृपा को अनुभूत करके अपने निर्भरता लाने की चेष्टा करनी चाहिये।

यदि आप नित्य प्रति भगवत्कृपा के आनन्द समुद्रमें

गहराई से डूबने का कुछ समय अभ्यास करेंगे तो भगवत्कृपा के चमत्कार से आश्चर्य चकित हो उठेंगे, पर शर्त यह है कि इस समय में भगवत्कृपा के सिवा अन्य किसी भी वस्तु का चिन्तन हो ही नहीं। प्रारम्भ में अन्य चिन्तन हो तो घबरावें या उकतावें नहीं, बल्कि नित्य नियमपूर्वक दृढ़ता से अभ्यास करते ही जायँ। भगवत्कृपा की अनुभूति के अभ्यास का एक प्रकार यहाँ बताया जा रहा है। सम्भव है कुछ लोगों को यह हास्यास्पद प्रतीत हो परन्तु दो-चार या किन्हीं एक भी भाग्यशाली सज्जन ने इसका अभ्यास करके आनन्द लाभ किया तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा। दुःखकी निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति का यह विलक्षण और रामबाण उपाय है। एकान्त स्थान में बैठ जाय, जहाँ हमारी आवाज और हँसी को कोई सुन न सके। ये शब्द विश्वासपूर्वक कहे तथा हृदय में वैसी ही कृपा एवं आनन्द की अनुभूति भी करे 'भगवान् की मुझपर बड़ी कृपा है। अब मुझपर भगवान् की कृपा एवं जैसे-जैसे मैं कहूँगा उसी क्रम से बढ़ना प्रारम्भ हो जायगी। बड़ी तेजी से बढ़ती हुई कृपा के साथ उसी गति से बढ़ते हुये चिन्मय आनन्द की अनुभूति भी होने लगेगी। इस समय मुझपर भगवान् की जितनी कृपा और कृपा जनित जितना आनन्द है, अब इस समय वह कृपा मुझपर दुगुनी हो गयी। (१५-२० सेकण्ड बाद यह कहे और अनुभूति करे कि) अब भगवान् की कृपा दुगुनी से मुझपर चौगुनी हो गयी। अहा हा! कृपा के साथ ही कृपा जनित आनन्द भी चौगुनी हो गया। आनन्दमय। आनन्दमय!! अब आठ गुनी हो गयी। अहा हा! अब १६ गुनी हो गयी। (प्रत्येक बार दुगुनी करते समय कृपा एवं आनन्द की अनुभूति के लिये ५-१० सेकन्ड रुक जाय) अब ३२ गुनी हो गई। अब भगवत्कृपा ६४ गुनी हो गयी अब सौ से अधिक गुनी हो गयी। प्राणी के साथ साथ हृदय में भी उतनी-उतनी अधिक कृपा एवं आनन्द की अनुभूति भी करे। अब भगवान् की कृपा दो सौ गुनी से अधिक हो गयी। अहा हा! अहाहा! कृपामय-कृपामय! आनन्दमय आनन्दमय!! इसी प्रकार घण्टा आधा घण्टा या १५ मिनट तक जितने का नित्य नियम हो तब तक दुगुना बढ़ता ही जाय। बीच-बीच में बड़े जोरकी आनन्द की हँसी आने लगेगी भगवान् की निरन्तर बढ़ती हुई कृपा के कारण—

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती।
जासु कृपा नहिं कृपा अघाती॥
भगवत्कृपा अकिञ्चन तेरे ज्यों-ज्यों दर्शन पाता।
त्यों-ही-त्यों आनन्द सिन्धु में गहरा डूबा जाता॥

उपर्युक्त चारों उपायों के द्वारा समस्त दुःखों का निवारण एवं परमानन्द की प्राप्ति करके क्षणभंगुर मानव जीवन को अवश्य सफल करना चाहिये।

दुख आज साथी

(*श्री 'नम्र' जी शास्त्री, साहित्य-रत्न*)

विश्व के अज्ञात पथ पर,
बढ़ रहा था मैं अकेला;
बन गया दुख आज साथी।
प्रेय केवल ध्येय मेरा,
श्रेय केवल ध्येय मेरा।
साधना के अगम गिरि पर,
चढ़ रहा था मैं अकेला;
बन गया दुख आज साथी।
हट सुखों की झाँकियों से,
युक्तियों की टाँकियों से।
कल्पना का दुर्ग टेढ़ा,
गढ़ रहा था मैं अकेला;
बन गया दुख आज साथी।
भाग्य के शुचि श्याम तट पर
नियति-विलिखित अमिट अक्षर,
कर्म-बन्धन-गीत गा कर,
पढ़ रहा था मैं अकेला,
बन गया दुख आज साथी।

सदा आनन्द में रहो

एक संत के समीप एक व्यक्ति आया और बोला महाराज, हमे अपने पास रखिये और ऐसी कृपा करिये कि मैं सदा आनन्द में ही रहूँ।

महात्मा ने कहा—भैया! रहो हमारे पास, हमें कोई आपत्ति नहीं, और आनन्द में तो तू सदा स्थित है ही। वह व्यक्ति शिष्य बनकर सत के समीप रहने लगा। महात्मा ने उसे एक गाय दे दी और कहा इसे चरा लिया करो और इसका दूध पिया करो, गौ की सेवा भी हो जायगी और तुम्हारा पोषण भी होता रहेगा। महात्मा जी की आज्ञानुसार वह रहने लगा। गौ को चराता, दूध पीता और मौज मारता। महात्मा से एक दिन उसने कहा—महाराज, बडे आनन्द है खूब मस्ती है, आपने बहुत बढ़िया बात बताई।

महात्मा मुस्कराकर बोले—ठीक है, ऐसे ही आनन्दित बने रहना, गड़बड़ाना मत।

कुछ दिनों बाद एक दिन गाय कहीं चली गई शाम तक प्रतीक्षा करने पर भी आयी नहीं। शिष्य दुःखी होता हुआ सन्त के पास पहुँचा, सिसक सिसक कर बोला—महाराज ऊँ ऊँ गाय तो खो गई अब कैसे होगा हाय सब आनन्द समाप्त हो गया।

महात्मा हँसकर बोले—वाह भाई! तुम दुखी हो रहे हो, अब तो अधिक आनन्द आ गया, गाय गई, खोखट मिटी, बस मौज उड़ाओ। शिष्य उत्सुकतापूर्वक बोला—सो कैसे? आनन्द कैसे बढ़ गया। महात्मा बोले—देखो भाई! गाय के पीछे पीछे दिनभर फिरते थे, कष्ट होता था, चारे घास के चक्कर मे रहते थे, अब सब चिन्ता मिट गई, गाँव से आटा माँग लाओ और रोटी बनालो, दो घटे का काम, दिन भर आराम। शिष्य हर्षित होकर बोला-वाह महाराज! यह तो अच्छी युक्ति बताई, दिन भर गाय के पीछे घूमते-घूमते थक भी जाता था, किसी दिन दूध भी नहीं दुहने देती थी भूखा रह जाता था। अब ठीक रहेगा।

अब गुरु की आज्ञानुसार वह आटा माँग लाता और रोटी बनाकर खाता, और मस्त रहता। एक दिन महात्मा से बोला—खूब मजे हैं महाराज, अब पहले से भी अधिक मस्ती है। सन्त बोले—ठीक है ऐसे ही मस्त रहो।

एक दिन वह गाय लौट आई। उसे देख कर वह सन्त के पास जाकर रोने लगा, "महाराज खोखट फिर आगई। अब तो बड़ी गड़बड हो गई।" सन्त ने प्रसन्नता की मुद्रा में कहा—वाह अब तो विशेष आनन्द आ गया, चूल्हा फूँकना समाप्त हुआ, माँगने का झंझट मिटा "माँगन मरन समान है।" जगल में गाय को चराने से पुण्य भी होगा समय भी कट जायगा, अब तक खाली बैठे-बैठे मन नहीं लगता था, दूध पीकर स्वास्थ्य भी बढ़िया रहेगा। गऊ आ गई तुम्हारे सब पाप कट गये, अब आनन्द ही आनन्द है।

शिष्य—बात तो आप ने बढ़िया बताई, परन्तु जब गाय खो गई तब भी आपने कहा अच्छा हुआ और आगई तब भी कहा अच्छा हुआ, यह क्या बात है?

सन्त—यही तो दुःख निवृत्ति का सबसे सरल उपाय है, हर हाल मे विचार द्वारा प्रसन्न रहना ही सच्चे सुख का साधन है।

शिष्य—महाराज, वाह! आज असली सदा रहने वाला आनन्द मिला। अब मै हमेशा मस्त रह सकूँगा। सचमुच—"पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं।" (आनन्द)

शबरी की व्याकुलता में भगवत्प्राप्ति

(श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय 'चन्द्रमणि' कविरत्न)

प्रभु की प्रिय मूर्ति हिये मे किये, शुचि-नाम-सुगंध-सुवासिनी थी ।
अति दुर्बल नेह सनेह भरी, प्रियवादिनी पाप-विनाशिनी थी ॥
उसके ही प्रकाश से पुष्करिणी, शत-सूर्य-समान प्रकाशिनी थी ।
जड़-चेतन-चेतना सी वन के, रहती शवरी वनवासिनी थी ॥

कभी सुस्मृति मे प्रभु की हँसती, कभी झूमती प्रेम मे माती हुई ।
कभी नाथ-वियोग में रोती अहर्निशि अश्रु के विन्दु वहाती हुई ॥
कभी वावली सी वकती फिरती, अति खिन्न वनी अकुलाती हुई ।
मन-मोद-भरी भ्रमती थी कभी, जगदीश गुणावली गाती हुई ॥

वह प्रात ही से प्रिय-आगम जान, निकेतन नित्य सवाँरती थी ।
अति दुर्गम राह वनस्थली की, निज अञ्चल से ही वुहारती थी ॥
पलकावलि-पाँवड़े प्रीति-समेत, प्रभजन-द्वारा पसारती थी ।
रवि-वश-सरोरुह के रवि की अनुरागिनी राह निहारती थी ॥

द्रुम-बल्लरियों का वितान वना कर, स्वागत-साज मनाती रही ।
कभी ऊँचे महीरुहों पै चढ के, प्रिय-दर्शन को अकुलाती रही ॥
गिरी के शिखरों पै चढ़ी हुई, जीवननाथ की खोज लगाती रही ।
तरणी सी वियोग-तरंगिणी के भँवरों मे पड़ी विलखाती रही ॥

मतिमान मतग मुनीश्वर के वरदान मे पूर्ण प्रतीति किये ।
मतवाली निराली विनोदिनी सी, पगली प्रभु-प्रेम का प्याला पिये ॥
तनु मे पुलकावली की है छटा, क्षण पै क्षण छारहा हर्ष हिये ।
प्रणयी की पुजारिनी सी है खड़ी, वह हाथ में दोना फलों का लिये ॥

यह प्रेम या शक्ति थी चुम्बक की, जिससे खिंच आये स्वयं रघुनाथ ।
सुसेवकिनी शवरी ने लखा, शुचि सुन्दर मूर्ति को लक्ष्मण-साथ ॥
मनोहर था मुनिवेष, परन्तु धरे धनुहाथ, कसे कटि भाथ ।
सुधी शवरी का झुका तव माथ, औ माथ पै नाथ धरे निज हाथ ॥

वह पूतरी सी चरणों पै पडी अनियन्त्रित अश्रु वहा रही थी ।
अनुरागिनी प्रेम के रग रँगी, प्रभु को स्तुति-गान सुना रही थी ॥
फल पाती हुई उस जीवन के, इस जीवन के फल पारही थी ।
अधमाधम होकर भी शवरी, वसुधा में सुधा वरसात रही थी ॥

श्री रहीम

(श्री मञ्जुल जी)

मारो मारो इस दुष्ट को इसने नवाब साहब की पालकी में एक पत्थर फेंका है ऐसा कहते हुए नवाब अब्दुलरहीम खाँ खानखाना के अंगरक्षकों ने एक फटे चिथड़े लगाये हुये दीन दरिद्र व्यक्ति को दौड़कर पकड़ लिया। परम भावुक भक्त कविवर रहीम जी नित्य की भाँति पालकी पर बैठे हुए सम्राट के दरबार की ओर जा रहे थे। मार्ग में अवकाश पाकर वे एक दोहे की रचना में तल्लीन थे।

जिहि रहीम चित आपनो कीन्हो चतुर चकोर।
निशि बासर लाग्यो रहै, कृष्ण चन्द्र की ओर॥

दोहे की समाप्ति पर सहसा छोटा सा पत्थर का एक टुकड़ा उनकी पालकी में आकर गिरा, उनकी काव्यमयी सुख तन्द्रा भग हुई उन्होंने झाँक कर देखा कि दो सिपाही एक अस्थिपञ्जर मात्र नरकंकाल जैसे व्यक्ति को पकड़ कर उनके सन्मुख ला रहे हैं, रहीम जी उस दीन दुखी का मुँह देख कर दया से द्रवित हो गये, निकट आने पर उन्होंने पूछा कि इसे क्यों पकड़ लाये हो। एक ने सरोष कहा कि हुजूर इसने आपकी पालकी में पत्थर फेंका है। रहीम जी ने उस व्यक्ति से सप्रेम पूछा, "भाई तुमने मेरी पालकी मे पत्थर क्यों फेंका।" उसने करुणापूर्ण शब्दों में रोकर कहा 'सरकार इस दुखिया को दो दिन से अन्न नहीं मिला है, द्वार-द्वार भटकते हुये पाँव दुखने लगे हैं किन्तु इस दुखिया की पुकार किसी ने भी नहीं सुनी। आज अभी आपको देखकर सहसा आपका बनाया हुआ एक दोहा स्मरण हो आया।

सम्पति सम्पति जानिके सबको सबकोइ देय।
दीनबन्धु विनु दीन की को रहीम सुधि लेय॥

दीनों की दीन पुकार या तो दीनबन्धु के दरबार में सुनी जाती है अथवा दीनबन्धु के प्रेमी उदार भक्त ही उनकी पुकार सुन सकते हैं, आप दीनबन्धु के उदार प्रेमी भक्त हैं, इसीलिये आपने यह व्रत ले रक्खा है कि—

जब लगि जीवों जगत में दीबो परै न धीम।
बिनु दीबो जीवो जगत हमें न रुचै रहीम॥

अस्तु आप से कुछ पाने की अभिलाषा से मैंने धीरे से आपकी पालकी में पत्थर फेंका था जिससे आपका ध्यान मेरी ओर आकर्षित हो, मेरा आप जैसे परम उदार भक्त प्रभु को पत्थर मारकर चोट पहुँचाने का भाव तो कदापि हो ही नहीं सकता। रहीम जी ने सजल नयन होकर कहा, मेरे प्यारे दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के प्रियतम ! आओ तुम मेरे गृह पर चलो, तुम्हें उनकी कृपा से सदा के लिये अन्न प्राप्त होगा।

ऐसा कहते हुये उन्होंने अपने शिविका वाहक (पालकी ले जाने वाले) अनुचरों को घर की ओर लौट चलने की आज्ञा दी। सारे अंगरक्षक अपने प्यारे प्रभु की बात सुनकर दंग रह गये। रहीम जी ने अपने घर पर पहुँचकर उसे बड़े प्रेम से बैठाकर उत्तम भोजन कराया, तत्पश्चात् उसी पत्थर के बराबर तौलकर सोना उस दीन दरिद्र को दे दिया साथ ही कह दिया कि जब तुम्हें अन्न का दुःख हो तब तुम सीधे इसी स्थान पर चले आना, भगवान् दीनबन्धु तुम्हारा दुःख अवश्य ही दूर करेंगे।

वह व्यक्ति अत्यन्त कृतज्ञता पूर्वक रहीम जी को धन्यवाद देता हुआ ज्योंही द्वार पर आया कि उसे बहुत से याचकों की भीड़ लगी दिखाई दी, वह थोड़ी देर ठहर कर यह दृश्य देखने लगा। उसने देखा कि श्री रहीम जी अपने घर के बाहर निकल

कर बैठ गये हैं और क्रमशः एक एक याचक जितना माँगता है उसका दूना धन वे दोनों हाथों को ऊँचा उठाकर नीचे नयन करके दे रहे हैं। याचकों में एक विद्वान कवि भी था उसने कविवर रहीम जी के नीचे नयन करके देने की विधि को देखकर आश्चर्य से पूछा—

सीखे कहाँ नवावजू ऐसी अनोखी देन।
दोऊ करसों देत हो तापै नीचे नैन॥

रहीम जी उसकी बात सुनकर उसे विशेष धन देते हुये मुसकरा कर बोले—

देन हार समरत्थ हैं देत रहैं दिन रैन।
लोग भरम मेरो करत ताते नीचे नैन॥

सभी लोग धन्य धन्य कहने लगे। लघुपिपीलिका लेकर गजराज पर्यन्त वह विश्वम्भर सबके उदर भरता है, किन्तु अल्पमति मानव अपने आप को ही अन्न-दाता रक्षक-विधाता मान लेता है। सम्राट अकबर के पश्चात् जब जहाँगीर बादशाह हुआ, तब उसने श्री रहीम को राजद्रोह के सन्देह में पकड़ कर बन्दी गृह में बन्द कर दिया। भगवान् की कृपा से एक दिन सुयोग पाकर वे किसी भाँति कारागार से निकल आये, दिल्ली से पैदल ही चलकर वे भगवान् श्री राघवेन्द्र की वन लीला भूमि श्री चित्रकूट पहुँच गये, उनका नाम सुनकर बहुत से याचकों ने उनको घेर लिया। उन्होंने बड़े दुःख-पूर्वक अपने याचकों से कहा कि—

ये रहीम दर-दर फिरैं माँगि मधुकरि खाहिं।
यारो यारी छाँड़ि दो वे रहीम अब नाहिं॥

उन याचकों में से एक चतुर याचक ने इनका ही बनाया हुआ दोहा उन्हें सुना दिया।

रहिमन दानि दरिद्र तर, तऊ जाँचिवे जोग।
ज्यों सरितन सूखा परे कुआँ खनावत लोग॥

आप उसकी बात सुनकर बोले ठहरो मैं अभी प्रबन्ध करता हूँ, तत्काल ही उन्होंने उसी चतुर याचक के हाथ एक पत्र लिख कर महाराज रीवाँ नरेश के पास भेजा—उसके अन्त में लिखा था कि—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेस।
जापर विपदा परति है सो आवत यहि देस॥

महाराज रीवाँनरेश बहुत बड़े कवि तथा बड़े उदार थे उन्होंने रहीम जी की सहायता के लिये बहुत सा धन अपने विश्वासी भक्तों के हाथ उनके पास भेज दिया, रहीम जी ने वह सारा धन उपस्थित दुखी याचकों में बाँट दिया और आप वैसे ही भिखारी के भिखारी बने हुए वहाँ से चले गये, रीवाँ नरेश को जब यह हाल मालूम हुआ तब वे बड़े दुखी हुये उन्होंने रहीम जी की बहुत खोज की किन्तु उनका कहीं पता न लगा। एक दिन जब महाराज शिकार खेलने गये तब मध्याह्न काल में लौटते समय उन्होंने एक मार्ग के ग्राम में भरभूँजे की दुकान पर उन्हें भार झोंकते हुए पाया।

महाराज उनकी ऐसी दशा देखकर मन में कहने लगे दैव की लीला विचित्र है। एक दिन जो समस्त भारत का प्रधान मन्त्री था जिसके द्वार पर दीन-दुखियों को भरपूर धन प्राप्त होता था याचकों को मुँह माँगी वस्तु मिलती थी वही आज भार झोंक रहा है। धन्य है दैव तेरी लीला—हाथी पर बैठे हुए उनके मुख से सहसा एक सोरठे का आधा चरण निकल गया।

जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस

रहीम जी भार झोंकने में लगे हुये उन्होंने थोड़ा सा चना प्राप्त करने के लिये यहाँ घण्टे भर की नौकरी सी कर ली थी, महाराज के उपरोक्त वाक्य सुनकर उन्होंने पहचान लिया कि महाराज रीवाँ नरेश हैं झट-पट सूखे पत्तों को बटोर कर उन्हें

भार में झोंकते हुये बोले—

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में

महाराज उनकी यह सुन्दर पूर्ति सुनकर परम प्रसन्न हुये वे बोले—

पूरे हैं वही मर्द जो हर हाल में खुश हैं।

रहीम जी सचमुच तुम परम धन्य हो—

ब्रह्मर्षि पं० श्री मदनमोहन मालवीय जी

(*श्री रामस्वरुप जी गुप्त*)

भव्य-भारत की परमोज्वल गौरव-गरिमा के प्रभा पुञ्ज प्रतीक मालवीय जी के पावन चरित्र से हमें अपने उन पूर्वकालीन वीतरागी तपस्वियों का स्मरण होता है जिनकी एकान्त-साधना का एकमात्र उद्देश्य पर दुःख निवारण ही था। जिनकी धवल-कीर्ति-कौमुदी के पुण्य प्रकाश में मानव को जीवन और जागृति का सुखद संदेश मिला। पाश्चात्य सभ्यता के प्रवाह में वेग से बहने वाले भारत को उनके विवेक का सबल-सबल प्राप्त हुआ। प्राच्य और पाश्चात्य का जैसा सुन्दर समन्वय उनके जीवन में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसे प्रात' स्मरणीय मनस्वी सन्तों के प्रभाव से ही नष्ट-गौरव भारत पुन: गर्व से आज विश्व के सामने अपना मस्तक ऊँचा उठा सका है।

तीर्थराज प्रयाग की पावन भूमि पर, एक परम-सात्विक वैष्णव परिवार में इस महापुरुष ने जन्म लिया। "सुन्दर बीज के फल भी सुन्दर होते हैं" यह कहावत मालवीय जी के जीवन में पूर्ण रूपेण चरितार्थ हुई। परम भागवत माता-पिता के दैवी सम्पत्ति सम्पन्न सद्गुणों की पूरी छाप शिशु मदन मोहन पर पड़ी। खेलने कूदने वाले दिनों में ही इनके पिता ने घर पर ही सदाचार और शिष्टाचार के उपदेश के साथ ही साथ संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान करा दिया था। जब यह विद्यालय में प्रविष्ट हुये तो इनकी वाकपटुता और आश्चर्य जनक प्रतिभा से अध्यापक चकित हो गये। बाल्यकाल में ही इनकी वक्तृता शक्ति से जनता विस्मय विमुग्ध हो जाती थी। उन दिनों प्रयाग के माघ मेले में इस सप्त वर्षीय बालक के व्याख्यान को सुनने के लिये जनता दूर-दूर से आती और मन्त्रमुग्ध होकर सुनती। श्रोता भूरि-भूरि प्रशंसा करते और कहते कि किसी महापुरुष की आत्मा बालक में बोल रही है। आगे चलकर उनकी भविष्यवाणी आशा से अधिक सत्य सिद्ध हुई।

सहवासियों को अंग्रेजी स्कूल में प्रविष्ट होते देख इन्हें अपनी भाषा पढ़ने की तीव्र लालसा उत्पन्न हुई। शोचनीय आर्थिक दशा और प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी पिता ने पुत्र की इच्छा पूरी की; लगन और प्रबल इच्छा शक्ति से उत्तरोत्तर विद्योपार्जन करते हुये उन्नति करते गये। अध्ययन काल में ही मालवीय जी जन-हित के कार्यों में उत्साह पूर्ण भाग लेने लगे थे। नष्ट होती हुई हिन्दू संस्कृति के अभ्युत्थान के लिये सन् १८८४ में मालवीय जी के प्रयत्न से प्रयाग में एक महोत्सव का आयोजन हुआ जिसमें उत्तर भारत के प्रमुख विद्वानों ने भाग लिया। तत्कालीन एवं कालाकांकर नरेश राजा रामपालसिंह इनक सुमधुर वाणी, उन्नत विचार और ओजस्वी वक्तृता से बहुत प्रभावित हुये उन्होंने अपने पत्र 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन करने का अनुरोध किया। इस रूप से जनता की सेवा करने की कामना तो मालवीय जी की भी थी किन्तु विदेशी सभ्यता के रंग में सराबोर सुरा सेवी राजा से अपने कट्टर वैष्णवी संस्कारों की टक्कर होने का भय था। संघर्ष की आशंका से असमञ्जस में पड़े हुये मालवीय जी की आन्तरिक विचार धारा का अनुमान करके राजा साहब ने स्वयं यह शर्त रक्खी कि सुरा सेवन के अवसर पर मैं कोई विचार विनिमय आपसे नहीं करूँगा। मालवीय जी सहमत हो गये, ढाई वर्ष तक उनके पुरुषार्थ से 'हिन्दुस्तान' चमका ग्राहक संख्या दूनी हो गई। मालवीय जी की सम्पादकीय टिप्पणी पढ़ने के लिये पाठक लालायित रहते थे। एक दिन राजा साहब ने शर्त भंग करदी, वे सुरा पान कर मालवीय जी से विचार विनिमय करने गये। दृढ़ निश्चयी युवक मदनमोहन इसे सहन नहीं कर सके और राजा के अनुनय विनय पर ध्यान न देकर अपना सम्बन्ध विच्छेद

कर लिया। वाणी के समान उनकी लेखनी में भी जादू था। पत्र कला के प्रति आपका आकर्षण बराबर बना रहा इसीलिये उन्होंने फिर 'अभ्युदय' 'लीडर' 'मर्यादा' 'हिन्दुस्तान टाइम्स'-'सनातन-धर्म' आदि पत्रों के द्वारा देश की बहुत सेवायें कीं। उनकी लेखनी से निकली हुई गवेषणा पूर्ण विचारधारा में दीन दुःखी देश वासियों को राहत का संदेश मिलता था।

वकालत के बदनाम पेशे से उन्हें अरुचि थी किन्तु इसके द्वारा कदाचित कभी सेवा का सुअवसर प्राप्त हो जाय इस भावन से मालवीयजी ने एल० एल० बी० परीक्षा पास की। कुछ समय में ही, इस दिशा में भी आपने महती सफलता प्राप्त करली थी इसका प्रत्यक्ष प्रमाण चौरी चौरा काण्ड की पैरवी से मिलता है। इस कांड में प्राणदण्ड पाये हुये एक सौ सत्तर व्यक्तियों में से एक सौ इक्यावन को फांसी के तख्ते पर लटकने से प्रतिभा सम्पन्न पर दुःख-कातर वकील मालवीय जी ने बचाया था।

वकालत और अदालती दुनिया की सीमित परिधि इस कर्मवीर को अधिक दिनों तक अपने में न रख सकी संकुचित बन्धनों को तोड़कर वीतराग मालवीयजी दुःखी भारत की अन्तर्दशा का मनन करते और तदनुसार कर्त्तव्य को निश्चित कर एक वीर सेनानी की भांति कर्म समराङ्गण में कूद पड़ते। मालवीयजी पूर्ण सनातनी थे किन्तु संकुचित विचारों के दकियानूसी नहीं थे। वे सम्पूर्ण हिन्दुओं द्वारा ठुकराये हुये अछूत भाइयों की आहत पुकार से द्रवित हो जाते थे। अपने उन दलित भाइयों को विधर्मी बनते देख उन्हें दारुण दुःख होता था। इसीलिये उन्होंने कई बार हिन्दू मात्र को मन्त्र दीक्षा देने का मगल अनुष्ठान पूर्ण किया था। विरोधियों ने अनेक विघ्न बाधायें उपस्थित की, रोड़े अटकाये किन्तु सभी प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त करते हुए वे सदा आगे बढ़ते रहे।

देश वासियों को शिक्षा के लिए विदेशों का मुंह ताकना पड़े यह देख सुनकर मालवीय जी को हार्दिक दुःख होता था जिस देश में तक्षशिला और नालन्दा जैसे महान शिक्षा-केन्द्र थे, जहाँ की ज्ञान और गरिमा को प्राप्त करने के निमित्त अन्य देशों के शिक्षार्थी लालायित रहते थे वही देश आज परमुखापेक्षी बना हुआ है, यह बात उनके हृदय में शूल सी चुभने लगी। बस फिर क्या था, देश के इस दुःख को दूर करने के लिये मालवीय जी ने अपनी झोली फैला दी। वे एक बार जिस कार्य के लिये कृतसंकल्प हो जाते उसे प्राण पण से पूर्ण करने में तत्पर हो जाते थे यही उनके उज्ज्वल चरित्र की विशेषता थी। इस शिव-संकल्प की पूर्ति के लिये देश ने उदारता से सहयोग दिया और उनकी झोली में एक करोड़ रुपये से अधिक धनराशि एकत्रित हो गई। ४ फरवरी सन् १६१७ को बसन्त पञ्चमी के शुभ-मुहूर्त में हिन्दू विश्व-विद्यालय का शिलारोपण-महोत्सव, भारत के गण्यमान व्यक्तियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ। मालवीय जी की अमर कीर्ति का यशोगान, भारत की भावी सन्तान शताब्दियों तक करता रहेगी।

धार्मिक क्षेत्र के समान ही इस महामना का सम्मान राजनैतिक क्षेत्र में भी हुआ। जिस प्रकार हिन्दू हितैषी आप ने महासभा से अपना अटूट सम्बन्ध रक्खा उसी प्रकार राष्ट्रीयता की भावना से ओत प्रोत होकर कांग्रेस को भी सक्रिय सहयोग दिया। देश ने अपने इस सपूत को दो बार राष्ट्रपति की गौरवमयी पदवी से सम्मानित किया। स्वतन्त्र समर में कूदकर सहर्ष जेल यात्रा भी की।

विश्वबन्धु स्वर्गीय महात्मा गांधी जी आपको 'भाई साहब' सम्बोधन करते थे, इनका चरण स्पर्श करते थे। उनके साथ सन् ३१ में 'राउंड टेबल' कान्फ्रेंस में सम्मलित होने के लिये लन्दन गये। वहाँ अपने प्रभावशाली भाषणों से अंग्रेजों को चमत्कृत कर भारत का गौरव बढ़ाया।

इस तपोनिष्ट, ब्रह्मर्षि की पावन-गाथा हृदय में श्रद्धा का संचार करती है। अन्तिम दिनों में जराजीर्ण अवस्था के कारण सार्वजनिक जीवन से सन्यास लेकर पतित पावनी पुरी काशी में निवास किया। देश की गति विधि पर तब भी ध्यान रखते थे और अपने परामर्श का लाभ यदा-कदा प्रदान करते थे। रोग शय्या पर पड़े हुये परदुखकातर महामना मालवीय जी ने जब बंगाल के हिन्दुओं पर होने वाली लोमहर्षक घटनाओं के हृदय विदारक समाचार सुने तो आप मूर्छित हो गये। उनका

विशाल हृदय इस अघात को सहन न कर सका और शोक वभूत इस महमानव ने १२ नवम्बर सन् ४६ को महाप्रयाण किया। अन्तिम समय में उनके करुण द्रं कंठ से जो शब्द निकले वे चिरकाल तक हिन्दू मात्र का पथ-दर्शन करते रहेंगे।

परमात्म-चिन्तन और परोपकार में अपना जीवन व्यतीत करने वाले प्रातः स्मरणीय मालवीय जी की पुनीत गाथा हमारे हृदयों में पर'दुख निवारण की अमर भावना जागृत करे इस आशा के साथ उस महापुरुष के बन्दनीय चरणों में शत-शत प्रणाम—

दुःख निवारण में नारियों का महत्व

(श्रीमती मनोरमा देवी हिन्दी कोविद)

संसार का प्रत्येक प्राणी दुःख से छुटकारा चाहता है और उसके निवृत्ति के लिये सतत प्रयत्न भी करता है। सन्तों और शास्त्रों का मत है कि दुःख का कारण अपना अज्ञान, अशिक्षा, अवगुण आदि हैं, इनको दूर करके सत्य, दया, अहिंसादि दैवी गुण धारण करने पर दुःख की निवृत्ति हो जाती है और मानव सुख समृद्धि पा लेता है। ये सद्गुण मनुष्य कैसे धारण करे ? कैसे उसका सुधार हो ? इत्यादि प्रश्नों के कई उत्तर हो सकते हैं। उन उत्तरों मे एक यह भी उत्तर महत्त्वपूर्ण है कि मानव का सुधार नारी समाज भी कर सकती है। नारी मे अपार शक्ति है अपार माधुर्य है। यदि नारी समाज सचेत होकर अपने स्वरूप और अपने उद्देश्य को जान ले तो निश्चय ह वह दुखी दलित मानव के समस्त दुःखों की निवृत्ति कर सकती है।

नारी ही तो संसार की निर्मात्री है, वही तो गृहणी वनकर गृह का और जननी बनकर पुत्र का तथा पत्नी वनकर पति का निर्माण करती है। बच्चों का निर्माण माता गर्भ से ही करने लगती है, स्थूल शरीर का निर्माण तो वह अपने रक्त से करती ही है, सूक्ष्म शरीर को भी अपने भावों से बनाती है। वह जैसे भाव बालक मे भरना चाहे उस प्रकार के भाव गर्भावस्था मे भर सकती है। प्रह्लाद की माता ने प्रह्लाद को गर्भ मे ही भक्तिभाव सिखाया था। अभिमन्यु ने चक्रव्यूह भेदन की क्रिया गर्भ में ही जानली थी। आज भी हम यदि उसी अवस्था मे संयम पूर्वक सद्भावना भरे तो हमारी सन्तानें श्रेष्ठ बन सकती हैं। पतियों को भी हम सुधार सकती हैं। अधिकांश पति पत्नी के वश में रहते हैं, उनपर भी हमारा प्रभाव पड़ सकता है। जो बात संत और शास्त्र अनेक प्रयत्न करके भी मनुष्य पर नहीं करवा सकते वह हम केवल मुस्कराकर समझाकर करवा सकती हैं। हम उन्हें अपने वश मे रखकर साड़ी और आभूषण मंगवाकर ही उस अधिकार की इति श्री कर देती है। हमें चाहिये कि उनसे संयम, सत्य, दया, त्याग, संतोष आदि सद्गुणों को धारण करने की प्रतिज्ञायें करवायें। रात्रि मे हम पतियों को समझाती हैं कि बूढ़ी सास की हम से सेवा नहीं हो सकती, घर भर का भोजन हमपर नहीं हो सकेगा, दिन भर काम करने की हममे दम नहीं, तुम्हारे घर घिसट घिसट कर मर जाऊँगी तुम अलग क्यों नहीं हो जाते ? इस प्रकार आज तो हम पतियों और पुत्रों में अवगुण पैदा कर रही है। हमे चाहिये कि पतियों को सत्कर्मों मे प्रेरित करें, हमारे कहने पर वे शुभ कर्मों मे लग सकते हैं। मधुर वाणी से अपनी अथक सेवा से उन्हें प्रसन्न करें और समझावें कि—आज प्रात. आपने माता जी के चरण-स्पर्श क्यों नहीं किया ? भिक्षुक को द्वार पर से क्यों फटकार दिया कुछ देते विचारे को, पड़ोसी अमुक वस्तु लेने आया

था तो आप उससे इतनी असभ्यता से क्यों पेश आये? रोज-रोज सिनेमा में आप को क्या आनन्द आता है? प्रातः उठकर टहलने क्यों नहीं चले जाते स्वास्थ्य ठीक रहे" इत्यादि बातें समझानी चाहिये। इस प्रकार हमारे पास सेवा, त्याग, तपस्या आदि स्वाभाविक शक्तियाँ हैं उनके द्वारा हम समाज का सुष्ठु रूप से निर्माण कर सकती हैं।

नारी जीवन त्यागमय जीवन है, उसका गौरव तभी है कि वह अपने तन मन से दूसरों को प्रसन्न रक्खे। सद्गुणवती तपस्विनी नारी के लिये ही शास्त्रों ने कहा कि—

"नार्यः यत्र प्रपूज्यन्ते वसन्ति तत्र देवता !"

अर्थात् जहाँ नारियों की पूजा होती है वहाँ देवता वास करते हैं। हमारा स्वरुप देवी का स्वरूप कहा है:—

विद्या समस्ता तव देवि भेदा।
स्त्रियः समस्ता सकला जगत्सु ॥

अर्थात् समस्त स्त्रियाँ देवी रुप ही हैं। परन्तु खेद है कि आज हम देवी से राक्षसी बनने जा रही हैं समस्त सद्गुणों को छोड़कर अवगुण धारण कर रही हैं। आज हमें सड़कों पर घूमना, सिनेमा देखना समवयस्क युवकों के साथ घूमना अच्छा लगता है। यह हम अधिकार प्राप्ति की चेष्टा कर रहीं हैं या अपने प्राप्त अधिकार को खो रहीं हैं। हम दासी बनकर ही स्वामिनी बन सकतीं है, सेवा द्वारा ही हमारा अधिकार बढ़ता है। हमें लेक्चर झाड़ने के स्वप्न नहीं देखने चाहिये हमें तो पतिव्रता नारियों की गाथायें पढ़कर अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिये? क्या हम में शाण्डिली की भाँति सूर्य को स्तम्भित कर देने की शक्ति नहीं आ सकती? क्या हम में द्रोपदी की भाँति भगवान् को बुलाने की क्षमता उत्पन्न नहीं हो सकती? हम भी मदालसा की भाँति अपने बालकों को "शुद्धोऽसिबुद्धोऽसि ..." कहकर वैराग्यवान् बना सकती हैं। हम भी अभिमन्यु जैसे वीर पैदा कर सकती हैं। आवश्यकता है केवल हमें सचेत होने की। गायत्री, लक्ष्मी, सरस्वती आदि शक्तियाँ तो हमारे ही वर्ग की हैं वही स्वरुप तो हमारा है। हमे अपना स्वरुप देखकर अपने निर्माण कार्य मे लग जाना चाहिये।

एक अंग्रेजी कवि का कथन है कि "अनेक वर्षों मे अनेक मास्टरों ने जो शिक्षा हमें नहीं दे पाई वह शिक्षा हमारी माता ने दो चार बार हमारा चुम्बन लेकर ही पूरी कर दी।" वास्तव में माता बालक को सभी तरह का बना सकती है। आज नारियाँ शिक्षा की ओर बढ़ रही हैं परन्तु हमारी दृष्टि से तो वे शिक्षा की ओर नहीं अशिक्षा की ओर बढ़ रही हैं, आज शिक्षा पाकर नारियाँ सास-ससुर पति की सेवा करना हेय समझती हैं रामायण गीता का पाठ निस्सार बताती हैं, व्रत उपवासादि को व्यर्थ का ढकोसला कहती है। शिक्षा नारियों की कैसी हो इस विषय पर आगे कभी लिखूँगी। अब मुझे अपनी बहिनों से इतना और कहना है कि वे अपने स्वरुप को देखें, अपनी अपार शक्ति को छोड़कर क्षणिक चकाचौंध में न फँसें। त्याग और तपस्या ही नारी का जीवन है। जो काम वह स्टेज पर खड़ी हो व्याख्यान देकर नहीं कर सकती वह काम अपने बालक को संयम सद्गुण सिखाकर कर सकती है। अतः आज से ही नारियों को अपने काम में लगकर विश्व का दुःख निवारण करने मे जुट जाना चाहिये। सत्शास्त्रों को पढ़कर और अपने बच्चों को पढ़ाना चाहिये, परमात्मा का सहारा लेकर गृह का निर्माण करना ही उनका उद्देश्य है।

क्षमा-याचना

मंगलमय प्रभु की असीम कृपा से 'परमार्थ' के तुर्थ वर्ष का विशेषाङ्क "दुःख निवारणाङ्क" दुःख वारण हेतु आप के कर कमलों मे है । इस वर्ष शेषाङ्क के कई नाम सम्मुख आये, अन्त मे अखिल स्त्र निष्णात पूज्य स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती महाराज की सम्मति से इस विशेषाङ्क का यह मकरण हुआ । साथ ही उन्हीं से परमार्थ में ई नवीनता हो इस दृष्टिकोण से 'लेखकों के म्मानार्थ उनके चित्र दिये जाने की' प्रेरणा भी ली। हमारी विशेष प्रार्थना पर उन्होंने इस दुःख-वारणाङ्क का सम्पादन भी स्वीकार कर लिया । परन्तु सयोगवश उन दिनों उनका प्रोग्राम लकत्ते आदि जाने का हो गया और दुःख-वारणाङ्क के सम्पादन का गुरुतर कार्यभार हमे ठाना पड़ा। सच तो यह है कि उनकी कृपा एव ाशीर्वाद ने ही इस कार्य को सरलता से सम्पन्न करा या अन्यथा मेरे जैसे अकिञ्चन से यह दुरुह कार्य फलता पूर्वक होना कठिन ही नहीं असम्भव था।

दुःख निवारणाङ्क कितना उपयोगी सिद्ध होगा ? सका निर्णय तो विज्ञपाठक ही करेंगे। हमने तो रल और सुबोध भाषा मे सन्तों एव विद्वानों के नुभवों का सार, सञ्चय करने का प्रयत्न किया है।

हमारी थोडी प्राथना पर ही कृपालु सन्त हात्माओं तथा कवियों और विद्वान लेखकों ने वेषणा पूर्ण सुन्दर लेख तथा सरस भावमय विताये भेज दीं उनके हम हृदय से आभारी है। रन्तु हमे खेद है कि समग्र सुन्दर सामिग्री स्थानाभाव कारण विशेषाङ्क मे नहीं दे सके। उन बचे हुये खों को यथासम्भव आगामी अकों मे प्रकाशित रने का प्रयत्न करेंगे। विलम्ब तथा स्थानाभाव के ारण कई लेखकों व कवियों के फोटो मँगवाकर ब्लाक बनवाकर भी उनके लेख के साथ नहीं प्रकाशित कर सके । हमारी इस विवशता पर दयालु लेखक व कवि हमे क्षमा करदे।

कागज की प्राप्ति मे सहारनपुर के भक्तप्रवर श्री धृतवीर्य शर्मा शास्त्री, व श्री जगन्नाथप्रसाद जी तथा स्टार पेपर मिल्स ने जो सहयोग दिया उसके लिये हम कृतज्ञ हैं। और हमें विश्वास है कि परमार्थ को अपना समझते हुये इसी प्रकार भविष्य मे भी सहयोग देते रहेंगे।

इस विशेपाङ्क के सम्पादन, चरित्र-लेखन, प्रूफ-संशोधन, सामिग्री-संयोजन आदि मे हमारे सहयोगी प्रेमियों से विशेष सहायता मिली। उनको धन्यवाद देना तो अपने आप को ही धन्यवाद देना है। विशेपतया जिनकी कृपा से इस सेवा का सुअवसर हमे प्राप्त हुआ तथा जिनके सहयोग से यह कार्य सरलता पूर्वक पूर्ण हुआ उन "परमार्थ के प्रधान सम्पादक हमारे परम श्रद्धेय श्री मञ्जुल जी का उल्लेख तो बिना किये रहा ही नहीं जाता।" विशेष उपयोगी दो चार लेख संकलित भी किये गये, उन लेखों के लेखकों एव प्रकाशकों के प्रति हम हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

यदि प्रूफरीडिङ्ग आदि की त्रुटियाँ रह गई हों, उसके लिए पाठक हमे क्षमा करें। उनका जिम्मेवार मैं ही हूँ। इसमे जो अच्छाइयाँ हैं वे सन्त महापुरुषों विद्वान लेखकों व कवियों के अनुग्रह स्वरूप हैं। अन्त में अपने प्रेमी पाठकों को धन्यवाद देते हुये उनसे यह प्रार्थना करते हैं कि गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी परमार्थ को अधिकाधिक अपनाकर इसका प्रसार करें तथा हमें यह आशीर्वाद दें कि सफलता पूर्वक आपकी सेवा करते हुये प्रत्येक कार्य मे भगवत्कृपा की अनुभूति करते रहें।

—सम्पादक

श्री १०८ श्रीस्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज तथा श्रीस्वामी भजनानन्दजी महाराज द्वारा विरचित—

मानव जीवन को सफल बनाने वाली अनुपम पुस्तकें—

१—सदाचार दो भाग—

ईश्वर क्या है ? धर्म किसे कहते हैं ? लोभ क्रोध आलस्यादि दुर्गुणों को किस प्रकार दूर किया जाय ? इत्यादि आत्मोन्नति की बातों को इस पुस्तक में प्रश्नोत्तर के रूप में भली भाँति समझाया गया है। मू०····· ।)

२—दैवी जीवन सोपान

ब्रह्ममुहूर्त से विश्राम के समय तक की दिन चर्या तथा सन्ध्या, आसन-व्यायाम आदि के लाभ वैज्ञानिक आधार से समझाये गये हैं। मूल्य····· ।)

३—ब्रह्मचर्यसाधन

ब्रह्मचर्यव्रत को पालन करने की प्रयोगात्मक युक्तियाँ विशेष कर गृहस्थाश्रम में, इस पुस्तक में भली भाँति समझायी गयीं हैं। पुस्तक सभी के लिये परमोपयोगी है। मूल्य······ ।)

४—भक्ति के नव साधन

भक्तिमती शबरी-माता के प्रति भगवान् श्रीराम द्वारा नवधा भक्ति की विशद व्याख्या तथा मन्त्र-जापकी विधियाँ और मन को अनुकूल बनाने की सरल युक्तियाँ इस पुस्तक में देखिये। मू०······ ।)

५—सुखद लोक यात्रा

गृहस्थाश्रम में रहते हुये परमार्थ का साधन किस प्रकार होता है ? यह सब के समझने की बात है। इस पुस्तक की प्रत्येक गृहस्थ को आवश्यकता है। मू०··· ॥≈)

६—साधन प्रदीप

मानव शरीर क्यों मिला ? क्या मैं देह हूँ ? क्या देह मेरी है ? जीव का स्वरूप क्या है ? इत्यादि विषयों की व्याख्या इस पुस्तक में की गयी है। साधकों के लिये विशेष उपयोगी है। मू० ····· ।)

७—साधन सुधा

धर्म का तत्त्व, परमधर्म और आपद्धर्म की सरल व्याख्या इसमें मिलेगी। प्रारब्ध और भगवान् का भरोसा पुस्तक का मुख्य विषय है। मू०······ ।-)

८—हम दिग्विजयी कैसे हों ?

साधक किन संघर्षों में उत्तीर्ण होकर सिद्ध बन सकता है ? आध्यात्मिक शक्तियों की प्राप्ति के साधन तथा अजय रथ का विवेचन इसमें पढ़िये। मू०····· ॥)

९—आदर्श गृहस्थाश्रम

नरक के समान बने हुये गृहस्थ जीवन को सुखमय और स्वर्ग के समान बनाने के लिये आद्योपान्त इसे पढ़िये और घर में पढ़ाइये। मू० · · ।॥)

१०—नव महाव्रत

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि नव सद्गुणों की विस्तृत व्याख्या तथा इन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में लाने की सुन्दर युक्तियाँ। मू०······ ।≈)

११—परमार्थ पथ

परमार्थ पथिकों के मार्ग और पाथेय की हृदय ग्राही विशद व्याख्या। साधकों के लिये यह पुस्तक परमोपयोगी है। मू०······ ।॥≈)

१२—परलोक की बातें-दो भाग

धर्म, ईश्वर, तथा अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में प्रायः जो शंकायें मन में उठा करती हैं उनका समाधान इसमें इतने सुन्दर रूप से हुआ है कि पुस्तक समाप्त करने से पहिले हाथ से नहीं छूटती—दोनों भाग का मू० ··· १)

१३—परमार्थ मणिमाला—तीन भाग

माला की १०८ मणियों के समान प्रत्येक भाग में छोटे-छोटे १०८ उपदेशों का अमूल्य संग्रह है। इन तीनों भागों का मू० ।॥≈)

१४—परमार्थ बिन्दु

'बिन्दु में सिन्धु' अर्थात् सूत्र रूप में वेद-शास्त्रों के गूढ़ भाव सरल एवं सुबोध भाषा में समझाये गये हैं। इसकी दृष्टान्तीय शैली साधारण पढ़े-लिखे व्यक्तियों के लिये भी विशेष उपयोगी है। प्रचारकों एवं कथा-वाचकों के बड़े काम की है। मू० ··· ।≈)

नोटः—पुस्तक मंगाने के लिये पत्र "व्यवस्थापक पुस्तक विक्रयविभाग मुमुक्षु आश्रम शाहजहापुर" को लिखना चाहिये। मूल्य अग्रिम भेजे बिना प्रायः पुस्तकें भेजी नहीं जातीं।

फ़ोन नं० १०१ रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

सावधान ?

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥

जब तक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हुई है, आयु के दिन बाकी हैं, तभी तक बुद्धिमान को अपने कल्याण के लिये पूर्ण प्रयत्न कर लेना चाहिये। घर जलने पर कुआ खोदने से क्या लाभ ?

As long as the body is in good health and old age is still far off, as long as the faculties of senses are strong and the end of the life has not come, a wise man should try his best for his spiritual weal When the house has caught fire what is the use of attempting to deg a well ?
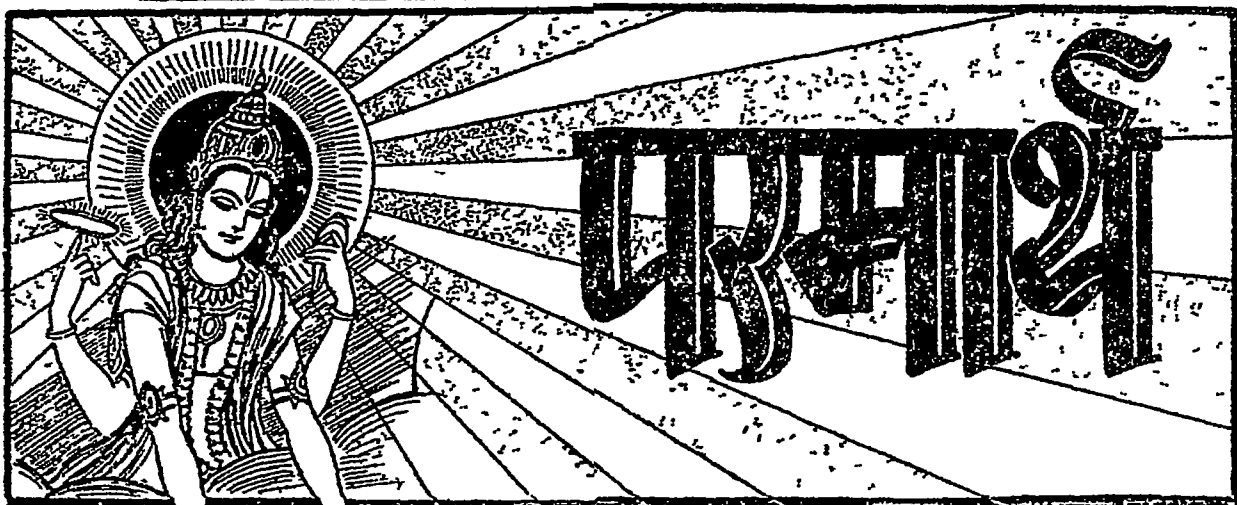
मुद्रक :—परमार्थ प्रिन्टिङ्ग प्रेस, मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर।

सचित्र मासिक पत्र

सर्वभूत हिते रता

दैवी-गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि आध्यात्मवाद प्रकाशक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

विषय सूची

परमार्थ, १५ मार्च, सन् १९५३ ई०

परमभयातुर आरत होकर गजने टेरा हे भगवान।
धारणेन्द्र का दुःख निवारण करने प्रगटे दयानिधान॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ मार्च, १९५३ | अङ्क—२
चैत्र कृष्ण पक्ष अमावास्या रविवार, सम्वत् २००९

भक्त-वत्सलता

टेर सुनी गजकी करुणातुर,
आतुर ह्वै करुणानिधि धाये।
पीर विलोकि अधीर भये—
दुख मोचन, लोचन नीरहु छाये ॥
*बीश नलौ उतरो नभ से,
पहले उतरे, झट चक्र चलाये।
चक्र न काटि सको शिर नक्र,
तलौ हरि ने गज फन्द छुड़ाये ॥

(श्री हृदयनाथ अग्निहोत्री शास्त्री)

*गरुड़

॥ उड़िया बाबा के उपदेश ॥

प्रथमध्यान एव मानस पूजा का अभ्यास बढ़ाकर मन स्थिर करने की चेष्टा करनी चाहिये। मन अधिक ठहरने से भगवान में अनुराग उत्पन्न होता है। पहले-पहल मन ठहरना कठिन हो जाता है। मन न लगे तो मानसिक जप करना चाहिये कुछ काल अभ्यास करने के पश्चात थोड़ा थोडा आनन्द आने लगता है फिर कुछ समय तक अभ्यास दृढ हो जाने से अधिक ध्यान करने का उत्साह उत्पन्न होता है, इसके बाद ध्यान की मात्रा अधिक हो जाने से चित्त भगवत्प्रेम मे डूब जाता है। यही अवस्था साधन का पूर्ण पद है।

भजन में चार विघ्न हैं—लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद। लय-ध्यान के आरम्भ मे निद्रा-तन्द्रा से ध्येय को भूल जाना ही लय है। विक्षेप—ध्यान के समय अगली पिछली बातें याद करना विक्षेप है। कषाय—ध्यान के समय रागद्वेष का सूक्ष्म संस्कार चित्त मे रहने से शून्य हो जाना कषाय है। रसास्वाद—स्वल्प आनन्द में ही अपने को कृतकृत्य मान लेना रसास्वाद हैं।

साधकों के लिये—'दो' यह कहना मरण के समान है। मर जाना भला है लेकिन वाणी द्वारा अथवा अन्य किसी चेष्टा द्वारा अपनी आवश्यकता की सूचना देना अपना पतन करना है। परोपकार के लिये भी माँगना अनुचित है। साधु को भूख लगने पर मधुकरी माँग लेना चाहिये। मधुकरी माँगना गृहस्थियों को कृतार्थ करना है। माँगने वाले पुरुष के शरीर से स्थायी रहने वाले पाँच देवता—'दो' कहते ही निकल जाते हैं। वे देवता ये हैं "ह्री, श्री, धी, ज्ञान, गौरव । माँगना बड़ा भारी पाप है। माँगने के संकल्प से ही चेष्टा मे मलीनता आजाती है।

दुःखानुभूति और उसका निवारण

(श्री महेन्द्र शास्त्री)

दुःख की अनुभूति की यदि विवेचना की जाय तो प्रगट होगा कि मन का असंतोष ही दुःख है। यह असंतोष दो प्रकारों से प्रगट होता है। एक प्रकार का असतोष तो व्यक्ति की कर्तृत्व शक्ति को जगा देता है और वह नये उत्साह और स्फूर्ति से कार्य करने मे जुट जाता है। दूसरे प्रकार का असंतोष व्यक्ति को उदास और खिन्न बना देता है। यही दुःख भी कहलाता है। हम एक योजना बनाते हैं, हमारे पुत्र होगा—फिर पुत्र के पुत्र होंगे। भाग्य हमारा साथ नहीं देता। हमारे पुत्र नहीं होता। मन की असन्तुष्ट भावना हमे खिन्न और उदास बना देती है—हम दुःख अनुभव करते हैं।

ऊपर के विश्लेषण से एक बात यह स्पष्ट हो गई है कि बिना असतोष के दुःख का अस्तित्व सम्भव नहीं। असतोष मानसिक भी हो सकता है और शारीरिक भी। आत्मिक भी हो सकता है और भौतिक भी। अपने शरीर मे व्याधि उत्पन्न होने पर प्रफुल्लता का लोप हो जाता है। जैसा हम नहीं चाहते वही होता है—फलत. असंतोष और तदनन्तर दुःख की सृष्टि होती है। राह चलते हुये हमे कोई विपद्ग्रस्त पथिक दिखाई पड़ता है। हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे सहायता कराने पर विवश करती है। परन्तु उसका दुःख हम बटा तो नहीं सकते। सम्वेदना मात्र प्रगट कर सकते हैं। यह

सम्वेदना क्या है ? हम प्रवृत्त्यानुसार सहायता न दे सकने के कारण जो दुःख अनुभव करते हैं—उसे उस पर प्रगट करते हैं। "मैं वहुत दुखी हूँ कि तुम्हारी कोई विशेष सहायता न कर सका।" आदि आदि।

तो असनोप दु ख का स्रोत हुआ। असंतोष कब होगा—जब कि व्यक्ति मे लिप्सा होगी। उसमें मोह होगा और वह कुछ चाहता होगा। जिसे किसी वस्तु की रत्ती भर चाह नहीं वह असतोष क्यों अनुभव करेगा। अतृप्ति और असतोप प्राय पर्यायवाची हैं। जहाँ तृप्ति है वहाँ संतोप है और अतृप्ति है वहाँ असंतोष। फिर जहाँ तृष्णा ही न होगी वहाँ तृप्ति का क्या प्रश्न ? इसीलिये तो हमारे उपनिषदों ने बार बार कहा कि मोह दु ख का कारण है—तृष्णा दु ख की जननी है।

परन्तु हम साधारण गृहस्थ जन तो मोह और तृष्णा से दूर नहीं रह सकते। अपने पुत्रादिकों का मोह और उनके भरण पोपण के लिये द्रव्यादि की तृष्णा मन से किसी प्रकार निकाली नहीं जाती। तो क्या हम लोग इसी प्रकार सतत् दुःख के ही सागर में डूबा उतराया करेंगे या कि इस दु ख से परित्राण पाने का कोई उपाय भी है। जहाँ तक मैंने अपने इस छोटे से जीवन मे अनुभव किया है तथा जहाँ तक मेरी इस तुच्छ विचार साधना ने मुझे स्पष्ट किया है वहाँ तक मैं समझता हूँ कि उपाय है और वही वतलाना मेरी इन पक्तियों का उद्देश्य है।

शरीर विज्ञान के पडितों ने वारम्वार स्पष्ट शब्दों मे इस बात की घोषणा की है कि मन.स्थिति का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर बहुत अधिक पड़ता है। केवल मानसिक रोग ही नहीं अपितु शारीरिक व्याधियाँ भी मन के मलिन होने से उत्पन्न होती देखी जाती हैं। हिन्दू नारी मे राजयक्ष्मा जैसे भीषण रोग का वाहुल्य भी उनके दुखी मन के ही कारण है। मिरगी, हिस्टीरिया आदि तो साधारण से रोग हैं जो मन. स्थिति के कारण ही उत्पन्न होते हैं, और यदि समय पर चिकित्सा न हुई तो पागल पन तक उत्पन्न कर देते हैं। कैंसर जैसे विषैले रोग के मूल मे भी प्राय मन की दुखी अवस्था पाई गई है। तात्पय केवल यही है कि दुखी मन शरीर को शिथिल और रोगी बना देता है और आयु क्षय करता है। अत स्वास्थ्य के लिये दीर्घायु के लिये और सबसे अधिक दैनिक जीवन के समुचित रूप से चलाने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य जहाँ तक सम्भव हो सके दुखों से परे रहे।

इन दुखों से परे रहना कैसे सम्भव हो। आज के जटिल जीवन मे जब पग-पग पर समाज, सम्बधी और पड़ोसी आते हैं—क्षण क्षण पर रुपये पैसे की आवश्यकता पडती है और उसके विना भगवान् के दरबार मे भी उपस्थित होना सम्भव नहीं रह गया है—यह कैसे सम्भव हो कि मनुष्य मोह और तृष्णा से दूर रहे। प्रत्येक व्यक्ति तो माया मोह का नाता तोड़ कर अरण्यवासी सन्यासी भी नहीं बन सकता यद्यपि संन्यासी के लिये भी आज कल आवश्यकतायें उत्पन्न हो गई हैं—और ऐसी आवश्यकतायें उत्पन्न हुई हैं जो धन और जन की अपेक्षा रखती हैं।

मुझे भक्तवर सूरदास की याद आती है। माया-मोह के बन्धनों को उन्होंने आँखें फोड़ कर तोड़ डाला। बात हास्यास्पद सी अवश्य है। जब कोई व्यक्ति आँखें ही फोड सकता है तो क्यों न जाकर जगलों मे ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करे और दुखों से छुटकारा पाये। परन्तु हमे बात की तह तक बैठना पडेगा। आँखें फोड़ लेना तो लक्षण मात्र है माया-मोह से अपने को निर्लिप्त रखना ही आँखों का फोड़ लेना है। ससार मे रहे—ससार के कार्य करें—परन्तु उनमे फलाफल की आसक्ति न रक्खे। फल अच्छा होगा अथवा बुरा—ऐसा विचार कर कार्य करने वाला ही विपरीत फल पाने पर दुखी होता है। जो भी करें कर्त्तव्य समझ कर करे तो

कभी भी फल में आसक्ति न होगी। परन्तु यह मार्ग भी इतना सरल नहीं हैं जो साधारण गृहस्थ अपना सके।

तब वह उपाय कौन है जो साधारण गृहस्थ, बालक, वृद्ध सभी को दुःखों से छुटकारा दिला सके। उपाय लिखने से पहले उसे स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण देना आवश्यक है—

चार बालक राम, श्याम, हरी और मोहन एक जगह एकत्रित हैं, आप आये तीन मिठाइयाँ लेकर—राम श्याम और हरी को आपने दे दीं। मोहन का दुखी होना स्वाभाविक है। परन्तु वह दुःख का अनुभव करे उसके पूर्व ही आप ने उससे कहा—"बेटा घबराओ नह और मिठाई लाता हूँ—तभी तुम्हें दूँगा।" यह कहकर आप फिर चले गये। मोहन आशा से आपकी राह देखता रहेगा जब तक कि आप वापस न आजायेंगे-या उसे यह विश्वास न हो जायेगा कि आप अब नहीं आयेंगे। इस अवधि मे—अर्थात् आपके जाने के बाद से वापस आने तक या उसे यह ज्ञात हो जाने तक कि आप न आयेंगे—वह दुखी नहीं रहेगा। लालसा तो अवश्य उसके मन मे होगी पर दुःख न होगा। यदि आप चाहें तो उस लालसा का कर्तृत्व शक्ति मे परिवर्तन कर सकते हैं। आप मोहन से कह सकते हैं क बेटा १० तक पहाड़ा सुनाओ तो मिठाई मिलेगी—और वह सुनाने का प्रयत्न करेगा।

इस उदाहरण को शब्दश लागू करने का यत्न न कीजिये। आवश्यक नहीं है कि मिठाई के लालच में ही कार्य किया जाये जोकि अधिकांश मनुष्य करते यही हैं परन्तु होता यह है कि मिठाई उनकी बारी आने से पहले ही समाप्त हो जाती है और उन्हें यह आशा नहीं होती कि कोई दुबारा भ मिठाई लायेगा। यदि यह विश्वास वे कर सकें कि मिठाई केवल एक बार नहीं पुन फिर भी आ सकती है तो मोहन की तरह उनका दुःख उनसे दूर रक्खा जा सकता है। यह विश्वास दो प्रकार से हो सकता है। एक तो ईश्वर के न्याय और उसके आनन्दमय रूप पर विश्वास करके तथा दूसरे अपने अन्दर आशावादिता को स्थापित करके। यदि व्यक्ति निराशावादी मनोवृत्ति को त्याग कर आशा का पल्ला पकड़ले और अनेक असफलताओं के आने पर भी आशा का साथ न छोड़े तो कौन है जो उसे दुखी देख सके। आशावादी के लिये ससार स्वर्णमय है—सुखमय है और उससे भी अधिक स्वर्ण और सुख उसके लिये भविष्य के गर्भ मे छिपा है जिसकी कि उसे आशा है और निराशावादी के लिये ससार अभाव और दुखों से परिपूर्ण है। उसे हर ओर ठोकर ही मिलती है। उद्देश्य मे सफल नहीं होता। अत सदैव दुखी रहता है।

परन्तु केवल ईश्वर पर विश्वास और आशावाद ही व्यक्ति को दुःख से छुटकारा दिलाने मे समर्थ नहीं है। व्यक्ति यदि अस्वस्थ है, रोगी है, तो इन दोनों मे से एक भी गुण उसके पास फटकने तक न पायेगा। दुर्बल और रोगी काया इन गुणों के भगाने मे छूमन्तर का काम करती है। लाख मनुष्य ईश्वर विश्वासी हो पर लगातार अस्वस्थ रहने से उनका विश्वास ढहने लगता है। इसी प्रकार आशा भी समाप्त होने लगती है। अतएव इन दोनों गुणों को यदि बनाये रखना है तो एक स्वस्थ शरीर की भी आवश्यकता है। स्वस्थ शरीर श्रम और भोजन से बनता है। भोजन भी श्रम का ही एक रूप है। अतः स्वस्थ शरीर श्रम पर निर्भर है। अंग्रजी में एक प्रचलित कहावत है—An idle mind is a devil's work-shop (खाली मस्तिष्क शैतान का कारखाना है)। मनुष्य खाली बैठा नहीं कि वह बेसिर पैर क बातें सोचने लगता है। यह बातें उसकी आकांक्षाओं को आकाश कुसुम बना देती हैं जिन्हें न पूरा कर पाकर वह दुःख अनुभव करता है। अत श्रम में लगे रहना और ईश्वर पर विश्वास करना दुःख निवृत्ति का उपाय है।

सुखी कौन ?

(श्रद्धेय श्री १०८ श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जी महाराज)

सुखाय कर्माणि करोति लोकः
न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखम्
यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ।*

(श्री भा० ३ स्क० ५ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सुख हित सुर नर असुर स्वरग भुव मुनि पै आवैं।
नित प्रति चिन्तित रहैं कवन विधि सुख हम पावैं॥
दुख सहि मनि मानिक्य खोदि गिरि भू तें लावैं।
जल तल तें बहु रतन लाइ निज प्रिया सजावैं॥
असन वसन वाहन भवन, सब संग्रह सुख हित करें।
किन्तु न सुख इनितें मिले, सहि दुख बहु योनिनि परें॥

अनादि काल से एक ही प्रश्न सबके सम्मुख है। दार्शनिक वैयाकरण, धर्मशास्त्रज्ञ, आयुर्वेद, धनुर्वेद, स्थापत्य आदि के ज्ञाता सभी का लक्ष्य यही है, सुख कैसे मिले सभी ने इसी पर विचार किया है, दुःख की निवृत्ति सुख की प्राप्ति। इसी पर सबका लक्ष्य केन्द्रित है। सभी का मध्यबिन्दु यही है। सभी ने अपनी-अपनी भावना से इसी गुत्थी को सुलझाया है, सभी ने इसी जटिल प्रश्न का समाधान किया है। इसी पर अनादि काल से विवाद चला आ रहा है और अनंतकाल तक चला आवेगा।

धर्मशास्त्रकारों का कथन है धर्म करने से ही सुख होता है। धर्महीन कभी सुखी नहीं हो सकता। व्यास जी ने जब देखा सुख तो धर्म से ही होता है, किन्तु सुख की इच्छा रखते हुये भी लोग धर्म नहीं करते तो वे ऊपर हाथ उठाकर ढाह मारकर रोने लगे कि हाय! इन लोगों की बुद्धि पर पत्थर पड़ गये कि धर्माचरण को छोड़कर ये अधर्म का आश्रय ले रहे हैं।

नीति शास्त्रकार भी इस बात का समर्थन करते हैं कि सुख धर्म से ही प्राप्त होता है, किन्तु धर्म का कारण वे विद्या को बताते हैं। उनका कथन है। विद्याहीन तो पशु है, पशु क्या धर्माचरण कर सकता है। शास्त्र ही यथार्थ नेत्र हैं, जो शास्त्र हीन है वह तो अन्धा है, अन्धा कैसे सुख पूर्वक गहन संसाराटवी की यात्रा कर सकता है। अतः सुख का कारण विद्या है। वे कहते हैं राजा का सर्वत्र आदर होता है, सब उसकी सुख सुविधा का ध्यान रखते हैं, किन्तु उसकी पूजा अपने ही देश मे होती है, किन्तु विद्वान तो जहाँ भी जाता है, वहीं प्रतिष्ठा पाता है, वहीं उसकी पूजा होती है। अतः सुख का मूल कारण है विद्या। वे यही क्रम बताते हैं और तर्क देकर सिद्ध करते हैं, कि विद्या से सुख कैसे मिलता है।

उनका प्रथम प्रश्न है, कि लोग अभिमान क्यों करते हैं? वे उत्तर देते हैं अभिमान होता है अज्ञान से। जो जितना ही अधिक अभिमानी हो वह उतना ही अधिक अज्ञानी है। बहुत से लोग दूसरों के सामने अकड़ जाते हैं, बड़े अभिमान से बड़े घमंड से गंभीर बनते हैं। उन्हें देखकर कोई आसन से न उठे, प्रणाम न करे, स्वागत सत्कार न करे तो वे जल भुनकर भस्म हो जाते हैं, आग उगलने लगते हैं मैं

---

* विदुरजी मैत्रेय मुनि से पूछ रहे हैं—"भगवन्! सम्पूर्ण लोग जो भी काम करते हैं सुख प्राप्ति के ही निमित्त करते हैं, किन्तु उन कर्मों से न तो सुख की प्राप्ति होती है और न दुःख की ही निवृत्ति होती है, यही नहीं उनसे उन्हें फिर भी दुःख ही मिलता है, सो इस विषय में जो उचित हो उसे आप हमें बताइये।

ऐसा हूँ। वैसा हूँ। मेरे सामने वह क्या है, कलका लड़का है,मैं इतना पढ़ा हूं,इतना विद्वान् हूं आदि आदि ऐसा कहने वाला मानेच्छुक चाहे सर्व शास्त्रों को पढ़ भी गया हो तो भी वह मूर्ख है। विद्वान की पहचान ही यह है कि वह सरल,अमानी,अभिमान शून्य होगा। विद्या का फल विनय है।विद्या विनय को देती है। जिसमे विनय है वही सुपात्र है,दूसरे शब्दों मे विनय पात्रता को प्रदान करती है। सुपात्र को ही लोग धन देते हैं। धन का यह संकुचित अर्थ–रुपया पैसा ही–न लगाना चाहिये। बहुत से ऐसे लोग हैं। जिनके पास एक भी पैसा नहीं है, किन्तु सर्वत्र उनका मान सम्मान है, तो वे धनी ही माने जाते हैं, क्योंकि"मानो हि महता धनम्" श्रेष्ठ पुरुषों का मान ही धन है। तपस्वी रुपये पैसे नहीं रखते,किन्तु उनके पास तपस्या रूपी धन है इसलिये वे तपोधन कहलाते हैं।विश्वामित्र जी को जब तक अभिमान रहा तब तक वे तपोधन ब्रह्मर्षि नहीं कहाये।जब वे विनयावनत होकर वशिष्ठ जी के चरणों मे गिर गये तब उनकी तपोधन–ब्रह्मर्षि–संज्ञा हुई। इससे सिद्ध हुआ विनय सम्पन्न सुपात्र को ही धन की प्राप्ति होती है धर्म धन से होता। जिसे स्वयं निरन्तर भोजाच्छादन की चिन्ता है वह धर्म क्या करेगा? जो धर्म करेगा वही सुखी होगा। ऐसी प्रक्रिया नीति शास्त्र वाले बतलाते हैं।

कवियों का ससार पृथक् ही है, वे लोक, परलोक, धर्म, अधर्म से परे होते हैं, उनका प्रेम पन्थ है, अपना प्रेमी अपनी बगल में बैठा हो, उनके लिये वह स्वर्ग से भी बढ़कर सुख कर स्थान है। किसी ने इस लोक के ही प्रेमी की प्रशसा की है, किसी ने श्रीकृष्ण को ही प्रेमी माना है। एक मुसल्मान कवि ने सुखी होने का चित्र खींचा है, उनकी कविता का भाव यह है —

इस तरु तले कहीं खाने को रोटी का टुकडा हो एक।
पीने को मधुपूर्ण पात्र हो करने को हो काव्य विवेक॥
इतने पर तुम बीना ले मन बैठ बगल में गाती हो।
तो मेरे लिये इस बन में स्वर्ग राज्य का हो अभिषेक॥

कवि अपनी प्रेयसी के साथ निर्जन नीरव अरण्य मे निकल गया। प्रकृति देवी हँस रहीं थी, पक्षी गण वृक्षों पर बैठे कलरव कर रहे थे। कवि निर्धन था भूखा था, किन्तु प्रियतमा उनके साथ थी। एक सघन वटवृक्ष की छाया मे दोनों श्रमित होकर बैठ गये। प्रियतमा ने अपनी वीणा विनिन्दित वाणी मे पूछा—अहो कितना सुख है?

कवि ने कहा—सुख तो बहुत है, किन्तु सुख मे कुछ कसर है। 'क्या कसर है प्राणनाथ!' प्रियतमा ने प्यार से पूछा।

कवि बोला—यह कुटिनी बुभुक्षा यहाँ भी हमारा पिंड नहीं छोड़ती. इतने अरण्य मे आये यह हमारे पीछे लगी आयी। इसे शान्त करने को कहीं रोटी का एक टुकडा मिल जाता जिसे हम दोनों बांट कर खा लेते। साथ ही एक प्याला मधु भी मिल जाता, जिसे एक ही चसक (प्याले) मे हम दोनों बारी-बारी से पी लेते। मेरी कविता की पोथी होती और तुम्हारी वीणा भी साथ मे होती। तुम मुझसे सटकर—मेरी बगल मे बैठकर—वीणा लेकर गाती मैं सुनता। मैं कविता सुनाता तुम सुनतीं और प्यार से मेरी ओर देखतीं—तो मैं समझता देवताओं के राजा इन्द्र का सिंहासन मुझे मिल जाता। ऐसी ही कुछ सुख की बात राजर्षि भर्तृहरि ने अपने शृङ्गार शतक मे कही है। बहुत सी राजसी सामग्रियों का वर्णन करते हुये उन्होंने बताया है यदि ये वस्तुयें हों तभी गृहस्थ मे सुख है।

भर्तृहरि तो राजा थे इसलिये उन्हें इतनी सुख सामग्री सुखी होने को आवश्यक प्रतीत हुई,किन्तु हमारे घाघ कवि तो देहाती थे। उनके भी सुखी होने के चित्र को देख लीजिये घाघ कवि कहते हैं—

भूईंया खेडे हर होहि चार,
घर होहि गिहथिनि गऊ दुधार।
रहर की दाल जड हन को भात,
गागल निबुआ अरु घिउ तात।
पट रस खंड दही जो होइ.
बाँके नैन परोसे जोइ।
कहैं घाघ फिर सबकछु झूठ,
वहै छोडि यहही बैकुंठ।

प्रतीत होता है. घाघ साधारण किसान थे। सुखी कौन है ? वे बताते हैं बोने जोतने के खेत अपने गाँव में ही घर के पास हों। चार हल की खेती हो,अपने यहाँ आठ बैल हों। घर में घरवाली अच्छे स्वभाव वाली गृहस्थी के काम में निपुण हो। दूध देने वाली गऊ भी एक दो अवश्य हो। घाघ पुरबिया है. इसलिये उड़द की दाल गेहूँ की रोटी नहीं चाहते। वे कहते हैं अरहर की दाल हो और जड़हन के चावलों का सुन्दर स्वच्छ भात हो। अरहर की दाल में कागदी नीबू का रस निचोड़ दिया जाय, तब तो कहना ही क्या ? अहाहा घर का टटका घी यदि गरम करके छुन्न से दाल में छोड़ दिया जाय तो फिर मत पूछिये। घर की गौ का छै रसों से युक्त चक्का जमा हुआ दही भी हो हाँ परन्तु एक बात है, पसीना पोंछता हुआ चिकनी मैली साफी लपेटे यदि कोई रसोइया इन सब को परसे तब तो सभी गुड़ गोबर हो जायगा। परसने वाली बाँके नयनों वाली हो, जो बारम्बार चुरियों की झकार करते करते परोसती हो यदि इतना सब साज सामान हो तो घाघ कवि कहते है, कि फिर संसार के समस्त सुख झूठे हैं। फिर बैकुण्ठ कहीं सात लोकों के पार न हो कर इस भूमि पर ही बैकुण्ठ का सुख उतर आवेगा।

इसी से मिलती जुलती-सी बात वारिचर के पूछने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने कही है, जब भीम अर्जुन, नकुल. और सहदेव उसके प्रश्नों का उत्तर न देने से पकड़े गये तब धर्मराज ने वारिचर के प्रश्नों का उत्तर दिया था। वारिचर के बहुत से प्रश्नों में से यह भी था। कि सुखी कौन है ? इसका धर्मराज उत्तर देते हैं—

दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति गेहिनी।
अनृणी अप्रवासी च स वारिचर! मोदते॥

देखो भैया ! वारिचर ! मेरी दृष्टि में तो सुखी वही है, जिसे आजीविका के लिये देश विदेश भटकना न पड़े और किसी के ऋण की चिन्ता न हो। दिन भर परिश्रम किया। दिनके अन्त में जो भी कुछ साग-पात मिलगया उसे घर पर ले आये। घर पर लाकर स्वय चूल्हे में मूँड़ न देना पड़े। अच्छे लक्षणों वाली घर वाली उस शाक-पात को सुन्दरता से बनाले। दोनों उसे एक ही बार पेट भरके खालें तान दुपट्टा सो जायँ, न ऊधो का लेना न माधो का देना। भला इससे सुखी और कौन होगा।

इन सब उदाहरणों में गृहिणी एवं गृहोपयोगी वस्तुओं को सुख का साधन माना है। वास्तव में इह लोक में गृहस्थाश्रमी के लिये ये वस्तुयें अवश्य है और क्षण भरका लौकिक सुख देती भी हैं किन्तु सुख से अधिक ये दुःख देती है। इनसे दुःख की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती। इन्हें पाकर संसार में आज तक कोई सुखी हुआ नहीं तब फिर प्रश्न ज्यों का त्यों बना रह गया सुखी कौन ?

सुखी कौन है. इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व सोचना यह चाहिये कि दुःख होता क्यों है। दुःख होता है इच्छाओं की पूर्ति न होने से। समस्त दुःख और पाप का मूल है भोगों की इच्छा। ये इच्छायें इतनी हैं कि इनका कभी अन्त ही नहीं होता। मनमें एक कामना उठी, उठकर विलीन हो जाय। तब तो कोई हानि नहीं। समुद्र में लहर उठी और उठकर उसी में शान्त हो गयी, किन्तु जब वे लहर ज्वार भाटे का रूप रख लेती हैं तभी अनर्थ होते है।

लहरों का प्रबल वेग बड़े बड़े पोतों को डुबा देता है। इसी प्रकार जब इच्छा वेगवती बन जाती है वही आदमी को दुखी बना देती है।

प्राणीमात्र के हृदय में 'काम' की इच्छा होती है, किन्तु साधक साधनों द्वारा उसके वेग को रोकते हैं, शमन करते हैं, जो जितना ही वेग को शमन कर लेगा वह उतना ही सुखी होगा और जिसका वेग जितना ही प्रबल होगा वह उतना ही अधिक दुखी होगा, सुख दुःख की यही मोटी पहिचान है।

एक राजा दंडक वन में गया। वन में उसके गुरु भगवान् शुक्राचार्य की कन्या खड़ी थी। वह अरजस्का थी। अभी तक उसे रजोधर्म भी नहीं हुआ था। उसे देखकर राजा के मन में काम वासना उत्पन्न हुई। वासना जब बलवती हो जाती है, तो मानवता के जो धर्म से भय खाना लोकलाज की रक्षा करना ये दो स्वभाविक गुण विलीन हो जाते हैं "कामातुराणा न भय न लज्जा" राजा ने उस बालिका से प्रस्ताव किया।

बालिका ने बड़े धैर्य के साथ कहा—'राजन्! आप यह कैसी बात कह रहे हैं। आप सबके पालक हो, इस नाते से मेरे पिता के तुल्य हो, तुम मेरे पिता के शिष्य हो, इस नाते मेरे बड़े भाई हो तुम क्षत्रिय हो मैं ब्राह्मण कन्या हूँ इस नाते से मैं तुम्हारी पूजनीय हूँ फिर मैं अभी कन्या हूँ, कुमारी हूँ रजोधर्म से रहित हूँ अपि पुत्री हूँ"

राजा के मनमें एक भी बात नहीं बैठी उनका काम वेग बढता ही गया। प्राणीमात्र की सबसे प्यारी वस्तु है जीवन की इच्छा। मरना कोई भी नहीं चाहता। बड़े से बड़ा कोढ़ी जिसका अंग अंग गल रहा हो मरने की इच्छा उसको भी नहीं होगी। मनुष्य जीवन रक्षा के लिये सब कुछ कर सकता है। प्यारे से प्यारे को छोड़ सकता है। इसी लिये जब कोई अनर्थ करता है तो उसे भय दिखाते हैं—"तुम यदि ऐसा करोगे तो जीवन से हाथ धो बैठोगे।"

उस कन्या ने जब देखा राजा किसी प्रकार मानता ही नहीं तब उसने राजा को मृत्यु का भय दिखाते हुये कहा—"राजन्! मेरे पिता की सामर्थ्य तुम जानते ही हो, वे तुम्हारे जीवन का ही अन्त न कर देंगे, तुम्हारा सर्वस्व नाश कर देंगे।"

जब काम का वेग प्रबल होता है, तो जीवन की भी उपेक्षा कर देता है। राजा ने कहा—'देवि! एक बार मैं तुम्हें पालूँ इसके अनन्तर चाहें मेरा सर्वस्व नाश हो जाय।" ऐसा कहकर उसने अनर्थ कर डाला उस एक के पाप से तीन दिनों तक तप्त बालू की वर्षा हुई राजा की समस्त प्रजा, हाथी घोड़ा पशु पक्षी नष्ट हो गये। सम्पूर्ण राज्य घोर अरण्य हो गया जो दण्डकारण्य के नाम से विख्यात हुआ।

काम का अर्थ इतना ही नहीं। प्रत्येक कामना-प्रत्येक इच्छा का ऐसा ही वेग उठता है, लोग अपनी प्रतिष्ठा की कामनासे दूसरों की निन्दा करते हैं सब का अपमान करते हैं। इसी प्रकार हमारी कामना में कोई विघ्न डालता है तो फिर क्रोध का वेग उठता है और क्रोध सभी अनर्थों का हेतु है।

सुख हमें मिलता है मित्र से प्रेमी से दुःख मिलता है शत्रु से। बाहरी शत्रु कभी दुःख देगा, किन्तु काम क्रोध रूपी शत्रु तो भीतर ही भीतर जलाते रहते हैं। यही जीवन को दुःखमय बनाये हुये हैं। जब तक ये दो शत्रु नहीं मर जायेंगे तब तक दुःख निवारण नहीं हो सकता नहीं हो सकता कदापि नहीं हो सकता। इसलिये भगवान् ने गीता में कहा है:—

> शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोचणात्।
> कामक्रोधोद्भवं वेग स युक्तः स सुखी नरः॥

ये काम और क्रोध जन्य वेग इतने प्रबल होते हैं, कि मरते मरते नहीं छूटते। मृत्यु समय में ये और भी प्रबल हो जाते हैं। लोग धन के लिये मान

प्रतिष्ठा के लिये कितने कितने पाप करते हैं। मृत्यु समय मे ये सब पाप मूर्तिमान होकर छाया चित्रों की भॉति सम्मुख आ जाते हैं। इस तनिक से जीवन के लिये मैं बड़ा बनूं प्रतिष्ठित होऊँ। धनी बनूं भोगी बनू इस लालसा से अज्ञान विमोहित होकर आसुरी भावों को ग्रहण करता है, अपनी कामना और क्रोध की वृद्धि करता है, कोई ही भगवत्कृपा पात्र शूर ऐसा निकलता है, कि मृत्यु होने के पूर्व ही काम क्रोध जन्य वेगों को जीत लेता है, वास्तव मे वही योगी है, उसी के सभी दु'खों का निवारण हो जाता है वही सुखी है वही शान्त है, वही कृतार्थ है वही धन्य है वही प्रशसनीय है, वही आदरणीय है वही पूज्य है, वही श्रेष्ठ है, वही महान् है। जिन्हें दु.ख से त्राण पाना हो उन्हें काम क्रोधोद्भव वेगों पर प्रतिक्षण दृष्टि रखनी चाहिये। शास्त्र ने बार बार बल दिया है। जो इनके अधीन है वह कभी सुखी नहीं हो सक ।। दुखी ही बना रहेगा उसके दु.ख का निवारण कैसे हो सकता है? सुखी वही जो काम क्रोध के वेग पर विजय पा चुका है।

छप्पय

देहि कामना दुःख काम ही कलह करावै।
काम बान हिय विंध्यो मनुज सुख कैसे पावै॥
काम क्रोधकूँ करै क्रोध अनरथ उपजावै।
काम अगिनि उत्पन्न होहि सुख शान्ति नसावै॥
यदि सुत अति अनरथ करै, पितु पग पकरैं होहिं सुख।
काम जनक श्रीकृष्ण हैं, तिनि चरननि मॅह मिटै दुख॥

भव दुःख निवारणम्

(श्री ऋषि कुमार जी ब्रह्मचारी)

परमेश्वर आदि अकेला था। उसे अच्छा नहीं लगा। तब संकल्प किया "एकोऽहं बहुस्याम"। सोचा ससार में लीला करेंगे, खेलेंगे, प्रसन्न होंगे। खेल की बहु विचित्र सामिग्रयों से भरा संसार बसाया। खेल के सगी अनन्त प्राणियों को रचा आनन्दमय ने आनन्द के लिये जगत् रचा था; अपनी दया से, प्यार से, आनन्द से जीवों को सुख के समुद्र में डुबो दिया। इधर जीव सुख में ऐसा फंसा कि जिसने उसे बनाया, सुख दिया उसे ही भूल गया। वह केन श्रुति की भाषा में बोल उठा "अहमस्मि इति" 'अस्माकमेव अयम् महिमा इति" "अस्माकमेव अयम् विजयः" मैं हूँ, मैं हूँ, यह सब हमारी ही महिमा है। हमारी विजय है। मेरा पुरुषार्थ है। मैं हूँ सब का कर्त्ता धर्त्ता। मैं हूँ भोक्ता, विधाता। ईश्वर ने देखा, बच्चों ने हमारी ओर पीठ फेर ली। हमको नहीं मानते। कहते नास्ति नास्ति नास्ति। वात्सल्य के कारण उसे अच्छा तो नहीं लगा परन्तु कहा, ठीक है बच्चे खुश रहें। अलग एक ओर खड़ा हो गया। अपना आनन्द भाव समेट लिया। तटस्थ होकर बच्चों का खेल देखने लगा "अभिचाकशीत"। आनन्द नामधेय खिलाड़ी के अलग होते ही पावर हाउस की स्विच आफ हो गई। घर में, ससार में, अँधेरे में, जीव छटपटा उठे। सकल जतन करि हारे। मानो भस्म में घी डालना। आपस में काना फूसी करने लगे। क्या बात है, जानना चाहिये "एतद्विजानीहि किम् एतत्" सारा पुरुषार्थ लगा डाला। एक तृण भी इधर से उधर नहीं हुआ "तन्न शशाक तृणं आदातुम्"। जिसकी अहन्ता जितनी ही बढ़ी, उस पर उतने ही जोर की चपत पड़ी।

आनन्दमयी लीला निरानन्द में बदल गई। कलह मच गई। छीना झपटी शुरू होगई। हाहाकार छागया। संसार नरक हो गया। सर्वत्र त्राहि त्राहि।

कुछ भले आदमियों की अकल आई। दांतों तृण दबाये। गैया बने। विनम्र हुये। सभा की। निश्चय हुआ "धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम्" सत्य और धर्म की जय है, असत्य और अधर्म की पराजय है। पिछली करनी पर पछिताये। भगवान को अपनाये। बस क्या था, भगवान मुस्कराते हुये आगये। सब दुःख ताप हवा हो गया, न जाने कहाँ चला गया। भक्तोंने भगवान को पहचान लिया। धन्य दुःख,धन्य दुःख, जिसने परमेश्वर को दिखाया, चिन्हाया, बताया, जीवों को धर्म से लगाया। ऐ मेरे सखा दु.ख! तुम आओ,हम तुम्हारे उपकार का बदला चुकायें, तुमको हृदय लगायें। हम अंधेरे में भटक रहे थे शिरपर चट्टान के ठोकर लगे, गर्त में गिरे। तुम्हारे प्रसाद से कुमार्ग से सन्मार्ग में आये। तुम हमारे प्रिय अतिथि हो। तुम्हारा स्वागत है। आशीर्वाद दो, हमारा मन तुमसे विचलित न हों "दु.खेष्वनुद्विग्नमनाः"। हम सुख की इच्छा न करें,सुख ने हमें ठगा है"सुखेषु विगतस्पृहः" "विपदे आमि ना जेनो करीभय"। सुख में देह और मन साथ नहीं रहते। जीवन की यह बड़ी समस्या है। योगीगण अनेक जन्म तपस्या करके भी मन को संसार से नहीं लौटा पाते मन संसार में भटकता रहता है। परन्तु जब देह में पीड़ा होती है तो मन अपने आप देह में लौट आता है। पीड़ा स्थल में केन्द्रित हो जाता है। वहाँ से हटता ही नहीं। इस मानसिक एकाग्रता का श्रेय दु.ख को ही है। विषाद योग से ही पार्थ को प्रपत्तियोग हुआ। गोपाल नन्दन ने उसे वत्स बनाया और श्रुतियों से गीतामृत दोहन कर संसार के सुधी जनों को पिलाया। धन्य विषाद योग की महिमा।

कुन्ती माता के शब्दों में दुःख और दुःखहर दोनों का अभिवादन है। हे जगद्गुरु! हमारे ऊपर शाश्वती विपदा पड़े। क्योंकि विपत्ति में आप परमात्मा के दर्शन होते हैं। आप के दर्शन से अपुनर्भव का दर्शन होता है। जन्म मृत्यु जराव्याधि दुःख दोषों का स्वयं निवारण हो जाता है।

"विपदः सन्तु नः शाश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यदा पुनर्भवदर्शनम्" ॥

ईश्वर के एक दूसरे कोटि के भी बच्चे होते हैं। उनकी अकल कुछ मोटी होती है। वे परमेश्वर की सौम्य मूर्ति को नहीं पहिचान पाते। वे कहते हैं।

"ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया"।

मैं ईश्वर हूँ, समर्थ हूँ, बलवान, सुखी और भोगी हूँ, सिद्धि हूँ, सम्पन्न हूँ। हमारे बहुत आदमी हैं। लाखों करोड़ों अनुयायी हैं। हमें लाखों का समर्थन प्राप्त है। हम जो इच्छा होगा करेंगे। हमारे समान दूसरा कौन है जो सामने खड़ा हो सके। परमेश्वर इन बच्चों के सामने कालरूप से आता है। दुर्योधन और कंस के सामने कालरूप श्रीकृष्ण आये। रावण के सामने धनुर्धारी राम आये। हिरण्यकशिपु के सामने नृसिंह आये। इत्यादि। अन्त में ये लोग भी भगवान् को पहिचानते हैं। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"। मर्त्य जीवों के सामने तो काल सदा ही मुख फाड़े खड़ा है। प्रेम से न हो तो कालभय से ही ईश्वर के शरण में जाना चाहिए।

परमेश्वर चाहता है जीव के साथ मिलकर संसार में खेलना। इसीलिये उसने सृष्टि का इतना बड़ा बखेड़ा मोल लिया। परन्तु जीव अहन्ता से मतिहन्त हो गया। ईश्वर का कोई ख्याल न कर वह अकेला ही संसार में खेलना चाहता है। इससे उसने दु.ख को निमन्त्रण दिया। ईश्वर की शरण जाय तो यह दुःख उसके लिये आशीर्वाद सिद्ध हो। परन्तु वह प्रायः ऐसा नहीं करता। "भगवन्तं हरिं प्रायः न भजन्ति जनाः"। दु.ख के धक्के से वह पाठ नहीं सीखता। वह उल्टा ही चलता है। इस अन्याय से जीव सदा के लिये अभिशप्त हो गया। दु.ख ने उसके घर में डेरा डाल लिया। संसार खेल न रहकर अब उसके लिये वह जेल हो गया। सुख की दृष्टि से वह जो भी काम आरम्भ करता है परिणाम में उसे दुःख ही मिलता है। दुःख दूर करने के लिये

जितने भी उपाय करता है फल उलटा ही होता है। फसता ही जाता है।

युवक युवती विवाह करते हैं सुख के लिये। निश्चिन्त होने के लिये। परन्तु एक दूसरे की चिन्ता ही उनके शिर पड़ती है। पुत्र हीना ने देवता से पुत्रवती का वर माँगा सुख के लिये। पुत्र ने उसकी चिन्ता ही बढ़ाई। पौधे ने चन्द्र सूर्य्य वरुण से विनय किया, जल्दी बढ़ा करो, सब लोग पैरों तले कुचलते हैं। जब बड़ा हुआ तो आंधी के धक्के मुक्के शतगुण बढ़गये। राष्ट्रपति होने के लिए लोग भूर्भुवःस्व. की खाक छान डालते हैं। जब चुन लिये जाते हैं, दायित्व शिर पर पड़ता है तो मंच पर खड़े होकर हृदय से कहते हैं, यह राजमुकुट रत्नों का नहीं काँटों का बना है वर्तमान बजार दु:ख निवारण की समग्रियों से भरे पड़े हैं। परन्तु जितने ही अधिक सुख के साधन ससार में बढ़ते जाते हैं वैसे ही दुख भी टिड्डीदल की तरह बढ़ता आता है। जन त्रास निवारण के लिये राजसरकार पुलिस बढ़ाती जाती है, चोरी डकैती अन्याय दुःखशोक भय भी उतने ही बढ़ते जाते हैं। वैद्यों ने दुःख निवारण के लिये सहस्रों चिकित्सालय खोले। परन्तु न बीमारों का अन्त मिला न बीमारी का। उनको नींद हराम हो गई। रोगियों का ऐसा तांता लगा कि वे स्वय भी रोगी होगये। साक्षरों ने निरक्षरता निवारण के लिये शिक्षालय खोला। शिष्यों ने गुरू को ही पाठ पढ़ाने के लिये हड़ताल कर दी, कुछ लोग दुःख निवारण दल बनाने में लगे हैं। कहते हैं कि बड़ों ने छोटे को चूसा। जन दुःख निवारण के नाम पर छोटों ने बड़ों को उससे भी अधिक चूसना आरम्भ कर दिया। करखानों में आग लगादो, गोदाम खाक करदो, रेलों में यात्रियों की लूट लो ये उनके मन्त्र हैं। ऐसे ही वर्ण विहीन समाज रचना के लिये कुछ लोग अनेकों वर्ग, दल पार्टी बना रहे हैं। आदि आदि इस प्रकार मनुष्य जिस प्रकार दुःख को दूर करने में उसके पीछे पड़गया है उसी प्रकार दु:ख भी मनुष्य के पीछे हाथ धोकर पड़गया है।

दुःख एक ऐसा अतिथि है जिसे कोई नहीं चाहता, परन्तु चाहे जितना अपमानित करो यह दरवाजे से हटता ही नहीं। एक दूसरे को किसी तरह नहीं चाहता, दूसरा किसी तरह नहीं जाता। जीव की दुःख से बड़ी विकट लड़ाई है।

महात्मागण दूसरों का दुःख न सह सके और परोपकार का व्रत लिया "सर्वभूतहितेरता." पर दु:ख दूर न हुआ उल्टे दुःख का देवता और क्रुद्ध हो गया। क्राइष्ट को शूली मिली, स्वामी दयानन्द विजय कृष्ण गोस्वामी और माक्रेटीज को विष मिला, श्रद्धानन्द और गांधी को गोली मिली। यहाँ तक कि स्वय भगवान रामचन्द्रने, माला में जिनका नाम सीताराम जपने से जीवों का दुःख निवारण होता है, कोई भी ऐसा दु:ख नहीं जो सहा न हो। वेदान्त ने इस दुःख से बचने के लिए ससार की सत्ता ही अस्वीकार कर दी है। परन्तु प्रकृति नहीं मानती। कर्त्री खुद है, भुगवाती पुरुष को है। "कार्य कारण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुख दुःखाना भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते" कार्य कारण में हेतु प्रकृति और सुख दुख भोग में हेतु पुरुष है। सिद्धाना कपिलो मुनिः दुःख के प्रति युद्ध घोषणा से ही साख्य शास्त्र का सूत्रपात किया।

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः
(सा० सू० १)

(दैहिक दैविक भौतिक) त्रिविध दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। इस प्रकार साधु गृहस्थ सब का दुःख निवारण ही एकमात्र लक्ष्य है। अपने ऊपर जो भी दुःख आये उसे अनुद्विग्न चित्त से सहन करे, दूसरे किसी भी जीव को अपनी ओर से कोई दुःख न दे, श्री भगवान के अनन्य शरण जाय—दुःख निवारण का यदि कोई उपाय है तो यही उनमें सर्वोत्तम उपाय है।

* सुख-प्राप्ति *

(श्री उदयभान मिश्र "भानु" प्रयाग ।)

पा न सकते सुख कदाचित्, आज भौतिक वाद मे तुम ।

चल रहे हो तुम विहँसते,
प्राप्त तुमको सौख्य सारे।
विश्व की वर दिव्य मणियाँ,
हाथ मे आईं तुम्हारे ।
देश मे आतंक छाया,
है कृपाणों का तुम्हारे ।
द्वार पर तेरे खड़े जन,
याचना का कर पसारे ।

"शान्ति" फिर भी दूर तुमसे, पल रहे अवसाद मे तुम ।
पा न सकते सुख कदाचित-आज भौतिक वाद मे तुम ।

"सत्य क्या है ? "झूठ" क्या है,
है न तृण भर ज्ञान इसका ।
'ईश" की सी शक्ति तुममें,
है तुम्हें अभिमान इसका ।
आज मीठा लग रहा जो,
कल वही विष सा लगेगा ।
ओ ! रसिक मानव सुनो भी,
गात मिट्टी हो चलेगा ।

कर रहे निर्मित सदन हो, रेत की दीवार पर तुम ।
पा न सकते सुख कदाचित, आज भौतिक वाद में तुम ।

रो रही जग में मनुजता,
शान्ति भी सिर धुन रही है।
"धर्म" फिरता है निराश्रित,
द्वेष वीणा बज रही है ।
प्रेम औ सौहार्द सारा,
जिस जगत से खो गया है ।
जिस जगत मे है अंधेरा,
आज रवि भी सो गया है ।

ला सकोगे ज्योति जग में, "भानु" यौगिक वाद में तुम ।
पा न सकते सुख कदाचित, आज भौतिक वाद में तुम ।

स्वस्थ कैसे हों ?

(श्री गोविन्द वल्लभ पंत, शास्त्री, वैद्य)

शारीरिक व मानसिक भेद से व्याधियाँ दो प्रकार से विभक्त हैं। मैं कई बार लिख चुका हूँ शारीरिक व्याधि से मानसिक व्याधि का प्रभाव मनुष्य शरीर पर पड़ता है। कई एक बार प्राय ऐसा देखा गया है। शारीरिक व्याधि की मानसिक व्याधि महान कारण बन गई और असाध्य रोग बन गया, और मृत्युयें हो गईं। चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त प्रत्येक चिकित्सक यह भलीभाँति समझता है कि सर्वप्रथम रोगी का आकर्षण अपनी ओर करना है। तत्पश्चात्, सर्वप्रथम उसकी मानसिक शक्ति का अपनी ओर आकर्षण किया जाय जब वह अपनी ओर पूर्णरूपेण आकर्षित हो जाय तब निश्चय समझ ले कि वह रोगी अब शीघ्र ही रोग मुक्त हो गया है। इसी को सम्मोहन मंत्र कहिये या मनोवैज्ञानिक प्रभाव कहिये या अन्य कोई भी नाम लीजिये वस्तुस्थिति मूलतः एक है। मुझे अपने दुर्भाग्यवश प्राय. गांव के छोटे मोटे औषधालयों में ही कार्य करने का मौका प्राप्त हुआ। मैंने इस बात को अक्षरश. सत्य पाया है कि मकान-शीशियाँ-वैद्य-कम्पाउन्डर का रोगी पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अगर उपर्युक्त सामग्रियाँ सुसज्जित व प्रभाव युक्त हैं, तो साधारण औषधियां भी कार्य कर जाती है। मैं एक रोगी को देखने एक गांव में गया था। प्रायः बड़े-बड़े आदरणीय वैद्य उसकी चिकित्सा कर चुके थे मगर वह रोग मुक्त नहीं हुआ मुझे भी बुलाया गया करीब दो माह से वह खटिया का आश्रय लिये था, देखते पता चला चिकित्सा समुचित रूप से हो रही है मगर रोग मुक्ति नहीं होती है। बातें करने से और उसे हिलाने डुलाने से तथा आधुनिक उपादानों के प्रयोग करने के पश्चात् यह विदित था कि रोगी सुई का भूखा है उसने सुई नाम की संजीवनी का नाम सुना है। मेरा दिमाग उसकी दिमाग की ओर गया मैंने पर्युसित जल का एक इन्जेक्सन उसे लगाया, मैं सच कहता हूँ मुझे स्वयं आश्चर्य है वह उसी दिन से अच्छा होने लगा अब स्वस्थ प्रसन्न है।

कहने का तात्पर्य यह है कि मानसिक व्याधि सब व्याधियों से प्रबल है। हमारे देश में आजकल ६६ प्रतिशत व्यक्ति इस महान् व्याधि के शिकार हैं। जिसे आधुनिक विज्ञान काबू में न तो करपाता है और न कर पायेगा। अगर एक स्वस्थ, हृष्ट, पुष्ट-सुडौल व्यक्ति बिना टिकट गाड़ी मे सफर करे, किसी की जेब काटे कूदकर आत्महत्या करे—दूसरे का खून करे, परस्त्री व परधन का अपहरण करे, भूखा-प्यासा दर दर ठोकर खाकर आत्मपतन करे तो उसे स्वास्थ्य विज्ञान की परिभाषा मे स्वस्थ नहीं कहा जा सकता है। उसे एक महान संक्रामक रोग से ग्रसित समझा जाना चाहिए, और इसकी चिकित्सा का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि दूसरों को इसकी हवा भी न लगने पाये यह रोग उस रोग से भयंकर है जो तीन वर्ष से खाट मे पड़ा पड़ा शिशकियाँ भर रहा है। और अपनी मृत्यु के क्षण गिन रहा है।

आज का विज्ञान अगर बहुत ही आगे बढ़ गया तो वह यही कर सकता है कि शारीरिक व्याधि का पाँच प्रतिशत निवारण कर सके वह मनुष्य का निर्माण करने में असमर्थ है। उसका कार्य ऐसा है जो बाह्याडम्बर से आच्छादित है। बाह्याडम्बर ही आवश्यकता का मूल कारण है। आवश्यकता ही मानसिक व्याधि की जननी है। और मानसिक व्याधि ही दुखद जीवन की कारण है। और राष्ट्र की अभिशाप है।

ससार के अन्दर जो अर्थवाद व बाह्याडम्बर वाद फैला है। इसमें ससार का कोई भी जीव सन्तुष्ट नहीं रह सकता है। जहाँ आवश्यकता है वहाँ दुःख है। जहाँ दुःख है वहाँ अस्वास्थ्य है। अगर स्वास्थ नहीं तो ससार में कोई भी वस्तु सुखमय नहीं।

हमारे उपनिषदों के वाक्य हैं कि—"नाय आत्मा बलहीनेन लभ्य." बलहीन मनुष्य आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है। उसका अधिकार आत्मा पर नहीं है। और न रोगी मनुष्य इस लोक तथा परलोक का सुख ही प्राप्त कर सकता है। प्रचुर धन-सम्पत्ति होने पर भी अस्वस्थ मनुष्य अपने में एकाकी तथा असहायपन का अनुभव करता है।

देश के लिये राष्ट्र की महान सम्पत्ति स्वास्थ का बहुत बड़ा महत्व है। अगर देशवासी स्वस्थ व सबल है तो राष्ट्र की बड़ी भारी रक्षा हो सकती है। और परराष्ट्रों में सरकार का गौरव बढ़ सकता है। अगर देशवासी निर्बल व उदास हैं तो उस राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है। और दैनिक उपद्रवों को तो कोई बचा ही नहीं सकता है। यह तभी हो सकता है खासकर भारत जैसे देश के लिये जब स्वास्थ के आधार भूत सिद्धान्त स्थापित करने के लिये भारतीय चिकित्सा विज्ञान का आश्रय लेकर सस्था कायम की जांय। रोगों को पैदाकर निवारण करने की अपेक्षा अच्छा तो यही होगा कि रोग ही पैदा न हों। हमे मनुष्य निर्माण करने चाहिये न कि नरकंकाल जो देश के लिये अभिशाप सिद्ध हों। सैद्धान्तिक विचारों पर विमर्श करने के लिये सरकार को शरम न खानी चाहिये और यह भी तय न कर लेना चाहिये की जो कुछ भी है वह अमेरिका में है या जर्मन मे और यहाँ तो सब डरपोक ही हैं। गुण ग्रहण करना धर्म है अपनी छोड़कर अधा बनकर दूसरे की ही लेना नपुसकता तथा मूर्खता है। परमुखापेक्षिता है। दुर्गुण हैं।

मेरी तो भारतवासियों से प्रार्थना है। दूसरे बहाव में बहते बहते हम काफी बह चुके हैं अब हमे विश्राम लेकर सोचना चाहिये हम स्वस्थ व सम्पन्न कैसे बनें हमारे दुखों का निवारण कैसे होगा।

यह तभी हो सकता है। जबकि हम मनुष्य निर्माण में लगकर पुन. मनु के इस वाक्य को प्रयोग में लावें कि "यावत् भ्रियेत जठर तावत्त सत्वहि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत् सस्तेनो दण्डमर्हति" हमें अपनी आवश्यकताओं को घटाकर आध्यात्मिक विकास की ओर मुडना होगा तभी हम चरित्रनायक बनकर राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। अन्यथा स्वयं शोषक बनकर दूसरों को शोषक बनाने के सिवाय हमारे पास रह ही क्या गया है।

॥ उन अम्बिके का ही सहारा है ॥

मधु कैटभ नाशिनी जो दुर्गा, जिनने महिषासुर मारा है।
है चण्ड औ मुण्ड को भस्म किया, धूम्रेक्षण को सहारा है॥
असुरों का रक्त पिया जिनने, जेहि शुम्भ निशुम्भ पछारा है।
निज जनपर सदा करुणा करती, उन अम्बिके का ही सहारा है॥

दुःख से भगवत्प्राप्ति

(श्री चन्द्रशेखर जी पाण्डेय "चन्द्रमणि")

समस्त संसार दुःखाग्नि की ज्वाला से झुलसा जा रहा है इसकी प्रचण्ड लपटें त्रिलोक तक व्याप्त हो रही हैं। दुःख ऐसा बहुरुपया है, जो अनेक रुपों से प्राणियों को कष्ट देता रहता है। कभी अग्निमय है। तो कभी सागर बनकर अपनी उत्ताल तरंगों द्वारा प्राणियों को प्लावित करता रहता है। जो कष्ट भोगते हैं, वे तो भोगते ही हैं, प्रत्युत देखनेवालों पर भी उसका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ जाता है। एकबार देवर्षि नारद विविध लोकों में घूमते हुए मानव लोक में आये, यहाँ सभी प्राणियों को नाना प्रकार से कष्ट पाते देखा, जिससे उनका हृदय द्रवित होगया।

> एकदा नारदो योगी परानुग्रहकांक्षया।
> पर्यटन्विविधान्लोकान्मर्त्यलोकमुपागत.॥
> तत्र दृष्ट्वा जनान्सर्वान्नाना क्लेशसमन्वितान्। आदि
> [स्क०पु०रेवा०खंड]

ऊपर के उद्धरण में "सर्वान् जनान्" लिखकर स्पष्ट कर दिया गया है कि सभी प्राणी कष्ट पारहे हैं। कोई सुखी है ही नहीं—

कोई तन दु:खी कोई धन दुखी, कोउ चित्तै चित्त उदास।
थोड़ा-थोड़ा सब दुखी, सुखी राम के दास॥

आश्चर्य तो यह कि सभारी सुख प्राप्ति के जो साधन हैं, वे भी दु.ख देने वाले हैं। उनमें क्षणिक सुख के अनन्तर महान दु.ख का आघात सहना पड़ता है। इसी से भक्त रत्न प्रह्लाद ने कहा है कि—

> यन्मैथुनादि गृहमेधि सुख हि तुच्छं
> कण्डूयनेन करयोरिव दु.ख दुखम।
> तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाज
> कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीर.॥

प्रायः सभी भक्तों का अनुभव है कि संसार सुखदायक नहीं। हमारे कबीरदास जी साफ शब्दों में कह रहे हैं—

तन धरि सुखिया कोई न देखा, जो देखा सो दुखिया रे।
चन्द्र दुखी हैं सूर्य दुखी हैं, भरमत निशिदिन जाया रे,
ब्रह्मा और प्रजापति दुखिया, जिन यह जग सिर जाया रे।
हाटौं दुखिया बाटौं दुखिया, क्या गिरिस्थ वैरागी रे।
शुक्राचार्य जन्म के दुखिया, माया गर्व न त्यागी रे॥
धूत दुखी अवधूत दुखी हैं, रंक दुखी धन रीता रे।
कहैं कबीर वो ही नर सुखिया जो यह मन को जीता रे।

मन को जीत लेना ही सुख-प्राप्ति का आरम्भ है। क्योंकि द्वन्दमय ससार में सुख दु.ख का चक्र चला ही करता है। जब सुख का स्वागत किया तब दु.ख से क्यों "हाय हाय" मचायें हो, वास्तव में—

सुख हरषहिं जड, दुख बिलखाहीं।
दोउ सम धीर धरहिं मनमाहीं॥

श्रीमद्भगवद्गीता का भी यही सिद्धान्त है—

दु.खेष्वनुद्विग्नमन सुखेषुविगतस्पृह.।

वास्तव में सुख-दु.ख मान्यता में ही होते हैं। यदि हमने सोचा और विश्वास किया कि अमुक व्यक्ति मुझे दुःख दे रहा है तो दु.ख हुआ। अमुक व्यक्ति ने अपशब्द कहे, उन शब्दों के अर्थ पर विचार हुआ, विचार से विकार हुआ है और विकार ही बोध के रूप में परिणत होजाता है। यही दु.ख का साकार रूप है। लेकिन वह दु.ख—यदि हमारा मन कहीं अन्यत्र लगा है तो हमें कुछ भी बाधा नहीं पहुँचा सकता। अत यह निश्चय हुआ कि मन लग जाना चाहिये—या लगा देना चाहिये।

मन को कवियों ने मधुकर की उपमा दी है. जो वास्तव में सार्थक है जिस प्रकार मधुकर विभिन्न सुमनों का रस लेता हुआ स्थायी नहीं रहता, उसी प्रकार मन भी अनेक विषयों में रमता हुआ चचल ही रहता है। मधुकर कमल का प्रेमी है, तो मन रूपी मधुकर के लिये कमल-समान ही कोई वस्तु होनी चाहिये तभी रम सकता है। भगवान् के चरणों को कमल की उपमा इसीलिये दी गई है, कि मन-मधुकर रम जाय। यदि चरणों से अलग रहे, तो "नव-कंज-लोचन" का आनन्द ले, कदाचित वहाँ भी चचलता का नाट्य करना चाहे, तो "कंजमुख कर-कंज" में विहार करें तात्पर्य यह कि भगवान के सभी अंग कमलवत् हैं। मन-

मधुकर कमल में रस-लेने लगा और कमल ने अपने प्रेम पाश में जकड़ लिया,तो बस आनन्द ही आनन्द है। दुःख पास भी नहीं फटक सकता है। जिसका मन राम में रमा,है,उसे दुःख कहाँ ?

कह हनुमान विपति प्रभु सोई
जब तव सुमिरन भजन न होई ॥

रामानुरागी श्री लक्ष्मणलाल का मन प्रभु में लगा था। वे शक्ति लगने से मूर्छित हुए सेना में हाहाकार मचा था भगवान राम का विलाप सुनकर वानर-निकर विकल हो रहे थे,इसी समय श्री हनुमतलाल सजीवनी लेकर आगये सुखेण वैद्य ने नाड़ी देखकर सजीवनी का प्रयोग किया, श्री लक्ष्मण लाल उठ बैठे। प्रमुख वानरों ने पूछा "आपको अब पीड़ा तो नहीं है ?" उन्होंने उत्तर दिया— 'हृदय घाव मेरे पीर रघुवीरै "गोस्वामी जी ने क्या सुन्दर लिखा है—

हृदय घाउ मेरे पीर रघुवीरै।
पाइ सजीवन जागि कहत यों,
प्रेम पुलकि विसराइ शरीरै।
मोहि कहा बूझत पुनि-पुनि,
जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै ॥
शोभा सुख छति लाहु भूप कहँ,
केवल कांति मोल हीरै।
तुलसी सुनि सौमित्रि वचन,
सब धरि न सकत धीरै धीरै ॥
उपमा राम लखन की प्रीति की,
क्यों दीज सीरै नीरै ॥

उपर्युक्त पद से स्पष्ट है कि श्री लक्ष्मण ने शक्ति-जनित पीड़ा को किंचित भी नहीं जानी है। बहुतों ने बहुत जाना, किन्तु लक्ष्मण ने कुछ भी न जाना। एक कवि की सुन्दर उक्ति है —

नाडी जानी वैद्य ने, गति जानी कपि वीर।
घाव लग्यो सौमित्र के, रघुवर जानी पीर ॥

भक्त की पीड़ा को भगवान् सहन करते हैं, बशर्तें कि भक्त उनका स्मरण करता रहे। और स्मरण अधिकतर दुःख में ही होता है। सिद्धों की बात जाने दीजिये, यहाँ तो साधकीय दृष्टिकोण है। सुख में ससारी बातों पर लक्ष्य रहता है। नेत्रों के विषय, श्रवणों के विषय, जिह्वा के विषय प्राणी को इधर-उधर आकर्षित किये रहते हैं। जीवरूपी गृहपति को शत्रुरूपी इन्द्रियाँ सर्वनाश की ओर खींचती रहती हैं। अतृप्त जिह्वा एक ओर, शिश्नेंद्रिय दूसरी ओर त्वचा और उदर तीसरी ओर श्रवण चौथी ओर, घ्राणेंद्रिय अन्यत्र एवं चंचल नेत्र अलग ही अपने अपने कर्मों के लिये सभी को आकर्षित करते हैं। आर्त-भक्त श्री प्रह्लाद न नृसिंह जी से कहा है:—

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता,
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति,
र्बह्व्य. सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥

आश्चर्य तो यह है कि प्राणी इस दुर्दशा को सुख मानता है यदि वह इस खींचतान को दु.ख मान ले, तब तो अनायास ही भजन होने लगे। फिर दु.ख से बचा कौन है ? जो संसार में आया वह दु.ख सहन करने के लिये आया। सोना अगर कसौटी में खरा उतरा, तभी वह सोना नहीं तो पीतल। इसीलिये कहा है—

मुसीबत एक कसौटी है नरों की,
इसी पर जॉच खोटों और खरों की।

जिस प्रकार हम सुख को ईश्वर प्रसाद मानते हैं, इसी प्रकार यदि दुख को भी ईश्वर प्रसाद मान लें, तो कितना अच्छा है। आई हुई विपत्ति को सरलता से ही झेल लें, तभी हम धीर हैं। और "धीरस्तत्र न मुह्यति" का सिद्धान्त चरितार्थ होजाय। कबीर साहब ने क्या ही अच्छा कहा है—

देह धरे का दड है. सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान से, मूरख भुगतै रोय ॥

इस प्रकार का सुख भी बेकार है. जो नाम स्मरण में बाधा पहुँचावे, भक्त तो उस दु.ख का हाथ फैलाकर स्वागत करता है, जिसमें प्रतिपल नाम स्मरण होता रहे, कबीर साहब ने कहा कि भगवद्विमुख सुख पर पत्थर पड़ें।

सुख के माथे सिल परै, जो नाम हृदय ते जाय।
बलिहारी वा दु:ख की, जो पल-पल नाम रटाय ॥

प्रह्लाद द्रोपदी आदि आर्त भक्तों ने जब भी करुणा-पूर्ण आवाज से भगवान् के दर्शन भी हुए हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि दुःख से ही भगवत्प्राप्ति होती है।

प्रिय वस्तु के वियोग जन्य विरह से हृदय में विशेष प्रकार की बेचैनी होती है, वही उस वस्तु की ओर अग्रसर करती है। यहाँ तक की कण-कण में उसके प्रेम पात्र के दर्शन होते हैं। एक बार किसी ने एक विरहिनी व्रजांगना से पूछा कि "क्या तुम जिनके लिये व्याकुल हो, उनकी प्राप्ति चाहती हो ?" तब तो उस गोपिका ने आश्चर्यमय उत्तर दिया कि 'नहीं' पृच्छक ने कहा—'क्यों'? वियोगिनी ने कहा—

संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तत्र।
एक स एव सगे त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥

अर्थात् प्रिय मिलन और प्रिय-वियोग की तुलना करने पर मुझे तो विरह ही अच्छा लगता है, न कि सहवास। क्यों कि मिलन में एक ही, और विरह में हर तरफ मेरे श्याम के दर्शन होते हैं।

श्री हरिभक्त पाण्डव समय समय पर दुर्योधन के द्वारा दुखित किये गये और पुकारने पर प्रभु ने उनकी रक्षा की, द्रौपदी की साड़ी बढ़ाकर तो भरी सभा में और भी चमत्कार उत्पन्न किया। एक बार श्रीकृष्ण के मिलने पर पाण्डवों ने उन्हें उलाहना दिया कि आप जैसे रक्षक के होते हुये भी हम लोगों को इसप्रकार विपत्तियाँ झेलनी पड़ रही हैं, यह कहाँ तक उचित है। भगवान कृष्ण उन भक्तों के प्रेम पूर्ण उलाहने को कुछ समय तो सुनते रहे, जब देखा कि उलाहनों का अन्त नहीं हो रहा, तो एकायक से भावावेश में आकर बोले—

"युधिष्ठिर! अब तक जो बीती सो बीती, अब बोलो। भविष्य के लिये क्या चाहते हो? मैं पलमात्र में तुम्हारी कठिनाइयों का अन्त करके सब प्रकार से सुखी करूँगा। और भी कठिन से कठिन वस्तु एवं लोकों की सम्पदायें अथवा जो कुछ भी तुम माँगोगे, मैं देने को तैयार हूँ। बोलो क्या चाहते हो?"

इसबात पर पाण्डवों ने कहा कि "हम लोग आपस में विचार करके, तभी माँग सकते हैं। तत्पश्चात पाँच-पाण्डव, द्रौपदी एव माता कुन्ती का आपस में परामर्श हुआ। फिर भगवान श्रीकृष्ण के पास आकर बोले—"भगवन्! हम लोग एकमत होकर अपना इच्छित वर आपसे माँग रहे हैं। और वह वर यही है कि हम लोगों को निरन्तर विपत्तियाँ मिला करें। इससे लाभ यह होगा कि विपत्ति ग्रस्त होकर हम आपका स्मरण करेंगे, तो आप अपने दिव्य-दर्शन देने का अनुग्रह करेंगे।"

विपद् सन्तु न शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भव दर्शनम्॥
—भागवत

सुनते ही भगवान श्रीकृष्ण के नेत्रों से प्रेमाश्रु गिरने लगे और उन्होंने क्रम-क्रम से सभी पाण्डवों को छाती से लगाया और कहा—"आप लोगों ने मेरी प्राप्ति का रहस्य जान लिया, और उसे कार्य-रूप में परिणत किया, अतः मैं आप लोगों से कभी भिन्न न रहूँगा।" ठीक ही है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

भगवत-शरणागति

(श्री पं० मोहनस्वामी जी वैद्य भिषगाचार्य धन्वन्तरि)

दुःख और सुख सदा से ही मनुष्य के आगे पीछे चलते आये हैं, दुःख का कारण बुरा कार्य तथा सुख का कारण भला कर्म है, यह भले बुरे का साथ सदा से ही चला आ रहा है, मनुष्य जानता है कि बुरे कर्म करने से उसे अवश्य ही दुःख भोगना पड़ेगा उसका फल भुगतना होगा परन्तु फिर भी वह अपनी प्रकृतिवश बुरे कर्म में प्रवृत्त हो ही जाता है, बहुत बार तो इच्छा न होने पर भी मनुष्य मानों जबरदस्ती पाप की ओर (बुरे कर्म की ओर) स्वतः ही खिंच जाता है।

गीता मे अर्जुन के शब्दों मे:—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अनिच्छा से ही मनुष्य बुरे कर्म में लग जाता है—इसका कारण भगवान ने काम और क्रोध जो मनुष्य के परम शत्रु है उन्हें बतलाया है।

निश्चय ही ये शत्रु हमारा सदा अनिष्ट करने को तैयार रहते हैं परन्तु इससे बचने का भी कोई सुखद, सरल साधन, भगवान ने गीता मे नहीं बतलाया है क्या ? काम और क्रोध कितने भयकर है कितने पेट्ट हैं कितने महापाप्मा हैं विद्वानों के बैरी हैं। यह सब भगवान ने बतलाया तो इनको विजय करने का भी साधन परम प्रभु ने इसी गीता के अमृत भडार में दिया है।

वह साधन ऐसा है जिससे पापी फौरन धर्मात्मा बन सकता है, सब पापों से छूट सकता है और कृतार्थ हो सकता है।

साधन अत्यन्त सरल है, ऐसा सरल जो मनुष्य सच्चा विचार मात्र ही करे तो ही उसे पा सकता है। गीता नवे अध्याय मे ३० से ३४ श्लोकों मे भगवान ने यह परम साधन बतलाया है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिनिगच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनय. ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परांगतिम्
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मान मत्परायणः ॥

ये साधन हैं, भगवान में मन लगाओ, भगवान के भक्त बनो उन्हीं का भजन करो और उन्हें ही नमस्कार करो। ये चार साधन भगवान ने अपनी कृपा प्राप्ति के बतलाये हैं।

१ मनमनाभव—मेरे मे मन को लगाओ, यदि यह साधना सरल नहीं है, तो भगवान कहते हैं।

२ मद्भक्तः—मेरी भक्ति करो, भक्ति भी बहुत मुश्किल है। दुनियाँ के प्रपंचों से बचकर भक्ति करना कोई सरल काम नहीं है, तो फिर भगवान आगे कहते हैं।

३ मद्याजीः—मेरा भजन करो भगवान का भजन करना भी कोई खेल नहीं, फिर चौथी साधना भगवान बतलाते हैं।

४ माम नमस्कुरुः—मुझे नमस्कार कर। दयालु प्रभु ने कितना सरल उपाय मानव को कृतार्थ करने के हेतु बतलाया और उसका फल क्या होगा ? भगवान में निवास करना और उनका प्यारा बनना, सच्चिदानन्द मे निवास करोगे तो दु.ख और कष्ट कहाँ। सच्चिदानन्द मे निवास तो सत्-चित् और आनन्द देने वाला है। जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अंधकार स्वत ही हट जाता है। अत. सच्चिदानन्द के प्रकाश के समीप दु ख, कष्ट और पाप पास भी नहीं फटकते उनमें निवास तो सदा शान्ति और आनन्द देता है।

दु.ख और कष्टों के निवारण का साधन भगवान ने खुले शब्दों मे अपना भजन बतलाया है।

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

भगवान को भजने वाले चार प्रकार के मनुष्यों मे पहला और तीसरा आर्त्त और अर्थार्थी दोनों दुखिया ही हैं। आर्त्त में तो सभी प्रकार के दु'ख आ गये। परन्तु भगवान ने अर्थार्थी अलग लिखकर दुनियादारों के लिये और भी रास्ता खोल दिया कि किसी प्रकार की निवृत्ति का मूल साधन भगवत्भक्ति और भगवत शरणागति ही है।

सब दु'खों से, जगत के जंजालों के कर्मों से मुक्ति का एक मात्र साधन भगवान ने जो बतलाया है उसपर चलकर मनुष्य सब दुःख और कष्टों से शान्ति पाता है। वह है:—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

यह घोषणा दुःख त्रास से पीड़ित मानवों के लिये भगवान की अमृत रूपी कृपा है जिसका कण-मात्र भी अमल करने से मानव कृतार्थ हो जाता है।

भगवान कहते हैं धर्म कर्म तुम नहीं जानते तो सब धर्मों को छोड़ो बस एक मेरी शरण आजाओ और इससे मैं तुम्हें तमाम पापों से मुक्तकरदूँगा सोच मत करो। कितनी बड़ी प्रतिज्ञा इस पर भगवान ने कृपा करने के लिये की है।

भूला मानव यदि भगवान की शरणागति की ओर जरा भी जावे, तो उसे उसी क्षण अनुभव होगा कि असहाय और निर्बल को परम बलवान प्रभु की सहायता और, रक्षा फौरन प्राप्त हो गई। जिस स्थिति में भी मनुष्य हो उसी स्थिति में भगवान का स्मरण उसे करना चाहिये। इससे वह दुखों से बचकर सुख और शान्ति के मार्ग पर स्वतः आजायेगा। ॐ शान्ति! ॐ शान्ति!! ॐ शान्ति!!!

भगवत् कृपा एवं पुरुषार्थ

(गाथा)

एक सन्त भक्तों के बीच में बैठे हुये भगवत्कृपा के सम्बन्ध में सत्सङ्ग करा रहे थे तब तक एक घबड़ाया हुआ व्यक्ति आया और सन्तों के चरणों में दण्डवत् प्रणाम करने लगा। उसका चेहरा मुरझाया हुआ था, आँखें फटी फटी सी किसी का आश्रय खोज रहीं थी। मालूम होता था कि यह बहुत भूखा प्यासा है। बाबाजी ने सान्त्वना और आश्वासन देते हुये कहा— बेटा! क्या बात है तू इतना उदास क्यों है ठीक से सम्भल के बैठ जा।'

बाबा से आश्वासन पाकर वह कहने लगा— 'मैं एक अत्यन्त पापी जीव हूँ। मैंने जान बूझकर बहुतों को दुःख दिया है, चोरी की है, हिंसा की है, व्यभिचार किया है झूठ बोलकर लोगों को धोखा दिया है ऐसा कौनसा पाप जो हमने न किया हो?. अब मेरा हृदय जल रहा है। ग्लानि से मैं मरा जा रहा हूँ, जीवन असह्य हो गया है। रक्षा करो, बाबा! मेरी रक्षा करो।' बाबा ने कहा—तुम इतना घबड़ाते क्यों हो? अब तो पाप हो गये हैं न? तुम्हारे घबड़ाने से तो उनका होना न होना नहीं हो सकता? तनिक शान्त चित्त से विचार तो करो। अब वो हो गये उनके लिये पश्चात्ताप कर ही रहे हो, प्रायश्चित करो दण्ड भोगो नरक में जाओ जिस वीरता से पाप किये, उसी से उनका फल भोगो, नरक में जाओ। घबड़ाने की क्या बात है?" उस नवागन्तुक मनुष्य ने कहा—महाराज मेरे चित्त में न शान्ति है न स्थिरता। सिवा मृत्यु के अब मेरे लिये उपाय नहीं है। मेरी वीरता न जाने कहाँ चली गया, अब मैं धधकती हुई आग में जल रहा हूँ। बाबा—तुम घबड़ाओ मत। भगवान की कृपा पर विश्वास करो, उनका नाम लो। उनके प्रति आत्म समर्पण करदो। उनके होते ही तुम्हारे पाप ताप शान्त हो जायेंगे। विश्वास करो—भगवान की अहैतुकी कृपा पर। वह अब भी तुम पर है और वैसी ही है, जैसी हम पर और किसी पर भी।" नवागन्तुक—प्रभो, मैं जल रहा हूँ। न मुझको प्रायश्चित करने की शक्ति है और न विश्वास करने की, मेरी जीभ से नामोच्चारण भी नहीं होता। मैं आत्महीन हूँ, आत्म समर्पण कैसे करूँ? जब तक मेरे पाप हैं तब तक मैं कुछ भी करने में असमर्थ हूँ।

एक क्षण मौन रहकर बाबा ने कहा—अच्छा तुम एक काम करो। हाथ में गङ्गाजल कुश और अक्षत लेकर अपने सारे पाप मुझे समर्पित करदो। मैं सहर्ष उन्हें स्वीकार करता हूँ। मैं तुम्हारे सब

पापों का फल भोग लूँगा। तुम निष्पाप होकर भगवान की शरण में जाओ। उनकी कृपा पर विश्वास करो।' आश्चर्य चकित होकर कुछ आश्वस्त सा वह बोला—बाबा, क्या ऐसा भी सम्भव है? मुझ पापी पर भी कोई ऐसे कृपालु हो सकते हैं जो मेरे पापों का फल भोगने के लिये उन्हें स्वीकार करलें। बाबा—इसमें क्या सन्देह? तुम्हें भगवान की दयालुता पर सन्देह है क्या? वे हम सबकी माँ हैं। माँ जब अपने बच्चे को गन्दी नाली में गिरा हुआ देखती तब उसके स्नान करके आने की प्रतीक्षा नहीं करती। वह तो दौड़कर बिना विचार किये ही पहले उसे गोद में उठा लेती है, फिर धोती पोंछती है। गौ का बच्चा जब नाल में जकड़ा हुआ पैदा होता है, तब माँ उसकी नाल को, उसके बन्धन को अपनी जीभ से चाट जाती है, उसके दोषों को अपना भोग बना लेती है। इसी को वत्सला गौ का वात्सल्य कहते हैं। भगवान का वात्सल्य तो इससे भी अनन्त गुना है। वे पापी को और पापों को भी स्वीकार कर सकते हैं, करते हैं। तुम विश्वास करो—उन्होंने तुम्हें पहले ही स्वीकार कर लिया है। तुम उनके नन्हें शिशु हो उनकी गोद में हो, वे तुम्हारा सिर सूघ रहे हैं। वे तुम्हें पुचकार रहे हैं। अनुभव करो और आनन्द में मुग्ध हो जाओ।

उस समय सभी भक्त और उस आगन्तुक की आँखों से आँसू बह रहे थे। सबके शरीर पुलकित थे, सबके हृदय गद्‌गद हो रहे थे। बाबा पुन. बोले—अब भी तुम्हें शङ्का हो कि मुझ पापी को भगवान स्वीकार नहीं करेंगे तो लाओ संकल्प करदो—मैं तुम्हारे पाप स्वीकार करता हूँ, नवागन्तुक ने कहा—मेरा विश्वास हो गया बाबा, भगवान मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे। उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया मेरा दृढ़ विश्वास है अब मैं कभी उनके चरणों से दूर नहीं होऊँगा।

बाबा ने—भक्तों से कहा—यही पुरुपार्थ का उपयोग है, जोकि भगवान की बड़ी कृपा से होता है। यदि ये मुझे अपने पापों का दान देते, तो भी उन्हें विश्वास करना ही पड़ता कि बाबा ने मेरे पापों का स्वीकार कर लिया। यदि इसके अन्त:-करण मे ऐसी श्रद्धा है, विश्वास है, शक्ति है, तो फिर विलम्ब क्या है भगवान ने तो स्वीकार कर ही रक्खा है, केवल विश्वास का विलम्ब है, यह विश्वास ही जीव का पुरुपार्थ है। इसप्रकार पुरुपार्थ कृपा के अनुभूति का साधन है, तो कृपा पुरुपार्थ की अभिव्यक्ति का हेतु है, दोनों एक ही है, दोनों एक ही है।

आत्म निवेदन

(श्री निरञ्जनलाल भगानिया, बी कॉम, बी एल, एडवोकेट)

फिर तुमसे क्या कहना प्यारे,
जब तुम उर के भाव स्वय ही
मेरे मुख से कहलाते हो।

फिर तुमसे क्या मागूं प्यारे,
तुम मेरी नन्हीं पुकार पर,
बाल—हठी मेरे मन को जब,
विजय विभव दे बहलाते हो।

फिर तुमसे क्या दु:ख-निवेदन,
कह "आँसू, मुसकान एक हैं",
पीठ मेरी जब सहलाते हो।

तुम दिये चलो पावन प्रकाश
उर में, अँधियारी रजनी में,
झंझा में, गहरी आंधी में
भी चलकर तुमको पाऊं।

अश्रु-कणों को धीरज के
अँचल में ऐसा बॉधूं,
श्रम-सिकतातट-सुखसागर में
बने मधुर मुसकान।

तुम ही मेरे सम्बल-स्वरूप,
हो उर-अधिवासी आत्म-रूप,
तुम शुद्ध बुद्ध मगल स्वरूप,
हे चिर-जाग्रत भगवान्।

अष्टांगयोग के सिद्धि द्वार यम और नियम

(श्री देवनारायण जी मिश्र, वेदान्त शास्त्री)

मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि वेद वर्णित केवल तीन बातों के ही अन्तर्गत हो जाती है, जिन्हें हम योग के नाम से भी जानते हैं। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्ति (उपासना) योग।

यूँ तो योगों की संख्या अपार है। प्रेम-योग, राज-योग, लययोग, औषधियोग, आदि अनेक योग सुनने और देखने में आते हैं किन्तु वास्तविकता की दृष्टि से सभी योग इन्हीं तीन के अन्तर्गत किसी न किसी रूप में सन्निहित हैं।

योग शब्द का मूल अर्थ—

"युज्यते असौ इति योग."—जो युक्त करे अर्थात् किसी वस्तु को किसी दूसरे पदार्थ से मिला देने का नाम योग है। किन्तु यह युक्त करना या मिलना किन्हीं भौतिक पदार्थों से सम्बन्ध नहीं रखता वरन् जीव का ब्रह्म से मिल जाना ही योग का चरम लक्ष्य है।

योग दर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास योग का लक्षण—"योगस्समाधि" कहकर स्पष्ट करते हैं। किन्तु इसके साथ—"समाधि" क्या पदार्थ है ? इसे भी जान लेना आवश्यक हो जाता है। शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार समाधि का अर्थ—'समाधीयते चित्त अस्मिन् इति समाधि." अर्थात् जिसमें चित्त का समाधान किया जावे वह समाधि है। इस व्युत्पत्ति से समाधि आत्मा का नाम है। इस अर्थ से भी जीवत्व का ब्रह्मत्व में परिणित हो जाना ही योग का प्रयोजन निकलता है।

यह तो रहा योग-सिद्धि का परिणाम। अब हमें यह जानना है कि योग-सिद्धि का मार्ग क्या है। महर्षि पतञ्जलि के—'यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽष्टावङ्गानि" इस सूत्र के अनुसार योगों के आठ अंग बताये गये हैं, इस अष्टांग योग-सिद्धि का अन्तिम ध्येय ज्ञानयोग की प्राप्ति है।

इस अष्टांग योग के प्रारम्भिक चार योग—यम-नियम-आसन और प्राणायाम, हठयोग के अन्तर्गत आ जाते हैं और अन्तिम चार योग—प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि का राजयोग में अन्तर्भाव हो जाता है।

इन योगों की सिद्धि के लिये प्रारम्भ में हमें हठयोग से काम लेना पड़ेगा। हठयोग किसी एक पदार्थ का नाम नहीं है वरन् हठयोग वही है कि जिसकी सिद्धि के लिये कुछ हठ किया जावे अर्थात् शारीरिक कष्ट सहा जावे। इस अष्टांग योग की सिद्धि के लिये सर्व प्रथम यम और नियम सिद्धि हो जाने आवश्यक हैं।

प्रायः लोग योग का प्रारम्भ प्राणायाम से ही मान लेते हैं और नाक दबाना प्रारम्भ कर प्राणायाम के अभ्यासी बनने का प्रयत्न करते हैं। यह उनकी महान भूल है। इसी भूल के कारण चिरकाल तक उनके विधि रहित किये गये प्राणायाम में कोई सफलता प्रतीत नहीं होती। और इस भूल को बिना छोड़े यदि हम प्राणायाम सिद्धि के लिये निरन्तर प्रयत्न करते हैं तो उससे हमारी आध्यात्मिक उन्नति, जिसे कि हम चाहते हैं—नहीं हो सकती। अतः हमें योग-सिद्धि के लिये प्रारम्भिक अवस्था में यम और नियम का आश्रय लेना चाहिये।

योगदर्शन में यम तथा नियम का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा॰।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचों का नाम यम है।

और—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

अर्थात् शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम कहलाते हैं।

बिना इन यम-नियमों की सिद्धि किये मनुष्य को आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति पाना बड़ा ही कठिन है।

यम का प्रथम रूप अहिंसा है। हिंसा का साधारण अर्थ मारना होता है। किन्तु मारना केवल शरीर से नहीं, वरन् मन और वाणी से भी होता है। शरीर की मार उतनी घातक नहीं होती जितनी कि वाणी और मन की मार घातक होती है। इसमें प्रायः सभी लोग जानते हैं कि

तलवार का घाव तो पूरा जा सकता है किन्तु वाणी का घाव कभी पूरा नहीं जा सकता और वह तो तलवार के घाव से कहीं अधिक कष्टदायी होता है।

मन के द्वारा भी हिंसा होती है। किसी भी भावना की प्रथम टकार मन पर ही पड़ती है। मन उसे वाणी के द्वारा प्रकट करता है और पश्चात् वही भावना शरीर के द्वारा क्रियान्वित होती है। अत: अहिंसा का सच्चा स्वरूप केवल शरीर से कष्ट देना ही नहीं है वरन शरीर वाणी तथा मन तीनों से किसी को किसी प्रकार का कष्ट न देना ही अहिंसा का स्वरूप है।

इस अहिंसा-सिद्धि का परिणाम बतलाते हुये महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्याग।

अर्थात अहिंसा रूपी व्रत की पूर्ण सिद्धि हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष के समीप दूसरे प्राणी भी अपना वैर अर्थात् हिंसावृत्ति का त्याग कर देते हैं।

यम का द्वितीय व्रत है सत्य। सत्य की महत्ता "सत्यमेव विजयते नाऽनृतम्" से बढ़कर और क्या हो सकती है। बहुत से लोग समझते हैं कि सत्य का सम्बन्ध केवल वाणी से है। किन्तु ऐसी बात नहीं है—सत्य का सम्बन्ध उस महान् परमात्मा से है जो कि आत्मरूप से प्राणिमात्र के हृदय में निवास करता है। किसी बात को यदि कोई व्यक्ति वाणी से कह देता है किन्तु उसका मन तथा हृदय उस भावना से अनुरूप नहीं है तो वह बात सत्य से बहुत दूर है। तर्क के आधार पर सत्य की परिभाषा यही है कि "जो प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण से जिस प्रकार निश्चय की गई हो उसे उसी प्रकार से व्यक्त कर देना ही सत्य है।

संक्षेप में सत्य की परिभाषा का सुन्दर रूप यदि हम समझना चाहें तो वह यह हो सकता है कि

"जो बात अनुभव से सिद्ध है उसे इसी प्रकार व्यक्त कर देना सत्य है"। इसी सत्य के प्रकाश के समक्ष सम्पूर्ण प्रकाश फीके पड़ जाते हैं। इसी सत्य के बलपर महाराज युधिष्ठिर का रथ पृथ्वी से ऊपर उठकर चलता था।

सत्य के फल का विचार करते हुये महर्षि पतञ्जलि पुनः कहते हैं कि:—"सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्" अर्थात् सत्यवादी की वाणी सत्य रूप होकर ही निकलती है। उसके मुख से निकले हुये वाक्य कभी अन्यथा नहीं हो सकते।

अब आता है अस्तेय का रूप।

अस्तेय का मोटा स्वरूप यह समझलेना चाहिये कि किसी की वस्तु का अनुचित रूप से ग्रहण व उपयोग न करना। किन्तु अस्तेय का यह रूप केवल सामाजिक प्राणियों तक ही सीमित नहीं है, यह देवताओं से भी सम्बन्ध रखता है—भगवान स्वयं गीता में अस्तेय की सूक्ष्मता का वर्णन करते हुये कहते हैं—

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।

अर्थात् देवताओं द्वारा प्राप्त अन्नादि धनधान्य का ग्रहण व उपभोग जो व्यक्ति उन्हें न देकर (बलि वैश्व यज्ञादि न करके) कर ही कर लेता है वह चोर है अतः योग की सिद्धि में अस्तेयता का भी अपना विशेष स्थान है।

इसके पश्चात् ब्रह्मचर्य का स्थान आता है वास्तव में ब्रह्मचर्य योग रूपी मकान को सुदृढ़ बनाने के लिये नींव के समान है। बिना नींव के बना हुआ मकान उतना ही निर्बल होता है जितनी कि बालू की बनी हुई मोटी से मोटी दिवाल। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य के बिना योग में सिद्धि पाना असम्भव ही है। कारण योग में आसन सिद्धि का प्रथम स्थान है और ब्रह्मचर्य व्रत से हीन व्यक्ति आसन में सिद्धता कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। यूँ तो ब्रह्मचर्य आध्यात्मिक शक्तियों का आकर ही है भौतिक दृष्टि से भी उसका स्वास्थ्य से घनिष्ट सम्बन्ध है। और स्वास्थ्य रहित पुरुष किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। कहा भी है कि:—

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्य मूल कारणम्।

ब्रह्मचर्य ही महान बल है। यदि बल नहीं है तो योगारूढ़ अपने लक्ष्य—आत्मप्राप्ति तक कदापि नहीं पहुँच सकता। श्रुति सुना सुनाकर कहती है कि—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य."

अर्थात् आत्म प्राप्ति निर्बल को कदापि नहीं हो सकती।

ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने के लिये हमें भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों का आश्रय लेना पड़ेगा। भौतिक दृष्टि से 'वीर्य की रक्षा करना ही ब्रह्मचर्य है'। और आध्यात्मिक दृष्टि से —"ब्रह्म वेदा. तदर्थं व्रतमपि ब्रह्म, तस्य चरण ब्रह्मचर्यम्" अर्थात् ब्रह्म ज्ञान की (आत्मज्ञान) प्राप्ति के लिये किया हुआ आचरण ब्रह्मचर्य है।

अब अपरिग्रह का स्वरूप भी समझ लेना आवश्यक है। अपरिग्रह का भावार्थ भौतिक पदार्थों का संग्रह न करना। भौतिक पदार्थों का सग्रह न करने का आशय पंच ज्ञानेन्द्रियों के विषय भोगों की आवश्यकता से अतिरिक्त त्याग कर देने का है अपरिग्रह व्रत का परम लाभ यह है कि इसके पूर्ण होने पर वैराग्य व उपरति की उत्पत्ति होती है जिससे मन का सयम होता है।

ये हैं पाँच यम। जिसका पूर्णरूप मे पालन करने के पश्चात् नियम रूपी भवन में प्रवेश करना चाहिये।

नियम के अग हैं—शौच-सन्तोष तप स्वाध्याय-ईश्वर प्रणिधान—जोकि पूर्व में कहे जा चुके हैं।

नियमों के पालन से शरीर, वाणी, तथा मन तीनों का समान रूप से सयमन होता है। नियम का प्रथम भेद है शौच। शौच का आशय है—वाह्य और आभ्यान्तरिक पवित्रता।

वाह्य पवित्रता शरीर के समस्त अगों की शुद्धता की ओर सकेत करती है जिससे शरीर स्वस्थ व निरोग रहे।

आभ्यन्तरिक पवित्रता का सकेत (मन बुद्धि चित्त और अहकार रूप) अन्त करण की शुद्धि की ओर है।

द्वितीय भेद सन्तोष है।

सन्तोष का पालन करने के लिये हमें निम्नलिखित परिभाषा की स्मृति रखना परमावश्यक है। अर्थात्

"अपने कर्त्तव्यकर्म के पालन व प्रारब्धानुसार जो भी वस्त्रादि भोग प्राप्त हों उसी में तृप्त रहना सन्तोष है। इससे मन की चंचलता का नाश होता है।"

तप के सम्बन्ध में विभिन्न लोगों के विभिन्न विचार हैं। कोई पचाग्नि तापने को तप कहता है तो कोई शरीर को जड़वत् बनाकर एक निश्चित स्थान पर रहना ही तप मानता है। कोई निरन्तर प्राणायाम में निरत रहने को तप समझता है तो कोई घने जगल में जाकर अहर्निश मन्त्र जाप को ही सबसे बड़ी तपस्या समझता है। कोई उल्टे लटक कर अनुष्ठान करने को तप कहता है तो कोई अनेक प्रकार के विचित्र विचित्र आसनो द्वारा शरीर को तोड़ मोड़ कर दिखा देने को बड़ी तपस्या मानता है। बहुत से लोग तो उसी व्यक्ति को देखकर तुरन्त ही बड़ा तपस्वी कहने लगते हैं जिसके सिर पर बड़े लम्बे-लम्बे बाल हों, जटायें पड़ गई हों, शरीर बुरा हो गया हो, आँखें बैठ गई हो, भूत की तरह शरीर में सारी हड्डियाँ हड्डियाँ दिखलाई देती हों तथा लोगों के सामने गर्मियों मे आग के पास बैठता हो और जाड़ों मे नगा घूमता हो। वास्तव में इनमें से कोई भी सच्चा तप नहीं हैं। ये सब किसी न किसी अनुष्ठान के अग तो कहे जा सकते हैं किन्तु इन्हें तप कहना, तप के साथ अन्याय करना है।

तप वह महान् अनुष्ठान है जिससे आध्यात्मिक शक्तियों का विकाश तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति होती हो। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में तप के तीन रूप बताये हैं। १ शारीरिक २ वाचिक ३ मानसिक। इनका विस्तृत विवेचन गीता में देखा जा सकता है।

शारीरिक तप की पूर्णता से समस्त भूमण्डल वशीभूत किया जा सकता है। वाचिक तप की सिद्धि से समस्त सूक्ष्म जगत् का ज्ञान हो सकता है और मानसिक तप की सिद्धता से समस्त ब्रह्माण्डों का ज्ञान सरलता से किया जा सकता है। इन बातों को लिख देना तथा पढ़ लेना कठिन नहीं किन्तु इन्हे समझना और विश्वास करके उसके लिये अभ्यास करना बड़ी टेढ़ी खीर है। किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि तप कोई महान् भयकर राक्षस या पशु है। क्रियाशील तथा प्रयत्नशील व्यक्ति के लिये तपस्वी जीवन बनाना कोई कठिन बात नहीं है। आखिर तप की रचना मनुष्य के लिये ही की गई है, जानवरों के लिये नहीं। तप के पश्चात् अब हम स्वाध्याय पर दृष्टि डालते हैं।

स्वाध्याय से विचारों की एकाग्रता तथा दृढ़ता होती है। स्वाध्याय का अर्थ ही सुन्दर ग्रन्थों का पढ़ना है। स्वाध्याय का अर्थ जो लोग उपन्यासादिकों के पढ़ने में लगाते हैं वह अर्थ निरर्थक और वास्तविकता से रहित है। योगी का योग ज्ञान सहित होना चाहिए और ज्ञान प्राप्ति में स्वाध्याय का प्रमुख स्थान है। निरन्तर स्वाध्याय तथा मनन से मनुष्य की वृत्तियाँ विषय भोगों से न जाकर अपने ध्येय-मूर्ति से सम्बन्धित विचारों में ही निमग्न रहेगी। स्वाध्याय के लिये वे ही ग्रन्थ प्रयोग में लाने चाहिये जिनसे कि हमारे विचार पवित्र और सुदृढ़ हों तथा जो अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर कराने वाले हों। नियम का सबसे अन्तिम अंग है ईश्वर-प्रणिधान।

ईश्वर-प्रणिधान का भावार्थ ईश्वर भक्ति से है। और उस भक्ति का स्वरूप केवल भगवान् का नाम ले लेना या गुणगान कर देना, अथवा कहीं श्रीमद्भागवत या वाल्मीकि रामायण की कथा का श्रवण करके सिर हिला देना और वाहवाह कर देना ही नहीं है। बल्कि ईश्वर की सच्ची भक्ति के लिये हमें गीता में भगवान् का कहा हुआ यह उपदेश सदा स्मरण रखना चाहिए कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

भावार्थ यह है कि हमारी छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी, अच्छी या बुरी, कैसी भी क्रिया क्यों न हो, वह सब भगवान् के लिये होनी चाहिए अर्थात् शरीर वाणी तथा मन से जो कुछ भी क्रिया करें उसे भगवान् के अर्पण करदें। अर्पण करदेने की पहँचान और परीक्षा यह है कि हम किसी भी कार्य को तत्परता, पुरुषार्थ और ज्ञान पूर्वक करें और उसका कोई फल न चाहते हुए 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' की निश्चल भावना करें। यही है सच्चा ईश्वर प्रणिधान।

ईश्वर प्रणिधान का परम लाभ है योग या समाधि की सिद्धि जैसा कि योगदर्शन में भी आता है—

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। इस प्रकार नियम की समाप्ति होती है। ये यम और नियम दो ऐसे साधन हैं जिनका ग्रहण करने से योग मार्ग सरल और प्रशस्त बन जाता है। बिना इन दोनों साधनों का अनुष्ठान किये अगली सीढ़ी पर पैर रखना भय को मोल लेना है।

यम और नियम के पश्चात् आसन-प्राणायाम, प्रत्याहारादि उत्तरोत्तर श्रेष्ठ साधन हैं, किन्तु इन बातों का अनुष्ठान मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। इसके लिये योगी सद्गुरु की आवश्यकता पड़ेगी। बिना सद्गुरु के योग सिद्धि करना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। जो लोग पुस्तकों में लिखी हुई योग सम्बन्धी विभिन्न बातों को पढ़कर नाक दबाना प्रारम्भ कर देते हैं उन्हें अन्त में हानि का सामना करना पड़ता है।

हमें योग मार्ग में प्रवेश करने से पहले अपनी पृष्ठ भूमि तैयार कर लेनी चाहिए। जैसे बीज बोने के पूर्व खेत की भूमि हल पटेला चलाकर सुन्दर उपजाऊ बना ली जाती है तब बीज डालने पर उसमें अधिक और शीघ्र फल की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार योग मार्ग में प्रविष्ट होने के लिये यमनियम का पूर्ण अनुष्ठान कर पहले हमें अपने अन्तःकरण को पवित्र और सुदृढ़ बनालेना चाहिये।

अन्तःकरण की पवित्रता का लक्षण काम-क्रोध-लोभ-मोह-शोक-मद इन षट् विकारों का दूर हो जाना है। जब तक कोई भी विकार हृदय में अपना रंचकमात्र भी स्थान किये हुये है—उतनी ही मात्रा में अन्तःकरण की पवित्रता में कमी है। अतः इस मार्ग में योगाभ्यासी को फूँक फूँक कर पैर रखना चाहिये और अपने लक्ष्य सिद्धि का सतत स्मरण करते हुये यम नियमानुसार हमें जीवन को ढालना चाहिये।

भगवन्नाम का फल

[सच्ची घटना]

(श्री नरोत्तमदास जी ववन)

विश्वास ही फल को देने वाला होता है। प्राय. देखा गया है कि अनेक रोगी विश्वास ही के कारण रोग मुक्त हो जाते हैं।

रात्रि का समय है। शरद् ऋतु है, लगभग आठ बजा होगा। मैं अपने कमरे में अध्ययन कर रहा था कि इतने मे मेरे कानों में रोने का शब्द आया, मैं आश्चर्य चकित होकर बाहर आया तो मालूम हुआ कि यह आवाज ऊपर से आ रही है।

मुझको यहाँ, अर्थात् इस मकान में, जिसका कि मैं वर्णन कर रहा हूँ, आये हुये दो सप्ताह व्यतीत हुये होंगे। मकान की कठिनाइयों के कारण मैं प्राय अपने इष्ट मित्रों से मकान के लिये कहा करता था। एक दिवस मेरे साथ कार्य करने वाले मेरे स्वजातीय बन्धु, मेरे निवास स्थान पर आये, तथा इस स्थान को देखकर मुझसे कहने लगे जिसमें मैं रहता हूँ उसमें नीचे का भाग मैं तुमको दे सकता हूँ, यदि तुमको पसन्द आ जाय। उनके कथनानुसार मैं उनके मकान पर गया, और यद्यपि वह इतना अच्छा न था तथापि जहाँ मैं रहता था उससे अच्छा था। मैंने हाँ-कर दिया। और उस मकान को स्वच्छ करके पहली जनवरी सन् ५२ से आ गया।

जिस रात्रि की बात मैं ऊपर कर रहा था, उससे पहले मैंने यह सुना था कि उन बाबू साहब की भगिनी किसी रोग से पीड़ित थी। स्त्रियों के बारे में मैं अधिक पूँछ ताँछ करता नहीं और चूँकि उस समय मैं अकेला ही था बाल बच्चे इत्यादि थे नहीं इस कारण मैंने और भी विशेष बात रोग के बारे में नहीं की। तो जब मैं रोने की आवाज सुनकर बाहर आया और कैलाश बाबू को यह नाम उन बाबू का था जो हमारे कार्यालय में काम करते थे। पुकारा कि भाई क्या बात है तब उन्होंने कहा कि मेरी बहिन की दशा दिनों दिन गिरती जा रही है दवा से कुछ लाभ नहीं हो रहा है। तब मैं ऊपर गया और उस कन्या को देखा उसको देखते ही मैं मारे भय के काँपने लगा। उस कन्या का शरीर बड़ा भयानक लग रहा था। शरीर अस्थि पिंजर मात्र हो रहा था। चेहरे से बड़ी भयानकता टपक रही थी। नाक टेढ़ी पड़ गई थी, नेत्र बड़े-बड़े कान्ति हीन हो गये थे, सिर बड़ा भारी हो गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि सारा शरीर इस प्रकार का लग रहा था जैसे मृतक मनुष्य का लगता है। सहसा मेरी अन्तरात्मा ऐसी बोल रही थी कि यह कन्या मरेगी नहीं। यही बात मैंने उसकी माँ से कही, तो उनकी माता जी ने कहा तुम पागल हो।

मैंने नगर के सर्व श्रेष्ठ (Top Most) डाक्टर को बुलाया। उन्होंने आते ही कहा कि जीवन के कोई लक्षण तो प्रतीत होते नहीं परन्तु मैं भरसक प्रयत्न कर रहा हूँ। उनकी दवा से भी कुछ लाभ न हुआ। जब मैं सब दवाओं से हार गया तो अन्तिम दवा की ओर ध्यान गया "निर्बल के बल राम"। क्या करता कि उसको गीता सुनाता उसके तीन भ्राता थे। वे तीनों तथा मैं भगवन्नाम का उच्चारण उच्च स्वर से करता, "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेवा"।

लगभग एक सप्ताह और बीत गया। उस कन्या में कोई अन्तर नहीं आया। कहावत सच है "मर्ज बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की"। एक समय की बात है, सन्ध्या के लगभग चार बजे होंगे, उस दिवस मेरा अवकाश था। कदाचित् रविवार की छुट्टी रही

होगी । मैं जरा थक कर (रात दिन काम करते करते तथा जागते हुए) निद्रा की गोद मे पड़ा था अकस्मात् मैंने उच्च स्वर से रुदन का शब्द सुना मैं सब बात समझ तो रहा था बाहर आया तो देखा कि कन्या का मृतक शरीर मेरे कमरे के बाहर आँगन मे पड़ा हुआ था तथा उसके परिवार वाले सब हाहाकार कर रहे थे। सबको बड़ा दु.ख हो रहा था। सबको दु ख केवल यही था कि उसके व्याह की सामग्री प्रस्तुत थी केवल वर ढूढने की देर थी, दूसरी बात यह थी कि उसके पिता की मृत्यु कुछ ही वर्ष पहले हुई थी, और मृत्यु के पहले वह कन्या अपने पिता को बहुत स्मरण कर रही थी, इस कारण परिवार वालों को दो दुखों की याद आ रही थी। मैंने उसको देखा उसमे ऐसा लग रहा था कि अभी प्राण वायु संचार हो रहा है, मैंने आव देखा न ताव, सबके सामने उसके भाइयों का लेकर उसी स्थान पर भगवन्नाम सकीर्तन करना प्रारम्भ कर दिया "रघुपति राघव राजाराम पतित पावन सीताराम "। कुछ क्षण पश्चात् देखता हूँ कि वह कन्या नेत्र खोल रही है तथा अपना सिर हिला रही है। सबके चेहरे पर प्रसन्नता झलक रही थी । मैंने उसकी माता से अनुनय विनय करके उस कन्या को अपने कमरे मे लिटा लिया। तत्पश्चात् ईश्वर की कृपा से उनके किसी सम्बन्धी ने एक वैद्य को दिखलाया। उसने आते ही कहा कि यह कन्या बच जायेगी। उसी की दवा होने लगी । उसके बाद से कीर्तन बराबर चल रहा है। बराबर दो हफ्ते तक वह मेरे ही कमरे मे रही। रात्रि में कभी कभी ऐसा लगता था कि उसकी नाड़ी छूटती है कुछ सेकन्डों के बाद फिर वापस आ जाती है । कभी कहती है भगवान् आये हैं, उनकी पूजा करूँगी कभी कहती है मैं तो भगवान् के ही सग जाऊँगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर की कृपा से वह कन्या अच्छी होने लगी तथा उसको पूर्ण नीरोग होने मे तीन माह लग गये। अब तक उसकी दुर्बलता नहीं गई तथा मस्तिष्क मे कुछ भारीपन आ गया है।

बोलो भक्त और उनके भगवान की जय।

आज का दुःख और उसे दूर करने का उपाय

(*श्री व्यथितहृदय जी*)

दु ख क्या है, और क्यों उत्पन्न होता है, यह एक रहस्य मय प्रश्न है। इस प्रश्न के भीतर वह उत्तर निहित है, जिसे जानने और समझने के उद्देश्य से ही जीव अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है, और कई मंजिलों पर विराम भी ग्रहण करता है। किन्तु कुछ ही जीव ऐसे होते हैं, जो दुःख के वास्तविक स्वरूप को जान पाते हैं। जो दु ख मे वास्तविक स्वरूप को पहचान जाते हैं, उनके लिये फिर दुःख दु'ख नहीं रह जाता। वे फिर दु.ख में ही परमानन्द का अनुभव करते हैं, दूसरे शब्दों में वह दु.ख ही उनके लिये परमानद हो जाता है, और वे उसमे अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को डुबो देते हैं। जिन्हें दुःख के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वे दु.ख के सागर मे सदा बिलबिलाते रहते हैं। ऐसे जीवों की यात्रायें अनवरत होती ही रहती हैं। अपनी जीवन यात्राओं में उनका सबसे अधिक परिचय दुःख और दैन्य से ही होता है। शनैः शनैः उनके दुःख और दैन्य का रूप इतना विकृत हो जाता है, कि उनके प्रति यह आशा विलीन सी हो जाती है, कि कभी वे दु ख के वास्तविक स्वरूप को

जान भी सकेंगे ।

दुःख दो प्रकार का होता है। एक प्रकार का दुःख तो वह है, जो जीव के भीतर भौतिक पदार्थों के अभाव के कारण उत्पन्न होता है, और दूसरे प्रकार का दुःख वह है, जो जीव के भीतर परमानद के लिये उत्पन्न होता है। यद्यपि दोनों का ही नाम दुःख है, और दोनों से ही जीव के भीतर क्लेश की अनुभूति होती है, किन्तु दोनों के स्वरूप और कोटि में बहुत बड़ा वैषम्य होता है। जीव का भौतिक दुःख केवल जीव के ही लिये होता है। उसका इतर प्राणियों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि जिन पदार्थों के अभाव के कारण जीव के भीतर दुःख है, यदि वे भौतिक पदार्थ उसे प्राप्त हो जायँ, तो उनकी प्राप्ति से केवल उसी जीव को सुख प्राप्त होगा, जिसके भीतर उनकी कामना रहेगी। यह कोई कह नहीं सकता कि विश्व में कितने जीव हैं, उन सबके भीतर भौतिक पदार्थों के लिये एक ही प्रकार की कामना है। क्योंकि भौतिक पदार्थ अनेक हैं, और उनमें से कोई किसी का उपभोग कर रहा है; और कोई उसीके लिये जीवन के मार्ग में चीत्कार कर रहा है। इस प्रकार विश्व के सकीर्ण जीवों के भीतर पृथक् पृथक् वासनायें और कामनायें हैं। जो वस्तु जिसके पास है, वह उसका तो उपभोग कर रहा है, शेष के लिये उसके भीतर दुःख है, दैन्य है। केवल दुःख और दैन्य ही नहीं है, वरन् वह उसके लिये प्रयत्न शील भी है। चोरी से, छल से, हिंसा से, द्वेष से, शान्ति से, बुद्धि से चाहे जिस प्रकार से हो, वह उस पदार्थ के अभाव को दूर करने के लिये विकल है, जिसके कारण उसके भीतर दुःख का जन्म हुआ है। आज विश्व के प्राणियों में जो पारस्परिक द्वेष और कलह है, इतना ही नहीं, वरन् आज जो विश्व के भीतर अनाचार, अनैतिकता और पर पीड़न की बहुलता है, उसका एक मात्र कारण वह दुःख ही है, जो जीव के भीतर भौतिक पदार्थों के अभाव के कारण जन्म लेता है, क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल उसी जीव से होता है, जिसके भीतर उसका जन्म होता है, यही कारण है। कि हम इस दुःख को निम्न कोटि का दुःख कहते हैं।

यह दुःख प्रायः उन्हीं जीवों के भीतर उत्पन्न होता है, जो प्रायः अचेतन अवस्था में होते हैं। जो जितना ही चेतना और ज्ञान के निकट होता है, उसके ऊपर उतना ही कम उसका प्रभाव भी पड़ता है। और उतना ही कम वह अपनी ओर भी देखता है। आज विश्व में ऐसे जीवों की सख्या बहुत कम है। इसके प्रतिकूल आज ऐसे जीवों की सख्या अधिक है, जो केवल अपनी ही ओर देखते हैं। अपनी ही ओर देखने के कारण आज जीवों में पारस्परिक हिंसा, द्वेष कलह और ईर्षा की तीव्रता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि आज उनके भीतर जो दुःख है, वह वह दुःख है, जो केवल एक विशेष 'जीव' की ही ओर दृष्टिपात करता है जब तक सृष्टि के जीवों के भीतर का दुःख सकीर्णता के क्षेत्र से बाहर न निकलेगा, तब तक सृष्टि में न तो शान्ति स्थापित होगी, और न उसके भीतर मानवी गुणों का विकास ही होगा, तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि फिर क्या किया जाय ? जब सृष्टि में अचेतन जीवों की सख्या अधिक है, तब क्या सृष्टि को असहाय अवस्था में छोड़ दिया जाय ? तब क्या सृष्टि के इस सौंदर्य को नष्ट होने दिया जाय, जिसके कारण यह सृष्टि 'सृष्टि' है ? नहीं, इस समय उन जीवों को अग्रसर होना चाहिये जो सचेतन हैं और जिनके ऊपर उस दुःख का प्रभाव कम है, अथवा दुःख कम है, जो भौतिक पदार्थों के अभाव में उत्पन्न होने के कारण केवल जीव विशेष की ही ओर देखता है। यह सच है, कि ऐसे जीवों को अचेतन जीवों के समक्ष अनेकानेक कठिनाइयाँ पड़ेंगी; किन्तु वे अपनी उस दुःखानुभूति

से, जो सम्पूर्ण अचेतन और अज्ञानी जीवों को प्रकाश में लाने के लिये ही होती है, उन कठिनाइयों को झेल जायेंगे, और उस स्वर्णिम कँगूरे तक पहुँच जायेंगे, जिसे सत्य और धर्म का अन्तिम कँगूरा कहते हैं।

विश्व के जीवों की सम्पूर्ण सृष्टि में जब दुःख एकांगी बन जाता है, और उसके कारण चारों ओर हिंसा, छल, ईर्षा, अनैतिकता, असत्य और स्वेच्छाचारिता का जाल बिछ जाता है, तब केवल एक ही साधन बच जाता है, जिनसे जीवों के भीतर पुनः चेतना का संचार किया जा सकता है। वह साधन है, 'नाम संकीर्तन'। यह सत्य है, कि अज्ञानी और अचेतन जीवों में पहले नाम संकीर्तन के लिये प्रेम और श्रद्धा न उत्पन्न होगी इतना ही नहीं, वरन् वे पहले उसका उपहास करेंगे और कभी-कभी बल पूर्वक उसका विरोध भी करेंगे, पर यदि निरन्तर 'नाम' की ध्वनि उठती गई तो एक दिन वह ध्वनि उस सम्पूर्ण वायुमंडल को ढँक लेगी। जिसके भीतर वे जीव भी निवास करते हैं, जो अज्ञानी और अचेतन है। 'नाम की इस व्यापकता में अपने आप ही 'नाम' के प्रति आकर्षित हो उठेंगे, और नाम संकीर्तन करने लगेंगे।

'नाम' के भीतर एक विद्युत शक्ति छिपी रहती है। इस विद्युत शक्ति का प्रभाव अखंड रूप से उस दुःख पर पड़ता है, जो एकांगी होता है। वह दुःख के एकांगी प्रभाव को नष्ट करके उसे समष्टि की ओर मोड़ता है। ज्यों ज्यों 'नाम संकीर्तन' बढ़ता है और उसमें तन्मयता का भाव जागृत होता है त्यों-त्यों दुःखानुभूति भी बदलती जाती है और एक दिन वह क्षण भी उपस्थित हो जाता है, जब जीव दूसरे जीव को भी अपने ही समान समझने लगता है, ऐसी दशा में जीव को दूसरों की पहले और अपनी चिन्ता पश्चात होती है। इस प्रकार के जीवों से ही विश्व में शान्ति और प्रेम का प्रसार होता है। सामाजिक सुखों का उपभोग इस प्रकार के जीव ही शान्ति के साथ कर सकते हैं, और इस प्रकार के जीव, आज के भौतिक युग में तभी उत्पन्न हो सकते हैं, जब युग के भीतर नाम संकीर्तन की अभिवृद्धि होगी।

'नाम संकीर्तन' में विद्युत की सी शक्ति होती है। जिस स्थान पर नाम संकीर्तन होता है, उस स्थान के आस पास के जीव अपने आप बिना प्रयास के ही 'नाम' की ओर आकर्षित हो जाते हैं। 'नाम' एक गम्भीर सागर है। जिस प्रकार सरितायें सागर की ओर दौड़ती हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीव, चाहे वे किसी भी कोटि में क्यों न हो, नाम रूपी सागर की ओर दौड़ते हैं। एक बार जीवों को सागर के तट पर पहुँचने भर की आवश्यकता है। फिर तो सागर अपने आप अपनी तरंग रूपी भुजाओं को फैलाकर उन्हें अपने में सिमेट लेगा। सागर के भीतर चले जाने पर फिर तो जीव उससे बाहर निकलने की कामना ही न करेगा। क्योंकि उसे अपने वास्तविक 'स्व' का ज्ञान हो जायगा, और वह संसार में रहता हुआ भी अपने उसी 'स्व' में डूबा रहेगा।

नाम संकीर्तन से भौतिक पदार्थ भी अवश्यमेव प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार सरिता में जब बाढ़ उठती है, और उठकर निकल जाती है, तब वह उस पृथ्वी पर, जिसे वह अधिक महत्व पूर्ण समझती है, सत् मिट्टी के रूप में अपना हृदय उँडेल जाती जाती है, उसी प्रकार नाम का प्रवाह उस जीव के चारों ओर, जो नाम में ही लिप्त रहता है, भौतिक पदार्थों की बाढ लगा देता है। भौतिक पदार्थ अपने आप ही नाम के प्रवाह से खिंचकर उसके निकट चले आते हैं। किन्तु इस प्रकार से प्राप्त भौतिक पदार्थों के उपभोग में संकीर्णता नहीं होती। क्योंकि नाम संकीर्तन से जीव अपने वास्तविक स्वरूप में आ जाता है, और उसे अपने 'स्व' में

दर्पण मे दूसरों के दुःख भी झलक दिखाई पड़ने लगती है। अतः नाम संकीर्तन ही आज के दुःख की परमौषधि है। सचेतन और ज्ञानमय जीवों को चाहिये, कि वे इस परमौषधि को जितने भी अधिक जीवों मे बाँट सकें बाँटे, इस परमौषध के बाँटने में उन्हें छोटे बड़े और नीच ऊंच का विचार कदापि नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे सचेतन और ज्ञानमय हैं। उनकी सचेतनता और ज्ञान का महत्व इसी बात मे है, कि वे अज्ञानी और अचेतन जीवों मे भेद-विभेद न करें। 'नाम संकीर्तन' की परमौषधि उन्हें मुक्त हस्त से सबको बाँटनी चाहिये।

आज के जीवों के दुःख का यही कारण और उसको दूर करने का यही एक मात्र उपाय है।

रामायण प्रेमी स्टालिन

(आचार्य श्री दिनेश जी द्विवेदी)

५ मार्च की रात्रि को, शून्य की ओर तीव्र गति से जाते हुये पवन ने हमें सूचना दी, जैसे कि पिछले दिनों हमें गान्धी, महर्षि रमण और अरविन्द के देह त्याग पर दी थी कि एक और विश्वात्मा इस संसार से चल दी और ६ मार्च को जो अभीष्ट था सो हुआ, सारे संसार ने उस प्रात. को शोक और वेदना से यह जाना। मरते सभी हैं पर मरने के ढंग होते हैं। इस समय स्टालिन का उठ जाना आकस्मिक और दीन दलितों को कष्टकारी प्रतीत हुआ। सत्तर करोड़ साम्यवादी जनता को ही नहीं वरन दूर देशों के मानवों को उस युग द्रष्टा के उठ जाने का सदमा लगा है।

"साथियो! आप निश्चिन्त रहें कि मैं भविष्य में भी दीन दलितों वर्गहीन समाज के लिये क्रान्ति में अपनी पूर्ण निष्ठा, शक्ति, क्रिया शीलता तथा आवश्यकता पड़ने पर रक्त की आखिरी बूँद तक लगा रहूँगा।" सत्ताधारण करने के बाद स्टालिन के शब्द अक्षरश सत्य निकले क्योंकि यह किसी झूठे, आडम्बरी तथा सभ्यता का ढोंग रचने वाले निरे राजनीतिक नेता के, धोखा देने के लिये जनता को ललचाने वाले शब्द न थे वरन् शान्त, गभीर, दृढ़व्रती, अभय तथा सत्य प्रेरित, दरिद्र को नारायण मानने वाले सच्चे कर्मयोगी के शब्द थे।

तिफलस के मोरी नामक छोटे से गाँव में २१ दिसम्बर १८६७ को एक साधारण घर मे आपने जन्म लिया था। अपने ग्रहों के हिसाब से वे म० म० मालवीय तथा राजेन्द्र बाबू की श्रेणी मे आते हैं। इन्हीं के समान उनमे धैर्यता, अपने उद्देश्य के प्रति कट्टरता, नख से शिख तक लौह जैसी शक्ति तथा पवित्रता और अत्यधिक प्रेम उनमे साक्षात् विद्यमान थे। वे अपने देश में पूजनीय होते हुये भी अह भाव से दूर भागते थे और श्रमिक और अपने मे भेद न करते थे।

युग प्रवर्तक, उद्बोधक तथा प्रेरक स्टालिन के विषय मे यह भ्रम फैला रक्खा है कि वे अधार्मिक थे तथा धर्म के विरोधी थे। धर्म का सच्चा रूप न समझने वाले ईसाई पादरियों के छिछले आडम्बर युक्त रिलिजन (धर्म) के वे वास्तविक खिलाफ थे। उन्होंने देखा कि आने वाले युग में ऐसे लोग जन समाज को कर्मयोग से दूर ले जाकर अफीमची बनाकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। सन ४८ में रूस के प्रतिनिधि मडल के अध्यक्ष स्टालिन के साथी ७० वर्षीय प्रो० बोल्गिन से मैंने बनारस में इस बारे मे काफी वार्ता की थी। रूस का निर्माता अपने जीवन में सत्य, अपरिग्रह, अभय तथा शान्ति का महान पुजारी था। उसने जब यह सब विशद रूप में

सत्संग-समाचार

फिरोजाबाद में विराट उत्सव

हर्ष की बात है कि फिरोजाबाद में पूज्य श्री १०८ स्वामी भजनानन्द जी की अध्यक्षता में श्री दैवी सम्पद् महा मण्डल का ४ अप्रैल सन् १९५३ ई० से १२ अप्रैल सन् १९५३ ई० तक एक बृहत् आयोजन होगा। जिसमें श्रीदैवी सम्पद् मण्डल के सभी महात्माओं के अतिरिक्त श्री पूज्य ज्ञानवयोवृद्ध स्वामी हीरानन्द जी महाराज भाउपुर, श्री १०८ श्री स्वामीअखण्डानन्दजी महराज, श्री स्वामी 'पथिक' जी सीतापुर, श्री स्वामी रामतीर्थ जी, आदि महात्मागण आ रहे हैं, तथा पं० दुर्गाप्रसाद जी सरस कथावाचक, पं० दीनानाथ जी 'दिनेश' पं० बांके लाल जी व्याकरणाचार्य नरवर आदि विद्वान कथा वाचक इस उत्सव में सम्मिलित होंगे। अतः सभी धर्मानुरागी सत्संग प्रेमी महानुभावों से सादर अनुरोध है कि इस उत्सव में अवश्य ही आकर मानव जीवन को सफल बनाइये।

विनीत—

दैवी सम्पद् मण्डल फिरोजाबाद के सेवक

माघ मेला, प्रयाग में श्री दैवी सम्पद मंडल का कार्य-क्रम

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी अमावास्या से माघ पूर्णिमा तक त्रिवेणी के पुनीत तट पर दैवी सम्पद् मण्डल के महात्माओं की पावन वाणी का प्रसाद सहस्रों नर-नारियों को प्राप्त हुआ। पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज, श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज, श्रीस्वामी समतानन्द जी, श्रीस्वामी प्रकाशानन्द जी, स्वामी सदानन्द जी—श्री 'मञ्जुल' जी, कृष्ण प्रेमी जी, एवं कई प्रसिद्ध कथावाचकों के सारगर्भित प्रवचन, सुमधुर भगवन्नाम संकीर्तन और कथा से भावुक भक्तों ने मानव जीवन का अलभ्य लाभ प्राप्त किया। पुण्य सलिला त्रिवेणी के संगम-स्नान से शरीर कल्प के साथ सत्संग सुरसरी के अन्तःस्नान से कल्पवासी नर-नारियों ने यथार्थ में आध्यात्मिक कायाकल्प का अनुभव किया। अनेकानेक नर-नारियों ने लिखित रूप से दुर्गुणों का परित्याग किया और उपकार सत्य-अहिंसा आदि सद्गुणों के धारण की लिखित प्रतिज्ञा की। दूर-दूर से नगरनिवासी प्रातः और सायं आकर इस सत्संग में सम्मिलित होते रहे।

कैम्प के अतिरिक्त नगर में महिला संकीर्तन मण्डल कटरा लोकनाथ, राजा हरीराम जी श्री बेनीप्रसाद जी अग्रवाल, एडवोकेट श्री गजाधरप्रसाद भार्गव (मिन्टो-पार्क) के यहाँ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज के प्रवचनों से धर्मानुरागी जनता ने लाभ उठाया।

इस आयोजन के लिये श्री विश्वम्भरनाथ जी अग्रवाल बी. ए. एल-एल. बी. श्री त्रिलोकीनाथ जी वा शम्भूनाथ जी वर्मा श्री मोतीलाल जी, वा शिवप्रसाद जी तथा प्रयाग निवासी भक्तों का पुरुषार्थ सराहनीय रहा।

प्रेषक

रामस्वरूप गुप्त

मुमुक्षु आश्रम में

कई वर्षों के पश्चात् इस वर्ष ७, ८, ९ फरवरी को मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर में दैवीसम्पद् मण्डल का विराट महोत्सव हुआ। उत्सव में दैवीसम्पद् मण्डल के महात्माओं के अतिरिक्त वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध परमपूज्य श्री स्वामी हीरानन्द जी, महामण्डलेश्वर श्री मोहनानन्द जी (हरिद्वार) श्री पथिक जी (सीतापुर) भी पधारे थे। श्री दीनानाथ जी 'दिनेश' श्री शंकरानन्द जी प्रतिवादि भयंकर, श्री चन्द्रमणि जी श्री स्वामी दयालजी व्यास आदि २ अनेक कथावाचक एवं कीर्तनकार सम्मिलित हुये थे। सत्सङ्ग के लिये भारत के विभिन्न विभिन्न प्रान्तों से भावुक भक्तगण इस उत्सव में आये थे।

आश्रम पर आगत अतिथियों के लिये पूर्ण प्रबन्ध था आश्रम के स्थान के अतिरिक्त आगन्तुकों का एक दैवी सम्पद् नगर पृथक से बस गया था। शाहजहाँपुर के भक्तों की सेवा एवं प्रबन्ध से सभी अतिथि परम सन्तुष्ट रहे।

उत्सव में सत्सङ्ग का कार्य-क्रम प्रातः ५ बजे से रात्रि

के ६ बजे तक चलता ही रहता था। सत्सङ्ग पण्डाल में उन दिनों सहस्रों की भीड़ हर समय बनी रहती थी। प्रातः प्रार्थना के पश्चात् ९॥ बजे से पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी के सत्सङ्ग का विशेष कार्य-क्रम रहता था। जिससे भक्तों को अगाध शान्ति का अनुभव होता था।

महात्माओं और विद्वानों के सदुपदेशों से जनता को परम लाभ हुआ। सभी ने उत्सव में अद्भुत आनन्द का अनुभव किया। उन दिनों आश्रम में एक सुख शान्ति का सागर सा उमड़ता था। कहीं पर अखण्ड कीर्तन हो रहा है तो कहीं पर श्री रामायण जी का अखण्ड पाठ हो रहा है। कहीं पर यज्ञ की स्वाहा-स्वाहा मोदमयी ध्वनि कानों में भर रही है तो कहीं पर जप हो रहा है।

उत्सव की सफलता के उपलक्ष्य में नागरिक जनता तथा अन्य स्थानों की जनता द्वारा ५०००००० महामन्त्र का जप और ३०० श्री रामायण जी के पाठ हुये। जिसके फलस्वरूप उत्सव निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। इस उत्सव से जनता को एक नवीन चेतना प्राप्त हुई।

—स्वागत मंत्री

बम्बई में

सेठ मदनमल जी बाजोरिया के परम आग्रह से श्री १०८श्री स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज १८ फरवरी को बम्बई पधारे उनके साथ श्री मन्जुल जी भी थे। पूज्य महाराज जी के उपदेशों के लिए चिरपिपासित बम्बई निवासी भक्त, कृतकृत्य हुये। २१फरवरी से नित्य प्रति शाम के समय माधवबाग में श्री मन्जुल जी की मनोहारिणी मधुर कथा एवं पूज्य श्री स्वामी जी महाराज का परम कल्याण कारी उपदेश ता०८मार्च तक होता रहा। जनता सहस्रों की संख्या में उपदेशामृत पीने को आती थी। पूज्य स्वामी महामण्डलेश्वर श्री१०८श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज के प्रेम पूर्ण अनुरोध से १-२ मार्च को उनके स्थान विले पार्ले में भी महाराज जी का प्रभावशाली उपदेश हुआ जनता ने परम लाभ उठाया। इस प्रकार बम्बई के भक्तों में एक नई धार्मिक जागृति हुई।

आगरा में

पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज बम्बई से ता० ५ मार्च को आगरा पधारे साथ में श्री मन्जुल जी भी थे। वहाँ भी स्वामी जी का उपदेश प्रातःकाल ६ बजे ताजमहल के सामने विक्टोरिया पार्क में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से होता था। जनता बड़ी संख्या में शहर से ३ मील दूर वहाँ पर उपदेश सुनने के लिये आती थी ६० आदमियों ने बीड़ी, सिगरेट, मादक द्रव्य झूठ आदि दुर्गुण छोड़े। सन्ध्या समय म्यूनिसिपल स्कूल जमुना रोड में श्री मन्जुल जी की मधुर कथा तथा श्री स्वामी जी का सारगर्भित उपदेश होता था। जिसमें सहस्रों की संख्या में जनता एकत्रित होती थी। इस सत्सग से आगरा की जनता ने अलभ्य लाभ प्राप्त किया।

प्रेषक—विश्वम्भरनाथ खण्डेलवाल

पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी के दर्शनों से श्री मावलंकर को शान्ति मिली।

ता०५जनवरी सन् १९५३ई० को सायकाल ३बजे श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महराज से श्री जी०वी० मावलकर (भारतवर्ष की लोक सभा के स्पीकर) की भेंट हुई, श्री मावलंकरजी का स्वास्थ्य कुछ दिनों से खराब था अतएव आध्यात्मिक चर्चा द्वारा अपने हृदय को शान्त करने के लिये उन्होंने पू०स्वा०श्री से कुछ प्रश्न पूछे। स्वामी जी ने थोड़े शब्दों में मावलकर जी को आत्मा और शरीर का भेद बताया, और आत्मा में स्थित रहकर कार्य करते हुये भी किस प्रकार शान्ति प्राप्त होती रहती है यह प्रक्रिया भी बताई। स्वामी जी के उपदेश और दर्शनों से श्री मावलंकर जी को शान्ति मिली। उन्हों ने कहा वास्तव में जब तक भारत में अध्यात्म विद्या का प्रचार नहीं होगा तब तक शान्ति और सुख दूर ही रहेगा।

परमार्थ पत्रिका की भी चर्चा करते हुऐ उन्होंने कहा ऐसे पत्रों की आज देश को आवश्यकता है।

प्लानिङ्ग कमिश्नर श्री गुलजारीलाल नन्दा से पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज की भेंट।

ता० ७ जनवरी सन् १९५३ ई० को पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज से श्री गुलजारीलाल 'नन्दा प्लानिंग-कमिश्नर की भेंट हुई। स्वामी जी के सारगर्भित

आध्यात्मिक विचार विमर्शसे 'नन्दाजी' को परमसंतोष हुआ। श्री दैवी सम्पद् मण्डल द्वारा जनता जनार्दन की किस प्रकार आभ्यान्तरिक सेवा होरही है यह जानकर उन्हें हर्ष हुआ, आश्रम, विद्यालय, औषधालय 'परमार्थ मासिक पत्र' तथा अन्य पुस्तकों का प्रकाशन आदि कार्य जानकर उन्होंने कहा—आज देश को ऐसी ही संस्थाओं की आवश्यकता है और इसप्रकार के आध्यात्मिक विचारों से ही देश की वास्तविक उन्नति हो सकेगी।

नगला रामसुन्दर में उत्सव

नगला रामसुन्दर पोस्ट बलरई (इटावा) में पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी की अध्यक्षता में १२, १३, १४ फरवरी को श्री दैवी सम्पद् मण्डल का बड़े धूमधाम से उत्सव हुआ। जिसमें श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी, श्री स्वामी एकाक्षरानन्द जी सरस्वती, श्रीयुत 'मंजुल' जी, श्रीकृष्ण प्रेमी जी तथा ब्रह्मचारी छोटेलाल जी आदि महात्मागण तथा विद्वान लोग सम्मिलित हुये थे। विद्वानों के सारगर्भित उपदेशों से जनता मुग्ध होगई। अनेक व्यक्तियों ने मादक वस्तुओं एवं दुर्गुणों का त्याग किया। वहाँ सत्संग मण्डल की स्थापना होगई, जिसमें नित्य प्रार्थना कीर्तन सत्सङ्ग आदि के नियम बने। इस कार्य में श्रीलालसिंह जी, पं० बृजकिशोर जी श्री सुन्दरसिंह, ठा० नयननरेन्द्र सिंह जी आदि सज्जनों ने विशेष सहयोग दिया। उत्सव मे श्री अमृत लालजी पटवारी का प्रयत्न विशेष सराहनीय रहा।

प्रेषक—ठा० हरपालसिंह

आवश्यक सूचना

इस वर्ष वैशाख मास में पुरुषोत्तम मास (अधिक मास) का पावन सुयोग प्राप्त हुआ है, शास्त्रों व संतों का वचन है कि अधिक मास में किया हुआ थोड़ा भी जप पाठ आदि अनुष्ठान अक्षय फलदायक होता है। श्रीदैवीसम्पद् मण्डल की ओर से इस मास के लिए विशेष कार्य-क्रम निश्चित किया गया है। दैवी सम्पद् मण्डल के प्रेमी तथा धार्मिक जनता से निवेदन है कि वह निम्नलिखित कार्य-क्रम के अनुसार किसी न किसी श्रेणी का जप अनुष्ठानादि अवश्य करे।

पुरुषोत्तम मास के पाठ जप व्रतादि का कार्य-क्रम

पाठ	उत्तम श्रेणी	मध्यम श्रेणी	सामान्य श्रेणी
भागवत	सप्ताह परायण (४ पाठ)	मासिक पाठ (एक पाठ)	एकादश स्कंध का पाठ (एक एक अध्याय प्रतिदिन)
गीता	पूरा पाठ प्रतिदिन	६ अध्याय प्रतिदिन	पुरुषोत्तम अध्याय (१५) प्रतिदिन
रामायण	अखण्ड पाठ	नवाह्न पारायण	मासिक पाठ
विविध	विष्णु सहस्र नाम प्रतिदिन	सुन्दर काण्ड प्रतिदिन	हनुमान चालीसा प्रति दिन
जप सवालक्ष	गायत्री जप	ॐनमोभगवते वासुदेवाय अथवा ॐ नमः शिवाय	महामन्त्र (हरे राम······) दैनिक १६ माला

साधक गण उपर्युक्त जप पाठादि अनुष्ठानों में से किसी भी श्रेणी के इच्छानुसार कोई से अनुष्ठान कर सकते हैं। अनुष्ठान कर्ता मास भर ब्रह्मचर्य का पालन करे। पृथ्वी या तख्त पर सोये। फलाहार रहें तो अत्युत्तम हो अन्यथा एक भुक्त तो रहे ही। १३ अप्रैल शुद्ध वैशाख की सोमवती अमावास्या को अनुष्ठान प्रारम्भ कर देना चाहिये। उसी तिथि १३ अप्रैल वैशाख अमावास्या से ही परमार्थ निकेतन (स्वर्गाश्रम) में ग्रीष्म कालीन सत्संग भी प्रारम्भ हो जायगा वहाँ भी पुरुषोत्तम मास का विशेष पाठ आदि कर्म-क्रम होगा। जो वहाँ सुरसरि के सुरम्य तट पर सात्विक वातावरण में सम्मिलित होकर अनुष्ठानादि साधन करना चाहते हैं उन्हें १५ दिन पूर्व अपने सम्मिलित होने की सूचना भेज देनी चाहिये।

नोट:—साधकगण अपने घर पर जो अनुष्ठान करें उनकी सूचना परमार्थ निकेतन (स्वर्गाश्रम) के पते पर भेजने की अवश्य कृपा करें।

—व्यवस्थापक

फ़ोन नं० १०१ रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

कल्याण मार्ग

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं,
कालेशक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा,
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पंथाः ॥

किसी भी जीव की हिंसा न करना, पराया माल न चुराना, सत्य बोलना; समय पर सामर्थ्यानुसार दान करना, पर स्त्रियों की चर्चा में चुप रहना, तृष्णा न करना, गुरुजनों के सामने नम्र रहना, सब प्राणियों पर दया करना और भिन्न-भिन्न शास्त्रों में समान विश्वास रखना,—ये सब नित्य सुख प्राप्त करने के अचूक रास्ते हैं ।

मुद्रक :—परमार्थ प्रिन्टिङ्ग प्रेस, मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर ।

सर्व भूत हिते रताः
परमार्थ
अङ्क ४

सर्वभूत हिते रताः

दैवी-गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि आध्यात्मवाद प्रकाशक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज
श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

विषय सूची

परमार्थ, १५ अप्रैल, सन् १९५३ ई०

दीनबन्धुता

परमार्थ प्रेस, शाहजहाँपुर

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ अप्रैल १९५३ | अङ्क—४
प्रथम वैशाख शुक्ल पक्ष द्वितीया बुधवार, सम्वत् २०१०

भक्त में तन्मय थे भगवान्

सुदामा आये मेरे द्वार, जान यह हरि दौड़े अविकार ।
प्रेम विह्वल पुलकित सानन्द, मित्र सन्निधि पहुँचे सुखकन्द ॥
लगाया शीघ्र हृदय से खींच, दबालाये भुज-पाशों बीच ।
किया सिंहासन पर आसीन, सकुचित हुये विप्रवर दीन ।
स्वय ला पाद्य अर्घ्य फल फूल, किया अर्चन धोयी पद धूल ॥
रानियाँ चकित खड़ीं उसकाल, झुका था विप्र चरण प्रभुभाल ।
सुदामा के अन्तस की पीर, जानकर हरि हो गये अधीर ॥
सह सका हृदय न करुणावेग, नयन ने मुक्ता दिये अशेष ।
भक्त प्रभु को पा था अम्लान, भक्त में तन्मय थे भगवान् ॥

ध्यान के लिये बीस आवश्यक बातें

(श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती)

१—ध्यान करने के लिये अलग स्थान निश्चित कीजिये। जहाँ तक सम्भव हो, उसे शुद्ध और पवित्र रखिये। स्थान की शुद्धि पर ध्यान की सफलता निश्चित जानो।

२—हो सकता है, एक दम एकान्त सम्भव न हो। किन्तु प्रयत्न ऐसा करना चाहिये कि ध्यान करने के लिये नियत किया हुआ स्थान सदा पवित्र वातावरण से पूर्ण रहे।

३—ध्यान करने के लिए प्रात काल ४ बजे उठिये। ध्यान के लिये यही समय उपयुक्त है। रात को भी सोने के पहिले आप ध्यान कर सकते हैं।

४—जिस कमरे मे आप ध्यान करते हैं, वहाँ अपने इष्टदेव की मूर्ति, धार्मिक ग्रन्थ होने चाहिये। अपना आसन इष्टदेव के चित्र के सामने ही रखना चाहिये।

५—ध्यान के लिये पद्मासन सर्वोत्तम है, अन्यथा स्वस्तिक, सिद्ध-आसन मे ध्यान किया जा सकता है। सिर, गर्दन और शरीर एक सीध में होने चाहिये। झुक कर ध्यान करना नहीं चाहिये।

६—आँखें बन्द कर लीजिये और त्रिकुटि पर ध्यान कीजिये। (त्रिकुटि दोनों आँखों के बीच की जगह को कहते हैं) अंगुलियाँ बँधी हुई होनी चाहिये।

७—ध्यान करते समय संघर्ष नहीं करना। शरीर को ढीला छोड दो। मन पर जोर न दो। आसानी से आराध्य देवता का विचार करो और आनन्द पूर्वक अपने इष्ट मन्त्र को जपना आरम्भ कर दो… उसके अर्थ पर विचार करते हुए। मन से अन्य विचारों को आराम और छुट्टी दो।

८—यदि मन विषय की ओर दौड़ने लगे तो ज़ोर लगाकर उसे घुमाना नहीं चाहिये, किन्तु थोड़ी देर उसे अपने मन की कर लेने दो। और फिर धीरे-धीरे उसे समझा कर ध्यान की ओर बुला लो हो सकता है कि आरम्भ में वह आप की आज्ञा न माने, किन्तु अभ्यास होते होते वह आप का आज्ञाकारी शिष्य हो जायगा। कालान्तर मे आप आसन पर बैठते ही ध्यान में समाहित हो सकेंगे।

६—सगुण और निर्गुण ध्यान आराध्य देव के नाम और रूपों पर ध्यान करना सगुण-ध्यान है। आराध्य देव के किसी भी रूप पर ध्यान करके और मन्त्र का जप करते रहो। जब आप ओ३म् का ध्यान करते हैं तो असीमता, अनन्त-गुणात्मकता, चैतन्य सत्य और आनन्दादि निर्गुण गुणों पर ध्यान कीजिये यह निर्गुण ध्यान है। आरम्भ में सगुण ध्यान ही करना चाहिये।

१०—जब आप का मन लक्ष्य से विचलित हो कर सासारिक विचारों की ओर दौडे तो उसे प्रेम पूर्वक बुला लो।

११—जब आप श्रीकृष्ण परमात्मा का ध्यान करना चाहें तो उनके चित्र को अपने सामने रक्खो एकाग्र-दृष्टि से उन्हें देखते रहो। इस प्रकार उनके आभूषण और उनके रूप पर ध्यान करते रहो। आप का मन एकाग्र हो जायगा। परमात्मा के नख-शिख को ध्यान से देखते-देखते आप सौन्दर्य सिन्धु में डूब जायगे। तीन महीने तक इस प्रकार का ध्यान कीजिये।

१२—जब आप का मन स्थिर हो जाय तो आँखें बन्द कर लीजिये और पुन उसी देखे हुये चित्र को अपने मन के द्वारा देखिये और उसी रूप

लोक सुधार क्या है?

(पूज्य श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज 'मुनि', पुष्कर)

'परमार्थ' वर्ष ३ अंक ८ में "समता क्या है ?" और अंक ११ मे 'उसका सच्चा साधन क्या है ?' इन विषयों मे विचार किया जा चुका है। 'समता का सच्चा साधन क्या है ? इस प्रसग में अनेकस्थलों पर लोक सुधार की चर्चा की गई थी, इसलिये आज हम को विचार करना है कि लोक-सुधार क्या है ?

इस विषय मे आगे चलने से पहले हमें यह जानना जरूरी है कि संसार की उत्पत्ति किस निमित्त से हुई है और किस लिये हुई है ? अर्थात् ससार उत्पत्ति का हेतु क्या है और प्रयोजन क्या ?

इस विषय मे वेद-शास्त्र हमको बतलाते हैं कि इस ससार-उत्पत्ति का निमित्तरूप एकमात्र फल के सम्मुख हुये जीवों के कर्म-सस्कार ही और जीव के अपने किये हुये खोटे-खरे कर्मों का सुख-दु:खरूप फल भुगाना, यही एक मात्र प्रयोजन है। इसके सिवा दूसरा कोई हेतु और प्रयोजन हो ही नहीं सकता।

अपने किये हुये कर्मों का फल-भोग तो चींऊँटी से लेकर देवों पर्यन्त समस्त जीवों के लिये सामान्य प्रयोजन है ही, परन्तु फल-भोग के साथ-साथ मानव योनि में जीव की बुद्धि के पूर्ण विकास के कारण पुरुषार्थ करने की योग्यता भी दी गई है कि चाहे तो वह इस योनि मे परमार्थ-पथ पर भी चढ़ सकता है, नहीं तो करना और भोगना तो दूसरे जीवों के अनुसार सामान्य प्रयोजन है ही। जिस प्रकार बीज से ही वृक्ष निकलता है और वृक्ष से ही फल उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जीव के कर्म संस्कारों से संसार-वृक्ष और सुख-दु:खरूप फल निकलते हैं। इस विषय मे श्रुति पुराण अपनी साक्षी इसी प्रकार देते हैं —

तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। (श्रुति)

अर्थ—जिस प्रकार कर्म-रचित यह संसार अपना भोग देकर क्षय को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार पुण्य-रचित स्वर्गादि लोक भी अपना भोग देकर क्षय हो जाते हैं।

भागवत दशम स्कन्ध में अन्न-कूट लीला के प्रसंग में भगवान् श्रीमुख से नन्दबाबा को ऐसा ही कहते हैं:—

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते॥

कर्म से ही संसार उत्पन्न होता है और कर्म से ही क्षय को प्राप्त होता है। सुख व दु:ख, भय व कुशल, कर्म से ही मिलते हैं।

जैसे-जैसे जीवों के अपने-अपने कर्म संस्कारों का उद्बोध होता है, वैसा-वैसा ही उसका संसार प्रकट होता है। और जब-जब जीवों के अपने-अपने कर्म सस्कार फल—भोग से उदासीन हो जाते हैं, तब-तब ही उसका ससार भी लय हो जाता है। जिस प्रकार सिनेमा की फिल्म के ऊपर जैसे-जैसे आकार सूक्ष्म रूप से अंकित होते हैं, वैसे ही आकार मोटे रूप में बिजली के प्रकाश में बाहर परदे के ऊपर दिखाई पड़ते हैं और फिल्म जब समाप्त हो जाती है, तब बाहर भी कुछ देखने मे नहीं आता। इसी रीति से फल के सम्मुख जीवों के कर्म-संस्कारों की प्रारब्धरूपी फिल्म भगवत् प्रकाश में चलती है और वह बाहर मोटे आकारों में दिखाई पड़ती है तथा जब जिस-जिस की फिल्म समाप्त हुई कि उसका संसार भी लय को प्राप्त हुआ। जिस तरह से हमारा स्वप्न-संसार फल के सम्मुख कर्म-सस्कारों के अनुसार ही भगवत्प्रकाश में प्रकट होता है, वहाँ दूसरा कोई भी प्रकाश सूर्य चन्द्रमा आदि का नहीं होता, इसी तरह यह जाग्रत जगत भी जीव के फल के सम्मुख कर्म-

संस्कारों के अनुसार ही भगवत्प्रकाश में प्रकट होता है। क्योंकि यह अटल नियम है कि सत्य-वस्तु के बिना असत्य की प्रतीति हो नहीं सकती और सत्य वस्तु के स्वरूप में उस असत्य वस्तु का कुछ प्रवेश भी हो नहीं सकता। जिस तरह सत्य रज्जु के बिना असत्य सर्प की प्रतीति हो नहीं सकती और रज्जु के स्वरूप में सर्प कुछ विकार भी कर नहीं सकता, इसी तरह से सत्य स्वरूप परमात्मा के बिना इस असत्य संसार की प्रतीति हो नहीं सकती और उसके स्वरूप में यह मिथ्या संसार अपना कोई लेप भी कर नहीं सकता। इसके सिवा सत्य-असत्य का दूसरा किसी प्रकार का सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। इस लिये आप ज्यों-का-त्यों रहकर अपने आश्रय उद्बुध संस्कारों का प्रतिबिम्ब करा देना, इतना ही सत्य-असत्य का सम्बन्ध बन सकता है।

इस लिये यह विषय सिद्धान्त रूप से निर्णीत होता है कि संसार-उत्पत्ति में जीव के कर्म-संस्कार तो निमित्त हैं, प्रकृति घट मे मिट्टी के समान उपादान है और भगवत् प्रकाश इस सम्पूर्ण उत्पत्ति-लयरूप व्यापार में साक्षीरूप से विराजता है, अर्थात् उसके सत्तारूप प्रकाश में ही उत्पत्ति-लयरूप सम्पूर्ण व्यापार चलता है, परन्तु कोई भी विकार उसको स्पर्श कर नहीं सकता। इसीलिये वह साक्षी कहलाता है। इन तीनों के सिवा दूसरा कोई कारण संसार की उत्पत्ति में गणना किया जाय, ऐसा मानने में आता नहीं है। और ये तीनों ही इकट्ठे हों तभी उत्पत्ति का सम्भव हो सकता है। इसी लिये जाग्रत् और स्वप्न में जिस-जिस के जैसे और जितने कर्म संस्कारों का उद्बोध होता है, वैसा और उतना ही उसका संसार प्रकट होता है और जब कर्म संस्कार अनुद्बुध हो जाते हैं, तब सुषुप्ति मृत्यु और प्रलय में संसार का स्वाभाविक ही लय हो जाता है।

कर्म-संस्कारों के उद्बोध के कारण ही चीऊँटी का संसार एक-दो हाथ तक ही पसरता है और वह भी किसी प्रकार के गुण-दोष बिना वाला ही है। पक्षी का संसार एक दो मील तक ही पसरता है पशु का संसार दस-पन्द्रह मील तक भी पसर जाता है। जड़ता के कारण वे भी किसी प्रकार के गुण-दोष, सुख-दुःख और उसके साधनों की पहचान कर नहीं सकते। उनके द्वारा क्रिया तो बहुत कुछ प्रकट होती है, परन्तु अपने फल-भोग के लिये ही। एक मोटी बुद्धिवाले ग्रामीण का संसार अपनी तहसील अथवा जिले तक ही पसरता है, वह विज्ञान जानता नहीं है। एक साधारण व्यापारी का संसार अधिक-से-अधिक भारत तक ही पसरता है। और एक बड़े व्यापारी तथा भूगोल शास्त्री का संसार एशिया पूर्व में जापान, पश्चिम में ब्रिटेन और दक्षिण में अमरीका तक भी पसर जाता है। परन्तु देवताओं का संसार तो कर्म-संस्कारों के कारण ही सप्त द्वीप और सात समुद्रों तक पहुँचता है।

सारांश, संसार-उत्पत्ति में जीवों के अपने-अपने फलोन्मुख कर्म संस्कार ही निमित्तरूप मानने में आते हैं और उन किये हुये कर्मों का फल-भोग, यही प्रयोजन बनाता है। दूसरा कोई निमित्त और प्रयोजन कहा नहीं जा सकता। इस स्थल पर एक आपत्ति खड़ी हो सकती है कि 'यदि फलोन्मुख कर्म-संस्कार ही संसार की उत्पत्ति के निमित्तरूप हों और संस्कारों के अनुद्बोध से संसार लय हो जाता है। तो यह संसार तो बहुत दीर्घकाल से जैसे-का तैसा देखने में आता है, वह देखने में न आना चाहिये। संस्कार तो बहुत से जीवों के उद्बुध अनुद्बुध हो चुके और प्रतिदिन होते ही रहते हैं।'

यह आपत्ति भी तत्त्व की जानकारी के बिना ही है। हम शंकावादी से पूछते हैं कि अपने संस्कारों के उद्बोध के सिवा कदाचित् तुमने अथवा किसी दूसरे ने इस संसार को देखा है? जो कोई जब कभी संसार को देखता है, वास्तव में तो वह केवल अपने संस्कारों के प्रतिबिम्ब को ही देखता है।

परन्तु इस सत्यता को न जानकर अपनी खोटी साची ही देता है कि मैं बहुत समय पहले से इस संसार को देखता रहा हूँ। इस लिये सत्यता रहित भ्रम मूलक खोटी साची मानी नहीं जा सकती। जिस प्रकार अज्ञानी बालक अथवा वानर दर्पण में प्रतिबिम्बित अपने मुँह को अपने से पृथक् बालक व वानर जानकर उसको बारम्बार देखता है और दर्पण के अज्ञान से उसको सच्चा मानकर कहता है कि वही यह बालक है जो मैं देख रहा हूँ। परन्तु दर्पण में तो कदाचित् कोई बालक है ही नहीं, केवल उसका प्रतिबिम्ब ही है। इसी प्रकार निर्मल और अज-अविनाशी आत्मस्वरूपी दर्पण में कदाचित् कोई संसार उत्पन्न हुआ ही नहीं है, स्वप्न-जगत् के सामने केवल अपने संस्कारों का प्रतिबिम्ब मात्र ही है। अज्ञानी बालक की तरह अपने भ्रम से आत्मस्वरूप के आश्रय वैसे-वैसे संस्कारों के उद्बोध से संसार को वही-वही रूप करके देखता है, परन्तु संसार वही-वही रूप कदाचित् होता नहीं है, केवल संस्कारों का उद्बोधमात्र ही होता है। यदि संस्कारों के उद्बोध के बिना संसार हुआ हो तो सुषुप्ति में जब कि संस्कार अनुद्बुद्ध स्वरूप होते हैं, तब भी संसार मिलना चाहिये। जैसे स्वप्न में हम कहने लगें कि वही यही संसार है और दीर्घ काल से चला आरहा है, परन्तु वहाँ संसार तो कदाचित है ही नहीं, आत्मस्वरूप दर्पण में केवल अपने उद्बुद्ध संस्कारों का प्रतिबिम्बमात्र ही है इसी तरह से इस जाग्रत-जगत को जानना चाहिये परन्तु आत्मस्वरूप की जानकारी के बिना ऐसी शंका होती है।

संसार-उत्पत्ति का निमित्त क्या ? इस विषय में यथामति स्पष्टी करण किया गया। अब इसकी उत्पत्ति का प्रयोजन क्या है ? इस विषय में हमे विचार करना चाहिये। अपने निज आत्मस्वरूप के अज्ञान से जब यह जीव अपने सच्चे सुखस्वरूप आत्मा से जुदा पड़ जाता है, तब कस्तूरी-मृग की तरह संसारी भोगों में सुख की खोज करने लग पड़ता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृग अपनी नाभि में विद्यमान कस्तूरी को वहाँ न जानकर उसकी गन्ध से मोहित हुआ वन वन में उस गन्ध को ढूँढता फिरता है, इसी प्रकार जीव अपने हृदय मे विद्यमान सुखस्वरूप आत्मा को न जानकर उसकी महक से प्रेरित हुआ उस सुखस्वरूप को सासारिक भोग विषयों में खोजता रहता है और अपने अज्ञान मे किसी वस्तु को सुखरूप और किसी को दुःखरूप जानता है। तथा अपनी मानी हुई सुखरूप वस्तु को ग्रहण करने के लिये और दुःखरूप त्यागने के लिये ग्रहण-त्याग बुद्धि से भरमाया हुआ शुभाशुभ कर्मों मे प्रवृत्त होता है। और माया के वश स्वयं ही कर्तृत्व भोक्तृत्वाभिमान को धारण करता है कि मैं शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता और सुख-दुःख का भोक्ता हूँ। इस प्रकार वह शुभ व अशुभ कर्म तो अपने आचरण में आने के बाद उत्तर काल मे लय हो जाते हैं, परन्तु उनकी पुण्य-पापरूप वासनाएँ अथवा संस्कार कर्तृत्वाभिमान के आश्रय संचित होते रहते हैं। उस संचित-कोश में से जितने संस्कारों को इस कर्तृत्वाभिमानी जीव ने अपना फल भोग देने के लिये तैयार किये हैं, वे ही प्रारब्धरूप फिल्म बनकर इस जीव को भोगायतन (भोगने का स्थान) इस शरीर में बाँधते हैं। जिस तरह हमे पकाने के लिये रसोई, बर्तन, ईंधन और राशन-सामग्री की जरूरत पड़ती है और हम खट्टे मीठे रस को भोगते हैं, इसी प्रकार फल के सम्मुख अपने कर्म-संस्कारों का भोग भोगने के लिये प्रकृति हमारे लिये भोगायतन शरीर पाकशाला इन्द्रियों, मन बुद्धि और प्राणादि साधन (बर्तन व ईंधन) और शब्द, स्पर्श रूप, रस व गन्ध पंचविषयात्मक प्रपंच (राशन-सामग्री) की रचना करती है और खट्टा मीठा रस अर्थात् सुख-दुःख का भोग कराती है। यही संसार-रचना का मुख्य प्रयोजन है।

काल कर्मवश होहिं गुसाईं,
बरबश रात दिवस की नाँईं ॥
सुख हर्षहिं जड दुख बिलखाहीं,
दोउ सम धीर धरहिं मन माँहीं ।

अर्थात्—जिस प्रकार रात-दिन बरबस आते हैं तैसे ही अपने कर्म-संस्कारों के अधीन जन्म-मरणादि घटनायें बरबश हुआ करती हैं। और जिस प्रकार कुम्भकार के चक्र पर चढ़ी हुई मिट्टी से छोटे-मोटे बासन उतरते हैं, तैसे ही काल-चक्र के ऊपर चढ़े हुये कर्म-संस्कारों से भाँति-भाँति के फल-भोग उतरते हैं। इसलिये मानना चाहिये कि जीव कर्म करने में तो स्वतन्त्र है, करे न करे और चाहे जिस प्रकार करे, परन्तु कर चुकने पर भोगने में तो स्वतन्त्र नहीं, किन्तु परतन्त्र ही है, अर्थात् भोगने के सिवा छुटकारा ही नहीं है।

अब हमको लोक-सुधार के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये यह बात तो स्पष्ट ही है कि जो प्राकृतिक नियम व्यष्टि जीव के लिये लागू होता है, वही नियम समष्टिरूप कुटुम्ब, जाति और देश के लिये भी स्पर्श करता है। समष्टि के लिये दूसरा कोई नियम बन नहीं सकता, क्योंकि अनेक व्यष्टियाँ मिलकर ही समष्टि बनती है। जैसे १०० व्यष्टि एकांक मिलकर ही एक समष्टि रूप सैकड़ा हो जाता है व्यष्टियों से पृथक् समष्टि कोई अर्थ रख नहीं सकता। सुख-दुःख, हानि-लाभ के लिये जो धार्मिक नियम प्रत्येक व्यष्टियों को लागू होता है, वही समष्टिरूप कुटुम्ब, जाति और देश के लिये भी लागू होता है। इसलिये व्यष्टिरूप जीव के सुख-दुःख का मूलकारण जो उसके व्यष्टिरूप कर्म संस्कार हुआ करते हैं, उसी प्रकार समष्टिरूप लोक के दुःख-सुख हानि-लाभादि के मूल कारण अर्थात् बीज समष्टि के समष्टिरूप कर्म-संस्कार ही हो सकते हैं, दूसरे बाह्य साधन तो बीज से फल उत्पत्ति में बीज के अनुकूल निमित्तमात्र ही हो सकते हैं। अर्थात् बीज से अधिक अथवा बीज से विपरीत निमित्त कोई भी फल दे नहीं सकता, जिस तरह माली बीज से अधिक अथवा विपरीत कोई फल देने में समर्थ हो नहीं सकता। इस सिद्धान्त के अनुसार हम संसार-दृष्टि रखकर ही अर्थात् संसार-सम्बन्धी भोग सुख-दुःख और हानि-लाभ को ही मुख्यता देकर यदि लोक सुधार मे प्रवृत्त हों और इसी मार्ग पर लोगों को चलावें तो यह किसी भी प्रकार का लोकसुधार हो ही नहीं सकता। क्योंकि हमने अपने इस प्रकार के आचरणों से लोक का दुःख मिटाने और सच्चा सुख प्राप्त कराने के लिये कोई खरा मार्ग नहीं ढूँढा है। किन्तु संसार दृष्टि रखकर संसार सम्बन्ध मे जो कोई सोपान हमने पकड़ा है, वह लोकों के अपने, अपने फलोन्मुख कर्म-संस्कार रूपी बीजों में माली के समान जल डालने का ही मार्ग लिया है। लोकों का सच्चा सुख प्राप्त करने का अथवा उनमे बीजारोपण का कोई भी सोपान पकड़ा नहीं है।

ऊपर जैसा हम इस सम्बन्ध मे खुलासा विचार कर आये हैं कि संसार सम्बन्धी दुःख-सुख व हानि-लाभादि समस्त घटनाओं में बीजरूप मूलकारण तो जीव के अपने-अपने फलोन्मुख कर्म-संस्कार ही होते हैं, बाहर के व्यक्ति तो केवल निमित्त मात्र ही हुआ करते हैं। इस लिये चाहे हम भूमिदान-यज्ञ की रचना करें, चाहे किसी दूसरी प्रकार का सेवा-क्षेत्र रचें, चाहे जैसा सेवा का अधार पकड़ें, परन्तु वास्तव में संसार सम्बन्धी दृष्टि रखकर ही हम दूसरों को उनके कर्म-संस्कारों के सिवा दूसरा किसी भी जात का फल प्रदान करने में समर्थ हुए हों अथवा समर्थ होसकेंगे ऐसा कहा नहीं जा सकता। किन्तु उनके लिये उस फल प्राप्ति में वस्तुतः मुख्यरूप तो उनके अपने फलोन्मुख कर्म-संस्कार ही थे हम तो केवल निमित्त मात्र ही बने थे, ऐसा मानना पड़ेगा। और संसार दृष्टि रखकर उनके लिये फल-प्राप्ति में हमने जो कुछ भी सहयोग दिया है वह फल नाशवन्त ही है,

फिर ऐसी दृष्टि से लोकसुधार क्या ? श्री भगवान् श्रीमुख से अर्जुन को इसी सिद्धान्त का उपदेश करते हैं:—

मयैवैते निहिता पूर्वमेव,
निमित्तमात्रं भवसव्यसाचिन् ।
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च,
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतान्स्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा,
युध्यस्वजेतासि रणे सपत्नान् ॥

अर्थ—अर्जुन ! मैं जो सम्पूर्ण जीवों के अपने अपने कर्मों का फल प्रदान करने वाला हूँ, उस मेरे द्वारा यह सम्पूर्णयोद्धा पहले ही मारे जा चुके हैं, तू तो केवल निमित्तमात्र ही है। और द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण, तथा दूसरे भी मेरे द्वारा मारे गये योद्धाओं को तू मार, चिन्ता न कर और युद्ध कर, तू रण में शत्रुओं को जीतेगा ही।

हम सुनते हैं कि किसी समय अति दुष्काल पड़ने से अपने सद्गुरू समर्थ श्री रामदासजी स्वामी की आज्ञा पाकर छत्रपति महाराज शिवाजी ने एक किला बनवाना आरम्भ किया, जिससे भूखी जनता को काम-काज मिले और उसकी उदर पूरणा सुखपूर्वक हो सके। ऐसा करते हुये एक दिन शिवा जी के मन मे अभिमान का अकुर उत्पन्न हुआ कि मैं इतने सारे मनुष्योंका उपकार करता हूँ। श्रीसद्गुरू ने इस बात को जान लिया और अपने शिष्य के ऊपर द्रवीभूत होकर उसके हृदय मे से इस अहकार के जागते हुये ही अकुर को काटने के लिये एक दिन जब कि शिवाजी अपने किले के कार्य की देख-रेख कर रहे थे, तब श्री सद्गुरू भी वहाँ पधारे। शिवाजी ने सद्गुरू को देखकर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। थोडी देर दूसरी चर्चा चलने के बाद सद्गुरू ने शिवाजी से कहा—"शिवा ! तुम धन्य हो जो इतने सारे मनुष्यों की जीविका चला रहे हो।" शिवा जी को सद्गुरू के मुख से ऐसे वाक्य सुनकर भय और संकोच हुआ और वे अपने मनमें विचारने लगे कि आज यह नई बात कैसी ? जो श्री गुरूदेव भगवान व्यगवाणी मे मेरी प्रशंसाकर रहे हैं जब कि शिवाजी इस प्रकार विचार ही कर रहे थे, तब श्री समर्थगुरू ने अगुली से संकेत करके शिवा जी को कहा—"वह पत्थर मेरे पास उठा लाओ।" शिवा जी आज्ञानुसार पत्थर उठा लाये। समर्थ श्री सद्गुरू ने कहा—"इस पत्थर को तोड़ो।" शिवा जी ने हथौड़ा मंगवाकर पत्थर को अपने हाथ से ही तोड़ा तो पत्थर के बीच मे एक छोटा मेढक और थोड़ा पानी निकल पड़ा। शिवाजी यह देखकर अधिक चकित हुये समर्थ गुरू बोले—"शिवा ! तुम महान हो, इस मेढक को भी तुम भूल न सके, इसे भी तुम ही तो भोजन पहुँचा रहे हो" शिवाजी अपने मन ही मन सर्वशक्तिमान् भगवान् की विचित्र लीला स्मरण कर रहे थे, इसके साथ ही सद्गुरू भगवान् के ऐसे व्यंग वचन सुनकर वे बहुत ही लज्जित हुये और प्रेम के आँसू बहाते-बहाते श्रीसद्गुरू के चरण कमलों को पकड़कर बारम्बार क्षमा मांगी।

इस वृतान्त से हमारा आशय यही है कि जैसा भगवान ने श्री मुख से गीता के अन्त मे कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया ॥

(गी०१८ ६१)

अर्थात्—सम्पूर्ण जीवों के हृदय मे ही स्थित ईश्वर मेढक की तरह से जल, थल, अग्नि, वायु और आकाश मे रहने वाले सम्पूर्ण जीवों को उन्ही के कर्मों के अनुसार वहाँ-वहा ही उनके भोगों का फल प्रदान करते हैं। बाण दूसरी सामग्री तो उनके फल-भोग के लिये उस भगवान के द्वारा कटपुतली के समान नचाये हुए उसके यंत्र ही होते हैं।

इस कथन-से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हमको ऐसी प्रवृत्ति करनी ही नहीं चाहिये, अथवा ऐसी प्रवृत्ति खोटी और पापरूप है। परन्तु हमारा आशय तो यही है कि लोकसुधार मे संसार-दृष्टि धारण करके ऐसी प्रवृत्त्त द्वारा हम अपना तो हित कर ही रहे हैं। 'समता का सच्चा साधन क्या ?' इस शीर्षक लेख में कथनानुसार यदि हम सात्विक भावना रखकर और संसार को विराट भगवान् की लीला जानकर उसके संकेत के अनुसार और उसके रिझाने के लिये कठपुतली के समान नृत्य करें तो प्रकृति हमें सच्ची प्रेमाभक्ति का अधिकार प्रदान करेगी। और यदि हम अपने में रजोगुणी भावों को भरकर संसार-सुधार की भावना से प्रवृत्त होते हों तो हमको मोटे पुण्यों का अधिकार प्राप्त होगा तथा यदि हम तमोगुणी लोक वासना से ही प्रवृत्त होते हों तो हमको इसलोक में ही मान-बड़ाई प्राप्त होगी। इस प्रकार हमको तो फल मिलेगा ही, परन्तु ऐसी दृष्टि से हम दूसरों का कोई भी सच्चा हित कर सकें हों, अथवा दूसरों का कोई सुधार कर सकें हों ऐसा कहा नहीं जा सकता। क्योंकि हमारे सामने तो इस समय प्रश्न है लोक-सुधार का, कि लोक-सुधार क्या है ? संसार-दृष्टि धारण करके ही ऐसी प्रवृत्ति प्रथम तो दूसरों के सांसरिक भोग के लिये ही है और वह उनके अपने कर्म संस्कारों से ही उनको मिल सकते हैं। दूसरे, भोग नाशवंत हैं और नाशकाल में वे विशेष दुख देने वाले हैं तीसरी भोग-प्रवृत्ति परमार्थ से विमुख करने वाली और दुःख को बढ़ानेवाली है। चौथे, जिसको हम लोक-सुधार कहते हैं. ऐसी वर्णाश्रम-धर्मविरुद्ध खोटी समता दृष्टि धारे रखकर जो लोक सुधार मे प्रवृत्त हों तो सुधार के बजाय बिगाड़ तो निश्चिय है ही। समता क्या है ?' इस प्रसग मे हम विचार कर आये हैं कि व्यवहार की समता व्यवहार और परमार्थ दोनों को ही बिगाड़ने वाली है।

इस प्रकार संसार और व्यवहार-दृष्टि धारण करके ही जो लोक-सुधार के निमित्त प्रवृत्ति होती है, वह तो घाव न धोकर पट्टी को धोये जाने के समान किसी प्रकार का लोक सुधार कही जा ही नहीं सकती। क्योंकि प्रकृति राज्य में यह खरा नियम है कि व्यवहार मे पुरुषार्थ की मुख्यता नहीं है, परन्तु व्यवहार सम्बन्ध में तो प्रारब्ध (फलो मुख कर्म संस्कार) की ही मुख्यता रहती है। व्यवहार सम्बन्ध मे तो जो कुछ हम पुरुषार्थ करते हैं वह तो प्रारब्ध के अधीन ही फल देता है। व्यवहार मे प्रारब्ध बिना स्वतन्त्र पुरुषार्थ फल दे नहीं सकता। जिस प्रकार किसी डाक्टर को समान प्रकृति और समान दोषों वाले दो रोगी सौंपे जावें और डाक्टर भी उनके साथ समान चिकित्सा और समान पथ्य से ही वर्ताव करे, फिर भी दोनों में जिसकी प्रारब्ध अनुकूल हो उसको ही सफलता मिलती है। इसलिये सांसारिक दुःख-सुख और हानि-लाभ के लिये पुरुषार्थ होते हुए भी प्रारब्ध ही बलवान् रहता है, जैसे गधा, घोड़ा और ऊँट आदि पशुओं के द्वारा चेष्टाएँ तो पुष्कल होती हैं, परन्तु वे सब उनके भोगों के लिये ही होती हैं, क्योंकि ससार और व्यवहार सम्बन्धी सभी चेष्टाएँ अपने बोये हुए बीज के फल काटने के समान ही हुआ करती हैं, इस-लिए वे सम्पूर्ण चेष्टाएँ बीज के अनुसार फल प्रदान में ही सहायक बन पड़ती हैं। परन्तु धार्मिक और पारमार्थिक दृष्टि धारण करके जो पुरुषार्थरूप चेष्टाएँ बरतने में आवें तो वे बीजारोपण के समान होती हैं, इसलिये वे कभी भी निष्फल हो नहीं सकती जितनी मात्रा में और जैसे शुद्ध भावों से वे बरतने में आवें उतनी मात्रा में वे अपना व दूसरों के समान होने से अवश्य हितकर होती हैं। जिस प्रकार भगवदर्पण-दृष्टि धारण करके यदि हम किसी भी प्रकार का यज्ञ, तप अथवा दान करें तो अवश्य हमको अपने वर्तमान आचरण काल में यहाँ ही शान्ति

और परलोक मे सद्गति का अधिकार प्रदान करते हैं। कोई वस्तु बाधा डाल नहीं सकती। परन्तु यदि हम ससार सम्बन्धी रोग, शोक की निवृत्ति और भोगों के उपार्जन के लिये ही इन पुरुषार्थरूप चेष्टाओं मे प्रवृत्त हों तो वे पूर्व बोये हुये बीज के फलरूप होने से हम अपने पुरुषार्थमें सफल होंगे ही ऐसा निश्चय हो नहीं सकता। इस विषय मे हमारे सामने इस समय पश्चिम मे इगलैन्ड और पूर्व मे जापान का ज्वलन्त दृष्टान्त मौजूद है कि वे दोनों देश अपने अपने में जन-धन का बल, पुरुषार्थ, बुद्धिमत्ता और नीति के बल मे खूब ही उन्नति के शिखर पर चढे हुये होते हुये भी उनके समष्टि सस्कार और समष्टि प्रारब्ध अनुकूल न होने से वे आज अवनति की भूमि पर पडे हुये हैं। (क्रमशः)

परमार्थ-प्रकाश

(सन्तोत्मा सर्वश्री डॉगी जी महाराज के सत्संग से)

स्वार्थ का अर्थ है अशुभ कर्म जो पाप रूप है। परार्थ का अर्थ है शुभ कम जो पुण्य रूप है और परमार्थ का अर्थ है शुद्ध कर्म जो शाश्वत-धर्म है। शुभ कर्म से स्वर्ग मिलता है, अशुभ कर्म से नरक मिलता है और शुद्ध कर्म या शाश्वत धर्म परमार्थ और मुक्ति दाता है। स्वार्थ दु.ख देता है—परार्थ सुख देता है और परमार्थ आनन्द रूप है।

स्वार्थी अपने लिये दूसरों को दुखी करता है, परार्थी दूसरों के लिये अपने को दुखी करता है और परमार्थी सदानन्दी है—उसके लिये सुख-दुःख समान हैं दूसरों का सुख ही उसका सुख होता है। स्वार्थी को कनिष्ठ अहकार होता है, परार्थी को श्रेष्ठ अहकार होता है और परमार्थी निरहकार होता है।

रावण स्वार्थी था, सुग्रीव और विभीषण परार्थी और हनुमान परमार्थी।

"शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्मे प्रियो नरः।"

भगवान ने भक्तिमान् और प्रियनर उसी को कहा है जो शुभ और अशुभ सब धर्मों को छोड़कर—

'मामेकं शरण' शुद्ध नित्य-मुक्त- एक प्रभु के 'शरण'-चला जाता है वही परमार्थी है। शुभ और अशुभ छोड़ने का यह अर्थ नहीं कि अशुभ तो पकड़ लो और शुभ छोड़ दो जब तक अशुभ नहीं छूटे तब तक शुभ को ग्रहण करो जब अशुभ निकल जायगा तो शुद्ध स्वस्थ अवस्था में शुभ भी नहीं रहेगा।—सब पेट का कूड़ा करकट निकाल कर जुलाब भी निकल जाता है उसे निकालने के लिये जुलाब नहीं लेना पड़ता।

किनारे पहुँचने पर नाव भी छोड़नी पड़ती है पर बीच समुन्द्र में जहाज छोड़दोगे तो डूब जाओगे सो शुभ को छोड़ना नहीं है शुद्धके बलपर वह अपने आप छूट जायेगा फाड़ खड़ा होने पर वह अपने आप छूट जायगा पहले मत छोड़ो—फोड़ा ठीक होने पर ऊपर का खुरपट अपने आप निकल जायगा उसे हाथ से मत निकालो—अडा पकने पर अपने आप खोल छूट जायगा उसे हाथों से मत फोड़ो। उसी प्रकार पुण्य कर्मों को जानबूझकर मत छोड़ो। ये—पवित्र करने वाले हैं। ब्रह्म स्थिति में ये अपने आप छूट जायेंगे। सोपान छोड़ते छोड़ते ऊपर चढ़ो पर तोड़ते २ मत चढ़ो, उसी प्रकार पुण्य कर्म छोड़ते छोड़ते शुद्ध शाश्वत धर्म पर बढ़ते चलो पर पुण्य कर्म का मार्ग मत तोड़ो। स्वार्थ परार्थ और परमार्थ को समझकर परमार्थ पर दृढ़ बनो। वही अपना मुकाम है। मंजिले मकसूद है। अंतिम ध्येय है। परम लक्ष्य है। इसी लिये हम मनुष्य बनाये गये हैं।

प्रेषक—श्री सूरजचन्द्र जी सत्यप्रेमी

पारलौकिक चिन्तन में मानव जीवन की सफलता

(पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

जगद्गुरु भारत के प्राचीन उज्वल इतिहास की स्मरणीय पुनीत गाथाएँ तथा संतों की वाणी आज के भौतिकवादियों को सचेत करती है, ओ भोले मानव ! किस भूल भुलैया के भ्रम में भटक रहे हो । इस मार्ग में चलने से तुम्हें शान्ति की प्राप्ति कदापि न हो सकेगी, वरन घोर अशान्ति ही तुम्हारे हाथ लगेगी और मगलमय प्रभु का वरदान यह नर-देह अभिशाप वन जायगा । विचार करो यह देव दुर्लभ, कचन मी काया क्या इसी हेतु मिली है कि पुन. इसके द्वारा अपनी पूर्व संचित पाशविक वृत्तियों की पूर्ति करने के लिए अहर्निश पाप बटोरते रहो ? चौरासी लक्ष योनियों के अवर्णनीय अपार कष्टों से छुटकारा पाकर दयामय भगवान् की असीम अहैतुकी अनुकम्पा से यह मनुष्य शरीर जीव को मिलता है । भगवान् ने स्वयं श्रीमुख से इसे 'साधन धाम' और 'मोक्ष का द्वार' कहा है । अर्थात् मानवोचित तथा शास्त्रानुमोदित कर्त्तव्यों का पालन करने में ही इस शरीर की सार्थकता है यदि मन्मुखी वन कर अपने दुष्कर्म द्वारा इस देह का दुरुपयोग किया जायगा तो यह निश्चित है कि पुन. उसी दुखद प्रवाह मे अनन्तकाल तक प्रवाहित होना पड़ेगा । किसी की धरोहर का दुरुपयोग करने अथवा नष्ट करने पर जैसे कारागार के कष्ट भोगने पड़ते हैं इसी प्रकार भगवान के साधन के निमित्त धरोहर स्वरूप यह नर देह जीव को प्रदान किया है, इसका दुरुपयोग होने से आगे फिर यह मनुष्य योनि प्राप्त नहीं होगी चौरासी लाख योनियों में जीव को अपार कष्ट सहन करने ही पड़ेंगे । इसी लिये हमारे पूर्वज मनीषियों ने अपनी एकान्त साधना से यह अनुभव प्राप्त किया था कि यह शरीर वास्तव मे इस लोक का सुधार करने के लिये नहीं वरन् परलोक बनाने के लिये ही जगन्नियंता ने जीव को प्रदान किया है । राज्याभिषेक के पश्चात् मर्यादा पुरुषोत्तम प्रजावत्सल भगवान् श्रीराम ने अपनी समस्त प्रजा को एकत्रित करके स्वयं श्रीमुख से यह सन्देश दिया था—

बड़े भाग मानुष तनु पावा ।
सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा ॥
कबहुँक करि करुणा नर देही ।
देत ईश विनु हेतु सनेही ॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा ।
पाइ न जेहि परलोक सँवारा ॥

सोपरत्र दुख पावइ सिर धुनि-धुनि पछिताय ।
कालहि कर्महिं ईश्वरहिं मिथ्या दोष लगाय ॥

यहि तन कर फल विषय न भाई ।
स्वर्गहु स्वल्प अन्त दुखदायी ॥
नर तनु पाइ विषय मनु देहीं ।
पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं ॥

उपरोक्त भगवदीय सन्देश के विपरीत यदि हम इस 'साधन-धाम' तथा 'मोक्ष के द्वार' को 'मौज का द्वार' बनाकर 'खाओ पियो और मौज करो' का सिद्धान्त अपनाये रहेंगे तो हमारा सर्वनाश निश्चित है । भौतिकवाद की उपासना से अर्थात् अपने मन को विषयाकार बनाने से हम अवश्य ही दुखों के महासागर में जा पड़ेंगे । तब कोई भी शक्ति हमें उस नरक में दग्ध होने से नहीं बचा सकेगी । तब तो सिर धुनकर पछताने के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगेगा । उस समय का पश्चाताप भी व्यर्थ और निरर्थक होगा ।

दही का मथन कर जैसे उसका सार मक्खन

निकाल, छाछ को त्याग देते हैं। इसी प्रकार इस मानव योनि को पाकर इसके सार को भली भाँति समझ लेना चाहिये। मनुष्य शरीर मे सार वस्तु 'बुद्धि है' यह वह महाशक्ति है जो केवल मनुष्य को ही दयामय की दया से प्राप्त हुई है। वेद, पुराण, शास्त्र तथा सन्तों ने इस शक्ति का सदुपयोग करने की आज्ञा मनुष्य को दी है। मनुष्य रुपी योनियाँ प्रभु के इस महाप्रसाद से वंचित हैं। इसके सदुपयोग से ही मनुष्य अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। चौरासी लाख बन्धनों की कष्टमयी अनेक श्रृङ्खला को छिन्न-भिन्न कर सकता है। मंगलमय प्रभु की मंगलमयी और चिर शान्तिदायिनी गोद मे सदा सर्वदा के लिये विश्राम पा सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त समस्त जीवों को केवल शारीरिक रक्षार्थ सीमित बुद्धि प्राप्त है। यदि मनुष्य भी अपने शरीर के रक्षा मे ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान लेगा तो फिर उसमें और पशुओं मे क्या अन्तर रहेगा? अपने शरीर से सम्बन्धित प्रिय जनों का ममत्व तथा उनके पालन पोषणार्थ किया हुआ पुरुषार्थ भी प्रकारान्तर से अपने शरीर की ही सेवा है। अपने स्त्री बच्चों का लालन पालन तो पशु पक्षी भी कर लेते हैं। आप भी यदि अपने जीवन में यही करते रहे तो आप में पशुओं से अधिक विशेषता क्या है? अर्थात् संकुचित दृष्टिकोण होने के कारण मानव की बुद्धि का विकास नहीं हो सकता। संकुचित दृष्टिकोण में केवल अपने सुखी होने की भावना छिपी रहती है। अपने सुख को बढ़ाने के लिये दूसरों का सुख छीनना पडेगा अर्थात् पड़ोसी मरे चाहें जिये हमारे सभी काम पूरे ठीक उतरने चाहिये। यह भावना अपना साधारण सा स्वार्थ साधन करने के लिये दूसरों का बडे से बडा अहित कर डालती है। अहिंसा और प्रेम की सद्‌भावनाएँ हिंसा और स्वार्थपरता मे परिवर्तन होकर वायुमण्डल को दूषित बना देती हैं। मानव दानव बनकर राष्ट्र की आत्मा को दग्ध करता है। अशान्तिमय वातावरण का मूल कारण यही दुर्भावना और संकुचित दृष्टिकोण ही है।

'आहार निद्रा भय और मैथुन' मनुष्य और पशु दोनों मे समान ही पाये जाते हैं मनुष्य तो इन प्राकृतिक विकारों का शमन विवेक से कर सकता है, किन्तु पशु मे विवेक का अभाव है। विवेकमय जीवन प्रकाश की ओर ले जाता है विवेक रहित जीवन पाशविकता तथा जड़ता की ओर जाता है उसी चैतन्य शक्ति को जड़त्व के जाल से बचाने के निमित्त वेद शास्त्र पुराण और इतिहास की रचना हुई। बहिर्मुखी वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाने का आदेश मनुष्य को इसी हेतु मिला कि वह अपनी बुद्धि को विनाश से बचाकर विकास की ओर ले जा सके। वर्तमान समय मे तो जो व्यक्ति उचित अथवा अनुचित रीति से धनोपार्जन अथवा यश प्राप्त कर लेता है उसे ही सांसारिक जग बुद्धिमान कहते हैं, किन्तु भगवान् श्रीमुख से अर्जुन को इस विपरीत मार्ग से सावधान करते हुए कहते हैं कि वास्तव में बुद्धिमान वही है जो भोगों मे लिप्त न हो।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।
(गीता ५। २२)

अर्थात्—यह जो इन्द्रियों तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषों को सुख रूप भासते हैं, तो भी निःसन्देह दुःख के ही हेतु है और आदि अन्त वाले होने के कारण अनित्य हैं, इस लिये हे अर्जुन! बुद्धिमान, विवेकी पुरुष इसमे नहीं रमता।

भौतिकवाद की चकाचौंध से ओतप्रोत आज का संसार इस विपरीत बात को श्रवण करना भी पसन्द नहीं करता। विषयों में रमण करते हुए सुख की खोज करने वाले, आजीवन मृग मरीचिका की भाँति भटकते रहते हैं। कामनाओं की पूर्ति न होने

से सुख के स्थान पर दुख ही हाथ लगता है। तृष्णा की ज्वालामुखी इन्द्र पदवी को प्राप्त कर भी शान्त नहीं हो पाती। गम्भीर चिन्तन करने के पश्चात् हमारे पूर्वजों ने मनुष्य को सुख-शान्ति का सन्देश दिया था कि यह जीवन वास्तव मे इहलोक बनाने के लिये नहीं वरन परलोक सुधारने के लिये मिला है। अपना परलोक सुधारने वाले कल्याणकामी जन, अपने मन और इन्द्रियों को तपाकर इस कंटकाकीर्ण पथ पर चलते हुए अपने गन्तव्य पर पहुँचते थे। प्रारम्भ मे विषवत् प्रतीत होने वाला यह दुखद मार्ग परिणाम मे सुन्दर, सुखद् और आनन्दमय बन जाता है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामे ऽमृतोपमम्
तत्सुखसात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम्
(गी०१८--३६)

इस क्षण भङ्गुर जीवन का सदुपयोग करने के लिये अनेक महापुरुषों ने सदैव संकटों को सहर्ष सहन किया परलोक सुधार का लक्ष्य होने के कारण ही चक्रवर्ती सम्राट महाराज हरिश्चन्द्र अपना सर्वस्व देकर चाण्डाल के भृत्य बने। महाराज शिवि ने शरणागत कपोत के प्राण रक्षार्थ अपने हाथों अपने शरीर का माँस काटकर तराजू पर चढ़ा दिया। महाराज दशरथ ने अपने वचन का पालन करने के लिये प्राणप्रिय पुत्र को वन भेज कर मृत्यु का आलिगन किया। महर्षि दधीचि ने अपने शरीर की हड्डियाँ जीते थके दान कर दीं। मनुष्य को जागृति का सन्देश देने वाली ऐसी अनुपमेय पुनीत गाथाओं से ही भारतवर्ष जगद्गुरु माना जाता था। वर्तमान कालीन दीनता और हीनता का कारण स्पष्ट रूप से भोगप्रियता तथा पारलौकिक दृष्टि कोण का नितान्त अभाव ही जान पड़ता है।

वास्तव मे इन्द्रिय जन्य सुख आनन्द से पशु पक्षी भोगते हैं वैसी सुखानुभूति मनुष्य तो कर ही नहीं सकता। मनुष्य के लिये पग पग पर कानून तथा शास्त्र का प्रतिबन्ध है। हलवाई की दुकान पर थाल में सजी सुन्दर मिठाई को बर्र कितने मनोयोग से आसन लगाकर खाती है किन्तु मनुष्य को मिठाई के लिये पैसे खर्च करने पड़ते हैं और पैसों के लिये पुरुषार्थ करना पडता है। चिन्ताओं के कारण भोगों को भोगते हुए भी मनुष्य उस सुखका अनुभव नहीं कर सकता जो एक चिन्तामुक्त पशु को होता है। आपको विवाह करने के लिये प्रथम तो योग्य वर अथवा कन्या की तलाशमे नींद हराम होजाती है। ठीक होजाने पर सहस्रों रुपये के प्रबन्ध करने का भार सरपर पडता है और अनेक कठिनाइयों का सामना करने के पश्चात् विवाह होता है किन्तु पशु तो इन बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर चाहे जितने विवाह करें उन्हें न तो अपनी सन्तान के स्वास्थ की चिन्ता और न उनकी पढाई लिखाई का भार। तात्पर्य यह कि मानव देह वास्तव मे भोग योनि है ही नही, उसकी सार्थकता भोगों के त्याग में ही अन्तर्हित है। इसी के द्वारा यह अपना पारलौकिक सुधार कर सकता है। देवयोनि को प्राप्त करके भी जीव अपने परम लक्ष्य से दूर हट जाता है, वहाँ की ईर्ष्या तथा द्वेष के वातावरण से क्षुब्ध होकर पश्चाताप करता हुआ पुन मानव देह प्राप्त करने की कामना करता है:—

नर समान नहिं कवनिहु देही।
जीव चराचर जाचत जेही॥

युग-धर्म के प्रभाव से आज का मनुष्य अपने इस लोक के सुधार मे ही अहर्निश लगा हुआ है। परलोक सुधार की चिन्ता तो उसे स्वप्न मे भी चिन्तित नहीं करती। आज मैंने यह किया कल मुझे ऐसा करना है। ऐसा करते करते उसका समस्त जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। जो बड़भागी जन इस कल्याणकारी मार्ग की ओर चलते हैं वे ही धन्यवाद के पात्र है। उन्होंने सत्संग

तथा स्वाध्याय द्वारा इस रहस्य को हृदयंगम कर लिया कि इस लोक का सुधार वास्तव में परलोक के सुधार में ही अन्तर्हित है। जिस प्रकार कलकत्ता से हरिद्वार का टिकट लेने पर मार्ग में काशी, लखनऊ, बरेली आदि नगर देखने को मिल जाते हैं इसी प्रकार पारलौकिक लक्ष्य होने से स्वाभाविक इस लोक के सभी कार्य स्वतः सम्पादित हो जाते हैं। मगलमय प्रभु का मंगलमय विधान यही कि जो अनन्य भाव से इस ओर अग्रसर होता है उसका योगक्षेम भक्तवत्सल, प्रणतप्रतिपालक भगवान् स्वयं करते रहते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(९-२२)

ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा, नरसी आदि असंख्य भक्तों की प्रातः स्मरणीया गाथाएँ सदैव इस सत्यता को प्रमाणित करती रहती हैं कि इस शाश्वत सुख का सुन्दर सुखद मार्ग इहलोक का सुधार नहीं वरन परलोक का सुधार ही है। ध्रुव ने सुख वैभव को त्याग कर अक्षय सुख और अचल पदवी प्राप्त की। प्रह्लाद ने महान संकटों को सहर्ष सहन कर नृसिंह भगवान् की अलौकिक आनन्दमयी और चिरशान्तिदायिनी गोद प्राप्त कर ली। भक्त नरसी के सभी कार्य साँवलिया साह करते रहे। राजरानी मीरा के अनन्य प्रेम ने हलाहल को अमृत और भयंकर विषधर सर्प को शालिग्राम बना दिया। सारांश यह कि मानव जीवन की सार्थकता इस लोक के सुधार मे नहीं वरन् पारलौकिक सुधार मे ही स्पष्ट रूप से छिपी जान पड़ती है।

चरणानुराग

हो जहाँ बहाते ऋद्धि सिद्ध,
सुख सम्पति धन जन मनभावन।
मत मुझे ले चलो जहाँ लुटाते,
सुगति भूतिमय इन्द्रासन ॥

प्रिय भरो न मेरा भाग्य पात्र,
मधुमय भोगों से रिक्त रहूँ।
दो एक बूँद चरणानुराग,
जी भर भर पीकर तृप्त रहूँ ॥

(श्री बृजनन्दन जी अग्निहोत्री)

चिरशान्ति के लिये विषयों को त्यागो

(पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

मछली जल में निवास करती हुई भी तब तक प्यासी रहती है जब तक वह जल में उल्टी नही होती अर्थात् अपने गति और स्वरूप को बिल्कुल पलट नही लेती। इसी प्रकार प्रत्येक मानव आनन्द सागर में रहता हुआ भी आनन्द के लिये भटकता है। वह जब तक वहिर्मुखी वृत्तियों को उलट कर अन्तर्मुखी नहीं करता तब तक उसे आनन्द प्राप्त नहीं होता। रामायण मे पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि—

आनन्द सिन्धु मध्य तव वासा।
विनु जाने कत मरत पियासा॥

समस्त ससार बाहर की ओर ही आनन्द की खोज में दौड़ रहा है। परन्तु क्या उन चमकीले आकर्षक विषय पदार्थों में सुख-शान्ति किसी को मिली है या मिल सकेग ? कदापि नहीं, यह सभी जानते हैं, फिर भी अभ्यास और स्वभाव वश इधर ही दौड़ रहे हैं, वास्तव में मन इन्द्रियों का प्रवाह ब्रह्मा जी ने वहिर्मुखी बनाया ही है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू,
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष,
दावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठोपनिषद्)

अर्थात् स्वयंभू भगवान् ने इन्द्रियों को वहिर्मुखी बनाया है इस लिये बाहर की ओर यह दौड़ती हैं। भीतर को नहीं। कोई विरला ही धीर पुरुष इन्द्रियों को आत्माभिमुख करके अमृतत्व को प्राप्त कर पाता है।

परन्तु साथ मे परमपिता परमात्मा ने इस दुख-प्रवाह से निकलने और आनन्द प्राप्ति के लिये मानव देह का भी निर्माण किया। इस मानव देह मे ब्रह्मा रचित मन बुद्धि के प्रवाह को हम उलट सकते हैं, मन की वहिर्गति को आत्मोन्मुखी कर सकते हैं। इस मानव शरीर के निर्माण का प्रयोजन ही यही है। युग युगों से भटकते जीव को शाश्वत शान्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति करा देना मानव शरीर का लक्ष्य है, यदि यह शरीर पाकर भी चूक गये, तब तो पुनः चौरासी के चक्कर मे पड़ जाओगे। गोस्वामी जी भगवान् श्रीराम द्वारा रामायण में कहलाते हैं:—

नर तनु भव वारिधि कहुँ वेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करनधार सद्गुरु दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ कर पावा॥

वास्तव में अनुभव करने पर यही समझ मे भी आता है, कि समस्त साधनों से युक्त मानव शरीर भी पाकर यदि इस माया के भयंकर चक्कर से नही निकल सके तो फिर इस दुखद प्रवाह से निकलना नितान्त दुष्कर हो जायेगा।

एक अन्धे मनुष्य को एक विशाल बाड़े में बन्द कर दिया गया। उस बाड़े में एक ही द्वार था। अन्धे के ऊपर दया दृष्टि करके किसी पुरुष ने उस बाड़े का द्वार खोल दिया। और अन्धे से कहा कि मैंने तुम्हारे लिये द्वार खोल दिया है उससे निकल आओ और इस कैद से मुक्त होकर आनन्द करो। अन्धे ने कहा हम कैसे निकले द्वार तो हमें दिखाई नहीं पड़ता। उस पुरुष ने कहा तुम दिवाल के सहारे टटोलते हुये चक्कर लगाओ दरवाजा मिल जायेगा, लेकिन एक बात याद रखना

कि कहीं दिवाल को मत छोड़ देना, यदि कहीं दिवाल छूट गई तो द्वार नहीं पा सकोगे। अन्धे ने कृतज्ञता पूर्वक कहा नहीं मैं दिवाल कदापि नहीं छोड़ूँगा। चाहे कुछ भी हो। पुरुप ने अन्धे को दिवाल पकड़ा दी। अन्धा दीवाल टटोलता हुआ चल पड़ा, पुरुप ने फिर सचेत किया कि कहीं दिवाल न छोड़ बैठना। अन्धे ने दृढ़ता से कहा नहीं और वह चल पड़ा।

उस अन्धे के जघा मे पुराना दाद था जिसे खजुला कर वह कभी आनन्द और वाद मे दुख का अनुभव किया करता, उसे याद नहीं था कि यह दाद कब पैदा हुआ था। चलते चलते जब दरवाजा निकट आया तब उसके दाद में खुजली पैदा होगई, उसने सोचा कहीं दाद खुजलाते हुए दिवाल न छुट जाय, इस लिये दाद न खुजलाऊँ, परन्तु खुजली अधीर करने लगी अभ्यास वशात् हाथ ऊपर उठ ही गया, उसने सोचा एक हाथ से खुजला लूँ एक हाथ से दिवाल पकड़े रहूँ तो नहीं छुटेगी। वह एक हाथ से दाद खुजलाने लगा, दाद खुजलाने मे इतना आनन्द आया कि उसे याद ही नहीं रही कि मैं दिवाल के सहारे दरवाजे से निकलने को चला हूँ। दूसरा हाथ भी हट गया और बैठकर वह दोनों हाथों से दाद खुजलाने लगा। जब खुजलाते खुजलाते चरचराहट और कष्ट पैदा हुआ तब उसे याद आया अरे मैं तो द्वार ढूढ़ रहा था। उठ कर दिवाल टटोली तो दिवाल हाथ में नहीं आयी क्योंकि खुजलाते समय दिवाल की ओर तो पीठ हो गई थीं। आगे बढ़ा तो दिवाल की खोज में परन्तु दिवाल तो पीछे छुटती गई। पीछे लौटा तो भ्रम हुआ कि कहीं दिवाल के प्रतिकूल तो नहीं चल रहा हूँ, दायें वायें चला परन्तु वुद्धि विभ्रमित हो गई थी। कुछ समझ में न आया। रोने लगा हाय-हाय चिल्लाने लगा, वहीं गिर कर अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगा।

दूर से उसी पुरुप की आवाज आयी जिसने दिवाल पकड़ा कर दिवाल न छोड़ने का कड़ा आदेश दिया था— कि अरे मूर्ख ! तू क्षणिक सुखदायी और पश्चात् को कष्ट देने वाली दाद की खजुलाहट मे फँस गया। मेरे द्वारा सचेत होने पर भी तू नहीं माना। ले भोग अपने किये का फल। अब द्वार भी बन्द होता है फिर न जाने कब तेरे ऊपर कृपा होवे। अन्धा विचारा विलखता पड़ा रहा।

यह है दृष्टान्त इसका दार्ष्टान्त यह हुआ कि ज्ञानविहीन जीव ही अन्धा मनुष्य है, चौरासी लाख योनियों ही वाड़ा है जिसमे वह ज्ञान हीन होने के कारण वन्द हो गया। मानव देह ही इस वाडे का द्वार है, दिवाल का सहारा पकड़ाने वाला पुरुप ईश्वर है जो अपने अश जीव पर अहैतुकी कृपा दृष्टि रखता है। दाद की खुजलाहट ही विपय भोगों की कामना है। द्वार के निकट अर्थात् मानव देह को पाकर भी यदि भगवान की आज्ञा को उल्लंघन कर अर्थात् विपय भोग रुपी दाद को खुजलाने में लग गये तो फिर अनन्त काल के लिये उसी चौरासी के चक्कर मे पड़े रहोगे।

इस लिये वडी ही सावधानी से परम पुरुपार्थ करके इस चक्कर से निकलने का प्रयत्न करना चाहिये। इससे निकलने का सहज उपाय यही है कि जन्मान्तरों से जो पंच विपय भोगने का अभ्यास है उस भोगाभ्यास को सदभ्यास द्वारा दूर कर देना चाहिये। हमे इन विपयों से छुटकारा ही तो पाना है। पञ्च विपय ही ससार हैं। यही वन्धन हैं यही दुखदायी नरक मे डालने वाले हैं। यही गर्भवास की असह्य वेदना देते हैं। यही जन्म मृत्यु के चक्कर में पुन पुनः गिराने वाले हैं। इन महा-पिशाचों का विनाश करना ही जीव का पुरुपार्थ है। इन विपयों का त्याग विचार और वैराग्य से हो सकता है। पहले तो यह विचार करना चाहिये

कि ससार के सभी पदार्थ विनाशी और दुखदायी हैं। इनमें सुख जो दिखाई पडता है वह भ्रम मे डालने के लिये है।

सुनहु तात यहि जग के माहीं,
दुख निशि दिन सुख सपन्हुँ नाहीं।

हमारे सत और शास्त्र चिल्ला चिल्ला कर सचेत कर रहे हैं:—

जन्म दुःखं जरा दुःख व्याधि दुःखं पुन. पुनः।
संसार सागरे दु.ख तस्माज्जाग्रत जाग्रत॥

अर्थात् इस ससार में जन्म का दु.ख बुढ़ापे का दु ख तथा रोगादि का दु.ख ही दु ख भरा है, दु ख सागर से बचने के लिये जागो-जागो। भगवान् के चरण कमलों का सहारा लो।

इस प्रकार ससार की असारता पर विचार करने से स्वयं ही धीरे-धीरे विषयों से विरक्ति होने लगेगी। विषयों का चक्कर छुटने पर तो शान्ति मिल ही जायगी। अत इस विषय तृष्णा को सदैव के लिये समाप्त करके चिर सुख प्राप्ति के लिये तैयार हो जाना चाहिये। भगवती श्रुति कह रही हैं.—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'

उठो, जाग और श्रेष्ठ पुरुषों के सग से ज्ञान प्राप्त करो।

योगीराज

(पृष्ठ ३२ का शेष)

अवश्य विधाता का विधान सर्वशक्तिमय है। जिस नरेन्द्र के दरिद्र भाग्य को बदलने की शक्ति किसी भी मनुष्य में नहीं दीखती थी, उसी नरेन्द्र को तूने आज राजसिंहासन पर बिठाया है। मैं तेरा कृतज्ञ रहूँगा। मुझे तेरी महिमा का स्पष्ट सकेत मिल रहा है। केवलमात्र तेरे चोले को धारण कर लेने से ही विश्व की सम्पदा मेरे पास लोटती हैं—कहा नहीं जाता कि क्या होता यदि मैं सचमुच तुझमें ही अपने को तन्मय कर देता। नकली योगी बनने पर यह वैभव और विलास मेरे पास दीन-हीन-सा पड़ा है, और न जाने क्या हो जाता यदि मैं सचमुच ही योगदण्ड को धारण कर लेता। सम्भवत' अखिल-लोकों की निधियाँ मेरी ही हो जातीं, सप्त-भुवन नव-खण्ड, अनन्तकोटि तीर्थ और समस्त दिव्य वैभव मेरे ही हो जाते, सम्भवत. अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों, महाण्डों, अर्णवों और महार्णवों पर मेरा एकाधिपत्य हो सकता और निश्चयत मैं ऐसे अमर और अनन्त काल तक सुख का अनुभव कर सकता, जिसको योगीजन सदा से आत्मनिष्ठ होकर करते आये हैं और जिस सुख को पाकर और कुछ पाना नहीं रह जाता। छद्मवेषी नरेन्द्र सोचता जा रहा था। उसके हृदय को योगीत्व के रग ने रंग लिया था। कोयले की खान में मनुष्य गया और पूरा कोयला ही बन कर आया। इसी प्रकार राज्य, राजकुमारी और राज-वैभव पाने के लिये तो नरेन्द्र ने योगी के चोले को धारण किया था, किन्तु अब उसके हृदय मे अपूर्व जागृति होने लगी। वह योग के अमिट-प्रभाव को समझने लगा। उसने विचार किया—

मैं निश्चय ही इस राज्य-सुख से भी महत्तर

सुख की प्राप्ति करना चाहता हूँ, जिस सुख को प्राप्त करने के लिये यह योग-दण्ड हमारे सन्तों ने निर्धारित किया है। मैं सुख तो चाहता हूँ, किन्तु परम-विशाल और परम-विस्तीर्ण सुख, जिस सुख के आगे और कोई भी सुख वाञ्छनीय न हो। और यह निश्चय है कि योग ही मुझे यह सुख दे सकेगा। मुझे योग के अमिट प्रभाव मालूम हो चुके हैं। मैं आज ही अरण्यों और गिरि-पन्थों मे जाऊँगा पर्वतों और ऋषि-आश्रमों में जाऊँगा, सरिताओं के उस पार सदा अन्ध-तम-जटित-जगलों में जाऊँगा और प्रण करता हूँ कि उस परमैश्वर्य को प्राप्त करूँगा, उस अनन्त-वैभव की संप्राप्ति करूँगा और उस अमित-आनन्द-सागर में अपने को अहोपुण्य करूँगा—जिसकी प्राप्ति के लिये ही योग दण्ड निर्धारित किया है, मुझे यह सम्पदा नहीं चाहिये, यह तो तुच्छ है, बालुका के चमकते हुये कणों के समान है, निरन्तर चपल दीपक के समान है और सत्वहीन स्त्री के समान है। अहो मुझे नहीं चाहिये यह राजसिंहासन और न राज्यपद, न राजकुमारी और न कुछ यहाँ का वैभव ही। मुझे शीघ्र ही जाना चाहिये, दूर और सुदूर—सच्चे मन से योगदण्ड को धारण करने के लिये, योगमय जीवन के अनुष्ठान के लिये और परमानन्द की प्राप्ति के लिये

सहसा ही नरेन्द्र उठा। राजा ने देखा कि योगीराज आँख खोल कर जाग चुके हैं। आज्ञा हुई। सकेत होते ही वन्दीजन और मगलवादिनी-मण्डलियाँ मगलाचार करने लगीं। शाही सेना ने बाजों में स्वर भरे शखों ने राजनगर से भी दूर अपने स्वर को प्रसारित कर जनता को यह अपूर्व सन्देश दिया और राजकुमारी को उठाते ही राजपुरोहित मन्त्र बोलने को हो थे'''''योगीराज हाथों को उठाते हुये दिखलाई दिये, मानों सबको आशीर्वाद दे रहे हों। देखते-देखते योगीराज ने पास ही रखा हुआ अपना व्याघ्राम्बर उठाया, अपना योग-दण्ड उठाया, विभूति की डिबिया उठाई, रुद्राक्ष की माला को गले में धारण किया '' त्वरित-गति से राजद्वार की ओर अग्रसर होते चपल-गति से बाहर विशाल-आकाश की छाया में अन्तर्ध्यान से हो गये। वे जंगलों की ओर जा रहे थे, जन शून्य मार्ग से होते हुये ''दूर और अति दूर किसी अज्ञेय-पथ की ओर '' ।

राज परिवार हत बुद्धि था ''' क्या करता और भला कर ही क्या सकता था ? राजा, योगी, अग्नि और जल—इनका प्रेम सम्बन्ध कहाँ विश्वसनीय है, कह नहीं सकते । राज-नगाडे बन्द हो चुके, निशान गिर चुके थे, पताकायें नतमस्तक हो चुकी थीं और मागलिक जा चुके थे। रानी मौन थी महाराज कुछ विचार मग्न थे और राजकुमारी ज्योतिषियों की भविष्यवाणी पर विश्वास कर चुकी थी।

× × ×

नरेन्द्र योगदण्ड धारण किये अरण्यों के पथ पर पदार्पण कर रहा था, आश्रमों और ऋषि-परिवारों की खोज में अग्रसर हो रहा था, शान्ति और सुख की पराकाष्ठा की अन्वेषणा और उसकी प्राप्ति के लिये पथ पर जा रहा था

"भूल का शूल"

(श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज, बिठूर)

स्वतन्त्रता का क्या ही उत्तम आनन्द युक्त वनवासी जीवन है, जहाँ न एक है न दो, न मैं है न मेरा। प्रशान्त त्रिताप हारिणी निराली निरोगी वायु वह रही है। वृक्ष मधुर फल भार से नम्र अपनी सुसम्पत्ति से परोपकारी बने हुये साक्षात समाधिभाव मे स्थित हैं। स्थान २ पर सरोवर झरने अपनी निर्मल जल विभूति द्वारा, प्यासे प्राणियों की तृप्ति के लिये उद्यत हैं। ऐसे स्वतन्त्र व सुहावने वन वृक्ष की लचकदार डालियों पर झूलने व रहने तथा स्वादिष्ट पके हुये मधुर फल खाने वाले बन्दर को भूल से न जाने क्या सूझी कि चल दिया निचली तराई की ओर, और आ पहुँचा एक ऐसे ग्राम के समीप जहाँ पर प्रलोभन के बहुतेरे सामान प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ रहे हैं। किसी ने सोंधे २ खिले चने भी बखेर रक्खे हैं, वहीं समीप में बड़ी ही दृढ़ता से सुराही भी गाड़ रक्खी है जिसमे पाँच लड्डू रख दिये हैं। अब क्या था बन्दर ने प्रलोभन के कारण अपनी शान्ति का अनादर किया और चल दिया चनों की ओर। धीरे २ एक २ करके चने खाने आरम्भ कर दिये अभी तक निर्लेपता रही, किन्तु जब वासना की मात्रा बढ़ी तब और भी खोज आरम्भ की। दिखलाई पड़ा कि सुराही मे लड्डू पड़े हुये हैं अब उन्हें निकालने के लिये हाथ को संकुचित कर सुराही के भीतर पहुँचाया और पकड़े लड्डू। ऐसी दशा मे मुट्ठी बड़ी हुई तथा सुराही का मुँह छोटा पड़ने के कारण हाथ निकल नहीं रहा है। बुद्धि में भूल से आया कि हो न हो इसी सुराही ने मेरे को पकड़ लिया है। अब सुराही को दाँतों से काटने का प्रयत्न भी करता है, नोचता भी है किन्तु यह क्रियायें सभी निष्फल होती हैं। वह स्वतन्त्र वनवासी जीव इस प्रकार भूल से परतन्त्र दुखी हो बैठ रहता है। न लड्डू छोड़ता है, न हाथ निकालता है। किन्तु भूल से निश्चय कर लेता है कि सुराही ने मुझको पकड़ रक्खा है। मदारी आया, हाथ मे एक बेंत व साथ मे रस्सी व लोहे का सूजा लाया। ज्यों ही वह बन्दर के पास जाता है त्यों ही वह बन्दर उसे काट लेने पर उद्यत होता है, मदारी ने न आव गिना न ताव, निर्भीकता से फटकारे इतने बेंत बन्दर पर कि उसे सहम कर डरी हुई मुद्रा से चुप बैठ जाना ही पड़ा अब मदारी ने उसका गला रस्सी के फन्दे से बाँधा और छेदा सूजा, सुराही वाले हाथ मे ज्यों ही सूजा छिदा पीड़ा से त्यों ही उसने झट लड्डू छोड़ दिये जिससे हाथ तो बाहर निकल आया किन्तु गला पहले से ही फाँस लिया जा चुका है। अब रस्सी मे बँधे द्वार २ गली २ नाचते फिरते और कला भूल जाने पर मार खाते हैं। हृदय मे पूर्ण स्वतन्त्रता का अपूर्व आनन्द याद आता है किन्तु मिले कैसे ?

ऐसी ही क्या ही यह विचित्र अकथ कहानी है जो कि निजी अनुभव द्वारा समझ में तो आ जाती है किन्तु वर्णन की नहीं जा सकती। सर्व प्रकार से स्वतन्त्र बन्दर के सदृश अपनी अनुपम सहजावस्था के सुख का भोगी चैतन्य, सहज सुख राशि जीव, देहकी उपाधि से ईश्वर का अंश कहा जाता है जिसके सहज स्वरुप मे न बन्ध है न मोक्ष, न अपना है न पराया, न राग है न रोग, न दु:ख है न दोष, और न द्वेष है न द्रोह, है केवल अविनाशी अमल सहज सुख राशि निखिल रसामृत स्वरूप स्वयमेव। किन्तु स्वयं ही अपने निजी अपनपना से विस्मृत सा होकर बन्दर की भांति 'मैं हूँ" ऐसी भावना करने वाला बना

यथा :—ईश्वर अंश जीव अविनाशी
चेतन अमल सहज सुख राशी।
सो माया वश भयो गुसाईं,
बंध्यो कीर मर्कट की नाईं।

अर्थात् ज्यों ही 'अहपन" की भावना स्वीकार की, त्योंही परतन्त्रता की नींव पड़ी और बेंत की मार खाने का अवसर आ उपस्थित हुआ। जिस प्रकार बीज से अङ्कुर उद्भूत होता है और फिर बढ़ते बढ़ते बड़ा विशाल वृक्ष बन जाता है इसी प्रकार मैं (अहं) से मेरे (मम) का निश्चय हो चलना प्रारम्भ हो गया। जो परस्पर में एक दूसरे को दृढ़ करने में सहायक हुये अर्थात् अहं से मम और मम से अहं दृढ़ हो चले। जिनके वासना का प्रभाव भी आरम्भ हो गया। अब वही स्वतन्त्र चैतन्य बन्दर के सदृश अदृश्य व प्रबल ममता की फँसरी में फँसा हुआ, वासना के कारण, कर्म की डोरि को दृढ़ किये हुये चौरासी लाख कूकर शूकर पशु पक्षी आदि योनियों में भांति २ के कष्ट सहन करता है।

यथा,—माया बस स्वरूप बिसरायो,
तेहि भ्रमते इतनो दुख पायो।
तैं निज कर्म डोरि दृढ कीन्हीं,
अपने करन गाँठ गहि दीन्हीं।
ताते पर वश परयो अभागे,
ता फल गर्भ वास दुख आगे।

माता के उदर में नौ मास तक विष्ठा मूत्र आदि की तहों में खौलता हुआ, बड़े ही कष्ट से प्रसव-वायु द्वारा बाहर आ पाता है। कुछ बड़ा होने पर उस दुखदायी शिशुपन की अवस्था को भी भूल जाता है वहाँ मोह में जकड़ा हुआ युवा-मद से अंधा बना हुआ भ्रम के कारण पुनः वही कर्म करने में तत्पर होता है जिससे यह जगत-जाल और भी दृढ़ होता जाता है। जाग्रत काल में भोजन व एकत्रित किये हुये बहुत प्रकार के भोगों से तृप्ति होना मानता है। किन्तु यह तृप्ति भी उसकी क्षणभंगुर ही होती है। स्वप्न अवस्था में अपने आप से ही सम्पूर्ण सृष्टि रच लेता है तथा उसी स्वकीय सृष्टि से दुख व सुख भोगा करता है। जब सुषुप्ति काल में अज्ञान के कारण अहं मम सहित सभी कुछ विलीन हो जाता है तब सुखरूप हुआ करता है। इस प्रकार जागते, सोते, एक-एक दिन समाप्त करते २, सप्ताह माह और वर्ष व्यतीत करता हुआ वृद्धावस्था की अंतिम सीमा पर जा पहुँचता है। युवावस्था में जो शरीर गठीला सुन्दर व पुष्ट था वह सूखी कचरी के समान हो जाता है, मस्तक ऊँट के घुटने की बराबरी करता है। बड़ी बड़ी कमल सरीखी आँखें भीतर घुसती हुई ज्योति हीन हो जाती हैं दाँत गिर जाने से मुँह पोपल बन्दर के मुँह जैसा बन जाता है, जिससे अनजाने लार टपक २ कर कपड़ों को सराबोर कर देती है। चलने फिरने से पैर तथा काम करने से हाथ आनाकानी करते हैं, साथ ही तृष्णा आदि और भी स्वतन्त्रता पकड़ती है जो सभी परिवार वालों को भली बुरी निरर्थक बड़ा-बड़ाहट करवाती है। स्मृति बिगड़ जाती है और बुद्धि विचार रहित हो जाती है, फिर भी यह अपने को सर्वज्ञान शिरोमणि स्वीकारे हुये, शक्ति हीनता के कारण शरीर से असमर्थ होते हुये भी कुछ न कुछ किया ही करता है। इस अवस्था में भी वह निशि वासर मानसिक विशाल तृष्णा तरंग के उफान में डूबा मैं मेरे के भाव-भार को लादे हुये नाचा ही करता है और विशेष विचित्रता तो यह है कि इतनी तीव्र गति से नाचता है कि वह स्वयं अपने नाचने का पता भी इस प्रकार नहीं पाता जिस प्रकार द्रुत-गति से घूमने वाले पंखे (बिजली से चालू होने वाला) के पर घूमते हुये भी घूमते दिखाई नहीं पड़ते हैं।

या माया सब जगहिं नचावा,
जासु चरित लखि काहु न पावा।

आकर चारिलाख चौरासी,
योनि भ्रमत यह जिव अविनाशी ।।
"नाचत ही निशि दिवस मरूया"

इस प्रकार अहन्ता, ममता व वासना की लवड खवड मे पड़ा हुआ लड्डुओं रूप विषय पदार्थों को अपनाये, अपने सहज स्वरूप को भुलाये अधाधुन्ध मानसिक हवाई महल बनाता रहता है। शरीर की बडी ही घृणित व शोचनीय अवस्था होने पर भी उसे अपने नित्य जीवन की स्वाभाविक अभिलाषा हर काल मे जाग्रत हो रह रही है। क्योंकि काल के गाल में होने पर भी मरने से भय खाता है डाक्टर से कहता है कि कोई ऐसा इजेक्सन लगाइये कि जिससे हम मरें नहीं, बने रहें अर्थात् सदैव रहना (सत्) चाहता है। इसके प्रति जब कोई भी मूर्ख या अज्ञानी शब्द प्रयोग कर देता है तब उसे सुनकर अप्रसन्न हो जाता है अर्थात् अज्ञान (जड़पन) पसन्द नहीं है ज्ञान(चिद्)प्रिय है। तथा ऐसे भोजन, वस्तुयें व रहन-सहन पसन्द करता है जिससे दु ख किञ्चित् नहीं हो अर्थात् आनन्द सुहाता है। इस प्रकार इस समय भी सत्चिद् आनन्द (सच्चिदानन्द) का अभिलाषी है किन्तु इस अभिलाषा की पूर्ति करना चाहता है नाशवान भौतिक पदार्थों को संग्रह व रक्षा करके, यही इसकी नितान्त भूल है।

देह, गेह, परिवार के लिये अनेकों प्रकार का छल, कपट द्वेषादि अधर्म किये। वस्तुओ के सग्रह व रक्षा मे तरह-तरह का कष्ट सहन किया। इस प्रकार जन्म भर अथक परिश्रम करता रहा किन्तु सभी कुछ व्यर्थ हुआ क्योंकि फल कुछ भी हाथ नहीं आया।

सुख हित कोटि उपाय निरन्तर,
करत न पाँय पिराने।
सदा मलीन पथ के जल ज्यों,
कबहुँ न हृदय थिराने ।।
ऐसे जनम समूह सिराने।

एक दिन ऐसा हुआ कि सारा गुड़ गोबर हो गया। मोटर क्वार्टर मे तथा रुपया बैंक या बक्सों मे रहा, मालिकी छिन मे छिन गई और देह भी खेह हो गई स्नेहियो तथा परिवार वालों ने शोक के दो चार आँसू बहा दिये तथा विरोधियों ने प्रसन्नता के दीपक जलायें। किन्तु इनमे से साथ कोई भी नहीं चला। हाँ 'साथ चले केवल धर्म व अधर्म के संस्कार जो आवागमन के हेतु बने।

स्वतन्त्र मनुष्य शरीर पाया था, भूल सुधार के लिये, किन्तु भूल से मायावी भूल भुलैयां के खेल मे ही भूला रहा, भूल सुधार की बात तो दूर रही यह भी समझ नही पाया कि भूल क्या है ? तथा उसके सुधार का वास्तविक साधन कौन सा है। यदि भूला भूले हुये व्यक्तियों के ही साथ रहे तो भूल कैसे सुधर सकती है ? यदि अज्ञानी, अज्ञानियों का ही साथ करे तो ज्ञानी कैसे हो सकता है ? यदि बँधा हुआ, बँधे हुये व्यक्ति के पास जावे तो छुटेगा कैसे ? यदि सोता हुआ पुरुष सोने वाले से ही जागना चाहे तो जाग्रत होगा कैसे ? इसीलिये तो दयालु मैया श्रुति भगवती अपने सुपुत्रों (मानव शरीर धारियों) के लिये पुकार लगा रही है कि मेरे प्यारे आत्म स्वरुपों ? उठो, जागो, भूले व्यक्तियों के पास से भागो। सुधरे व्यक्तियों के पास जाओ, अपनी भूल का पता लगाओ। भूल हटाओ, शूल मिटाओ और रम जाओ सदा के लिये अपने स्वतन्त्र, अखण्ड, अनन्त, अविनाशी आनन्द स्वरूप मे।

ॐ शान्ति । शान्ति ।। शान्ति ।।

— •• —

पथिक के प्रति

(श्री मंजुल जी)

है भूल भुलैया यह जगती भूला है तू अनजान पथिक।
जीवन है दो दिन का जग मे आगे का कर सामान पथिक ॥

जीवन सध्या मे मद गन्ध अरविन्द विपय पाकर फूला,
यह मन मिलिन्द अति मुग्ध हुआ जीवनकी सुधि बुधि ही भूला।
जव चले कमलिनीकुलवल्लभ नलिनी दल पल मे वन्द हुआ
प्रात रवि निकले निकलूँगा आशा रख वन्द मिलिन्द हुआ ॥

गज काल अचानक लीला से वह करे कमल अवसान पथिक।
जीवन है दो दिन का जग मे आगे का कर सामान पथिक ॥

जीवन तरंगिणी है जिसमे उठती तृष्णा तरग माला,
सुख दु ख कूल हैं भूल-मूल मनमीन उन्हीं मे मतवाला।
बस वधिक काल ने पंच विपय सुख वशी का कॉटा डाला,
क्षण सुख वश मुख मे दिया छिदा मनमीन नहीं देखा भाला ॥

वस इसी भाँति छिद रहे विंधे जाते प्राणी ले जान पथिक।
जीवन है दो दिन का जग मे आगे का कर सामान पथिक ॥

प्रात. दिन-दिन दिनमणि निकले क्षणक्षण करके सब दिन वीते,
सध्या आई फिर रैन शयन कर भोग चैन से फिर रीते।
नित खेल खेल कर शिशु पनके दिन गये मिली फिर तरुणाई,
तरुणाई तरु से जरालता एक सग लिपटती सी आई ॥

पल-पल अञ्जुलि जल सा जीवन जाता है खोकर ध्यान पथिक।
जीवन है दो दिन का जग मे आगे का कर सामान पथिक ॥

नित भोग भोग कर वढे रोग फिर फिर प्रपच संयोग वही,
सुत दारा धन का मिले योग पीछे वियोग का रोग वही।
फिर वही दिवाली औ होली फिर वही अन्न दाना पानी,
है घटी यन्त्र सा जन्म मरण है शोक हर्ष मे नित प्राणी ॥

कल-कल करते दिने गये निकल फिर भी न मिली कल आन पथिक।
जीवन है दो दिन का जग मे आगे का कर सामान पथिक ॥

रे मन मानव अव मान मान तज दे रे अव तो मन मानी,
खो चुका बहुत कुछ अव भी तो कर चेत न कर अव हित हानी।
कुछ नेक कमाई करले अव जो संग तेरे जाये प्राणी,
कर साधु सग कुछ परहित कर छल तज भज रे सारगपाणी ॥

मञ्जुल जीवन का पूर्ण लक्ष्य अव भी ले तू पहचान पथिक।
जीवन है दो दिन का जग मे आगे का कर सामान पथिक ॥

दुःख निवृत्ति के मेरे अनुभव

(ले० माननीय श्री गणेश वासुदेव मावलङ्कर महोदय, अध्यक्ष भारतीय लोक सभा, देहली)

दुख के निवारण का एक ही मार्ग है—वह है ईश्वर में अटूट श्रद्धा और विश्वास। हमारे जीवन मे व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक जो भी घटनायें होती है, उन सभी में ईश्वर की कृपा छिपी हुई है।

यह सुख है, यह दु.ख है, यह भला है, यह बुरा है, ऐसा नहीं सोचना चाहिये। सोचना तो यह चाहिये कि यह जो कुछ भी हो रहा है इसमे हमारे लिये ईश्वर की ओर से कोई भलाई अवश्य छिपी है, जिसे हम प्रत्यक्ष देख नहीं सकते। अतएव जो भी परिस्थिति सामने आये उसमें श्री गीता जी के सिद्धान्त के अनुसार "सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ" की भाँति समभाव का व्यवहार करना चाहिये। महाराष्ट्र के एक सन्त से किसी भावुक भक्त ने प्रश्न किया 'महाराज! परमार्थ की साधना का अधिकार कौन है ?" उत्तर मे सन्त ने कहा—त्रिविध तापों से सन्तप्त मानव ही वास्तव में परमार्थ साधन का सच्चा अधिकारी है।

जब हम पर आपत्ति आती है तो हमे निश्चय करना चाहिये कि हमारे भविष्य के सुधार के निमित्त ही यह लीला हो रही है। ऐसा विचार बनते ही बडे से बड़ा दुख दूर हो जाता है। श्री मद्भगवद्गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' के अनुसार हम स्वर्ग पहुँचें या न पहुँचें इसकी किंचित भी चिन्ता न करते हुए हमे सदैव प्रयत्नशील रहना ही चाहिये, यही सिद्धि है। हम अपने कर्मों के फल देखना चाहते हैं किन्तु वे कभी दृश्य तथा कभी अदृश्य होते हैं, इस पर हमें पूर्ण विश्वास करना चाहिये। जिस प्रकार रेडियो मे ईथर द्वारा आये हुये अदृश्य शब्द हमें सुनाई पड़ते हैं, उसी तरह हम जो भी करते हैं, उसके अनुसार ही परिणाम होना अवश्यम्भावी है। अतएव कर्म करते हुये प्राप्त फल मे सन्तोष माने तो हमे दु.ख की अनुभूति नहीं होगी।

इस सम्बन्ध में निजी अनुभव है। सन १६२० मे जब मैं युवक था तब मेरी प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया जिसका मुझे अत्यन्त दु.ख हुआ। मैं बहुत रोया किन्तु उस दुःख मे भी एक प्रकार का सतोष अन्तर्हित था, क्योंकि उसके उपचार के सभी यथा सभव प्रयत्न कर लिये गये थे। आज जब ३२ वर्षों के पश्चात् मैं उस घटना पर विचार करता हूँ तो स्पष्ट विदित होता है कि बाद में मुझे जो आध्यात्मिक चेतना मिली उसमे यह भी एक कारण था। ईश्वर की यह महान् कृपा उस असीम दुःख मे भी अन्तर्हित थी। जन-सेवा की भावना तो पहले से थी ही किन्तु पत्नी के देहावसान के पश्चात् अनासक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और इसके फलस्वरूप मे अपनी वकालत छोड़कर पूर्णरुपेण जन सेवा मे प्रवृत्त हो गया। इस प्रकार मेरी अनुभूति में तो यह अभिशाप भी वरदान बन गया।

श्री गीता जी के सिद्धान्त "स्वे स्वे कर्मण्यभिरत. संसिद्धिं लभते नर." के अनुसार मुझे कभी दूसरों से ईर्ष्या द्वेप नहीं हुआ। उस समय भी जब कि मैं प्रेक्टिस करता था तो अपने सहकर्मियों से कभी स्पर्द्धा की भावना नहीं बनती थी। किसने क्या कमाया इससे मुझे क्या मतलब—ऐसी मेरी भावना थी। सन् १६१३ मे मैंने डिप्टी कलक्टरी के लिये आवेदन पत्र भेजा। उसी समय संयोग से मेरे एक मित्र भी डिप्टी कलक्टरी के लिये आवेदन पत्र लेकर

*गुरु-दक्षिणा

(श्री नेमिशरण जी, मित्तल, एम० ए०)

दूँ तुम्हें क्या नाथ सब कुछ तो तुम्हारा ॥

(१)

चिर युगों के पुण्य अर्जित,
चिर युगों के कर्म सचित,
सब तुम्हे ही नाथ अर्पित,
प्राण मे हर श्वास हैं स्वामी तुम्हारा।
आज जीवन-धन सभी कुछ है तुम्हारा ॥
दूँ तुम्हें क्या नाथ सब कुछ तो तुम्हारा ॥
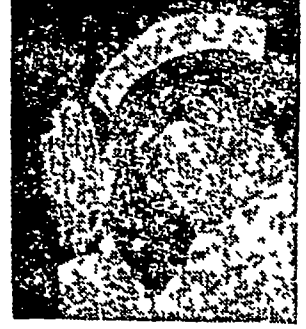
(२)

पाप मन के ताप तन के,
डाल झोली मे तुम्हारी,
मुक्त हूँ स्वच्छन्द मैं प्राणी तुम्हारा।
विमल यह बहती रहे आनन्द धारा ॥
दूँ तुम्हें क्या नाथ सब कुछ तो तुम्हारा ॥

(३)

बन गई आभा तुम्हारी,
ज्योति मानस में हमारी,
पूज्य श्री गुरुदेव कह जिस क्षण पुकारा।
कर रहा अर्पित तुम्हें प्रभु धन तुम्हारा ॥
दूँ तुम्हें क्या नाथ सब कुछ तो तुम्हारा ॥

(४

पा रहा मैं नित्य तुमसे,
दान अमृत के भरे से,
नाथ मेरे मैं बना अनुचर तुम्हारा।
शेष अन्तर मे तुम्हारा हो सहारा ॥
दूँ तुम्हें क्या नाथ सब कुछ तो तुम्हारा ॥

---

*पूज्य चरण श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज की पावन चरण-धूलि से मेरठ में जिस दिन मित्तल जी का गृह पवित्र हुआ उसी समय गद्गद् वाणी से भावुक कवि ने यह गुरु-दक्षिणा श्री चरणों में अर्पित की थी—

—सम्पादक

योगीराज

[कहानी]

(श्री स्वामी सत्यानन्द जी सरस्वती)

नरेन्द्र अत्यन्त गरीब था। ६ पुत्र और ७ पुत्रियाँ होना किसी गरीब के भाग्य पर वज्रपात के अतिरिक्त और कुछ नहीं। उस पर भी उसे अपनी विधवा बहिन का भार संभालना पड़ता था। एक छोटा-सा घर, जिसकी छतों से सूर्यदेव और चन्द्रिका तथा नील गगन में बिछे हुये तारे अन्दर की ओर झांकते रहते थे, सम्भवतः इन के दुःखों की विशाल राशि को उस छोटे से घर में छिपे हुये देख कर। कौन कह सकता है कि मनुष्यों के जीवनों को निर्जीव करने वाली गरीबी इस छोटी सी कुटिया के अन्दर सीमित रह सकती है। इसी आश्चर्य से प्रभावित होने के कारण नित्यप्रति प्रातःकाल सूर्य उदय होते ही कुटिया के अन्दर उन सहस्रों छिद्रों से देखते और रात को नभ के नक्षत्र भी उस के अन्दर झांकने में नहीं चूकते थे। कितनी ही गरमी और कितनी ही बरसातें तथा कितनी ठिठुराने वाली सर्दियां उन्होंने उस जर्जर घर के अन्दर रह कर बिता दीं।

नरेन्द्र इन्द्रपुर के राजपरिवार की सेवा में लगा हुआ था, जहाँ से वह प्रतिमास थोड़ा बहुत पा लेता था। कई बार उसने चाहा कि वह महाराजा से प्रार्थना करे। किन्तु जब कभी महाराज राजमहल के द्वार से अन्तःपुर की ओर जाते तो उसकी वाणी मूक हो जाती। आखिर नौकर ही तो था न? कलेजा मसोस कर रह जाता। हाय विधाता वह सोचता, कितने प्रेम तथा, स्नेह और स्वामिभक्ति के साथ इस राजपरिवार की सेवा कर रहा हूँ, किन्तु इनके द्वारा मुझे इन पारिवारिक दुःखों से कुछ मुक्ति मिल जाय, ऐसा भी नहीं हो सकता। वह इस प्रकार सोचता रहता किन्तु उसकी दृष्टि में कोई भी युक्ति नहीं आती, जिसके द्वारा वह अपनी गरीबी का निवारण कर सके। कई बार तो उसने चाहा कि, वह नौकरी त्याग दे—परन्तु फिर क्या होगा, रहा सहा आधार भी ढह जायगा।

प्रातःकाल ही वह अपनी ड्यूटी पर आ डटता और इसी प्रकार उसने निरन्तर कई साल नौकरी करते-करते बिता दिये। किन्तु जैसे का तैसा ही रहा। यह भी नहीं पता कि कभी राजा ने उसकी ओर गौर भी किया कि नहीं। वह राजद्वार का प्रहरी था और राजमहल की रत्ती-रत्ती भर भूमि से परिचित था। किन्तु वह उस विशाल राजभवन के अन्दर छिपी हुई विलासिता से अपरिचित और अनजान था, मानो उसका कोई सम्बन्ध ही न रहा हो, अथवा उसने कभी राजभवन में प्रवेश ही न किया हो। इसी प्रकार राजभवन के कण-कण से परिचित किन्तु राजसत्ता के आनन्द से कोसों दूर वह नरेन्द्र किसी प्रकार अपने दुःखमय जीवन के दिन बिता रहा था।

एक दिन उसके धैर्य का बाँध टूट गया। विकराल जलप्रवाह, जो रुका हुआ था, विद्रोह कर उठा। क्या मनुष्यता के नाते मनुष्य का मनुष्य सम्पत्ति पर अधिकार नहीं? क्या एक की ही भूमि पर पलने के नाते, एक ही शरीर में स्वरूपमय होने के नाते क्या उसको यह अधिकार भी नहीं कि वह अपने जीवन की सुविधाओं को प्राप्त कर सके? क्या यह राज्य वैभव उसके पसीने के प्रवाहों के आधार पर नहीं पनपा? क्या कोई इस बात से इनकार कर सकता है कि राज्यसत्ताएँ इन्हीं गरीबों के पेट की ज्वालाओं के मार्ग से सम्पत्ति के कोसों को प्राप्त हुई हैं। नरेन्द्र ने एक

दिन अपने को विचारों के स्वतन्त्र प्रवाह में छोड़ दिया। उसने अपने को बहने दिया और जोर से बहने दिया, यहाँ तक कि वह एक ऐसे स्थान पर आ गया, जहाँ पर उसे शान्ति और आनन्द और वैभव देने वाला राज्य मिल सकता है और ऐसे ही समय नरेन्द्र की कल्पना में लहरें लहरायमान होने लगी, तरंगों पर तरंगें बल खाने लगीं और उसे राज्यभवन के विशाल वैभव की याद आने लगीं।

उस दिन वह अपने काम पर नहीं गया। प्रहरियों के अध्यक्ष को समाचार मिला। उसने आज्ञा दी कि वह रात्रि के समय अपनी ड्यूटी पर आ सकता है।

× × ×

अन्धकार जड़ पकड़ता जा रहा था। तरुदल शान्त हो चुके थे पक्षी अपने नीडों में जा चुके थे गगनमण्डल में विस्फुलिंग के समान नक्षत्र चमक रहे थे दूर श्मशान में पिशाचों का नृत्य हो रहा था। नरेन्द्र अपने घर के सामने टूटी खाट पर बैठा किसी योजना में तन्मय था। उसके नेत्रों में रात्रि का वह विकराल स्वरूप अथवा कवि की काव्यात्मक निशा-सुन्दरता दोनों ही अगोचर थी। उसके नेत्रों के सामने विशाल-वैभव नाचता हुआ आ रहा था। विशाल अट्टालिकाएँ गगनों को चूमती दृष्टिगत होती थीं, अनिर्वचनीय सम्पदा, ऋद्धि-सिद्धि और जीवन सुख उसके मन में हिलोरें ले रहे थे। क्षण में उसने देखा विशाल राजप्रसाद उसके जीवन सुख के लिये आ रहा है और वही राज सम्पदा जो राजराजेश्वरों के चरण चूमा करती है, उसके चरणों में लिपट रही है।

नरेन्द्र अपनी जगह पर से उठा—आज ही, उसने कहा धीरे से। या तो राजवैभव पर स्वामित्व स्थापित करूंगा, राजलक्ष्मी के सुकुमार हाथों द्वारा सेवित किया जाऊँगा, कनक, और विलास के आदिस्रोत राज्य-सम्पदा का अधिकारी बनूँगा, अथवा ‥ ‥

वह सोचता गया और सोचता गया, जब तक रात्रि के १२ न बजे और जब तक उसे यह याद न आई के आज उसे रात्रि को १२ बजे के बाद ड्यूटी पर जाना है। राजद्वार से १२ बजने की सूचना मिली और वह सोच विचार कर उठा और ऊबड़-खाबड़ पथ के गहन-अन्धकार में अदृश्य हो गया ‥

× × ×

नरेन्द्र राजद्वार के गहन और पेचीदे मार्ग को पार कर रहा था। भीषण अन्धकार था। राजप्रहरी मार्गस्थित प्रकाशस्तम्भ के उजाले में नरेन्द्र को जाता देख चुके थे और कुछ न बोले, क्योंकि यह उसकी ड्यूटी का समय था और वह राजभवन के सिंहद्वार पर नियुक्त किया गया था। राजमहल के सिंहद्वार और राजद्वार के बीच कहीं पर बत्ती नहीं और न कोई प्रहरी ही, क्योंकि यह स्थान वैसे ही चारों ओर से प्रहरियों के रहने के कारण अगम्य है, अत किसी प्रहरी का यहाँ पर रहना आवश्यक नहीं। किन्तु इसके दूसरी ओर राजकोष है और इसी के ऊपर अन्त पुर की शृंखला आरम्भ हुई है तथा इसी के दूसरी ओर उद्यान है, जहाँ महाराजा और महारानी आते हैं और विश्राम किया करते हैं।

राजकोष के पीछे के ओर की दीवार आ रही थी और नरेन्द्र का हृदय धड़क रहा था ज्यों-ज्यों वह राजकोष के सीमा के निकट होता, त्यों त्यों उसकी मानवीय चेतना अन्तर्हित सी होती दीखती है। वह राजकोष के पास ठहरा और कुछ सोच-कर ठहर गया जेब से हथौड़ी निकाली और छेनी भी। राजकोष के विशाल सीकचों की ओर देखा, वे मानों राजभवन की ओर से उसके आघातों को सहने के लिये सन्नद्ध थे। अमलताश के पेड़पर चढ़ा और सीकचों को छेनी से स्पर्श किया। उसी समय उसे कुछ सुनाई दिया। मालूम होता था मानों कोई पास के उद्यान में बैठ कर बात-चीत कर रहा

हो। नरेन्द्र ने छेनी छिपा ली और शान्ति पूर्वक बैठ कर आने वाले शब्द को सुनने लगा।

शब्द एकदम उद्यान के पास से आ रहा था, जिसका एक भाग यह अमलताश का वृक्ष था जिस पर नरेन्द्र छेनी को छिपाये हुये सूनसान बैठा था और जिससे मिला हुआ राजकोष दूसरी ओर से खुलता था।

लगभग १५ गज की दूरी पर महाराज और महारानी थे, उनमे राजकुमारी की बातें चल रही थीं। महारानी कह रही थी—"कुछ तो करना चाहिये ही, राजकुमारी कब तक कुँवारी रहेगी। हो सकता है कि यह उसके ग्रह का फेर हो, किन्तु कौन जानता है कि उन ज्योतिषियों ने झूँठ न बोल दिया हो।"

"क्या करूँ महारानी, रात दिन यही विचार तो करता रहता हूँ, किन्तु किसी राह को नहीं पकड़ पाता। उसके भाग्य मे न जाने कुंवारी रहना ही बदा है? मुझे ज्योतिषियों के भविष्य-कथन पर अश्रद्धा तो नहीं, किन्तु मैं मोचता हूँ कि क्या कोई भी उपाय ऐसा नहीं, जिसके द्वारा इसके हाथ पीले कर दिये जॉय।"

"आप बुद्धिमान् हैं, आप ही सोचिये कि क्या उपाय हो?"

"रानी, मेरा विचार है कि अब अधिक दिन नही ठहरना चाहिये। शुभस्य शीघ्रम्। मैंने निश्चय किया है कि मैं रालकुमारी का विवाह उस योगी से करूँ, जिसको कल प्रात काल उठते ही देख पाऊँ। यह कुमारी के भाग्य की अन्तिम परीक्षा होगी। यदि विधाता ने चाहा तो मेरी यह योजना अवश्य सफल उतरेगी। मैं कल ही इस पर प्रयोग करना चाहता हूँ कहो मेरी राय तो पसन्द है न?"

"किन्तु राजकुमारी और दामाद के भरण-पोषण के लिये ?"

"अपना सम्पूर्ण राज्य, राज्यश्री सहित। और राज्यसेवकों की अगणित संख्या सहित राज-सिंहासन। नि सन्देह कल ही दे दूँगा।

इस के बाद नरेन्द्र ने और कुछ न सुना। उस के कान मानों बहरे हो गये। वह आनन्दातिरेक से नाच उठा। उसके आह्लाद की सीमा न थी। वह इसके आगे होने वाले प्रसग को नहीं सुन पाया। कल प्रातःकाल होते ही राजा किसी योगी की तलाश मे होंगे और पहिला योगी राजकुमारी का पाणिग्रहण कर सकेगा ...और मैं ही वह योगी हूँगा...... नरेन्द्र ने निश्चय किया और धीरे से उसी अन्धकार मे वृक्ष से नीचे उतरा और जिस तरह आया था उसी तरह अन्धकार मे अदृश्य होगया, कल प्रात काल अपने भाग्य के सूर्य को उदित देखने, राज्यपरिवार का दामाद बनने और राजा बनने। सम्भवत. कुछ और भी..... ।

× × ×

दूसरे दिन प्रात काल होते ही नरेन्द्र ने अपने अग को विभूति से आच्छन्न कर लिया और व्याघ्राम्बर ले कर राजनगर के बाहर अश्वत्थ के वृक्ष के नीचे आसन लगा कर बैठ गया। उसके नेत्र मुँदे हुये थे। उसके मुँह से सतत रामनाम की अमृतमयी लहरें तरंगित होती जा रहीं थीं। उसका आसन महादेव के समान अडिग सा बना हुआ था।

कल रात सुने हुये वाक्यों के समान नरेन्द्र ने आज अपना वेष बना लिया था उसने अपना बाहरी चोला बदल लिया था. अपनी बाहरी स्थिति भी बदल ली थी सभी हाव-भाव तथा अभिनया-त्मक-गुण सन्ताकार कर लिये थे, केवल मात्र वास्तविक-साधुता ही वाञ्छनीय थी। उसमे प्रात काल होते ही सन्तत्व का आविर्भाव हो चुका था. केवलमात्र वास्तविक आन्तरिक-प्रज्ञा की आवश्यकता थी, जिसके बिना किसी भी प्रकार

मुद्रायें नृत्य करने लगीं । पुष्प-हारों से अश्वत्थमूल अतिरंजित हो गया । वासन्ती ऋतु सौंदर्य अपने जीवन की पराकाष्ठा के गिरिश्रृंग पर सतत नृत्य का कर रहा था । महाराज के साथ महारानी और महारानी के साथ राजकुमारी और राजकुमारी के साथ राजबन्धुवर्ग और राजबन्धुवर्ग के साथ राजमन्त्रीवर्ग इसी प्रकार समस्त राज्यपरिषद् वहाँ पर आ पधारे थे । अपूर्व था वह समारोह, वहा योगीत्व की परीक्षा हो रही थी, जहाँ राज्यश्री राज्यसम्पदा, राज्यालिप्सा आत्मसमर्पण कर चुकी थी, दरिद्र, निर्धन व्यक्ति के चरणों पर । जो योगी के चोले मे अपने असली स्वरूप को छिपा कर अपने जीवन की, अपने दैव की आपने भाग्य और विधाता के विधान की वचना कर रहा था··· ···।

योगी की आँखें न खुलीं और न खुलीं, योगी न बोला और न बोला और योगी अपने योग से न हिला और न हिला । महाराज की आज्ञा हुई या इच्छा हुई कि राजचॅवर के नीचे शोभायमान्, राजसिंहासन की सुन्दरता से परिवेष्टित इन योगीराज को राजभवन की ओर ले जाया जाय ।

पुन: चारणों ने गीत गाये । शखों मे प्राणों का आविर्भाव हुआ । पताकाएँ अपना अपना सिर उठाकर राजयात्रा को देखने लगीं । पल भर की भी देर न हुई थी । कि राजरथ पुन राजस्थल की ओर अग्रसर होने लगा । राज्यपरिषद् पुन. वापिस लौटने लगे, सबसे आगे योगीराज का रथ था, जिस पर वे उसी प्रकार ध्यान मे बैठे हुए थे और उसी प्रकार समाधिस्थ थे ।

राजरथ त्वरितगति से अग्रसर हो रहा था, महाराज विचार मग्न थे—किन्तु आनन्दमय-विचारों में मग्न । महारानी के नेत्र सजल थे और राजकुमारी के जीवन में मानों नवीन सूर्य उदित हो रहा हो । जिसके जीवन मे सौभाग्य का सूर्य सदा छिपा हुआ घोपित किया गया था, उसके ही जीवन मे पूर्व दिशा से लाली फूट रही थी तब भला आनन्द का पारावार ही कहाँ हो ? यदि भूखे के आगे सुन्दर और सुगन्धित व्यंजन रख दिए जावें तो उसके आनन्द की परिमिति ही कहा है ? इसी प्रकार राजकुमारी भी आनन्द-विभोर थी । वह कहाँ जा रही थी और क्यों जा रही थी · यह सब भूल गई । उसके कानों मे तीव्र शखों की ध्वनि का प्रवेश ही नहीं हो रहा था ।

योगीराज इस अपूर्व आदर-सत्कार का साक्षात् अनुभव कर रहा था । जिसको कभी भरपेट खाने को न मिला हो, जिसने जीवन मे कभी भी सुख और समृद्धि और विलास के दिन नहीं देखे—उसी दरिद्र नरेन्द्र के तितिक्षु-कठोर चरणों पर राजा और रानी तथा राजकुमारी का आनन्द आत्म-निवेदन कर रहा था । धन्य रे विधाता के विधान, क्षण मे ही राजा को रंक और रक को राजा कर सकता है । तेरी अनुपम माया के सम्मुख विश्व मानो एक तुतलाते हुए बालक का खिलौना है और तेरे विधान मे कौन-कौन से रहस्य अन्तर्निहित हैं, वे सदा रहस्यमय ही रहेंगे ।

× × ×

राज्याभिषेक हो रहा था । राज्याभिषेक के उपरान्त राजकुमारी के हाथ पीले किये जाने वाले थे नरेन्द्र को राजसूत्र मे आबद्ध करना था । उसके वस्त्रादिक बदले जा चुके थे । शरीर से चन्दन और अरगजादि सुवासनाओं का सौरभ छिटक रहा था । गले मे अमूल्य माणिक्य जटित हार · सुशोभित थे ।

योगीराज अपने मन मे सोचता जा रहा था, नरेन्द्र, तू क्या था और क्या होने जा रहा है और न जाने और क्या-क्या होना तेरे भाग्य मे बदा है ?

(शेष पृष्ठ १६ पर देखिये)

सत्संग-समाचार

देहली

आगरा के प्रोग्राम को समाप्त कर पूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी तथा श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज ८ मार्च को देहली पधारे । देहली में दैवी सम्पद् मंडल के विराट महोत्सव की योजना बनाई गई थी किन्तु नगर की विषम परिस्थिति के कारण, उत्सव का विचार स्थगित हो गया । स्वामी समतानन्द जी, मञ्जुल जी, योगीराज जी, सदानन्द जी भी पधारे थे । नगर के विभिन्न स्थानों में सत्सग का आयोजन हुआ । चूड़ीवालान, कूचा पाती राम, नई देहली, मण्डी मंडी और दरियागंज इत्यादि में इन महापुरुषों के प्रवचनों से सहस्रों भावुक नर-नारियों ने लाभ उठाया । सैकड़ों स्त्री पुरुषों ने प्रभावित होकर दुर्गुण त्याग की लिखित प्रतिज्ञाएँ की । पूरे १५ दिवस तक यह कार्य-क्रम चलता रहा । भक्तों का कहना है कि उत्सव की अपेक्षा इस प्रकार से अधिक लाभ हुआ कई नवीन स्थानों में सत्सग की स्थापना हुई । श्रीस्वामी जी भारतीय लोक सभा के अध्यक्ष माननीय मावलङ्कर महोदय, उपाध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयगर महोदय- एव प्लानिङ्ग मिनिस्टर माननीय श्री गुलजारी लाल जी नन्दा स मिले । स्वामी जी की कार्यप्रणाली तथा विचारों से उन महानुभावों को बड़ी प्रसन्नता हुई । श्री श्यामसुन्दर जी साड़ी वाले चाँद बाबू. बाबूलाल जी, जगदीश जी आदि भक्तों के सराहनीय प्रयत्न और प्रबन्ध से राजधानी में अभूतपूर्व सत्संग सफलता से सम्पन्न हुआ ।

मेरठ

समयाभाव के कारण कई वर्षों से श्री महाराज मेरठ नहीं पधार सके थे । भक्तों के विशेष आग्रह से तीन दिन का समय मेरठ के लिये भी निश्चित हुआ और देहली से सभी महापुरुष मेरठ पधारे बुढाना गेट की सनातन धर्म शाखा तथा सदर के सनातन धर्म मन्दिर में संतों की पावन वाणी का प्रसाद पाने के निमित्त सहस्रों की संख्या में मेरठ की जनता उमड़ पड़ी। सैकड़ों ने दुर्गुणों के त्याग की प्रतिज्ञा की । भक्तों ने नियमित रूप से दैनिक सत्संग चलाते रहने का वचन दिया ।

बा० गंगाप्रसाद जी स्पेशल मजिस्ट्रेट लाला मुन्ना लालजी बहन सत्यवाला गुप्ता डा० खुशीराम, चि० धर्मप्रकाश श्री नेमिशरण मित्तल और प्रोफेसर रामप्रकाश जी आदि भक्त इस आयोजन के लिये धन्यवाद के पात्र हैं ।

मुजफ्फर नगर

मेरठ के बाद दो दिन का प्रोग्राम मुज़फ्फ़र नगर के लिये बा० आत्मानन्द जी एडवोकेट तथा श्री चिरंजीत लाल इनकम टैक्स आफीसर के विशेष आग्रह से निश्चित हुआ । सनातन धर्म भवन तथा गाँधी कालोनी में सहस्रों की संख्या में एकत्रित होकर जनता ने संतों के दर्शन और उपदेशों से अपने मानव जीवन को सफल बनाया ।

प्रेषक

रामस्वरुप गुप्त

फ़िरोजाबाद में विराट महोत्सव

फ़िरोजाबाद में दैवी सम्पद्मण्डल का ४ अप्रैल से १२ अप्रैल तक परमपूज्य स्वामी श्री भजनानन्द जी की अध्यक्षता मे विराट् महोत्सव हुआ । जिसमें दैवी सम्पद मण्डल के समस्त महात्माओं के अतिरिक्त ज्ञानवयोवृद्ध परमपूज्य श्री स्वामी हीरानन्द जी महाराज भी पधारे थे । परमतृषातुर नगर-निवासियों ने चिरशान्ति के लिये सन्त भगवन्तों के पावन उपदेश-अमृत का पान किया । उत्सव के आठ दिवस भक्तों को एक क्षण के समान प्रतीत हुये । आनन्द एव शान्ति का समुद्र ही वहाँ पर उमड़ रहा था, सहस्रों व्यक्तियों का जीवन प्रवाह बिल्कुल परिवर्तित हो गया, अनकों पतनोन्मुखी व्यक्तियों का उद्धार हो गया । अनेकों स्त्री-पुरुषों ने अवगुण छोड़े ।

कथावाचकों की कथा का रस तो अवर्णनीय रहा । सर्वत्र मञ्जुलता और सरसता का स्रोत फूट रहा था उत्सव में बहुत ही भीड़ होती थी । इस प्रकार सभी सन्तों की कृपा दृष्टि से यह उत्सव अपूर्व रहा ।

प्रेषक

रामगोपाल मित्तल

परम आश्चर्य ?

सुगमं भगवन्नाम जिह्वाऽपि वशवर्तिनी,
तथापि नरकं यान्ति किमाश्चर्यमतो परम् ॥१॥

मानुषं दुर्लभ प्राप्तं सच्छास्त्रे संस्कृता मतिः,
ब्रह्मविश्रान्तये तर्हि कथं यत्नं न जायते ॥२॥

गच्छन्ति जनाः सर्वे नित्यमन्तक वेश्मनि,
जानन्नपि जीवनेच्छा आश्चर्यमिद महत् ॥३॥

दिनं गतं गता रात्रिर्गतमायुं गत वयः,
तथापि परलोकस्य चिन्ता किन्न भूयते ॥४॥

भगवान् का नाम भी सुगम है और जिह्वा भी अपने वश में है, फिर भी भगवान् का नाम न लेने के कारण मनुष्य नरक में जाते हैं। इससे बड़ा आश्चर्य और क्या होगा ॥१॥

दुर्लभ मनुष्य देह भी प्राप्त हो गई, सत्‌शास्त्रों का अध्ययन करके बुद्धि भी शुद्ध हो गई फिर भी ब्रह्म प्राप्ति का यत्न क्यों नहीं किया जाता ? यह बड़ा आश्चर्य है ॥२॥

नित्य ही यमराज के घर मनुष्य जाते हैं। यह जान कर फिर भी मनुष्यों में अपने जीवन की इच्छा रहती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥३॥

दिन गया रात्रि गई, आयु समाप्त होने आई फिर भी परलोक की कुछ भी चिन्ता पैदा नहीं हुई। कितना आश्चर्य है ॥४॥

मुद्रक तथा प्रकाशक.—परमार्थ प्रिन्टिङ्ग प्रेस मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक पत्र
परमार्थी
वर्ष ४
अङ्क ५
वार्षिक मूल्य ४॥)
विदेश के लिये ८)

सर्वभूत हिते रताः

दैवी-गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि आध्यात्मवाद प्रकाशक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापकः—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

विषय सूची

परमार्थ, १५ मई, सन १९५३ ई०

सम्पादक मण्डल

सर्वश्री 'सन्मुख', रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री साहित्यरत्न, पं० हृदयनाथ शास्त्री साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० साहित्यरत्न, रामबहादुर कश्यप, रामस्वरूप गुप्त।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेव समर्पयेतत॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ मई १९५३ | द्वितीय वैशाख शुक्ल पक्ष द्वितीया शुक्रवार, सम्वत् २०१० | अङ्क—५

खिलाय रहीं छिलका बिदुरानी

आइ गये कुटिया ढिंग लौं हरि,
न्हात समै, सुनि कै बिललानी।
नेह सों ह्वै पुनि बावरी सी,
पहिनी उढ़नी, शिर घाँघरी तानी ॥
दौरि बिछाइ दई झट सों,
उलटी सुलटी इक खाट पुरानी।
प्रेम-पगी, कदली दल फेंकि,
खिलाय रहीं छिलका बिदुरानी ॥

[श्री गयाप्रसाद जी त्रिपाठी, शास्त्री, 'साहित्यरत्न']

परमार्थ बिन्दु

विचार करो—बाँस के उसी पोंगी की बाँसुरी सुन्दर बनती है जिसके बीच में गाँठ नहीं होती। वही बाँसुरी अन्दर से स्वच्छ होने पर नीरस हृदय को भी मोहने वाली बन जाती है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के हृदय में छल कपट रूपी गाँठें नहीं पड़ी हैं तथा जिसका अन्तःकरण बाँसुरी की तरह स्वच्छ है उसकी मधुर एवं करुण पुकार सुनकर भगवान् अवश्य ही उसकी ओर खिंच आवेंगे।

विचार करो—शीतल सलिला सरिता तक पहुँचने के लिये पहले हमें रेत में चलना पड़ता है, रेत पार करने के बाद ही उसमें डुबकियाँ लगाने को मिलती हैं, याद रक्खो—इसी प्रकार सुख शान्ति के समुद्र भगवान् को पाने के लिये जलते हुए रेत के समान संयम नियम त्याग तपस्या आदि के कष्ट उठाने ही पड़ते हैं, यदि यह कष्ट झेल कर पार हो गये तो जानते हो क्या मिलेगा? अपार सुख, अपार शान्ति और अवर्णनीय आनन्द।

विचार करो—बढ़ई लकड़ी को साफ और उपयोगी बनाने के लिये खराद चलाता है और यदि लकड़ी तो हटा दी जाय और बढ़ई खराद चलाता रहे तो क्या उसकी मूर्खता नहीं? अवश्य है क्योंकि बिना लकड़ी के खराद चलाना व्यर्थ है। इसी प्रकार याद रक्खो—मन पर मन्त्र रूपी खराद चलाकर उसे स्वच्छ और उपयोगी बनाना है यदि मन छूट कर इधर उधर कूद फाँद मचाता रहे और मन्त्र का उच्चारण जिह्वा करती रहे तो क्या मन शुद्ध और सुन्दर बन सकेगा? कदापि नहीं बिना मन लगाये तो मन्त्र जाप व्यर्थ सा ही है।

विचार करो—जानते हो माता कौन से बच्चे को अधिक प्यार करती है किसे हृदय से चिपटाती है? जिसे कोई गोदी नहीं लेना चाहता, जो बीमार है, और जो माता की ओर बाँह उठाकर रिरिया रहा है जिसे सब घृणित दृष्टि से देखते हैं और जो बच्चा बड़े भाई या पिता की गोद मे खेल रहा है जिसको अन्य लोग प्यार कर रहे हैं उसकी ओर से माता निश्चिन्त रहती है उसे चिपटाये चिपटाये काम नहीं करती। इसी प्रकार याद रक्खो—जो संसार से तिरस्कृत हो चुका है, दुःख दारिद्रय के कारण घृणित है, जिसको कोई सहारा देना नहीं चाहता. उसी को भगवान् अपनाते हैं, उसे ही चिपटाये रहते हैं, और जिसे ससार अपनाये है, जिसे मान, पूजा, वैभव, ऐश्वर्य प्राप्त हैं, भगवान् उसकी याद भी नहीं करते।

विचार करो—लेखक अपना लेख पूर्ण रूपेण शुद्ध करके सम्पादक के पास प्रकाशित होने को भेजता है, उसकी दृष्टि मे अपने लेख में कोई भी त्रुटि नहीं होती, परन्तु सम्पादक क्या उसे वैसाही प्रकाशित करा देता है? नहीं। वह उस लेख को बार-बार पढ़कर काटता छाँटता है, शुद्ध करता है। जब लेख सम्पादक की दृष्टि मे ठीक जँच जाता है तब वह उसे अपने पत्र मे स्थान देता है। इसी प्रकार याद रक्खो कोई भक्त अपने को भक्त एवं ज्ञानी कहने लगे तो उसके कहने मात्र से क्या भक्त तथा ज्ञानी का पद मिलता है? कदापि नहीं। भक्त व ज्ञानी तो वह तब होता है जब भगवान् उसे खूब कष्ट दे दे काट छाँट कर अपने अनुकूल बना लेते हैं। संसार से तिरस्कार दिलाकर अपनी ओर मोड़ लेते हैं।

'आनन्द'

ब्रह्मलीन श्री स्वामी आत्मानन्दजी महाराज के सदुपदेश

पूज्यपाद श्री स्वामी शान्तानन्द सरस्वती जी जब १६४४ ई० मे धन्योरा मण्डी से चतुर्मासा समाप्त कर गगा तट पर विचरने को हुये तब श्री स्वामी हीरानन्द जी पार्वतीय ने उन्हें परामर्श दिया कि आप गगा तट विचरण काल में खंडहर ग्राम मे १०८ श्री स्वामी आत्मानन्द जी तथा शाहबाजपुर ग्राम मे १०८ श्री स्वामी रामानन्द जी से अवश्य मिले।

श्री स्वामी शान्तानन्द जी गंगा तट पर विचरण करते हुये कार्तिक-पर्व के अवसर पर ढाई घाट पर आये तथा श्री "पार्वतीय" जी के कथनानुसार श्री योगानन्द तथा एक अन्य महात्मा के साथ अगहन कृष्ण २ को श्री स्वामी आत्मानन्द जी के आश्रम खडहर ४ वजे के लगभग पहुचे वहाँ दोनों संतों की जो वातचीत हुई वह इस प्रकार है—

प्रश्न—भगवन्! मैंने वृद्धावस्था में सन्यास ग्रहण किया है, मेरा क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—अनात्मिक वस्तुओं से चित्त को खींच कर आत्मा में स्थिर करो एव चित्त-वृत्तियों का निरोध करो।

प्रश्न—प्रभो! इसका साधन क्या है?

उत्तर—विषयों से चित्त को विरत करो। मनोवृत्तियों का निरोध भक्ति से होता है चित्त को निरन्तर आत्मचिन्तन मे लगाने का नाम भक्ति है। जितने साकार पदार्थ हैं, सब अनित्य हैं, इनसे मन को हटा कर आत्मचिन्तन में लगाना चाहिए। मन ही हमको मोक्ष का अधिकारी बना देता है और यही अधोगति प्राप्त कराता है, अत प्रतिक्षण इस पर दृष्टि रखनी चाहिये। फिर बहुत देर तक चुप रहे।

× × ×

प्रश्न—प्रभो! क्या आज कोई कष्ट प्रतीत हो रहा है?

उत्तर—यह शरीर प्रारब्ध से बना है, आत्मा का इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। शरीर अपने कर्म का भोग भोगता है। विवेकी पुरुष उसकी चिन्ता न करके चुपचाप भोग लेता है, अविवेकी चिन्ता करता है किन्तु कुछ वन नहीं पड़ता है। उसे पूर्व ही चिन्तन करना था जिससे यह शरीर ही न मिलता अथवा मिलने पर निरोग रहता।

तदनन्तर कहा कि तुम कहीं स्वतन्त्र कुटिया में दो-चार मास ठहर जाया करो। युवावस्था में विचरण सुगम होता है। विचरण करते समय किसी दिन भी एक योजन से अधिक कदापि न चलो। चलते समय १६ हाथ से अधिक न देखो। स्त्री जाति को १ वर्ष, १६ वर्ष अथवा ६० वर्ष तक को समान देखो। भोजन जो सामने आ जावे, मीठा सीठा विचारे बिना पा लो। मितभाषी बनो। सदा प्रिय व हितकर कहो। अपनी स्तुति या निन्दा से प्रसन्न या रुष्ट न होवो। यह निन्दा वा स्तुति शरीर की है, तुम शरीर नहीं हो फिर दुख एवं प्रसन्नता क्यों होवे। लक्ष्य करके न बिचरो। गंगा तट के विचरण से शास्त्र की वीथियों में विचरना श्रेयस्कर है। अनुकूल स्थान में दो एक मास रहकर पुन आसन बदल दो। स्वतन्त्र कुटी मे रहकर सुखपूर्वक दिन बिताने चाहिये।

बिचरना या एक स्थान पर रहना कुछ हो आत्मा मे प्रेम करो इससे आत्मा की ओर वृत्ति जायेगी। अनात्मिक वस्तुओं से चित्त हटाकर आत्मा में लगाना ही कर्त्तव्य है। यह नहीं तो संन्यासी होना व्यर्थ है। लोक संग्रह मत करो। उपदेश अपने मन को ही दो।

× × ×

अगले दिन आश्रम पर पहुँचते समय वह पानी भरने कुओं पर जा रहे थे मैंने पानी भरने की आज्ञा चाही पर प्राप्त न हुई। पानी कुएँ से खींचा, ग्लास व कमण्डल धोकर पानी छाना और पिया। पुन ग्लास आदि धोकर कमण्डल भरा एव स्टूल पर ढक कर रख दिया, यह सब बड़ी शान्ति पूर्वक करके पुन. कथन आरम्भ किया।

"इस नश्वर शरीर के निर्वाह हेतु बड़ा कष्ट सहना पड़ता है, ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे पुन. यह शरीर न मिले। सासारिक सुख व भोग मिलना सरल है और इनसे उपरामता प्राप्त होना दुर्लभ है यह केवल दैवेच्छा से मिलता है।

माण्डूकोपनिषद् के कतिपय श्लोकों की व्याख्या करके कहा कि जितना आत्मभाव इस शरीर मे है उतना यदि आत्मा मे हो जावे तो मनुष्य का कल्याण हो जावे यह शरीर पाकर यदि इतना नहीं हुआ तो इस शरीर में अन्य शरीरों से कोई विशेषता नहीं।

इन्द्रियों को सयम से रखना और मन को समाहित रखना सबसे बड़ा तप है। फिर इन्द्रियों की गति के चलने के विषय मे सरलता से समझाया गीता के सम्बन्ध मे आज्ञा दी की प्रति दिन६ अध्याय पढने चाहिये। घनानन्द की टीका देखो और कृष्ण भगवान् की शरण मे जाओ परन्तु द्वैत भाव से नहीं "कृष्णो नो वै आस्मि" के भाव से। माया उपहित चैतन्य और अन्त. करण अविछिन्न चैतन्य में अभेद रखो। अधिक पुस्तकें न पढ़ो केवल एक पढ़ो और उसे बार बार पढकर विचारो। आत्म पुराण को सदैव देखा करो।

प्रश्न—प्रभो! यह अब पर्य्याप्त दिन हो गये, आज्ञा हो त विचरा जावे?

उत्तर—शीतकाल यहीं विता दो। क्या अनुकूल नहीं?

भगवान, आप के चरणों की कृपा से बड़ा आनन्द आता है किन्तु मकर गगातट पर बितानेकी इच्छा है।

उत्तर में फरुखाबाद की ओर कुटिया बताई फिर कहा चाहे एक स्थान पर रहो चाहे विचरण करो, धारणा वहीं लगी रहे शरीर को प्रारब्ध पर छोड़ो।

प्रश्न—अनहद शब्द की व्याख्या कीजिये।

उत्तर—यह सूक्ष्म शरीर निरिक्त घर है, बुद्धि-नर्तकी है, इन्द्रियाँ बाजेन्द्री और जीव उसको भोगता है, आत्मा केवल द्रष्टा बनकर देखता है चित्त के समाहित और मन के एकाग्र होने पर शब्द सुनाई देता है वह शुभ है। किन्तु साधक को उसमे रुक जाना उचित नहीं। भगवान् की शरण में जाने से भूत काल के प्रतिबन्धक छूट जावेंगे। भगवान स्वयं कहते हैं कि मैं अपने भक्तों का योग-क्षेम अपने हाथ मे ले लेता हूँ। सासारिक भोग आवश्यक वस्तुओं का जुटाना है और क्षेम है पास के धन आदि को सुरक्षित रखना। परमार्थिक योग में जो भूमिका प्राप्त हो चुकी है उससे च्युत न होकर ऊपर वाली भूमिकाओं को जो अभी तक प्राप्त नहीं हुई उन्हें प्राप्त करने में सहायता देना।

वास्तविक बात यह है कि लक्ष्य से चित्त न हटे। जहाँ चाहे रहो, इसका ध्यान रखो। एकाकी रहना अच्छा है। किसी की स्तुति निन्दा न करे। जब सब अपनी आत्मा ही है तो किसकी निन्दा करे। एकाकी विचरे कहीं का विचार करके न चले।

गंगा-महिमा कहते हुये बलि और विष्णु की कथा सुनाई तथा बलि के यहाँ रावण का जाना तथा हिरण्य कशिपु का मुकुट न उठा सकने की कथा सुनाई। सिकदार सिंह से आत्म पुराण लाने के लिये कहा और यह कहा कि आत्म पुराण में स्नान करो यह गगास्नान से कम नहीं है। मैं रुक गया कि मकर स्नान को जाने के लिये मैं जो लालायित था उसी के उत्तर में यहाँ रहकर आत्म पुराण रुपी गगा में स्नान की आज्ञा हुई है।

सुधार क्या है ?

(पूज्य श्री स्वामी आत्मानन्द जी महाराज 'मुनि' पुष्कर)

(गताङ्क का शेष)

साराश, लोक-सुधार के मूल मे हमें संसार की इहलौकिक सुख-शान्ति और पारलौकिक सद्गति ही वाञ्छित होती है, सुधार के मूल मे इसके सिवा दूसरा तो कोई भी लक्ष्य बन ही नहीं सकता और इस लक्ष्य की पूर्ति एकमात्र धार्मिक और पारमार्थिक दृष्टि के वर्त्ताव से ही हो सकती है। खोटी व्यवहारिक ममता इस लक्ष्य की पूर्ति करने मे कभी भी समर्थ हो नहीं सकेगी। क्योंकि यह बात मानने में तो किसी प्रकार की भी अड़चन नहीं है कि इस लोक की सुख शान्ति और परलोक की सद्गति के मूल मे बाधक रूप है तो एकमात्र यह अहंकार ही है। और यह व्यवहारिक ममता इस अहंकार को निर्मूल करने मे कदाचित् समर्थ हो नहीं सकती किन्तु घर में से बिलाव निकाल करके पीछे से ऊँट बसा लेने के समान ही है, जो फिर कभी भी निकल ही नहीं सकता। संसार मे एकमात्र धर्म ही ऐसा निर्मल पदार्थ है कि यदि वह अधिकारानुसार खाने-पीने मे आवे तो वह शनै शनै इस अहंकार के मूल को निर्मूल करके इस लोक में सुख-शान्ति और परलोक मे सद्गति को प्रदान कर सकता है। इसीलिये शास्त्रकारो ने धर्म का लक्षण ऐसा ही कहा है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः

अर्थात् जिस चेष्टा द्वारा हम इस लोक में सुख-शान्ति और परलोक में सद्गति को प्राप्त हों, वही धर्म कहलाती है।

इस संसार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार ही पदार्थ हैं और ससार मे जितने भी मनुष्य हैं उन सब की प्रवृत्ति इन चारों मे से किसी-न-किसी पदार्थ के लिये ही हुआ करती है। पाँचवाँ तो कोई पदार्थ प्राप्त करने के लिये कोई प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। और इन सब की प्राप्ति एकमात्र धर्म द्वारा ही हो सकती है, दूसरा कोई साधन हो ही नहीं सकता। जिस किसी को जब कभी अर्थ और काम की प्राप्ति हुई है, उसके मूल मे जाने या अजाने, अब या पिछले जन्म मे किसी-न-किसी प्रकार की धर्म प्रवृत्ति ही कारण रूप मे माननी चाहिये। जिस तरह तेल तो तिलों मे से ही आया करता है, इसी तरह अर्थ और भोग भी धर्म मे से ही निकलते हैं। जिस तरह अपने शरीर में जो मोटाई आई है, वह भोजन के खाने और पचाने से ही आती है, मोटर अथवा वायुयान में बैठने से मोटाई नहीं आ सकती, इसी तरह अर्थ और काम भी धर्म से ही आते हैं। इसलिये जो कुछ अपने को मिलता है अथवा मिलेगा, वह एकमात्र धर्माचरण से ही। भले हम अब अर्थ और काम के मद में उस धर्म को बिसार बैठे हैं, जिस प्रकार बच्चे रात्रि में पिये हुए दूध को प्रभात भूल जाया करते हैं, परन्तु वह फल है एकमात्र धर्मरूपी वृक्ष का। भगवान् व्यास महाभारत के अन्त मे ऐसा ही कहते हैं।

ऊर्ध्व बाहौ विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ॥

अर्थ—मैं दोनों भुजा ऊँची उठाकर पुकारता हूँ, परन्तु मेरी कोई सुनता नहीं है कि धर्म से ही अर्थ और धर्म से ही भोग मिलते हैं, वह धर्म क्यों नहीं आचरण में लाया जाता। भगवान् श्रीमुख से गीता में दो वार ऐसी ही पुकार करते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥
(गीता अ० ३ । ३५)
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥
(गीता अ० १८ । ४७)

अर्थ—दूसरों के धर्म का आप आचरण करने से अपना गुण रहित भी धर्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म में मर जाना भी श्रेयस्कर है, परन्तु दूसरों का धर्म भयदायक ही है।

अध्याय १८ श्लोक ४७ में ऊपर के पद का तो अर्थ इसी प्रकार है। नीचे के पद में भगवान् यह कहते हैं कि अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करने से मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।

उपर्युक्त भगवद् वचनों से यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य मात्र का धर्म एक जैसा हो नहीं सकता, परन्तु अपनी-अपनी प्रकृति और सत्व, रज व तम इन तीन गुणों के भेद से धर्म की विलक्षणता होती ही है।

भगवान् तो स्वधर्म का विभाजन करते हैं और दूसरों के धर्म का आप आचरण करना भयदायक कहते हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार गुण रहित भी कर्म करने से पाप की प्राप्ति नहीं मानते। इस लिये जो अर्वाचीन भद्र पुरुष ऐसा कहते हैं कि हम तो किसी जाति में जन्म ले लेने से ही मनुष्य में भेद नहीं मानते हैं, वे धर्म के तत्व से अज्ञात हैं। अपने खोटे अभिमान से वे धर्म के प्राण के हन्ता हुआ करते हैं और अपने धर्म विरुद्ध आचरण से वे अपने और दूसरों को पथभ्रष्ट करने वाले ही हुआ करते हैं। हमको जानना चाहिये कि धर्म का प्राण 'त्याग' ही है, 'पकड़' तो किसी भी धर्म का कोई भी अंग हो ही नहीं सकता। त्याग से ही इस लोक और परलोक की सुख शान्ति मिल सकती है। त्याग से ही परलोक बन सकता है और हम परमार्थ-पथ पर चढ़ सकते हैं। परन्तु इसके साथ ही धर्म की माँग यह भी है कि त्याग अधिकारानुसार ही होना चाहिये अधिकार से अधिक नहीं। जिस प्रकार अधिकारानुसार भोजन करने से ही हम बल प्राप्त कर सकते हैं और अधिकार विरुद्ध भारी भोजन करने से हम बल प्राप्ति के स्थान पर निर्बल हो सकते हैं, इसी प्रकार अधिकारानुसार शनैः शनैः बाह्य पदार्थों का त्याग करते-करते हमको तो इस सीमित अहंकार का ही त्याग करना है। क्योंकि अपने सच्चे सुख-स्वरूप आत्मा से पृथक् करने सभी रोग-शोक और जन्म-मरणादि बन्धन में बाँधने वाला अपने सम्बन्ध से यह अहंकार ही है। इस लिये व्यवहार और आचरण से हम साक्षात् (Directly) इस अहंकार की मूल काट सकें, अथवा परम्परा (Indirectly) करके हम अहंकार की मूल काटने के सोपान पर चढ़ सकें वही व्यापार व चेष्टा धर्मरूप कही जा सकती है। परन्तु जिस चेष्टारूप व्यापार से हम में किसी प्रकार के अहंकार की वृद्धि हो और जिन चेष्टाओं से हम दूसरों को इस अहंकार वृद्धि के मार्ग पर ले चले वे तो धर्म के स्थान पर अधर्म ही बन जाती हैं। हमारे विचार से तो व्यवहार की खोटी समता स्वयं हमको और दूसरों को इसी मार्ग पर ढकेलने वाली है। सुधारक महाशय सच्चे दिल से अपनी छाती पर हाथ रखकर क्या यह कह सकते हैं कि अपने इस प्रकार के व्यवहार से वे अपने अथवा दूसरों के इस अहंकार की मूल काटने में साक्षात् अथवा परम्परा करके (Directly or Indirectly) समर्थ हुये हैं अथवा हो सकेंगे? प्राकृति राज्य में वर्ण-धर्म और आश्रम धर्म की मर्यादा अधिकारानुसार शनैः-शनैः इस सीमित अहंकार को बलि लेने के लिये ही थी। इसीलिये श्रीभगवान् ने गीता में दो स्थल पर (अ० ४—१३, अ० १८-४८) इसकी चर्चा चलाई है और चारों वर्णों का विभाग

करके उनके पृथक् पृथक् कर्मों का विभाग किया है। जो मनुष्य ऐसा कहते हैं कि 'कोई जाति में जन्म लेने से ही हम तो मनुष्यमात्र मे भेद नहीं मानते हैं'—वे तो प्रकृति और गुणों के तत्त्व से अज्ञात ही हैं। शायद वे ऐसा समझते हों कि प्रकृति और गुण तो जन्म लेने के बाद देह के साथ उत्पन्न होते हैं। परन्तु उनको जानना चाहिये कि प्रकृति और गुण तो जीव में जीव के साथ सदा ही प्रवेश पाये हुए हैं। भले जीव किसी योनि मे जाय परन्तु प्रकृति व गुण तो उसके साथ सदा ही रहने के लिये हैं। बल्कि कहना चाहिये कि उद्भिज, स्वेदज, अंडज और जरायुज—जिस-जिस योनि मे जीव भ्रमता है उस योनि की प्राप्ति तो जीव को अपनी प्रकृति व गुणों के अनुसार ही हुआ करती है। इसलिये प्रकृति और गुण तो देह की उत्पत्तिसे पूर्व ही जीव के साथ रहने के लिये हैं, परन्तु प्रकृति व गुणों के विना देह रह सकता ही नहीं है। जब यह बात मानने के सिवा छुटकारा ही नहीं है कि प्रकृति व गुणों के अनुसार ही जीव को योनि, जाति, देह, कुटुम्ब, और देश की प्राप्ति हुआ करती है, तब इस प्रलाप का क्या अर्थ कि 'हम तो कोई जाति मे जन्म ले लेने से ही मनुष्य मे भेद नहीं मानते हैं।' भेद तो घोड़े, गाय ऊँट आदि पशु भी किसी प्रकार का नहीं जानते हैं, परन्तु मनुष्य-शरीर जो भगवान् ने मोक्ष द्वाररूप अपनी अपार कृपा करके जीव को प्रदान किया है, वह वास्तव मे तो इन सभी भेदों के मूल मे जो अभेद रूप तत्त्व है उसको साक्षात्कार करके समस्त भेदों को कर्पूर के सामान उडा देने के लिये ही प्रदान किया था। ऐसे दुर्लभ शरीर को प्राप्त करके जो जीव प्रकृति और गुणों के इस रहस्य (भेद) से अज्ञात रहते हैं और जो उस तात्त्विक अभेद तक न पहुँचकर बीच मे ही धार्मिक मर्यादानुकूल भेद को तोड़-फोड़ करने मे लगे हुए हैं, वे क्या कहलाये जा सकते हैं ? यह हम नहीं कह सकते। यदि अपनी प्रकृति और गुणों के भेद से रचे हुए वर्ण-आश्रम धर्म को जाना होता और धर्मानुकूल उपर्युक्त कथनानुसार शनैः-शनैः अधिकारानुसार त्याग की सड़क पकड़ी होती तो तमोगुण व रजोगुण को गला करके और सत्त्व गुण का उद्बोध करके यह धर्म सीमित अहंकार की बलि भली प्रकार लेकर इस भेद को सच्चे अभेद में पर्यवसान करने के लिये ही प्रकट होता। परन्तु हम तो बीच मे बन्दर के समान सभी मर्यादाओं को काटकर अभेद करने के लिये उतावले हो रहे हैं और अभेद के स्थान पर भेद को ही अधिकाधिक पुष्ट कर रहे हैं।

सुनने मे आता है कि दो बढ़ई एक मोटे लकड़ी के लट्ठे को बीच में से चीरने में लग रहे थे। चिराई का कार्य सुगमता से हो सके, इस दृष्टि से उन्होंने लकड़ी के चीरे हुये भाग मे एक मोटा कीला ठोका। जब वे भोजन करने लगे तो कोई एक बन्दर ने आकर उस कीले को जोर से हिलाया जिससे कीला बाहर निकल पड़ा और उसके स्थान पर उसका हाथ चिरे हुये भाग में फँस गया और वानर चिल्लाने लगा। यह देखकर बढ़ई दौड़े और उसे उसी कीले को लट्ठे मे फँसाकर उसका हाथ निकाला।

इसी प्रकार गुरू व शास्त्र इस ससार रूपी लट्ठे को चीरने में लगे हुये हैं। उनका कार्य सुगमता से हो सके इसी लिये उन्होने धर्म-मर्यादा रूपी कीला ठोका है। परन्तु इस रहस्य से अज्ञात मनुष्य बन्दर की तरह इस मर्यादा रूपी कीले को अपने बल से निकाल फेंकते हैं। तथापि मर्यादा-भग से जो अधिक क्लेश की प्राप्ति होती है और आजादी के स्थान पर जो विशेष बन्धन हो जाता है उससे वे रोते हैं और चिल्लाते हैं। अब इनके छूटने का इसके सिवा कोई दूसरा उपाय हो ही नहीं सकता कि फिर से यह मर्यादा रूपी कीला दृढ करने मे आवे।

इस प्रकार यह मर्यादा-रूपी कीला ही इस ससार बन्धन को काट सकता है।

अब तक जो कुछ इस लेख मे वर्णन किया गया है, पाठको की सुगमता के लिये उसका स्पष्टीकरण नीचे करने मे आता है—

१—ससार की उत्पत्ति जीव के फलोन्मुख कर्म-सस्कारों के निमित्त से ही होती है। सिनेमा की फिल्म के समान वे फलोन्मुख सूक्ष्म कर्म-सस्कार ही भगवत्-प्रकाश मे ससार रूप से मोटे आकारों मे प्रकट होते हैं। इसलिये जहाँ तक जिसके कर्म सस्कार फल के सन्मुख रहते हैं वहीं तक उसका ससार होता है। और जब कर्म संस्कार फल से विमुख हो जाता है, तब उसका ससार भी लय हो जाता है। कीडी, पक्षी, पशु, मानव और देवता आदि योनियों मे जितना जिसके कर्म सस्कारों का उद्बोध होता है उतना ही उसका ससार भी होता इसलिये ससार-उत्पत्ति मे जीव के कर्म-सस्कार तो निमित्त, प्रकृति उत्पादन और भगवत्-प्रकाश साक्षी-रूप से विराजमान होता है

२—अपने सच्चे और सुखस्वरूप आत्मा से जुदा पडकर ही और उसको भुला कर ही जीव सुख का इच्छुक होता है और अपने अज्ञान से सांसारिक पदार्थों मे से किसी को सुखरूप और किसी को दु:ख रूप जानता है। सुखरूप को ग्रहण करने और दु खरूप को त्यागने के लिये जीव शुभाशुभ कर्म करता है। वह कर्मरूप व्यापार तो वहीं लय हो जाता है, परन्तु उसके पुण्य-पाप रूप सस्कार कर्त्ता के आश्रय रहते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार जब वे सस्कार काल-चक्र के अधीन फल देने के लिये तैयार होते हैं, तब वे ही देह और संसाररूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार अपने किये हुये कर्मों का खट्टा-मीठा फल कर्त्ता को भुगाना, यही ससार-उत्पत्ति का मुख्य प्रयोजन है।

३—जीव के दु ख-सुख की प्राप्ति में जीव के अपने फलोन्मुख कर्म-सस्कार ही बीज रूप उपादान हुआ करते हैं और दूसरा बाहर का समस्त संसार तो बीज से फल की उत्पत्ति मे निमित्त मात्र ही हुआ करता है। इस प्रकार अपने दु:ख व सुख का कारण जीव आप ही होता है। फल की उत्पत्ति में मुख्यता बीज की ही होती है, निमित्त तो बीज के अधीन फल-प्राप्ति मे सहायक मात्र ही होता है, स्वतन्त्र फल प्रदान नहीं कर सकता।

४—ससार-दृष्टि रखकर ही जो हम लोक-सुधार मे प्रवृत्त होते हैं, यह कोई खरा लोक-सुधार नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ससार-दृष्टि रखकर हम दूसरों का जो कुछ प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं, वह तो उनके कर्म सस्कारों के अधीन ही उनको प्राप्त होता है। उनके अदृष्ट और प्रारब्ध के बिना हम उनको कुछ भी दिलाने मे समर्थ नहीं हो सकते है। और जो फल हमारे द्वारा प्राप्त कराया गया है वह नाशवन्त ही होगा।

इस लिये इस प्रकार कुछ भी लोक सुधार हुआ हो, ऐसा कहा नहीं जा सकता। यद्यपि सात्विक राजस या तामस तीन प्रकार के निष्काम कर्म के अनुसार हम जैसे जैसे भाव से इसमे प्रवृत्त हों, अपने भावानुसार हमको तो वैसा फल मिल सकता है, परन्तु दूसरों को तो यह संसारी फल उनके अपने पूर्व बोये हुये बीज के अनुसार ही मिला है। ऐसा मानना पडेगा इस लिये दूसरों के लिये सांसारिक दृष्टि से हमारी प्रवृत्ति उनके लिये कोई सच्चा नया बीज आरोपण करने वाली हुई हो, ऐसा कहा नहीं जा सकता। तथा हमारे लिये भी यदि हमने धार्मिक मर्यादा का पोषण करके ही प्रवृत्ति की हो तो वह निस्सन्देह हमारे लिये खरा बीजारोपण हो सकती है, परन्तु यदि हम धार्मिक मर्यादा का भग करके ही लोक सुधार में प्रवृत्त हुये हों तो लोक-सुधार के स्थान पर वह लोक-बिगाड़ बन सकता है

और हमारे लिये खरे के बजाय खोटा ही बीजारोपण निबटता है। इस लिये यदि हम धार्मिक और पारमार्थिक दृष्टि रखकर ही लोक-सुधार में प्रवृत्त हों तो वह हमारे और दूसरे दोनों पक्षों के लिये खरा बीजारोपण हो सकता है। क्योंकि यदि हृदय क्षेत्र में यह बीज सच्चे भावों से आरोपण करने मे आवे और अभ्यासरूपी जल बहाया जाय तो खरी मुक्ति प्रदान करने के विना इसका नाश हो ही नहीं सकता। यही अर्जुन के प्रश्न पर श्रीभगवान् श्रीमुख से प्रतिज्ञा करते हैं —

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥
(गी० ६-४०)

अर्थ—पार्थ न इस लोक में और परलोक मे उसका नाश तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि कल्याण का करने वाला कोई भी निश्चय पूर्वक दुर्गति को तो प्राप्त हो ही नहीं सकता है।

सुधारक महाशय पक्ष-पात रहित दृष्टि धारण करके इस लेख पर विचार कर सके और अपना सच्चा लक्ष्य स्थिर कर सकें तो उनका आभार माना जायगा।

"शास्त्र व जगत् का पुण्य-पाप"

(श्रीस्वामी जगदीश्वरानन्द जी, वेदान्त शास्त्री)

मंगल चाहने वाला पुरुष सदैव विचारता रहता है इसमे पाप तो नहीं ? डरता है कहीं मुझ से पाप न बन जाय; वह बात बात मे अपने साथियों से पूँछता है कि यह काम ठीक है, या बुरा ? वह अच्छे बुरे को जानना चाहता है, उसी अच्छे बुरे का पर्याय पुण्य पाप है।

साधारण जन अपनी मत्यानुसार कहते हैं— हाँ इसमें क्या पाप है यह तो सभी करते हैं, करते आ रहे हैं। लोग यह मानने लगे हैं, कि जो सर्व साधारण जन करते हैं, करते आ रहे हैं, वह पाप नहीं। उससे कुछ आगे बढ़कर करना ही पाप हैं। जगत् का पुण्य भी वैसा ही है। साधारण संसारी पुरुषों द्वारा किये जाने वाले संयम से कुछ अधिक करना पुण्य मे सुमार हो गया, जगत् उसे पुण्य मान बैठा।

शास्त्रों में मनुष्य के पुण्य पाप की जो परिभाषा की गई है। उसका यह भाव है कि जिस क्रिया से मानव अपने प्रत्येक व्यवहार से पवित्र उन्नत हो, शान्ति आनन्द के केन्द्र मध्य बिन्दु आत्मा की ओर अग्रसर हो सके, वह पुण्य है। और जिस क्रिया से वह जहाँ अभी स्थिर खड़ा है। वहा से भी नीचे गिर जाय। पीछे हटा दिया जाय। आत्मसानिध्य न प्राप्त कर सके तो वह पाप है। आये थे शान्ति आनन्द पाने उसके मध्य बिन्दु केन्द्र को खोजने। चल पड़े, उसकी विपरीत दिशा मे अशान्ति क्लेश दुःख गर्त की ओर। समझने की केवल यह बात है कि मानव को कहा खड़ा किया गया है ? किधर बढ़ने मे सुख-शान्ति का केन्द्र प्राप्त होता ? और किधर जाने से दुःखागार हमे मध्यस्थान को समझना है।

हमारे शरीर में वाहक हैं—दश इन्द्रियाँ। मन उनका सहयोगी सचालक है:—

मन की पवित्र उन्नत भावना से भावित होकर इन्द्रिय व्यवहार हुआ तो समझो कि शनैः शनैः शान्ति सुख के मध्यबिन्दु की ओर अग्रसर हुये। वही मन यदि अपवित्र भावना लिये इन्द्रियों का

सचालक बना तो धीरे धीरे दु:ख के गर्त्त मे जा पहुँचेगे। तब ये दो विपरीत भावनायें—सुख एव दु.ख की ओर ले जानी वाली निसेनी बनी। एक ओर चढकर आनन्दगिरी प्राप्त करते हैं, दूसरी ओर नीचे उतर कर दुःखानल—दु ख क्लेश के सागर में गिरते हैं। तब स्वत: मध्यस्थान निर्णीत हो जाता है—"शुभ-अशुभ भावना को छोड़कर शरीर रक्षण की दशा" इन्द्रियों का सभी व्यवहार शरीर रक्षा की भावना से या शरीर चलाने की नियत से ही मन से सचालित हो रहा है, यह स्थान बड़ा नुकीला एव अत्यल्प है इस पर टिके रहना असम्भव ही जानो। यह है मानव प्राप्त स्थिर स्थान। जिस पर खड़े रहना अतिदुष्कर है। अब या तो ऊपर उठने लगे या नीचे उतर जाय। मन को पूत भावना से ऊँचा उठना होगा—मलिन भावना इन्द्रिया सक्ति से नीचे आना होगा। यहाँ का प्रश्न था—कि क्या इसमें पाप तो नहीं ? इसे करने से बुराई तो नहीं होगी। ससारी लोग तो नीचे उतर कर जहाँ टिक गये वहाँ से हिसाब लगाने लगे, यह पाप है या पुण्य, अच्छा है बुरा ? प्रश्न गभीर है—विचारणीय है। प्रश्न है, आत्मसानिध्य का उत्तर को भी शरीर सरक्षण रूपी नोकीले स्थान से आरम्भ करना होगा। अभी तक यह स्पष्ट कर पाये पुण्य व पाप इन्द्रियों के पवित्र व मलिन व्यापार हैं। पवित्र भावना का कर्म पुण्य, मलिन-भावना वाला कर्म पाप एक मध्य स्थान जो न पुण्य न पाप तब पुण्य पाप का रहस्य मध्य स्थान को सामने रखते हुये ही जानना चाहिये।

इसे स्पष्ट करने के लिये प्रत्येक इन्द्रिय के कर्म का विचार करना होगा। उसमें भी अध्यात्मशास्त्र की आवाज व साधारण जगत् की आवाज को पृथक् कर देना चाहिये। एक मध्य अवस्था भी आजायेगी जहाँ अध्यात्मशास्त्र चुप्पी साधे रहेगा तब शास्त्र से पुण्य, जगत् दृष्टि से महा पुण्य। अध्यात्मशास्त्र चुप तो जगत् के मत में पुण्य, अध्यात्मशास्त्र पाप तो जगत् चुप या दबी जबान से साधारण शास्त्र का सहारा लेकर पुण्य कहेगा, जगत् का व्यवहार कहेगा। इसके बाद शास्त्र व जगत् पाप कहेंगे।

उदाहरण स्वरूप—प्रधान इन्द्रिय-रसना को लें—शास्त्र दृष्टि से भोजन सात्विक है, उस सात्विक भोजन मे भी—ईशप्रसाद की भावना है, पञ्च प्राणाहुति का भाव है प्रत्येक ग्रास में दिव्यता की पूत भावना है "रसो वै स" "अन्न ब्रह्म" की पवित्र भावना से ब्रह्मांश की वृद्धि हेतु ईशप्रसाद ग्रहण किया जा रहा है, पूर्वा रम्भ में प्रार्थना है, मध्य में पूत भावना है, अन्त में सतुष्टि है, इस प्रकार रसना व्यापार पवित्र भावना निष्पन्न होने से पुण्य हुआ।

दूसरी दशा—हितमित शरीर पोषक आहार है पर पवित्र भावना का योग नहीं वहाँ अध्यात्मशास्त्र चुप है जगत् की आवाज आती है पुण्य है गड़बड़ नहीं खाता नपा तुला खाता है। अतः पुण्य परन्तु केवल शरीर रक्षा या पोषण ही तो हुआ अत: शास्त्र चुप्पी साधी।

तीसरी अवस्था—भोजन सात्विक है, इन्द्रिया सक्ति है। स्वाद की भावना है, शास्त्र कहता है पाप। जगत् चुप रहता है।

चौथी दशा—भोजन राजसिक, तामसिक-इन्द्रिया सक्ति-शास्त्र व जगत् दोनों पाप यहाँ आगे एक वाक्यता होती है तो भी शास्त्र महापाप तो जगत् पाप कहें इतना अन्तर रहेगा। ऐसे ही—दूसरी प्रबल सुर्तेंद्रिय—जननेन्द्रिय को लें—

अखंड ब्रह्मचर्य—ब्रह्मदर्शन की पूतभावना, स्त्री मात्र—में ब्रह्मदृष्टि या कुछ उतरी मातृदृष्टि, मन की पवित्रावस्था, आध्यात्मशास्त्र—पुण्य जगत् महा पुण्य:

दूसरी दशा.—जननेन्द्रिय का संयम, मन की

सामान्य दशा, सामान्य स्त्रीदृष्टि, आध्यात्मशास्त्र चुप, जगत् पुण्य ।

तीसरी अवस्था —मन की अपवित्र दशा, स्त्री के प्रति आसक्ति, वाह्यदृष्टि से सयमी, साधु-ब्रह्मचारी, अध्यात्मशास्त्र पाप जगत् पुण्य अथवा—गृहस्थ है—इन्द्रियासक्ति है : केवल स्वस्त्री संयमी है, अध्यात्मशास्त्र—पाप, जगत् पुण्य—या चुप.

चौथी अवस्था—परस्त्री गामी—शास्त्र व जगत् पाप ।

प्रत्येक इन्द्रिय व्यापार की एक अवस्था ऐसी आती है जहाँ जगत् आकर टिका बैठा है। नोकीले केवल शरीर सरक्षण स्थान पर टिकना दुष्कर था। अत कुछ नीचे उतर कर एक स्थान पर निर्धारित कर सामान्य शास्त्र की साक्षी लेली। परन्तु उस स्थान पर टिके लोगों को शान्ति नहीं। तथाच बहुत सीढ़ी चढ़ने उपरान्त शान्ति सुख की रश्मियां मिलने लगती है अत मध्यबिंदु शान्ति केन्द्र से काफी दूर हटा हुआ वह स्थान है जहाँ मानव समाज जा टिका है स्वत ही अनुमान सिद्ध हो रहा है।

अत. पुण्य पाप की मीमासा का उत्तर लेने के लिये जागतिक उत्तर से सतोष न पा मध्यस्थान व अध्यात्मशास्त्र को स्मरण करना चाहिये। मानव का मध्यस्थान क्या है? कहाँ से आध्यात्मशास्त्र पुण्य शब्द का प्रयोग करता है। ऐसी दशा में साधक की साधना उन्नतर होगी और शीघ्र ही वह सुख शान्ति के मध्यबिंदु आनन्दसागर आत्मा में पहुँचकर आनन्द में गोते लगा सकेगा।

सद्गुरुदेव

(वर्ष ३ अङ्क १२ के आगे)

काशी से चलकर आप पैदल ही अपने पूर्व निवास स्थान सराय प्रयाग की ओर रवाना हुये। पुण्य सलिला भगवती भागीरथी के सुरम्य तट के सहारे धीरे-धीरे चलते हुए मध्याह्न के समय एक ग्राम में आप भिक्षा के लिये एक गृहस्थ के द्वार पर पहुँचे, द्वार पर पहुँचते ही आपने 'नारायण हरि' कहकर गृह वालों को भिक्षा के लिये बुलाया, थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के पश्चात आपने कान लगाकर सुना तो घर के अन्दर से एक नारी कण्ठ विनर्गत करुण क्रन्दन ध्वनि सुनाई दी, सहसा आपका हृदय करुणा से भर गया पूज्यपाद श्री गोस्वामी जी के शब्दों में—

सन्त हृदय नवनीत समाना,
कहा कविन पै कहि नहि जाना।
निज परिताप द्रवहि नव नीता,
पर दु ख द्रवहि सुसन्त पुनीता ॥

सचमुच सन्तों का हृदय नवनीत से भी अधिक कोमल होता है मक्खन तो स्वयं अपने आँच से पिघलता है किन्तु सन्त पराया दुःख देखते ही द्रवित हो जाते है, आपने दयार्द्र होकर घर में आगे बढ़कर देखा कि घर के दालान में दो चारपाईयाँ पड़ी हुई हैं। उन दोनों में से एक चारपाई पर एक अधेड़ व्यक्ति ज्वराक्रान्त अवस्था में पड़ा हुआ धीरे-धीरे कराह रहा है, प्यास की व्याकुलता के कारण बार-बार पानी-पानी पुकारता है और दूसरी ओर एक छोटी सी चारपाई पर एक तीन वर्ष का बालक निमोनिया से पीड़ित होकर दम तोड़ रहा है। एक सती नारी अश्रु पूर्ण नयनों से, बार-बार उठकर कभी अपने पति को पानी पिलाती है कभी अपने पुत्र के पास आकर उसके मुख की ओर देखकर व्याकुलता से आँसू बहाती है, सचमुच नारी का हृदय कितना विशाल कितना ममता पूर्ण होता है यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था। अद्भुत धैर्य्य के साथ वह देवी अपने रोगी पति एवम् मरणासन्न पुत्र की सेवा में संलग्न थी।

आज दो दिन से उसके घर मे चूल्हा नहीं जला था, उस देवी को एक क्षण मात्र का भी विश्राम नहीं मिल रहा था। आज मध्याह्न के समय एक

महात्मा को भिक्षा के लिये नारायण हरि शब्द सुनकर उसका हृदय अधीर हो उठा, यह सोचकर कि हाय आज इस सकटापन्न अवस्था में एक महात्मा अतिथि हमारे द्वार से बिना भिक्षा पाये विमुख होकर लौट जायेगा। जो कि गृहस्थ के लिये अत्यन्त लज्जा और अधर्म की बात है, इसका परिणाम भविष्य में महान अनर्थकारी होगा। अपनी असहाय अवस्था से अधीर होकर वह व्याकुलहृदया सती नारी सहसा रो पड़ी। महाराज को आँगन में आये हुआ देखकर वह देवी "सकट सागर में निमग्न हुई इस अबला नारी को उबारने के लिये आज साक्षात् नारायण हमारे घर पर आये हैं" यह समझती हुई दौड़कर आपके चरणों में लिपट गई अपने अजस्र अश्रुओं की धार से आपके चरणों को धोती हुई वह फूट-फूट कर रोने लगी आप उसकी ऐसी करुणामयी दशा देखकर बोले—बेटी! घबराओ नहीं भगवान् तुम्हारा सभी दु.ख शीघ्र ही दूर करेंगे दीनों अनाथों पर कृपा करने का उनका सहज स्वभाव है, इसीलिये तो वे अनाथ नाथ दीनबन्धु कहलाते हैं। तुम निश्चय समझ लो कि अब तुम्हारा दु ख दूर हो गया। इतना कहकर आप झटपट उस रोगी की शय्या की ओर बढ़े। वह सती भी आपके साथ चल पड़ी। चारपाई के निकट पहुँचकर आपने अपना शीतल वरदहस्त रोगी के शिर पर फेरा। आपका शीतल करस्पर्श पाते ही रोगी ने अपनी आँखें खोल दीं, शीघ्रता से चलती हुई श्वास तुरन्त गम्भीर हो गई, उसने सन्तोष की एक गहरी श्वास लेते हुये धीरे धीरे अपने हाथ जोड़कर आपको प्रणाम किया। बहुत मद स्वर में उसने कहा कि मुझे भयकर ज्वर की ज्वाला में जलाते हुये यमदूतों से आज आपने अपने शीतल वरद कर का अवलम्ब देकर शीतल कर दिया, हमे महान दु.ख से बचा लिया। रोगी इस प्रकार अपने कृतज्ञता पूर्ण अश्रु जल से अर्घ्य जैसा देता हुआ पुनः पुन. प्रणाम करने लगा, सती नारी ने हर्षातिरेक हृदय से दौड़ कर उस मरणासन्न बालक को भी आपके चरणों में लाकर डाल दिया। आपने कहा आयुष्मन् सुखी रहो। सर्वभूत-हितेरता के व्रतधारी अहैतुक कृपालु महात्माओं की वाणी में अद्भुत शक्ति होती है। वह बालक तत्काल ही मुस्कराता हुआ माता की ओर देखने लगा। देवी पुलकायमान शरीर एवं गद्गद् कंठ होकर बोली—प्रभो! आज इस अनाथनी अबला पर कृपा करने के लिये भगवान स्वयं ही सन्त रूप में हमें दु.खार्णव से पार करने के लिये इस समय गृह पर पधारे हैं। आपने कहा कि प्रभु की ऐसी ही प्रेरणा थी। इस कारण अचानक तेरे द्वार पर इस समय आना हुआ। बेटी अब मैं जाता हूँ। इतना कहकर ज्यों ही आप चलनेके लिये तैयार हुये कि उस देवी ने पुनः आपके चरण पकड़ लिये और आग्रह पूर्वक कहा—भगवन्! हमारे कल्याण के लिये आप कुछ न कुछ अन्न या जल ग्रहण कर लीजिये। अन्यथा बिना कुछ खाये-पिये भूखे-प्यासे आपके चले जाने से हमारा समस्त कल्याण पुण्य चला जावेगा। यह मैंने सुना है। आपने कहा पुत्री, मेरी भूख तो मिटगई। तेरा दुःख दूर होगया। इससे मुझे पूर्ण सन्तोष हो गया। मेरा पेट भर गया। अब आगे चलकर मेरे नारायण मेरे लिये भिक्षा लिये हुये खड़े होंगे। अस्तु मैं जाता हूँ। किन्तु उस देवी ने अपने घर में दौड़कर थोड़ा सा गुड़ लाकर आपको देते हुये कहा कि भगवन् मेरे कल्याण के लिये इसको खाकर जल पीने की कृपा कीजिये। आपने उसका अत्यन्त आग्रह देखकर वह गुड़ (मिठाई) खा लिया और जल पाकर तत्काल हो रवाना हो गये।

उस दिन आपने फिर उस ग्राम में और कहीं भिक्षा नहीं ली। संध्या समय गंगा तट पर एक शिवाले में जाकर ठहर गये। यद्यपि आज भूखे रहकर सध्या तक पैदल यात्रा करनी पड़ी थी। किन्तु फिर भी चित्त बहुत प्रसन्न था। आप गगा जल से आचमन पाद प्रक्षालन तथा थोड़ा सा जल पान करके ज्योंही शिवाले में आकर अपना आसन लगाया। कि तत्काल सुन्दर नगला ग्राम के एक ब्राह्मण देवता मदनमोहन जी भिक्षा लेकर आगये आते ही उन्होंने प्रणाम करके कहा कि आप दिन भर के भूखे हैं पहले आप भिक्षा पा लीजिये। आपने कहा तुम्हें कैसे मालूम कि मैं दिन भर का भूखा हूँ, वह बोला मुझसे आज अभी दिन के ४ बजे मेरी छोटी कन्या जो तीन वर्ष की है उसने कहा कि दादा एक नया ६ वर्ष का सुन्दर श्यामला बालक जो हाथ में बन्शी लिये हुये था दोपहर में मुझसे कहगया है कि अपने पिता से कह देना कि आज सन्ध्या समय एक महात्मा गंगातट वाले शिवाले में आकर ठहरेंगे, उन्होंने आज मध्याह्न में भिक्षा नहीं की हैं अस्तु उनके लिये भिक्षा तैयार करवा के सध्या समय तुम्हारे

पिताजी शीघ्र ही स्वय जाकर उनको भोजन करा देवें उन्हें बहुत पुण्य फल प्राप्त होगा। अस्तु पहले भिक्षा कर लीजिये। आपने मनही मन उस विश्वम्भर को कोटिश धन्यवाद देते हुए प्रेमाश्रु जल-पूर्ण नयनों से उस मनमोहन की ओर देखते हुये कहा कि प्रभु की आज्ञा अवश्य पूर्ण करूँगा। तत्पश्चात् आपने भिक्षा की, रात्रि भर प्रभु की इस कृपा से गद्गद होते रहे कि:—

पक्षी कुछ बाँधे नहीं नहिं माँगन कहुँ जाहिं।
पीछे-पीछे प्रभु फिरें कि भूखे ना रहिजाँय॥

इस दोहे की रट लगाते हुये प्रातः काल उठकर आप पुन पैदल यात्रा करते हुये अपने पूर्व निवास स्थान सराय प्रयाग में आगये।

मानवता का परम शत्रु !

(*श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज*)

यत्र क्रोधो तत्र बोधो न यत्र बोधने तत्र क्रोधो न

इस संसार में मनुष्य को क्रोध ही अधिक दुःख पहुँचाता है। क्रोधी पुरुष दूसरे का अहित तो करता ही है किन्तु उससे अधिक वह अपना ही अहित कर डालता है उसे अपने अहित का भान नहीं होने पाता कि मैं इस क्रोध से अपना भी अहित कर रहा हूँ। क्रोधावेश मे मनुष्य अपने को बिल्कुल भूल जाता है उस समय उसे उचित अनुचित का तनिक भी ध्यान नहीं रहता न कहने योग्य कह बठता है और न करने योग्य क्रिया करने पर उतारू हो जाता है उसके ज्ञान का नाश तो होता ही है साथ ही उसके किये हुये तप, भजन, पूजा और पाठ का फल भी नष्ट हो जाता है। जैसे किसी कमरे मे कुछ वस्तुएँ रक्खी हों और दैवयोग से उसमे आग लग जाय तो कमरे की सभी वस्तुएँ जलकर भस्म हो जाती हैं इसी प्रकार अन्त.करण के सद्गुण भी क्रोधाग्नि मे जलकर भस्म हो जाते हैं। जिन महापुरुषों ने आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त की हैं, उन सभी ने प्राय. पहले क्रोध पर अवश्य ही विजय प्राप्त की है। हमारा इतिहास साक्षी है कि रावण कुम्भकरण, हिरण्यकश्यपु आदि असुरों ने भी तप करने के समय क्रोध का परित्याग कर दिया था, इसी लिये उन्हें असीम शक्तियाँ प्राप्त हुई थीं। क्रोधी स्वभाव होने से धर्म की साधना मे सिद्धि नहीं हो सकती। गोस्वामी जी कहते हैं —

खोजत पथ मिलहि नहिं धूरी।
क्रोध करहि जिमि धर्महि दूरी॥

राक्षसों को भी क्रोध त्याग के प्रभाव से ही तप मे सफलता मिली थी तो आज जब कि हमें शक्ति-सचय की आवश्यकता है और शक्ति क्रोध के त्याग द्वारा ही सचित हो सकती है अतएव शक्ति संचय के लिये क्रोध त्याग की परमावश्यकता है महर्षि परशुराम जी की गणना तेईस अवतारों में से है उन्होंने भी जब धनुष-भंग के समय क्रोध किया था तो उनका तप भी क्षीण हो गया।

"रिस तनु जरइ होइ बल हानी"

धर्म शास्त्र में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि उन्हों ने संसार में जो कुछ प्राप्त किया है उन्हें वह क्रोध के त्याग से ही मिला है। लोहा इतनी कठोर वस्तु है किन्तु अग्नि के सग से निर्बल हो जाता है, पानी बन जाता है, इसी प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ व्यक्ति भी क्रोधावेश में निर्बल और हीन बन जाता है क्रोधी पुरुष की मानसिक शक्तियों का ह्रास तो होता ही है साथ ही शारीरिक बल भी क्षीण होता है खून जलता है और शरीर में अनेकों रोगों के कीटाणु क्रोध के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ तक देखा गया है

कि प्रायः लोग क्रोध के आवेश में आत्महत्या तक कर बैठते हैं अथवा दूसरों की ही हत्या करके महापातक के भागी बन जाते हैं। क्रोध के कारण ही आज घर-घर अशान्ति का साम्राज्य है, भाई-भाई से, पुत्र पिता से अलग है, अधिकांश लोग क्रोध के प्रभाव से ही अपना जीवन भार रूप बना लेते हैं।

किसी कवि ने लिखा है—

जहाँ क्रोध तहँ काल है, जहाँ क्षमा तहँ आप।

जहाँ क्रोध है, वहाँ काल भी समीप ही समझो। किसी लड़के ने अपने पिता से पूछा कि पिता जी यमराज का स्वरूप कैसा है पिता ने कहा कि जैसा क्रोधी पुरुष का चेहरा होता है, वैसा ही यमराज का स्वरूप होता है। क्रोधी पुरुष के हृदय में सदैव जलन बनी रहती है।

उसका जीवन सदैव अशान्त ही बना रहता है। फिर भला वह दूसरों को किस प्रकार शान्ति पहुँचा सकता है। स्वयं भी जलता है और दूसरों को भी जलाता है। जिसे अपना जीवन शान्ति से व्यतीत करने की अभिलाषा हो उसे क्रोध का त्याग करना ही चाहिये। प्रश्न हो सकता है कि क्रोध की परिभाषा क्या है? उसकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? और उसके त्याग की विधि क्या है? कारण कि व्यावहारिक जीवन में यदि मनुष्य क्रोध का बिल्कुल परित्याग कर दे तो उसका व्यवहार चलना कभी कभी असंभव सा हो जाता है। ऐसी प्रायः लोग शंका करते हैं कि क्रोध त्याग करने से संसार में काम नहीं चल सकता और क्रोध के त्याग के बिना शान्ति नहीं हो सकती अतएव क्रोध के रहस्य को भली भाँति समझ लेना परमावश्यक है। क्रोध वास्तव में उसे कहते हैं, जिससे हृदय में जलन और द्वेष उत्पन्न होता है। तथा नाना प्रकार की कुभावनाएँ होती हैं। ऐसे क्रोध से अपना और दूसरों दोनों का ही अहित होता है। वास्तव में यदि वाणी के द्वारा क्रोध किया जाय और अन्तःकरण में कुछ द्वेष बुद्धि अथवा जलन न हो तो उसे क्रोध नहीं भी कह सकते हैं। जिस क्रोध से दूसरों का हित होता है और अपने हृदय में जलन और कुभावनाएँ न पैदा हों तो वह वास्तविक क्रोध नहीं कहा जा सकता।

हमें संसार के सभी व्यवहार करना है, राजसी और तामसी लोगों से व्यवहार करना है तो उनसे ऊपर से क्रोध करने की आवश्यकता है, हृदय से नहीं क्योंकि ऊपरी क्रोध से उनका कल्याण ही होता है। जैसे कुम्हार घड़े में थापी ऊपर से लगाता है किन्तु भीतर से हाथ लगाये रहता है इस क्रिया से घड़े का मूल्य बढ़ता ही है। मनुष्य वही है जो क्रोध को अपने वश में करे क्रोध के वश में न हो जाय। जिस समय अत्यन्त आवश्यकता पड़े तभी उस क्रोध से काम ले लिया जाय। जैसे बन्दूक, तलवार आदि हथियारों से काम समय पड़ने पर ले लिया जाता है। बुद्धिमान पुरुष समय पड़ने पर ही ऐसे घातक हथियारों का प्रयोग करते हैं। क्रोध भी एक महान घातक हथियार ही है, ऐसा निश्चय समझो। किसी स्थान पर क्रोध करने की आवश्यकता है और किस स्थान पर क्रोध को दमन करने की आवश्यकता है, इसे भली प्रकार समझ कर ही प्रयोग करना चाहिए। राजा लोग यदि ऊपर से क्रोध न करते तो पापियों को कौन दण्ड देता? अध्यापक यदि विद्यार्थी को दंड न दें, क्रोध न करें, तो उनकी उन्नति नहीं हो सकती अथवा यदि डाक्टर रोगी को कड़वी औषधि न दे तो रोगी का रोग दूर नहीं हो सकता है। राजनीतिक दृष्टि से ऊपर से क्रोध करना चाहिए भीतर से नहीं, साधुनीति में तो यह अवश्य है, कि वह न तो ऊपर से ही क्रोध करे और न भीतर से ही, उसे तो प्रत्येक वातावरण में क्रोध का दमन ही करना चाहिए।

"बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे।
खल के वचन संत सह जैसे॥"

ससार में जहाँ पर जितनी आवश्यकता हो तहाँ पर तैसा ही वर्ताव करे कहीं पर साधु नीति का और कहीं राजनीति का। अपने से श्रेष्ठ और गुरु जनों के साथ तो प्रत्येक को साधु नीति ही वर्तनी चाहिए जैसे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने श्री परशुराम जी के अत्यन्त क्रोध करने पर भी उन्हें अन्त तक मधुर वचनों में ही उत्तर दिये थे और उन्हीं श्रीराम ने खरदूषण को कठोर शब्दों मे उत्तर दिया था अस्तु असुर तामसी जनों से क्रोध का वर्ताव करना ही आवश्यक है।

किसी गाँव मे एक विषधर सर्प रहता था उसने उस गाँव के कई आदमियों को काट लिया जिससे कई व्यक्तियों की अकाल मृत्यु हो गई। गाँव के लोग उसे मारने की फिराक में रहने लगे और सर्प भी अपने वचाव के लिये लोगों को काटने लगा। एक बार एक सत उस गाँव में निकले गाँव वालों से उन्होंने कुशल पूछा गाँव वालों ने सर्प का भय उन महापुरुष को सुनाया। महात्मा जी सर्प की बोली जानते थे उन्होंने सर्प से जाकर पूछा कि भाई तुम व्यर्थ ही निरपराध लोगों को काट लेते हो तुम्हें इससे क्या लाभ होता है। सर्प ने कहा महाराज मैं क्या करूँ जब वे मुझे मारने आते हैं तो विवश होकर अपनी रक्षा के लिये उन्हें काटना ही पड़ता है सन्त ने कहा अब तुम किसी को मत काटना मै सब ग्राम वासियों को समझा दूँगा वे भी तुम्हें नहीं मारेंगे। सर्प महात्मा जी के प्रस्ताव से सहमत हो गया। कुछ दिनों बाद जब कि वह निश्चिन्त होकर इधर उधर घूमने लगा तो पुरुष तो उसे देखकर कुछ बोलते नहीं थे गाँव के बालक उसे सताने लगे छड़ी आदि से उसे पीटने लगे सर्प ने तो सन्त से प्रतिज्ञा की थी कि मैं किसी को नहीं काटूँगा किन्तु बालकों ने बेचारे सर्प को मार मार कर घायल कर दिया। कुछ दिनों बाद वे सन्त महापुरुष फिर उस गाँव से निकले लोगों से कुशलता पूछी मनुष्योंने कहा महाराज अब तो कोई चिन्ता की बात नहीं है सर्प अब किसी को नहीं काटता है। महापुरुष उस सर्प के पास भी पहुचे और उससे भी हाल पूछा सर्प ने कहा महाराज आप ने तो मुझे आफत में फाँस दिया। देखिये तो लड़कों ने मेरी कैसी गति बनाई है। महात्मा जी ने कहा कि भाई मैंने तो तुम्हें काटने को मना किया था फुसकारने के लिये तो मैंने तुम्हें मना नहीं किया था। अब यदि लड़के तुम्हें छेड़ें तो तुम फुसकार देना, इतना समझाकर महात्मा जी चले गये। दूसरे दिन जब बालक उसे फिर छेड़ने आये तो उस सर्प ने फन उठा कर फुसकार दिया लड़के भयभीत हो कर भाग गये और उस दिन से फिर कभी उस सर्प को छेड़ने नहीं आये।

इस उदाहरण से हमें शिक्षा मिलती है कि आवश्यकता पड़ने पर हमें क्रोध करने की भी आवश्यकता है किन्तु हित भावना के साथ ही। क्रोध का त्याग करना परमावश्यक है क्रोध के त्याग के बिना हमारे साधन और भजन सभी इसी प्रकार निष्फल होते जाते हैं जैसे किसी सायकिल के पहिये में हवा भर कर उसमे पञ्चर कर दिया जाय।

क्रोध को जीतने के लिये निम्नलिखित सरल उपाय हैं जिन्हें व्यवहार में लाकर प्रत्येक व्यक्ति लाभ उठा सकता है।

१—क्रोध आने पर मौन हो जाय।

२—ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर उस स्थान से अन्यत्र चले जाना।

३—ठण्डा पानी पीना।

४—भगवन्नाम का जप करने लगना, प्रार्थना करने लगना।

५—बड़ों से क्षमा प्रार्थना करना और चरण छू लेना।

६—अहंकार के त्याग का अभ्यास करना।

७—धैर्य सन्तोष और सहनशीलता का स्वभाव बनाना।

८—कामनाओं के त्याग से क्रोध की उत्पत्ति ही नहीं होती।

९—सबको आत्मस्वरूप समझने से भी क्रोध नाश हो जाता है।

१०—क्रोध पर विजय प्राप्त करने के लिये तामसी वस्तुओं का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये क्योंकि जैसा पदार्थ खाया जाता है वैसा ही मन बनता है, कहावत है "जैसा खावे अन्न वैसा बने मन"।

जो बुद्धिमान पुरुष इन उपायों को पहले से ही समझ कर इनके अनुसार अपना नियम बना लेता है वह बहुत बड़े-बड़े अनर्थों पर विजय प्राप्त कर कर लेता है इन सभी नियमों को भली प्रकार से समझने के लिये निरन्तर सतसग की आवश्यकता है। सतसग करते रहने से बुद्धि तीव्र हो जाती है जिससे विचार शक्ति प्रबल हो जाती है और विचार शक्ति के प्रबल होते ही क्रोध पर अनायास ही विजय प्राप्त हो जाती है।

माता के प्रति

(श्री हृदयनाथ जी, शास्त्री)

मूक हृत्तन्त्री हमारी रागिनी तुम बन न जाओ ?
मातु जीवन यामिनी में चन्द्रिका बन मुस्कराओ।

स्नेह हीन प्रदीप मेरा वर्तिका भी जल चुकी है,
काम शलभों की बुझाने भीड़ उस पर आ चुकी है।
स्नेह बनकर दीप उर भर ज्योति इसकी जगमगाओ॥

हृदय सर सूखा पड़ा मुरझा रहीं हैं भावकलियाँ,
पा न सरस पराग पाया आ न पाईं मत्त अलियाँ।
स्रोत बनकर उमड़ उर में भाव नव कुड्मल खिलाओ।

चित्र पूरा बन न पाया तूलिका ही खो गई है,
काव्य का संसार बिगड़ा कल्पना भी सो गई है।
क्षितिज के उसपार मेरे साथ चल नव जग बसाओ॥

प्रफुल्लता से दुःख नाश

[एक अनुभवी]

अहा जो मनुष्य खुश मिजाज है जिसकी प्रकृति आनन्दमय है जो हमेशा आनन्द सागर में लहराता रहता है, भारी से भारी विपत्ति आ पड़ने पर भी जिसकी मुस्कराहट बराबर बनी रहती है, घोरातिघोर दुःख के आक्रमण करने पर भी जिसके मुखमण्डल पर हास्य रेखा बराबर झलका करती है। वह इस तरह की आनन्द मय प्रकृति से—खुश मिजाज से—केवल अपने आप को ही फायदा नहीं पहुँचाता अपितु उस मनुष्य को भी जीवन की मधुरता का अनुभव कराता है जिसका धैर्य, आशा भरोसा भी नष्ट हो गया है। क्या हम उस मनुष्य को बहादुर नहीं कह सकते? वीर की सम्माननीय उपाधि से विभूषित नहीं कर सकते? जिनके मुखमण्डल की हास्य रेखा उस समय भी नहीं मिटती जब उसके जीवन का प्रत्येक पासा उल्टा ही पड़ता रहता है, हर बात उसके विपरीत होने लगती है। ऐसे मनुष्य के लिये हम जरूर यह कह सकते हैं कि उसका निर्माण जड़ प्रकृति पर विजय पाने के लिये किया गया है क्योंकि साधारण मनुष्य इस तरह की अलौकिक वीरता नहीं दिखा सकता।

तुम्हें इस बात का अधिकार ही नहीं है कि मुँह पर घोर उदासी एवं खिन्नता की मुद्रा दर्शाते हुये, मानसिक विष फैलाते हुये भयशंका अनुत्साह और निराशा के कीटाणु फैलाते हुये, मानव समाज में विचरण करो। जिस तरह किसी के शरीर को चोट पहुँचाना तुम्हारे अधिकार के बाहर है उसी तरह उक्त बात भी तुम्हारे अधिकार के सीमा में नहीं; तुम्हें यह अधिकार नहीं कि तुम इस तरह दूसरों के सुख पर भी पानी फेरो। उनकी आनन्दमय प्रकृति पर उदासी का परदा डालो। देखा जाता है कि बहुत से उदासी निराशा की खिन्न मुद्रा को लिये हुये घर के कोनों में बैठे मक्खियाँ मारा करते हैं, वे उदासीन विचारों को बड़े आदर के साथ बड़े सम्मान के साथ बुलाते रहते हैं, वे अपनी दरिद्रता और दुर्भाग्य ही का बार-बार विचार किया करते हैं वे जब देखो तब अपने-अपने कष्टों के यन्त्रणाओं की बात छेड़ा करते हैं। हर मनुष्य से वे यही कहते रहते हैं कि क्या करे हम कम नसीब हैं। ईश्वर ने हमारे भाग्य में सुख नहीं लिखा हमारा भाग्य फूटा हुआ है दैव हमारे विपरीत हैं। उनकी मुखमुद्रा की ओर देखने से यह साफ-साफ मालूम होता है कि मानों उन पदार्थों से उन्होंने अपना गहरा सम्बन्ध जोड़ लिया है जो उनके जीवन की मधुरता को नाश कर रहे हैं उनके उन्नति के मार्ग में कांटे बिछा रहे हैं इस तरह वे हमेशा अज्ञान वश इस तरह के घोर निराशामय विचारों की जड़ अपने मन में जमाते जाते हैं।

मैं एक मनुष्य को जानता हूँ जो कि उदासीन और निराशाजनक विचारों की बलि चढ़ चुका था उसकी स्वाभाविक वृत्ति ऐसी हो गई थी कि जहाँ वह जाता था वहाँ उदासी के निराशा के वायुमण्डल को अपने साथ फैलाता जाता था, जो मनुष्य उसकी ओर देखता था उसके चेहरे पर भी उदासी छाये बिना नहीं रहती थी, उसके औदास्य परिपूर्ण मुख की ओर देखने से मालूम होता था, मानों समस्त संसार का दुःख विपत्ति इसी के सिर आ के पड़ी है, उसके सम्मुख हँसना और आनन्द की बातें करना दूसरे मनुष्य के लिये भी कठिन पड़ता था। चाहे जितने उत्साहपूर्ण और आनन्दमय होकर आप उसके सामने जाइये, उसकी खिन्न मुद्रा और निर्जीव बातचीत आपके मन पर खिन्नता का परदा डाले बिना न रहेगी। जब कभी मैं उसके पास जाता हूँ, तब

मुझे मालूम होने लगता है कि मानों मैं सूर्य के तेजोमय प्रकाश से निकल कर घोर अन्धकार की ओर जारहा हूँ।

महात्मा एमर्सन ने कहा है—आनन्दी और उत्साही मुद्राही हमारी मानसिक उन्नति और सभ्यता की परमावधि है। सदा उस मनुष्य के उर मे जिसके मुख मुद्रा पर अलौकिक प्रकाश चमक रहा है—अपूर्व शान्ति भरी रहती है, दैवी आनन्द अपना प्रकाश फैला रहा है—हमारे मन में कैसे दिव्यभावों का उदय होता रहता है। ऐसे मनुष्य की ओर निहार कर स्वभाव से ही हमे मालूम होने लगता है कि मानों उसका परम तत्त्वों के साथ सम्बन्ध है उसकी दिव्यता खिल रही है, परमात्मा से उसका निकटस्थ सम्बन्ध हो रहा है, जहाँ जहाँ वह जाता है, वहाँ स्वभाव ही से आनन्द उत्साह और आशा की वर्षा करता जाता है। पर ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत कम होती है।

सभ्यता में उस मनुष्य के लिये जगह नहीं जो उदास खिन्न और निराश है कोई मनुष्य उसके साथ रहना नहीं चाहता, हर मनुष्य उसकी हवा बचाने की कोशिश करता है। उदासी और निराश मन बीमारी बढ़ाने में सहायक होता है क्योंकि वह हमारी उस शक्ति को नष्ट करता है जो आधिव्याधि को हमारी ओर आने से रोकती है। आत्मपतन और उदासीनता जैसी भयंकर चीजें दूसरी कोई नहीं।

अहा! जब तक आनन्दी और आशापूर्ण आत्मा, किसी ऐसी जगह जाती है जहाँ उदासी अनुत्साह निराशा छाई हुई है तब वह अपने मसखरे स्वभाव आनन्द प्रकृति और हास्य से वहाँ आनन्द आशा और उत्साह का मनोहर आभास फैलाता है। वहाँ बैठी हुई खिन्न मुद्राओं को उसके दर्शन मात्र से अलौकिक सुख का अनुभव होने लगता है—उदासी की जगह उनके मुख मण्डल पर आनन्द और हास्य भाव झलकने लगता है।

बहुत से मनुष्य विजयद्वार तक पहुँचने मे असफल हो जाते हैं इसका कारण यह है कि वे अपने मनोविकारों को वश मे नहीं कर पाते वे उनके गुलाम बने रहते हैं।

मनुष्य की यह एक स्वाभाविक प्रकृति है कि वह खिन्न और उदास मनुष्यों की सगति को टालना चाहता है, हमारी प्रवृत्ति उन्हीं मनुष्यों की ओर झुकती है जो खुश मिजाज और आनन्द प्रिय है।

अनुत्साह हमारी निर्णय शक्ति को मलिन करता है, भय के दवाव मे आकर मनुष्य मूर्खता का काम करने लगता है किस मार्ग पर जाना क्या करना इस बात को जानने में जब बुद्धि जवाब दे देती है। जब तुम बड़ी गड़बड़ी और भय में पडे हो तब कुछ ठहर कर अपने चित्त को शान्त करो स्थिर हो जाओ और फिर विचार करो तुम्हें रास्ता जरुर मिलेगा तब तक आप किसी बात का निर्णय नहीं कर सकते जब तुम्हारे मन में, भयशंका और निराशा बनी हुई है। जब तक आप का मस्तिष्क भय और चिंता से परिपूर्ण है तब तक किसी बात के निर्णय में मत लगिये तुम अपने मार्ग को तभी सोचो जब तुम्हारा मस्तिष्क ठण्डा और शान्त हो, जब मन में डर रहता है जब मानसिक शक्ति बिखरी हुई रहती है, तब हम एक चित्त होकर किसी बात का ठीक निर्णय नहीं कर सकते।

बहुत से मनुष्य ससार मे उन्नति नहीं कर सकते इसका एक कारण यह भी है कि वे महत्त्वपूर्ण बातों का तब विचार किया करते हैं जब उनका मन भटका हुआ रहता है और उसमे भय तथा शंका बनी रहती है।

सुसंस्कृत मस्तिष्क के लिये यह बात बहुत सम्भव है कि वह उदासीनता उद्विग्नता के आक्रमण को एक दम रोक सकें पर खेद की बात है कि हम लोग आनन्द उत्साह और और आशा रूपी सूर्य की

किरणों को आने देने के लिये अपने मनोमन्दिर के द्वारों को खुला नहीं रखते, हम अपने मनोमन्दिर को केवल अन्धकार से ही पूर्णतया भर लेते हैं। इसी से हमारा उदासीनता उद्विग्नता नष्ट नहीं हो पाती। और हमें संसार अन्धकार मय दीखने लगता है।

हमारी राय में सब विद्याओं में यह विद्या शिरोमणि है कि हम अपने मन को साफ करना सीखें। मन को भद्दी वस्तुओं से हटाकर सुन्दर और सुमनोहर वस्तुओं की ओर लगाना—विरोध से हटाकर ऐक्य में उसे जमाना—मृत्यु के विचारों से हटाकर दिव्य जीवन के रहस्य ज्ञान मे जुटाना—बीमारी के ख्यालों से हटाकर आरोग्य के मीठे विचारों में उसे सुख स्नान कराना यह एक बहुत बड़ी बात है ऐसा करना कोई सहज बात नहीं पर मनुष्य के लिये यह सम्भव जरूर है, विचारों को ठीक ठीक रूप देने की उसके लिये बहुत बड़ी आवश्यकता है। यदि तुम उन कुभावनाओं को जो तुम्हारी सुख शान्ति को लूटने वाली है अपने मन मन्दिर में बन्द किये रक्खोगे, तो धीरे धीरे यह हालत हो जायगी कि इनका रुख भी तुम्हारी ओर न हो सकेगा।

यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन मन्दिर से अन्धकार निकल जावे तो हमे चाहिये कि हम अपने मनको प्रकाश से प्रकाशित कर लें। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन से विरोध भाव निकल जाय तो हमे चाहिये कि हम अपने मन को ऐक्य के विचारों से भर लें। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन से असत्य निकल जाय तो हम अपने मन को सत्य के विचारों से पूर्ण कर लें। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन से कुरूपता निकल जाय तो हम अपने मन को सौन्दर्य के विचारों से परिपूर्ण कर लें। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मन से अपूर्णता निकल जाय तो हम अपने मन को पूर्णत्व के विचारों से परिपूर्ण कर लें। यह सिद्धान्त है कि परस्पर विरुद्ध विचार एक साथ मन पर काबू नहीं कर सकते। इससे आप अपने हितैषी विचारों को ही अर्थात् ऐक्यता सत्य सौन्दर्य के विचारों को अपने मन मे क्यों नहीं लाते ?

जब तुम्हें कभी यह मालूम हो कि चिन्ता जनक विचार तुम पर अपना प्रभाव जमाना चाहते हैं, उदासी का तुम पर आक्रमण हुआ चाहता है तब तुम स्थिर शान्त और तन्मय होकर अपने हृदय केन्द्र से इस तरह के विचारों के उद्गार निकालो अहा मैं मनुष्य हूँ—मेरी आत्मा-दिव्य है—निर्दोष है अनन्त शक्तियों गुप्त रुप से उसमे विद्यमान हैं। वह सुख शान्ति आनन्द और पूर्णता का आगार है भला ऐसी दशा मे वहाँ दुःख चिन्ता रोग शोक का क्या काम ! पर मुझे कमजोर देखकर ये मुझपर अधिकार जमाना चाहते हैं, आज से मैं सम्भल जाता हूं आज से मैं अपनी आत्मिक शक्तियों को प्रकाशित करने में यत्न वाला होता हूं। इससे हे मानव जाति के शत्रुओं ! मेरे मन से निकल जाओ नहीं तो जबरदस्ती तुम्हें निकाल दूंगा मेरी शक्ति के सामने अब तुम किसी तरह ठहर नहीं सकते क्योंकि अब मैं सच्चा मनुष्य बनना चाहता हूँ। तुम्हारा ठौर ठिकाना निर्बल अज्ञानी के यहाँ ही लगेगा,मै देखता हू कि सच्चे मनुष्यों के सम्मुख तुम्हारी शक्ति बे काम हो जाती है।

यदि नैपोलियन और ग्रेन्ट अपने मनोविकारों के वश मे रहते तो क्या कभी वह सारे यूरोप को हिला सकते थे? यदि लेनिन अपने मनोविकारों के वश मे रहता तो क्या वह एक किसान के घर मे जन्म लेकर इतनी तरक्की कर सकता था ? नहीं

हमारे कहने का मतलब यह है कि हमेशा अपनी आत्मा को सुख के—आनन्द के—संतोष के—मीठे समुद्र मे हिलोरे लिवाते रहो। हमेशा मस्त रहो, दुःख चिन्ता और शोक को अपने मन से भुलाओ।

प्रकृति के सौन्दर्य को ईश्वर की अपार लीला को देखकर आनन्दित होते जाओ जहाँ देखो वहाँ सुख के ही स्वप्न देखो। विपत्ति में भी सुख ही को देखो, हमेशा खुश मिजाज रहो। उदासी दुःख चिन्ता पर विजय पाने का सहज और सरल उपाय यही है। आनन्द, अलौकिक आनन्द, स्वर्गीय आनन्द, दैवी आनन्द के दिव्य प्रवाह में तन्मय होते रहो, अपनी आत्मा को उसकी ओर अभिमुख करो। कभी मुँह चिढ़ा हुआ मत रक्खो। हमेशा हास्य की मधुर रेखा से अपने मुख मण्डल की दिव्यता बढ़ाते रहो। बस यही उदासीनता पर विजय पाने का राजमार्ग है।

मुरली मनोहर

(पृष्ठ ३२ का शेष)

मसूरी से चलकर हरिद्वार पहुँचने—मुरादाबाद में उन सौन्दर्य राशि मुरलीमनोहर जी से भेंट आदि की आद्योपान्त कहानी मैंने सुनाई।

विस्मय विमुग्ध से सभी सुन रहे थे यह अघट घटना।

"मुझे पहचानते हैं वे ऐसा कहा था न उन्होंने—सहसा माता जी ने एक विचित्र आवेशमयी वाणी में पूछा

"हाँ यही तो कहा था उन्होंने कि आप उन्हें जानती हैं"—मैं बोला

"अच्छा चल तो भैया मेरे साथ—उन्हें देखकर कदाचित् पहचान सके तू भी" मेरा हाथ पकड़ कर उठाते हुये माता जी कम्पित वाणी में बोलीं।

आगे माता जी उनके पीछे मैं और पिता जी चले। कोठी के उत्तरीय पार्श्व में पूजा-गृह की ओर शीघ्रता से जाकर, माता जी ने आँचल में बंधी कुंजी से ताला खोला—सामने काष्ठ के कलापूर्ण सिंहासन से विराजमान मुरली मनोहर के कद्दे-आदम तैल चित्र के सामने पृथ्वी पर लोट कर और बिलख बिलख कर माता ने पूछा—क्या तुम्हीं हो मुरलीमनोहर! मेरे लाल को अभय दान देने वाले तुम्हारी इस अनुपम—अपार करुणा का मूल्य तो अपने प्राण देकर भी नहीं चुका सकती।

मैंने देखा—इस चित्र का मुकुट हटा दिया जाय और पीताम्बर के स्थान पर ढीला कुरता पहनाया जाय तो उनमें और इनमें कोई अन्तर नहीं।

मैंने स्पष्ट देखा—धीरे धीरे वह मुकुट गायब हो रहा है, पीताम्बर ने कुरते का रूप धारण कर लिया और मेरे सामने खड़े वे मन्द मुस्कान में कह रहे हैं—'राजीव तुम कहाँ' मैं पुनः चिल्ला पड़ा—मुरलीमनोहर! मुरली-मनोहर!! और चेतनाशून्य होगया। उस प्रगाढ़ मूर्च्छा में मैंने स्वप्न देखा—छोटा सा मैं माता की आमोदमयी गोद में बैठा कीर्तन कर रहा हूँ और सामने मुसका रहे हैं मुरलीमनोहर। ठीक ही तो कहा था—इन्होंने कि बचपन में तुमने देखा था मुझे।

× × ×

"यही है मेरी आत्मगाथा"—श्री राजीव ने रूमाल से अपनी आँखें पोछते हुए कहा—इस प्रकार वे भुवनमन-मोहन, लीलाविहारी श्यामसुन्दर मुझे छल कर अन्तर्ध्यान होगये। उनकी मधुर स्मृति ने मेरे पाषाण हृदय को मोम बना दिया। मैं जब कभी उनकी अहैतुकी दया की गाथा सुनता हूँ तो इच्छा होती है अपने हृदय को आँसुओं के रूप में पिघला कर सब के सब अपने मुरलीमनोहर के चरणों में चढ़ा दूँ। आह क्या वे कभी मिलेंगे—इस नराधम पातकी को—राजीव फूट फूटकर रो पड़े अपने हृदयधन की याद में।

अश्रुपूरित नेत्रों से मैंने देखा और फिर श्रद्धावनत होकर उस परमभागवत को मन ही मन प्रणाम किया। वाणी मूक हो गई। मैं सोच रहा था इस घोर कलिकाल में भी वे दयामय अपनी अनोखी लीलाओं से 'अघट घटना पटीयसी' को सिद्ध करते रहते हैं।

धन्य हैं वे और उनके प्रियतम भक्त।

सुख दुःख क्यों ?

(श्री शिवनाथ जी दुबे 'साहित्यरत्न')

समय-समय पर कुछ सज्जन कहते हैं कि जगत् मे प्रत्यक्ष पाप करने वाले और छल-कपट से दूसरों का धन हरने वाले दाम्भिक व्यक्ति ही अधिक सुखी रहते हैं, उनका जीवन अत्यन्त सुखमय व्यतीत होता दिखाई पड़ता है। किन्तु सरलचित्त पुण्यात्मा जन सतत कष्ट ही भोगा करते हैं। तो क्या इससे यह नहीं कहा जा सकता कि जगन्नियन्ता जगदीश्वर सच्चा न्यायकारी नहीं है ? किन्तु यह विचार ठीक नहीं है; दयामय ईश्वर न्यायकारी है। वह अन्याय का विरोधी और न्याय का प्रेमी है, न्याय में ही उसका निवास है। भूधर और धरती के टल जाने पर भी वह अपने न्याय-पथ से विचलित नहीं हो सकता।

तब ऐसा क्यों होता है कि नि.शंक और निर्भीक कार्य कलापी पापात्मा सुखी रहें और साधु-पुरुष निशिवासर आपदायें सहते रहें। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है.—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा

जगत् में कर्म ही प्रधान है और कार्य ही प्राणी का ईश्वर है। पूर्व जन्मों के कर्मों का फल आनेवाले जन्मों में भुगतना पड़ता है, ऐसे शास्त्रीय बचन हैं। पूर्व संचित कर्म ही व्यक्ति का दैव है।

'पूर्व जन्म कृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते'।

अत. सुखी पापीजन पूर्व जन्म के पुण्य तथा सुकर्मों का फल भोगते हैं और कष्ट झेलने वाले सज्जन पूर्व जन्म के अपकर्मों का फल प्राप्त करते हैं ऐसा नियम है। और यह बात सर्वत्र देखने मे भी नहीं आती कि सभी पापात्माओं का जीवन सुखमय होता हो या पुण्यात्मा क्लेश सहन करते हों। एक बात और है, इस जन्म मे जिसका जो कर्म पूर्व जन्म के संचित कर्म से अधिक हो जाता है, तो उसे उसके अनुसार भी फल मिलता है। जैसे किसी व्यक्ति को पूर्व जन्म के कर्मानुसार पुत्र नहीं होना चाहिये, किन्तु यदि वह वैदिक नियमानुकूल पुत्रेष्टि यज्ञ करे और इससे उसके पुण्य की अभिवृद्ध हो जाय, तो उसे पुत्र अवश्य उत्पन्न होगा। कोई पुरुष सम्पतिशाली है, पारिवारिक सुखों के सुखी है, किन्तु यदि वह व्यभिचारादि पापाचरण में संलग्न है और इस प्रकार उसके पाप की वृद्धि उसके पुण्य की अपेक्षा अधिक हो गई तो वह कुष्ठ आदि रोगों का भागी होगा और दुःख भी भोगेगा।

महाभारत की एक पवित्र आख्यायिका लिखी जा रही है, जिससे इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। आख्यायिका इस प्रकार है:—

चारो वेद और षट्शास्त्रों के ज्ञाता गुणनिधि नामक एक ब्राह्मण थे। उनके सुव्रता नाम की एक रुपवती कन्या थी। वह चार वर्ष की भी न हो पाई कि उसकी माता का स्वर्ग वास हो गया। ब्राह्मण देवता अत्यन्त विकल हुये। सोचने लगे कि स्त्री के विना घर किसी काम का नहीं होता, वही गृहलक्ष्मी तथा गृहदेवी हैं। गृह संचालनकर्त्री एवं उसकी सुधारकर्त्री नारी ही होती है। अब वह हमारे पास नहीं है फिर गृहस्थाश्रम में रहकर क्या करें ?

इस प्रकार सोचकर ये अपनी मातृ हीना पुत्री को लेकर वन-प्रान्त की ओर चले। बन मे मुनियों के रमणीय आश्रम तथा परिष्कृत मन भावन पर्ण कुटियों और स्वच्छ जल से परिपूर्ण निर्झरिणी के तटपर भोले भाले मृगशावकों को क्रीड़ा करते देख मन्त्र मुग्ध की भाँति वे उनकी ओर आकर्षित हो गये और महातपस्वी ऋषिवरों की तेजस्वी शुभ्र

मूर्तियों के दर्शन कर अपने को कृतकृत्य समझने लगे।

गुणनिधि पर तपोवन की पवित्रता का पूर्ण प्रभाव पड़ा। जगत के सारे सुखों को तुच्छ समझ कर वे वहीं रहने लगे। भोली पुत्री को वे किञ्चित् मात्र भी खिन्न तथा मलिन नहीं होने देते थे। उसे प्रसन्न रखने के लिये वे नित्य नूतन चित्र तथा खिलौने आदि लाया करते थे।

मातृ हीना बालिका अल्पवयस्का थी- इस कारण ब्राह्मण देवता ने सन्यास ग्रहण नहीं किया। धीरे-धीरे वह सयानी होगई और गुणनिधि को उसके विवाह की चिन्ता हुई। पर दैव की गति बड़ी विचित्र होती है। पुत्री का हाथ वे किसी को दे नहीं पाये, उनकी चिन्ता बनी ही रही कि वे सदा के लिये इस असार संसार से विदा हो गये।

मातृ विहीना ब्राह्मण बालिका पितृ वियोग से व्याकुल हो रो-रोकर विलाप करने लगी-हे पिता आप इस अनाथ पुत्री की ममता छोड़कर कहाँ चले गये अब आप के बिना मेरी कौन रक्षा करेगा? माता छोटी ही आयु में मुझे छोड़कर चली गयी, भ्राता के दर्शन ही नहीं हुये। आप थे, सो इस प्रकार असहाय दशा में मुझे छोड़कर चल बसे। अतएव अब मैं अपना पञ्चभौतिक शरीर या तो अग्नि में जला कर भस्मकर दूंगी अथवा गिरिशिखर से ही गिर-कर विसर्जन कर दूंगी। मेरे लिये अन्य मार्ग ही क्या रह गया।

गुणनिधि पुत्री का नाम था सुव्रता। उसका करुण क्रन्दन सुनकर ऋषिगण एवं ऋषि पत्नियाँ वहाँ आईं और यत्न पूर्वक उसे समझा-बुझाकर सान्त्वना देने लगीं, किन्तु उनकी शिक्षा से उसे धैर्य नहीं हुआ। वह रोती रही, विलाप करती ही रही।

द्विजपुत्री की ऐसी दयनीय दशा पर यमराज का हृदय भी द्रवित हो गया। वे ब्राह्मण वेश में उसके निकट उपस्थित होकर मधुर वचनों में बोले—

'पुत्री! रो मत, धैर्य धारण कर। संसार में अपने किये हुए कर्मों का फल सभी को भुगतना पड़ता है। पूर्व जन्म के कर्मों का फल अब और अब के कर्मों का फल भविष्य में भुगतना पड़ेगा। इसमें सन्देह नहीं। यह कर्म फल करोड़ों कल्प तक नष्ट नहीं होता। केवल संतजन ही ज्ञानाग्नि के द्वारा उसे भस्म कर सकते हैं। अतः हे पुत्री! तू शोक परित्याग कर। पूर्व कर्म फल भोगना अनिवार्य होता है।'

सुव्रता ने पूछा—'महाराज! मैंने पूर्व जन्म में कौन-सा पाप किया था, जिसका फल आज मुझे इस प्रकार मिल रहा है?'

मृत्यु देव ने कहा—तुम अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त सुनो। तुम उज्जैन नगरी में एक अत्यन्त सुन्दरी गणिका थी, उस समय कोई भी अन्य गणिका तुम्हारी जैसी लावण्यवती न थी। वहाँ के निवासी तुम्हारे वशीभूत और आज्ञापालक थे।

उसी नगर में एक ब्राह्मण का लड़का शास्त्रवेत्ता और पाप कर्म से दूर रह कर नियम पूर्वक जप, तप और भगवच्चिन्तन में समय व्यतीत करता था एक दिन वह तुम्हारी देहरी के सामने से निकला और तुम्हें देखकर हतबुद्धि-सा हो गया। तुमने भी आदर पूर्वक उसे बुलाया और उसकी दासी बनने की इच्छा प्रकट की। वह माता-पिता तथा अपनी अर्द्धाङ्गिनी से विमुख हो तुम्हारे साथ रहने लग गया। एक क्षण का भी वियोग उसे असह्य था।

एक दिन तुम्हारे यहाँ एक शूद्र आया, वह उस ब्राह्मण से देखा न गया, दोनों में युद्ध छिड़ गया, शूद्र ने क्रोधित होकर उसको ऐसा मारा कि असह्य पीड़ा से उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

क्षण भर में वह समाचार चारो ओर फैल गया। किसी ने आकर उस ब्राह्मण के पिता-माता से

कहा कि तुम्हारा पुत्र वेश्या के घर मारा गया। उसके माता-पिता और स्त्री रोती कलपती हुई तुम्हारे घर आईं।

उसकी माता ने कहा—'तू ने मेरे बच्चे को वश मे करके मेरी सारी सम्पत्ति हरण कर ली और पुन. उसके प्राण लेकर मुझे पुत्र वियोग का क्लेश दिया, अतः मैं तुझे शाप देती हूँ कि तुझे भी माता के वियोग से दुखी और कातर होना पडेगा।

पिता बोला—'तेरे पिता तुझे ऐसे स्थान पर छोड़ कर मरेंगे, जहाँ तेरा कोई हितैषी नहीं मिलेगा।'

उसकी वधूने विकल होकर कहा—'जिस प्रकार तूने मेरा सुहाग छीन कर मुझे वैधव्य-दान दिया है, मेरे पति को मुझसे सदा के लिये पृथक् कर असह्य कष्ट-भार डाला है और जीवन पीड़ामय बना डाला है, उसी प्रकार तू भी पतिविहीन रहेगी और रात-दिन दुःख पायेगी।'

हे पुत्री! उन्हीं तीनों के शाप से तुम्हें यह दुःख भोगना पड़ा है, और तुम्हारा वह कर्म फल बिना भोगे नाश नहीं ह सकता।

यम की वाणी सुन सुव्रता बोली—'महाराज! मैं आप की बात सत्य मानती हूँ, किन्तु मेरे हृदय में एक शंका उत्पन्न होती है। वह यह है कि, गणिका रह कर नित्य प्रति पाप कर्म करने से मेरा पुण्य भण्डार तो सर्वथा क्षय हो गया होगा, सन्मार्ग पर चरण रखने का कभी सुअवसर भी प्राप्त नहीं हुआ होगा फिर मैंने पवित्रतम ब्राह्मण कुल में कैसे जन्म लिया और आपने मुझे किस प्रकार दर्शन दिया? कृपया इसका सविस्तृत कारण बतलाइये।

यम बोले—जिस कारण तुम ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुई और जिस कारण मैंने तुम्हें दर्शन दिया उसे सुनो।

एक ब्राह्मण अत्यन्त गुणी तथा समदर्शी थे, उनके ज्ञान का भण्डार बृहत् था। सृष्टि के चराचर मे वे प्रभु को ही देखते थे। काम, क्रोध, मद और मोह के पाश से मुक्त हो, वे बडे सयम से रहते थे। एक रात जिस स्थान मे रह जाते, प्रातः काल ही उसे परित्याग कर दूसरे स्थान का मार्ग पकड़ते थे। एक दिन संयोगवशात् वे तुम्हारी देहरी पर आ गये। स्थान की स्वच्छता देख उसे पवित्र जान रात वहीं व्यतीत करने का निश्चय किया। आधी रात तक वे वहाँ ईश्वर-भजन करते रहे, इसी बीच में नगर-रक्षक भ्रमण करते हुए वहाँ आ पहुँचे।

ब्राह्मण को देखकर उन्होंने प्रश्न किया 'आप कौन हैं?

ब्राह्मण देवता ने उन्हें कुछ उत्तर नहीं दिया। वे मौन रहे।

नगर-रक्षकों ने उन्हें चोर समझ कर बलपूर्वक पकड़ कर ले जाना चाहा। हे सुव्रता! उस समय तुम अपने भवन मे जाग रही थी। कोलाहल सुन कर नीचे उतर पड़ी और दीपक-प्रकाश मे उस ब्राह्मण मूर्ति को देखकर नगर रक्षकों से कहा—'ये चोर नहीं, भजनानन्दी, त्यागी साधु है, आप लोग इन्हें मेरे विश्वास पर छोड दीजिये।

इस प्रकार नगर रक्षकों से अनुनय-विनय कर तुम उन ब्राह्मण देव को मुक्त कर ऊपर ले गयीं और चरण धोकर उन्हें आसन पर बैठाया। धूप-दीप देकर भरसक उनके चरण कमलों मे झुककर प्रार्थना पूर्वक कहने लगी—हे देव! आप मेरे यहाँ रहने की कृपा कीजिये, मैं आप के भोजन, वस्त्र तथा अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर दिया करूँगी। आप को किसी प्रकार की तनिक भी चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी।

ब्राह्मण ने कहा—'माता! तुम धन्य हो, पर किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, जगत् के मुझे

सारे सुख क्षणिक हैं, महात्माओं को अत्यन्त सावधानी से इनसे दूर रहना चाहिये। इनसे विमुख होने पर ही स्थायी एवं अक्षय सुख प्राप्त होता है। मुझे क्षुधा-तृषा कुछ भी नहीं है. मैं तो घूमता-फिरता सयोगवशात् इधर आ निकला, स्वच्छ स्थान देखकर पड़ रहा। यह सब जो हुआ उसके द्वारा मुझ तुझ जैसी परोपकारपरायणा देवी के दर्शन हो गये। देवि! परहितरत स्त्री पुरुष धन्य हैं। उनका जीवन सफल है, क्योंकि सर्वेश्वर उनपर प्रसन्न हैं। 'परोपकाराय सतां विभूतय'। अब तुम जाओ, शयन करो और मैं भी कुछ प्रभु-भजन करूँ।

ब्राह्मण की यह बात सुनकर तुम उनसे विनय पूर्वक कहने लगी—'हे देव! मैं अत्यन्त ही दुराचारिणी तथा पापिनी हूँ' इस इस अपार भव से किस प्रकार पार हो पाऊँगी?'

महात्मा बोले—'जो अपार भवसागर से पार होना चाहते हैं, उन्हें काम, क्रोध, मद, मोह और लोभादि शत्रुओं का नाश कर, हरिभक्तों की नित्य प्रति सेवा करनी चाहिये, अपने चचल मन को प्रभु के पद-पकज का मकरन्द पान करने वाला भ्रमर बना डालना चाहिये। परपीड़ा दूर करने की चेष्टा करते हुए उन्हें भगवन्नाम का अनुरागी होना चाहिये। ऐसा करने वाले इस अतिगहन भवाटवी से अल्प प्रयास में ही पार हो जाते हैं और उनके पास यमदूत भी नहीं आ पाता। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि का आनन्द तो अन्य योनियों मे भी प्राप्त हो जाता है, किन्तु परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार करने के लिये तो यह मानव देह ही यथेष्ट है। अतः इस शरीर को पाकर इसका सदुपयोग करो। समय व्यर्थ ही नष्ट न करो।

यम ने कहा—'इस प्रकार उपदेश करते-करते रजनी प्रायः समाप्त हो गयी और महात्मा के उपदेश से तुम्हारे हृदय क्षेत्र में वैराग्य का बीज वपन हो गया। तब से तुम विषय-विलास से विमुख हो हरिस्मरण करने लगीं और धर्म की भावना तुम्हारे मन मे प्रबल हो गयी। घर त्याग कर तुमने गहन-वन मे निवास किया। जगत् की प्रीति त्याग कर तुमने श्रीपति के चरणों में मन लगाया। ब्राह्मण की रक्षा और हरिभजन के प्रभाव से तुम फिर विप्रकुल मे उत्पन्न हुई। संतकृपा से यम यातना से वंचित रहीं और उक्त संत की कृपा से ही मैंने आज दर्शन दकर तुम्हारे पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनाया है। जागतिक सुख-दुःख कर्म के फल हैं, कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है, वे कर्म चाहे अच्छे हों या बुरे।'

विप्रवंशधारी यमराज को बात सुनकर सुव्रता ने कहा—'नाथ! आपका कृपा से मेरा शोक नष्ट हो गया. किन्तु जन्मदाता पिता की यह निर्जीव देह देख, मेरा हृदय अत्यन्त विकल हो रहा है। मैं पंखहीन पक्षी की भाँति तड़प रही हूँ। अतः हे देव! आप ऐसा उपदेश कीजिए, जिससे मेरा यह मोह सर्वदा के लिये छूट जाय।'

यम बोले—'हे द्विजपुत्रि! जहाँ प्रीति है वहीं मोह है, वहीं कष्ट है। जिस प्रकार विरक्त पुरुषों के दिन सुख से कट जाते हैं, उन्हें चिन्ता और उद्वेग नहीं हो पाता, उसी प्रकार स्नेह शून्य व्यक्ति भी कष्ट नहीं पाता। शत्रु और मित्र को जो बराबर जानते हैं, वे सुखी रहते हैं। हानि-लाभ एवं सुख-दुःख को कर्माधीन मानने वाला सर्वदा प्रसन्न रहता है। गौतमी ने इसी प्रकार सुख माना और उसे किंचिन्मात्र भी पुत्र शोक नहीं हुआ।'

सुव्रता ने पूछा—हे देव! गौतमी ने क्या करके सुख पाया। कृपा कर मुझ से कहिये।'

यम बोले—'पुत्री! गौतमी अत्यन्त बुद्धिमती, विरक्त, ज्ञानी तथा हरिपदानुरागिनी थी। वह कानन में तप करती हुई क्षीराब्धिशायी भगवान की

आराधना करती थी। उसके एक पुत्र था। एक दिन खेलता हुआ वह एक वृक्ष के नीचे पहुँच गया। वहाँ उसे एक विषधर साँप ने काट लिया. उस अल्पज्ञ शिशु के प्राण पखेरू तुरन्त उड़ गये। इसी बीच मे वहाँ एक वधिक आ गया। उसने भुजग को पकड़ लिया और गौतमी के पास आकर कहने लगा—'हे देवि ! इस भयानक सर्प ने ही अपने विष से आपके प्राणप्रिय पुत्र की जीवन लीला समाप्त की है, आप इसका प्राण ले लें।'

वधिक की वाणी सुनकर तपस्विनी ने अत्यन्त कोमल शब्दों में उत्तर दिया—'जो कुछ हुआ, वह अच्छा ही हुआ। जगत् पालक की यही इच्छा थी, किन्तु अब मैं जो कहती हूँ, उसे शीघ्र ही करो। आप इस सर्प को छोड़ दो, क्योंकि इसका प्राण-हरण करने से मुझे मेरा प्राणप्रिय पुत्र नहीं मिल सकेगा, फिर इसे मारकर व्यर्थ अघ क्यों लिया जाय ?'

वधिक ने कहा—हिंसक प्राणियों का वध करने में पाप नही लगता। इस दुष्ट ने आपके निर्दोष वच्चे को काट खाया है, अत मैं इसे अवश्य मारूँगा।'

गौतमी ने विनय पूर्ण वाणी मे कहा—'वधिक ! मरे हुए प्राणियों को तू क्या मारता है। यह तो स्वय मरा हुआ है। शास्त्र कहते हैं—रोगी, हिंसक, क्रोधी, कृपण, दरिद्री, परनिन्दक एवं आततायी आदि तो स्वयं मृतक तुल्य हैं। मेरे पुत्र का निज कर्म फल के द्वारा ही प्राणान्त हुआ। कर्म फल के द्वारा ही तुमने इसे देखा और कर्मफल ही के वश होकर यह पकड़ा भी गया। अतः कर्मफल के प्रभाव से ही दुःख सुख सब कुछ भोगना होता है। हानि-लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश सब पुरातन कर्मों के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं।

जिन लोगों ने पिछले जन्म में जैसे-जैसे कर्म किये हैं, शरीर धारण कर वे उनका वैसा ही फल भोगते हैं। मेरा बच्चा सर्प के द्वारा काटे जाने से नहीं, अपितु कर्म के द्वारा मरा है। इससे वायु-भक्षक सर्प को तुम छोड़ दो, व्यर्थ दोष लेने से कुछ लाभ नहीं।'

गौतमी की बात समाप्त होने पर सर्प मनुष्यों की तरह बोल उठा—'देवि' ! इसमें मेरा दोष नहीं है। मुझे तो मृत्यु ने भेजा है और इस कारण तुम्हारे पुत्र को विवश होकर काटना पड़ा है।'

सर्प के यह कहते ही मृत्यु देवी वहाँ पहुँच गयीं और बोलीं—गौतमी ! मैंने सर्प को नहीं भेजा और न तो इसने आप के बच्चे को काटा है मैं तो सदा वही करती हूँ जो कालदेव आज्ञा देते हैं, क्योंकि मैं उनके ही वश रहती हूँ, उनकी आज्ञा के बिना सहज स्वभावानुसार मैं कहीं जाती भी नहीं।'

'मृत्यु की वाणी सुनकर कालदेव भी उपस्थित हो गये और कहने लगे, 'हे गौतमी ! न तो मैंने मृत्यु को आज्ञा दी, न मृत्यु ने सर्प को ही प्रेरणा की और न सर्प ने तुम्हारे बालक को डसा। वास्तव में प्राणी को वही फल प्राप्त होता है, जैसा वह कर्म करता है। अतः बिना समझे हमें दोष देना व्यर्थ है। बाल वृद्ध और युवा पुरुष निज कृत कर्म से ही अधिक समय तक जीवित रहते हैं और निज कृत कर्मों के फलस्वरूप ही अल्पायु हो इस धराधाम से अलक्षित हो जाते हैं। कर्म के द्वारा हमें कोई परा-जित भी कर देता है और कोई सशरीर स्वर्गारोहण भी करता है। जल में डूबकर मर जाने वाला, विष पान करने वाला कर्म फल वश ही मृत्यु के मुख में प्रवेश करता है। अपना भावी प्रारब्ध अपने हाथ है। शुभ कर्मों से हम भविष्य मे सुखी और अशुभ कर्मों से दुखी होंगे।

पूर्व जन्म मे चित्रकेतु के पुत्र हाथी होकर अरण्य में घूम रहे थे। उनके विशाल पगों के नीचे

सहस्रों पिपीलिकायें दब गयीं, वे पिस कर मर गयीं, भविष्य में वे सब पिपीलिकायें रानी बनकर आईं और उन्हें विष देकर मार डाला। इस प्रकार वे बदला लेकर प्रसन्न हुई और चित्रकेतु पुत्र को अपने किये कर्म का फल भोगना पड़ा।

रघुकुलाधिपति अवधनृपति राजा दशरथ श्रवणकुमार की हत्या कर पुत्र का आनन्द नहीं उठा सके, पुत्र के वियोग मे ही तड़प-तड़पकर उन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने वालि का प्राण-हरण किया, उसका फल उन्हें द्वापर मे मिला।

देवि! मैं कर्म की कहाँ तक कितनी प्रशंसा करूँ, जो कुछ होता है वह कर्म का फल ही है। कर्म निबद्ध जीव अपने कर्मों के प्रभाव से ही अनेकानेक योनियों मे भटकता रहता है।

आप विश्वास कीजिये, इसमें मेरा भी दोष नहीं, केवल कर्म का ही फल है। स्रष्टा विधि, पालक विष्णु और संहारक शिव भी कर्मवश ही अपने कर्त्तव्य में रत हैं।'

कालदेव की यह वाणी सुनकर बधिक के नेत्र खुल गये। उसने सर्प को छोड़ दिया और तीनों अपने-अपने स्थान पर चले गये वधिक श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक गौतमी के चरणों में गिर पड़ा और हिंसाकर्म से विरत हो वन में तप करने चला गया।

यम की वाणी सुनकर सुव्रता बोली—हे देव! आपकी अनुपम कृपा से मैंने संतोष लाभ किया, अब मेरे मन में रंचमात्र भी दुःख चिन्ता तथा विवाद नहीं है। आपके उपदेश से मेरा हृदय अत्यन्त प्रफुल्लित है, मैं आजीवन आपकी कृतज्ञ रहूँगी।

यम ने सदय हो कहा—'देव! तुम्हारे शुभ विचार एव प्राणी के प्रति अद्भुत सहानुभूति एवं करुणा के भाव देख मैं प्रसन्न हूँ। तुम अपनी इच्छा के अनुसार कोई वर माँग लो, मैं तुम्हारी इच्छा अवश्य पूर्ण करूँगा।'

सुव्रता ने विनय पूरित वाणी मे कहा—'देव! मेरे माता पिता, भाई और गुरुदेव स्वर्ग में तब तक निवास करें जब तक अंशुमाली और सुधांशु अपनी तेजपूर्ण शक्तियों से प्रकाशित और आलोकित रहें।'

'एवमस्तु!' यम ने कहा और अन्तर्धान हो गये। सुव्रता ने अपना जीवन तपोमय बना लिया। वह नियमित जप-तप, व्रत, और भगवन्नाम मे लग गयी। जगत् के सारे सुखों को हेय समझकर शरीर निर्वाह के लिये वह कन्द, मूल और फलों का आहार करती। इस प्रकार उसने अपना जीवन अखण्ड सच्चिदानन्द के चरणों में समर्पित कर कर्मफल को नाश करने मे समर्थ होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त की।

निर्द्वन्द्व

प्राण वायु का विस्तृत सागर, मुक्त गगन निर्बन्ध असीमित।
क्षीण देह में बसते प्राणों, पर हो इनकी कृपा अपरमित॥
नमक मिली रोटी खा निर्भय, निर्जन में जी भर गाने दो।
कहो स्वर्ग से वहीं रहे कुछ, काम नहीं मत ढिग आने दो॥

श्री वृजनन्दन जी अग्निहोत्री

मुरली मनोहर

(श्री रामस्वरूप जी गुप्त)

[भक्त-गाथा]

पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भौतिकवाद को ही सर्वस्व जानने और मानने वाले व्यक्ति जब कभी कोई अनहोनी और आश्चर्यजनक दैवी घटना, देखते-सुनते हैं तो वे प्रायः कह दिया करते हैं कि यह तो चांस की बात थी। उन्हें उस घटना के अन्तर में छिपी हुई किसी अलौकिक दिव्य-शक्ति का अनुमान नहीं होता। जिस के आधार से इस दृश्य जगत का संचालन होता है, जिस की सर्वशक्तिमत्ता से राई से पर्वत और पर्वत की राई बन सकती है उस महिमामय की अपार महिमा को भूलने वाले भोले मानव को सचेत करने के लिये यदा-कदा ऐसी चमत्कारमयी घटनायें होती रहती हैं। जिनके स्मरण मात्र से मन की कलुष-कालिमा नष्ट हो जाती है। ऐसा क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। लीलामय की अनोखी लीलाओं में मीन-मेख निकालने वाले तो इस धराधाम पर सदा थे आज कुछ अधिक संख्या में हैं, भविष्य में भी रहेंगे। उनकी बात जाने दीजिये, हमें तो अपने उन प्रिय स्व-जनों को एक ऐसी घटना सुनानी है। जिन के मन-मधुप भगवत्चरणार विन्द के मकरन्द का पान करने के लिये लालायित रहते हैं, अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियों में जो भगवत्कृपा का संपादन करते हैं और जिनके श्रवण-समुद्र भगवद्कथामृत रूपी सरिता से सराबोर रहकर भी कभी अघाते नहीं। अमंगल को मंगलमय बनाने वाले प्रभु की किंचित कृपा कोर और अहैतुकी दया का रसास्वादन इस गाथा में ऐसे पूज्य 'परमार्थ' प्रेमी करेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

× × ×

बात कई वर्ष पुरानी है, उन दिनों मैं लखनऊ में रहता था। पं० रामविलास जी पाण्डेय के सहयोग से उन्हीं दिनों सरस्वती-पुस्तक-भंडार की स्थापना हुई थी। सुन्दर साहित्यिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। पुस्तकों को हिन्दी संसार ने अपनाया और सराहना की। पुस्तक व्यवसाय के नाते हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ लेखकों और कवियों से परिचय का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भारत के विभिन्न हिन्दी प्रेमी प्रान्तों में मेरा धुआँधार भ्रमण उन दिनों पुस्तकों के प्रचारार्थ होता था। पर्यटन में नित नए अनुभव प्राप्त होते, नए-नए व्यक्तियों से परिचय और विचार विनिमय का अवसर मिलता था। आज तो अब वह सब स्वप्न जैसी बात है, वह था एक अनोखा उमंग और उल्लास से भरा तरंगित जीवन था, दुनिया ही दूसरी थी। हाँ, तो उन्हीं दिनों की एक मधुर-स्मृति आपको सुनाने जा रहा हूँ। उस वर्ष कदाचित् हरिद्वार में अर्द्धकुम्भी थी और गुरुकुल कांगड़ी का महोत्सव भी। उत्सव में प्रतिवर्ष मैं अपनी पुस्तकों की दुकान ले जाया करता था। अर्धकुम्भी के कारण अपार जन-समुदाय एकत्रित हुआ था। भारत की गौरव-गरिमा के प्रभा-पुंज प्रतीक स्वनामधन्य महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी भी पधारे थे। उनका दर्शन करने तथा उनकी पावन वाणी का प्रसाद पाने की लालसा क संवरण न कर पाने के कारण मैं पुस्तकों की दुकान को समेट, सन्दूकों में पुस्तकें भर, पड़ोसी को सौंप ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम पहुँचा। जिन भाग्यशालियों ने उन ब्रह्मर्षि के ओजपूर्ण धारा प्रवाह व्याख्यान कभी सुने होंगे, वे जानते हैं कि जनता को मंत्रमुग्ध बनाने की आश्चर्य जनक शक्ति उनकी कल्याणमयी वाणी में थी। उस अनुपम शैली की अमिट छाप आज भी मेरे मन पर अंकित है। कर्म और उपासना का समन्वय पूज्य मालवीय जी समझा रहे थे नर मुंडों का एक शान्त गम्भीर सागर सा लहरा रहा था। मेरे समीप एक गौरवर्ण युवक तन्मय होकर एकटक उस अमृत-निर्झरिणी में तल्लीन थे। उनकी बड़ी बड़ी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। प्रसंग ही ऐसा था। सभी श्रोता चित्र लिखे से नीरव-निस्तब्ध बैठे थे। ब्रह्मर्षि के प्रवचन से अधिक प्रभाव मेरे मन पर उस निकटस्थ युवक की अविरल अश्रुधारा का पड़ रहा था। सभा विसर्जित हुई। उस युवक से परिचय प्राप्त करने का कौतूहल न दब सका, उसके पीछे पीछे

चला। ऋषिकुल के पीछे भागीरथी की द्रुतगामिनी लहर के सुरम्य घाट पर वह युवक पहुँचा। जल से मुख धोकर नीचे की सीढ़ी पर, शान्त-गम्भीर वह विचार मुद्रा मग्न सा बैठ गया। उसके नेत्रों में अश्रु प्रवाह जनित लालिमा थी।

× × ×

"मैं आप का परिचय प्राप्त कर सकता हूँ महाशय"!—मैंने अत्यन्त विनम्र होकर प्रश्न किया:—

"हाँ—हाँ"—कुछ चौंक कर निद्रा-भंग जैसे स्वर में वह बोला—

"क्षमा कीजियेगा, मैं आप की तन्मयता में बाधक बना, आपके भावावेश ने मेरे मन को आन्दोलित कर दिया है। अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये आप को कष्ट दे रहा हूँ—बहुमूल्य वस्तु प्राप्त करने की याचना जैसी भावना से मैंने कहा—

"कष्ट की कोई बात नहीं, आश्चर्य भी नहीं। आपके अन्तर में वही रसधार प्रवाहित हो रही है जिसके उद्रेक ने मेरे पाषाण—हृदय को भी मोम जैसा बना दिया है। नहीं जानता यह कोरी भावुकता है अथवा मानसिक दुर्बलता—कहते-कहते पुन. उसकी आँखों से मोती जैसे दो अश्रु बिन्दु टपक पड़े।

मेरी जिज्ञासा बढ़ती गई। एक क्षण मौन रहकर मैंने कहा—ऐसी स्थिति को मानसिक दुर्बलता तो नहीं कहा जा सकता। अन्तस्तल की गम्भीर भावनाओं के प्रतीक यह आबदार मोती तो बिरले बड़भागी ही लुटा पाते हैं। गूढ़ प्रणय की इससे सुन्दर और सरल व्याख्या हो ही क्या सकती है। यदि कष्ट न हो तो अपने हृदय-परिवर्तन का रहस्योद्घाटन कीजिए।

शान्त-गम्भीर वाणी से, प्रकृतिस्थ होकर उस आकर्षक, युवक ने कहना प्रारम्भ किया।

"मेरा जन्म सम्पन्न परिवार में हुआ। मेरे पिता प्रसिद्ध बैरिस्टर हैं, पाश्चात्य सभ्यता की पूरी नकल पिता जी ने की किन्तु मेरी स्नेहमयी जननी उनकी भावनाओं के एक दम विपरीत, सीधी और सरल देवी देवताओं में विश्वास करने वाली। अपने रंग में माता जी को रंगने के लिए प्रारंभ में पिता जी ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। निराश होकर उनकी असहिष्णुता सहनशीलता में परिवर्तित होती गई। एक घर में रहते हुए भी दोनों के मार्ग भिन्न हो गए। एक ओर तो मुसलिम खानसामा पिता जी के लिए आमिष आहार बनाता, दूसरी ओर शुद्ध पवित्र निरामिष भोजन स्वच्छ ब्राह्मण के द्वारा बनता। भगवान का भोग लगाए बिना माता जी जल भी ग्रहण नहीं करती थीं। एकान्त में एक कमरे को माता जी ने पूजा गृह बनाया था नगशान् मुरली मनोहर का एक बहुत बड़ा तैल-चित्र, आकर्षण उसमें इतना कि एक बार उसे देखिये तो प्रयत्न करने पर भी आँख हटाई न जा सके। माता जी बताती हैं इस चित्र को उन्होंने दो सहस्र में एक विक्षिप्त चित्रकार से खरीदा था। उस चित्र की बड़ी धूमधाम से स्थापना हुई थी उस पूजा-स्थली में।

विक्षिप्त चित्रकार से? मैंने बीच में टोककर प्रश्न किया।

कुछ रुक कर वे बोले—लखनऊ में उस वर्ष एक बहुत बड़ी प्रदर्शनी हुई थी। गवर्नमेंन्ट ने दूर दूर से कलाकारों को अपनी कृतियों सहित प्रदर्शन के लिये बुलाया। 'मुरलीमनोहर' का चित्रकार भी आया अपनी सर्वोत्कृष्ट कला को लेकर। चित्र को देखने के लिये दर्शकों की भारी भीड़ लगी रहती और कुछ दूर पर वह चित्रकार एक स्टूल पर बैठे दर्शकों को उदास नेत्रों से देखता रहता। कोई धनी-मानी दर्शक मूल्य पूछते तो वह उपेक्षा से हंसकर कहता—जाओ भाई अपना काम करो तुम इसे नहीं ले सकते। एक राजा साहब ने चित्रकार के ऐसे शुष्क उत्तर से चिढ़ कर बैंक की चेक बुक उस के सामने फेंक दी—"लिख लीजिये अपने हाथ से जितना मूल्य हो इसका"—दर्प से राजा साहब ने कहा:—

"इसे जेब में रख लीजिये श्रीमान्! आप इसके अधिकारी नहीं"—चेक बुक देकर सर हिलाते हुये चित्रकार स्टूल पर उदासीन भाव से बैठ गया जैसे यह कोई असाधारण बात नहीं। राजा अवाक रह गये, उनका दर्प दलित हो गया। चुपचाप चले गये, अपने मुसाहिबों के साथ।

सिड़ी है—पागल है, दर्शक बुदबुदाए। एक ने जोर से कहा—मूर्ख है आई हुई सम्पदा को ठुकरा दिया—दस बीस पचास जितने सहस्र चाहता लिख लेता अपने हाथ से। चित्रकार ने भी सुना, फीकी मुस्कराहट क्षण भर में लीन हो रही अपने में ही—गुमसुम बैठा रहा वह।

मेरी माता जी ने भी यह सभी दृश्य देखे। प्रदर्शिनी जाती थीं केवल इसी चित्र को देखने के लिये। उनकी आखों में समा गया था वह। खाते पीते सोते जागते हर समय उसी का ध्यान रहता। कैसे प्राप्त हो ये "मुरलीमनोहर" उनकी यह तीव्र लालसा अहर्निश हृदय-मथन करने लगी चित्र का सौदा होना तो असम्भव है—दर्शकों को दिये गये चित्रकार के वे उत्तर उनके कानों में गूंज रहे थे किन्तु उनके मन में होता शायद मिल ही जाय। मूल्य के सम्बन्ध में चित्रकार से कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ।

परसों प्रदर्शिनी समाप्त हो जायेगी—ऐसा सुनकर माता जी की व्याकुलता बढ़ गई। चित्रकार ने उनकी व्याकुलता का अनुभव किया—कलाकार ही वास्तव में हृदय की गहराई तक पहुँच सकता है।

"आप भी चले जायेंगे परसों!"—चित्र की ओर देख कर माता ने चित्रकार से प्रश्न किया।

"कौन मैं या मुरलीमनोहर!" चित्रकार ने हँसते हुए कहा—

"तुम दोनों—स्वर में व्यग्रता थी माता जी के

"जाना ही पड़ेगा बहन!" जो आता है सो जाता ही है एक दिन—मैं भी जाऊँगा—नाटकीय ढंग से चित्रकार ने उत्तर दिया।

माता जी उदास एक अनोखी चिन्ता को मन में छिपाए चली गईं। रात में उन्हें एक क्षण के लिये भी नींद नहीं आई। चित्र-चिन्तन करते हुये रात कटी—भोर हुआ नित्य नियमादि से निवृत्त हो वे प्रदर्शिनी में गईं। देखा चित्रकार अपना सामान ठीक कर रहा है। चित्र को झाड़ पोछ कर पैकिंग करने की तत्परता में था वह।

"क्या आज ही तैयारी कर दी—आश्चर्य और करुणा का समन्वय करती हुई वाणी से माता ने पूछा चित्रकार से

"हाँ अब जाने की तैयारी है"—अन्यमनस्क सा चित्रकार बोला। उन्होंने एक करुणा भरी दृष्टि से मुरलीमनोहर को देखा—हाथ जोड़े—प्रयत्न से रोके हुए आँसुओं की धार बह चली—शीघ्र ही आँसुओं को पोछ और लौट पड़ीं घर की ओर मुरलीमनोहर की वियोग—व्यथा का काल्पनिक भार लेकर।

"अपना पर्स लेती जाइये"—चित्रकार ने पुकारा

माता जी का पर्स गिर गया था, उसके गिरे हुये नोट रेजगारी आदि बीन कर पर्स में रखते हुए माता के हाथ में देकर हंसते हुये बोला—कितनी—असावधान रहती हैं आप।

माता ने कोई उत्तर नहीं दिया

× × ×

दूसरे दिन भैया द्वीज थी। पिता जी इन दिनों दूसरे बंगले में रहने लगे थे। कोर्ट से सीधे कोठी पर ही आते और स्नानादि से निवृत्त हो नाश्ता करके अपने बंगले पर चले जाते थे मांसाहार की समस्या ने उन्हें अलग रहने पर विवश कर दिया था। गर्भावस्था में लहसुन प्याज की दुर्गंध माताजी को असह्य थी। भैया द्वीज की छुट्टी में पिता जी कोठी पर ही थे। प्रातः काल लगभग ८ बजे का समय था। एक ईजी चेयर पर अधलेटे किसी पुस्तक का अध्ययन कर रहे थे। बैठक में काल-बेल (बुलाने की घंटी) का शब्द हुआ। थोड़ी देर में हरिया नौकर ने आकर कहा—हजूर! एक बाबू जी यहू जी से मिलना चाहते हैं।

पिता जी ने बुलाने का संकेत किया। बरामदे में पैकिंग—पेपर से लपेटा हुआ कद्दे आदम तैल-चित्र रखते हुये, चित्रकार ने कमरे में प्रवेश किया

"मैं मिसेज़ अविनाश चन्द्र से मिलना चाहता हूँ"—आगन्तुक चित्रकार ने कहा

"पधारिये, अभी आती हैं वे"—नमस्ते का प्रत्युत्तर देकर पिता जी नम्रता से बोले आश्चर्य से पिता जी ने युवक की ओर देखा—महीनों से जिनमें तेल न पड़ा हो ऐसे रूखे घुन्घराले बाल आँखें बड़ी बड़ी जिनमें गम्भीर चिन्तन की स्पष्ट झलक थी, माथा चौड़ा ऊँचा गौर-वर्ण कुछ अस्त-व्यस्त सा था वह आगन्तुक।

"आप का परिचय जान सकता हूँ मैं"—पिता जी ने प्रश्न किया

एक साधारण चित्रकार हूँ मैं और मेरा परिचय ही क्या—अन्यमनस्क भाव से शुष्क हँसी हँसता हुआ वह बोला।

"नमस्ते! माता जी ने पीछे दर्वाजे से आते हुते

कहा—कैसे कष्ट किया आपने

"आइये बहन! मैं आप की ही प्रतीक्षा कर रहा था। सयोग से कल वहाँ आप का पर्स गिरा और इस कार्ड ने आप की कोठी तक पहुँचने में सहायता दी मुझे—जेब से एक विजिटिंग कार्ड निकाल कर दिखलाता हुआ वह बोला—आप के मुरलीमनोहर को भी साथ लाया हूँ—हँस पड़ा फिर वह—आप ही रख सकती हैं उन्हें मेरी अन्तर्भावना के अनुसार।

प्रत्युत्तर पाए बिना वह कुर्सी से उठा और बाहर के बरामदे से उस चित्र को उठा लाया — आज इन्हें आप को सौंप रहा हूँ—भर्राये गले से करुण स्वर में चित्रकार कहता गया—आप जो चाहे दे सकती हैं मैं जैसा अधिकारी चाहता था मिल गया मुझे।

आश्चर्य उल्लास और हर्षातिरेक मे माता की दशा विचित्र हो गई उस समय। वे दौड़ी-दौड़ी गईं और आइरन सेफ से नोटों के दो बंडल निकाले और चित्रकार के सामने मेज पर डाल दिये—इससे अधिक जितना आप बतावें उसकी चेक दे दी जाय आप को—माता जी की वाणी में भावावेश की स्पष्ट झलक थी—कहीं इनकार न कर दें, आशा और निराशा का अन्तर्द्वन्द्व उनके नेत्रों में झाँक रहा था।

"पूरे दो हजार" नोट गिनकर जेब में रखते हुए वह बोला—अच्छा अब मुँह भी मीठा कराइये।

दो तश्तरियों में मिठाई और नमकीन आ गई। निश्चिन्त होकर खाई उसने, रेफ्रीजेटर की शीतल बोतल का जल-पान करके कुर्सी से उठते हुए बोला—आज भैया दूज है, हमारा यह स्नेह-बन्धन चिरस्थायी हो, इसी अन्त प्रेरणा से उधर से आते समय यह राखी लेता आया हूँ —जेब से राखी निकाल कर मेरी माता जी की ओर बढ़ाते हुए वह बोला—अब इसे आप इस विजित अकिंचन और अपने इस अयाचित भाई के हाथ में बाँध दीजिये

पिता जी मौन-गम्भीर बने इस दृश्य को कौतूहल से देख रहे थे।

मेरी माता ने यन्त्रचालित कठपुतली की भाँति उसकी कलाई में वह राखी बाँधी चित्रकार ने कोट की जेब से सब नोट निकालकर मेरी माता के सामने रखकर कहा—इस दीन-हीन कंगाल भाई की यह तुच्छ भेंट स्वीकार करो बहन! डबडबाई आँखों से अपनी बहिन को उसने देखा और मुरलीमनोहर की ओर ऐसी दृष्टि डाली जैसे नव-प्रसूता वत्सला गौ चराई पर जाते समय अपने नवजात बछड़े पर डालती है।

निस्तब्ध नीरव वातावरण बनाकर वह वहाँ से द्रुतगति से चला गया।

× × ×

वेगवती नहर के शीतल गंगा-जल में हरि की पैड़ी की ओर से गेंदा-गुलाब के पुष्प नौकाकार हरित दोनों में प्रवाहित होते चले आ रहे थे। ऋषिकुल के मन्दिर की सांध्य आरती के शंख घड़ियाल बजने लगे। चन्द्रदेव की स्वच्छ शीतल-स्निग्ध चाँदनी ने अपनी श्वेत धवल चादर अवनि और अम्बर में फैला दी। नहर के झलमल जल में चन्द्र किरणें कल्लोल करने लगीं कुछ रुक कर राजीव ने पुनः अपनी गाथा प्रारम्भ की—

उसी वर्ष मेरा जन्म हुआ। माता पिता की आशाओं का केन्द्र उनके समस्त प्यार का एकमात्र उत्तराधिकारी मैं बड़े लाड़ प्यार से पाला गया। पिता जी ने मेरे लिये एक अँग्रेज नर्स को नौकर रक्खा था किन्तु माता जी उसके पास अधिक नहीं जाने देतीं पति की आज्ञा और बालक के भविष्य का समन्वय सा करती हुई वे बड़ी युक्ति से मेरे शैशव को एक ऐसे साँचे में ढाल रहीं थीं जिसपर हम भारतीय गर्व करते हैं। किन्तु ऐसा न होसका। छः सात वर्ष तक तो माता का पूर्णाधिपत्य सा रहा उस समय की स्मृति आज इस स्थिति में मन को आनन्द विभोर बना देती है। माता के साथ नित्य प्रातः सूर्योदय से पहिले जाग जाता, उनकी प्रार्थना और संकीर्तन ध्वनि को पूर्ण मनोयोग से सुनता और अपनी तोतली वाणी से जब मैं भी कहता तो माता को अपार आनन्द की अनुभूति होती। माता मुझे प्रायः नित्य ही मुरलीमनोहर के सामने ले जातीं मैं उन्हें बड़े ध्यान से देखता, प्रणाम करता और प्रसन्न होता। सातवें वर्ष में पहुँचते पहुँचते पिता ने मुझे एक ऐसी शिक्षण संस्था में प्रविष्ट करा दिया जिसमें अँग्रेजों तथा प्रतिष्ठित भारतीय जनों के बालकों का ही प्रवेश हो सकता था। वहाँ की शिक्षा के अनुरूप में भी बाल्य

वस्था में ही पूरा यूरोपियन साहब बन गया। अवकाश के दिनों में जब मैं प्रथम बार घर पर आया था तो हठ करने पर भी माता जी मुझे मुरलीमनोहर के पूजा-गृह में नहीं ले गई थीं। माता जी ने हँसकर कहा था जब तेरी शुद्धि हो जायगी तब उनके सामने जाने का अधिकारी हो सकेगा।

उस वर्ष मैं पिता जी के साथ मसूरी गया था। जुलाई का अन्तिम सप्ताह था, मसूरी में घनघोर वर्षा प्रारम्भ हो चुकी थी। दिन भर बादलों का धुआँ छाया रहता या घोर वर्षा होती। मेरा मन ऊब गया। पिता जी किसी आवश्यक मीटिङ्ग के कारण रुक गये और मैं हरिया को साथ लेकर चल दिया। उन दिनों मेरा हृदय पाश्चात्य सभ्यता का अनन्य पुजारी था। तीर्थ व्रत पूजा पाठ सभी ढोंग ढकोसला सा लगता। किन्तु जननी के सामने इस प्रकार की कोई भी बात करने का साहस मुझे कभी नहीं हुआ।

देहरादून स्टेशन पर पहुँच कर न जाने क्यों सहसा विचार हुआ कि हरिद्वार में हरि की पैड़ी पर लगे हाथ स्नान भी होता चले। हरिया ने पहिले तो मेरी ओर आश्चर्य चकित होकर देखा जैसे मैंने कोई अनहोनी बात कह दी हो—फिर संयत होकर बड़ी प्रसन्नता से बोला—हाँ छोटे सरकार! जरूर नहाय का चही, बुढ़ौती माँ हमरिउ आनमी सँमरि जाई, अब तौ मानिक चला चली का मेला है, का जानी गंगा मैया फिर मिलैं न मिलैं। मालकिन सुनिहैं तौ बहुत खुस हुइहैं।"

प्लेटफार्म के सायंकालीन दृश्य ने अपनी ओर आकर्षित किया। हरि की पैड़ी पर होने वाली गंगा जी की सायंकालीन आरती के दृश्य ने मन को मुग्ध कर लिया और ऐसा लगा मानों इन सब में कुछ रहस्य है, कुछ सत्य है।

× × ×

सेकेन्ड क्लास की एक रिजर्व सीट पर हरिया ने मेरा बिस्तर लगा दिया, पास के सर्वेन्ट क्लास में वह बैठ गया। निद्रादेवी के आवाहन में करवटें बदलती रहीं किन्तु उन्होंने पधारने की कृपा नहीं की। हरिद्वार स्टेशन पर ही हरिया से मैंने झिड़क कर कहा था कि इंजन के पास वाली बोगी में ही रिजर्वेशन कराकर तुमने अपनी मूर्खता का परिचय दिया है, अब रात भर नींद आने से रही।

देहरा एक्सप्रेस में उस दिन भुस की भाँति आदमी भरे हुए थे। मुरादाबाद पहुँचने तक भी नींद का कहीं पता नहीं था विचारों की तल्लीनता और संकल्पों में रह रह कर उस रात को जननी की याद बहुत आ रही थी। उनसे शीघ्र मिलने के लिये उस समय मेरा मन एक प्रकार की विकलता का अनुभव न जाने क्यों कर रहा था। और इस क्यों का पता उसी रात को कुछ घंटों के बाद ही लग गया।

मुरादाबाद के प्लेटफार्म पर मैं टहलने लगा। सहसा एक नव किशोर युवक ने मेरे कंधे पर पीछे से हाथ रख कर कहा—राजीव! तुम कहाँ?

उसकी वीणा विनिन्दित स्वर लहरी और स्पर्श से चौंकते हुए पीछे घूमकर देखा तो ठगा सा उसकी ओर बड़ी देर तक देखता रह गया—काले-सँगले घूँघरवाले लम्बे केश, कवियों की भाँति कंधों पर छितराए हुए। ऊँचा उन्नत ललाट, मुखाकृति ऐसी सुन्दर कि उसे देखकर सहसादृष्टि हटानी असंभव। हल्की पीत सिल्क का ढीला सा कुर्ता। कंधे पर रखे हुए हाथ की सुन्दर उंगलियों में मणि-मुक्ता जटित झलमल करती हुई दो अँगूठियाँ—

"अरे भाई इस प्रकार क्या देख रहे हो, पहचान नहीं सके क्या? उनकी स्निग्ध मुक्त हँसी से अनार के दानों की जैसी धवल दंत-पंक्ति बिजली सी चमका गई—तुम्हारी माता मुझे जानती हैं जब तुम नन्हें से थे तभी तुम्हें देखा था—उन्होंने हँसते हुए कहा—

आश्चर्य चकित होकर उनकी मधुर-वात्सल्यमयी वाणी की स्निग्ध धारा में मेरा मन डूबने सा लगा—मैंने इन्हें कहीं देखा तो है कहाँ और कब देखा? प्रयत्न करने पर भी कुछ याद न कर सका, मुझे निरुत्तर और विचारमग्न सा देख उन्होंने कहा—चलो मेरे डब्बे में वहीं बातें होंगी।

हरिया को जगा कर अपने कम्पार्टमेन्ट में भेजा और

मैं मन्त्रमुग्ध सा उनके पीछे पीछे चला। लाखों में एक व्यक्तित्व जब हमारे नेत्रों के सामने आ जाता है तो बरबस उसकी ओर आँखों का उठना स्वाभाविक है। मैंने देखा उस समय प्लेटफार्म का जन-समुदाय उन्हीं की ओर मुग्ध भाव से देख रहा था। सिगनल हो चुका था। गार्ड के पास वाले फर्स्टक्लास के रिजर्व कम्पार्टमेन्ट में वे भी देहरादून से आ रहे थे। ट्रेन चलते ही मुझे गहरी निद्रा आने लगी, बोगी में दो ही सीटें थी, लेटते ही घोड़े बेच कर सोगया कि उनसे किसी प्रकार की कोई बात न हो सकी फिर।

सहसा भयंकर वेग का धमाका हुआ जैसे कई तोपें एक साथ छूटी हों साथ ही ऐसा झटका लगा कि मैं सीट से नीचे आरहा। हड़बड़ाकर उठा तो देखा वे नीचे जाने का उपक्रम कर रहे थे, डब्बे में अन्धेरा था। "एक्सीडेंट हो गया जान पड़ता है देखूँ तो" कहते हुए पावदान पर पैर रखते ही मैंने टार्च जलाकर देखा वे मन्द मन्द मुस्करा रह थे—उनकी उस मनहर आकृति को देख रोमांच हो गया—अन्तस्तल में बिजली सी कौंध गई "कौन हैं ये कहाँ देखा कब देखा" अपने विचारों में डूबा हुआ पीछे पीछे चला। टार्च के प्रकाश में मैंने देखा वे द्रुतगति से भागे जा रहे हैं, फिर मनुष्यों के जमघट में छिप गये।

उधर से आने वाली मालगाड़ी से देहरा एक्सप्रेस की भिड़न्त हो गई। दोनों इंजन और इधर उधर की कई बोगियाँ चकनाचूर हो गईं। हरिया की हड्डी पसली का भी पता नहीं लगा। उसने मुझे गोद में खिलाया, मेरे साधारण से कष्ट की बात सुनकर भी वह मुरझा जाता था वह प्यारा हरिया आज सदैव के लिए इस प्रकार मुझे छोड़कर चला गया। अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। भयंकर कोलाहल था, सहस्रों चीखें वायु में विलीन हो रही थीं। ऐसा लगा मैं मूर्च्छित हो रहा हूँ, अपने समस्त साहस को बटोर कर कुछ प्रकृतिस्थ हुआ तो अपने उस अनोखे उद्धारक की याद आई जिसके कारण क्रूर काल की ऐसी विकराल चक्की में पिसते पिसते बच गया था। बड़ी देर तक उन्हें व्याकुल होकर ढूँढ़ता रहा। वे नहीं मिले तो सोचा कदाचित अपने डब्बे में चले गए हों। किन्तु मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, यह देख कर कि वहाँ पर वह फर्स्टक्लास वाली बोगी भी नहीं। दौड़कर हाँफते हाँफते गार्ड से पूछा तो उसने विषादपूर्ण हँसी में उत्तर दिया—जान पड़ता है इस एक्सीडेन्ट से आपका माइंड खराब हो गया है। भय विस्फारित नेत्रों से उसकी ओर देखा मैंने—यह क्या बक रहा है, या मैं ही पागल हो गया हूँ। किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर फिर पीछे लौटा, आँखें मलकर देखा उस डब्बे का कहीं नाम निशान नहीं। नीचे कंकड़ों में पड़ा रिज़र्वेशन कार्ड उठा कर देखा—लिखा था मुरलीमनोहर जी "मुरलीमनोहर जी! मुरलीमनोहर जी"! मैं चिल्लाने लगा और फिर चेतनाशून्य हो गया।

× × ×

न जाने कब आँख खुली तो देखा पिता और माता जी सामने कुर्सियों पर बैठे आँसू बहा रहे हैं। डाक्टर स्टेथिस्कोप से हृदय की परीक्षा में तल्लीन हैं।

"मैं यहाँ कैसे पहुँचा—कराहते हुए धीरे से मैं बोला

"मेरे लाल!—फूटकर रोते हुए माता जी ने कहा—आज तूने पूरे चार दिन बाद आँखें खोली हैं एक्सीडेंट का टेलीग्राम पाते ही तेरे पिता और मैं बरेली पहुंचे थे और तुझे कार से यहाँ लाये हैं।

"रज्जू! हकलाते हुये गद्गद स्वर से मेरे पिता बोले—तुम्हें तो बेटे कहीं पर एक खरोंच भी नहीं लगी फिर यह बेहोशी कैसे हुई।

और भैया! यह मुरलीमनोहर जी कौन हैं जिन्हों ने हम दोनों को टेलीग्राम भेजा—मेरी जननी ने पूछा।

मैं चिल्लाया—मुरलीमनोहर! मुरलीमनोहर!!

पिता-माता और डाक्टर मेरी भयंकर चिल्लाहट से घबड़ा कर हक्के बक्के से मेरी ओर देखने लगे। भावावेश में मैं चारपाई पर उछल कर बैठ गया। माता जी भय विह्वल होकर जोर से रो पड़ीं।

चिन्ता की कोई बात नहीं—हार्ट स्ट्राग है, आप लोग घबड़ाएँ नहीं—डाक्टर ने कहा।

"हाँ आप लोग बिलकुल न घबड़ाएँ मैं भला चंगा हूँ—मैं बोला—शान्त होकर पहिले मेरी गाथा सुनिये और फिर बताइये कौन हैं ये मुरलीमनोहर।

(शेष पृष्ठ २० पर देखिये)

श्री १०८ श्रीस्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज तथा श्रीस्वामी भजनानन्दजी महाराज द्वारा विरचित—

मानव जीवन को सफल बनाने वाली अनुपम पुस्तकें—

१—सदाचार दो भाग—

ईश्वर क्या है ? धर्म किसे कहते हैं ? लोभ क्रोध आलस्यादि दुर्गुणों को किस प्रकार दूर किया जाय ? इत्यादि आत्मोन्नति की बातों को इस पुस्तक में प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। प्र० -)॥ द्वि० =)॥

२—दैवी जीवन सोपान

ब्रह्ममुहूर्त से विश्राम के समय तक की दिनचर्या तथा सन्ध्या, आसन-व्यायाम आदि के लाभ वैज्ञानिक आधार से समझाये गये हैं। मूल्य ।)

३—ब्रह्मचर्यसाधन

ब्रह्मचर्यव्रत को पालन करने की प्रयोगात्मक युक्तियाँ विशेष कर गृहस्थाश्रम में, इस पुस्तक में भली भाँति समझायी गयीं हैं। पुस्तक सभी के लिये परमोपयोगी है। मूल्य······ ।)

४—भक्ति के नव साधन

भक्तिमती शबरी—माता के प्रति भगवान् श्रीराम द्वारा नवधा भक्ति की विशद व्याख्या तथा मन्त्र-जापकी विधियाँ और मन को अनुकूल बनाने की सरल युक्तियाँ इस पुस्तक में देखिये। मू० ··· ।)

५—सुखद लोक यात्रा

गृहस्थाश्रम में रहते हुये परमार्थ का साधन किस प्रकार होता है ? यह सब के समझने की बात है। इस पुस्तक की प्रत्येक गृहस्थ को आवश्यकता है। मू०··· ।=)

६—साधन प्रदीप

मानव शरीर क्यों मिला ? क्या मैं देह हूँ ? क्या देह मेरी है ? जीव का स्वरूप क्या है ? इत्यादि विषयों की व्याख्या इस पुस्तक में की गयी है। साधकों के लिये विशेष उपयोगी है। मू० ···· ।)

७—साधन सुधा

धर्म का तत्त्व, परमधर्म और आपद्धर्म की सरल व्याख्या इसमें मिलेगी। प्रारब्ध और भगवान् का भरोसा पुस्तक का मुख्य विषय है। मू० ····।)

८—हम दिग्विजयी कैसे हों ?

साधक किन संघर्षों से उत्तीर्ण होकर सिद्ध बन सकता है ? आध्यात्मिक शक्तियों की प्राप्ति के साधन तथा अजय रथ का विवेचन इसमें पढ़िये। मू० ·· ॥)

९—आदर्श गृहस्थाश्रम

नरक के समान बने हुये गृहस्थ जीवन को सुखमय और स्वर्ग के समान बनाने के लिये आद्योपान्त इसे पढ़िये और घर में पढ़ाइये। मू०····· ॥)

१०—नव महाव्रत

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि नव सद्गुणों की विस्तृत व्याख्या तथा इन्हें अपने व्यावहारिक जीवन में लाने की सुन्दर युक्तियाँ। मू० ··· ।=)

११—परमार्थ पथ

परमार्थ पथिकों के मार्ग और पाथेय की हृदय ग्राही विशद व्याख्या। साधकों के लिये यह पुस्तक परमोपयोगी है। मू० ···· ॥।=)

१२—परलोक की बातें—दो भाग

धर्म, ईश्वर, तथा अध्यात्मवाद के सम्बन्ध में प्रायः जो शंकायें मन में उठा करती हैं उनका समाधान इसमें इतने सुन्दर रूप से हुआ है कि पुस्तक समाप्त करने से पहिले हाथ से नहीं छूटती—दोनों भाग का मू०······१)

१३—परमार्थ मणिमाला—तीन भाग

माला की १०८ मणियों के समान प्रत्येक भाग में छोटे-छोटे १०८ उपदेशों का अमूल्य संग्रह है। तीनों भागों का मू०···· ॥।=)

१४—परमार्थ बिन्दु

'बिन्दु में सिन्धु' अर्थात् सूत्र रूप में वेद-शास्त्रों के गूढ़ भाव सरल एवं सुबोध भाषा में समझाये गये हैं। इसकी दृष्टान्तीय शैली साधारण पढ़े-लिखे व्यक्तियों के लिये भी विशेष उपयोगी है। प्रचारकों एवं कथा-वाचकों के बड़े काम की है। मू० ।=)

नोट—'परमार्थ' के द्वितीय और तृतीय वर्षों की सजिल्द फायलें विशेषाङ्क सहित तैय्यार हैं प्रत्येक फायल का मूल्य ६) है। केवल ब्रह्मचर्याङ्क २॥) कर्त्तव्याङ्क ३) वी० पी० मंगाने वाले सज्जन चौथाई मूल्य अग्रिम मनीआर्डर से भेजें, एक ··· मंगाने वालों को ··· ।

फोन नं० १०१

रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

नाम संकीर्तन महिमा

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं भाषितं मम सुव्रत,
नामोच्चारण मात्रेण महापापात्प्रमुच्यते ।
राम रामेति रामेति रामेति च पुनर्जपन्,
स चाण्डालोऽपि पूतात्मा जायते नात्रसंशयः ।
कुरुक्षेत्रं तथा काशी गया वै द्वारिका तथा,
सर्वं तीर्थं कृतं तेन नामोच्चारणमात्रतः ।
क्वनाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम्,
क्वजपो वासुदेवस्य मुक्तिबीजमनुत्तमम् ।

ब्रह्मा जी कहते हैं कि हे नारद ! मेरा कथन सत्य है सत्य है सत्य है, भगवान् के नामोच्चारण मात्र से ही मनुष्य बड़े बड़े पापों से मुक्त हो जाता है । 'राम राम राम राम' इस प्रकार बारम्बार जप करने वाला मनुष्य यदि चाण्डाल हो तो भी वह पवित्रात्मा हो जाता है । इसमें तनिक भी संदेह नहीं है, जिसने भगवान् का नाम ले लिया, उसने कुरुक्षेत्र, काशी, गया और द्वारिका आदि सम्पूर्ण तीर्थ कर लिये । नामोच्चारण स्वर्ग से भी उत्तम है । वासुदेव के नाम जप से मुक्ति होती है स्वर्गादि तो क्षणिक सुख ही दे सकते हैं ।

मुद्रक तथा प्रकाशकः—परमार्थ प्रिंटिंग प्रेस मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक पत्र
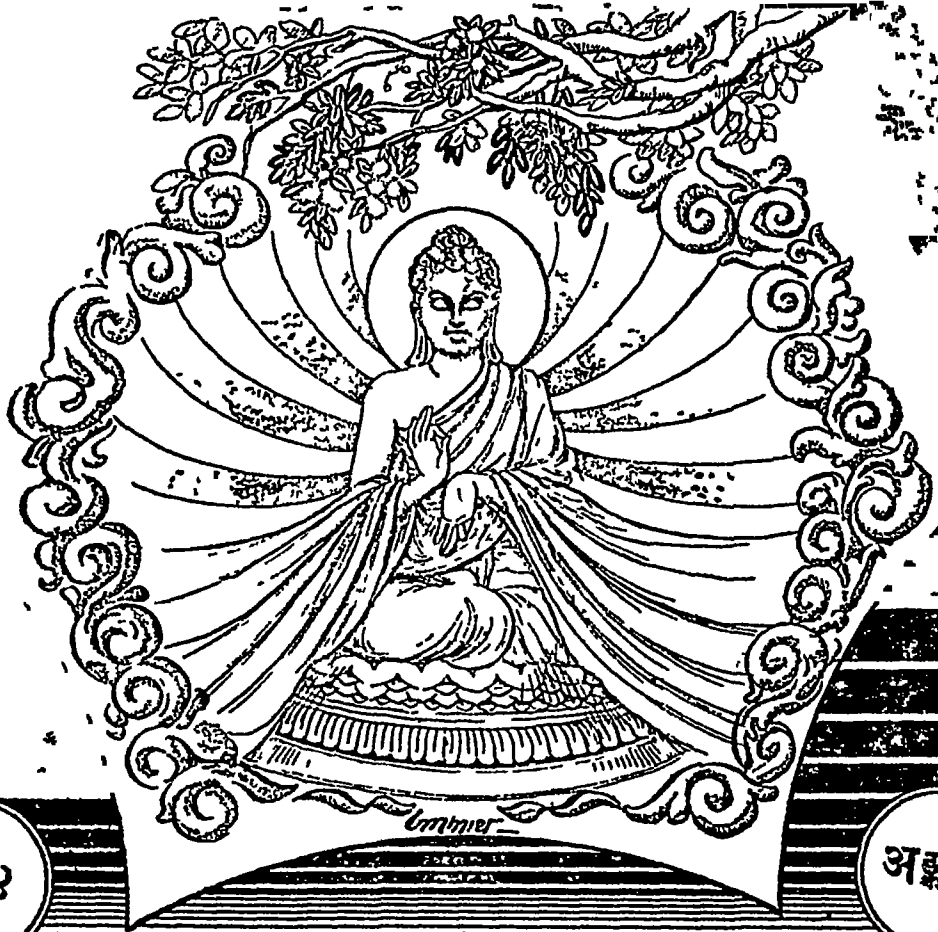
वार्षिक मूल्य ५॥)

विदेश के लिये ८)

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि आध्यात्मवाद प्रकाशक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक

स्वामी सदानन्द सरस्वती,

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सहायक सम्पादक

सर्वश्री रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री साहित्यरत्न, पं० इन्द्रनाथ शास्त्री साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० साहित्यरत्न, रामबहादुर काश्यप, रामस्वरूप गुप्त।

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेद् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ } मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ जून १९५३ { अङ्क—६
ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष चतुर्थी चन्द्रवार, सम्वत् २०१०

स्तुति

ध्येयं वदन्ति शिवमेव हि केचिदन्ये ।
शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै ॥
रूपैस्तु तैरपि विभासि यतस्त्वमेव ।
तस्मात्त्वमेव शरणं मम शंखपाणे ! ॥

कोई शिव को ही उपास्य देव कहता है, कोई शक्ति और गणेश को ही ध्यान-योग्य बताता है, कुछ लोगों ने तो सूर्यदेव को ही उपासनीय माना है, वास्तव में हे शंखपाणे! तुम ही सभी रूपों में दैदीप्यमान हो रहे हो। समस्त विश्व के सर्वस्व होने के कारण तुम्हीं मेरे एकमात्र शरण्य हो तुम्हीं मेरी रक्षा करने वाले हो।

परमार्थ-बिन्दु

क्या चमारों की बस्ती में चमारों को दुर्गन्धि आती है ? कदापि नहीं। पर राजा दुर्गन्धि के मारे वहाँ खड़ा नहीं रह सकता इसी प्रकार निश्चय रक्खो भोगी पुरुषों के यहाँ विरक्त साधु महात्माओं को विषय भोगों की दुर्गन्धि जरूर आयेगी, पर भोगी को वह गन्ध प्रतीत नहीं होगी।

विचार करो—यदि घोड़ा उछल कूद अधिक करता हो, सवारी नहीं करने देता हो तो जानते हो क्या करना चाहिये ? उसको कुछ दिन भूखा रखना चाहिये फिर हाथ में कोड़ा लेकर उसपर सवारी करो—घोड़ा सीधा-साधा आज्ञानुकूल चलेगा। इसी प्रकार याद रक्खो, यदि मन वश में नहीं होता हो, खूब चंचलता करता हो तो उसको पंच विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) से भूखा रक्खो तथा संयम का कोड़ा अपनालो—बेचारा मन तो मदारी के बन्दर की भाँति आप की आज्ञानुसार नाचता फिरेगा।

विचार करो—धर्मशाला में केवल तीन दिन तक ठहरने के लिये मुसाफिर को एक कमरा मिलता है, जिसमें कि सुविधा के लिये मेज कुर्सी पलंग दर्पण रक्खे होते हैं। यदि कोई उन पलंग दर्पण आदि का आराम भोगते-भोगते इनमें आसक्त होकर तीन दिन के बाद भी छोड़ कर जाना न चाहे तो क्या उसे धर्मशाला से बाहर जबरदस्ती नहीं निकाला जायगा ? अवश्य निकाला जायगा है। इसी प्रकार निश्चय रक्खो इस संसार में हमको एक निश्चित अवधि तक ही ठहरने की अनुमति मिली है। आराम के लिये धन वैभव, कुटुम्ब, परिवार आदि मिला है। यदि कोई इनके द्वारा प्राप्त आराम में आसक्त होकर नियत अवधि पर संसार सहित उनको छोड़ कर नहीं जाना चाहेगा तो क्या उसे इस संसार से उसे जबरदस्ती नहीं निकाला जायगा। अवश्य निकाल दिया जायगा। भलाई इसी में है कि इन सुविधा के लिये प्राप्त वस्तुओं को सही सलामत इस संसार रूपी धर्मशाला के स्वामी को प्रसन्नता पूर्वक सौंप दें। अन्यथा दुःख उठाना पड़ेगा।

विचार करो—जब तक बच्चा खिलौनों से हँसता खेलता रहता है, तब तक क्या उसकी माँ उसको गोद में लेकर दूध पिलाती है ? कदापि नहीं। परन्तु जब वही बच्चा खिलौने विलौने फेंक फाँक कर रोने मचलने लग जाता है तब क्या वही माँ सब काम छोड़कर दौड़कर उस बच्चे को गोद में नहीं ले लेती है। इसी प्रकार जब तक हम धन, मकान, कुटुम्ब आदि माया के खिलौने में आसक्त रहेंगे तब तक भगवान् दर्शन नहीं देंगे। भले ही एक-दो खिलौने और दे देंगे। जब इन से मुंह मोड़कर भगवान् के लिये अति व्याकुल हो जावेंगे तो विश्वास रक्खो फिर भगवान के दर्शन में पल भर की भी देरी न लगेगी।

विचार करो—चन्दन के पेड़ के पास जितने पेड़ पौधे होते हैं वे सभी चन्दन बन जाते हैं। परन्तु बांस और करील के पेड़ों की जड़ें चाहे चन्दन के पेड़ की जड़ से मिली हुई ही क्यों न हो चन्दन नहीं बनते—जानते हो क्यों ? क्योंकि इन पेड़ों में गाँठें होती हैं। इसी प्रकार निश्चय रक्खो संत महात्माओं के संग में रहने वाले सब संत बन जाते हैं पर जिनके हृदय में छल, कपट, पर दोष दर्शन, अभिमान रूपी गाँठें हैं वे कभी संत नहीं बन सकते चाहे वे दिन रात संत महात्माओं के पास ही क्यों न रहते हों।

इच्छाओं की निवृत्ति ही आवश्यकता की पूर्ति है

(एक ब्रह्मनिष्ठ संत)

स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति करना ही मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है। जब आवश्यकता इच्छाओं को खा कर सजीव तथा सबल हो जाती है तब आवश्यकता पूर्ति की शक्ति अपने आप आ जाती है। प्राणी आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति में सर्वदा स्वतंत्र है और भोगों को सुरक्षित तथा नित्य बनाने में सर्वदा परतंत्र है। मानव जीवन में उपभोग का स्थान केवल भोग के यथार्थ ज्ञान के लिये है, क्योंकि भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर भोग से अरुचि अपने आप होजाती है, भोग से अरुचि होते ही भोग वासना का अन्त हो जाता है। भोग वासनाओं का अन्त होते ही प्रेमपात्र (नित्य जीवन) की आवश्यकता जागृत हो जाती है। नित्य जीवन की आवश्यकता जागृत होते ही निर्वासना, निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता, आदि अलौकिक दिव्य गुण अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रयत्न दोषों की निवृत्ति के लिये किया जाता है दोषों की निवृत्ति होते ही गुण अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। निवृत्ति उसी की होती है जो अस्वाभाविक हो। दोष दोषी का बनाया हुआ खिलौना है, इसी कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है, दोष उसी समय तक जीवित रहता है जब तक दोषी स्वयं उसे अपनी दृष्टि में देख नहीं पाता अर्थात् निर्बलताओं को देखने पर निर्बलतायें भाग जाती है, ज्यों-ज्यों निर्बलताओं का ज्ञान होता जाता है त्यों-त्यों बलकी आवश्यकता जागृत होती जाती है। ज्यों ज्यों बल की आवश्यकता सबल तथा स्थायी होती जाती है। त्यो-त्यों निर्बलता बल मे उसी प्रकार परिवर्तित होती जाती है जिस प्रकार काष्ठ अग्नि में। अत. अपनी निर्बलताओं को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना निर्बलताओं को मिटाने के लिये परम आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी कल्पतरु की छाया में सर्वदा निवास करता है। अत उन्नति से निराश होने के लिये वर्तमान जीवन मे कोई स्थान नहीं है क्योंकि वर्तमान अनित्य जीवन वास्तव में केवल नित्य जीवन की आवश्यकता मात्र है और कुछ नहीं, आवश्यकता तथा आवश्यक सत्ता में केवल जातीय एकता तथा मानी हुई भिन्नता होती है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो आवश्यकता की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती थी। पूर्ति उसी की होती है जिसमें मानी हुई भिन्नता तथा जातीय एकता हो। आवश्यकता से जातीय एकता और इच्छाओं से मानी हुई एकता है इसी कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति परम अनिवार्य है। इच्छाओं की उत्पत्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद वास्तव मे स्वीकृति मात्र को सत्ता मान लेने से होता है। इच्छाओं के बादल छा जाने पर आवश्यकता रूपी सूर्य ढक सा जाता है इच्छायें आवश्यकता को मिटाने नहीं पाती है परन्तु आवश्यकता इच्छाओं को खा लेती हैं। इस दृष्टि से आवश्यकता स्वाभाविक और इच्छायें अस्वाभाविक सिद्ध होती हैं। आवश्यकता कबसे उत्पन्न हुई किसी को पता नहीं किन्तु उसकी पूर्ति होने पर आवश्यकता की सत्ता शेष नहीं रहती। प्रेमी आवश्यकता और प्रेम पात्र आवश्यक सत्ता है। प्रेमी तथा प्रेम पात्र के मिलने के लिये किसी तीसरे की आवश्यकता नहीं होती, अर्थात् प्रेमी स्वतंत्रता पूर्वक प्रेम पात्र से मिल सकता है प्रेमी तथा प्रेम पात्र में यही अन्तर है कि प्रेमी विषयासक्ति के कारण प्रेमपात्र का भूलने लगता है परन्तु प्रेम पात्र कभी भी प्रेमी को नहीं भूलता प्रेम पात्र तो प्रेमी

को अपनाने के लिये निरन्तर प्रतीक्षा करता है। जिस काल में प्रेमी, प्रेमी हो जाता है, बस उसी काल में प्रेमपात्र प्रेमी को अपना लेता है अर्थात् प्रेमी तथा प्रेमपात्र में दूरी उसी काल तक रहती है कि जब तक प्रेमी, प्रेम नहीं हो पाता। जब प्रेमी सद्भाव पूर्वक प्रेम पात्र का हो जाता है जब प्रेम पात्र प्रेमी की सभी निर्बलताओं को खा लेते हैं, क्योंकि दुखी का दुःख दुःखहारी भगवान् का भोजन है। प्रेमी प्रेमपात्र से अपनत्व करता है और प्रेम पात्र प्रेमी से प्रेम करता है। अपनत्व भाव है, प्रेम जीवन है तथा सत्ता है। अपनत्व साधन है और प्रेम साध्य है। प्रेमी अपनत्व के बल से प्रेम पात्र को पाता है। यह भली भाँति समझ लो कि जिसमें आवश्यकता है वह प्रेम नहीं कर सकता, केवल अपनत्व कर सकता है प्रेम एक मात्र प्रेमपात्र ही कर सकते हैं, क्योंकि प्रेम पात्र सब प्रकार से समर्थ तथा पूर्ण हैं। प्रेमी को अपनाना प्रेम पात्र का स्वाभाविक, पवित्र, नित्य, अनन्त माधुर्य है। प्रेम वही कर सकता है जो देता है, लेता नहीं। साधारण साधक केवल गुणों के बल से प्रेम पात्र के दिव्य गुणों को पाता है। किन्तु अपनत्व के बल से प्रेमी, प्रेम पात्र तथा गुण दोनों को पाता है। अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ बल है। अपनत्व हो जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। अपनत्व का हो जाना ही भक्ति की दृष्टि से परम पुरुषार्थ है। अपनत्व भाव है, अतः प्राणी स्वतन्त्रता पूर्वक कर लेता है।

आनन्दघन भगवान् से अपनत्व करने के लिए परतन्त्रता लेशमात्र भी नहीं है। विषयों से सम्बन्ध करने में जो स्वतन्त्रता की झलक मालूम होती है, वह विषयों का राग मिटाने के लिये प्रेमपात्र की कृपा मात्र है, क्योंकि जिस राग को प्राणी विचार से नहीं मिटा पाता, उसको जानकारी पूर्वक मिटाने के लिये भगवान् विषयों की पूर्ति का अवसर देते हैं। साधारण प्राणी विषय-इच्छा की पूर्ति के रस में फँस कर आनन्दघन भगवान् से विमुख हो जाते हैं। अनित्य जीवन की प्रत्येक परिस्थिति सदुपयोग करने को मिली है। परिस्थिति का सदुपयोग करते ही परिस्थितियों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। परिस्थितियों से सम्बन्ध विच्छेद होते ही प्रेम-पात्र से स्वतः सम्बन्ध हो जाता है। परिस्थितियों में जीवन बुद्धि करना भारी भूल है।

× × ×

सुख तथा दुःख दिन रात के समान आने जाने वाली वस्तुयें हैं। विचारशील सुख का लालच तथा दुःख का भय निकाल देते हैं।

जिसका मन सुख-दुःख के बन्धन से छूट जाता है, उसके हृदय में पवित्र प्रीति स्वतः उत्पन्न होती है, क्योंकि सुख-दुःख से छूटते ही आगे-पीछे का व्यर्थ चिन्तन मिट जाता है। आगे पीछे का चिन्तन-मिटते ही प्रेम-पात्र का ध्यान स्वतः होने लगता है। ज्यों-ज्यों ध्यान स्थायी होता जाता है, त्यों-त्यों प्रेमी का हृदय प्रीतम की प्रीति से भरता जाता है।

शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। सब प्रकार से प्रेम-पात्र के होकर अचिंत्य तथा अभय हो जाओ। संसार से सच्ची निराशा ही परम तप है। राग-द्वेष-रहित होना ही सच्ची पवित्रता है। त्याग तथा प्रेम परम-साधन हैं. आत्मसमर्पण ही सच्चा भजन है। प्रेम पात्र की कृपा का सहारा ही परम बल है।

विश्वास करो भगवान् अवश्य अपनायेंगे

(ब्रह्मलीन अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्री ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री ब्रह्मानन्द जी सरस्वती महाराज)

भगवान् में विश्वास की बहुत आवश्यकता है, आज-कल तर्क-वितर्क के कारण लोगों का भगवान् में विश्वास नहीं रह गया है। रही बात प्रत्यक्ष-वादियों की जो यह कहते हैं कि हम तो अन्ध-विश्वास नहीं करते प्रत्यक्ष को ही मानते हैं। पर उनसे पूछा जाय कि क्या पहले पुत्र को खिला कर कोई विवाह करता है या पहले मुनाफा मिल जाय फिर रोजगार करेंगे, ऐसा कोई कहता है। संसार का सब काम विश्वास पर ही चलता है। पहिले यह विश्वास हो जाता है कि मुनाफा होगा तभी लोग रोजगार करते हैं विवाह करने से पुत्र उत्पन्न होगा इसी आशा पर तो विवाह करते हैं। विवाह करने पर भी गर्भाधान संस्कार के बाद नौ माह तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। स्कूल में जाते हो तो अध्यापक ए,बी,सी,डी, या क,ख,ग, जो भी हो जैसा वह बतलाता है वैसा ही मान लेते हो वहाँ पर क्यों नहीं तर्क करते कि हम इसे नहीं मानते, क्या प्रमाण है यह ए बी सी डी ही है? उस समय तो मास्टर का वाक्य ही प्रमाण रहता है। तो यह अन्धविश्वास नहीं तो और क्या है। मास्टर की बात में अन्ध विश्वास न करते तो पंडित कैसे बनते। यह अन्ध-विश्वास का ही फल है कि आज कमाने लायक हो गये। तो जिस बात मे अन्धविश्वास किया उसमें सफल हुये परन्तु जिस स्कूल में अभी नाम भी नही लिखाया उसकी बात ही क्या। ऐसा नही, पहले तो विश्वास ही करना पड़ता है कार्य की सिद्धि तो बाद में होती है।

परमात्मा पर विश्वास तो तभी तक करना है जब तक कि भगवान का साक्षात्कार नहीं हो जाता भगवान् का साक्षात्कार जब हो गया तब तो देह गेह विस्मरण हो जायगा फिर तो विश्वास करने की कोई बात ही नही होगी। अतः शास्त्र और गुरु (सद्गुरु) में विश्वास करना चाहिये। सद्गुरुओं के द्वारा बताये हुये मार्ग पर विश्वास करके चलोगे तभी ईश्वर मिलेगा। यदि प्रमादवश वेदशास्त्र में अविश्वास कर लिया तो भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आप यदि स्वतन्त्र होना चाहते हो तो परम स्वतन्त्र परमात्मा की आराधना करो। उपनिषद् का वाक्य है—'*साऽक्षर परमं स्वराट्*'। वह जो अक्षर-ब्रह्म है वही परम स्वतन्त्र है।

> एको देवासर्वभूतेषुगूढ़ः,
> सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
> कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः,
> साक्षीचेतो केवलो निर्गुणश्च ॥

अर्थात् एक ही परमात्मा है जो सब प्राणियों में गूढ़ अर्थात् छिपा हुआ है, जैसे तिल में तेल, दुग्ध में घृत। जब तक दुग्ध मे घृत छिपा हुआ है तब तक उससे घृत का काम नहीं ले सकते, दुग्ध में कोई पूड़ी बना कर नहीं खा सकता यद्यपि घृत उसी दुग्ध मे है। जब तक उसका मथन करके घृत बाहर न निकाल लिया जाय तब तक दुग्ध में घृत होते हुये भी वह हमारे किसी काम का नहीं। इसी तरह निर्गुण ब्रह्म भी सर्वत्र व्यापक होते हुये हमारे किसी काम का नहीं, उससे हमारा कल्याण नहीं हो सकता जब तक उसको प्रकट न कर लिया जाय। अनुभव घृत का तभी होगा जब उसका मंथन करोगे, उसी तरह परमात्मा का अनुभव भी तभी होगा जब उपासना करोगे। केवल यही सोच लेने से कि दुग्ध में तो घृत है ही घृत को प्राप्त नहीं कर सकते, भगवान् को सर्व व्यापक मान लेने भर से कोई लाभ

नहीं, उसको प्राप्त करना है तो उसका मथन करो —ध्यान करो।

सर्वभूतान्तरात्मा परमात्मा सब का अन्तरात्मा है। वह सब प्राणियों के हृदय में निवास करता है। परमात्मा का उद्घाटन हृदय में ही होता है।

कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवासः—परमात्मा समस्त भूतप्राणियों के कर्मों का अध्यक्ष है। अर्थात् वह सबके शुभाशुभ कर्मों का हिसाब रखता है। अनन्त जीव हैं उनके अनन्त कर्म हैं उन सबके कर्मों का एकाउन्ट रखना परमात्मा का ही काम है। और वह सम्पूर्ण भूत प्राणियों का आश्रय है अर्थात सभी प्राणी परमात्मा में ही वास करते हैं। परमात्मा से अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

साक्षी—वह सबके शुभाशुभ कर्मों का साक्षी है चेता भगवान् चैतन्य है तथा वह निर्गुण स्वरूप है केवलो निर्गुणश्च। निर्गुण का अर्थ है सम्पूर्ण गुणों से भरा हुआ है पर वह गुणों के अधीन नहीं है।

परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है। परन्तु विना प्रक्रिया के ज्ञान के क्या करे। जीव अल्पज्ञ है वह अपने भेद को नहीं जानता। जिस क्लास में जो पढ़ता है वह उस क्लास की बातों का पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। जब वह आगे के क्लास में जाता है तब पिछले क्लास की बातों को समझता है। आगे के क्लास में जाकर ही पिछली बातों का पता लग सकता है।

संसार तो प्रेम का पात्र है ही नहीं। प्रेम तो परमात्मा से ही करना चाहिये। संसार में ऐसी भावना रखे जैसे मदारी का रुपिया मदारी के बनाये रुपये मे सत्यता नहीं होती। यदि वह सत्य होता तो दो चार पैसे के लिये आप के सामने हाथ फैलाता। इसी तरह यह सारा जगत् मदारी के रुपये के समान ही मिथ्या है इसमें सत्यता नहीं सत्य तो परमात्मा ही है। इस लिये संसार मे न फँसकर सत वस्तु अर्थात भगवान् को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। परन्तु भगवान् को पाने के लिये पहले दीन बनो इस दीनता के साथ विश्वास भी होना चाहिये

भगवान् पर विश्वास करके निरन्तर उसकी उपासना में लगे रहो तो एक दिन भगवान् अवश्य तुम्हें अपना लेंगे परन्तु धैर्य रखकर उपासना में तत्पर रहने की आवश्यकता है ऐसा नहीं कि १०-२० दिन या दो चार महीना कुछ जप-तप किया फिर छोड़ दिया। भगवान् का भजन व्यर्थ नहीं जायगा। न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरों के पाप इकट्ठे हैं। यही हमें भगवान् के पास पहुँचने मे प्रतिबन्धक हैं भगवान् का भजन करते-करते जब बुद्धि शुद्ध हो जायगी तो परमात्मा का अनुभव होने लगेगा।

अनन्त श्री विभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती महाराज के नाम के साथ ब्रह्मलीन शब्द को लगाते हुए हृदय में गहरा आघात लगता है उनका पञ्चभौतिक शरीर इस नश्वर धरा-धाम से सदा के लिए तिरोहित होगया। उनकी कल्याणमयी पावन वाणी का प्रसाद जिन भगवद् भक्तों को प्राप्त हुआ है वे आजीवन उस दर्शनीय भव्य-मूर्ति को विस्मृत नहीं कर सकते। उनके अमृतोपम उपदेशों से धार्मिक जगत में नव स्फूर्ति और नव चेतना का सञ्चार हुआ है। इस क्षति की पूर्ति होनी तो असम्भव है। उन सत शिरोमणि के पुनीत श्रीचरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए उनके शिष्यवृन्द के प्रति हम अपनी हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं—

—सम्पादक

कर्मयोग तथा आत्म-समर्पण

(पूज्य श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती महाराज)

प्रश्न—हे स्वामिन, मुझे कर्मयोग की दीक्षा दीजिए।

उत्तर—निःस्वार्थ भाव से की गई सेवा को कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग के अभ्यास से हृदय पवित्र हो जाता है। हृदय निर्मल होने पर दिव्य ज्योति और आत्म-ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट दृष्टगोचर हो जाता है।

कर्म करते रहो, फल की आशा मत करो। कर्त्तापन का अभिमान त्यागो और उपभोक्ता बनने की अभिलाषा भी। यह अनुभव करो कि आप भगवान् के हाथों के खिलौने हैं। वे आप के द्वारा सभी कार्य सम्पादन कर रहे हैं सफलता और विफलता में समान और शान्त रहना सीखो। कर्मों के बन्धन मे कभी मत पड़ना। यह कर्मयोग का सार है।

जब आप दूसरों की सेवा करते हो तो यह विचार करो कि आप उनके अन्दर निवास करने वाले भगवान् की ही सेवा कर रहे हो। आप की आत्मा ही सब में व्यापक है। अत. दूसरों की सेवा कर आप अपनी ही सेवा कर रहे हो। भक्ति और ज्ञान का कर्म योग से समन्वय करो।

कर्म योगीके लिए इन सद्गुणों का सञ्चय अनिवार्य है। वे सद्गुण हैं, विनम्रता, आत्म-समर्पण, त्याग, शान्ति, साहस, आत्म-निर्भरता, सत्य-शीलता, विश्व प्रेम, दया, उदारता एकाग्रता और हर अवस्था मे युक्ति पूर्वक रहने की कला।

स्वार्थी, आलसी और चालाक व्यक्ति कर्म योग के अभ्यास के योग्य नहीं हैं।

कर्म योगी धीर होता है। वह अपने मार्ग के विघ्नों को साहस पूर्वक पराभूत करता है। उसके पास साहसकी विपुलता होती है, वह धीरता के साथ अपने पथकी कठिनाइयों पर विजय पाता है, निराश नहीं होता।

दानशील बनो। बीमारों की सेवा करो। गरीबों को सहायता दो। अपने देश की सेवा में तन्मय रहो। अपने माता पिता की सेवा करो। किसी समाज-सुधारक अथवा धार्मिक संस्था को अपना सहयोग दो। सद्भावना सद्विचार और सद्साहस के साथ अपने प्रत्येक कार्य करते जाओ। यन्त्रवत् किसी भी कार्य को करना लाभदायक नहीं।

अपने प्रत्येक कर्म को आध्यात्मिक कसौटी पर कसो। सद्भावना से कार्य किया जाय तो वह योग हो जाता है और परमात्मा के चरणों मे सुन्दर फूल के समान अर्पित किया जा सकता है। कर्मयोग के अभ्यास मे भाव का स्थान प्रधान है।

कर्म योग प्रत्येक प्रकार के मानसिक विक्षेपों को दूर हटाता है। भेद भाव और वैमनस्य का पराभूत कर, कर्म योग का अभ्यास, व्यक्ति और समाज को एकता और समानता की ओर प्रेरित करता है। कर्मयोग से आलस्य और जड़ता का निराकरण होता है। कर्म योग से स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन की प्राप्ति भी होती है।

हे मोक्षप्रिय, अपने को कर्मयोग के अभ्यास में संलग्न कर दो।

कर्म योग की महिमा अपार है, क्योंकि यह मनुष्य को दिव्यचारित्री और अद्वैत निष्ठा सम्पन्न बना देता है।

प्रश्न—हे योगीराज, अब मुझे यह बतलाइये कि आत्मसमर्पण और भगवत्कृपा का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है?

उत्तर:—प्रिय वत्स, आत्म समर्पण को ईश्वर-प्रणिधान भी कहते हैं। इसका अर्थ है कि भक्त अपने कार्य और उनके फलों को पूर्णतया परमात्मा के अर्पण कर देता है।

उसकी अपनी व्यक्तिगत कामनाएँ नहीं रहती। उसके उद्‌गार तो यह है ।"मैं आपका, सभी आपके हैं। आपकी इच्छा ही महान है आपका न्याय ही महान है। आप ही मेरे द्वारा सब कुछ लीला कर रहे हो। मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ।"

इस प्रकार भक्त जब अपनी कामनाओं को परमात्मा के अर्पण कर चुकता है, तो उसके सकल्प दिव्य-संकल्प बन जाते हैं। वह भगवत्सायुज्य प्राप्त कर लेता है। अपनी व्यक्तिगत सत्ता परमात्मा के अपण करने मे, कहो, क्या हानि है ?

आत्म निवेदन और प्रापत्ति भी इसके पर्याय हैं। भक्ति का यही चरम विकास है। वृन्दावन की गोपियाँ राधा और राजवशीय मीरा ने अपना सब कुछ भगवान् कृष्ण के चरणों पर सौंप दिया था। वे ही उनके सब कुछ थे, धन, जन और जीवन।

कठोपनिषद् में कहा है, "जो अपने को पूर्ण समर्पण कर चुका है, उसीको भगवान चुनते हैं, उसीके सामने प्रकट होते हैं और उसीको परम ज्ञान का उपदेश देते हैं।"

आत्म समर्पण की मात्रा होती है। यदि आत्म समर्पण पूर्ण हुआ तो भगवत्कृपा भी आपको पूर्ण मात्रा में प्राप्त होगी। भगवत्कृपा की प्राप्ति सर्वथा और सर्वदा आत्म समर्पण की मात्रा पर निर्भर रहा करती है।

इस मार्ग में दो विघ्न हैं। वे हैं अहंकार और इच्छायें। ये शत्रु लुक छिप कर आक्रमण करते हैं; अनेकों वेष धारण कर भक्तों को सन्तप्त करते रहते हैं।

अतः वत्स सावधान रहना चाहिये। चारों ओर नजर फेरते रहो कि कहीं ये दुशमन किसी रूप में आकर तुमको ठग न लें। जब अवसर मिले, बिना किसी विचार के इन दोनों वैरियों को सदा के लिये दबा दो। तभी तुम सुरक्षित रह पाओगे।

भगवान की कृपा चाहिये, तभी साधना में बल का आविर्भाव होता है। गुरु कृपा भी भगवत्कृपा ही जानो। भगवान् की कृपा के बल पर ही अनेकों बाधाओं का निराकरण होता है। तुम आध्यात्मिक पथ अपना चुके, यह भी भगवान् की ही कृपा जानो। आप साधनामें काफी उन्नति कर चुके हैं,यह भी भगवान् की कृपा का प्रसाद है। जब आपके दिव्य-चक्षु खुल जायें तो यह समझना कि अपनी साधना के बल से ही यह सम्भव नहीं हुआ—यह तो भगवत्कृपा ही है। जिस दिन परमात्मा की कृपा से उनके दर्शन होंगे, वह भी उनकी कृपा का उदाहरण रहेगा।

ससारी व्यक्ति आसक्ति के बिना कोई कार्य नहीं करते। वे अपने को कर्मफल का उपभोक्ता समझ लेते हैं। यदि वे किसी व्यक्ति को एक गिलास जल भी देते हैं, तो बदले में कुछ न कुछ आशा करते हैं, धन्यवाद की आशा है उसमें, प्रशसा और अहसान की भी।

यदि आप कर्मफल की आशा को तिलांजलि दे चुके है, यदि आप सदा संतुष्ट रहते हैं, यदि आप अपने कर्मों को भगवान् के अर्पण कर रहे हैं तो निश्चयतः आप कर्म बन्धन से अलग रह पायेंगे। कोई भी कर्म आप को बांध नहीं सकते! कर्म करते रहने पर भी आप कर्मों के विपाक से विरक्त रहेंगे।

आशाओं पर विजय पाओ! मन पर विजय पाओ और इन्द्रियों पर अपना स्वामित्व स्थापित करो! इस प्रकार कर्म करने पर भी आप-अनासक्त बने रह सकते हो!

सुख का साधन

(पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

कुम्भकार पात्र को सुन्दर और उपयोगी बनाने के लिये ही ऊपर से थापी मारता है। परन्तु उसके अन्तर में अपना दूसरा दयापूर्ण हाथ कोमलता से लगाये रहता है। ऊपर की थापी बन्द करने पर भीतर का हाथ नहीं हटता। जब ऊपर से विशेष थापी लगती है तो उस समय आन्तरिक हाथ विशेष रूप से सचेत और सावधान होजाता है। घट बनाते समय केवल ऊपर से धड़ाधड़ चलती हुई थापी ही दिखाई पड़ती है भीतरी हाथ दृष्टिगोचर नहीं होता। ठीक यही बात हमारे विषय में घटित होती है। परम पिता परमात्मा का कृपामय वरद्हस्त सदैव हमारी अप्रत्यक्ष रूप से रक्षा करता है परन्तु सूक्ष्म बुद्धि न होने के कारण हम उसका अनुभव नहीं करपाते। हाँ उनका थापी वाला हाथ जो हमारी उन्नति के लिये दुःख रूप ऊपर से पड़ता है वही दृष्टिगोचर होता है। जैसे कुम्भकार सदैव यही चाहता है कि हमारा घड़ा बहुत सुन्दर और पूर्ण बने इसी प्रकार परमेश्वर भी अपने अंश जीव को पूर्ण और सुखी बनाना चाहता है, समस्त प्राणियों में मानव पर करुणाकर की विशेष करुणा है। इतर देहधारियों की अपेक्षा मानव देहधारी जीव के लिये भगवान् ने विशेष सुख सामग्री प्रदान की हैं। भगवान् स्वयं रामायण में अपने मुख से कहते हैं कि मनुष्य हमें सबसे अधिक प्रिय हैं—

सब मम प्रिय सब मम उपजाये।
सबसे अधिक मनुज मोहि भाये॥

चराचर जगत् में सबसे अधिक भगवान् को मनुष्य ही प्यारा है, मनुष्य का शरीर बनाने में भगवान् ने पूर्ण कुशलता का प्रदर्शन किया। नाक, कान, नेत्र, दाँत आदि इतने उपयोगी बनाये कि मनुष्य इन्हें प्राप्त कर कृतकृत्य हो गया। ईश्वर दत्त वस्तुओं में से कोई भी वस्तु न्यून हो जाय तो इस क्षति की पूर्ति करने मे कोई भी समर्थ नहीं हो सकता, रक्त की एक बूँद भी तो कोई नहीं बना सकता। सुन्दर-सुन्दर फल, फूल, स्वच्छ वायु, शीतल स्वादिष्ट जल तथा इतर प्राकृतिक सौन्दर्य सब अपने प्यारे पुत्र मानव के आनन्द देने के लिये ही निर्माण किये हैं। इतनी सब सुख सामग्री देकर भी मानव को फिर भगवान् दुःख क्यों दिया करते हैं?

वास्तव में मानव की उन्नति के लिये ही भगवान् दुःख रूपी थापी लगाया करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब जब मनुष्य पर भगवान् ने संकट डाले तब तब वह उस संकटाग्नि में तपकर निखर उठा। वह दुःख ही मानव के लिये भगवान् का गूढ़तम संदेश लाता है। अतः वह दुःख भगवान की कृपा का बहुमूल्य प्रसाद है। सच्चा सुख दुःख की मञ्जूषा में बन्द करके भगवान् भक्त के पास भेजा करते हैं। विभीषण को प्रथम चरण का आघात मिला तदुपरान्त राज्याभिषेक प्राप्त हुआ। विभीषण ने रावण से उपकार की भावना से कहा था कि—

नाथ राम नहि नर भूपाला।
भुवनेश्वर कालहु कर काला॥

परन्तु रावण क्रोधित होकर कहता है—

मम उर बसि तपसिन सन प्रीती।
शठ मिलिजाहु तिनहि कहु नीती॥
अस कहि कीन्हेसि चरण प्रहारा।

भरी सभा में इतना बड़ा अपमान! इससे अधिक राजभ्राता को और क्या दुःख होगा. परन्तु

विभीषण तो जानता था कि दुःख का आगमन आगामी सुख की सूचना है। वह भगवान् की शरण में जाता है। परमकृपालु भक्तवत्सल भगवान् कहते हैं कि—

जदपि सखा तव इच्छा नाहीं।
मम दरसन अमोघ जग माहीं॥

फिर क्या किया ?

अस कहि राम तिलक तेहि सारा।
सुमन वृष्टि नभ भई अपारा॥

धन्य है वह प्यारा दुःख जिसके कारण परम प्रभु की प्राप्ति हुई, जितने भी उदाहरण मिलते हैं उनमें यही मिलता है कि दुःख पाकर ही सुख की उपलब्धि हुई। परन्तु आज हम दुःख झेलना तो चाहते नहीं और सुख के लिये लालायित हैं। यह हमारी विपरीत धारणा है।

विचार करिये कि पहले सवाल हल किये जाते हैं कि पहले सार्टीफिकेट प्राप्त होता है ? हमारी समझ में तो कोई ऐसा कालेज नहीं कि डिप्लोमा प्रथम ही दे दिया जाता हो और पढ़ाई बाद में होती हो। परन्तु आज कल तो सभी यह चाहते है कि डिप्लोमा (आनन्द पद) पहले प्राप्त हो जाय भजन साधन कुछ करना न पड़े यह बाद में करते रहेंगे।

यदि अनन्त सुख की प्राप्ति करना चाहते हो तो अनन्त दुःख को गले से लगालो, जितनी मात्रा में दुख भोगोगे उतनी ही मात्रा में सुख मिलता जावेगा, यदि पहले दुख झेल गये तो फिर आनन्द ही आनन्द है। विभीषण ने पहले दुख एक बार ही सहा और सुख अनन्त मिला, ताम्रध्वज ने पहले एक बार अपने ऊपर आरा चलवाया और उसके फलस्वरूप आनन्द प्राप्त हुआ अनन्त। पाँच वर्षीय बालक ध्रुव को गोदी से एक बार ही उतारा गया पर पाया चिरशान्तिदायिनी गोद सदैव के लिये। हरिश्चन्द्र एक बार ही भंगी के घर बिके पर उनकी कीर्ति यावचन्द्र दिवाकर यावत् दिग्दिगन्त में फहराती रहेगी।

इस प्रकार यदि जीवन में दुख सह लिया अर्थात् इन्द्रियों के सुखों को त्याग दिया तो सदैव के लिये अक्षय सुख की प्राप्ति होगी। इन क्षणिक सुखों को न त्यागने से ही जन्ममरण के असह्य दुःख बारम्बार सहने पड़ते हैं। जो मन इन्द्रियों के सुखों को ही भोगना चाहता है उसे अनेक प्रकार की योनियों में दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है।

छन सुख लागि जनम सत कोटी।
दुख न समुझहि तेहि सम को खोटी॥

क्षणिक सुख के लिये करोड़ों जन्मों के दुःख का जो ध्यान नहीं रखता उसके समान कौन कुबुद्धि है।

विचार पूर्वक देखें तो मालूम होगा कि इन्द्रियों का सुख कितना है। स्वाद के ही सुख को देखिये २४ घण्टे में कितनी देरतक सुख मिलेगा • जब तक भोजन करोगे। वह भी यदि अनुकूल हुआ तो। जब तक जीभ पर मलाई रही तब तक आनन्द और उसी घाँटी के नीचे, वही माटी। एक स्वादेन्द्रिय में आसक्ति हो जाने पर तो १९८००० योनियों के दुःख भोगो। इन्द्रियों के सुख भी प्रतिक्षण तो भोगते नहीं रह सकते फिर भी अधिक से अधिक जितना सुख मिलेगा इससे कहीं अधिक दुख ८४ लाख योनियों में भोगना पड़ेगा। इस प्रकार ऐन्द्रिक सुख अल्प है और उसका परिणाम दुःख अत्यधिक है। तो मानव जीवन का क्या यही लाभ है ? कि स्वल्प इन्द्रिय जन्य सुख भोगकर दुःख के समूह को बटोर लेना। क्या देव-दुर्लभ देह की यही उपयोगिता है ? करुणाकर की अहैतुक करुणा का यही प्रतिफल है ? इस सुख के लिए तो भगवान् ने ८३९९९९ योनियाँ सुरक्षित रख छोड़ी हैं, मानव योनि तो इस सुख के त्याग के लिये ही मिली है। यदि इस मानव देह को पाकर भी इन्द्रिय सुख को त्याग आत्म साक्षात्कार नहीं किया तो आत्महत्या का दोष लगेगा।

थोड़ा सा कष्ट सह लो विषय सुखों को छोड़ दो फिर देखो आनन्द ही आनन्द है। यह निश्चय करलो कि इन्द्रियों का सुख सुख नहीं अगाध दुःख है। पर यह निश्चय भी संयम से ही होगा, मन इन्द्रियाँ तो बड़ी दुष्ट हैं इन्हें अपने अनुकूल भोग न मिलें फिर देखो बड़ा उपद्रव खड़ा कर देती है। यह नहीं सोचना चाहिये कि एक बार भोग का सुख ले लें फिर नहीं लेंगे। क्योंकि यह इन्द्रियाँ तो कुत्ते के समान है जरा भी इन्हें सुख मिला कि वहीं दौड़ेंगी। कुत्ते को जहाँ रोटी मिलती है वहीं रोज रोज दौड़ कर जाता है चाहें वहाँ उस पर डंडे ही पड़ें। इसी प्रकार इन इन्द्रियों को एक बार चस्का दे दिया तो बार बार वहीं दौड़ेगी। अतः इन पर कड़ी दृष्टि रक्खो। यही अपने सबसे बड़े शत्रु हैं। इनको वश में करने का दुख सहन कर लिया तो अक्षय सुख की प्राप्ति हो जायगी। जिसे भगवान् इन्द्रिय सुख नहीं देते वह बड़ा भाग्यवान है क्योंकि वह उस इन्द्रियसुख का भोग न करने के कारण महादुखों से बचता रहता है। अतः जब दुःख आवे तो उसको बड़े प्यार और प्रेम से स्वीकार करो।

दुख आये तो दुःख को सुख जैसा पुचकार।
का जाने इस दुःख में छिप आया हो यार॥

इस प्रकार दुःख को अपनाओ, सुख के पीछे मत दौड़ो, जो स्वयं सुख प्राप्त होगा वही सच्चा सुख है। इन क्षणिक सुखों में तो दुख ही दुख भरा है।

भैय्या! इन पिशाचिनी इन्द्रियों के चक्कर से सदैव सावधान रहो यह बड़ी भयंकर रूप वाली हैं, इनकी थोड़ी बात मानी कि यह दबोच लेंगी इन्हें तो जैसे बने अपने अधिकार में रक्खो, अनेक योनियों में यह तुम्हारी नाक में नकेल डालकर तुम्हें नचाती रहीं अब मानव योनि में तुम्हारी बारी है अब तुम इनके नाक में नकेल डालो और इन्हें ऐसा ठीक बनाओ कि यह सदा के लिये तुम्हारे आधीन हो जायें। इसके लिये यही साधन है कि इन सबको भगवान् के चरणोंमें लगा दो वहाँ इनकी सब हेकड़ी भूल जायगी। नेत्रेन्द्रिय से कहो तुम भगवान् के सुन्दरतम रूप को देखो, कानों से भगवान के नाम और गुण तथा संतों के उपदेश सुनो, नाक से भगवान् पर चढ़ी पुष्प माला और तुलसी मञ्जरी की सुगन्धि लो, त्वचा से सब भक्तों के चरण स्पर्श और आलिङ्गन करो। इस प्रकार इन्द्रियों को अपनी इच्छानुकूल चलाओ, परन्तु इसमें बड़ी सावधानी की आवश्यकता है इन्द्रियाँ अपने अनुकूल तुम्हें चलाने लगती हैं और तुम्हें मालूम भी नहीं होता तुम समझते हो कि हम इन्द्रियों को अपने आधीन किये हैं किन्तु वह तुम्हें खींचकर गर्त में ले जाती हैं, उसके लिये संत की शरण में जाना चाहिये उनकी कृपा से बुद्धि प्राप्त होगी जिस बुद्धि से तुम अपनी इन्द्रियों की मक्कारी समझ सकोगे और उस मक्कारी के चक्कर से बचकर उन्हें अपने आधीन रख सकोगे।

सुन्दर यौं पछिताइ कहैगो

तू कछु और विचारत है नर तेरो विचार धर्यौ ही रहैगो।
कोटि उपाय करै धन के हित भाग लिखो तितनो ही लहैगो॥
भोर कि साँझ घरी पल मांझ सुकाल अचानक आइ गहैगो।
राम भज्यौ न कियौ कछु सुकृत 'सुन्दर' यौं पछिताइ कहैगो॥

संतोष ही परम धन है

(पं० मदनमोहन जी, शास्त्री)

नहि धन है सतोष सम, ऐसहिं कहैं प्रवीन।
विनु संतोष कुबेरहुँ, दारिद दीन मलीन ।।

कुबेर के समान धनी ऐश्वर्यवान् पुरुष भी बिन सतोष के दीन दरिद्री और मलिन स्वभाव वाला ही रहता है संतोष ही एक मात्र ऐहिक और पारलौकिक सर्व सुखों का देने वाला है।

पूज्य गोस्वामी जी मानस मे लिखते हैं।

बिन सतोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुं नाहीं ।।

सांसारिक वासनाओं का जब तक तारतम्य नहीं छुटता तब तक मनुष्य उन्हीं में पच पच कर मरता रहता है जिस वस्तु को प्राप्त करके कुछ समय तक सुख मानता है उसके प्रयोग होते ही रोने लगता है संतोप प्राप्त होने पर वासनायें वढती नहीं, सब कुछ दैवी विधान से हो रहा है और जो कुछ होरहा है वह उसी का खेल है। ऐसा विश्वास हो जाता है। फिर किसी वस्तु के मिलने या न मिलने पर हर्ष या शोक नहीं होता पर यह संतोष कैसे प्राप्त हो संत महात्माओं अनुभवी परुषोंने विचार कर देखा, अनुभव की बात है देहाभ्यास को मिटाना होगा मैं चैतन्य' निर्विकार और आनन्द स्वरूप हूँ और हृदय स्थित भगवान् का अंश हूँ और सब कुछ उन्हीं भगवान् की इच्छा एवं नियम से हो रहा है इस जड़ शरीर मन बुद्धि के किये हुए विना उनकी इच्छा के कुछ भी नहीं हो सकता। शरीर के साथ ही प्रारब्ध निश्चित कर दिया जाता है उससे तिल भर घट बढ़ नहीं सकता अत: दिन रात सांसारिक उधेड़ बुन में लगा रहना ठीक नहीं— विचार द्वारा स्वाध्याय द्वारा ग्रन्थ और शास्त्रों द्वारा संतोष प्राप्त का अभ्यास कर लेना चाहिये। और धारण कर लेना चाहिये।

कबीर दास जी कहते हैं—

कबिरा क्यों मैं चिंतऊँ मम चिन्ते का होय,
मेरी चिता हरि करैं चिन्ता मोय न होय ।।

गोस्वामी तुलसी दास भी लिखते है।

प्रारब्ध पहले रचो पाछे रचो शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करें भजले श्री रघुवीर ।।

ज्ञानी मुनि वशिष्ठ जी भी रामजी को उपदेश करते हुए कहते हैं जिस पुरुष को संतोप प्राप्त हुआ है वह त्रिलोकी के ऐश्वर्य को भी तृष्णा की नाई तुच्छ जनता है।

जैसे क्षीर समुद्र उज्वलता से शोभायमान हैं वैसे ही संतोप वान की कीर्ति सुशोभित होती है। रामजी त्रिलोकी के राजा की भी इच्छा निवृतिन हुई तो वह दरिद्री है और जो निर्धन संतोपवान है वह सब का ईश्वर है संतोप उसी का नाम है जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करे और प्रत्येक वस्तु तथा इष्ट अनिष्ट में राग द्वेष न करें जो संतोप रहित है उसके इच्छा रुपी वन में सदा दुख और चिन्ता रुपी फूल फल उत्पन्न होंते है संतोष वन सदा शान्त रुप और निर्भीक रहता है। जैसे मेघ पवन के आने से नष्ट हो जाता है वैसे ही संतोप के आने से इच्छा नष्ट हो जाती है।

जब सतोष करोगे तब परम शोभा पाओगे, तब सब कार्य नाटक के पात्रों की तरह अनासक्त रहते हुए होगा, जैसे खजाने का खजान्ची दिन भर रुपया लेता देता रहता है पर उसमें उसकी आसक्ति नहीं रहती। यदि हजार रुपया आजावें तो कोई राग नहीं, और कुछ भी न आवे या दस हजार खजाने से जावे तो द्वेष नहीं। इस प्रकार कार्य उस मनुष्य का है। यह सब सृष्टि भगवान की है उन्ही की माया द्वारा नियम से चलती है—उसमें अपनत्व ममत्व कर लेने से ही सुखी दुखी होना पड़ता है। उस रोग की औषधि संतोष ही है जिस तरह से भी हो संतोष प्राप्त करना चाहिये।

मुक्ति का साधन ज्ञान है अथवा भक्ति ?

(पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

मुक्ति का शाब्दिक अर्थ है "छूट जाना" और भावार्थ है "सांसारिक दु.खों से निवृत्ति"। यह मुक्ति मनुष्य के जीवन काल में ही होती है। जो लोग मृत्यु के पश्चात् मुक्ति की आशा करते हैं उनकी धारणा सार हीन एवं व्यर्थ है। किसी सन्त ने कहा है:—

जीवन मुक्ती सोई मुक्ती मरे न मुक्ती होय।
मरे मुक्ति की आश लगावे, पछितावे सब कोय ॥

अतः सिद्ध हुआ कि मुक्ति जीवन काल की वस्तु है न कि मृत्यु काल की। मुक्ति का आशय दुखों से छूट जाने का है। यूं तो दु.खों की संख्या अपार है किन्तु महापुरुषों ने दु.खों के तीन विभाग किये हैं जिनमें सारे दुःख सम्मिलित हो जाते हैं। वे हैं आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक। अथवा दैहिक, दैविक, भौतिक। इन तीन प्रकार के दुःखों से छूट जाने का नाम ही मुक्ति है।

यहाँ यह भी जानना आवश्यक है कि जब तक शरीर है तब तक तीनों प्रकार के दुःख आते ही रहेंगे जब दुखों का आना निश्चय ही है तो उनसे निवृत्ति कैसे हो सकती है ? दुःख और शरीर इन दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। यहाँ दुःखों की निवृत्ति का भाव यह निकलता है कि मनुष्य के ऊपर चाहे जितनी आपत्तियाँ आवें किन्तु उसे उनमें दुखी नहीं होना चाहिये। और सुख आने पर अधिक फूलना नहीं चाहिये। अर्थात् सुख तथा दुख दोनों ही अवस्थाओं में मनुष्य को समान रहना चाहिये। उसके मन पर उनका कोई प्रभाव न पड़े यही मुक्ति का लक्षण है।

जिस समय भगवान श्री रामचन्द्र का राज्याभिषेक होने जा रहा था उस समय उनको कोई विशेष प्रसन्नता नहीं थी। उस समय राम स्वयं कहते हैं कि:—

उपजे एक संग सब भाई, भोजन शयन केलि लरिकाई।
करन वेद उपवीत विवाहा, संग-सग सब भये उछाहा ॥

विमल वंश यह अनुचित एकू।
अनुज विहाय बडेइ अभिषेकू ॥

तथा जिस समय कैकेई ने १४ वर्ष का बनवास दिया उस समय उनके मन पर दुख का किञ्चिन्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। गोस्वामी जी कहते हैं कि:—

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू।
राम सहज आनन्द निधानू ॥

श्रीराम जीवन्मुक्त ही थे।

मुक्ति का स्वरूप समझने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि यह मुक्ति ज्ञान से प्राप्त होती है अथवा भक्ति से।

पूज्यपाद गोस्वामी जी कहते हैं कि:—

ज्ञानिहि भक्तहि नहि कछु भेदा।
उभय हरहिं भव सभव खेदा ॥

ऐसा कहकर गोस्वामी जी ने दोनों को एक ही कोटि में रक्खा हैं किन्तु जब हम शास्त्रों का अवलोकन करते हैं तो हमें कहीं ज्ञान की महिमा और कहीं भक्तिकी अधिक प्रशंसा देखने को मिलती है। कहीं ज्ञान को अधिक श्रेष्ठ माना है तो कहीं भक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। जो लोग ज्ञान का अनुसरण करने वाले हैं वे ज्ञान को ही मुक्ति का परम साधन मानते हैं और जो भक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी हैं वे भक्ति को ही मोक्ष का कारण मानते

हैं। इस प्रकार शास्त्र दोनों का महत्त्व देते हैं।

गीता में भगवान् कहते हैं कि:—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

अर्थात् ज्ञान के समान इस संसार में कोई भी वस्तु कल्याणप्रद तथ श्रेयस्कर नहीं हैं।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति

अर्थात् ज्ञान को प्राप्त कर मनुष्य शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

"*ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्*" भगवान् ज्ञानी को साक्षात् अपनी आत्मा अर्थात् अपना रूप मानते हैं। इससे अधिक महत्व और प्रशंसा किसी वस्तु की क्या हो सकती है।

रामायण मे पूज्यपाद गोस्वामी जी भक्ति को ज्ञान से अधिक श्रेष्ठ बतलाते हैं—

विरति चरम असि ज्ञान मद, लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइय सोइ हरि भगति, देखु खगेस विचारि॥

गरुड़ को महाज्ञानी कहा जाता है किन्तु उनका मोह भी काकभुसुण्डि के आश्रम में भगवान् की कथा भक्ति सुनने से ही दूर हुआ।

वचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहि निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम॥

भाव यह है कि भक्त के हृदय में भगवान् सर्वदा निवास करते हैं। शवरी तथा जटायु को भक्ति से ही परमपद की प्राप्ति हुई। परमपद मोक्ष का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार शास्त्र दोनों ही बातों को श्रेष्ठ बताकर उनकी ओर आकर्षित करते हैं। एक ओर "*ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः*" कहकर ज्ञान को ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन बताते हैं तो दूसरी ओर—

"मोक्ष कारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी"

बताकर भक्ति का गौरव बढ़ाते हैं। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि सर्व साधारण कौन से पथ को अपनावे जिससे वह अपना कल्याण कर सके?

सबसे प्रथम यह जानना आवश्यक है कि कौन मनुष्य किस वस्तु का अधिकारी है उसे वही वस्तु ग्रहण करनी चाहिये। उसी मे उसका कल्याण है।

प्रारम्भ मे कहा जा चुका है कि भक्ति और ज्ञान में फलत: कोई अन्तर नहीं है जैसा कि गोस्वामी जी कहते हैं कि:—

ज्ञानिहि भक्तहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव सम्भव खेदा॥

दोनों ही दुखों की निवृत्ति में पूर्ण समर्थ हैं। और दुख की निवृत्ति ही मुक्ति अथवा मोक्ष है। जब दोनों का लक्ष्य एक ही है तो फिर अन्तर कैसा अन्तर तो केवल कठिनता और सरलता का है। ज्ञान-मार्ग कठिन है और भक्ति-मार्ग सरल। जो आनन्द उद्धव को ज्ञानी बनने पर मिला था वही आनन्द गोपिकाओं को कृष्ण-प्रेम में लवलीन होने पर मिलता था। जो आनन्द शुकदेव मुनि को ज्ञान से प्राप्त था, वही आनन्द नारद मुनि अपनी वीणा पर हरि-भजन गा कर ले लेते थे। इसका अभिप्राय यह है कि दोनों ही अपने-अपने मे परिपूर्ण हैं। दोनों का एक दूसरे से अभेद है, भक्त का जो प्रियतम भगवान् के रूप मे आता है वही प्रियतम ज्ञानी के लिये आत्मा रूप से प्राप्त होता है। भक्ति का अर्थ है भगवान से मिल जाना। बहुधा लोग भक्ति का अर्थ केवल माला जपना ही लगाते हैं यह उनकी भूल है। माला जपना तो भक्ति का एक अंगमात्र है एक साधन है। किसी भी साधन से भगवान् मे मिल जाना ही भक्ति है, चाहे वह माला जपना हो या भजन-कीर्तन करना हो। भक्ति और ज्ञान दोनों ही एक दूसरे से विकास पाते हैं। ज्ञान रहित भक्ति और भक्ति रहित ज्ञान पूर्ण शोभा नहीं देते। दोनों एक दूसरे

की शोभा बढ़ाते हैं। जब ज्ञान में भक्ति का पुट दे दिया जाता है तो नीरस प्रतीत होने वाला ज्ञान सरस बन जाता है और जब भक्ति में ज्ञान मिल जाता है तो उसमे दुगुनी शक्ति होजाती है। शास्त्रों मे ज्ञान को भक्ति की सन्तान कहा गया है अर्थात् जिस प्रकार सन्तान के विना माता की शोभा नहीं है इसी प्रकार ज्ञान के विना भक्ति की शोभा नहीं होती। अतः दोनों का होना परमावश्यक है।

भक्ति और ज्ञान, ये दो प्रकार के बीज हैं इन दोनों की उत्पत्ति के लिए अलग अलग भूमि की आवश्यकता है। अतः अधिकारी की पहचान करनी पड़ती है। जो जिसका अधिकारी है उसे उसी वस्तु का अभ्यास करांना चाहिए। रुई की पैदावार के लिए काली मिट्टी अधिक उपयुक्त है और खरबूजे तथा तरबूज अधिकतर नदी के किनारे की रेतीली भूमि में ही सुन्दर होते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति मस्तिष्क प्रधान होते हैं उनके लिये ज्ञान अधिक उपयोगी है। और जो लोग हृदय-प्रधान है उनके लिये भक्ति-मार्ग अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। प्राय' मनुष्य-मस्तिष्क प्रधान होते हैं अतः वे ज्ञान के अधिकारी हैं और मातायें अधिकाश मे हृदय प्रधान होती हैं इसी कारण उनमे भक्ति,श्रद्धा, तथा विश्वास आदि शीघ्र ही उत्पन्न होजाते हैं।

मस्तिष्क और हृदय, इन दोनों मे हृदय ही अधिक श्रेष्ठ है। यदि किसी का मस्तिष्क खराब हो जावे तो उसकी औषधि की जा सकती है किन्तु जिसके हृदय की गति बन्द होजातो है उसे ठीक करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव सा हो जाता है। मनुष्य के लिए मस्तिष्क और हृदय दोनों ही पूर्ण उपयोगी हैं इसी प्रकार भक्ति और ज्ञान दोनों से ही मनुष्य पूर्ण आनन्द का अनुभव कर सकता है। यदि दोनों में से किसी एक की कमी है तो उसका मार्ग कठिन हो जावेगा।

प्रायः लोग ज्ञानी बनने का ढोंग करके ब्रह्मज्ञान की बातें करते हैं और 'अहं ब्रह्मास्मि" का उपदेश किया करते हैं किन्तु जब उनके ऊपर कोई आपत्ति या दुख आता है तो उनका सारा ज्ञान भाग जाता है। सच्चा ज्ञान वही है जिससे सुख दुख दोनो का अपने मन के ऊपर कोई प्रभाव न पड़े। जो लोग भक्ति का आश्रय लेते हैं वे दुख आने पर प्रायः भगवान् की याद करते हैं और सुख आने पर भगवान् की कृपा का सम्पादन करते हैं अतः उन्हें मुक्ति-मार्ग सरल हो जाता है। इसीलिये ज्ञान के साथ भक्ति का होना आवश्यक है। भक्ति के होने से मनुष्य का हृदय कोमल, निर्मल तथा स्वच्छ हो जाता है। उसके हृदय की सारी कालिमा भगवान के सामने आँसुओं के रूप मे निकल जाती है तथा अन्त करण शुद्ध होजाता है। और शुद्ध अन्त.करण वाला ही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी है।

यद्यपि मोक्ष प्राप्ति के साधन ज्ञान और भक्ति दोनों ही हैं किन्तु ज्ञान मार्ग कठिन और भक्ति मार्ग सरल है। और यदि ज्ञान तथा भक्ति दोनों ही साथ-साथ हों तो मुक्ति मार्ग और ही सरल हो जाता है। केवल ज्ञान अथवा केवल भक्ति होने से मनुष्य के जीवन में पूर्ण सरसता नहीं आ पाती। अतः हमें दोनों का समन्वय करके ही उनका अनुसरण करना चाहिये। यही सरलतम साधन है।

आचरणीय तीन बातें

) कञ्चन कामिनी और कीर्ति, परमार्थ पथ की गहरी खाईं हैं, इन्हें पार करो।

:) प्रत्येक कार्य की सूक्ष्म तह में देखो कि यह कार्य परमार्थ पूर्ण हो रहा है या स्वार्थ पूर्ण।

:) चार समय में विचार विशेष शुद्ध रखने चाहिये, भोजन समय, सोते समय, उठते समय, ध्यान के समय।

गोविन्दं भज मूढ़मते !

(श्री प० दीनानाथ भार्गव दिनेश सम्पादक मानव धर्म)

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्द भज मूढमते !

निशि दिन शाम सवेरा आता,
फेरा शिशिर वसन्त लगाता।
काल खेल में जाता जीवन,
छुटता, किन्तु न आशा-बन्धन ।। भज०

जब तक कमा कमा धन धरता,
प्रेम कुटुम्ब तभी तक करता।
जब होगा तन बूढ़ा जर्जर,
कोई बात न पूछेगा घर ।। भज०

जटा बढ़ाई, मूंड मुड़ाये,
नोचे बाल, वस्त्र रंगवाये।
सब कुछ देख न देख सका जन,
करता शोक पेट के कारण ।। भज०

पढ़ी तनिक भी भगवत् गीता,
एक बूंद गंगा-जल पीता।
प्रेम सहित हरि पूजन करता,
यम उसकी चर्चा से डरता ।। भज०

सारे अंग शिथिल सिर मुंडा,
टूटे दांत हुआ मुख तुंडा।
वृद्ध हुए तब दण्ड उठाया,
किन्तु न छूटी आशा माया ।। भज०

फिर फिर जन्म मरण है होता,
मातृ उदर में फिर फिर सोता।
दुस्तर भारी संसृति सागर
करो मुरारे पार कृपा कर ।। भज०

बालकपन हँस खेल गवांया,
यौवन तरुणी संग बिताया।
वृद्ध हुआ चिन्ता ने घेरा,
पार ब्रह्म में ध्यान न तेरा ।। भज०

नारि नाभि कुच में रम जाना,
मिथ्या माया मोह जगाना।
मैल मांस विकार भरा घर,
बारम्बार विचार अरे नर ।। भज०

तू मैं कौन कहाँ से आये,
कौन पिता मा किसने जाये।
इनको नित्य विचार अरे नर,
जग-प्रपंच तज स्वप्न समझ कर ।। भज०

गीता-ज्ञान विचार निरन्तर,
सहज नाम रूप हरि में मन धर।
सत्संगति में बैठ ध्यान दे,
दीन जनों को द्रव्य दान दे ।। भज०

जब तक रहते प्राण देह में,
तब तक पूंछे कुशल गेह में।
तन से सांस निकल जब जाते,
पत्नी पुत्र सभी भय खाते ।। भज०

भोग विलास किये सब सुख से,
फिर तन होता रोगी दुख से।
मरना निश्चित जग में जन को,
किन्तु न तजता पाप चलन को ।। भज०

चिथड़ों की गुदड़ी वनवाली,
पुण्य-पाप से राह निराली।
नित्य नहीं मैं तू जग सारा,
फिर क्यों करता शोक पसारा ।। भज०

क्या गंगा सागर का जाना,
धर्म दान व्रत नियम निभाना।
ज्ञान बिना चाहे कुछ भी कर
सौ-सौ जन्म न मुक्ति मिले नर ।।

भज गोविन्दं भजगोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते।

शान्ति और उसका साधन

(श्री कृष्णदेव नारायण एम० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट)

जीव संसार में शान्ति चाहता है शान्ति की खोज मे ही उसे सुख व आनन्दकी अनुभूति होती है किन्तु वह शान्ति की खोज को छोड़ सुख की खोज मे ही भटकने लगता है। इन सब अनुसधानों का माध्यम शरीर है और शरीर मे इन्द्रिय व मन प्रधान है। उसका स्थूल रूप यही है, इस कारण जीव को प्रथम इस खोज मे इन्द्रिय सुख का ही अनुभव होता है। सुख की तीन श्रेणियाँ हैं, शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक। मनुष्य योनि मे ही इन तीनों सुखों का अनुभव संभव है। इससे इतर योनियों मे नहीं। विद्वानों तथा श्रुति और शास्त्रों ने प्रथम दो प्रकार के सुखों के त्याग का उपदेश किया है। इन्द्रियों के सुख तथा भोग को तो दु.ख का कारण ही बताया है "येहि संस्पर्शजा भोगा दुख योनय एवते" इत्यादि आत्मिक सुख मिलने पर ही शान्ति की अनुभूति होती है और शाश्वत शान्ति प्राप्त करने के लिये इस सुख तथा आनन्द का भी त्याग आवश्यक है। इस शान्ति को प्राप्त करके ही जीव अपने परम लक्ष्य को प्राप्त होता है।

इस परिवर्तनशील और अशान्त ससार में क्या इस प्रकार की शान्ति का प्राप्त होना सभव है? भौतिक दृष्टि मे यह असम्भव तथा कोरी कल्पना सी ज्ञात होती है परन्तु धैर्य पूर्वक विचार करने से यह विदित होगा कि इसके पीछे कोई ऐसी शक्ति छिपी है जो इस ब्रह्माण्ड को इतनी अशान्ति के होते हुये भी अपने स्थान पर स्थिर रक्खे हैं, और नाश होने नहीं देती। वह शक्ति स्थिर है, अचल है शान्त है यदि उस शक्ति का अनुभव कर लिया जाय तथा उस शक्ति का साक्षात्कार हो जावे तो परम शान्ति प्राप्त हो सकती है। इसी शक्ति के ज्ञान को, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, ईश्वर प्राप्ति आदि अनेक नामों से पुकारा गया है श्रुतियों ने भी कहा है। "नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता: ६।१५) इस शान्ति प्राप्ति के लिये इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं "निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति (क० उ० १।१।१७) इसे अनुभव करके जीव परम शान्ति प्राप्त करता है गीता मे स्वयं भगवान् ने श्री मुख से कहा है—

अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्"

× × ×

'क्षिप्र भवति धर्मात्मा शाश्वच्छान्ति निगच्छति'

(६।३०।३१)

अर्थात् अनन्य भक्ति द्वारा भगवान् का भजन करने वाला परम शान्ति प्राप्त करता है।

समस्या यह है कि इस शक्ति का ज्ञान तथा साक्षात्कार किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है इसके लिये वेदों शास्त्रों तथा आप्त पुरुषों ने भिन्न-भिन्न उपाय बताये हैं कुछ तों ऐसे कठिन तथा दुरूह है कि बिना गुरु की सहायता के सीखे ही नहीं जा सकते। और योग्य गुरु का मिलना आजकल बहुत कठिन है। गुरू मे दीक्षा देने की योग्यता का अनुमान करने की क्षमता हममें नहीं है हिन्दू धर्म तथा सभी धर्मों में पुस्तकें भरी पड़ी हैं परन्तु केवल पुस्तक ज्ञान से ही तो यह बात जानी नहीं जा सकती पुस्तकों मे या तो वाग्जाल है या सूत्र, दोनों ही नये साधक के लिये कठिन हैं।

अतएव जब कोई साधक किसी साधना में तत्पर हो तो उसे कुछ मुख्य बाते जान लेना आवश्यक है। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि शान्ति को प्राप्त करना कर्म है और किसी कर्म के करने का माध्यम शरीर है। अत. शरीर की रक्षा करना अनिवार्य है शरीर व इन्द्रियाँ तथा उसके बनाव

पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। यह विचार करना चाहिये कि मन ही शरीर का संचालन करता है उसके ही अशान्त होने से अशान्ति और शान्त होने से शान्ति होती है यदि मन को ही शान्त कर लिया जाय तो साधक का कार्य सरल हो जाता है बिना मन के शान्त हुए कोई साधना आगे नहीं बढ़ सकती। मन की शान्ति का उपाय गीता में बहुत ही सुन्दर रूप मे वर्णित है भगवान् ने अर्जुन को बताया कि "अभ्यासेन तु कौन्तेय-वैराग्येण तु गृह्यते" योग दर्शन मे भी भगवान् पातजलि ने कहा है "अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः (१।१२)" अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्य से उसको वश मे किया जा सकता है परन्तु इन दोनों शब्दों में एक प्रकार का विरोधाभास (Contradiction) है कि अभ्यास कर्मद्वारा होता है और वैराग्य कर्मों का त्याग है। तो पहिले इसको ही समझना चाहिये। मन या चित्त से दो प्रकार के कार्य सम्पन्न होते हैं एक तो विचार (Intellection) या (Cognition) और दूसरा भावना (Emotion) तो विचार और भावना दोनों ही का निरोध चित्त को शान्त करने के लिये होना आवश्यक है। विस्तार भय से यहाँ पर इतना लिखना ही पर्याप्त है कि योग दर्शन तथा गीता में इन्हीं दोनों के निरोध के लिये इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है विचार का निरोध अभ्यास द्वारा और भावनाओं का निरोध वैराग्य द्वारा होना चाहिये।

योगदर्शन के अनुसार अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेष, ये पाँच क्लेश हैं जो जीव को दुःख और अशान्ति में जकड़े हुए हैं इन सभी क्लेषों को दूर करना है, परन्तु इनको दूर करने में एक-एक के लिये अनेक जन्म चाहिये। तो क्या जीव इसी प्रकार दुःख और अशान्ति के सागर में डूबता रहेगा क्या इसके उद्धार का कोई उपाय नहीं है? उपाय है प्रभु की अहैतुकी कृपा। वह कृपा जीव के किंचित पुरुषार्थ से प्राप्त हो जाती है। जब जीव का अनन्य अविचल पुरुपार्थ होता है तो ईश्वर की कृपा स्वय होने लगती है इसमें सन्देह नहीं। गीता में भगवान् ने स्वय कहा है "अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते तेषा नित्याभियुक्तानाम् योगक्षेम वहाम्यहम्"। भगवान् की इस प्रतिज्ञा पर अनन्य विश्वास रखते हुये जीव को अपना कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये यदि सच्ची लगन है हृदय में सच्ची व्याकुलता है तो सफलता अवश्य मिलेगी। परन्तु सबकी प्रकृति भिन्न होने के कारण कोई एक मार्ग अथवा साधन सब के लिये निश्चय नहीं किया जा सकता है परन्तु कुछ मौलिक बातें सवमान्य होती हैं, ऊपर बताया जा चुका है कि व्यक्तिगत प्रयत्न और ईश्वर कृपा यह साधनके दो मुख्य अग हैं किन्तु अलग अलग नहीं। प्रयत्न मे कृपा और कृपा में प्रयत्न मिला है प्रयत्न के आरम्भ करते ही कृपा होने लगती है। परन्तु दुर्भाग्यवश मनुष्य इस कृपा को नहीं पहचानता और अपनी अहन्ता (Ego) के कारण कृपा के फल को भी अपना प्रयत्न ही समझ बैठता है इससे प्रगति मे रुकावट होती है। इस अह को बिना मारे सफलता मिलना सम्भव नहीं। इस अहं को मारने के लिये भगवत्प्रेम ही एक अचूक औषधि है। शुद्ध सात्विक भक्ति से अहंकारका नाश होता है "तस्मात् सेव ग्राह्या मुमुक्षुभिः" (२।३३) यह भक्ति सूत्र का वाक्य है अह के रहते हुए साधन के समस्त शत्रु बीजरूप से मौजूद रहते हैं। किसी भी समय असावधान होने से यह अंकुरित हो जाते हैं।

उपरोक्त बातों को समझ कर साधना मे प्रवृत्त होना चाहिये साधना की दो स्थितियाँ हैं एक (Preliminary और दूसरी उत्तरीय। साधना की पूर्व स्थिति में मनुष्य को तीन कार्य करने पड़ते हैं तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान। योगदर्शन में इसको कृपा योग कहा है तप की बहुत ही सुन्दर

व्याख्या गीता के १७ वे अध्याय में हुई है उसका विचार हर समय करना चाहिये ईश्वर प्रणिधान ईश्वर भक्ति है। जो हमें मिलता है जो कुछ हमारी दशा होती है यह ईश्वर की प्रेरणा और कृपा से हुई है और हमारे लिये वही लाभप्रद है, भगवान् जो हमारे लिये करता है वह हमारी भलाई और हमारे (Evolution) उत्थान के लिये करता है जैसे डाक्टर का Operation (चीरफाड़) हमारे लाभ के लिये ही होता है यद्यपि उसमें हमें कष्ट होता है। यह भाव मन में हर समय रखना ही ईश्वर प्रणिधान है। स्वाध्याय की व्याख्या योग-दर्शन में "प्रणवादिपवित्राणाम् जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा' की गई है अर्थात् सद्‌गुरु द्वारा तत्व का श्रवण व मोक्ष शास्त्रों का पाठ तथा प्रणव जप इन तीनों साधनाओं को करने से उपरोक्त क्लेश शान्त होजाते हैं और उत्तरीय साधनाओंमे विघ्न पहुँचाने की उनकी शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो जाती है।

इसको कुछ दिनों तक अभ्यास कर चुकने के बाद और बिना इनको छोडे हुए ही उत्तरीय साधना में अग्रसर होने की आवश्यकता है ये उत्तरीय साधन है 'प्रत्याहार, धारणा और ध्यान' इन तीनों की सिद्ध और पूर्णता प्राप्त अवस्था को समाधि कहते हैं, इसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं तीव्र इच्छा शक्ति, दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास। साधन मे इस विश्वास को लेकर ही अग्रसर होना चाहिये कि सफलता अवश्य मिलेगी। अविश्वास और मन में संशय रखकर कोई भी साधन नहीं हो सकता, 'संशयात्मा विनश्यति' इन्द्रियोंके निग्रह को प्रत्याहार कहते हैं, जैसे मन का निग्रह होता है उसी प्रकार इन्द्रियों का निग्रह आवश्यक है इसके अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं करती, जिह्वा से स्वाद का मिट जाना ही उसका निग्रह है इन्द्रिय निग्रह और मन-निग्रह का कार्य साथ-साथ होना चाहिये नहीं तो एक दूसरे के बाधक बन सकते हैं। मन का निग्रह धारणा और ध्यान द्वारा होता है, धारणा चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर रखना सिखाती है, धारणा की अवस्था में चित्त की कार्यशीलता कम होने की अपेक्षा। और अधिक बढ़ जाती है इस अवस्था में एक ही विचार इतनी शीघ्रता से मन में आने लगता है कि मन कहीं दूसरी जगह न भटक कर उसी विचार पर स्थिर मालूम होता है, अनुभवी लोगों का कहना है कि अगर मन किसी एक ही विचार या लक्ष्य पर तीन मिनट तक स्थिर कर लिया जाय तो धारणा को सिद्ध समझना चाहिये। इसके लिये बहुत सी बाह्य और अन्तर क्रियायें होती हैं जैसे त्राटक इत्यादि। परन्तु बाह्य साधनों का अवलम्ब न लेकर यदि अन्तर क्रिया ही की जावें तो उससे लाभ अधिक होगा चाहे देर में हो। उसमें विचार और भावना दोनों का निरोध होता है।

धारणा दृढ़ होने पर उस अवस्था में ही ध्यान आरम्भ करना चाहिये ध्यान का विषय बहुत ही बड़ा है इसकी प्रणाली ऋषियों ने भिन्न भिन्न बताई है। सुना जाता है कि जापान और चीन देश का जेन (Zen) बहुत ही उत्कट और शीघ्र लाभ प्रद होता है। हमारी भारतीय प्रणाली में भी बहुत कुछ एक दूसरे से भिन्नता है पर मौलिक बातें सब की एक ही है, ध्यान एक तो स्थूल या सगुणका होता है और दूसरा सूक्ष्म या निर्गुण का। स्थूल ध्यान प्रतिमा, लिंग, शालिग्राम, चित्र, भित्तिरेखा, ज्योति आदि का माध्यम लेकर किया जाता है। आरम्भ में यह बहुत ही लाभ दायक होता है क्योंकि नाम व रूप का ही सहारा लेकर शून्य की ओर अग्रसर होना सम्भव है। इसके बाद सूक्ष्म ध्यान या अन्तर ध्यान होता है इस समय तक मन बहुत कुछ वश में आ जाता है और सूक्ष्म ध्यान के उपयुक्त हो जाता है यह ध्यान ही सबसे कठिन है। और वह परम भाग्यशाली है जिसने इसको सिद्धकर लिया क्योंकि

एक रात की बात

(श्री मोहिनीदेवी श्रीवास्तव अध्यापिका एम० जी० कालिज, कानपुर)

सन्ध्या का सुहावना समय है दिवस और रात्रि के इस पवित्र सन्धिकाल में भक्त जन तथा उपासक गण भगवान् से सन्धि अथवा मिलन करने के प्रयत्न में संलग्न हैं। थोड़े ही समय बाद आकाश में नक्षत्र तथा पृथ्वी पर स्थित घरों व सड़कों पर दीपक दृष्टिगोचर होने लगे। ऐसे ही समय में एक महिला अपने गृह की खिड़की पर खड़ी होकर अपनी सहेली को बुलाने लगी। विमला! ओ विमला!! क्या कर रही हो? आज सत्संग में नहीं आओगी क्या? विमला ने भीतर से ही रूखे स्वर में उत्तर दिया—आ रही हूँ, यहाँ की महाभारत समाप्त हो जाय तब तो रामायण में आवें। मेरे भाग्य में तो लड़ाई झगड़ा व दुःख ही लिखा है न जाने कौन से पाप किये थे जो ऐसे लोगों से पाला पड़ा है।" कमला चुप चाप लौट आई एक छोटे से कमरे में चौकी पर भगवान् की चतुर्भुजी मूर्ति का एक मन मोहक चित्र सुशोभित था। पास में थोड़े पुष्प, धूप बत्ती, दीपक, रामायण जी व गीता जी की प्रतियाँ तथा प्रार्थना के पर्चे भी एक तरफ रखे हुये थे। कुछ महिलाएँ कन्याएँ तथा बालक आकर यथा स्थान बैठ गये थे। कमला ने आकर सबको प्रार्थना के पर्चे बाँट दिये, भगवान् को पुष्प, धूप, दीप अर्पण कर सुन्दर स्वर के साथ प्रार्थना की गई। थोड़ा कीर्तन हुआ फिर रामचरितमानस और गीता का पाठ हुआ इतने में ही दुखित व क्रोधित मुद्रा में विमला का आगमन हुआ आज रामायण जी में बाल-कांड की समाप्ति का प्रसंग था। जिसके अर्थ भी किये गये। जब इस चौपाई का अर्थ हो रहा था कि 'वधू लरकिनीं पर घर आईं। राखेहु नैन पलक की नाईं॥' तब उस समय विमला के मुख पर प्रसन्नता का प्राकट्य हुआ। पाठ समाप्त होने पर कमला ने कहा कि संसार में यदि मनुष्य चाहे तो पूर्ण सुखी बन सकता है किन्तु वह अपनी अज्ञानता वश दुःखी बना रहता है। विमला बोली देखो रामायण जीं में दशरथ जी कौशिल्या जीं से अपनी वधुओं के प्रति कितने प्रेम संयुक्त व्यवहार करने का आदेश दे रहे हैं किन्तु आज कल तो लोग वधुओं को इतना कष्ट देते हैं कि उनका जीवन ही दुःखमय होता जाता है। दूसरों को क्या कहूँ मैं स्वयं ही इसका अत्यन्त कटु अनुभव कर रही हूँ यदि मेरे सास ससुर न होते तो मैं सुखी रहती। अब तो केवल अलग हो जाने के अतिरिक्त कोई उपाय ही नहीं सूझता। श्रीमती सरला जी कहने लगीं यह संसार दुःखमय ही है। तुम सास ससुर के कारण दुःखी हो मेरे तो पतिदेव ही विरुद्ध विचार के हैं मेरी कोई बात सुनते ही नहीं मैं इसी चिन्ता में घुली जाती हूँ सिवाय इसके कि मैं अपने पिता के घर जाकर रहूँ दुःख निवृत्ति का कोई उपाय नहीं दिखलाई देता। फिर एक वृद्ध महिला बोल उठीं "बेटी मैं अपनी बहू से अत्यन्त दुखी हूँ वह जब से मेरे घर में आई है घर नरक बन गया है। समझ में नहीं आता कि ऐसे पढ़ने लिखने से क्या लाभ हुआ जब कि अपना घर सम्भालने की योग्यता भी नहीं। रात दिन फैशन, गप शप, सैर सपाटे से ही फुरसत नहीं मिलती घर के लोग जाय भाड़ (चूल्हे) में उन्हें अपने मनोरंजन से काम। लज्जा तो बिल्कुल धो बहा कर फेंक दी है। मुझसे तो देखा भी नहीं जाता। मौत भी नहीं आजाती जो दुःख से छूट जाऊँ। दिन रात घर का काम करते-करते हैरान हूँ दो घड़ी भगवान् का नाम लेने को भी समय नहीं मिलता। पुत्र का विवाह होने से पहले जाने क्या-क्या सोचा था वह सब धूल में मिल गया। इतना सा समय यहाँ सत्संग के लिये बड़ी ही कठिनता से निकाल पाती हूँ।

सबको अपने-अपने दुःख सुनाते देखकर दूसरी एक महिला अपने को रोक न सकी वह कहने लगीं बहिन मुझे और कोई कष्ट नहीं है परन्तु यही बड़ा दुःख है कि मेरे कोई सन्तान नहीं सभी लोग मुझे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। जिठानी दिवरानी के अनेक सन्तानें हैं उन्हें देखकर असन्तोष होता है। एक विधवा स्त्री बोल उठी बहिन स्त्रियाँ पराधीन हैं उनके दुःखों का वर्णन कहाँ तक किया जाय। मेरे माता पिता ने मुझे ऐसे रोगी और वृद्ध पुरुष से विवाह दिया कि मैं थोड़े ही समय में विधवा होगई। यद्यपि घर भरा पूरा सम्पन्न है किन्तु मेरे लिये कुछ भी

नहीं; मैं सबके द्वारा घृणा की दृष्टि से देखी जाती हूँ। सबकी सेवा करने के सिवाय ऊपर से बातें सहन करनी पड़ती हैं संसार में मुझे कोई सुख नहीं। कमला बहिन के द्वारा यहाँ थोड़ी देर का सत्संग होने लगा है जिससे थोड़ा समय अच्छा कट जाता है। शोभा देवी ने कहा मुझे किसी बात का दुःख नहीं तो शरीर ही रोगी है घर में धन की तथा सेवा और प्रेम करने वालों की कमी नहीं किन्तु मुझे कोई सुख नहीं मुझसे तो गरीब ही सुखी है। माता जी ने कहा बहिन हम अबलाओं को एक न एक दुःख लगा ही रहता है मेरे एक इकलौता पुत्र है बड़ी आशा थी कि सुपात्र निकलेगा परन्तु वह इतना अवगुणी निकला कि मैं उसी के दुःख म सनी रहती हूँ।

सबके अपने-अपने दुःखों का वर्णन कर चुकने पर कमला इस प्रकार कहने लगीं, "बहिनों आप लोग नित्य ही नियमित सत्संग करने लगी हैं और सत्संग का फल दुःखों की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति होना चाहिये। अतएव हमें विचार करना होगा कि दुःख की निवृति कैसे हो। उपाय जानने के पहले दुःख का स्वरूप जानना चाहिये कि दुःख किसे कहते हैं —जो इच्छाएँ हम बनाते हैं जो आशायें हम दूसरों से करते उनकी अपूर्ति के अनुभव को दुःख और पूर्ति के अनुभव को सुख कहते हैं। अथवा जब हमारे मन के अनुकूल परिस्थिति होती है तब हम उसे सुख तथा प्रतिकूलता को दुःख मानते हैं ये प्रतिकूल परिस्थियाँ कुछ तो हम अपनी अज्ञानता के कारण स्वयं बना लेते हैं और कुछ हमारे पूर्व संस्कारानुसार बनती है, अर्थात् एक तो हमारे वर्तमान अशुद्ध व्यवहार से बनती हैं और दूसरी हमारे पूर्वकृत कर्मों से बनी है। अब जो हमारे वर्तमान के अशुद्ध व्यवहार से बनी हुई परिस्थितियाँ हैं उनको हम धर्म और ईश्वर का लक्ष्य बनाकर श्रेष्ठ कार्य तथा शुद्ध व्यवहार से बदल सकते हैं और जो पूर्व कर्मानुसार बनी हैं उनको विवेक बुद्धि द्वारा बदल कर दुःखों के अनुभव से अपने को निवृत्त कर सकते हैं।

सभी स्त्रियाँ बड़ी प्रसन्न तथा आश्चर्य चकित होकर कमला से कहने लगी कमला! उन उपायों का भली प्रकार वर्णन करके समझाओ जिससे हम सभी उन पर चलकर सुखी हो जाय और हमारा सत्संग में आना सफल हो जाय। कमला ने कहा अवश्य ही सफल होगा। हाँ तो मैंने दुःखों के दो कारण बतलाये थे। पहला कारण वर्तमान अशुद्ध व्यवहार है अर्थात् हम अपने शरीर, मन और वचन से अपने समीपवर्ती लोगों से उचित व्यवहार नहीं करते। हम दूसरों से तो अच्छे व्यवहार की आशा रखते हैं किन्तु स्वयं ऐसा नहीं करते इसी से हमें दुःख होते हैं अतएव यदि हम शरीर से सभी की सेवा, मन से सभी के प्रति सद्भावनाएँ बनायें तथा वाणी से सदैव मधुर और हितकारी वचन बोलने का अभ्यास करें तो हम अधिकांश में सब को प्रसन्न कर सकते हैं फिर किसी की शक्ति नहीं कि हमारे प्रति बुरा व्यवहार कर सके। हाँ कभी-कभी हो सकता है कि कुछ कुटिल प्रकृति वाले व्यक्तियों पर हमारे सद्व्यवहार का प्रभाव कुछ न पड़े किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं उनसे हमें उदासीन भाव रखना चाहिये। जैसा श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

उदासीन नित रहिय गोसाईं।
खल परिहरिय स्वान की नाईं॥

अथवा "खल सन कलह नहीं भल प्रीत।" अर्थात् दुष्टजनों से प्रेम और बैर दोनों ही ठीक नहीं। जैसे गुलाब के वृक्ष में तीन प्रकार की वस्तुएँ हैं। फूल, पत्ती और कांटे। इसी प्रकार हम संसार रूपी वृक्ष में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। फूल स्वरूप सतोगुणी व्यक्ति कभी हानि नहीं पहुंचा सकते फूल को चाहे प्रेम से छुओ चाहे तोड़ मरोड़ डालो वह सदैव खुशबू ही देगा। पत्तियों के समान रजोगुणी व्यक्तियों से चाहे प्रेम करो चाहे बैर करो वे यदि लाभ नहीं पहुँचायेंगे तो हानि भी नहीं करेंगे। कांटे रूपी तमोगुणी व्यक्तियों से चाहे प्रेम करो चाहे बैर वे अवश्य ही दुःख देंगे। जैसे कांटे को चाहे प्रेम से पकड़ो चाहे द्वेष से वे अवश्य ही चुभेंगे। अतः अभाग्य से या भाग्य से जो सम्बन्धी जन मिले इन्हीं गुणों के अनुसार समझकर उनसे व्यवहार करना चाहिये। श्री गीता में कहा है:—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते

अर्थात् यह शरीर ही क्षेत्र है। खेत में हम जैसा बीज बोते हैं वैसा ही फल कुछ दिन में हमें प्रकृति शक्ति के द्वारा मिल जाता है। इसी प्रकार

इस शरीर रूपी क्षेत्र में भी हम दुःख या सुख रूपी जो भी बीज बोयेंगे वही हमें भगवान् या प्रकृति शक्ति द्वारा कुछ समय बाद मिल जायगा। अतएव यदि हम सुख चाहते हैं तो सबको सुख देने लगें तो हमें सुख मिलेगा और यदि हम इन शरीर रूपी क्षेत्रों में दुःखों का बीज बोते हैं अर्थात् दूसरों को दुःख देते हैं तो अवश्य ही कालान्तर में हमें दुःख मिलेगा चाहें हम उसे भले ही न चाहें किन्तु हम अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने में परतन्त्र हैं। आप लोग कहेंगी कि हम तो अपनी समझ में किसी को दुःख नहीं देतीं। परन्तु यद्यपि अपना दोष अपने को कम दिखलाई पड़ता है किन्तु जब शुद्ध बुद्धि से विचार करके समझोगी तब अवश्य ही समझ में आ जावेगा। हम जैसा व्यवहार दूसरों से अपने प्रति चाहते हैं वैसा ही यदि हम दूसरों के साथ करने लगें तो सभी सुखी हो जायें। इस काल में हम दूसरों से तो अच्छा व्यवहार चाहते हैं किन्तु स्वयं हम इसके विपरीत करते हैं यही दुःख का कारण है यदि मेरी बात में कुछ भूल पड़ती हो तो कुछ दिन इस पर आचरण करके देख लो अनुभव करने के बाद फिर मुझ से बतलाना। दूसरों से हम कुछ न चाहें और स्वयं दूसरों के प्रति सद्व्यवहार करें तो पहले कुछ कष्ट अवश्य प्रतीत होगा किन्तु फिर सुख भी अवश्य ही मिलने लगेगा।

अब तात्कालिक दुःखों की निवृत्ति के उपाय सुनिये। तात्कालिक दुःख हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों से बनते हैं वे भोगे बिना नष्ट नहीं हो सकते अतएव इन्हें धैर्य के साथ सहन करना चाहिये। श्रीरामचरितमानस में भी कहा है—

"काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥"

और भी कहा है—

"देह धरे के दंड हैं सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से मूरख भुगते रोय॥"

अतः रोकर क्यों भुगतना चाहिये जब दुःख हमारे ही किये हुये कर्म का फल है तब रोने से क्या लाभ, वह भोगने से ही समाप्त होगा। कुछ दुःख ऐसे होते हैं जो वास्तव में दुःख नहीं होते किन्तु हम उन्हें दुःख मान लेते हैं अन्य व्यक्ति के लिये वही सुख हैं कुछ काल के बाद हम भी उन्हें सुख मानने लगते हैं। दुःख के अवसर पर ऐसा समझना चाहिये कि भगवान् सबका दयालु पिता है, पिता अपने पुत्र को कभी दुःख नहीं देता और यदि देता भी है तो उसके लाभ के लिये। जैसे पुत्र के फोड़ा होने पर पिता उसको चिरवाता है यद्यपि बालक रोता व चिल्लाता है फिर भी वह नहीं सुनता है क्योंकि बालक का हित फोड़ा चिरवाने में ही है इसी प्रकार जो भी दुःख हमारे सामने आवें, हमें समझना चाहिये कि परम पिता ने इन दुःखों के द्वारा हमारा कोई हित ही सोचा होगा। अतएव हमें उसके विधान में उसकी दया व कृपा का अनुभव करना चाहिये। अथवा यह समझना चाहिये कि हम शरीर नहीं हैं, शरीर के भीतर की चेतन शक्ति हैं दुःख सुख आदि मन का होता है हम शरीर व मन से पृथक ईश्वर के अंश, शान्ति के भण्डार चेतन स्वरूप निर्मल सहज सुख की राशि हैं हम में दुःख का लेश नहीं, हमें कोई दुःख पहुँचा भी नहीं सकता। शरीर माया का अंश है इसे अपने किये का फल भोगना ही होगा। तथा संसार स्वप्न के समान है, यहाँ के दुःख ज्ञान रूपी जागृत अवस्था के आने पर समाप्त हो जाते हैं। *"जेहि जाने जग जाय हिराई। जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई॥"* इस प्रकार ज्ञान के द्वारा सभी दुःखों के जड़ स्वरूप अज्ञान का खंडन करते रहना चाहिये। इस प्रकार हम सभी दुःखों से छूट कर परम शान्ति का लाभ कर सकेंगी। फिर दुःख तो एक प्रकार से परम गुरु हैं इसके आने पर अपने हितैषी और स्वार्थी व्यक्तियों की पहचान होती है तथा संसार से वैराग्य बना रहता है जिससे भगवान की ओर बढ़ने की बुद्धि को अवसर मिलता है। अतएव दुःख में भी दुःखी न होना सत्संग से प्राप्त हुई भक्ति का फल है जैसाः—*"राम भक्ति मणि उर बस जाके। दुःख लवलेश न सपनेहु ताके॥"*

अब रात अधिक हो चुकी है अतः आप लोग विश्राम करें और ईश्वर व धर्म के विषय पर मनन करें जिससे हम अबलाओं के दुःख सदा के लिये निवृत्त हो सकें। कमला का अनुभव पूर्ण बातें सुनकर सभी नारियाँ प्रसन्न हुईं, और अपने को धन्य मानती हुई नित्य ही सत्संग में आने को कह कर चली गईं।

ओम् शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

विडम्बना

(श्री बृजनन्दन जी अग्निहोत्री)

(१)

इन्दु-विकसित-नील-नभसा,
हृदय सागर स्वच्छ पाता।
विनय कर मैं रमावर को,
क्षीर सागर से बुलाता॥

(२)

प्रणत का सन्देश पाकर,
दीन का या तार पाकर।
शरण सुखद पधारते हैं,
सपदि कमला सहित आकर॥

(३)

भक्ति भाव प्रसून लेकर,
मैं विमल थाली सजाता।
विनय कर मैं रमावर को,
क्षीर सागर से बुलाता॥

(४)

किन्तु अखड कल्पना के,
वचन थामु जल्पना के।
हा, वही जो ढाहते हैं,
भव्य मन्दिर अर्चना के॥

(५)

प्रबल झञ्झानिल मचलकर,
सकल अमल मुकुल उड़ाता।
विनय कर मैं रमावर को,
क्षीर सागर से बुलाता॥

(६)

हृदय सागर डोल उठता,
हहर कर हिडोल उठता।
विषम भीषण आँधियों में,
प्रलय का स्वर बोल उठता॥

(७)

लोट जाते कृपा सागर,
मैं निशील निलज्ज जाता।
विनय कर मैं रमावर को
क्षीर सागर से बुलाता॥

(८)

सजल दृग कर जोड सविनय,
मैं अछल विनती सुनाता
विनय कर मैं रमावर को,
क्षीर सागर से बुलाता॥

ब्रह्मा विष्णु और शंकर की माँ?

(परम श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

भगवान् को अपने भक्तों का यश बढ़ाना होताहै तो वे नाना भाँति के स्वाँग रचते हैं। ऐसी-ऐसी अद्भुत क्रीड़ायेंकरते हैं, कि जिनको स्मरण करके साधारण मनुष्य चकित हो जातेहैं कि भगवान् ने ऐसी क्रीड़ा क्यों की? हम साधारण अज्ञ पुरुष भगवान् की अचिन्त्य लीलाओं को अपने तर्क की तुला पर तोलें, तो हमरा यह प्रयास असफल ही न होगा, अपितु यह हमारी अनधिकार चेष्टा भी समझी जायगी।

संसार में दो ही सर्वश्रेष्ठ समझे जाते हैं, सती और सन्त। येदोनों ही दिव्य धाम के अधिकारी समझे जाते हैं। जो पद भगवद्भक्त सन्त का है वही नहीं, :किन्तु उसके भी ऊँचा पद पतिप्राणा पत्नी का समझा जाता है सन्त से तो भगवान् चिरकाल के अनन्तर बातें करते हैं! बातें भी करते है, तो अत्यन्त स्नेह के साथ प्रेम पूर्ण वाणी से। किन्तु सती को तो प्रतिक्षण अपने पति केरुख को देख कर चलना पड़ता है, उसकी डाँट फटकार सहनी पड़ती है, उसके मन में अपना मन मिलाना पड़ता है और उसके प्राणों में प्राण मिला कर उसी के इच्छानुसार आचरण करना पड़ता है। पति ही परमेश्वर है—यह कितना उच्च भाव है, कितनी कठिन साधना है? इस साधना को इस पुण्य भूमि की ललनायें करती है। तभी तो सतियों की आज्ञा के सामने देवताओं को सिर झुकाना पड़ता है। सूर्य्य, चन्द्र उनका रुख देख कर चलते हैं। देवताओं की तो बात ही क्या है, ब्रह्मा, विष्णु महेश भी उनके सामने अपने को पराजित सा समझते हैं। पतिव्रता के ऐसे प्रभाव को जताने के लिये भगवान् ने एक विचित्र अभिनय रचा।"

एक बार श्री लक्ष्मी जी और श्री सती जी और श्रीसरस्वतीजी को अपने पातिव्रत का बड़ा अभिमान हो गया। भगवान् और किसी के अभिमान को चाहे सहन कर लें; किन्तु वे अपने भक्तों के हृदय में उठे हुए अभिमान के अंकुर का तुरन्त नाश कर देते हैं। यही तो उनकी भक्तों के ऊपर भक्त वत्सलता है। भगवान् ने देखा कि इन चराचर जगत् की बन्दनीया देवियों को बड़ा गर्व हो गया है, तो उनके गर्व को खर्व करने के निमित्त कलह प्रिय भगवान् नारद के मन में प्रेरणा की। नारदजी तो भगवान् की इच्छा को जानने वाले ही ठहरे। वे भगवान् की प्रेरणासे चले। उन्हें तो नित्यप्रति कोई न कोई नया कौतुक चाहिये। बैठे ठाले उनका मन लगता, नहीं इधर की उधर और उधर की इधर लगाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। अतः वे पहिले लक्ष्मीजी के यहाँ पहुँचे।

अपने यहाँ वीणा बजाते, रामकृष्ण गुण गाते नारदजी को आते देख कर लक्ष्मीजी का मुख कमल खिल उठा। बड़ी प्रसन्नता से वे बोलीं—"आइये नारदजी! अब के तो बहुत दिनों में आये, कहाँ चक्कर लगा रहे?"

कुछ रुक कर नारदजी बोले—"माताजी!हमारा क्या ठिकाना? रमते राम ठहरे, जिधर चल दिये, चल दिये वैष्णव का और ऊँट का जिधर मुँह उठ गया चल दिया।"

यह सुन कर लक्ष्मीजी बड़े जोरों से हँस पड़ी और हँसते- हँसते बोलीं—"नारदजी! आपने वैष्णव की ऊँट के साथ तुलना बड़ी सुन्दर की। ऊँट भी नीम को बिना पत्ती के बना देता है और ये वैष्णव भी तुलसी को बिना पत्ती के बना देते हैं। सहस्र-सहस्र दल सालिग्राम भगवान् पर चढ़ाते हैं। अस्तु यह तो बताओ, तुम आ कहाँ से रहे हो?"

नारद जी बोले—माता जी क्या बताऊँ, कुछ बताते नहीं बनता। अब के मैं घूमता घामता चित्रकूट की ओर चला गया। वहाँ से पयस्विनी के किनारे किनारे भगवान् अत्रि के आश्रम पर पहुँच गया। वहाँ उनकी पतिव्रता पत्नी भगवती अनसूया के दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गया। आज संसार में उनके समान पतिव्रता कोई भी नहीं हैं। उन्होंने अपने तप के ही प्रभाव से गंगा जी की एक धारा प्रकट कर दी, जो सब पापों को काटने वाली मन्दाकिनी के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। आज संसार की सभी

सती साध्वी पतिव्रताओं की वे शिरोमणि हैं। चौदहों भुवनों में मैं घूम आया, ऐसी पतिव्रता तो मुझे कहीं मिली नहीं।"

यह सुनकर तो लक्ष्मी जी को बड़ा बुरा लगा। यह मेरे ही घर का बच्चा, मेरे ही समाने ऐसी बातें कर रहा है। यह तो मेरा प्रत्यक्ष अपमान है, फिर सोचा—इसने मुझे छोड़कर कहा होगा। अतः बात को स्पष्ट करने को पूछने लगी। "नारद, तुमने अनसूया के पातिव्रत की बड़ी प्रशंसा की, नाम तो उनका मैंने भी सुना है, किन्तु क्या वे मुझसे भी बढ़कर हैं ?"

नारद जी को तो उनके मन को फेरना ही था, बोले—"माता जी ! आप बुरा न मानें तो मैं इसका उत्तर दूँ ?"

लक्ष्मी जी बोली—बुरा मानने में कौन सी बात है, तुम निर्भय हो कर उत्तर दो।"

नारद जी बोले—"माता जी ! सच कहूँ या झूठ ?"

लक्ष्मी जी बोलीं—"अरे, झूठ का क्या काम ? तुम सच-सच बताओ।"

तब नारद जी दृढ़ता के स्वर में कहने लगे—"माता जी ! सच बात तो यह है, आप उन देवी अनसूया के पासंग के बराबर भी नहीं।" इतना सुनते ही लक्ष्मी जी का मुख फक पड़ गया वे नारद जी से ऐसे उत्तर की स्वप्न में भी आशा नहीं रखती थी। उनके मन में सती के प्रति डाह हुआ और मन ही मन उन्होंने भगवती अनसूया को नीचा दिखाने का निश्चय कर लिया। फिर प्रकट में बोलीं—"अच्छी बात है, नारद ! समय बतावेगा कि वह पासंग के समान है या मैं उसके पासंग के तुल्य हूँ।"

नारद जी को तो कलह का बीज बोना था। उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। मेरा बीज ठीक समय पर जोती गोड़ी उर्वरा भूमि में ही बोया गया। अब अति शीघ्र ही बीज में से अंकुर उत्पन्न होकर यह पुष्पित पल्लवित और फलवान् बन जायगा। इतना कहकर नारद जी शीघ्रता के साथ कैलास की ओर चल दिये।

इधर लक्ष्मीजी आज मुँह फुलाकर बैठ गईं। भगवान् ने पूछा—"प्रिये ! आज किस कारण से खटपाटी लेकर पड़ी हो ? अपने दुःख का कारण मुझे बताओ।"

लक्ष्मी जी बोलीं—"देखो जी, सुन लो मेरी बात ! बहुत दिन मैंने आपके तलुए सुहराये हैं। आप ने भी कृपा करके मुझे अपने कण्ठ का हार बनाया है। मैंने आज तक आप की हाँ में हाँ मिलाई है ? अपनी कोई माँग उपस्थित नहीं की। आज आप को मेरी एक बात माननी पड़ेगी ?"

भगवान् बोले—"बात भी तो सुनें, क्या बात है, बिना सुनें कैसे कह दें ?"

मुँह फुलाकर लक्ष्मी जी बोलीं—"नहीं जी, बात कुछ हो। मैं शशक के सींग माँगू; तो आप को एक सींग वाला शशक बनाकर उसके सींग लाने पड़ेंगे। मैं बन्ध्या का पुत्र माँगू तो आप को बन्ध्या के मुँह से पुत्र प्रकट करके लाना पड़ेगा। 'हाँ !' करोगे तब मैं कहूँगी। उसके पहिले नहीं, आज ही तो आप का प्रेम देखना है। बहुत मुझे बहकाते रहते थे।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, कहो तो सही।"

लक्ष्मीजी बोली—"हाँ !" कहो।"

भगवान् हँस कर बोले—"हाँ, हाँ, हाँ और कहो कै बार कहूँ। पट्टा लिख दूँ ? गंगाजी तो मेरे अँगूठे से ही निकली हैं; जो गंगाजी में खड़ा हो कर कहूँ।"

लक्ष्मीजी प्रसन्नता प्रकट करती हुई बोलीं—'नहीं बस महाराज ! हो गया मुझे विश्वास। आप को जैसे भी हो तैसे अनसूया देवी का सतीत्व भंग करना होगा।"

भगवान् यह सुन कर हँसे और मन में ही—

कहने लगे— अरी, देवि ! हम में इतनी सामर्थ्य कहाँ जो उस देवी का पातिव्रत खंडित कर सकें। भगवान् समझ गये, यह सब इस तूमड़ियाँ नारद के बीज बोये हैं, प्रकट में बोले—"बस, इतनी सी ही बात पर मुँह कुप्पा की तरह फुला लिया था। हम अभी जाते हैं। हम तो प्रयत्न करेंगे और जब तक इस काम को पूरा न करेंगे; तब तक न लौटेंगे, यदि तुमने बीच में कुछ विघ्न बाधा न डाली तो ?"

लक्ष्मीजी बड़ी प्रसन्न हुईं। भगवान् ने अपने वाहन गरुड़ को बुलाया और वे अत्रि के आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर नारदजी कैलाश पहुँचे। सती जी अकेली बैठी पूजा कर रही थीं। वीणा बजाते, नाचते गाते नारदजी को देख कर सती पार्वती ने उनका स्वागत किया, खाने को एक लड्डू दिया। एक ही गस्से में मुँह में डालते हुए नारदजी बोले—"अहा, कैसा स्वादिष्ट लड्डू है। अमृत का बना मालूम पड़ता है, किन्तु भगवती अनसूया के यहाँ जैसा स्वाद था, वैसा तो स्वाद है नहीं।

सतीजी ने मन में सोचा—"हाय! कैसे कृतघ्न से पाला पड़ा ? कितने उल्लास से तो मैंने यह सुधामय मोदक इसे दिया, यह कहता है अनसूया के लड्डू के बराबर नहीं है। तब तो उन्हें रोष आ गया और बोलीं —"नारद! क्या कह रहा है ? अनसूया कौन है, जिनके लड्डू की तू इतनी प्रशंसा करता है ?"

नारदजी बोले—"माता जी! सती न था अनसूया भगवान् अत्रि की प्राण प्रिया पत्नी हैं। आज संसार में उनके सदृश दूसरी कोई पतिव्रता नहीं।"

सतीजी ने बल देते हुए कहा—"मुझसे भी अधिक ?"

नारद जी ने उपेक्षा के स्वर में कहा—'माता जी! अधिक कम का तो मुझे पता नहीं। किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ, उनके पातिव्रतके सामने आपका पातिव्रत फीका है।"

यह सुनते ही सती जी दौड़ी-दौड़ी शिव जी के पास पहुँची और बोलीं—"आप तो कहते थे, मैं पतिव्रताओं में शिरोमणि हूँ।'

शिव जी ने कहा—'क्यों तुम्हें इसमें कुछ सन्देह है क्या ?"

सती जी ने कहा—"महाराज जी ! अब तक तो सन्देह था नहीं। इस नारद ने मुझे सन्देह में डाल दिया है, नारद कहता है कि अत्रि पत्नी अनसूया के सामने तुम्हारा पातिव्रत फीका है।"

यह सुनते ही शिवजी हँस पड़े और बोले—"नारद कहाँ है ? उसे मेरे पास लाओ।" सती जी लौट कर गईं, तो अब नारद वहाँ कहाँ ! वे तो कब के नौ दो ग्यारह हो चुके थे। पार्वती जी ने लौट कर कहा—"महाराज, वह तो चला गया किन्तु, आप बतावें, यह बात सत्य है क्या ?'

भोलानाथ स्त्रियों के डाह की बात क्या जानें कि इनके मन में कैसी असूया होती है। वे बोले—"नारद ठीक ही कहता था, देवि! तुम भगवती, अनसूया की समानता नहीं कर सकती।"

सती जी ने उसी समय शिव जी के कमल के सदृश दोनों अरुण चरण पकड़ लिये और दृढ़ता के स्वर में बोलीं—"अब इन चरणों को तभी छोड़ूँगी, जब अनुसूया का पतिव्रत भंग करके मुझे संसार में सर्वश्रेष्ठा सती शिरोमणि बना दोगे।"

भोले बाबा अपने साँपों को सम्हालते हुए बोले—"देवि! हम प्रयत्न करेंगे, किन्तु बीच में फिर तुम गड़बड़ घुटाला मत मचा देना। ये स्त्रियाँ क्षण भर में तो रुष्ट हो जाती हैं, क्षण भर में सन्तुष्ट। फिर मायेलो-सहेलो मत जोड़ लेना।"

सती जी बोलीं—"महाराज, मुझे तो आपका ही डर है। आप भोलानाथ ठहरे। पुरुषों की सदा यही नीति रहती है, कि छल से, बल से, कला-कौशल से, डाँट के, फटकार के, प्यार करके, झूठ-सच बोल कर स्त्रियों को ठग लेना। सो, देवता जी! मुझे तो आज तक ठगा है। अब उसी ठगविद्या का प्रयोग अत्रि पत्नी अनसूया के साथ करो।"

शिव जी हँस पड़े और मन ही मन सोचने लगे—जो दूसरों को खाई खोदता है, उसके लिये कुआ खुदा खुदाया तैयार रहता है। प्रकट में बोले—"देवि! मैं अभी जाता हूँ, तुम मेरे पैरों को छोड़ो तो सही ?" सती देवी भगवान् ने वृषभध्वज के चरणों को छोड़ दिया। जो सती अपने पति के चरणों को क्षण भर भी छोड़ देती है, उसे अन्त में क्लेश ही क्लेश उठाना पड़ता है शिव जी ने अपने नादिये को बुलाया। वे बम्-बम् करते हुए तुरन्त दौड़े हुए चले आये, शिव जी उछल कर उनके ऊपर सवार हुए और पीछे आने वाले भूत, प्रेत, पिशाचों को लौटा कर अकेले ही अत्रि आश्रम की ओर चल पड़े।

इधर नारद जी ब्रह्मलोक में पहुँचे। सरस्वती देवी ने उनका स्वागत-सत्कार किया और बोलीं—"वत्स, नारद! तुम तो हमें भूल ही जाते हो, अब के तो बहुत दिनों में आये। क्या नये समाचार हैं ?"

नारद जी ने कहा—'माता जी! सब ठीक है, एक

यही अद्भुत बात मैंने मर्त्य लोक में देखी।"

उत्सुकता के साथ ब्रह्माणी ने पूछा—"बताओ, कौनसी अद्भुत बात है?"

नारद जी ने कहा—"माता जी, क्या बताऊँ, अत्रि पत्नी अनुसूया के पतिव्रत का ऐसा प्रभाव है, कि सब ऋषि मुनि आकर उनकी स्तुति करते हैं। संसार में उनके समान आज कोई भी पतिव्रता नहीं। मैं उनके आश्रम में गया, तो वहाँ ऐसी शान्ति थी, जैसी यहाँ ब्रह्मलोक में भी नहीं। पातिव्रत का ऐसा प्रभाव ही होता है।"

अमर्ष के सहित ब्रह्माणी बोली—"तो क्या वह मुझसे से भी बढ़कर है?"

नारद जी ने कहा—"अब माता जी! यह मैं कैसे कहूँ। अपनी माँ तो माँ ही है, सर्व श्रेष्ठ है ही। किन्तु सभी ऋषि मुनि यही बात कह रहे हैं, कि आज अनुसूया से बढ़कर कोई भी पतिव्रता नहीं।"

अब तो ब्रह्माणी जी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने कहा—"जा, शीघ्रता से अपने पिता को तो बुला ला।"

माता जी की आज्ञा पाकर नारद जी पितामह की सभा में गये। उस समय देवताओं और असुरों में जो बहुत दिनों से वैर भाव चल रहा था, उसी के सम्बन्ध में कश्यप जी से बातें कर रहे थे। भगवान् वेदगर्भ की स्तुति-वन्दना के अनन्तर नारद जी ने ब्रह्माणी जी का सन्देश कह सुनाया।

ब्रह्मा जी ने समझा कोई आवश्यक कार्य होगा, इस लिए उठकर भीतर आये। आते ही ब्रह्माणी ने पूछा—भगवन्! आज कल संसार में सर्व श्रेष्ठ पतिव्रता कौन है?

ब्रह्मा जी ने विस्मय के साथ पूछा—"इस अप्रासंगिक प्रश्न का प्रयोजन क्या?"

हठ के स्वर में ब्रह्माणी ने कहा—"प्रयोजन कुछ नहीं, आप मुझे पहिले इसका उत्तर दे दीजिये।"

ब्रह्मा जी ने प्रेम से पुचक कर कहा—वैसे ही कोई बात न चीत। तुमसे बढ़कर और संसार में कौन पतिव्रता है?"

ब्रह्माणी जी ने प्रेम के स्वर में कहा—"अब महाराज! आप ये चाटुकारिता की बात न कीजिए, सत्य-सत्य बताइए। मैंने तो सुना है आज कल अनसूया से बढ़कर कोई पतिव्रता संसार भर में नहीं है।"

यह सुनकर ब्रह्मा जी को कुछ चिंता भी हुई, ऊपर से मुस्कराये भी। सोचा—कुछ दाल में काला है। स्त्रियों में असूया शीघ्र आ जाती है। अनसूया में यही विशेषता है, कि किसी के प्रति भी उनके मन में असूया नहीं, डाह नहीं, ईर्ष्या नहीं। बात तो सत्य है उनके समान कौन हो सकता है? बात को टालने की दृष्टि से ब्रह्मा जी बोले—"तुमसे यह बात किसने कही?"

ब्रह्माणी जी इधर-उधर देखने लगी। नारद जी का पता ही नहीं। माता-पिता की ऐकान्तिक रहस्य की बातों के समय सयाने पुत्र को वहाँ नहीं रहना चाहिये। इस लिये नारद जी न जाने कब के अन्तर्धान हो गये थे। जब नारद जी को न देखा तो ब्रह्माणीजी ने कहा—"मुझसे काले चोर ने कहा। आप यह बताइये, बात सत्य है कि नहीं?"

ब्रह्मा जी ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा—"मान लो, सत्य ही है। तो इसमें तुम्हें चिन्ता करने की कौन सी बात है। वह तो तुम्हारी पुत्र वधू ही ठहरी।"

ब्रह्माणी जी ने रोष के स्वर में कहा—"मानसिक पुत्रों से क्या सम्बन्ध? वे तो आपके पृथक्-पृथक् अंगों से प्रकट होने से परस्पर में भिन्न ही हैं। देखिये, आप जैसे हो तैसे अनसूया को पतिव्रत धर्म से च्युत करें।"

उसी समय सर्वज्ञ भगवान् ब्रह्मा जी ने ध्यान लगाया। सब बात वे समाधि में ही समझ गये, भगवान् कुछ कौतुक करना चाहते हैं। वे शीघ्रता से मुकुट सम्हालते हुए बोले—"अच्छी बात है, मैं जाता हूँ।" यह कह कर वे हंस पर चढ़ कर अकेले ही चल दिये।

भगवती मंदाकिनी के तट पर तीनों देव महामुनि अत्रि के आश्रम में पहुँचे। परस्पर में एक दूसरे से प्रणाम-नमस्कार हुआ, सभी ने अपने-अपने आने का कारण बताया। भगवान् तो सब समझते ही थे, अतः वे बोले—"हम तीनों वेष बदल कर भगवती अनसूया के पतिव्रत की परीक्षा करने चलें।" सभी ने इस बात को स्वीकार किया और तीनों साधु वेष से अनसूया देवी

के निकट पहुँचे । उस समय भगवान् अत्रि आश्रम में नहीं थे । अतिथि रूप में तीनों मुनियों को आते देखकर पतिव्रता अनसूया ने उनका स्वागत सत्कार किया । पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय देकर उसने कन्द, मूल, फल मुनियों को भेंट किये किन्तु मुनियों ने देवी के आतिथ्य को स्वीकार नहीं किया ।

तब देवी ने विनीत भाव से पूछा—"मुनियो ! मुझसे कौन सा अपराध हो गया, जो आप मेरी की हुई पूजा को ग्रहण नहीं कर रहे हैं !"

मुनियों ने कहा—"आप हमें एक वचन दें, तो हम आपकी पूजा को ग्रहण करेंगे, अन्यथा नहीं ग्रहण करते ।,,

देवी ने कहा—"मुनियो ! अतिथि का सत्कार प्राणों को बलिदान करके भी किया जाता है । कपोत ने अपनी स्त्री के मारने वाले व्याधा का सत्कार स्वयं अग्नि में कूद कर प्राण देकर भी किया था । आप जिस प्रकार भी प्रसन्न होंगे उसी प्रकार मैं करने को उद्यत हूँ ।,,

तब तो मुनियों ने कहा—"देवि ! तुम विवस्त्र होकर हमारा आतिथ्य सत्कार करो ।"

यह सुनकर तो पतिव्रता अनसूया हक्की-बक्की सी रह गई । ये मुनि हैं या कोई छद्मवेषधारी कपटी, जो ऐसा अनुचित सदाचारहीन प्रस्ताव कर रहे हैं । उन्होंने ध्यान लगा कर समाधि में देखा, तो सब रहस्य समझ गई और बोलीं—मैं आपका विवस्त्र होकर सत्कार करूँगी । यदि मैं सच्ची पतिव्रता हूँ मैंने कभी स्वप्न में भी पर-पुरुषका काम भाव से चिन्तन न किया हो, तो तुम तीनों छः छः महीने के बच्चे बन जाओ ।"

पतिव्रता का इतना कहना ही था, कि तीनों छः-छः महीने के दूध पीने वाले बच्चे बन कर पालने पर कुलबुलाने लगे । माता ने विवस्त्र होकर अपना स्तन पान कराया और पालने पर सुला दिया । इतने में ही महामुनि अत्रि भी वहाँ आ गये । तीनों सुकुमार बच्चोंको देखकर वे आश्चर्य चकित होकर पूछने लगे—"देवि ! ये देव स्वरूप परम सुन्दर, अत्यन्त मनोहर, मन को स्वतः ही अपनी ओर खींच लेने वाले, तीनों बच्चे किस भाग्यशाली के हैं ?"

भगवती अनसूया ने कहा—"भगवान् ! ये आपके ही बच्चे हैं ।"

ऋषि बोले—"हमारे ऐसे भाग्य कहाँ ?"

देवी ने कहा—"नहीं, महाराज ! आपके ही हैं । भगवान् ने स्वतः कृपा की है ।" मुनि सब रहस्य समझ गये । अब तो तीनों देवता बच्चे बने क्रीड़ा करने लगे । माँ अनसूया उन्हें खिलाती-पिलाती, पुचकारतीं, प्यार करतीं । ये सब भी उमंग में भर कर माँ के साथ क्रीड़ायें करते ।

इधर जब तीनों देवियों ने देखा हमारे पति तो आये ही नहीं, तब तो वे बड़ी ही चिन्तित हुई । जिससे पूछें, वहीं कहदे माताजी ! हम तो जानते ही नहीं ! क्या कहें कहाँ रह गये ? तीनों घरसे निकलीं ! दैवयोग से तीनों की चित्रकूट में भेंट हो गई । परस्पर में मिल कर एक दूसरी ने अपना दुःख बताया । लक्ष्मीजी ने सतीजी से पूछा—"तुम्हें कैसे पता चला ?"

उन्होंने कहा—"हम से तो नारद ने ये सब बातें कहीं थीं ।"

शीघ्रता से ब्रह्माणीजी बोल उठीं—हाय ! उसी नेमेरे भी कान भरे थे " ।

लक्ष्मीजी भी सिर ठोंकने लगी । तीनों नारदजी पर क्रोध कर रहीं थीं । लक्ष्मी बड़ी कुपित हो रही थीं । दाँत पीसकर बोलीं—"यदि वह तूमड़िया कहीं मिल जाय, तो उसकी तूमड़ी-फूमड़ी फोड़ दूँ । उसकी ऐसी मरम्मत करूँ कि छुटी तक का दूध याद आ जाय । " वे यह कह ही रहीं थीं कि सामने से 'जय रामकृष्ण हरि' धुनि करते हुए नारदजी दिखाई दिये ।

दूरसे ही नारदजी ने कहा—'माताजी ! दण्डौत ! सब माताओं को दण्डौत ।"

लक्ष्मीजी तो मन ही मन क्रोधित थीं, सभी का रोष पराकाष्ठा को पहुँच रहा था । अपने रोष को छिपा कर

लक्ष्मीजी बोलीं—"वाह नारदजी! बड़े अच्छे समय पर आये। दूर क्यों खड़े हो, हमारे पास आओ। तुम्हारी यह वीणा तो बड़ी सुन्दर है। देखें,तनिक इसे कैसी है? ये सरस्वतीजी बड़ी सुन्दर वीणा बजाती हैं।"

नारदजी तो सब समझ रहे थे बोले—"माताजी! मैं आजकल एक अनुष्ठानमें हूँ। मैं किसीके पास जाकर बातें नही करता, विशेषकर स्त्रियोंसे तो दूर ही रहता हूँ। किसी के पैर भी नहीं छूता। रही वीणा की बात सो यह तो मुझे प्राणों से भी प्यारी है; इसे तो मैं किसी को छूने तक नहीं देता। सरस्वती जी अपनी वीणा बजावें। अपने राम तो चले, जय-जय सीताराम!" इतना कहा और नारद जी चल पड़े।

अब तो तीनों बड़ी घबड़ाईं। बड़ी कोमल वाणी में ब्रह्माणी बोली—' नारद! तुझे मेरी शपथ, अपने जो,तू लौट कर न आवे। भैया! एक बात सुन जा। तू सब जानता है। तीनों देवता कहाँ चले गये?"

नारद जी उँगली से संकेत करते हुए कहा—"देखो वह भगवती अनसूया का आश्रम है, उसी में खेलरहे हैं।

लक्ष्मी जी शीघ्रता से बोली—"ऐसा भी क्या खेल? इतने दिन हो गये। तू हमारे पास आ। अब तेरी वीणा फीणा नही फोड़ूगी, बात तो बता। हम किस तरह अपने पतियों से मिल सकती हैं?"

नारद जी बोले—"मैं इन बातों को क्या जानूँ। मैं तो माताओं से मिलना जानता हूँ।

पार्वती जी बोली—"अरे भैया नारद! तेरे पेट में दाढ़ी है, तू सब जानता है। हम इस आश्रम के भीतर जाना चाहती हैं कैसे जायँ? भगवती अनसूया अप्रसन्न तो न होगी? हमें उनका बड़ा डर है।"

नारद जी ने कहा—"तुम भूलकर भी पैर मत रखना। जहाँ तुम भीतर गईं, कि देवी ने अपने सतीत्व के बल से सबको भस्म किया।"

तीनों बड़ी घबड़ाईं और बोलीं—"नारद! भैया! देख, अब हँसी मत कर। सब बात बता दे, कहाँ हैं वे तीनों?"

नारद जी हँसी रोककर बोले—"वे तीनों तो म्याऊँ म्याऊँ कर रहे हैं। तीनों की बोलती बन्द है। खोवा पीते हैं और किलकिलाते हैं, बिल्ली के से बच्चे बने हुए हैं। सती जहाँ बिठाती है बैठते हैं, जहाँ लिटाती है लेटते हैं। अब उनकी आशा छोड़ो। पन्द्रह बीस वर्ष में बड़े होंगे, तब माता उनकी दूसरा विवाह करेगी। अब तुम सब भस्म रमाकर, माला लेकर राम-राम रटो। दूसरा कोई उपाय नही। अब समझ गईं, अनसूया के समान संसार में दूसरी कोई सती नही?"

लक्ष्मी जी बोली—"यह सब विष की बेलि तेरी ही बोई हुई है। अब भैया. तू जीता हम सब हारी। जैसे हम उनसे मिल सकें, वह उपाय बता दे। हमने अपने किये का फल पा लिया। सत्य है, कभी किसी गुणवान् के प्रति असूया नहीं करनी चाहिये। सबसे बड़ा पाप दूसरों से ईर्ष्या डाह करना ही है।"

नारद जी बोले—"अब आईं ठीक ठिकाने पर। पश्चात्ताप से सभी पाप धुल जाते हैं। अब एक ही उपाय है। तुम सती की शरण में जाओ, तभी कल्याण होगा।"

तीनों आश्रम के समीप गईं। किवाड़ें बन्द थीं, किसी का साहस नहीं हुआ किवाड़ खोलकर भीतर घुस जायँ। न जाने सती असन्तुष्ट हो जाय। देवी संभव है स्नान करने मन्दाकिनी गई हों। कुटी के पीछे एक विशाल वट वृक्ष था,उसी पर चढ़कर देखती हैं,तो तीनों देव बच्चे बने एक पालने में किलक रहे हैं। विष्णु भगवान् ने कनखियों से लक्ष्मी जी को देखा और चिल्ला उठे—म्याऊँ-म्याऊँ। लक्ष्मीजी ने हाथ का संकेत करते हुए कहा—"क्यों ढोंग बनाये हुए हो, आ जाओ।" वहीं से हाथ हिलाने लगी। तीनों ने तीनों को देखा। किन्तु भगवान् तो सती के तप के वश में थे, अतः वे तो बिना पूछे जा नहीं सकते। तीनों देवियाँ अनसूया के शाप से भयभीत थीं। अतः उनका साहस नहीं हुआ, बिना पूछे नीचे उतर जायँ। थोड़ी ही देर में भगवती अनसूया गीले वल्कल पहिने आ गईं। तीनों शीघ्रता से पेड़ से उतर कर, कुटी के द्वार पर खड़ी हो गईं। वहीं से पुकारने लगीं—"माता जी! माता जी! हम भीतर आवें?"

माता जी ने भीतर से ही पूछा—"तुम कौन हो?"

तीनों ने कहा—"हम तुम्हारी पुत्रवधू हैं।"

माता ने कहा—"अरी, बहुओं को अपने घर में क्या पूछना ? आजाओ, यह तो तुम्हारा ही घर है।" यह सुनकर तीनों लजाती हुई, भीतर गईं, माता अनसूया के पैर छुए। माता ने कहा "बड़ी अवस्था वाली हो, अपने पति की प्यारी हो, मेरे बच्चे तो अभी छोटे-छोटे हैं। बहुयें तो बड़ी लंबतड़ंगी हैं।"

इतने में ही महामुनि अत्रिजी भी आ गये। तीनों बहुयें घूंघट मारकर एक ओर हट गईं। मुनि ने पूछा—"देवि ! ये तीनों कौन हैं ?"

अनसूया जी ने कहा—"भगवान् ये आपकी पुत्रवधू हैं।"

मुनि बोले—"देवि ! तुम बड़े कौतुक रच लेती हो। अभी तो पुत्र बना लिये। वे पूरे छः महीने के भी नहीं हुए, कि पुत्र बधुयें भी आ गईं ! हाथ हाथ भर के बच्चे पाँच-पाँच हाथ की बहुयें, यह कैसी विचित्र बातें हैं ?"

अनसूया देवी बोलीं—"महाराज, इसमें क्या हानि ? बड़ी बहू, बड़े भाग्य—यह कहावत है। बच्चे भी एक दिन बड़े हो जायँगे।" यह सुन कर मुनि हँस पड़े और सब रहस्य समझ गये।

अब तीनों ने सती के पैर पकड़े—"देवि ! हमें क्षमा करिये। अपने किये का हमने फल भोग लिया। अब हमें हमारे पतियों को दे दीजिये।"

अनसूयाजी ने कहा—"मैं कब मना करती हूँ ? ले जाओ गोदी में उठाकर, ये सो रहे हैं।"

तीनों देवियों ने कहा—"माताजी ! अब हमें बहुत लज्जित न करें संसार में हमारी हँसी न करावें, कोई क्या कहेगा ? इन्हें जैसे का तैसा कर दीजिये।"

तीनों देवियों को दुखित देखकर माता का हृदय पसीज गया। उन्होंने हाथ में जल लेकर बच्चों के ऊपर छिड़क दिया। तीनों देव अपने-अपने स्वरूपों में अपने-अपने वाहनों पर विराजमान थे। सती साध्वी अनसूया ने उठ कर तीनों देवों की वन्दना की, पूजन किया और प्रदक्षिणा की। माता की पूजा से प्रसन्न होकर तीनों देवताओं ने कहा—"पतिव्रते ! हम तुम्हारे पातिव्रत से अत्यन्त ही सन्तुष्ट हैं। तुम हम से जो चाहो वरदान माँग लो।"

यह सुनकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवों को नमस्कार करके गद्गद् कंठ से भगवती अनसूया ने कहा—"यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं यही वरदान माँगती हूँ, कि तुम तीनों मेरे पुत्र हो जाओ।

प्रसन्न होकर तीनों देवों ने कहा—'तथाऽस्तु' अच्छी बात है, हम तीनों अपने-अपने अंशों से आकर आपके पुत्र होंगे।"

अनसूया को इस प्रकार वरदान देकर, सम्मुख लज्जा से नीचा सिर किये हुये लक्ष्मी जी, सतीजी और ब्रह्माणी जी को देखकर तीनोंने पूछा—"बताओ, आज-कल संसार में सबसे श्रेष्ठ सती कौन है ?"

लजाते हुये तीनों ने एक स्वर में कहा—"पुण्यश्लोका प्रातःस्मरणीया भगवती अनसूया देवी ही सर्व श्रेष्ठ सती हैं। इससे बढ़कर पतिव्रता संसार में दूसरी कोई नहीं है।"

(भागवती कथा से)

जीवन क्या है ?

जो तन संतन मातु पिता गुरु सेव, लगा नहिं सो तन क्या है।
जो धन दीन दरिद्र न वा हरि, हेतु दिया नहिं सो धन क्या है ॥
मानव ने अपने मन को वश में न, किया वह मानव क्या है।
जीवन में जग जीवन को नर जो, न भजे जग जीवन क्या है ॥

(श्री स्वामी नारायणदास जी)

विदाई पत्र

श्री दैवी सम्पद महामंडल, फिरोजाबाद के उत्सव में नगर निवासियों की ओर से यह विदाई पत्र उत्सव प्रेसीडेन्ट श्री रामगोपाल मीतल ने बडे कारुणिक वाणी में पढकर सुनाया था।

श्री १०८ श्री स्वामी हीरानन्द जी महाराज, श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज, श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज एवं सभी संत समाज तथा विद्वद्गण के चरणों में:—

वीतराग शिरोमणे !

आज हमें इस बात का पूर्णरूप से अनुभव हो रहा है कि इन दिनों अशरण शरण करुणा सागर भगवान नारायण की हम पर असीम कृपा हो रही है। तभी तो आप सरीखे वीतराग तपोनिष्ठ महात्माओं के पावन चरणों के शुभ दर्शन करने और अमृतमय प्रवचनों को श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। और इसलिये हम भी आज भक्तराज विभीषण की भाँति पूर्ण आत्म विश्वास के साथ कह सकते हैं! कि:—

अब मोहि भा भरोस हनुमंता।
बिनु हरि कृपा मिलैं नहिं सन्ता॥

वास्तव में भगवान की कृपा के बिना सन्तों के दर्शन परमदुर्लभ हैं। सन्तों का दर्शन भगवान की कृपा का एक सकेत है। और वह सकेत हमें आज प्राप्त हुआ है जिसके अनुसार अपने ऊपर की भगवान की कृपा का अनुभव कर हम आनन्द से विभोर होकर गदगद हृदय से भगवान की दयालुता का अभिनन्दन किये बिना नहीं रह सकते। जिन्होंने अपनी दिव्य प्रेरणा से आप जैसे संतों को हम नगर निवासियों के ऊपर कृपा करने को भेजा।

ब्रह्मानन्द सागर में अनवरत स्नान शील! गुरुदेव! भगवान की कृपा से आप भले ही पधारे हो। किन्तु हमें तो इसबात का पूर्ण विश्वास हो रहा है, कि आपने ही हम लोगों को दर्शन देने के लिये और हमारा कल्याण करने के लिये भगवान की अदालत में प्रस्ताव रक्खा होगा और फिर भगवान ने सहर्ष स्वीकृति देदी होगी जिस के फल-स्वरूप आप यहाँ पधारे, क्यों कि आप सरीखे सन्तों का हृदय सर्वदा दुःख सागर में पड़े हुये जीवों के ताप से दुखित होता रहता है, और फिर उन जीवों पर करुणा करके ही आप अपने ब्रह्मानन्द के अनुभव में बाधा डालकर हमसरीखे क्षुद्र जंतुओं को पथ प्रदर्शन करने के लिये स्वयमेव आ पहुँचते हैं। वास्तव में सन्तों का हृदय नवनीत अर्थात् मक्खन से भी अधिक द्रवीभूत होता है। तभी तो कवि कुल चूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है:—

संत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहा न जाना॥
निजपरिताप द्रवहि नवनीता, पर परिताप सन्त सुपुनीता॥

वास्तव में सत जन भव सागर में डूबने वाले जीवों पर निर्हेतुक कृपा करके ही उनका कल्याण करने को आते हैं।

स्वरूप और भगवान् स्वरूप के परिचायक आचार्य!

आपने भगवान् के दिव्य सन्देश को बारम्बार सुनाकर हमें इस बात के लिये सचेत किया है कि हम भगवान् के ही हैं। हमारा जीवन भगवान् के लिये ही है। अतः हमें भगवान् की दिव्य सेवा के लिए सर्वदा लालायित रहना चाहिए और उस दिव्य सेवा को प्राप्त करने के लिए एक मात्र भगवान् के ही श्री चरणों का आश्रय लेना चाहिये। क्योंकि भगवान् की शरणागति से ही जीवों के अनन्त जन्मो के पापों का विनाश हो सकता है; जैसा कि श्री भगवान् ने ही अपने श्री मुख से कहा है:—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
कोटि जन्म अघनासहि तबहीं॥

वास्तव में जब जीव ससार से विमुख होकर भगवान् के सम्मुख होता है, तभी उसका कल्याण हो सकता है। किन्तु जीव भगवान के सम्मुख तभी हो सकता है जब वह गुरुदेव के द्वारा अपने और भगवान के वास्तविक

स्वरूप को पहचान लें। आज हमारा यह सौभाग्य ही है कि हमको आप से दयासागर गुरु मिले जिन्होंने अनेक बार हमें हमारे वास्तविक स्वरूप को बताया और भगवान के श्रीचरणों की ओर प्रवृत्त किया और भविष्य में भी हम जब कभी इस मार्ग से भटकेंगे तो भगवान् अवश्य ही हमें आप के द्वारा सचेत करते रहेंगे। ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

करुणा वरुणालय सन्त मूर्द्धन्य !

आपकी ही कृपा से हमें—

मुद मंगल मय संत समाजू। जिमि जग जंगम तीरथ राजू॥

के अनुसार संत समाज रूप जगम तीर्थराज के घर बैठे दर्शन हुये हैं। और इस तीर्थराज में हमने सभी देवों के दर्शनों से लाभ उठाकर आप के द्वारा प्रवाहित कर्म-ज्ञान-भक्तिमयी प्रवचनरूपा त्रिवेणी में प्रातः और सायं दोनों समय स्नान कर अपने को शुद्धान्तःकरण बनाने की ओर प्रवृत्त किया है। किन्तु अब इस त्रिवेणी में स्नान करना तो दूर रहा, इनके दर्शन भी हमें न मिल सकेंगे। हम जब प्रातः काल और सायंकाल यहाँ प्रति दिन की भाँति इस पावन त्रिवेणी में स्नान करने आवेंगे और जब इस त्रिवेणी को यहाँ न पावेंगे तो अपने भाग्य को बारम्बार कोस कर आठ-आठ आँसू रोवेंगे। प्रभो ! उस समय हम नगर निवासियों को कौन धीर बँधावेगा; कौन हमारे आँसुओं को पोंछेगा क्योंकि.—

मोरे तुम प्रभु गुरु पितु माता।
जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता॥

किन्तु बहुत संभव है उस समयः—

श्री गुरु पद नख मनिगन जोती।
सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥

के अनुसार आप के पावन चरणों का स्मरण करने से हमारे हृदय में दिव्य दृष्टि उत्पन्न होजावे और हम उस दिव्य दृष्टि के द्वारा इस त्रिवेणी का मानसिक अनु-संधान कर उसमें स्नान कर सकें, किन्तु ऐसा होना भी आप की ही अहैतुकी कृपा के ऊपर निर्भर है।

भव सागर तारण कुशल कर्ण धार !

आज आप के वियोग में हमारी वही दशा होने वाली है जो किः—

राम चलत अति भयउ विषादू।
सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥ और
राम वियोग विकल सब ठाढे।
जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढे॥

आदि में वर्णित अवध निवासियों की हुई थी ! गुरुदेव ! यद्यपि "*विषय वियोग न जाइ बखाना*" के अनुसार आप के वर्णनातीत वियोग जन्य दुःख को सहन नहीं किया जा सकता है। तथापि "*अवधि आस सब राखहिं प्राना*" के अनुसार हम आप के पुनः आने की पूर्ण आशा से ही इस वियोग को सहन करेंगे और इसी आशा से नहीं चाहते हुये भी आज आप को विदाई देते हुये भगवान् लक्ष्मी नारायण से आप का मंगलाशासन मनाते हैं।

स्वामिन् !

आप को यहाँ आने का जो कष्ट हुआ होगा, उसके लिये आप के प्रति आभार प्रदर्शन करना भी अपने स्व-रूप से वंचित होना ही है। क्योंकि हम तो आप के ही हैं। और यदि स्वामी ने अपनी वस्तु को स्वयं आकर संभाल लिया तो वस्तु किस बात का स्वामी के प्रति आभार प्रदर्शन करे।

प्रभो ! हमारी अन्त में आप से यही विनम्र प्रार्थना है कि आप शीघ्रातिशीघ्र यहाँ पधार कर अपने शुभ दर्शन देकर

प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी।
जनित वियोग बिपति सब नासी॥

की भाँति सभी के वियोग जन्य दुःख को दूर करें ! जिससे इस नगर का प्रत्येक व्यक्ति सुखी होकर अवध-निवासियों की तरह यह कहने लगेः—

अवकुशल कौशलनाथ, आरत जानि जन दरसन दियो।
बूडत विरह वारिधि कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

सत्संग-समाचार

पुण्य-शीतल-सलिला, कलकल-निनादिनी, पतित-पावनी भागीरथी के मनोरम तटवर्ती नयनाभिराम परमार्थ-निकेतन स्वर्गाश्रम में सदैव की भाँति इस वर्ष भी सत्सग के सुन्दर आयोजन से सहस्रों भावुक नर-नारियों ने अलभ्य लाभ प्राप्त किया। वीतरागी संतों की पावन वाणी का प्रसाद प्राप्त कर, परमार्थ-निकेतन पधारने वाले प्रेमियों ने अपने जीवन को धन्य माना। पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी तथा श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज के अतिरिक्त दैवी सम्पद मण्डल के सभी महात्माओं के हृदयस्पर्शी प्रवचनों से जन-मन में नव चेतना का संचार हुआ। समय-समय पर जिन वन्दनीय संतों ने अपनी कल्याणमयी वाणी एवं चरणधूलि से आश्रम को पवित्रतम बनाया उनकी प्रातः स्मरणीय नामावली इस प्रकार है:—

अखिल शास्त्र-निष्णात महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेश्वरानन्द जी महाराज, महामण्डलेश्वर स्वामी पूर्णानन्द जी, वयोवृद्ध श्री स्वामी हीरानन्द जी, परम तपस्वी प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती, प्रज्ञाचक्षु श्री स्वामी शरणानन्द जी, स्वामी पलक निधि जी 'पथिक' आदि। इनके अतिरिक्त अनेक कथावाचक महानुभावों की मधुर कथा से आनन्द वर्षा होती रही।

६ मई से १३ मई तक भागवत सप्ताह धौलपुर निवासी श्री मथुरा प्रसाद जी के द्वारा समारोह पूर्वक सम्पन्न हुआ वाणी-विशारद कीर्तन-कलानिधि श्री 'मंजुल' जी की हृदयग्राही कथा और सुमधुर वाणी ने भक्तों को मंत्रमुग्ध बना दिया। इसके पश्चात् बम्बई निवासी श्री सेठ मटरूमल जी बाजोरिया द्वारा सहस्र चण्डी महायज्ञ का आयोजन हुआ। ६५ विद्वान पण्डितों द्वारा दुर्गासप्तशती के पाठ हुए। स्वाहा-स्वधा की आमोदमयी ध्वनि से परमार्थ-निकेतन की पावन पुण्यस्थली गुञ्जरित हो गई। श्री गंगा जी की सांध्य-आरती का मनोरम दृश्य तो चिरस्मरणीय रहेगा।

सभी पंडितों को एक-एक स्वर्णमुद्रा एवं भोजन वस्त्रादि देकर धर्मानुरागी बाजोरिया जी ने सम्मानित किया।

परमार्थ-निकेतन की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वहाँ से प्रस्थान करते समय स्वामी जी से घर वापस जाने की आज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् हृदय करुणा से पूर्ण बन जाता है और भव्य भावों से भरा मन भावुक भक्तों के नयनों से पिघल कर बहने लगता है।

इस वर्ष परमार्थ निकेतन स्वर्गाश्रम में पधारने वाले भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश महामहिम श्री पतंजलि शास्त्री तथा प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू की पार्लामेन्ट्री सेक्रेटरी श्रीमती लक्ष्मी मेनन के नाम उल्लेखनीय है।

गुरु-पूर्णिमा

इस वर्ष श्री एकरसानन्द आश्रम मैनपुरी में आषाढ़ पूर्णिमा के अवसर पर गुरु-पूर्णिमा का महोत्सव अत्यन्त समारोह से ता० २४, २५ और २६ जुलाई को मनाया जाना निश्चित हुआ है इस महोत्सव में दैवी सम्पद मण्डल के सभी महात्मा एव सहस्रों भक्त नर-नारी सम्मिलित होंगे।

सभी भक्तों से प्रार्थना है कि इस महोत्सव में सम्मिलित होकर गुरु-पूजन का परम लाभ एव सन्तों के दर्शन तथा उनकी पावन वाणी का देव-दुर्लभ प्रसाद प्राप्त करें।

—व्यवस्थापक
श्री एकरसानन्द आश्रम, मैनपुरी

आवश्यक सूचना

'परमार्थ' मासिक पत्र एवं परमार्थ प्रेस के द्वारा सदाचार, भक्ति ज्ञान वैराग्य आदि दैवी सद्गुणों एवं आध्यात्मिकता का अपने देश में अधिकाधिक प्रसार हो, इस उद्देश्य से संस्थापक-द्वय पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी तथा श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज ने परमार्थ निकेतन स्वर्गाश्रम में निम्न लिखित सज्जनों की एक समिति बनाई जो अपने परामर्श और सहयोग से पत्रिका और प्रेस को उन्नत बनाकर चिरकाल तक जनता-जनार्दन की सेवा करती रहेगी।

१—श्री स्वामी सदानन्द जी सरस्वती, मुमुक्षु आश्रम, शाहजहांपुर।	संयोजक
२—,, डाक्टर जयनारायण जी सक्सेना, बहादुरगंज, शाहजहांपुर।	सदस्य
३—,, रामगोपाल जी बर्तन वाले बहादुरगंज, शाहजहांपुर।	,,
४—,, रामबहादुर जी 'काश्यप' दिलावरगंज शाहजहांपुर।	,,
५—,, मटरूमल जी बाजोरिया ७४ मेरीन ड्राइव, बम्बई।	,,
६—,, साहू रामस्वरूप जी १३ सिविल लाइन बरेली।	,,
७—,, मोतीलाल जी अग्रवाल हरिहर निवास, स्वरूपनगर कानपुर।	,,
८—,, शान्तिप्रसाद जी खंडसारी, सहामतगंज बरेली।	,,
९—,, विश्वंभरनाथ जी अग्रवाल, ३१ बाइचन्द इलाहाबाद।	,,
१०—,, चांदकिशोर जी अग्रवाल साड़ी वाले, गली परामठा देहली।	,,
११—,, बाबूलाल जी सलमे वाले, मटिया महल देहली।	,,
१२—,, जगदीशप्रसाद जी अग्रवाल, १० निकलसन स्क्वायर, नई देहली।	,,

(१) प्रथम चार सदस्यों की कार्यकारिणी समिति निर्वाचित हुई। जो प्रेस पत्रिका तथा प्रकाशन विभाग की देख-भाल करेगी। संयोजक के अतिरिक्त शेष तीनों सदस्यों में से कोई व्यक्तिगत अथवा तीनों सम्मिलित रूप से सप्ताह में दो बार पधारेंगे और प्रेस तथा पत्रिका की उन्नति के लिये अपनी सम्मति संयोजक को बतायेंगे। संयोजक मास में एक बार कार्यकारिणी की मीटिंग का आयोजन करेंगे।

(२) श्री स्वामी सदानन्द जी सरस्वती तथा श्री 'मंजुल' जी 'परमार्थ' के प्रधान सम्पादक निश्चित हुये। अपनी सहायता के लिये उन्हें सहायक सम्पादक मंडल के चुनाव का अधिकार रहेगा।

(३) संयोजक महोदय, कमेटी के सभी सदस्यों तथा दोनों संस्थापकों को प्रत्येक मास की ७ तारीख तक, मासिक-प्रगति का विवरण भेजेंगे तथा वर्ष में कम से कम एक बार मुमुक्षु आश्रम, शाहजहांपुर अथवा परमार्थ निकेतन स्वर्गाश्रम पर समस्त सदस्यों के सम्मेलन का आयोजन करेंगे।

फ़ोन नं० १०१ रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

नम्र-निवेदन

१—'परमार्थ' प्रेमियों से प्रार्थना है कि इस अंक के रैपर पर जो पता लिखकर आपकी सेवा में पत्रिका जा रही है, उसमें यदि किसी प्रकार की त्रुटि हो तो कृपया शीघ्र ही पत्र द्वारा कार्यालय को सूचित करदें, जिससे भविष्य में अंक के गुम होने की संभावना न रहे।

२—जिन ग्राहकों को पिछले अंक डाक द्वारा प्राप्त न हुए हों वे निस्संकोच हमें सूचित करदें। उनकी सेवा में हम दुवारा अंक भेज देंगे जिससे उनकी वर्ष की फाइल अधूरी न रहे।

३—'परमार्थ' के प्रचार और प्रसार के निमित्त यह भी निश्चय हुआ है कि जो सज्जन दस ग्राहक बनावेंगे उन्हें स्वेच्छानुसार किसी एक वर्ष के सभी अंक बिना मूल्य दे दिये जायंगे।

४—जो सज्जन एक साथ १०१) अग्रिम प्रदान करेंगे वे 'परमार्थ' के संरक्षक एवं आजीवन सदस्य माने जायँगे। उन्हें पत्रिका निःशुल्क मिलती रहेगी। ऐसे उदारमना संरक्षक महानुभावों की नामावली वर्ष के अन्तिम अङ्क में प्रकाशित होती रहेगी।

मुद्रक तथा प्रकाशकः—स्वामी सदानन्द सरस्वती, परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक पत्र

पुरुषार्थ

हमारे सद्गुरुदेव

वर्ष ४ गुरु पूर्णिमा महोत्सव ता० २४ से २६ जुलाई अङ्क ७

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि आध्यात्मवा
प्रकाशक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज
श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक—

स्वामी सदानन्द सरस्वती,
राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सहायक सम्पादकः—

सर्वश्री रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री साहित्यरत्न, पं० हृदयनाथ शास्त्री साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० साहित्यरत्न, रामबहादुर काश्यप, रामस्वरूप गुप्त।

राधा कृष्ण ओम में

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ जुलाई १९५३ | आषाढ़ शुक्ल पक्ष चतुर्थी बुधवार, सम्वत् २०१० | अङ्क—७

स्तुति

गोपाल गोकुल वल्लभी प्रिय गोप गोसुत वल्लभं ।
चरणारविन्दमहं भजे भजनीय सुर नर दुर्लभं ॥
घन श्याम काम अनेक छवि लोकाभिराम मनोहरं ।
किंजल्क वसन किशोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं ॥
सिर केकि पच्छ विलोल कुण्डल अरुन वनरुह लोचनं ।
गुन्जावतंस विचित्र सब अंग धातु भवे भय मोचनं ॥
कच कुटिल सुन्दर तिलक भ्रू राका मयङ्क समाननं ।
अपहरत "तुलसीदास" त्रास विहार वृन्दा काननं ॥

परमार्थ बिन्दु

विचार कीजिये—किसी रहँट के द्वारा जब कुँए से पानी निकाला जाता है तो उसमें शब्द होना स्वाभाविक है। उस समय यदि कोई घुड़सवार अपने घोडे को पानी पिलाने के लिये रहँट वाले से कहे कि इसकी खटखट बन्द करो तो मैं अपने घोडे को पानी पिलाऊँ क्योंकि शब्द से घोड़ा चौंकता है। क्या यह सम्भव है? कदापि नहीं। क्योंकि रहँट बन्द होने से खटखट बन्द होगी, साथ ही पानी भी बन्द होजायगा और घोड़ा प्यासा रह जायगा। घोडे की प्यास बुझानी है तो उस खटखट में ही पानी पिलाना पडेगा। इसी प्रकार निश्चय कीजिये कि जीवन की अन्तिम सांस तक प्रतिकूलता और जञाल की खटखट तो लगी ही रहती है और इसी खटखट मे रहकर ही आप को मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर लेनी अत्यावश्यक है।

× × ×

विचार कीजिये—किसी मैले-कुचैले वस्त्र को साफ किये बिना यदि उस पर रंग चढ़ाया जायगा तो लाभ की अपेक्षा हानि ही होगी। जैसे रग की आशा थी वैसा रंग नहीं चढा, समय नष्ट हुआ, कपड़ा और रग भी व्यर्थ गया। रगने से पहिले उस कपड़े को भली भाँति साफ कर लेना चाहिये, तब उस पर यथारुचि रग चढ़ जायगा। इसी प्रकार अशुद्ध कलुषित अन्तःकरण को आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व निष्काम सेवा द्वारा पहिले अपने अन्तःकरण को शुद्ध बना लेना चाहिये क्योंकि शुद्ध अन्तःकरण में ही वह तत्त्वज्ञान ठहर सकता है।

× × ×

विचार कीजिये—दर्पण के सामने जैसी आकृति आती है वैसा ही प्रतिबिम्ब उसमे दृष्टिगोचर होता है। दर्पण के भीतर अच्छा या बुरा कुछ नहीं है। वह तो निर्लेप है। इसी प्रकार निश्चय कीजिये कि निखिल ब्रह्माण्ड नियन्ता जगदीश्वर निर्लेप है उसमें किसी प्रकार के गुण-दोष का आरोप नहीं हो सकता। अर्थात् मनुष्य स्वयं जैसा कार्य करता है वैसा ही भला या बुरा फल भोग करता है।

× × ×

विचार कीजिये—जो मनुष्य जिस रग का चश्मा अपनी आँखों पर लगा लेता है उसे दुनियाँ का प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वस्तु अर्थात् जड़ चेतन सभी कुछ उसे उसी रग का दिखलाई पड़ता है इसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय में जिस प्रकार की भावना उठती है उसी भावना के अनुसार ही उसे सारा संसार प्रतीत होता है।

× × ×

विचार कीजिये—अध्यापक यदि अपने विद्यार्थी को दण्ड देता है तो क्या उसकी विद्यार्थी से शत्रुता है? नहीं। अध्यापक तो उसे विद्वान बनाने एव उसके भावी जीवन को सुखमय बनाने के निमित्त ही ताड़ना करता है। इसी प्रकार निश्चय कीजिये कि हम पर जो सकट दुख शोकादि आते हैं उन सभी मे मगलमय प्रभु की मंगल भावना छिपी हुई है। अपने अविनाशी अंश जीव की हित-कामना से ही उन दयामय की अहैतुकी कृपा रूप संकटों का आना अनिवार्य है।

"आनन्द"

उड़िया बाबा के उपदेश से

प्र० -वैराग्य किसे कहते हैं ?

उ०—विषय पास में रहने पर भी उन मे राग न हो । इन्द्रियों के समीप विषय रहने पर भी उनके भोग में अरुचि होने को वैराग्य कहते हैं, वैराग्य घर में रहने पर भी हो सकता है ।

कामिनी और काञ्चन से बचना बहुत ही कठिन है। इन मे भी कामिनी से तो बचना बहुत ही मुश्किल है एक बार बगाली बाबा मुझे सुनाते थे कि ऋषिकेश में एक बड़े उच्च कोटि के महात्मा रहते थे। जब वे अपने पाञ्चभौतिक शरीर को त्यागने लगे तो उनके शिष्यों ने कहा कि भगवन्! आज कृपा करके अपना अन्तिम उपदेश दीजिये। आपने अपने शिष्यों से कहा कि देखो अगर लाहौर से लेकर ऋषिकेश तक सुवर्ण का पहाड़ हो तो मेरा मन उसे पाने के लिये चञ्चल न होगा लेकिन अगर मुझे स्त्रियों में बिठला दिया जाय तो मुझे उम्मीद नहीं कि मेरा मन चञ्चल न हो। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि कामिनी से बचना बड़ा मुश्किल है।

मनुष्य सर्वदा सुख चाहता है किन्तु स्त्री, पुत्र और धन आदि में प्रेम होने से सर्वदा दुःख में ही सलग्न रहता है। पूर्व पुण्य के प्रभाव से सद्गुरु प्राप्त होने पर वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग का पथिक बनता है। गुरुवाक्य और सत् शास्त्र मे पूर्ण विश्वास होना ही परम लाभ है।

जगत् का कोई पदार्थ नित्य नहीं है। धन, विद्या, बुद्धि, गुण, गौरव आदि सभी मृत्यु के साथ धूल में मिल जाते हैं।

स्त्रियों को भीख माँगकर खाना अत्यन्त शास्त्र-विरुद्ध है। उन्हें न एकान्त मे जाना चाहिये न घर छोड़कर बाहर विचरना चाहिये। भ्रमण करने वाली स्त्री भ्रष्ट हो जाती है। वेदान्त बहुत सी स्त्रियाँ सुनती हैं परन्तु धारण कोई भी नहीं करती। भजन तो उसके द्वारा होता है जिसे क्रोध का स्पर्श भी न हो।

मन की यथार्थ अवस्था का परिचय तो स्वप्न मे ही होता है। यदि स्वप्न मे किसी वस्तु तथा किसी सम्बन्धित मनुष्य के दर्शन होते हैं तो समझ लेना चाहिये कि वह वस्तु या व्यक्ति मन मे भरा हुआ है।

बहुत पुरानी बात है, जब कि मैं कर्णवास की एकान्त झाड़ी में अभ्यास करता था, एक दिन स्वप्न मे देखता हूँ,-भिक्षा का समय हो गया। मैंने भिक्षा की झोली उठायी, बस्ती में गया, वहाँ एक चमचमाती हुई चाँदी की हवेली दिखलायी दी। मैंने ज्यों ही 'नारायण हरि, की आवाज देने का विचार किया त्यों ही हजारों स्त्रियाँ सुन्दर थालियों मे नाना प्रकार के भोजन लिये मेरे सामने आ गयीं। सभी कहती हैं-बाबा! यहीं भोजन कर लो।' मैंने कहा-मैं, तो एक टुकड़ा लूँगा। स्त्रियों ने आग्रह पूर्वक वहीं भोजन करने के लिये कहा। साथ ही यह भी कहा कि 'हमारा नियम है कि प्रेम से सब यहीं भोजन करायँगी। मैंने कहा—मेरे यहाँ भी ऐसा ही नियम है कि भिक्षा मे एक टुकड़ा से अधिक नहीं लेते और एकान्त मे ले जाकर मंगलमय श्रीहरि को भोग लगाकर तब पाते हैं।,

इतने ही में जाग गया। मन की इस लीला पर बड़ी हँसी आयी।

प्र०—कुछ सत कहा करते हैं कि हम तो अपने प्रारब्धानुसार ही भोग भोगते हैं। यदि ऐसी ही बात है तो दाता को उसके दान का कोई पुण्य होता है या नहीं ?

उ०—ठीक है, महात्मा का भोग तो अवश्य

उसके प्रारब्धाधीन ही है परन्तु दाता की श्रद्धा तो महात्मा का प्रारब्ध नहीं है। इसलिये अपनी श्रद्धा के प्रभाव से दाता को उसके दान का पुण्य अवश्य होगा।

प्र०—शिष्य के प्रधान लक्षण क्या हैं?

उ०—शिष्य में पहला लक्षण यह होना चाहिये कि वह अमानी हो और श्रद्धालु हो। जब तक अमानी न होगा तब तक शिष्य हो ही नहीं सकता। इसके सिवा उसे मत्सर रहित, गुरु में दृढ़ अनुराग रखने वाला, जल्दीबाजी से रहित और सत्यवादी होना चाहिये। कम-से-कम उसका श्रद्धालु और अमानी होना तो परम आवश्यक है।

प्र०—शिष्य कैसा होना चाहिये?

उ०—जो पाप से डरता हो, झूठ न बोलता हो, हठी न हो, सात्त्विक प्रकृति का हो, जिसे गुरु में पूर्ण विश्वास हो और गुरु-वाक्य में परम श्रद्धा हो। शिष्य में उद्दण्डता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उद्दण्ड को सद्गुरु स्वीकार नहीं करते। साधु के तीन लक्षण मुझे बहुत अच्छे लगते हैं, १-जीवन भर कामिनी को कभी स्वीकार न करे, २-कञ्चन का स्वीकार न करे और ३-रेल के लिये, खाने के लिये, वस्त्र के लिये भी कुछ न ले।

भजनानन्दी गृहस्थ को एक स्त्रीव्रती और शुद्ध आजीविका करने वाला अवश्य होना चाहिये। उसको यह समझना चाहिये कि मुझे परमार्थ के मार्ग पर चलना है अशुद्ध जीविका वाला परमार्थ-पथ पर नहीं चल सकता।

साधु यदि पैसा अपने पास रक्खेगा तो वह पतित से भी अधिक पतित होगा। अब तो मैं सब साधुओं से मिलता हूँ, परन्तु पहले मुझे एक सन्त ने कहा था कि पैसे वाले साधुओं का संग न करना।

प्र०—गृहस्थ शिष्य को क्या करना चाहिये?

उ०—गृहस्थ में रहते हुए पहले तो क्रोध का त्याग करना चाहिये। गृहस्थ हो या विरक्त जहाँ क्रोध आया कि किया हुआ साधन नष्ट हुआ। सहन शक्ति होनी चाहिये। सहनशक्ति कम होने से ही भजन में आनन्द नहीं आता। जब तक पाप से भय नहीं हुआ तब तक भजन भी प्रायः लोक दिखाऊ ही होता है। असली भजन उससे नहीं हो सकता। एक व्यक्ति वेदान्त का उपदेश तो बहुत देता था परन्तु जिस किसी से रुपये लेता, उसे कभी वापस नहीं देता। केवल ऐसे कथन करने वालों से कुछ लाभ नहीं।

प्र०—चित्तशुद्धि का साधन क्या है और यह कब समझना चाहिये कि चित्त शुद्ध हो गया?

उ०—चित्त शुद्धि के लिये दो बातों की आवश्यकता है-विवेक और ध्यान। केवल आत्मा-अनात्मा का विवेक होने पर भी यदि ध्यान के द्वारा उसकी पुष्टि नहीं की जायगी तो वह स्थिर नहीं रह सकता। इसके सिवा इस बात की भी बहुत आवश्यकता है कि हम दूसरों के दोष न देखकर निरन्तर अपने चित्त की परीक्षा करते रहें।

जिस समय चित्त में राग-द्वेष का अभाव हो जाय और चित्त किसी भी दृश्य पदार्थ में आसक्त न हो उस समय समझना चाहिए कि चित्त शुद्ध हुआ। परन्तु राग-द्वेष से मुक्त होने के लिये परमात्मा और महापुरुषों के प्रति राग होना तो परम आवश्यक है।

प्र०—भगवान् तो हमें दीखते नहीं इस लिये शरण कैसे हों?

उ०—विराट् स्वरूप भगवान तो हमें दीखते ही हैं; शक्ति शान्ति और सौन्दर्य—ये भगवान् के ही स्वरूप हैं।

विवाह और विच्छेद

(अनन्त श्री विभूषित काञ्ची पीठाधिपति जगद्गुरु शंकराचार्य जी महाराज)

(हम इस लेख में पूज्यपाद जगद्गुरु श्री शंकराचार्य काची कामकोटि पीठ के अधीश श्री स्वामी चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती महाराज, कुंभ कोणम के विचार प्रस्तुत करते हैं जो मनन करने योग्य हैं—अनुवादकः—श्री रा० वीलि नाथन्)

भारतीय लोक ससद में पास होने के लिये पेश किया हुआ "विवाह और विवाह विच्छेद का बिल" हिन्दू धर्मावलम्बियों के धार्मिक आचार-व्यवहारों में कुठाराघात ही नहीं करता, वरन भविष्य के हिन्दू सतानों के हित में भी यह अहितकर साबित होने वाला है। इस मसविदे के मुख्य विषय हैं:—विवाह के योग्य आयु, इतर वर्ण वालों या धर्मावलंबियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध, एक पत्नी व्रत, और विवाह विच्छेद।

विवाह के योग्य आयु:—बाल्य-विवाह की रोक-थाम के लिये लड़कियों की आयु पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से अनेक वर्ष पहले जो कानून बनाया गया है वह शारदा कानून नाम से प्रसिद्ध है, यह सबको विदित है। इससे होने वाले अनर्थों का आज की जनता शिकार बन चुकी है और पूर्णतया उसका फल भोग भी रही है। हिन्दू शास्त्रों में बताया गया है कि ऋतुमती होने के पहले लड़कियों का विवाह हो जाना चाहिये। पर शारदा कानून और आने वाला दोनों इस बात का नियन्त्रण कर रहे हैं, कि विवाह के समय लड़की की अवस्था कम से कम पन्द्रह वर्ष की हो। जब शास्त्रीय-प्रमाण अनुष्ठान में थे तब यह कड़ा नियम चालू था कि ज्यादा से ज्यादा अमुक उम्र तक लड़कियों का विवाह हो ही जाना चाहिये। फलस्वरूप उसके, हमारे जान में कोई ऐसी लड़की नजर न आयी, जिसका विवाह नहीं हुआ हो और अविवाहित कुँआरी रह गयी हो। परन्तु शास्त्र सम्मत नियमों पर चूँकि आज के कानून डिसिप्लिन का डंडा लेकर उन प्राचीन नियमों पर नियन्त्रण कर रहे हैं, इसलिये ऐसी कितनी ही वयस्का लड़कियाँ नजर आती हैं, जो अविवाहित ही रह गयी हैं। उनको शादी न होने का दुख सता रहा है, जिस दुख में पड़कर वे आठों पहर आँसू बहाती रहती हैं और अपने जीवन को भार स्वरूप मान वेदना की आग में जल भुन रही हैं। कई तो इतने दुःख से पीड़ित हैं कि उनकी आशा लता तक मुरझा गयी है कि इस जन्म में हमारा विवाह नहीं होगा और यह विश्वास जोर पकड़ गया है कि हमें आजीवन अविवाहित कुँआरी ही रहना पड़ेगा। फिर सदर्भ वशात् इससे होने वाले अनर्थों का क्या कहा जाये ?

हमारे देश के सुधारक लोग अमेरिका, इंगलैंड जैसे ठंडे देशों का अनुकरण करके उनकी हूबहू नकल उतारना चाहते हैं। अत: वे चाहते हैं विवाह की अमुक आयु निर्धारित हो। लेकिन तुर्रा यह है कि उन देशों में भी आज के विज्ञ लोग चाहते हैं कि विवाह की ज्यादा से ज्यादा आयु निर्धारित हो जाय और तब तक विवाह हो जाये। आयु के बढ़ने पर विवाह करने से जो दुखद अनुभव वहाँ हो रहे हैं, वे ही पाश्चात्य देश वालों को भी ऐसे निर्णय पर पहुँचने को बाध्य कर रहे हैं। हमारे अपने देश के कुछ विज्ञ लोग, जिनमें व्यवस्थापिका धारा सभा के सदस्य भी हैं और पहिले जिनका झुकाव पाश्चात्य देश के नियमों की तरफ था, पाश्चात्य देशों का भ्रमण करके वहाँ के हालात खास अध्ययन करके आये हैं। वहाँ की दशा को अपनी आँखों देखने पर वे अपनी पुरानी धारणायें बदल चुके हैं और पिछली पार्लियामेंट की बैठक में अपनी राय स्पष्टतया व्यक्त कर चुके हैं, जिसके कारण उस वक्त हिन्दू कोड बिल को स्थगित करना भी पड़ा था।

शास्त्रों में बताये अनुसार ऋतुमती होने के पहले विवाह करने से आत्म लाभ जो होता है, सो अलग। काम वासना के जगने के पहले अपने जीवन सहचर को प्राप्त कर लेने से, उसके प्रति लड़कियों के मन में एक अटूट व अलौकिक प्रेम जड़ पकड़ता है और अटल विश्वास भी जन्म लेता है, जिससे उनका वैवाहिक

दाम्पत्य जीवन मंगलमय बन जाता है।

वर्ण-संकर विवाह —हिन्दू शास्त्रों का उल्लंघन करके कोई अपने जाति-वर्ण को छोड़ अन्य जाति-वर्णों में अपना विवाह करे तो वह हिन्दू धर्म और संस्कृति के घोर विरुद्ध है। ऐसे वर्ण संकर विवाहों के कारण परपरागत स्वभावों की रक्षा नहीं हो पाएगी, कर्त्तव्यों के विभागों में ढीलापन आजाएगा तथा सामाजिक,धार्मिक और आध्यात्मिक हितों की हिफाजत न हो पायेगी। हमारे धर्म पर अनेक संस्कृतियों ने अनेक बार आक्रमण किये हैं जो अब स्वयं ऐसे नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं कि उनका नामों निशान तक अब मिट गया है। पर हजारों साल के बाद हमारा हिन्दू धर्म ज्यों का त्यों है। इसके मूल में कौन सा रहस्य छिपा है? आये दिन की विपत्तियों से हिन्दू धर्म अपनी रक्षा कैसे कर सका है? गौर करने पर पता चलेगा कि हिन्दू संस्कृति की महत्ता ही एक ऐसी चीज है जिसने भारत को गौरव प्रदान किया है।

अलावा इसके, वर्ण-संकर विवाह कुटुम्बों में होने वाले धार्मिक कृत्यों के प्रति बाधक साबित होंगे। कुटुम्ब के अन्यान्य सदस्यों को जिनकी कर्म-धर्म पर श्रद्धा है, अपने धार्मिक कार्यों में भाग लेने न देंगे और कुटुम्ब के सुख-दुख में किसी का कोई सम्बन्ध न रह जायगा।

एक पत्नी विवाह:—एक पत्नी व्रत के साथ साथ विवाह विच्छेद की जो बात चलती है, उससे भी अनेक हानियाँ होने की सम्भावना है। मुसलिमों को इस मसौदे से कोई वास्ता नहीं है। वे चाहे तो चार चार शादियाँ कर सकते हैं। अपनी जन संख्या की वृद्धि कर सकते हैं। यहाँ तक कि वे हिन्दुओं से भी अधिक संख्या वाले हो सकते हैं। इसका प्रमाण चाहिये तो पश्चिमी बंगाल को देखा जा सकता है। पिछले पचास सालों में वहाँ पर इसी प्रकार हुआ है। अगर यही हाल रहा तो हिन्दुओं की जनसंख्या इतनी घट जाएगी कि फिर राजनैतिक संसार में भी एक प्रकार का आन्दोलन मच जायेगा। फिर भी यह कहा जा सकता है कि यह मसौदा हिन्दुओं की भलाई को ध्यान में रखकर ही पेश किया जा रहा है। अलावा इसके यह भी कहा जाता है कि इस देश में पुरुषों से स्त्रियाँ संख्या में अधिक हैं। वन्ध्यापन आदि अन्य प्रकार के कारणों की ओर ध्यान न देकर, सभी लोगों पर एक पत्नी व्रत का कानून लादा जाय तो सोचने की बात है कि अविवाहित स्त्रियों की संख्या की ओर भी बढ़ना तो नहीं हो जायगा? बाद को ऐसी स्त्रियाँ राज-सत्ता के लिये भी एक कठिन समस्या बन जाएँगी। तिस पर एक और खूबी यह है कि समाज के सुधारक विधवा विवाह के पक्ष में प्रचार कर रहे हैं। ऐसी हालत में यह समस्या और भी पेचीदा हो जाय तो आश्चर्य क्या?

हिन्दू शास्त्रों का कहना है कि पुत्रकी उत्पत्ति आत्मिक उन्नति व श्रेयस् के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि एक पत्नी व्रत में कुछ अपवाद रखे गये। पहली स्त्री के वंध्या सिद्ध होने पर या पुरुष प्रजा के जन्म न देने पर अथवा पुत्रों के पैदा हो होकर मृत्यु हो जाने पर पुरुष को दूसरी शादी करने की स्वीकृति या अनुमति इस लिये दी गई है कि वह पुत्रकी कामना करके पुत्रवान् बने। न इस लिये कि वे केवल शारीरिक सुख भोग के लिये करें।

विवाह-विच्छेद दुखकर है:—पाश्चात्य देशों की देखा-देखी, जहाँ विवाह-विच्छेद सर्वसाधारण और रोजमर्रे की घटना है, हमारे देश में भी इस मसौदे को कानून का रूप देने का प्रयत्न किया जारहा है। लेकिन इस सम्बन्ध में ध्यान देने पर स्पष्ट रूप से विदित होगा कि पाश्चात्य देशों की सामाजिक स्थिति दिन प्रति दिन शोचनीय दशा को प्राप्त होरही है। उन्हीं देशोंके अनेक अनुभवी न्यायाधीश जिन्होंने अनेकानेक विवाह विच्छेद के मुकदमों की तहकीकात की है, इसी नतीजे पर पहुंचे हैं कि विवाह विच्छेद का यह कार्य अत्यन्त दुखद है।

पति-पत्नी के इस दाम्पत्य सम्बन्ध को इस मसौदे के बल पर अस्थायी रूप दिया जाय तो बच्चों की देख रेख और रक्षा का भार डगमगा जायेगा। पति पत्नी में कभी कोई मन मुटाव उठ खड़ा हुआ तो बच्चों का भविष्य अन्धकार के गर्त में ढकेल दिया जायगा। फिर विवाहित दाम्पत्य-जीवन का महत्व ही क्या रहेगा? कहना न होगा कि ऐसी हालत में 'विवाह' शब्द ही एक हास्यास्पद विषय बन जायेगा। हिन्दुओं के धार्मिक जीवन में जिस गृहस्थ जीवन का इतना बड़ा महत्व है, हिन्दू संस्कृति को जिस गृहस्थ जीवन पर इतना नाज है, वह पलक झपते तहस नहस हो जायेगा।

इस मसौदे की बहुत निकृष्ट शर्त यह है कि पति पत्नी में से कोई जब किसी ऐसे भयकर रोग का शिकार बन जाते हैं, जिससे छुटकारा पाने की कोई संभावना ही नहीं, तब विवाह विच्छेद करके अलग हो सकते हैं। तभी पति को पत्नी या पत्नी को पति की सेवा शुश्रूषा या साहचर्य की सख्त जरूरत पड़ती है। ऐसे अवसर पर पति-पत्नी विवाह विच्छेद कर लें तो इससे अधिक समाज की दुरवस्था और क्या हो सकती है ?

यह अत्यन्त खेद की बात है कि इस मसौदे को तैयार करने वालों में से किसी ने इस बात की ओर ध्यान ही नहीं दिया या अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देख कर इस बातके महत्व को हवा में उड़ा दिया कि हिन्दुओं का विवाह एक अत्यन्त पुनीत पवित्र संस्कार है, इसमें धार्मिक व्यवहार और आत्मिक सम्बन्ध है।

हिन्दुओंने अपने सामाजिक व लौकिक जीवन को ऐसी खूबी से सजाया है कि वह पारमार्थिक जीवन की ओर उन्हें अग्रसर करता रहे। हिन्दू धर्म का उद्गम ही ऐसा है कि वह शास्त्रीय विषयों का कभी उल्लघन नहीं करता। हिन्दू धर्म वही है जो वेद शास्त्र और स्मृतियों पर अटल विश्वास रखे। शास्त्रों का प्रमाण ही हिन्दू धर्म और मन के लिए सर्वोच्च विषय है। सच्चे अर्थ में पूछा जाए तो वह सच्चा हिन्दू नहीं माना जाएगा जो धर्म शास्त्र पर आक्षेप उठाता है। क्योंकि एक हिन्दू को सबसे पहले आस्तिक होना चाहिए और शास्त्र सम्मत सभी बातों पर भरपूर विश्वास होना चाहिये। शास्त्रों के अनुसार हिन्दुओं का विवाह एक ऐसा संस्कार है कि पति-पत्नी को धार्मिक पुनीत कार्यों में लगने के योग्य अधिकारी बना दे। मान लीजिये कि देवताओं का पूजन करना है या पितरों का श्राद्ध करना है। इस प्रकार के धार्मिक कार्यों को करने के लिए एक सहचारिणी चाहिये जो 'पत्नी' के नाम से संबोधित की जाती है। अत. विवाह केवल लौकिक कार्यों के वास्ते ही नहीं, बल्कि पारमार्थिक भलाइयों के लिये भी किया जाता है। संतान की उत्पत्ति करके वंश को आगे बढ़ाना भी एक धार्मिक-कार्य ही है। पुत्र पुरखों को 'पुम्' नामक नरक से बचाता है और मुक्ति दिलाता है। यही कारण है कि विवाह एक धार्मिक कर्म समझा जाता है, जो 'धर्म प्रजा सतत्यर्थम्' किया जाता है। वह पुत्र अपनी पत्नी के संसर्ग से प्राप्त हो, इसी कारण पत्नी धर्म-पत्नी कही जाती है।

इन धार्मिक कार्यों के करने के अधिकारी बनने के लिये पत्नी का चुनाव किस प्रकार होना चाहिए इस बात का शास्त्र इस प्रकार अभिव्यंजन करता है कि वधू इन वैदिक कर्मों को करने के विषय में सहचारिणी बने—इसलिये वधू उस वर्ण की न हो, जिस वर्ण का वर है। वधू को सगोत्रा या सपिंडा भी नहीं होना चाहिये। कौटुम्बिक नातों में भी वह जरा दूर की रहे। अगर इन बातों में जरा भी कमी वेशी रही तो वह विवाह शास्त्र सम्मत नहीं माना जायेगा। धर्म-कर्म करने का अधिकार उस व्यक्ति को नहीं प्राप्त होगा। हिन्दू शास्त्र के अनुसार पहले विवाह धार्मिक संस्कार है, पीछे लौकिक सुख-भोग का है। अर्थात् धर्म-कर्म मुख्य है और लौकिक सुख-भोग गौण है।

विवाह बन्धन में वर-वधू को बाँधने के लिये कुछ धार्मिक कर्म अत्यन्त आवश्यक माने गये हैं। शास्त्रों में कहा गया है कि वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ अग्नि का साक्ष्य देकर शपथ लेना है, कन्यादान करना है और पाणि ग्रहण करना है। वधू के साथ सप्तपदी करनी है अर्थात् सात पग कदम मिलाकर चलना है। वर्ण गोत्र आदि के विषय में वधू खरी उतरे और वैवाहिक संस्कार शास्त्र सम्मत रीति से किया जावे तो माना जाता है कि विवाह का गठबन्धन हो गया और वह कभी तोड़े नहीं तोड़ा जा सकता। बाद को पति और पत्नी एक-शरीर हो जाते हैं और सभी प्रकार के धार्मिक कर्मों के लिये अधिकारी हो जाते हैं। यही कारण है कि पति और पत्नी को अलग अलग न मानकर एक शब्द में 'दम्पति' कहकर पुकारा जाता है। पत्नी को अपने पति को देवता मानकर जीवन भर उसके कदम में कदम मिलाते हुए बढ़ना चाहिये। वही मार्ग हिन्दू स्त्री के लिये मुक्ति दायक है।

हिन्दू विवाह के पवित्र गठबंधन की जब ऐसी स्थिति है तब कोई राजसत्ता जनता की धर्म-कर्म श्रद्धा पर हस्तक्षेप करे और धार्मिक मामलों में बाधक बने तो वह उसके हक में अच्छा न होगा जिससे धर्म कर्म पर की श्रद्धा उड़ जायेगी तथा अध्यात्म-भावना की अवनति हो

जायेगी, जिसके बल पर आज भारत समूचे समार के सामने गर्वोन्नत सिर खड़ा है।

यह मसौदा केवल धर्म के मामलों में दखल ही नहीं देता है, बल्कि लोगों को इस बात की भी स्वतन्त्रता देता है केवल जाति वर्ण को छोड़कर ही नहीं, धर्म को छोड़कर अन्य धर्मों में भी विवाह-सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। मतलब यह है कि बौद्ध, जैन, सिख आदि धर्मों में चाहे जिस किसी के साथ भी विवाह किया जा सकता है। इतना ही नहीं इसकी भी अनुमति देता है कि पिता के पक्ष में पाँचवीं पीढ़ी के बाद और माता के पक्ष में तीन पीढ़ी के बाद सपिंड विवाह भी किया जा सकता है। सगोत्र विवाह के लिये कोई पाबन्दी ही नहीं रखता।

इस प्रकार हिन्दुओं, बौद्धों, जैनों और सिखों में अन्तर्जातीय विवाह की अनुमति देने का मतलब हुआ, दोनों तरफ से दोनों धर्मों का नाश। विवाह-विच्छेद को तरह देने से पति पत्नी को जीवन पर्यन्त एक सूत्र में बाँधने वाला पुनीत पवित्र बन्धन भी नाकाम हो जाता है। आखिर धर्म कर्मों के विचार से जिस विवाह सस्कार का प्रादुर्भाव हुआ, उसका सम्बन्ध केवल दैहिक सुख भोग से रह जाता है और विवाह शारीरिक सुख-सामग्री का साधन मात्र बन जाता है। धर्म कर्म का नामो निशान तक मिट जाने की सम्भावना ही शेष रह जाती है।

मनु शास्त्र का यह आदर्श निर्णय है कि पति पत्नी का सम्बन्ध मरण-पर्यन्त अटूट रहे और उनमें परस्पर अटल विश्वास कायम रहे।

मसविदे की धारायें शास्त्र-विरुद्ध हैं और युग युग आदर्शों को छिन्न-भिन्न कर डालने वाली हैं। आजकल की परिस्थितियाँ ऐसे आदर्श सिद्धान्तों को पालने में अड़चन डालने वाली सिद्ध हों तो धार्मिक कर्मों पर आसक्ति और विश्वास रखने वाले बुद्धिमानों को यही उचित है और यही शोभा भी देगा कि उन बुरी शक्तियों को दूर करें या दमन करें और शास्त्र सम्मत आदर्शों की स्थापना करें। राज सत्ता को कभी भी यह उचित नहीं है कि वह उन बुरी शक्तियों का साथ दे और जनता को उस से भी अधिक हानि पहुँचाए। हम अपने देश की जनता को वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्रदान कर रहे हैं। अतः हर एक व्यक्ति को इसका अधिकार है कि वह अपने अपने इच्छानुसार चले'-ऐसा कहने से हो सकता है कि कोई सुधार वादी सिद्धांतों का पालन करने लग जाए। उस कुटुम्ब के अन्य व्यक्ति जो सुधारवादी सिद्धांतोंके खिलाफ हो तथा शास्त्र सम्मत वैदिक कर्मों में आसक्ति रखते हों उन्हें शास्त्र विरुद्ध कामों में योग देना पड़े। ऐसे धर्म संकट के कामों में उन्हें फसने न दें और उससे बचाए, ऐसी व्यवस्था सरकार को करना चाहिये। बधन मुक्त अल्प संख्या को कभी इस बात का प्रयत्न नहीं करना चाहिये कि आपस के वैमनस्य और फूट में पड़कर किसी भी प्रकार के न्याय के आधार पर अपने समाज के संगठन को तितर बितर न होने दें। सरकार को उन नाशक शक्तियों के लिये कभी भी तरजीह नहीं देनी चाहिये। धार्मिक और सामाजिक नियम समूचे समाज की भलाई को ध्यान में रखकर ही किये जाते हैं और किये जाने चाहिये। इसी में भला है। चाहे हम समाज के संबन्ध में कोई भी नियम बनाए, उन नियमों के कारण कुछ लोगों को अपनी राजी खुशी का त्याग करना ही पड़ेगा। उन अल्प संख्यकों के कष्टों को दूर करने के इरादे से समाज के उन पुराने नियमों का परिवर्तन एक दम करें तो हो सकता है कि समूचा समाज कई प्रकार की हानियों का शिकार बन जाए। किसी परिस्थिति विशेष को ध्यान में रखकर सामान्य नियम बना देना फलत. गलत सिद्धान्त है। जहाँ कहीं कष्टनिवारण की जरूरत पड़ी है, वहाँ स्मृतियों ने उसके परिहार का रास्ता बताया है। आज के न्यायालय उक्त नियमों के अनुसार दुःख के मारे उन व्यक्तियों के दुःख का परिहार करते आरहे हैं। अत. विवाह के बधन को और भी ढीला करने या अनावश्यक अन्य देशों के अप्रिय अतृप्ति कर रीति रिवाजों को हमारे देश की जनता के सिर मढ़ने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

धर्म का स्थान राज सत्ता से भी ऊँचा है:—हमारे देश की सदा से यह प्रतीति रही है कि धर्म-व्यवस्था शासन-व्यवस्था से भी बढ़कर है। राज सत्ता ने कभी भी यह दावा नहीं किया कि प्राचीन परपरागत धर्म के विरुद्ध हस्तक्षेप करने का अधिकार उसे है। इसलामी शासन काल में भी स्मृति के ये नियम मान्य थे और अमल में भी थे भारत के जन तन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था ने जनता को

अपने धर्म और मन. साचय के अनुमार चलने की स्वतन्त्रता दे रखी है। ऐसी हालत में एक सरकार को, जो अपने को निरपेक्ष अर्थात Secular कहता है, क्या यह शोभा देगा कि अपनी प्रजा के एक दल या धर्म विशेष के लिए कोई कानून बनाए, जिससे उस धर्म वाले के दिल को दुःख या धक्का पहुँचे। धर्म के काम में दस्तनदाजी करना कभी भी समाज-सुधार नहीं कहा जायगा। यह उस राजकीय कानून के भी खिलाफ है कि वैयक्तिक स्वतन्त्रता देकर गर्व अनुभव करता है।

कहा यह जाता है कि समाज की भलाईके हित,समाज की बुराइयों को दूर करने और कष्टों से छुटकारा दिलाने के लिये यह मसविदा कानून बनने जा रहा है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि कभी भी किसी भी कानून के द्वारा किसी समाज के दुख-दर्द को मिटाया नहीं जा सकता, बुराइयाँ दूर नहीं की जा सकती। जिस कानून के बल पर हम समाज की भलाई करने जा रहे हैं, उसी कानून से सम्भव है कि कुछ अन्य प्रकार की पेचीदा समस्याएं उपस्थित हों। उन समस्याओं को हल करने बैठे तो दूसरी कोई जटिल समस्या आकर उपस्थित हो जाएगी। अनुभव यही बताता है कि इस प्रकार के सुधार के प्रयत्नों से भलाई कम और बुराई अधिक हो रही है।

इस मसौदे से दो चार बुराइयाँ दूर भी की जाती हैं —यह मान भी लें तब भी इस मसौदे को कानून बनने नहीं देना चाहिये। क्योंकि इसमें उन ऊँचे आदर्श, पातिव्रत्य-महात्म्य, पति को देवता मानने के संस्कार आदि सदियों से चली आती हुई प्रथाओं को तहस नहस कर डालने की शक्ति ही अधिक मात्रा में विराजमान है, जिन पर भारत अत्यन्त गर्व करता आ रहा है। चाहे हमें इससे कितने ही कष्ट क्यों न भोगने पड़ें, अन्य देशों में अदर्शनीय वेदोक्त विवाह की विधि की रक्षा करनी चाहिए उसे किसी भी हालत में तबाह न होने देना चाहिए।

यह मसौदे अगर कानून बन जाये तो अनेक हिन्दू कुटुम्ब की महानता जो सहस्रों सालों से जैसी की तैसी क़ायम है, नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी। इस देश के ऊँचे आदर्श, संस्कार, पारमार्थिक सिद्धान्त आदि सबों का अन्त हो जायेगा। शान्तिमय जीवन अशान्तिमय बन जाएगा। आज भी हिन्दू संस्कृति की महत्ता, भावना और आदर्शवादिता को समाज की बुराइयों को स्वयः नाश करने वाली औषधि के रूप में अन्य देश वाले देखते हैं। कारण क्या है? हमारे देश की प्रकाशवान आत्मा में ऐसी अलौकिक शक्ति है कि समूचे संसार के दुख को दूर कर सके। हिन्दू धर्म का संगठन ही एक ऐसी चीज़ है जिसकी आँखों में यह हिन्दू कोड बिल हेय ही दीखेगी। जिन पुराने सांस्कारिक नियमों को जाति, वर्ण, कुटुम्ब अरसे से अनुष्ठान करते आ रहे हैं, उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर लेना राज सत्ता का धर्म है।

मनु महाराज ने इस बात पर इतना जोर दिया है कि विजयी राजा को चाहिये कि अपने विजित राज्यों के जाति देश, कुल गत धर्मों की अत्यन्त सावधानी से रक्षा करे।

श्रीकांची कामकोटि पीठके अधीश श्री स्वामी शंकराचार्य का मत है कि उपरोक्त इन कारणों से भारतीय राज्य व्यवस्थापिका में यह मसौदा कानून नहीं बने। इसका कानून बनाना छोड़कर बहुत ज़माने से चले आने वाले शास्त्रीय नियमों को जैसे का तैसा स्थिर रखा जाये।

हमको ओढ़ावे चदरिया, चलती बिरिया।
प्रान राम जब निकसन लागे, उलटि गई दोउ नैन पुतरिया ॥ १ ॥
भीतर से जब बाहर आये, छूट गई सब महल अटरिया ॥ २ ॥
चार जने मिल खाट उठाइन, रोवत ले चले डगर डगरिया ॥ ३ ॥
कहत 'कबीर' सुनो भई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया ॥ ४ ॥

दुःख की महिमा

(साधु वेश में एक पथिक)

विपदोनैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः ।
विपद्स्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायण स्मृतिः ॥

'विपत्ति यथार्थ में विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति भी भी सम्पत्ति नहीं है। वस्तुतः व्यापक परमात्मा का विस्मरण होना ही विपत्ति और उसका स्मरण रहना ही सम्पत्ति है।'

प्रेमी सन्त तो ऐसे सुख से ही उदासीन हो जाते हैं जिसके कारण परमात्मा का स्मरण भूल जाय और परिणाम मे दु.ख का दर्शन करना पड़े। वे कहते हैं—

सुख के माथे सिल परै, ध्यान हृदय ते जाय ।
बलिहारी वा दुःख की, जो पल पल नाम रटाय ॥

× × ×

सुख ते ही दुःख होत है, दुख ते होत विचार ।
तबहीं आवत ज्ञान है, खोलत आनँद द्वार ॥

दुःख से विचारवान् मनुष्य को कभी घबराना न चाहिये बल्कि धैर्यपूर्वक उसे सहन करते हुए शक्तिमान् प्रभु का आश्रय लेना चाहिये। सन्तों की सम्मति भी यही है, यथा:—

रन वन व्याधि विपत्ति में, रहिमन मरिय न रोय ।
जे रक्षक जननी जठर, वे हरि गये न सोय ॥

विवेक दृष्टि के द्वारा यह अनोखी बात भी समझ में आती है जिस दुःख से प्राणीमात्र भागते हैं, वह तो जीव के कल्याण करने में परम सहायक सखा है। दु:ख बड़े महत्त्व की वस्तु है। जब जीवन दोषों का कोष बन जाता है, तभी दु.ख की कृपा होती है, क्यों‍कि दोष ही दु:ख का एक मात्र भोजन है।

दुःख के भय से कैसे मुक्त हों ?

यदि मानव जीवन में ऐसी भी कोई स्थिति या अवस्था है, अथवा मनुष्य के लिए ऐसा भी कोई आश्रय एवं आधार है जहाँ दोष न हो, तो निःसन्देह वहाँ दुःख भी नहीं होगा। प्राणी को वहीं पूर्ण निर्भयता प्राप्त हो सकती है। मानव सृष्टि का जहाँ तक विस्तार है, उसमें कहीं भी यदि दोषों का पोषण है तो दु:ख के दूतों से छिपाया नहीं जा सकता है।

दोष किस प्रकार दूर होंगे ?

अपने दोषों को देखना और स्वीकार करना बहुत बड़े साहस का काम है, ऐसे साहस के द्वारा ही कोई मनुष्य पवित्र सत्य पथ में कदम बढ़ा सकता है। ऐसे साहस के द्वारा ही दोषों का दमन भी हो सकता है। इस प्रकार का साहस जितेन्द्रिय पुरुष की ही विशेषता है, क्योंकि सच्चे साहस में अधीरता अथवा अन्धाधुन्ध आतुरता नहीं होती। यदि दोषी इस प्रकार के साहस का आश्रय ले तो शीघ्र ही दोषों से पूर्णतया बाह्याभ्यन्तर मुक्त हो जाय।

दोषों से मुक्त होने के लिए जिन सद्गुणों की परमावश्यकता है वे या तो दुःख के द्वारा सरल तथा विनम्र हुए हृदय मे जाग्रत होते हैं। या फिर दुखियों की सेवा से विकसित होते हैं। इसलिए दुःख और दुखियों को भूलकर भी अनादर न करना चाहिये। दु.ख के साथ साथ दुखियों का सतत संग आत्मोद्धार के लिए परम आवश्यक है।

लोग दु:ख के महत्त्व को न समझ कर ही उस का अनादर करते हैं। वस्तुतः दुःख ही मनुष्य को

पतन गर्त में गिरे हुए या गिरने के पहले ही सावधान करने वाला है इसके अभाव मे प्राणी के प्रस्खलन की कोई सीमा ही नहीं रहती। दुःख दोषों के पोषण को अधिक दूर तक सह ही नहीं सकता। इसलिये एक सीमा अतिक्रमण होते ही वह रूद्र रुप से जीवन में उतर पड़ता है। उसके उत्ताप मे जब जब अन्त. करण की मलिनता जल जाती है और दोपी की विचार दृष्टि खुलती है तभी दु ख की अद्भुत महिमा दिखलाई पड़ती है।

दुःख और दोषों का सम्बन्ध

बुद्धि जब निष्पक्ष एवं पवित्र होती है. तभी समझ मे आता है कि यदि कोई दु ख को दूर करना चाहता है तो अपने दोपों को दूर करे। अब देखना यह है कि दोषों का जन्म कहाँ से होता है। क्यों कि जहाँ से दोपों का जन्म होता है वहीं से दु.ख का शासन भी प्रारम्भ हो जाता है।

विवेक दृष्टि से स्पष्ट दिखता है कि समस्त दोपों की उत्पत्ति का एक मात्र कारण अज्ञान ही है। क्यों कि अज्ञानवश मनुष्य वासना प्रेरित होकर संसार मे आते ही विविध पदार्थों में तथा अपने अनुकूल सम्बन्धियों में अपने सुखों की कल्पना निर्भर करता है। यहीं से सुखासक्ति रूपी दोष उत्पन्न होता है और उसी समय से दु.ख का शासन प्रारम्भ हो जाता है।

अज्ञानवश सुखासक्ति के कारण समय समय पर सुखद पदार्थों का अभाव प्रतीत होता है जहाँ अभाव रूपी दोष है वहीं दु ख का दर्शन है किन्तु मनुष्य अपनी सीमित शक्ति से अभाव की पूर्ति कर्म के द्वारा करता जाता है। वह इसी मे सुख मानता है, लेकिन अज्ञानवश यह नहीं जानता कि अभाव की पूर्ति कहीं स्थिर नहीं है। एक अभाव की पूर्ति होते न होते दूसरे प्रकार का अभाव खटकने लगता है। इसलिए अभाव पूर्ति मे जो सुख प्रतीत होता है वह क्षणिक ही होता है। इस लिए दोष के साथ दु.ख की क्रिया चलती रहती है।

यदि मनुष्य कर्म द्वारा अभाव की पूर्ति में सुख न मान कर सत् ज्ञान द्वारा अभाव दोष को ही नष्ट कर दे तो दु ख की आवश्यता ही न रह जाय।

ससार में ऐसा कोई सुख नहीं जिसमें दोप और दुःख न हो।

अज्ञानवश ही मनुष्य सुख को संसार में खोज रहा है और इसी कारण दोपों का पोपण हो रहा है। सुख का लोभी न तो अपनी ही उन्नत्ति कर सकता है न दूसरों की ही। क्योंकि उस से तब तक दोपों की वृद्धि होगी, जब तक दुःख के संग से सत्यानन्द का ज्ञान न होगा और सन्मार्ग में चलने के लिए वह सुखों का त्याग न करेगा।

संसार मे सुख के संग से ही प्रायः सभी पतित हुए और दोषी बने किन्तु जब दु.ख की कृपा हुई तो दुःख के ही संग से सभी पावन हुए. दु.ख की छत्र छाया मे हर एक का उत्थान हुआ। सुख के लिए चिन्तित व्यक्ति पर दुःख की दृष्टि पड़ने लगती है। और सुखी हो जाने पर तो दु ख का पूरा निशाना ही बन जाना पड़ता है। अन्त मे सुखी के लिए वह क्षण आ ही जाता है, जब दु खा घातसे उसे होश का वह मुहूर्त प्राप्त होता है जब कि यह देख सके कि हम कहाँ है और क्या है।

दुःख से असीम उपकार

दु ख की अत्यन्त अद्भुत महिमा है। प्राय: मनुष्य दु खों से डरते हैं, पर यह नहीं जानते कि इस ससार में यदि कोई आया है तो सुख की माया में मुग्ध होकर ही आया है और यहाँ जो कोई बन्धन से जकडा गया तो सुख की मादकता से मतवाला होकर ही जकड़ा गया, साथ ही यहाँ जो भी बन्धन से छूटा वह दु खों की ही कृपा से छूट सका।

इस जगत की छद्मवेशी आकृति प्रकृति का यदि किसी को ज्ञान हुआ, तो दुःख की ही दया से ज्ञान हुआ। पापी से कोई धर्मात्मा बना तो दुःख ही के शुभ मुहूर्त से उसने यात्रा की। अज्ञान अन्धकार से यदि कोई ज्ञान प्रकाश की ओर वापस हुआ तो दुःख ने ही उसे लौटने का बल दिया।

दुःख की तो विशेषता ही यही है कि वह जीवन को शुद्ध करने आता है, विनाश पथ में जाने वाले पथिकों को अमृत का मार्ग बताने आता है। अन्धकार में भूले हुओं को प्रकाश का ज्ञान कराने आता है। यह दुःख ही तो अधर्मी को धर्म की ओर, रागी को त्याग की ओर, द्वेषी को प्रेम की ओर, स्वार्थी को परमार्थ की ओर, प्रेरित करने का पथ प्रदर्शन करने आता है।

बुद्धिमान पुरुष जब दुःख से होने वाले महत् लाभ को समझ लेते हैं, तब वे दुःख के आते ही सावधान होकर अपने दोषों का गहराई से निरीक्षण करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि दोषों के हुए बिना दुःख आ ही नहीं सकता। दोषों की उत्पत्ति सुख के लोभ वश होती है। और संसार में सुख का लोभ अज्ञानवश ही होता है।

यह अज्ञान दूर होता है ज्ञान से और ज्ञान की प्राप्ति विचार करने पर ही होती है, वह विचार की दृष्टि दुःख की दया से खुलती है।

दुःख सुख दोनों संसार की वस्तुएँ हैं। परन्तु दुःख मनुष्य को संसार के प्रत्येक बन्धन से मुक्त करने का द्वार खोलता है जब कि सुख प्राणी को संसार में सभी प्रकार से बाँधता ही रहता है।

सुख से भोग में और दुःख से योग में प्रवृत्ति होती है। जहाँ यह सुख मनुष्य को विविध वैभव ऐश्वर्य में मदोन्मत्त बनाता है। जहाँ यह ऐहिक बल विभूति सम्पन्न जनों को अभिमानी एवं कठोर . झूठे परिवर्तनशील पदार्थों के स्वामित्व का भोगी बनाकर, रोगी और शक्तिहीन कर देता है, वहीं पर दुःख हर एक को अभिमानी तथा मदोन्मत्त मानव के ऐश्वर्य, वैभव और मद को अपने आघात से चूर्ण करते हुए उसे सरल एवं विनम्र बनाता है।

भयानक से भयानक पशु प्रकृति प्रधान मनुष्य के सुधार का शुभ मुहूर्त इस दुःख के द्वारा ही सत्वर प्राप्त हो जाता है। आलसी, प्रमादी को कर्त्तव्यपरायण, कंजूस को दानी, क्रोधी को दयालु, क्षमा-शील और कठोर को नम्र बनाने वाला यह दुःख ही है।

जब मनुष्य के अज्ञानजनित दोषों को शक्तिमान् का भय नहीं दूर कर सकता, जब उन्हें संत सद्गुरुदेव अपने उपदेश से भी नहीं मिटा पाते, जब दोषों की अधिकता में वेद, शास्त्र, श्रुति, स्मृति की भी कुछ नहीं चलती, तब वहीं पर परम-शक्ति की विलक्षण लीला से एकमात्र दुःख को ही सफलता प्राप्त होती है, जो दोनों को खाते हुए कभी थकता नहीं। अनन्त दुःख की ही विजय होती है।

जो बोयेंगे वही काटेंगे

आप इस बात को न भूलिए कि संसार के शक्तिमय क्षेत्र में जो कुछ भी बोयेंगे उसी को कई गुना अधिक फल के रूप में काटेंगे। जो देंगे वह कई गुना अधिक होकर आपको मिलेगा। यदि आप दुर्गुण दोषों की प्रकृति द्वारा अपने आस पास दुःख बिखेरते रहेंगे तो इन्हीं के विस्तार में आप का जीवन घिरता जायगा और यदि अपनी सद्गुणी प्रकृति द्वारा अपने चतुर्दिक सुख फैलाते रहेंगे, तो अनेक गुना बढ़कर वही आप के चारों ओर स्थित होगा। यदि आप सुख भोगों से दोषों की वृद्धि का स्मरण करके भोगी न बनेंगे तभी आपको सत्यानन्द का योग प्राप्त होगा अन्यथा नहीं।

वे मनुष्य वो निरे मूढ़ ही हैं जो स्वय किसी को सुख नहीं देते वल्कि दूसरों को दु.ख देकर उनका सुख छीनते रहते हैं। ऐसे प्राणियों को छीने हुए सुख से भला कब तक सन्तोप मिलेगा? सुख तो वैसे भी न रहेगा प्रत्युत दिया हुआ दु.ख ही विस्तृत होकर इनके पल्ले पड़ेगा।

किसी को दुःख देकर सुख पाया भी तो कितने दिन के लिए? इसलिए आप उस परवश सुख का लोभ ही त्याग दीजिये और जो कुछ भी आपके पास सुख हो उसकी रक्षा के लिए दरिद्र कजूस न वनिये, वल्कि उदार पूर्वक उसे किसी दु.खी को देते रहिए। ऐसा करने से आप ऐसी शान्ति रूपी सम्पत्ति के धनी होगें जिसके आगे सासारिक सुख राशि का कुछ मूल्य ही न रह जायगा।

परमार्थ

(परम पूज्य श्री वावा राघवदास जी महाराज)

युग धर्म वदलते रहते हैं। एक समय था जव द्रव्य युग की महिमा थी पर समय वदला और उसी यज्ञ का स्थान जप यज्ञ ने लिया। भगवान् ने श्री गीता जी मे "यज्ञानाम् जप यज्ञोस्मि" यह कहा, जव जिस वस्तुकी मॉग होती है उस वस्तु को न करना या उस कार्य को न करना भूल कही जाती है इसमे जन सम्पर्क छूट जाता है। इस लिये भारत मे जव जव महा पुरुप हुए हैं तव उन्होंने देश काल पात्र का विचार करके एक नया कार्य क्रम रक्खा जिससे जन सम्पर्क वढ़ा। और जीवित कार्य क्रम होने के कारण लोगों ने उसे दिलचस्पी से सुना और उस पर अमल किया। ऐसे कार्य क्रम सीधे समाज के हृदय को छूते हैं इस लिये उस में जीवनदायनी शक्ति आ जाती है। श्री गोस्वामी तुलसी दास जी की वात ली जाय उन्होंने अनुभव किया कि संस्कृत में ग्रन्थ लिखकर जनता में सद्विचार का प्रचार सम्भव नहीं है। उस समय पडित समाज के विरुद्ध हिन्दी भापा में उन्होने ग्रन्थ लिखा। और कहा—

सपने सॉचेहु मोहु पर, जो हर गौरि पसाउ।
तो पुर होउव कहुव सव, भापा भनित प्रभाव॥

और आज हम देख रहे हैं कि गांव का कोई भी साधारण आदमी जव कोई मोटी पुस्तक देखता है तो उसको गोस्वामी जी की रामायण ही समझता है। यह है प्रवल प्रमाण युग धर्म का।

उसी प्रकार गांधी जी ने चरखे की वात उठाई। चरखा पहले भी था पर उसके पीछे वह भावना नहीं थी जो गॉधी जी ने चरखे के साथ हमें दी, इसलिये भावना से ही चरखे का दूसरा परिणाम निकला वह हमारे लिये जन सम्पर्क वढ़ाने का साधन वन गया। साथ ही ग्रामों को ले जाने में सहायक हुआ। गॉधीजी के शब्दों में यह चरखा सूर्य के समान है। जिसके चारों ओर सभी रचनात्मक कार्य ग्रह के समान घूमते रहते हैं। आज श्री संत विनोवा जी ने भूमि दान यज्ञ का कार्य क्रम भारतीय राष्ट्र के सामने रक्खा है। गत वर्प कहने वाले कहते थे कि जिस रफ्तार से भूमि दान यज्ञ का कार्य क्रम हो रहा है उस को होने में ५०० साल लगेगें। पर इस वर्ष सत विनोवा जी भारत वर्प के जमीन की समस्या का हल करने के लिये जो अवधि निश्चित की है वह १९५७ है। इस चार साल में ५ करोड़ एकड़ जमीन को हस्तान्तरित करना चाहते हैं। विहार से उन्होने ३२ लाख एकड़ जमीन की मॉग की है। और उत्तर प्रदेश से १ करोड़ एकड़ जमीन की। जिस उत्तर प्रदेश ने मर्यादा पुरुपोत्तम श्री राम और महा भागवत श्री भरत जी को जन्म दिया और इन दोनों मनस्वियों के कारण चित्रकूट को

वह गौरव प्राप्त हुआ जो आज तक संसार के राजनीतिक इतिहास में किसी को नहीं मिला है। और वह गौरव क्या है ? यही न कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम कहते थे कि हम अयोध्या में राज्य करने वापिस नहीं जा सकते। हम को पिता जी ने वन का राज्य दिया है। और श्री भरत जी कहते थे कि आप हमारे सबसे बड़े भाई हैं इसलिये राज्य का अधिकार आप को ही है, अधिकार के तरह अपनी मर्यादा और अपनी कर्तव्य का भी ध्यान हमें रखना चाहिये। ये बात चित्रकूटने हमें सिखाई, चाहें उस कर्तव्य पालन या मर्यादा रक्षण में हमें उपर से कष्टप्रद दिखलाई पड़ने वाली भौतिक हानि ही क्यों न हो पर कर्तव्य पालन होने से जो आत्म सतोष होता है, बुद्धि-प्रसादजन्य सुख होता है उसकी बराबरी मर्यादा छोड़कर प्राप्त किये हुये भौतिक सुख नहीं कर सकते। मनुष्य जीवन में अधिक से अधिक मानसिक प्रसन्नता देने वाला यह पाठ क्या उत्तर प्रदेश भूल जायगा हमारे जिला में २५ फी सदी लोग भूमि विहीन निराश्रित परावलम्बी वृत्ति के पड़े हों और बड़े बड़े जमीन वाले सैकड़ों हजारों एकड़ जमीन लेकर अपनी प्रभुता का प्रदर्शन करें क्या यह स्वाभाविक है। वेद में कहा है कि पृथ्वी माता (उत्तरोहं पृथव्याह) हम सब की पृथ्वी माता हैं और हम सब पृथ्वी माता के पुत्र हैं वेद के मानने वाले हम सब क्या इस वचन का परिहास करेगें जब सभी पंचभूत भगवान के बनाये हुये हैं तब उन पंच महाभूत में से एक जो पृथ्वी है उसका पति होने का दावा हम में से कुछ लोग कैसे कर सकते हैं। सच पूछा जाय तो भारतीय परम्परा यह नहीं थी कि पृथ्वी एक की हो, धरती तो गाँव की थी। और सारा गाँव परिवार था। उसी परम्परा का अवशेष आगे भी पाते हैं। हमारे गाँवों में एक गाँव का रिश्ता होता है। बिल्कुल परिवार की तरह आज भी उस रिश्ते को बहुत जगह पर निभाया जाता है। अंग्रेजी हुकूमत ने अपना प्रभुत्व दृढ़ बनाने के लिये गाँवों में इस पारिवारिक भावना को मिटाने वाले विद्रूप करने वाले कई कायदे कानून बनाये, जिसका यह परिणाम हुआ कि आज इस कायदे कानून के बदौलत अपने सगे भाई को हम अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानते हैं। पट्टीदार का अर्थ हम करते हैं सबसे बड़ा बैरी। पर अब हम गुलाम नहीं रहे। आजाद भारत की अपनी परम्परा होगी। भारत के प्राण गाँवों में बसते हैं। और इन गाँवों को दृढ़ करने वाली जमीन का ऐकीकरण करना ही तो भूमिदान यज्ञ का सार है। राजनीतिक आजादी तो केवल खेत को दखल मिलने जैसी है। पर उस खेत में जब तक हम जुताई बुआई, सिंचाई, करके फसल पैदा नहीं करते तब तक आजादी बेमानी है। उसको दृढ़ करने के लिये आर्थिक और सामाजिक आजादी का होना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। आज जो भूमिदान यज्ञका कार्य आरंभ किया गया है, इस आर्थिक और सामाजिक आजादी का प्रथम काम है। वह काल पुरुष की माँग है यही कारण है आज भारत के सभी विचारों के लोग भूमिदान यज्ञ का समर्थन करते हैं। और उसमें हाथ बटाना आम तौर से आवश्यक समझते हैं।

मैं उसको परमार्थ कहता हूँ क्योंकि अपना अर्थ तो हम सभी देखते हैं पर श्रीनारायण का जो हमारे चारों ओर फैले खड़े हैं। उनका अर्थ देखना अपना मोह जमीन का मोह कम करके दरिद्र नारायण का सक्रिय पूजन करना यही तो परमार्थ कहा जायेगा। आज ऊँची-ऊँची तत्व ज्ञान की बात हम सभी कर सकते हैं और करते हैं पर उस पर जब अमल करने का प्रश्न आता है तब हम उस तत्व ज्ञान से मुँह मोड़ लेते हैं। और इसका कारण होता है मोह आसक्ति ममत्व। यह भूमिदान यज्ञ हम कर सकें तथा मोह दूर हो इस लिये यह यज्ञ शुरु

किया गया है। वह भारी परीक्षा करना चाहता है कि राम-राम कहने वाले हम, रामायण के अनेक पाठ करके रामायण भक्त का दावा वाले हम, अपने व्यावहारिक जीवन में पावन चित्रकूट का सक्रिय स्मरण करते हैं या नहीं, कर्त्तव्य का पालन करते हैं मर्यादा का स्मरण करते हैं और अपने सुख के साथ अपने अड़ोस-पड़ोस के सुख दुख का ध्यान रखते हैं या नहीं। ये जो करता है वही तो भूमिदान यज्ञ है इस लिये तो वह परमार्थ कहा जायेगा।

जीव आनन्दस्वरूप होकर भी दुखी क्यों ?

(पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

सच्चिदानन्द के अविनाशी अंश जीव में वे सभी गुण विद्यमान हैं, जो उसके अधिष्ठान में हैं। इसलिए वह उत्तरोत्तर उन्नति के मार्ग मे अग्रसर होना चाहता है। मुझे सदैव आनन्द की उपलब्धि हो ऐसी महत्त्वाकांक्षा सभी में जागरूक रहती है। किन्तु ऐसा होने पर भी वह सदा दु.ख सागर मे क्यों निमग्न रहता है? यह एक विचारणीय विषय है।

जिस प्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में होती है। किन्तु वह उसे भूलकर घास, तृण आदि में खोजता फिरता है. अनेकों दु.ख सहता है, उसी प्रकार हम अपने स्वरूप को भूल गये हैं, तथा अपने को दीन-हीन समझते हैं हम अपनी अनेकों इच्छा रूपी आंधियों और भोगों में सुख को आरोपित कर उनकी प्राप्ति के निमित्त अनेकों कामनाएँ करते है। इस प्रकार से आनन्द रूपी वस्त्र को बहुत दूर उड़ा देते हैं, अन्यथा चिन्ता नाम की कोई भी वस्तु हमें स्वप्न मे भी नहीं सता सकती। यदि हम किसी भी कामना को अपने पास न फटकने दें तो हम आठों पहर प्रसन्न रह सकते हैं आनन्दमय बनना या न बनना हमारी इच्छाओं पर ही निर्भर है। हमारी कामनाएँ ही हमे आनन्दरूप होने पर भी दु.ख-स्वरूप बनाए हुए हैं। यदि इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाय तो हम अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं इसके प्रतिकूल इच्छा पूर्ण होने पर दु खी होजाते हैं। सुख की प्राप्ति के लिए, कामनाओं की एक बाढ़ सी हमारे भीतर आती रहती है किन्तु कामनाओं के कारण सुख के स्थान पर दु:ख की ही प्राप्ति होती है अर्थात् हम अपने आनन्द रूपी सूर्य को कामना-रूपी वर्षा के काले और गम्भीर बादलों से आच्छादित कर देते हैं। वास्तविक सुख की प्राप्ति तो कामनाओं का अन्त कर देने से ही हो सकती है। कारण कि यह हमारे भीतर इच्छायें ही नहीं होंगी तो उसकी पूर्ति के दुख का अनुभव ही नहीं होगा, भगवान् के अंश आनंद स्वरूप होते हुये हमे क्या दीन दुखी बने रहना शोभा देता है? राजकुमार होकर भी हम कंगाल जैसे क्यों बने हैं? क्या इस भ्रम को समूल नाश करना हमारा मुख्य कर्त्तव्य नहीं है?

गम्भीर विचार करने से पता चलता है कि हम जिस वस्तु की कामना करते हैं, वास्तव में उस वस्तु मे तो किंचित भी सुख नहीं है। भ्रम से हमने उसमे सुख का आरोप कर रक्खा है। हम जिस वस्तु को प्राप्त करके सुख का अनुभव कर सकते हैं, उसी वस्तु को दूसरा व्यक्ति घृणा की दृष्टि से देखता है। जैसे एक मद्यप व्यक्ति को मद्य के प्राप्त करने में जितना भी कष्ट होगा उसे प्रसन्नता पूर्वक सहन करेगा और अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर उसकी प्रसन्नता बढ़ जायगी। इसके विपरीत यदि

किसी संत महापुरुष को अनायास ही मदिरा प्राप्त हो जाय तो वह उसे भूलकर भी स्पर्श नहीं करेगा। उस वस्तु को देखकर ही उसे अत्यन्त घृणा होगी, विचार कीजिए यदि मदिरा में सुख होता तो संत पुरुष उससे क्यों घृणा करते इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि सुख मदिरा मे नहीं वरन् मद्यप की मादकता की इच्छा में छिपा था। अपने भ्रम से उसने दु:ख रूपी मदिरा में भी सुख का असत्य आरोप कर रक्खा था।

हमारी कामनाएँ कभी पूर्ण नहीं हो सकतीं। कामनाओं की पूर्ति का जितना अधिक प्रयत्न करते जायेंगे उतनी ही वे तीव्रतर होती जायँगी, भ्रमवश उनकी पूर्ति मे एक सुख का भान होता है किन्तु परिणाम में दु:ख ही छिपा हुआ है। गोस्वामी जी की युक्ति कितनी महत्वपूर्ण है।

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहु।
विषय भोग बहु घी ते॥

वास्तविक आनन्द की अनुभूति तो कामनाओं का अन्त कर देने से ही हो सकती है। कामनाओं ने हमें अपना क्रीतदास बना रक्खा है जिसके कारण अब हममें इतना भी विवेक शेष नहीं रह गया कि सत् और असत् का निर्णय कर सकें। कामना ने जैसा चाहा हम उसी की पूर्ति मे उचित और अनुचित का विचार छोड़ कर संलग्न हो गये, इसीलिए तो जगद्गुरु भारत आज पतन के गम्भीर गर्त मे जा गिरा है। जो बातें हमारे पूर्वज गर्भावस्था मे ही सीख लेते थे। आज उन्हीं के अभाव से हम सब दास बन गए।

चाह चामरी चूहरी सब नीचन की नीच।
तू तो पूरण ब्रह्म था गर चाह न होती बीच॥

हमारे आनन्दमय अन्त: करण में कामनाओं के आवरण ने अपना अधिकार कर लिया है इसीलिए तो आज हम भौतिक पदार्थों के संग्रह मात्र मे ही सुख का अनुभव कर रहे हैं। कामना रूपी बादलों ने हमारे सुख सूर्य को ढोंक लिया है। यदि ऐसा न होता तो सुख रूपी सूर्य सदैव चमकता रहता और हम आनन्दमय बने रहते, जिस आनन्द मे लेशमात्र भी क्लेश नहीं होता।

चाह गई चिन्ता मिटी मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए ते साहन पति शाह॥
जब लग आशा अर्थ की तब लगि सबको दास।
सबै दास तब होत हैं जब चित भयो निराम॥

यदि कामना रूपी भट्टी अपने अन्त:करण में हम नहीं सुलगाएगे तो विषाद और दु:ख रूपी धुआं उत्पन्न ही कहाँ से होगा? इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके हम जब कामनाओं का पूर्णत: त्याग कर देंगे तो अखण्ड आनन्द की प्राप्ति होगी। कामना के परित्याग का तात्पर्य यह नहीं कि हम आलसी बने हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें वरन् गंगा प्रवाहवत् परम पुरुषार्थ करें और जो कुछ भी फल प्राप्त हो जाय उसी मे सन्तुष्ट रहें। किसी भी कार्यारम्भ से प्रथम भगवान कृष्ण के इस महावाक्य को स्मरण करलें—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" ऐसा अभ्यास दृढ़ हो जाने पर प्रत्येक स्थिति में दु:ख और शोक का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकेगा क्योंकि उस अवस्था मे हमारी निश्चित धारणा बन जायगी कि—

"हानि लाभ जीवन मरण यश अपयश विधि हाथ"

कामनाओं का त्याग वास्तविक त्याग है। हमारा प्राचीन इतिहास हमें बता रहा है कि जितने भी संत और महापुरुष हुए हैं सभी ने कामनाओं का त्याग करके ही परम पद की प्राप्ति की थी। और इसीलिए आज भी संसार उनकी पूजा करता है, तथा सदैव करता रहेगा। स्वामी रामतीर्थ जी ने लिखा है:—

भागती फिरती थी दुनियाँ जब तलब करते थे हम।
अब जो नफरत हमने की वो बेकरार मिलने को है॥

सपने की मोहरें

(श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

संसार का प्रत्येक प्राणी अनवरत दौड़ लगा रहा है, किस लिये ? इसलिये कि कम दाम की चीज दें और उसके बदले ज्यादा कीमती चीज ले लें। विचार कीजिये कि कम कीमती चीज क्या है, और ज्यादा कीमती चीज क्या है ?

आपको एक लाख मोहरें देकर उसके बदले में आप से तीन लाख मोहरें लेना चाहे तो आप मजूर न करेंगे। और हम बता दें तो आप तुरन्त लेने दौड़ेंगे। एक लाख क्या, एक हजार मोहरों पर ही आप तैयार हो जाएंगे। एक हजार तो बहुत है एक मोहर के बदले आप तीन लाख मोहरें दे देंगे। इस बात को आप मानेंगे नहीं। अच्छा यह बताइये कि कोई होता और स्वप्न में उसे तीन लाख मोहरें मिल जावे और उस व्यक्ति के जागने पर उससे कहा जाय कि हमसे एक मोहर ले लो और स्वप्न की तीन लाख मोहरें हमें दे दो तो वह व्यक्ति शीघ्रता से स्वप्न की तीन लाख मोहरें दे देगा और बदले में एक मोहर ले लेगा। इतना ही नहीं, एक सच्ची मोहर के बदले में स्वप्न की तीन लाख मोहरें तीन लाख बार तुम देदोगे यदि सच्ची मोहर मिलती होगी तो ले लोगे।

विचार कीजिये सपने की मोहरें क्या हैं ? गोस्वामी जी लिखते हैं:—

उमा कहऊँ मैं अनुभव अपना।
सत हरिभजन जगत सब सपना ॥

सपने की मोहरे जागने पर इसलिए दे दोगे कि वह है कुछ नहीं। सपने की अनन्त दामी चीज भी यदि तुमसे ले ली जाती हो और उसके बदले मे जागने की एक चीज भी दे दी जाय तो स्वीकार कर लोगे। कारण यह कि स्वप्न असत्य है। इसी प्रकार यह संसार जिसे हम सच्चा समझते हैं तत्त्व-दर्शी लोग उसे स्वप्न समझते हैं हम लोग जागने पर स्वप्न को असत्य और मिथ्या समझते हैं और इस संसार को सच्चा। इसी प्रकार ज्ञानी तत्वदर्शी जन इस संसार को मिथ्या और एक परमात्मा को सच्चा समझते हैं।

अन्त समय में कोई व्यक्ति तुम्हें एक बूंद गंगा जल दे और उसके बदले में दस सेर समुद्र का पानी मागे तो दोगे कि नहीं ? अवश्य दोगे, कारण कि समुद्र के जल से कुल्ला भी नहीं कर सकते. भोजन बनाना तो दूर रहा और फिर अन्तिम समय में तो किसी भी काम का नहीं। उस समय की एक बूंद गगा जल अमृत समझी जायगी। भगवान् शकराचार्य कहते हैं.—

भगवत् गीता किंचिदधीता।
गंगाजल-लव कणिका पीता ॥

एक कवि लिखता है:—

पेट में पौढि के पौढि मही, जननी सग पौढि कुमार कहाए
पौढन लागि तिया सग ही, सगरे युवती संग नेह लगाए।
क्षीर समुद्र के पौढन हारे, सो कबहुँ नहि पौढत धाये।
पौढत-पौढत पौढत ही सो, चिता पर पौढन के दिन आये ॥

चार महीने के बालक के सामने एक तस्वीर और सौ रुपये का एक नोट रक्खा जाय तो वह चमकीली और दमकीली तस्वीर लेना पसन्द करेगा सौ रुपये का नोट नहीं लेना चाहेगा, परन्तु वही लड़का जब सातवें कक्षा में पढ़ने लगेगा तब तस्वीर न लेकर नोट लेना पसन्द करेगा। इसका क्या कारण है जब कि जन्म से मृत्यु पर्यन्त तक आँख में कोई अन्तर नहीं पड़ता ? वास्तव में अन्तर है बुद्धि में। बालक के नेत्र जब बाल बुद्धि का सग

करके देखते हैं तो चार पैसे की चमकती तस्वीर प्रिय मालूम देती है और जब वही नेत्र विकसित बुद्धि का संग करते हैं और नोट प्रिय लगते हैं। उस समय की बुद्धि कहती है कि एक नोट से सैकड़ों हजारों तस्वीरें आ जायँगी। इसी प्रकार माया तस्वीर के समान है। माया में चमक-दमक है। भगवान् नोट के सदृश हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान् रूपी नोट के बदले माया रूपी तस्वीर लेने दौड़े तो वह बालक के समान है, चाहे उसके बाल सफेद ही क्यों न हो गये हों अथवा ६० वर्ष आयु-वाला ही क्यों न हो।

एक बात और विचारणीय है और वह यह कि तस्वीर देने से नोट नहीं मिलेंगे लेकिन नोट के बदले सैकड़ों तस्वीरें मिल जायगी इसी प्रकार माया से भगवान नहीं मिलेंगे लेकिन भगवान को लेलेने से माया मिल जायगी। अत. यह सिद्ध हुआ कि माया कमती दाम वाली और भगवान अधिक दामी हैं। यह बात अनुभव से जानी जाती है। सन्त कहते हैं कि कान की सुनी हुई बात से आँख की देखी बात ज्यादा दामी होती है और आँख की देखी बात से अनुभव की हुई बात ज्यादा दामी होती है। भूतभावन भगवान शंकर ने ८७ हजार वर्षों की समाधी लगा कर इसका अनुभव किया है।

भगवान शंकर कहते हैं:—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना॥

कागभुसुँडि, जिन्हे २७ कल्पों का अनुभव है कहते हैं:—

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।
तब भव मूल भेद भ्रम नासा॥

इस पर एक कथा प्रसिद्ध है।

एक आदमी अपनी दो बातें बाजार में बेचने गया। एक बात का दाम हजार रुपया और दूसरी बात का दाम दस हजार रुपया रक्खा। ऐसी चीजों को सब लोग तो खरीद नहीं सकते, गुणग्राही खरीद लेते हैं। उस बाजार में एक राजा साहब आए और उन्होंने दोनों बातों को खरीद लिया। पहिली बात थी कान से सुनी हुई बात से आँख की देखी बात ज्यादा दामी होती कीमत एक हजार रुपया दूसरी बात आँख की देखी बात से अनुभव की हुई बात ज्यादा दामी होती है कीमत दस हजार रुपया। राजा साहब ने दोनों बात अपने कमरे में बड़े २ अक्षरों में लिखवाकर टंगवा दिया और ऐसी जगह टंगवाया जहाँ उनकी नजर पड़ती रहे।

कुछ समय बाद राजा साहब का धोबी बाल घुटाए राजा के यहाँ कपड़ा धोकर ले आया। पहरेदार ने बाल घुटवाने का कारण पूछा। धोबी बोला संखेसुर मर गए, बड़े अच्छे थे, सारा गांव उसे प्यार करता था। चपरासी ने समझा कोई महात्मा थे उनका शरीर नहीं रहा। चपरासी को बाल बनवाना था उसने विचार किया अच्छे महात्मा थे हम उनके मृत्यु के शोक में शामिल हो जाय इस दृष्टि करके उसने भी अपना सिर घुटवा लिया। राजा साहब के पहरेदार का घुटा सिर देख कर उसके साथियों ने पूछ तांछ की और उसके बताने पर कि संखेसुर महराज के निर्वाण पद प्राप्त होजाने के उपलक्ष में उसने सिर मुंडन कराया है, उन लोगों ने भी अपना-अपना सिर घुटवा लिया। धीरे धीरे यह बात शहर में फैल गई और सारे नगर में महात्मा सखेसुर की मृत्यु पर शोक प्रगट किया गया और उसके फल स्वरूप सारे नगर वासियों ने अपना २ सिर मुड़वा लिया। इसकी सूचना राजा साहब को मिली और प्रजा के साथ महात्मा सखेसुर की मृत्यु मे शामिल होने के लिए राजा साहब से अनुरोध किया गया। राजा साहब ने भी बाल बनवाना निश्चय किया। इतने में रानी साहब आगईं बोलीं यह तो पता लगाया जाय कि

संखेसुर कौन थे ? राजा ने मत्री से पूछा मत्री ने दूसरे लोगों से दरियाफ्त किया। पता लगाते २ अन्त मे पहरेदार का नम्बर आया। उसने कहा मैं बाल बनवाने वाला था कि इतने मे धोबिया आगया और उसने संखेसुर की मृत्यु का समाचार बताया मैं उसके दुःख मे शामिल होगया इससे अधिक मैं और कुछ नहीं कह सकता। मंत्री ने धोबी के गांव मे सिपाही भेजे उन्होंने पता लिया धोबी का गदहा जिसका स्वर संख के समान था मर गया था धोबी ने उसका नाम संखेसुर रक्खा था और चूंकि धोबी को वह प्रिय था उसने उसका दाहसस्कार अपने घर के एक प्राणी के समान किया था। राजा साहब को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कहा पहली बात के दाम वसूल होगए पहली बात क्या थी कि सुनी हुई बात से आँख की देखी बात ज्यादा सत्य होती है। सुनी हुई बात पर बड़े-बड़े लोग अनर्थ कर डालते हैं।

एक दिन राजा साहब को दस हजार वाली बात की सत्यता के अनुभव का अवसर मिला। राजा का पलग जो नौकर रोज रात्री में बिछाता था एक दिन अपने मन को न रोक सका और पलंग पर लेटने का सुख कैसा है यह देखने को लेट गया। लेट कर उसने चदरा ओढ़ लिया और ज्यों ही करवट बदली नींद आगई। रानी साहब आईं और राजा साहब को सोया देखकर धीरे से लेट गईं और सो गईं। राजा साहब देर से आए तो देखा रानी किसी के साथ सो रही है। राजा ने तलवार निकाल ली कि रानी के दो टुकड़े कर दें लेकिन उसी समय दस हजार रुपया वाली बात याद आगई। चुपचाप वापस लौट गया और मन्त्री को बुलाया। मन्त्री ने आहिस्ते से रानी को जगाया और कमरे के बाहर ले जाकर पूछा तो रानी बोली राजा साहब को सोते देखकर मैं भी चुपचाप सोगई थी। इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ मालूम नहीं। मन्त्री ने उस नौकर को जगाया तो वह घबड़ा कर उठा और राजा के पैरों पर गिर पड़ा कि क्षमा किया जाय। बहुत दिनों से पलंग बिछाते-बिछाते मेरे मन में उठा कि इस पलंग के मुलायम मुलायम गद्दों पर लेटने में कितना अपार सुख होगा। आज मैं अपने मन को न रोक सका, और लेट गया, लेटते ही नींद आगई। उससे पूंछा गया कि तुम्हारे साथ पलंग पर कौन था, तो वह बोला सरकार मैं अकेला था और तो कोई नहीं था। नौकर को ताड़ना देकर छुट्टी दी। आँख की देखी बात से अनुभव की बात ज्यादा सत्य होती है। आज इस वाक्य ने बड़े भारी अनर्थ से राजा को बचा लिया वरना आज दो बेकसूर जानें चली जाती।

माया कमती दामी है और भगवान् ज्यादा दामी है।

ससार का यह नियम है कि हम कमती दामी चीज देकर ज्यादा दामी चीज लेना चाहते हैं। इसलिए माया और विषयों का संकल्प मन में ज्यों उठे उसे तुरन्त रोको वरना अनर्थ करेगा। *हमारे गुरुदेव भगवान कहा करते थे कि—*

नाभी कमल चेतन की चौकी, उठी लहर तुरतै ही रोकी।

फिर कहा करते थे—

उलट कमल को पलट देख ले—
मौला सब घट राम विराजैं ॥

सन्त लोग कहते हैं —

भोजन भजन सुसग में नाही कीजे देर।
बन्धु बैर पर नारि सग न्याय में कीजे देर ॥
मर्द न वह करते जिसे मरदन मनो विकार।
मर्द वही जिसने किए मरदन मनोविकार ॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने एक बड़ी सुन्दर बात कही है—

आगे राम लषण पुनि पाछे।
राम लषण बिच सिय सोहति कैसी।
ब्रह्म जीवबिच माया जैसी ॥

अर्थात् माया के आगे ब्रह्म है और माया के पीछे जीव है। माया पर जो सवारी करे वह ब्रह्म और माया जिस पर सवारी करे वह जीव है। घोड़े पर जो सवारी करे वह सवार और घोड़े की जो सेवा करे वह सईस। ब्रह्म की आज्ञा में माया है और माया की आज्ञा में जीव है।

एक महात्मा से एक कुजरिन ने पूछा कि स्वामी जी तुम स्त्री हो कि पुरुष। स्वामी जी बोले कल बताएंगे। दूसरे दिन फिर पूछा तो कहा कि कल बताएंगे। वह कुजरिन जब स्वामी जी से पूछती तो वह यही जवाब देते कि कल बताएंगे। कल कल करते बहुत दिन बीत गये और स्वामी जी का एक दिन शरीर छूट गया। यह समाचार सुनते ही कुजरिन रोने लगी, और स्वामी जी के शव के पास आई और बोली कि स्वामी जी आप मेरे प्रश्न का उत्तर दिए बिना चले गए ऐसा कह कर रोने लगी। महात्मा जी उठकर बैठ गए और बोले पुरुष हूँ पुरुष हूँ पुरुष हूँ। कुजरिन बोली स्वामी जी पहिले उत्तर क्यों नहीं दिया अब मर कर उत्तर देते हैं स्वामी जी बोले जब तक शरीर जीवित है यह मन इन्द्रियाँ कब जीव को धोखा दे जायें यह नहीं कहा जा सकता। अब मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मैं पुरुष हू पुरुष हूँ, कारण कि यह मन इन्द्रियाँ अब मेरा कुछ नहीं विगाड़ सकतीं।

राक्षसों के उपद्रव से अपने आश्रम की रक्षा निमित्त जिस समय विश्वामित्र भगवान राम को लेने आये, उस समय राजा दशरथ ने बड़ी दामी बात कही। क्या कहते हैं:—

मागहु भूमि धेनु धन केसा।
सर्वसु आज देहु सहरोसा॥
देह प्राण ते प्रिय कछु नाहीं।
सोमुनि देहु निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रिय मोंहि प्राण की नाईं।
राम देत नहिं बनं गोसाईं॥

राम जब बन को चले तो राजा दशरथ कहते हैं —

नरक परहु वरु सुर पुर जाऊ।

अत. यह दामी बात याद रक्खो कि जागृत की एक मोहर मिले तो तुरन्तु ल लो और सपने की दो लाख मोहरें देनी पड़े तो तुरन्त दे दो इसमें देर न लगाओ।

भगवत्मार्ग से हमे विचलित करने वाले दो मुख्य बाधक हैं एक का नाम प्रलोभन और दूसरे का नाम भय है। भगवत्-पथ के पथिकों को इनसे सदैव बचते रहना चाहिये।

मन, राम सुमिर पछतायगा

पापी जीडड़ा लोभ करत है आज कल्ह उठ जायगा।
लालच लागी जन्म गँवायो माया भरम भुलायगा॥
धन योवन का गर्व न करिये कागज सा गल जायगा।
सुमिरन भजन दया नहीं कीनी तामुख चोटा खायगा॥
धर्मराय जब लेखा मांगे क्या मुख लेकर जायगा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो साधु-संग तर जायगा॥

योग का उपयोग

(श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज)

प्राणिमात्र का एकमात्र ध्येय परमानन्द की प्राप्ति ही है। चींटी से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी शाश्वत सुख के लिये लालायित हैं। एक क्षण के लिये भी किसी को दु:ख अभीष्ट नहीं है। किन्तु इस प्रकार सब की लालसा का आलम्बन एकमात्र सुख होने पर भी ऐसे विरले ही भाग्यवान हैं जिन्हें अपनी परिस्थिति से सन्तोष है। सभी किसी-न-किसी शारीरिक या मानसिक ताप से सन्तप्त हो रहे हैं। जो जितना ही अधिक सुख के लिये छटपटाते हैं, उन्हें उतना ही अधिक आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। जो ऊपर से सब प्रकार सुखी और धन-जन-सम्पन्न दिखाई देते हैं उनके भी हृदय को टटोला जाय तो न जाने वह कितने प्रकार के क्लेश-कण्टकों से कसकते दिखाई देंगे। यही नहीं, जो आज अपने को सब प्रकार सुखी और सम्पन्न समझते हैं, कौन कह सकता है कि कल वे दु:ख और विपत्ति के गर्त में नहीं गिरेंगे। यह भावी अनिष्ट की आशंका उन्हें भी चैन से नहीं बैठने देती। इस प्रकार सारा संसार ईर्ष्या, द्वेष, भय, भ्रान्ति, मोह और ममता के कारण क्लेशों का क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ है, उसमे सब ओर पतन, पराभव और पीड़ाकी विभीषिका का नग्न नृत्य हो रहा है।

इस विपरीत फल का क्या कारण है? जीव क्यों निरन्तर सुख के लिये चेष्टा करने पर भी दु:ख ही में फँस जाता है इस का कारण है उसकी विपरीत भावना। वह जहाँ सुख को ढूँढना चाहता है वहीं तो दु:ख का भण्डार छिपा हुआ है। एक साधारण कहावत है संसार में कहीं घूम आओ सुख तो अपने घर मे ही है। किन्तु कैसी विचित्र बात है, यह भोला प्राणी घर से बाहर सुख की खोज में भटक रहा है। इसने अपने को और अपने घर को भुला दिया है, और कहीं अन्यत्र आश्रय पाने के लिये हाथ-पाँव पटक रहा है। इसी से इसे दर-दर पर दुरदुराया जाता है। यदि इसे कोई ऐसा पथ-प्रदर्शक मिल जाय जो सीधी राह पर डाल दे और यह भी उसकी बात मे श्रद्धा रख कर उस मार्ग पर बढ़ा चला जाय तो एक दिन अपने सर्व-समृद्धि-सम्पन्न सुखमय सदन मे पहुँच कर परमानन्द लाभ कर सकता है।

भाई! सासारिक सुख की कितनी ही सामग्रियाँ इकट्ठी कर लो, वे तुम्हें कभी स्थायी शान्ति नहीं दे सकती। जिस प्रकार विष का लड्डू यद्यपि खाने में बड़ा मीठा होता है किन्तु परिणाम मे तो सर्वनाश का ही कारण होता है, उसी प्रकार ये भोग यद्यपि बड़े सुहावने और सरस जान पड़ते हैं तो भी इन में एक ऐसा विष मिला हुआ है जो एकाएकी नहीं तरसा-तरसा कर मारता है। वह विष है 'तृष्णा'। जिस प्रकार घृतकी आहुति से अग्नि की ज्वाला प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार जैसे-जैसे भोग मिलते जाते हैं वैसे-वैसे ही तृष्णानल प्रज्वलित होता जाता है। भला, जहाँ तृष्णा है वहाँ सुख कहाँ वास्तव मे पूछा जाय तो तृष्णा ही दु:ख है और सन्तोष ही सुख है। इसे हम सूत्र रूप से "सुख-दु:ख की व्याख्या" कह सकते हैं।

आधुनिक अभ्युत्थान-प्रेमी महानुभावो को इस सूत्र से बड़ी चिढ़ है। उनका मत है कि इस सन्तोष *ने ही भारतवर्ष को डुबोया है। देखिये, प्रवृत्तिपरायण* पाश्चात्य पुरुषो ने सन्तोष को त्याग कर आशा और उत्साह का आश्रय लिया है तो कितनी उन्नति की है? यदि हम भी इस प्रारब्धवाद का पल्ला छोड़ कर पुरुषार्थ पर कटिबद्ध हों तो हमे विदेशियों के सामने क्यों नीचा देखना पड़े?

ठीक है, उन्होंने उन्नति की है—इसमे किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। परन्तु उस उन्नति से उन्हें कितनी शान्ति मिली है, इसका भी तो विचार करना चाहिये आखिर, उनकी उन्नति का भी उद्देश्य तो सुख या शान्ति ही है न ? उन्नति केवल उन्नति के लिये तो नहीं होती। उसकी सफलता तो उन्नत के चित्तपरितोष में ही है। यदि किसी के शरीर मे भयकर पीड़ा है, अथवा वह तीव्र ज्वर से सन्तप्त है तो क्या उस समय भी उसे नाना प्रकार के व्यञ्जन, तरह-तरह की पोशाकें और सिनेमा-थियेटर आदि शान्ति दे सकते हैं। उस समय तो किसी कड़वी भेषज से ही उसे शान्ति मिल सकती है। इसी प्रकार इस वाह्य उन्नति ने भी उन्हें अधिकाधिक सुख, सुविधा और शौकीनी का दास बनाकर उनकी आवश्यकताओं को और भी अधिक बढा दिया है, और वे निरन्तर अभाव का ही अनुभव करते रहते हैं।

रही भारत के पराभव और पतन की बात। उसका कारण उसका सन्तोष नहीं है, वरन आलस्य और धर्म-पथ का परित्याग है। हमारी अर्थतृष्णा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है, भोगों की कदर हम पाश्चात्यों से कम नहीं करते। किन्तु उनकी प्राप्ति के लिये हम मे उद्योग और ईमानदारी का अभाव है। इस प्रकार हम दीन और दुनिया दोनों ओर से गिरे हुए है। ऐसे उभयभ्रष्ट पुरुषों को अपमान और अवहेलना सहनी पड़ें तो आश्चर्य ही क्या है ? प्रारब्धपरायणता तो सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। हम तो उसका नाम लेकर अपने आलस्य का पोषण करते हैं। जो प्रारब्धानुवर्ती महापुरुष हैं उसे किसी भी प्रकार के सुख-दु ख, मान अपमान, उन्नति-अवनतिकी परवाह कब होती है। सारा संसार तो उसीकी दृष्टि के सामने नृत्य कर रहा है ऋद्धि-सिद्धि आकर उसकी सेवा में उपस्थित होती हैं और वह उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, आपत्ति अपना नग्न नृत्य दिखाकर उसे डिगाना चाहती है और वह उसकी चपलता पर मुसकाता है। अजी ? उसके चित्त की थाह हम कैसे पा सकते है। यह समार उसकी क्रीडा की शतरजी है और संसार के राजा, मन्त्री और सेनाएँ उसके मुहरे हैं। इनकी प्रत्येक चाल उसके विनोदका ही कारण होती है। इनकी हार-जीत से उसे किसी भी प्रकार का हर्ष या विषाद नहीं होता। जिन्हे कोई ऐसा पथप्रदर्शक मिल जाता है वे ही सीधे रास्ते पर पड़ कर अपने घर मे पहुँचते हैं और आनन्द की अक्षय निधि पाकर कृतकृत्य हो जाते हैं।

अब, विचारना यह है कि वह अपना घर क्या है, जिस से बिछुड़ने के कारण जीव इतना सन्तप्त हो रहा है। शास्त्र एक स्वर से कह रहे हैं—'वह आत्मा है।' जीवका अपना आप ही चरम विश्रान्तिका स्थान है वही अक्षय आनन्द की निधि है। वही परमप्रेमास्पद है, उसी के सम्बन्ध से और उसी के लिए अन्य वस्तुएँ भी प्रिय जान पड़ती हैं। श्रुति कहती है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (बृ० उ० ४।५।६)—आत्मा के लिये ही सब कुछ प्रिय होता है। श्रीमद्भागवत् मे कहा है—

> सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
> इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतैव हि॥
> (१०।१४।५०)

'हे राजन्! समस्त प्राणियों को अपना आत्मा ही प्रिय है, अन्य पुत्रधन आदि भी उसी के प्रेम के कारण प्रिय जान पड़ते हैं।' व्यवहार में यह स्पष्ट देखा जाता है कि जिस वस्तु पर ममता की छाप लगी होती है उसी मे मनुष्य का राग रहता है, वह छाप उठी कि उस से उसका राग भी उठ जाता है। आज अपना होने के कारण जिस घर की एक ईंट गिरने से भी हमारे हृदय मे धक्का लगता है, कल दूसरे के हाथ बेच देने पर उस मे आग लग जाय तो भी कोई क्लेश नहीं होता, बल्कि उस आपत्ति के

आने से पहले ही उस से मुक्तिका उपाय हो जाने के कारण हम अपने भाग्य को सराहने लगते हैं।

यही नहीं मनुष्य को जो कुछ रमणीय जान पड़ता है वह भी इस आत्मदेव की पूजा मे उपयोगी होनेके कारण ही है। आज जिस प्रेयसीके लिये वह प्राण निछावर करने के लिये तैयार रहता है कल उसके प्राण-पखेरू उड़ जाने पर उसे फूकने की जल्दी पड़ती है। कारण क्या है ? अब वह उसके मतलब की चीज नहीं रही यही हाल प्रिय कही जाने वाली प्रत्येक वस्तु का है। औरों को जाने दीजिये, जिसमें अधिकांश प्राणियों को आत्मत्व का भ्रम हो रहा है और जिसके सुख एव सुविधाओं के लिये उनकी सारी प्रवृत्तियाँ हैं वह देह भी जब किसी भयकर रोग अथवा मानसिक तापके कारण भारभूत होजाता है तो जीव उससे भी छुटकारा पाने के लिये के लिए छटपटाने लगता है तथा कभी-कभी तो आत्मघात जैसा दुष्कर कर्म भी कर बैठता है। इससे यह जान पड़ता है कि आत्मा से अतिरिक्त और किसी पदार्थ मे सुख सौन्दर्य या प्रेम है नहीं। इन सबका आश्रय तो एक मात्र आत्मदेव ही है। उसमें कभी किसीका द्वेष नहीं होता। अपने ही से वैर करे, अपना ही अनिष्ट चाहे अथवा अपने ही में घृणा करे—ऐसा कभी कोई व्यक्ति नही देखा गया। अत. आत्मा ही परम प्रेम और अखण्ड आनन्द की निधि है, नहीं-नहीं वह साक्षात आनन्द और प्रेम स्वरूप ही है। उसमे आनन्दका न्यूनाधिक्य नहीं होता, वह सर्वदा एकरस रहता है। अतः जिसकी उस नित्यानन्दैकरसस्वरूप मे स्थिति हो गयी है वही अपने घर मे पहुँच गया है। फिर उसे किसी प्रकार कोई क्लेश स्पर्श नहीं कर सकता।

एक बात और है। लोग समझते हैं कि हम तरह-तरह के विषयों को भोगते हैं, वे हमारे भोग्य हैं। परन्तु वास्तव मे तो अपने को न जानने कारण वे ही उनके द्वारा भोगे जारहे हैं। उन्हें विषयों ने अपना दास बना लिया है। परन्तु जो आत्मज्ञ है वह तो सारे संसार का स्वामी बन जाता है, निखिल नियति उसी के इशारे पर नाचने लगती है। वही सच्चा भोक्ता है। उसी के भोग्य बनने के लिये सारे विषय लालायित रहते हैं। और तभी उन्हें भोगने का आनन्द भी है। जिसे अपना पता नहीं वह तो व्यर्थ ही विषयों के पीछे भटकता है, उसने तो मुर्दों मे मोह बाँध रक्खा है। आत्मज्ञान से सारा ससार सजीव हो जाता है, सर्वत्र आत्मचैतन्य का अद्भुत लास्य प्रतीत होने लगता है और सब ओर आनन्द ही आनन्द छा जाता है यह बात सभी जानते हैं कि शून्य कितने ही हों उनका कोई मूल्य नहीं होता, किन्तु यदि उनके पहले एक अंक रख दिया जाय तो उनका मूल्य कई गुना बढ़ जाता है। इसी प्रकार ससार की सारी सम्पत्ति शून्यवत् है, निःसत्त्व है, निरालम्ब है। जिस समय उसे आत्मदृष्टि से देखा जाता है, नेत्रों पर आत्मज्ञान की ऐनक लगाकर उसकी अलोचना की जाती है वह आत्मचैतन्यसे झिलमिला उठती है और सारी सम्पति और विपत्तियाँ आत्मदेव की ही विभूति जान पड़ती है, फिर उनसे किसी प्रकार का मोह होने की सम्भावना नहीं रहती। इस लिये जिन्हें सच्चे सुख की इच्छा है जो जीवन का वास्तविक आनन्द लेना चाहते हैं उन्हे पहले आत्मदेवके दर्शन करने चाहिये प्रभु ईसामसीह इन आत्मदेव को ही 'भगवान् साम्राज्य' (Kingdom of God) कहते हैं। उनका कथन है—'Seek ye first the Kingdom of God and His righteousness and all these things shall be added unto you'. पहले तुम भगवान् के साम्राज्य और उनकी पवित्राता की खोज करो फिर ये सारी सामग्रियाँ तुम्हें ही सौंप दी जायगी।

अत' आत्मसाक्षात्कार ही मनुष्य का एकमात्र

प्रधान कर्त्तव्य है। उसके लिये महानुभाव महर्षियों ने जो मार्ग बताये हैं उन्हीं को 'योग' कहते हैं। जिन जिन साधनोंसे भी जीव उस निरतिशय विश्रामस्थान तक पहुँच सकता है वे सभी योगपदवाच्य हैं। किस जीव को किस योग पथ का आश्रय लेना चाहिये इसका निर्देश योगारूढ़ गुरुदेव ही कर सकते हैं। जिन्हे ऐसे किन्हीं समर्थ गुरुभगवान् की कृपा प्राप्त है और जो उनके आदेशानुसार किसी योग पथ पर बढ़ने लगे हैं वे अवश्य एक दिन उस अभय पद को प्राप्त कर लेंगे।

शास्त्रों में योग और योगारूढ़ की बड़ी महिमा कही गयी है। योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं।

'अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'

योग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना—यही सबसे बड़ा धर्म है। हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं। —'नास्ति योगसम बलम्'—योग के समान कोई बल नहीं है। भगवान योग को दुःख-संयोग का वियोग रूप बनाते हुए बल पूर्वक उसका अभ्यास करने का आदेश देते हैं।—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोग योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्योयोगोऽनिर्विण्ण चेतसा॥
(गीता ६।२३)

योग की महिमा का वर्णन करते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(गीता ६ ४६)

हे अर्जुन! योगी तपस्वियों से भी बड़ा है, ज्ञानियों से भी बड़ा माना जाता है और कर्मियों से भी बड़ा है। इस लिये तू योगी हो।

योग प्राचीन भारत की सम्पत्ति है और भारतीयों का उस पर परम्परागत स्वत्व है। यह वह परम धन है जिसके एक अंश का मूल्य भी सारे संसार का वैभव नहीं हो सकता। इन्द्रादि देवगण जिसके लिये तरसते हैं और जिसकी रक्षा के लिये तरह-तरह की चालें चलते हैं, उस स्वर्ग-सुखादि को भी योगसाम्राज्य पर अभिषिक्त महापुरुष कुछ नहीं गिनता।

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः।
अहो तत्रस्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति॥
(अष्टावक्र० ४.२)

योग सारे ससार के ऐश्वर्य की कुञ्जी है। यह जिसके हाथ लग जाती है उसके लिये त्रिलोकी का का कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता। वह भूत-भविष्यत् का ज्ञाता, लोकान्तरों का निरीक्षक, सर्व-रत्नों का अधिष्ठाता, सर्वज्ञ, स्वच्छन्द विचरने वाला और सम्पूर्ण प्रकृतिका प्रभु हो जाता है। महर्षि विश्वामित्र ने योगबल से त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग पहुँचा दिया तथा जब इन्द्र ने उसे स्वर्ग से गिराया तो नवीन स्वर्ग और देवताओं की रचना करके दिखा दी। महर्षि व्यास की कृपा से सञ्जय को दिव्यदृष्टि प्राप्त हुई और उन्होंने महाभारत युद्ध की अत्यन्त गुप्त घटनाएँ भी एक ही स्थान पर बैठे-बैठे देखकर महाराज धृतराष्ट्र को सुना दीं। चूडालाने योग बल से ही अनेकों प्रकार की युक्तियों द्वारा अपने पति शिखिध्वज को तत्त्वज्ञान करा दिया। श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने योग बल से ही दीवार में गति पैदा कर दी और भैंसे के मुख से वेदोच्चारण कराया। इसी प्रकार योग की अद्भुत शक्ति के अनेकों दृष्टान्त भारतीय साहित्य में मिलते हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी योगी इनकी कुछ कदर नहीं करता, वह इस मायिक प्रपञ्च से अलग ही रहता है। उसका तो एकमात्र ध्येय आत्मानन्द ही होता है और वह अहर्निश उसी में मग्न रहता है।

(क्रमशः)

दिव्य मन्त्रणा के दस अमूल्य रत्न

(श्री चन्द्राकर प्रसाद जी त्रिवेदी 'मानव')

(१) यदि दुख से हटना चाहते हो तो सुख से विरक्त बनो। सुख से विरक्त होना चाहते हो तो ज्ञानी विवेकी बनो। ज्ञानी विवेकी होना चाहते हो तो मोह का त्याग करो। मोह को त्यागना चाहते हो तो तृष्णा छोड़ो। तृष्णा को छोड़ना चाहते हो तो सुखद वस्तुओं का संग्रह मत करो। संग्रह रहित होना चाहते हो तो पूर्ण तृप्त विरक्त, ज्ञानी सत्पुरुष के प्रेमी श्रद्धालु बनो। श्रद्धास्पद देव की कृपा चाहते हो तो उनकी आज्ञा पालन करते हुए तुम अपने मन में कभी उदासी न आने दो।

(२) यदि ऊपर उठना चाहते हो तो सांसारिक वस्तुओं और व्यक्तियों की दासता को छोड़ो। जो कुछ तुम्हारे साथ सुन्दर है, दूसरों के लिए हितकर है, सुखकर है उसका दान करो और जो कुछ असुन्दर तथा अहितकर है उसका त्याग करते हुए अपने को निर्मल और भार रहित बना लो, और निरभिमानी बन कर ज्ञानी पुरुष का सुसंग करो। उनकी आज्ञानुसार ही व्यवहार में आचरण करो।

(३) यदि ऊपर चढ़ते हुए अपना पतन नहीं चाहते हो तो भोगासक्त, धनवानों के सहवास से बचते रहो। स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर वस्त्र तथा दूसरों को आकर्षित करने वाला किसी प्रकार का शारीरिक शृंगार और स्त्रियों के प्यार को ममत्व न दो, इनमें रस न लो।

(४) दोषों से मुक्ति चाहते हो तो दोषों के साथ रहने वाले दुखों का ज्ञान प्राप्त करो। और दुखी होने पर दुःख का कारण जो दोष हैं—उनका सदा के लिए त्याग करो।

(५) बन्धनों से छूटना चाहते हो तो ज्ञानी गुरु की उपासना करते हुए जगत और जगदाधार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो जिससे असत् वस्तुओं से विरक्त होकर सत्य परमात्मा में अनुरक्त हो सको।

(६) सांसारिक सुख चाहते हो तो वस्तुओं की प्राप्ति के लिए पुण्य करो। यदि मान, प्रतिष्ठा चाहते हो तो अपने अधिकार की सम्पत्ति, शक्ति से कुटुम्ब, जाति, समाज तथा देश की सेवा करो। यदि मान, प्रतिष्ठा प्राप्त करके निष्कलङ्क रहना चाहते हो तो कहीं भी सत्यधर्म से विमुख न बनो। धन और स्त्री के प्रलोभन से बचते ही रहो। परमेश्वर से डरते हुए चलो। अहंकार का शब्दों तथा क्रियाओं द्वारा प्रदर्शन न करो।

(७) यदि शक्ति चाहते हो तो दुर्बलता को दूर करने के लिए तपस्वी बनो, मन का निरोध करो, विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियों का दमन करो। भोगों से विरक्त बनो।

(८) शान्ति चाहते हो तो संसार में जहाँ कहीं वस्तुओं और व्यक्ति के प्रति राग हो उसका त्याग करो।

(९) पूर्व पापों का प्रायश्चित्त चाहते हो तो दुखियों की सेवा में शारीरिक मानसिक चेष्टाओं की परवाह न रखकर कठिन तप करो और पुनः पाप न होने के लिए निरन्तर विनम्र तथा सहिष्णु रहकर निरहंकार वृत्ति से उदारता पूर्वक अखण्ड प्रेम को सभी के प्रति हृदय में धारण करो।

(१०) तुम ऊँचे उठना चाहते हो तो सरल, विनम्र बनो और सदा अपने आगे की ओर देखो, प्रयत्न में सफलता चाहते हो सच्चे धर्मानुयायी बनो। गौरव प्राप्त करना चाहते हो तो ईश्वर की आज्ञा-नुकूल चलो। महत्व प्राप्त करना चाहते हो तो

गम्भीरता, दया, सहानुभूति सेवा आदि सद्गुणों के अनुसार ही व्यवहार करो; मान प्रतिष्ठा सुख सम्पत्ति चाहते हो तो प्रकृति की शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करो उसी की शरणापन्न होकर रहो। यदि मुक्ति चाहते तो संसार से पूर्ण निराश होकर केवल भगवान के ही प्रेमी बनो।

प्राप्ति

(चन्द्र शेखर पाण्डेय "चन्द्रमणि" कविरत्न)

बहुत प्रयत्न करने पर भी हेमवती की हालत में सुधार नहीं हुआ। डाक्टरों और वैद्यों ने साफ जवाब दे दिया। सब ने यही निश्चय कर लिया कि एक न एक दिन उसका शरीरान्त अवश्यंभावी है। आने वाली विपत्ति का मुकाबला करने के लिए भी परिवार वाले तैयार हो गए। बेचारा सुरेश निराश हो गया। अभी तक अपनी सेवा और चिकित्सा के बल पर उसे विश्वास था। उसने अपनी प्रेयसी हेमवती की अटूट सेवा की थी पर विधि-विधान को कौन टाल सकता है। अनेकों सेवकों के होते हुए जब सुरेश स्वयं पत्नी की सेवा करता था, तो प्राचीन विचारों के पक्षपाती उसके पिता विद्यानन्द कुछ झिझक के साथ माथा भी सिकोड़ते थे, परन्तु सुरेश ने इसकी कभी परवा नहीं की। उन्होंने भी कुछ कहना बन्द कर दिया।

सुरेश की अवस्था अभी उन्नीस वर्ष की और उसकी पत्नी हेमवती की पन्द्रह वर्ष की थी। दोनों का विवाह हुए अभी केवल एक वर्ष ही बीत पाया था। पर इतने ही अल्प समय में हेमवती अपने सात्विकी स्वभाव और सेवा के बल पर पति के प्रेम पर पूर्ण विजय पा चुकी थी। सुरेश पत्नी के प्रति आकृष्ट था, उसे संसार का अमूल्य पदार्थ प्राप्त हो गया था, विश्व की अमूल्य निधि सी पतिव्रता पत्नी पाकर वह फूला न समाता था। अपनी स्थिति पर उसे संतोष था। परन्तु ··......

आज वह दिन आ गया, हेमवती का प्राण वायु निर्वाण के लिए कटिबद्ध हो गया, वह छटपटाने लगी। सुरेश पास ही बैठा अपलक नेत्रों से उसकी ओर देख रहा था। झट उसने हेमवती का सर अपनी गोद में ले लिया। उसका कण्ठ कफ कोप के कारण घर-घर कर रहा था। मृत्यु शय्या पर पड़ी हुई रोगिणी ने स्वामी की ओर करुणा भरी दृष्टि से देखकर कहा—

' प्रिय ! अब चली।"

सुरेश की आँखों से अश्रुधारा बह चली, रोगिणी ने देखा कि सान्त्वना के लिए, या न जाने किस दैवी प्रेरणा के वशीभूत हो उसके मुख से निम्नस्थ वाक्य निकल पड़ा।

"फिर मिलेंगे !"

इसके बाद मुख मलीन हो गया। प्राण पखेरु उड़ गये।

(२)

काल चक्र उसी तरह चलता रहा। सिनेमा के चलचित्रों की तरह दिन और रात ने तीस-तीस चक्कर करके महीनों की सृष्टि किया और उन महीनों के समूहों ने संगठित होकर वर्षों के रूप का अभिनय किया। सुरेश का पत्नी विरह जन्य दुःख पुराना नहीं हुआ। हेमवती के दुःख से कातर सुरेश संसार से विरागी हो गया। महाकवि कालिदास के शब्दों में तैल विन्दु के साथ ही दीपार्चि (चिराग की लव) भी नीचे गिरती है।

वपुषा करणोज्झितेन सा,
निपतंती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेक बिन्दुना सह,
दीपार्चिरुपैति मोदिनीम् ॥

[रघुवंश]

यही हाल सुरेश का था। उसे उठते-बैठते, चलते फिरते हेमवती का ही ध्यान रहता था। आँखों में सदैव वही मूर्ति वसी रहती। उसके कानों में "फिर मिलेंगे" शब्द निरन्तर गूँजा करता। अगर उसका वश चलता तो वह विश्व-अन्तराल से अपनी प्रेमिका को खोज लाता. पर विवश था।

पिता ने उसके इस दुःख निवारण के लिए दूसरे विवाह की ठानी। बड़े आदमियों का मामला था। अनेक कन्याओं के पिता नवीन आशा लेकर आते, पर निराश के साथ ही उन्हें सिधारना पड़ता सुरेश ने साफ शब्दों में इन्कार कर दिया। पिता ने झिड़कियाँ दीं, धमकी दी, घर से निकाल देने को कहा परन्तु सुरेश अपने नियम में अटल रहा। वह वियोगी होते हुये भी संयोगी था, उसके मस्तिष्क में न जाने कौन सी अदृश्य शक्ति उसके उज्वल भविष्य की विचित्र आशा का अभिनय चित्र खींचा करती। वह निरन्तर इन्हीं कल्पना के चित्रों में उलझा रहता। उसकी आँखें किसी भावमयी हेमवती के जैसे चेहरे की खोज किया करती। वह बाहर भी जाता, मनोविनोद के लिये नहीं, प्रेयसी की टोह में। उसे ऐसा मालूम होता कि मेरी हेमवती कहीं भूल सी गई है, मैं जाकर खोज लाऊँ। इसी विचार से प्रेरित होकर वह बाहर अपनी खोज में तत्पर रहता। रात के भयावने अन्धकार का उसे किंचित भी भय नहीं था। अधिकतर वह श्मशान में, जहाँ पत्नी का शव, संस्कार किया गया था, बैठा रहता घर में रहता तो कभी-कभी रात को अकेले ही बात-चीत किया करता। उसकी इस दशा को देख कर घर वालों ने समझा कि वह पागल हो गया है। पिता ने चिकित्सा की, डाक्टरों और वैद्य विशारदों की जेबें गर्म हुईं, पर उसके रोग का सच्चा निदान कोई जान न सका। इसी तरह सात वर्ष बीत गये।

रात के पिछले पहर ब्रह्म-मुहूर्त्त में चन्द्रग्रहण पड़ चुका था। चन्द्रदेव राहु के भयानक पंजे से छूटकर भी उसी भय से पश्चिम की ओर अस्ताचल मे छिप गये थे। पूर्व के श्वेत पट को चीरकर सूर्य देव सहयोगी चन्द्र की सहायता के लिये आ गये, पर उनका शत्रु राहु अदृश्य हो गया था, परन्तु क्रोध में भरे हुए थे उन्होंने अपने शत् शत् रश्मिशरों को पश्चिम की ओर फेंका। बेचारे पक्षी इस अज्ञात भय के कारण चहचहाने लगे। विश्व में कोलाहल छा गया।

काशी में मणिकर्णिका घाट पर असंख्य नर-नारी ग्रहण शान्ति स्नानके लिये आये थे। बाराबंकी डि० बोर्ड के हेड क्लर्क पं० राधाचरण जी त्रिवेदी अपनी पत्नी और षट् वर्षीया शान्ता को लेकर स्नान के लिये आये थे। अच्छा आसामी देखकर स्टेशन से ही पण्डे ने पिछुवा लिया था। वह भी साथ था। पुण्य सलिला भागीरथी के तट पर पड़े हुए एक मलिन तख्त पर उन्होंने अपने वस्त्रादि रख दिये। पण्डे ने कहा:—

"जजमान! आप निश्चिन्त होकर असनान करलें।"

पंडे को वस्त्रादि सौंप कर त्रिवेदी जी सपत्नीक शान्ता कन्या को लेकर स्नान कर आये। पंडा महाराज भी दक्षिणा लेकर देव-दर्शन के लिये अपने दानी यजमान को ले चलना चाहते थे कि इसी समय एक विचित्र घटना हो गई। त्रिवेदी जी ने देखा, शान्ता की विचित्र आकृति हो रही है, उसका चेहरा जर्द पड़ गया है। वह सामने के बुर्ज पर

खड़े हुए एक अपरिचित व्यक्ति पर आँखें स्थिर किये है, पलक भांजना भी बन्द हो गया है उस व्यक्ति की अवस्था भी कोई अधिक नहीं थी, अनुमानतः छब्बीस वर्ष के लगभग होगी, फिर भी वह साधु जैसे वेश मे था। दाढ़ी से बाल बढ़ आये थे वस्त्र भी मलिन थे, देह मे धूल सी जमा थी, फिर भी उसके चेहरे पर कान्ति थी, आँखों में विचित्र प्रकार का तेज था। वह भी अनिमेष नेत्रों से शान्ता को देख रहा था—घूर रहा था। मानों उसकी आँखें किसी चीज को खोजती हुई अनायास ही अभिलषित वस्तु की प्राप्ति करके आश्चर्य कर रही थीं।

त्रिवेदी जी ने देखा, शान्ता की पथराई हुई आँखों को और उन आँखों से टकराती हुई अजनबी की तेजमयी—आश्चर्यमयी आँखों को। पुत्री की उस दशा से उनका वदन सिहर उठा। तत्क्षण शान्ता को गोद मे ले लिया, पर वह संज्ञाहीन सी हो चुकी थी।

वे शान्ता को पत्नी की गोद में देकर उस अजनबी के पास पहुचकर बोले—

"भाई तुम कौन हो ?"

उक्त वाक्य अजनबी के कान से टकराकर वापस आये, उसी क्षण उन्होंने अजनबी की देह को हिलाते हुए कहा—

"बोलो ! बोलो तुम कौन हो ?"

वह संज्ञाहीन सा था, त्रिवेदी जी ने विनय के साथ कहना प्रारभ किया—

"हैं ! तुम बोलते भी नहीं ! तुमने कौन सा जादू मेरी शान्ता के ऊपर कर दिया ? बोलो, अबोध पुत्री बेहोश हो गई मैस्मरेजम ! हाँ मैस्मरेज्म के प्रभाव से ही तुम ऐसा कर सके हो। पर अबोध कन्या का क्या अपराध था ?"

अचानक उनके हाथ के धक्के से बेहोश अजनबी पृथ्वी पर गिर पड़ा। स्थानीय स्वयं सेवक उसकी परिचर्या के लिये दौड़ पडे। इधर कोई उपाय न देख कर त्रिवेदी जी बेहोश शान्ता को लेकर चल पडे। तांगे वाले ने पूछा—

"बाबू किधर चलें ?"

"स्टेशन"

पन्द्रह मिनट में ही तांगे ने स्टेशन पहुँचा दिया। लखनऊ एक्सप्रेस तैयार था, सब लोग और त्रिवेदी जी बेहोश शान्ता को लेकर बराबंकी चल पड़े।

घर पहुँचने पर शान्ता को चेतना आई, शान्ता पहले की अबोध शान्ता ही न रह गई, वरन् एक भूत वक्ता की तरह पिछले जन्म की सारी बातें बताने लगी। उसका वह बाल सरल स्वभाव भी न रह गया। चचलता लुप्त हो गई, उसके रिक्त स्थान में गम्भीरता अपना नाट्य करने लगी। उसमे जैसे किसी युवती की लज्जा थी।

त्रिवेदी जी ने पूछा—

"शान्ता काशी मे तुम्हें क्या हो गया था ? क्या डर गयी थी ?"

इसके उत्तर में शान्ता ने जो कुछ कहा उससे सपत्नीक त्रिवेदी जी के आश्चय का ठिकाना न रहा

"पिता जी, मैं डरी नहीं थी। उस जन्म का मेरा विवाहित पति आया था, उसे पहचाना, शायद उसने भी मुझे पहचाना है—"

"क्या क्या ?" आश्चर्य के साथ दम्पति ने पूछा। शान्ता ने कहा—

"पिता जी, भवानी पुर के पं० विनायक प्रसाद शुक्ल का नाम आपने सुना होगा। क्यों कि वे उस गाँव के जमींदार हैं। सच मानिए, मेरे पहले जन्म के वे ही श्वसुर हैं। उनके पुत्र "

यहाँ उसके मुख मण्डल पर कुछ लज्जा का

अभिनय हुआ। पर किसी अज्ञात प्रेरणा वश उस ने फिर कहना शुरू किया—"उनके पुत्र पं० सुरेश कुमार शुक्ल मेरे पति हैं। लगभग सात वर्ष की बात है मेरी मृत्यु होगई थी। मरते समय मैंने पतिदेव से कहा था "फिर मिलेंगें" यही कारण है कि मुझे अधिक भटकना नहीं पडा। मृत्यु के समय मेरा सर पतिदेव की गोद में था और आँखों में ही वे समाए थे यही कारण है कि मुझे पिछले जन्म की सारी बातें उनके दर्शन होते ही याद होगईं।

घर की महरी ने यह हाल सुना तो दांतों तले उंगली दवाकर पड़ोसिन के यहाँ भाग गई। पड़ोसिन के पूँछने पर उसने सारा समाचार बताया। इसी तरह शहर भर में यह बात फैल गई कि त्रिवेदी जी की कन्या ने अपने पूर्व-जन्म का समाचार बताया है। अखबार वालों के लिये अच्छा मसाला मिल गया। पूर्व जन्म सिद्ध करने वालों के लिये नास्तिक वाद के खिलाफ ज्वलन्त प्रमाण मिल गया। त्रिवेदी जी के द्वार पर बड़ा सा मेला लग गया। शान्ता के दर्शनों एवं उसकी बातें सुनने की प्रवल उत्कण्ठा सबमें थी। जन-समूह के आग्रह से शान्ता सबके सामने आई उसने कहा कि 'मैं अपनी बहनों को पतिभक्ति का उपदेश देती हूँ यदि वे सच्ची पतिव्रताएँ बनेंगी तो उनके लिये यह साधारण बात है।

उस दिन शहर भर में यही बात चालू रही, शान्ता नित्य प्रति कोई न कोई पूर्व जन्म सम्बंधी बातें सुनाती। उसने परलोक सम्बन्धी अनेक अनुभव भी बताये। एक दिन पिता से उसने आग्रह किया कि 'मैं अपने पति के दर्शन करना चाहती हूँ।'

त्रिवेदी जी ने कहा:—

"तुम्हे उस गांव का रास्ता मालूम है?"

"जी नहीं, बाराबकी मुझे कभी जाना तो नही हुआ हाँ जिन रास्तों को मैंने पूर्व जन्म में देखा है उनकी स्मृति जरुर है।" शान्ता ने कहा।

शान्ता की मा ने उक्त प्रस्ताव का समर्थन किया त्रिवेदी जी ने अपनी स्वीकृति दे दी।

× × ×

वह अजनवी और कोई नहीं सुरेश था। स्वयं सेवकों के उपचार से उसे होश आया। उसने अपना पता भी बताया, स्वयसेवकों के नायक ने घर जाने की आज्ञा दे दी। अपनी प्रेयसी को इस ससार मे आयी जानकर सुरेश की आत्मा को अतीव शान्ति मिल चुकी थी, अतः उसने घर चलना ही निश्चित किया।

सुरेश घर आया। माता पिता की खुशी का ठिकाना न रहा। वह अधिक दिनों से इसी तरह विरागी बना फिरता था, चुपके से ही निकल जाता पर आज उसकी आत्मा में आन्दोलन न था। तूफान निकल जाने पर जिस तरह सागर शान्त हो जाता है वही दशा सुरेश के हृदय की थी। उसे शान्त और होशोहवाश से दुरुस्त देखकर पिता को सन्तोष हुआ।

दूसरे दिन की बात है, भोजनोपरान्त सुरेश आराम कर रहा था, बाहर बरामदे के सामने आराम कुर्सी पर लेटे हुये पं० विद्यानन्द अखबार पढ़ रहे थे। इसी समय धड़ धड़ करता हुआ एक ताँगा आकर रुका। कुछ ही मिनट मे पण्डित जी ने सुना कोई लड़की धीरे से कह रही है:—

"यही मेरे श्वसुर जी हैं।"

पण्डित जी ने अपनी चश्मार्चित आँखों को उसकी ओर घुमाकर देखा कि एक षटवर्षीया कन्या पैरों का स्पर्श करती हुई कह रही है.—

"पिता जी प्रणाम"

त्रिवेदी जी भी प्रणाम करके खड़े रहे। पण्डित जी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। छः वर्ष की बालिका को उन्होंने "मेरे श्वसुर कहते सुना था, वे

किंकर्त्तव्यविमूढ हो कभी बालिका का मुख देखते, तो कभी त्रिवेदी जी का मुख ताकते। उनकी आँखें मूक भाषा में मानों प्रश्न कर रही हों कि "यह सब क्या है ?"

"यह मेरी कन्या शान्ता है।" त्रिवेदी जी ने कहा—इसे अपने पिछले जीवन की बातें याद हैं।

"परन्तु ?"

त्रिवेदी जी की जिज्ञासा बढ़ी उन्होंने प्रश्न सूचक दृष्टि से देखते हुए पण्डित जी से कहा—

"परन्तु ? ... ..."

उनके इस परन्तु की ओर ध्यान न देकर बालिका शान्ता झमक कर घर में घुस गई। सुरेश की मा बैठी हुई कुछ स्त्रियों को रामायण सुना रही थीं। सीता की अग्नि-परीक्षा हो चुकी थी अग्निदेव ने पवित्र सीता को लेकर श्री राम को समर्पित किया था। उसी समय शान्ता अपनी सास के पैरों पर सर रखकर प्रणाम करने लगी चिहुँक कर सास ने देखा।

"मां तुमने मुझे पहचाना नहीं"

सास प्रश्न-सूचक दृष्टि से देखती रहीं।

"मैं हेमवती हू।"

"ऐं!" साश्चर्य सास के मुख से निकल पड़ा "हाँ प्रमाण के लिए यही काफी है कि पहले जन्म में उस कमरे में अधिक रहती थी मेरे कमरे में यदि आपने मेरी सदूकची भी खोली होगी, तो फोटो के साथ ही कुछ कविताएँ पुस्तक रूप में मिली होंगी। वे मेरी रची हुई हैं।"

सास उसी समय कमरे में जाकर सदूकची उठा लाईं—

"पर आज तक इस संदूकची की कुंजी मुझे नहीं मिल सकी, और न मैंने कोई जरूरत ही समझी थी।" उसने कहा कुंजी मैं बताती हू। कमरे के पश्चिमी कोने मे जो दीवादान का पत्थर बना है, उसके पूर्व की तरफ खींचने से जो छेद दिखाई दे, उसी मे कुंजी मिलेगी।"

सास दौड़ गई। उन्हें वहीं कुंजी भी मिलगई। संदूकची खोलनेके पहले ही सास को विश्वास होगया कि शान्ता नाम धारिणी बालिका मेरी बहू हेमवती ही है। ठीक उसी समय जीने का दरवाजा खुला। सुरेश सीढ़ियों से उतरता हुआ दिखाई पड़ा। शान्ता ने देखा, दोनों की आखें चार हुईं। शान्ता "मेरे प्राणेश्वर" कहते सुरेश के पैरों से चिपक गई। और सुरेश ने दोनों हाथों से उठाकर हृदय से लगा लिया। उसके मुख से निकल पड़ा।

"आह! हेमवती आखिर हम दोनों फिर मिल गए।"

बाहर ड्योढ़ी पर बैठा हुआ जमादार रामायण का पाठ उच्च कठ से कर रहा था।

"सती जों तजी दक्ष मख देहा।
जन्मी जाय हिमाचल गेहा॥
तेइ तप कीन शम्भु पति लागी।
.. ..॥"

अन्त मे दोनों पिताओं की इच्छानुसार शान्ता और सुरेश का विवाह लौकिक-रीति से भी सम्पन्न किया गया।

ऊंची जाति पपाहरा, पियत न नीचो नीर।
कै यांचै घनश्याम सो, कै दुख सहै शरीर॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरीमता

दैवी सम्पत्ति के लक्षण

इन लक्षणों को धारण करने वाले की मुक्ति होगी।

यह सब लक्षण बसहिं जासु उर।
जानेहु तात संत संतत फुर॥

१—भक्ति मार्ग में निर्भय हो कर चलना।

२—विषय-वासना छुटा कर मन को शुद्ध कर लेना।

३—सत्वस्तु परमात्मा के ज्ञान में स्थिर रहना।

४—दान सत्पात्र को देना और प्राणीमात्र का हित चाहना।

५—इन्द्रियों से वेदानुसार काम लेना।

६—परमात्मा के ज्ञानरूप अग्नि में चित्त की वृत्तियों की आहुति देना।

७—भगवान् से प्रीति बढ़ाने और अपने अवगुण पहिचानने के वास्ते सतशास्त्र को विचार सहित पढ़ना।

८—(तप) मनवाणी को खोटे मार्ग से रोककर देव, ब्राह्मण गुरू और विद्वानों का पूजन करना।

९—कपट से रहित सीधा नम्र स्वभाव रखना।

१०—शरीर मन वाणी से प्राणीमात्र को दुःख न देना।

११—सत्य हितकारी प्रिय वचन बोलना।

१२—लोभ, अभिमान, विषयाशक्ति, आलस्य को त्यागना।

१३—चित्त को सावधान रखना, उतावली न रखना।

आसुरी सम्पत्ति के लक्षण

इन लक्षणों को धारण करने वाले की अधोगति होगी।

सुनहु असन्तन केर सुभाऊ।
भूलेहु संगति करिय न काऊ॥

१—अपने मन के भरे हुए अवगुणों को छिपाने के लिए ऊपर से साधुता दिखाना अर्थात् बगुला भक्ति करना।

२—विद्या, धन और शरीर के घमंड में चूर रहकर साधु, आचार्य ईश्वर भक्तों के सामने नम्र न होना।

३—क्रोध की अग्नि हृदय मे सुलगाना और ऊपर से कड़ुवे वचन बोलना।

४—जीव, ईश्वर, प्रकृति, माया इन चारों के स्वरूप को ज्यों का त्यों न जानना।

५—संसार मे गिरने का प्रवृत्ति मार्ग क्या है और संसार से पार होने का निवृत्ति मार्ग क्या है, सो न जानना।

६—मन की पवित्रता जो मुख्य है उसे न जानना

७—शुद्ध-आचरण से न रहना।

८—काम हेतु के सिवाय संसार उत्पत्ति का और कोई कारण न सूझ पड़ना।

९—अपने अवगुणों से संसार को हानि पहुँचाना।

१०—विषय-भोग में आनन्द मानकर उसी में फंसे रहना।

११—मरने के समय तक जो पूरी नहीं हो सकतीं ऐसी सैकड़ों आशा की फांसियों मे बँधे रहना।

१२—काम भोग के वास्ते अन्याय से धन को खूब जोड़ना।

१४—निन्दा अर्थात् चुगली न करना।

१५—दुखी जीवों का दुःख, अपने से जहाँ तक हो सके दूर करने का यत्न करना।

१६—क्रोध न करना।

१७—कोई वस्तु यदि नीति विरुद्ध मिलती हो तो उसको त्याग कर देना।

१८—सदा मृत्यु को स्मरण करके मन मे किसी से अकड़ व ऐंठ न रखना।

१९—नित्य अपने अवगुण विचार कर मन में लज्जा करना।

२०—व्यर्थ की हंसी ठट्ठा या बेकार मे समय न खोना।

२१—अपना ऐसा तेजस्वी स्वभाव रखना कि जिससे पापी लोग पाप करने में दब जावें।

२२—बदला लेने की शक्ति होने पर भी अपराधी के अपराध को सह लेना।

२३—आपत्ति पडने पर संसार स्वप्नवत् विचार कर मन में धैर्य रखना।

२४—कुसंग से बचकर सत्संग के द्वारा मन को पवित्र करना।

२५—मान की इच्छा न करना यदि कोई सज्जन मर्यादानुसार करता हो तो मान से मन मे खुशी न होना।

२६—सब तरह से हानि समझ कर किसी से वैर न करना न कटु वचन सुनकर दुखी होना।

१३—काम क्रोध की बेड़ी मे जकड़े रहकर दुखी लोगों पर अकड़े रहना।

१४—आज मैंने इतना रुपया पैदा किया और आगे इस से अधिक पैदा करके सम्पदावान हो जाऊँगा ऐसा मानना।

१५—मैं शरीर से बलवान, मैं धनवान, मैं कुलवान, मैं विद्यावान, बुद्धिवान, बड़े परिवार वाला, मुझ से अब बड़ा और सुखी कौन हो सकता है। ऐसा मन मे समझना।

१६—यह समझना कि मैंने शत्रु को कैसा मारा और बचे हुओं को अवश्य मारूँगा।

१७—दूसरों की बड़ाई सुनकर हृदय में जलना और गुणों मे दोष लगाकर कहना।

१८—वेद-शास्त्र को पढ़कर भी उसके अनुसार न चलना।

१९—मनुष्य २ सब एक से, भगवान की गति कौन जाने, न जाने हरि किस में राजी, ऐसे संशय में पड़े रहना।

२०—वेदानुसार चलना असंभव बताकर सबको झूठा समझना।

२१—सदा भोजन, स्त्री और धन की प्रशंसा मे लगे रहना।

२२—मृत्यु को भुलाकर माया के नशे में मतवाले रहना।

२३—उत्तम शिक्षा को सुनकर बुरा मानना।

२४—दूसरे की निन्दा बड़े प्रेम से सुनना।

२५—किसी को दुखी देखकर मन मे प्रसन्न होजाना।

२६—पाप करने मे परमात्मा से भय न करना।

विशेष-सूचना

विगत चार वर्षों से 'परमार्थ' के द्वारा जनता-जनार्दन की जैसी उपयुक्त आध्यात्मिक सेवा होरही है, उससे तो आप भलीभाँति परिचित हैं ही। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ग्राहक-संख्या इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है किन्तु तो भी 'परमार्थ' को प्रति वर्ष घाटा ही रहता है। इसका कारण यह है कि अभी इसकी इतनी पर्याप्त ग्राहक संख्या नहीं होसकी है कि यह अपने पैरों पर खड़ा होसके। इसीलिए अभी 'परमार्थ' को अपने प्रेमियों की हार्दिक सहायता अपेक्षित है। 'परमार्थ' स्वावलम्बी बने एवं इसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो, इसी उद्देश्य से 'परमार्थ निकेतन स्वर्गाश्रम' में कतिपय धर्मानुरागी विशिष्ट प्रेमी सज्जनों की एक बैठक हुई थी। उस मीटिंग में निश्चय हुआ था कि उदारमना प्रेमियों के आर्थिक सहयोग से अनायास ही यह पूर्ति होजायगी और 'परमार्थ' स्वस्थ-सबल बनकर सदैव सेवा करता रहेगा।

जिन दानवीर सज्जनों ने दान द्वारा इसमें अपना सहयोग प्रदान किया है उनकी नामावली निम्नलिखित है। भविष्य में जो महानुभाव इस पुण्य-कार्य में सहयोग देंगे उनकी नामावली भी यथासमय प्रकाशित होती रहेगी। कम से कम १०१) प्रदान करने वाले सज्जन 'परमार्थ' के संरक्षक माने जायेंगे और उन्हें 'परमार्थ' आजीवन निःशुल्क मिलता रहेगा।

१—११००) श्री सेठ मटरूमल जी बाजोरिया, बम्बई

२—११००) श्री बच्चूभाई कृष्णदास जी, बम्बई

३—५००) श्री भागीरथमल रामस्वरूप जी, देहली

४—२५१) श्री ठाकुर विजयपाल सिंह जी

५—२०१) श्री रासबिहारीलाल जी वकील, जनरल मैनेजर 'परमार्थ बैंक' बरेली

व्यवस्थापक

मुद्रक तथा प्रकाशक — स्वामी सदानन्द सरस्वती, परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक-पत्र

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक:—

स्वामी सदानन्द सरस्वती,

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सहायक सम्पादक:—

सर्वश्री पं० श्रीनाथ त्रिपाठी व्याकरण साहित्याचार्य धर्म शास्त्री एम, ए०, रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य , पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० साहित्यरत्न, रामबहादुर काश्यप, रामस्वरूप गुप्त ।

श्री युगल किशोर की बांकी झांकी

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ अगस्त १९५३ श्रावण शुक्ला पञ्चमी शनिवार, सम्वत् २०१० | अङ्क—८

युगल-छवि

कोटि मार्तण्ड मणि मण्डित किरीट मुकुट ।
चन्द्रिका चमकि चकचौंधी चहुँओर की ॥
सिर पेच पेची कल कलँघी कुलिश कन ।
चन्द्नी विचित्र चित्र अमल अजोर की ॥
सतगन नग पर बसन विशेष राजै ।
एकसी प्रकासी द्युति दोनों चितचोर की ॥
तीनि लोक झाँकी ऐसी दूसरी न झाँकी जैसी ।
झाँकी हम झाँकी बाँकी जुगल किशोर की ॥

(*श्री श्रीनाथ जी त्रिपाठी आचार्य, एम, ए०,*)

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—खेत में धान तो बोने से उगेगा परन्तु क्या फालतू घास अपने आप बिना बोये ही नहीं उग जाती है ? अवश्य उग जाती है। चतुर किसान वही होता है जो सावधानी पूर्वक धान को छोड़कर घास घास को काट लेता है। इसी प्रकार, याद रक्खो, हमारे अन्तःकरण में भक्ति ज्ञान के शुभ भाव तो पुरुषार्थ से उत्पन्न किये जायँ परन्तु काम-क्रोध-लोभादि अवगुण तो अपने-आप हो जायँगे। बुद्धिमान वही है जो अपने अन्तःकरण से अवगुणों को तो सावधानी पूर्वक निकालता रहता है तथा सत्सग-भजन द्वारा भक्ति-ज्ञान का अभ्यास करता रहता है।

विचार करो—रोगी बच्चा कड़वी औषधि पीना नहीं चाहता, वह रोता है चिल्लाता है परन्तु उसकी माँ हाथ-पैर पकड़ कर, मुँह को चम्मच से खोलकर जबरदस्ती उसे वह कड़वी औषधि पिला ही देती है। मन के प्रतिकूल होने के कारण चाहे वह बच्चा उस समय माँ को भले ही शत्रु समझे परन्तु क्या माँ की उसपर अत्यन्त कृपा व प्रेम नहीं ? अवश्य है। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, रोग-दुःख आदि प्रतिकूल परिस्थिति के आजाने पर रोवो नहीं यह न समझो कि परमपिता परमेश्वर की कृपा नहीं है। वे तो उस रोग-दुःखादि प्रतिकूल परिस्थिति द्वारा आपको इस भव रोग से छुड़ाना चाहते हैं। यह उनकी परम कृपा है।

विचार करो—पति पत्नी से यह कहदे कि "मुझे तो तुम जब साधारण वस्त्राभूषण पहनकर आती हो तब बड़ी अच्छी लगती हो और जब इन विभिन्न डिजायनदार साड़ी तथा आभूषणों से रंगीली-छबीली बनकर आती हो तो बड़ी भद्दी लगती हो, बोलना तो दूर रहा—जी चाहता है उस समय तुम्हारी ओर देखूँ तक नहीं।" तो फिर क्या उसकी पत्नी कभी बढ़िया डिजायनदार वस्त्र व आभूषणों की माँग करेगी ? कदापि नहीं। इसी प्रकार, निश्चय रक्खो, जब तक हमारे हृदय में विलासिता का भाव है तभी तक यह माया हमको भिन्न-भिन्न प्रकार प्रलोभनों द्वारा आकर्षित करती रहेगी। परन्तु जब हमें सासारिक विषयों से अरुचि अर्थात् वैराग्य हो जायगा तब यह माया में फँसाने वाले विलासितामय भोग आपके सामने उपस्थित ही नहीं करेगी।

विचार करो—मिट्टी के ऊपर बीज डाल दो तो क्या वह उगेगा ? कदापि नहीं, उसे तो चिड़ियों आदि पक्षी चुग जायगें; उगेगा वही बीज जो जमीन में दबाया जायगा। इसी प्रकार, याद रक्खो, सन्त-महात्माओं के बचन आदि सशय-युक्त अथवा अश्रद्धा से सुने तो लाभ नहीं होगा; लाभ तो तभी होगा जब विश्वास पूर्वक सुनकर उनको हृदय में धारण करोगे।

विचार करो—वर्षा से भींगने के डर से भगवान् से क्या यह प्रार्थना करना कि "हे भगवान् मैं भीग रहा हूँ—क्या यह बुद्धिमानी है ?" कदापि नहीं। बुद्धिमानी तो यह है कि जो शक्ति भगवान ने दे रक्खी है उसका सदुपयोग करके एक छाता खरीदलेवें। इसी प्रकार, याद रक्खो, भगवान से यह प्रार्थना न करो कि "हे भगवान् मेरे पास दुःख आवे ही नहीं, सुख ही सुख आवे" परन्तु अखण्ड पुरुषार्थ द्वारा शुभ कर्म ही करो अशुभ कर्म कदापि न करो और परमात्मा से यह प्रार्थना भले ही करो कि "हे भगवान् मुझे सद्बुद्धि दो कि मुझसे शुभ कर्म ही हों—अशुभ न हों।

"आनन्द"

सन्त-समागम

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश)

जीवन की प्रत्येक घटना कुछ न कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं और जो प्राणी विचार का उपयोग नहीं करते वे घटना का चिन्तन करते हैं, अर्थ को भूल जाते हैं।

सत्य की खोज करने वाले प्राणी प्रतिकूलता आ जाने के भय से तथा अनुकूलता चले जाने के भय से दुःखी होते हैं। अर्थात् विचारशील को अनुकूलता का सुख या प्रतिकूलता का दुःख दोनों ही दुःखकर हो जाते हैं। सुख आने पर दुःख को भूल जाना यही वास्तव मे भूल जाना है। आनन्द आने पर दुःख मिटता है, सुख से तो केवल दुःख दब जाता है। आनन्द आवश्यकता (Natural want) की पूर्ति और इच्छाओं (Artificial desire) की निवृत्ति होने पर आता है और फिर नहीं जाता। सुख प्राणी को तब मालूम होता है जब वह निरन्तर होने वाले परिवर्तन को नहीं देखता तथा अपना मूल्य घटा लेता है, एवं जो उपस्थित है उससे उत्कृष्ट परिस्थिति को देखना बन्द कर देता है। वास्तव में तो परिवर्तन का रोग निरन्तर है। प्रत्येक प्रवृत्ति महान रोग है, क्योंकि प्रवृत्ति के अन्त मे निर्बलता प्राप्त होती है। जिस प्रवृत्ति के करने में स्वतन्त्रता हो और उसका अन्त निवृत्ति में हो तो वह प्रवृत्ति करने योग्य है। जिस प्रवृत्ति के अन्त मे प्रवृत्ति ही शेष रहती है, वह त्याग करने के योग्य है, क्योंकि प्राकृतिक विधान (Natural law) के अनुरूप प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति का साधन मात्र है। यदि प्रवृत्ति 'जीवन' होती तो उसका परिवर्तन स्वाभाविक नहीं होता। प्रवृत्ति को केवल प्रवृत्ति की परतन्त्रता सिखाने के लिये प्रवृत्ति आवश्यक है। परतन्त्रता का दुःख स्वतन्त्रता की आवश्यकता उत्पन्न कर देता है। स्वतन्त्रता की आवश्यकता 'सबल तथा स्थायी होने पर उसके सभी साधन अपने आप उपस्थित हो जाते हैं, क्योंकि अनन्त शक्तिहीन नहीं है। 'जीवन' की घटनाओं का पाठ स्वाभाविक अभिलाषा (Natural want) जागृत कर देता है। अपनी अनुभूति का आदर करो! परतन्त्रता को 'जीवन' मत समझो! सुख का बन्धन दुःख से अधिक दुःख है। यदि हो सकें तो सुख देकर दुःख खरीद लो, क्योंकि सुख बाँटने की वस्तु है, रखने की नहीं। जो प्राणी सुख रखने का प्रयत्न करता है, उससे सुख छिन जाता है, मिलता कुछ नहीं और जो प्राणी सुख बाँट देता है, उसको आनन्द मिल जाता है।

जो हमारे भूलने पर भी हमे नहीं भूलता वह 'भगवान' है। प्राणी प्रमाद-वश परिवर्तनशील प्राणियों का प्यार स्वीकार करने लगता है और भगवान् को भूल जाता है। भगवान् करुणाकर उन वस्तुओं को छिपा देता है और अपने प्यार के योग्य बना देता है। हम आसक्ति-वश उनके प्यार को स्वीकार नहीं करते। उनको बिना प्यार किये कल नहीं पड़ती, क्योंकि उनमें अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य्य है। इसी कारण हमारी आसक्ति-युक्त वस्तुओं को निरन्तर परिवर्तित करते रहते हैं।

यदि हम थोड़े काल के लिये भी अपने को खाली (अविषय) करलें तो उनका नित्य प्यार एवं नित्य रस अपने आप आने लगे। हम अनेक प्रकार की व्यर्थ चिन्ताओं द्वारा उनके प्यार को आने से रोकते रहते हैं। बस, यही सबसे बड़ी भूल है। प्राणी प्यार नहीं कर सकता, क्योंकि प्यार वह कर सकता है जो पूर्ण हो। प्राणी का तो यह अन्तिम प्रयत्न है कि वह अपने को उन्हें समर्पित कर दे।

स्वरूप का अर्थ—नित्य सर्व समर्थ सत्ता है,

अथवा यों कहो कि जिससे आवश्यकता की पूर्ति होकर उत्पन्न नहीं होती और न उससे भिन्नता रहती है। यदि काम का अन्त होने पर मन को नहीं दे सकते तो मन को किसी एक अत्यन्त प्रिय वस्तु मे लगा दो। मन लगा देने की अपेक्षा मन देना सुलभ एव विशेप हितकर है, परन्तु मन के देने में यदि लालच लगता हो तो मन को उसमें लगा दो जो सबसे प्रिय हो। यदि आप अपनी योग्यता से प्रिय वस्तु नहीं ढूंढ पाते तो सभी वस्तुओं से मन को हटा लो मन अपने आप अपनी प्रिय वस्तु को ढूंढ लेगा। मन को बुरा मत समझो! बेईमान मत समझो! डांटो मत। उससे प्यार पूर्वक कह दो—"प्यारे मन! अनेक को त्याग कर एक पर आ जाओ!" जब आप मन से प्यार पूर्वक व्यवहार करने लगेंगे, तब मन प्रसन्न होकर प्रसन्नता प्रदान करेगा।

मन रस का भूखा है। आप उसे अपनी निर्वलताओं के कारण चैन नहीं लेने देते। कृपया आप अपनी निर्वलताएं मिटाइये, मन को व्यर्थ के लिए दोप न दीजिये, प्रत्युत मित्र-भाव से उससे कह दीजिये कि 'प्यारे मन! तुम अपना रुचि के अनुसार किसी भी एक में लग जाओ।'

जब मन अधिक काल तक ए॰ में लग जायेगा तब या तो उसका त्याग कर देगा अथवा उसमें विलीन हो जायेगा। इन दोनों दशाओं मे मन स्वतन्त्रता पूर्वक प्रेम-पात्र के नित्य-रस का आस्वादन कर सकता है, क्योंकि सभी वस्तुओं के अतीत होने पर अथवा किसी भी एक वस्तु में विलीन होने पर सर्व-प्रथम प्रेम पात्र की सत्ता ही शेप रहती है। यह भली प्रकार समझ लो कि प्रत्येक वस्तु उस प्रेम-पात्र को प्रकाशित करने के लिए उसी प्रकार है जिस प्रकार संकेत-लिपि (Short-hand) का चिह्न लिपि के अनुरूप ही अर्थ प्रकाशित करता है।

प्रत्येक वस्तु उस प्यारे को प्रकाशित करने को सकेत लिपि (Short-hand) के चिह्न के समान ही है। जिस प्रकार भापा मे अर्थ दिखाई देता है, उसी प्रकार जिस प्रिय वस्तु में मन लग जाता है, प्रेमी को प्रेम-पात्र दिखाई देता होता, अर्थ चिह्न नहीं होता। मन बालक है; उसको प्रिय वस्तु देकर उसमें वह दिखाओ जो तुम्हारी आवश्यकता (Natual want) है। केवल चिह्न मे मत बंध जाओ। यदि मन को अपने में अथवा किसी प्रिय वस्तु में नहीं लगा पाते, एवं सर्व वस्तुओं से अतीत नहीं कर पाते, तो मन को स्वाभाविक आवश्यकता मे विलीन कर दो! अर्थात् काम के अन्त में अपने प्रेम-पात्र का उसी प्रकार स्मरण करो, जिस प्रकार प्यास लगने पर पानी का। प्यासा पानी-पानी शब्द नहीं रटता, पानी के लिये व्याकुल होता है। पानी प्यासे के हृदय की पुकार होती है। अतः मन को अपने हृदय की पुकार में लगा दो। ज्यों-ज्यों हृदय की पुकार बढ़ती जायेगी, त्यों-त्यों मन निर्दोप होता जायेगा। असह्य वेदना होने पर प्रेम-पात्र अपने आप आप को तथा आप के मन को अपना लेंगे, क्योंकि वे दुःखहारी हैं। उनका अनन्त सौन्दर्य एवं नित्य-आनन्द तथा रस इस लिये नहीं आता कि हम सीमित (Limited) परिवर्तन-शील सौन्दर्य मे अपने आप को बाँध देते हैं। प्यार नदी के समान है वह अपने आप उसी प्रकार अपने प्रेम पात्र तक पहुँचने में समर्थ हैं जिस प्रकार नदी समुद्र मे स्वतन्त्रता पूर्वक पहुँच जाती है। परन्तु यदि नदी को बाँध कर अनेकों छोटी छोटी नहरों में बाँट दिया जाये तो बिचारी छिन्न भिन्न हो जाती है। बस, यही दशा बेचारे उन प्राणियों की है कि जिन्होंने अपने प्यार को सीमित कर भिन्न-भिन्न वस्तुओं मे बाँध दिया है। पवित्रता पूर्वक किया हुआ प्रत्येक काम राम से मिला देता है। कर्त्ता को वही काम बाँध लेता है कि जिस काम को कर्त्ता पवित्रता-पूर्वक पूरी शक्ति लगाकर नहीं करता। झुठाई से प्राणी तब छूट पाता है जब सचाई की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। अतः सत्य की अभिलाषा असत्य से सम्बन्ध विच्छेद कर देगी। केवल असत्य को असत्य समझने मात्र से आसक्ति नहीं छूटती। सत्य की आवश्यकता होने पर असत्य अपने आप छूट जाता है।

श्री सद्गुरुदेव

(अङ्क पंचम से आगे)

[*श्री "मञ्जुल" जी*]

सराय प्रयाग मे पहुँचकर आप ने पुन. उसी प्रकार अपना साधन-भजन प्रारम्भ कर दिया। सराय प्रयाग के आश्रम से लगभग दस मील की दूरी पर एक ग्राम माधोनगर है, उसमे कुछ दूर उच्च कोटि के एक वीतराग महात्मा निवास करते थे उनकी अवस्था लगभग सौ वर्ष की थी, आप कभी कभी उनके दर्शनार्थ जाया करते थे। दो चार घण्टे का सत्संग करके पुनः आप अपनी कुटिया पर लौट आया करते थे। इस वार वहुत दिन हो गये थे. इन महात्मा का कोई समाचार नहीं मिला। इधर काशी से लौटने के पश्चात् एक दिन रात्रि ८ वजे आप ने अचानक आगन्तुक भक्तों से कहा कि माधोनगर के महात्मा जी का शरीर शान्त होगया है उनकी क्रिया मेरी वताई हुई रीति के अनुसार होगी। मुझे अभी उनका ध्यान आने पर सब बातें ज्ञात हुई हैं। अस्तु मैं कल प्रातःकाल अवश्य ही वहाँ जाऊँगा, प्रेमियों ने कहा महाराज तव तो आप को वहाँ अवश्य ही जाना चाहिये. ऐसा उचित ही है।

दूसरे दिन प्रातःकाल आप पैदल ही माधोनगर की ओर चल पड़े। जिस समय आप उनके स्थान पर पहुँचे उस समय सभी उपस्थित प्रेमी परस्पर यही चर्चा कर रहे थे कि स्वामी जी का अन्तिम संस्कार कैसे किया जावे। एक व्यक्ति ने कहा कि भाई महात्माओं के अन्तिम संस्कार की बात तो महात्मा ही जानते हैं, वे ही बतला सकते हैं। यदि इस समय कहीं सरैया वाले बाबा जी आगये होते तव सव काम वन जाता, दूसरे ने कहा कि यह स्वामी जी उनकी चर्चा भी कर रहे थे। इतने मे एक व्यक्ति ने दौड़ते हुए आकर सूचना दी कि सरैया वाले वावा जी आ रहे हैं। सभी भक्त बहुत प्रसन्न हुये बहुत से प्रेमियों ने दौड़कर आप का स्वागत किया। स्थान पर पहुँचते ही सब लोगों ने सारी व्यवस्था आप से निवेदन की। आप ने तत्काल ही विमान वनवाया, उसे नाना प्रकार के फूल पत्तियों से सजाकर उसी पर श्री स्वामी जी के शव को रखलिया और नगर-यात्रा के लिये लेकर चले। मार्ग में द्वारों पर लोगों ने आरती उतारी। दो चार भक्तों को आपने श्रीभगवद्-गीता के पुरुषोत्तम योग अध्याय के पाठ करने की आज्ञा दी थी, वे लोग साथ साथ पाठ करते हुये जा रहे थे। एक स्थान पर कुछ प्रेमी भक्तों ने विमान का पूजन किया, आरती उतारी और अन्त मे एक गिलास मे दूध भर के सामने रक्खा और आप से कहा महाराज? महात्मा लोगों में वड़ी सामर्थ्य होती है वे कभी मरते नहीं हैं। ऐसा हम लोगों ने सुना है आप यदि हमारा यह एक गिलास दूध इन महात्मा जी को पिला दीजिये तव हम लोग समझें कि यह वात सत्य है। आप ने कहा कि आप सब प्रेमियों के प्रेम से जव अखिल ब्रह्मांड नायक पर-ब्रह्म परमात्मा को सगुण साकार रुप में मूर्तिमान होकर आना पड़ता है तब यह कौन वड़ी वात है, आप लोग मुझे वह दूध उठाकर दीजिये. मैं अभी महाराज जी को आप का दूध पिलाता हूँ। भक्तों ने तत्काल ही वह दूध उठाकर आप के हाथ मे दे दिया आपने शव के मुख के पास दूध का गिलास ले जाकर कहा महात्मन्! आप सचमुच अमर हैं, आवश्यकतानुसार शरीर मात्र परिवर्तन कर लेना आप की साधारण क्रीड़ा है। इस जराजीर्ण कलेवर के द्वारा अपना अमरत्व सूचित कर देने का यह अवसर उपस्थित हुआ है अतएव कृपा करके

मेरे हाथ से यह दूध स्वीकार कीजिये । इतना कह कर आप ने जैसे ही महात्मा जी की गरदन में हाथ लगाया कि वे उठकर बैठ गये और आप के द्वारा मुख में लगाये हुये गिलास का दूध धीरे-धीरे सब पी गये । समस्त उपस्थित समुदाय धन्य-धन्य कहने लगा भक्तों ने आनन्द विभोर होकर घनघोर शंख ध्वनि की और घड़ियाल बजाये नगर भ्रमण के पश्चात् सभी प्रेमियो ने आप की बताई हुई विधि से महात्मा जी को जल-समाधि दी अन्त मे विशाल भण्डारा किया गया । सब काम पूर्ण होने के बाद आप सरैया लौट आये।

आस-पास के प्रेमी भक्तजन आपकी कीर्ति सुनकर दर्शनार्थ आने लगे, सरायप्रयाग के बाबू जगतनारायण जी प्राय. नित्यप्रति आप के सतसग के लिये आया करते थे। सरायप्रयाग के निकट श्रीमान ठाकुर विश्वेश्वर सिंह जी खुफिया पुलिस के डी० यस० पी० थे वे एक बार तीर्थराज प्रयाग के कुम्भ में सैकड़ों महात्माओं के पास गये बहुतों के दर्शन किये, अनेकों महात्माओं का सतसग किया। उन्हें एक अनुभवी सद्गुरु की खोज थी। बहुत समय तक भटकने के पश्चात् भी उनको सन्तोप नहीं हुआ। तीर्थ राज से लौटने के पश्चात जब वे अपने गृह पर आये तब उन्हें आप का परिचय प्राप्त हुआ बड़े प्रेम से वे आप का दर्शन करने आये आपकी अनेकों योग सम्बन्धी शंकाओं का स्वामी जी ने समाधान किया । तथा अध्यात्म जीवन व्यतीत करने की युक्तियाँ बतलाई अपने निकट ही इतने बड़े महान ज्ञान के भंडार सद्गुरु को पाकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए । उन्होंने गद्गद् कंठ होकर कहा भगवन् ! मुझे इतने बड़े कुम्भ में आपके समान सरल युक्तियों से तत्व को हृदङ्गम करा देने वाला महात्मा नहीं मिला। मेरे बहुत बड़े भाग्य हैं जो आप मुझे अपने निकट ही मिल गये, वे सदा के लिये आपके अनन्य भक्त बन गये।

सराय प्रयाग के निकट ग्राम अकबरपुर के निवासी श्रीमान पं० जमुनाप्रसाद दुवे श्री तुलसीकृत रामायण के अनन्य भक्त हैं। वे अपने जीवन के कार्यकाल मे मिलिटरी सर्विस मे एक अफसर रहे हैं। फ्रान्स, मेसोपोटामिया आदि में वे रामायण जी का पाठ नित्य प्रति करते रहे। पेन्शन लेने के बाद तो उन्होने यू० पी० प्रान्त मे श्री तुलसी-कृत रामायण के अखंड पाठों की धूम मचादी वे स्वयं वर्षों तक रामायण जी का नवाह पारायण करते रहे, लेखक ने श्री रामायण जी का पाठ प्रथम उन्हीं से सीखा था। उनके रामायण जी के प्रयोग इतने सिद्ध थे कि जिसके द्वारा सैकड़ों व्यक्तियों को लौकिक तथा पारलौकिक लाभ प्राप्त हुये। वे जिस समय श्री अवध गये तब उनको स्वर्गीय श्री रूपकला जी ने आदेश दिया कि तुम्हें सद्गुरु की प्राप्ति तुम्हारे निकट ही होगी। अस्तु उन्होंने घर पर आते ही पता पाया कि सरायप्रयाग में श्री स्वामी जी महान् योगी सिद्ध पुरुप हैं। श्री रूपकला जी के वचनों का स्मरण करके वे बहुत प्रेम और श्रद्धा पूर्वक आपके पास गये। थोड़ी देर के सत्संग से ही उनको परम सन्तोप हुआ । उन्होंने हृदय से आपको सद्गुरु मान लिया । आपको गुरु मान लेने के पश्चात् उन्होंने श्री रामायण जी के अखंड पाठ के ऐसे अलौकिकप्रयोग कर दिखलाये, जिससे रामायण जी का बहुत प्रचार होगया, सहस्रों लोग घर-घर पाठ करने लगे। श्री गुरुदेव जी ने उन्हें भक्तराज जी की उपाधि प्रदान की लेखक भक्तराज जी के साथ कई ७२ घंटों के अखण्ड पाठों में सम्मिलित हुआ। बहत्तर घंटे के अखण्ड पाठ मे अद्भुत चमत्कार हैं। प्रमाण स्वरूप बिलकुल सत्य घटना पाठकों के सम्मुख उपस्थित की जाती है। जिस समय श्री गुरुदेव की ख्याति चारों ओर फैल रही थी उन्हीं दिनों छिबरामऊ के प्रसिद्ध रईस श्रीमान प० रामचरण दुवे तथा पं० बनवारीलाल जी दुवे भी आपके दर्शनार्थ आया करते थे।

कुछ दिन बाद अचानक एक दिन एक रोगी वृद्ध काश्तकार की इनके द्वार पर ठोकर लग जाने से मृत्यु हो गई, विरोधियों ने पुलिस से मिलकर इन पर हत्या का अभियोग चालू करा दिया। नीचे की अदालत से इनको न्यायाधीश ने फाँसी के दंड का निर्णय सुना दिया, ये लोग घबड़ा गये। व्याकुल होकर इन्होंने श्री गुरुदेव भगवान के पास आकर अपनी विपत्ति कथा सुनाई. आपने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा प्यारे ! घबड़ाओ नहीं, प्रभू सब कल्याण करेंगे। तुम भक्तराज को बुलाकर श्रीतुलसी कृत रामायण का ७२ घंटे के पाठ का अनुष्ठान करो, उसमें सम्पुट लगाओ।

दीन दयाल बिरद सम्भारी, हरहु नाथ मम संकट भारी।

भगवान् की कृपा से तुम्हारा कल्याण होगा। इन्होंने आपके आदेशानुसार श्री भक्तराज जी को बुलाकर कई पंडितों के साथ बहुत विधि पूर्वक गुरुदेव की अध्यक्षता में ७२ घण्टे का पाठ कराया, पाठ समाप्त करके जिस समय वे अपील की तारीख में हाईकोर्ट में गये उस समय अपूर्व घटना घटी, सरकारी वकील शिकार खेलने गया था वह तारीख के दिन लौट कर ही नहीं आया नया वकील सरकार की ओर से जब जिरह करने के लिये खड़ा हुआ तब वह सारी बातें भूल गया। कुछ भी बहस न कर सका, तब न्यान्याधीश ने इन को निर्दोष समझ कर बिलकुल मुक्त कर दिया। इन्होंने लौट कर आपके चरणों में गद्गद् कंठ होकर प्रणाम किया और कहा कि आपकी कृपा और आशीर्वाद से मुझे जीवन-दान मिला। अन्त में इन्होंने घर पहुँच कर पुनः अखण्ड पाठ कराया, उसमें सम्पुट लगा दिया गया।

मोरि सुधारिहि सोइ सब भाँती।
जासु कृपा नहि कृपा अघाती॥

वे लोग जब तक जीवित रहे तब तक प्रति वर्ष श्री रामायण जी का बहत्तर घण्टे का पाठ कराते रहे। (क्रमशः)

कर्त्तव्य पालन की आवश्यकता

(*श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज*)

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय करने के पूर्व मनुष्य को अपनी पहिचान कर लेनी आवश्यक है। चिकित्सक जब रोगी के रोग का निदान हो जाने के पश्चात् औषधि निश्चित करता है। तभी वह औषधि लाभदायक सिद्ध होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्व प्रथम हमें यह जानने की आवश्यकता है कि "मैं" कौन हूँ। गम्भीरता पूर्वक विचार करने से विदित होगा कि "मैं" यह शरीर नहीं हूँ। यह शरीर तो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पञ्च तत्त्वों से बना है तथा इसमें मल मूत्र, माँस, मज्जा, रक्तादि अपवित्र एवं घृणित वस्तुयें ही भरी हैं। एक न एक दिन प्रकृति के अटल नियमानुसार इसका नष्ट होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशा में इस क्षणभंगुर और अकर्मण्य शरीर के लिये तो कोई कर्त्तव्य निश्चित करना ही नहीं है। और जिस चैतन्य शक्ति के द्वारा इस शरीर का संचालन होता है वह जीवात्मा भी नित्य अमल एवं सुख स्वरूप है. तथा परमात्मा का अविनाशी अंश है जैसा कि अपने आर्य ग्रन्थों में लिखा है। पूज्यपाद श्री गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुख राशी॥

लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण ने भी अपने प्रिय सखा अर्जुन से कहा था—

"ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः"

अर्थात् समस्त जीव मेरे ही अविनाशी अंश हैं, अत इस सुख-राशि, आनन्द स्वरूप चेतन के लिये भी कोई कर्त्तव्य नहीं है। वास्तव मे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय तो मन इन्द्रियों के लिए होता है। क्योंकि यह मन और इन्द्रियाँ ही जीव को चौरासी लाख योनियों के दु खद प्रवाह में भटकाती रहती हैं।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।"

कीट पतङ्गादि तिर्यक् योनियों में "पुनरपि जनन पुनरपि मरणम्" के चक्र का मूल कारण मन ही है। यही चौरासी लाख फाँसियों के फन्दो मे झुलाता रहता है।

करुणा वरुणालय, अखिल ब्रह्माण्ड नायक, विश्वम्भर की असीम अहैतुकी कृपा के फल स्वरुप जन्म-जन्मान्तर के वन्धन की कष्टमयी शृङ्खला को छिन्न-भिन्न करने के हेतु और मन इन्द्रियों के लिये कर्त्तव्य पथ निश्चित करने के लिये जीव को इस देवदुर्लभ मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है, जिसके द्वारा वह कराल काल के भयङ्कर चक्र से त्राण पाकर शाश्वत आनन्द की अनुभूति कर सकता है—

कबहुंक करि करुणा नर देही।
देत ईश बिनु हेतु सनेही॥
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाइन जेहि परलोक सभारा॥
नर तनु पाइ विषय मन देहीं।
पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं॥

शास्त्रकारों का मत है कि ऐसा सुर-वन्दित नर-शरीर पाकर भी जिसका मन विषयाकार ही बना रहता है वह पुन अपने कर्मानुसार उसी अनन्त दुःखमय प्रवाह मे जा पड़ता है। जन्म जन्मान्तर के स्वभावानुसार यह मन उन्हीं विषयों मे अनुरक्त रहता है जिनका रसास्वादन वह कर चुका है, यदि उस रस की अनुभूति इस मानव शरीर मे भी करता रहेगा तो निश्चय ही उसी के अनुसार इस शरीर के विनष्ट होने के पश्चात् भी मन तद्रुप बन कर उन्हीं नीच योनियों को प्राप्त करता रहेगा, क्योंकि मनुष्य योनि कर्म योनि भी है, केवल भोग योनि नहीं। इस मनुष्य देह से जैसे कर्म रूपी बीज बोये जाते हैं समय पाकर वैसे ही फलों की प्राप्ति होती है। इसी लिये शरीर को भगवान श्रीकृष्ण ने क्षेत्र कहा है—

'इद शरीर कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।'
एतद्यो वेत्ति त प्राहु क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

अर्थात्—हे अर्जुन यह शरीर क्षेत्र (खेत) है और इसको जो जानता है उसको ज्ञानीजन 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। जिस प्रकार खेत मे बोये हुये बीजों से उनके अनुरूप फल समय पर प्रकट होते हैं, वैसे ही इसमे बोये हुये कर्मों के सस्कार रुप बीजों का फल समय पर प्रकट होता है। इसी लिये इसका नाम क्षेत्र बताया है।

किसान जिस प्रकार अपने खेत मे बीज बोने के लिये स्वतन्त्र है, वह जैसा चाहे वैसा बीज अपने खेत में डाल सकता है, उसी प्रकार मानव भी इच्छानुसार कर्म रूपी बीज इस शरीर मे बो सकता है। जगन्नियन्ता भगवान् ने मानव को शुभाशुभ समझने की बुद्धि प्रदान की है अतः विवेकिनी बुद्धि पाकर मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है। बुद्धि द्वारा वह मन और इन्द्रियों को अपने विचार के अनुकूल सञ्चालन कर सकता है। वह चाहे तो अपने सत्कर्मों से आदर्श मानव बनकर देवत्व प्राप्त करले अथवा दुष्कर्मों से पशुता एवं असुरता ग्रहण करले। दुराचरण के फलस्वरूप जब ससार में आसुरी प्रकृतिका बाहुल्य हो जाता है तब विनष्ट होते हुये धर्म की स्थापना के लिये, तथा मानव मात्र को कर्त्तव्य-पथ

दिखाने के लिये और दानवों का नाश करके भूभार दूर करने के लिये दया सागर प्रभु अनेक रूपों मे अवतार लेते हैं। वास्तव में कर्त्तव्य विमुख मानव कर्त्तव्यपरायण बन जाय यही उनके अवतार का रहस्य है। इस रहस्य का उद्घाटन स्वयं भगवान ने श्री मुख से किया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थान मधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्य हम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

अर्थात्—जब जब धर्म का ह्रास तथा अधर्म की वृद्धि होती है तब तब सत्पुरुष की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिये मैं अवतार लेता हूँ। इस प्रकार युग-युग में अवतार लेकर मैं मानव को कर्त्तव्य सिखाता हूँ।

तात्पर्य यह है कि मन के सुधारने के निमित्त भगवत्प्रेरणा से सभी सत्यकार्य समय समय पर सम्पन्न होते रहे हैं। वेद, शास्त्र पुराण, इतिहास आदि सद्ग्रन्थों की रचना भीमनुष्य को ही कर्त्तव्य पथ गामी बनाने के लिये हुई है। पशु पक्षी या तिर्यक् योनियों के लिये नहीं। संसार के प्रत्येक धर्म तथा सम्प्रदायों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से मनुष्य के लिये कर्त्तव्य मार्ग निश्चित किया है। वैदिक सनातन धर्म मे गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जो षोडश संस्कारों की व्यवस्था की गई है इसका रहस्य यही है कि मनुष्य कर्त्तव्य परायण बनकर इस लोक तथा परलोक में वास्तिवक सुख शान्ति की अनुभूति कर सके।

मनुष्य के शरीर में हाड़-मांस की निन्दा-स्तुति नहीं होती, अपितु उसके अवगुण या सद्गुणों की निन्दा-पूजा हुआ करती है। अवगुण तथा सद्गुण की दृष्टि से संसार के सभी मनुष्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—(१) नरपशु, (२) नरासुर, (३) नर और (४) नरदेव।

(१) नरपशु—वे कहे जा सकते हैं, जो शारीरिक दृष्टिकोण से तो मनुष्य ही हैं, परन्तु इनका आहार-विहार तथा दिनचर्या पशुओं के समान ही रहती है। उन्हें अपने जीवन मे कभी यह विचारने का अवसर ही नहीं मिलता कि हमारे दैनिक कार्य क्रम के अतिरिक्त भी कोई ऐसा कर्त्तव्य है, जिसे न करने से भविष्य में अपार कष्ट सहन करने पड़ेंगे। ऐसे मनुष्यों के सम्बन्ध मे लिखा है—

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च,
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषा मधिको विशेषो,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

देवदुर्लभ मानव योनि प्राप्त करके जो मनुष्य केवल आहार, निद्रा, भय, मैथुन मे अहर्निश जीवन का दुरुपयोग करते रहते हैं वे बिना सींग-पूँछ के पशु हैं। मनुष्य शरीर के बाद उन्हें पशु-योनि ही प्राप्त होती है।

(२) नरासुर—वे हैं जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये दम्भ, कपट, छल, असत्यादि अवगुणों का आश्रय लेकर समाज और देश का अहित करते हैं और परधन तथा परस्त्री की प्राप्ति में प्राप्त शक्तियों का दुरुपयोग करते हैं वे मनुष्य शरीर मे वस्तुत. असुर हैं। ऐसे मनुष्यों को आसुरी सम्पत्ति वाला कहा गया है, जिनके लक्षणों का दिग्दर्शन श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय मे किया गया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोर वाणी

तथा अज्ञान ये सब आसुरी सम्पत्ति को प्राप्त हुये पुरुष के लक्षण हैं। पूज्यपाद श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी श्रीरामचरितमानस मे आसुरी स्वभाव के सम्बन्ध मे लिखा है—

बाढे खल बहु चोर जुआरा।
जे ताकहि परधन पर दारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा।
साधुन सों करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी।
ते निशिचर सम जानहुँ प्रानी॥

इस प्रकार के निन्दित आचरणों वाला व्यक्ति चाहे जैसा अद्वितीय विद्वान वैभव एवं ऐश्वर्य सम्पन्न तथा उत्तम से उत्तम कुल मे उत्पन्न हुआ ही क्यों न हो, वह पूज्य न बनकर घृणा और निन्दा का पात्र बन जाता है। इस सम्बन्ध में असुरराज रावण का उदाहरण प्रत्यक्ष ही है। चारों वेदों का महान् पण्डित, अमित बलशाली, अपार वैभव सम्पन्न, और कुलीन ब्राह्मण होकर भी वह अपने आसुरी स्वभाव के कारण पृथ्वी का भार बन गया तथा अपने और अपने कुल के नाश का कारण बना।

उपरोक्त दो प्रकार के मनुष्यों से समाज का और देश का पतन ही होता है। नरपशुओं से राष्ट्र का उत्थान तो हो ही क्या सकता है, परन्तु उनसे देश का अहित भी नहीं होता। वे एक लट्टू के समान अपनी कील पर घूमकर स्वय शान्त हो जाते हैं। ऐसे मनुष्यों की सख्या ससार मे बहुत है। आसुरी स्वभाव के मनुष्यों से देश को बहुत बड़ी हानि हो रही है। वर्तमान युग में आसुरी सम्पत्ति ही बढ़ती जा रही है। मनुष्य अन्धाधुनकर अपने स्वार्थ साधन मे सलग्न है अपने साधारण से लाभ के लिये वह दूसरों की बड़ी से बड़ी हानि करने में भी नहीं हिचकिचाता। यही कारण है कि ससार मे सर्वत्र भय, कलह और अशान्ति का साम्राज्य अन्धकार मय भविष्य की सूचना दे रहा है। कर्त्तव्य विमुखता की यही चरम सीमा है।

उपर्युक्त दो त्याज्य श्रेणियों के पश्चात् तृतीय श्रेणी के पुरुष वे होते हैं जो अपने शास्त्रों के अनुसार कर्म करके वास्तव मे मनुष्य कहलाने के अधिकारी हैं। जिनकी बुद्धि ईश्वर और धर्म को यथार्थ रूप मे पहिचानती है। जो स्वार्थ और परमार्थ को समुचित रूप से चलाते हुये, अर्थ और काम की पूर्ति धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिये करते है। उनके द्वारा समाज और राष्ट्र का स्व[illegible] मे भी अहित नहीं होता। शास्त्र विहित कर्त्तव्य प[illegible] आरूढ़ रहकर जब उनका अन्तःकरण निर्मल ब[illegible] जाता है तब वेही मनुष्य तृतीय श्रेणी को अति क्रमण कर चतुर्थ श्रेणी में आजाते हैं। और वेह नरदेव के पुनीत नाम से सम्बोधित होते हैं नरदेव मनुष्यों मे दैवी सम्पत्ति के समस्त सद्गुण का समावेश हो जाता है, दैवी गुण सम्पन्न व्यक्तियों के लक्षण श्रीमद्भगवद्गीता मे भगवान कृष्ण ने इस प्रकार बताये हैं:—

अभयं सत्त्व संशुद्धि ज्ञान योगव्यवस्थितिः।
दान दमश्च यज्ञश्च स्वाध्याय स्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्ति रपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्द ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाति मानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

भय का अभाव, अन्त.करण की शुद्धता, तत्त्व ज्ञान के लिये ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण, वेद शास्त्रो के पठन पाठन पूर्वक भगवत् के नाम और गुणों का कीर्त्तन, स्वधर्म पालन के लिये कष्ट सहन करना एव शरीर और इन्द्रियों के सहित अन्त. करण की

सरलता तथा मनवाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण करना, अपना अपकार करने वालों पर भी क्रोध का न होना, कर्मों मे कर्त्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तः करण की उपरामता अर्थात् चित्त की चञ्चलता का अभाव, किसी की भी निन्दा आदि न करना, समस्त प्राणियों मे हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी आसक्ति का न होना, कोमलता, लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण मे लज्जा तथा व्यर्थ की चेष्टाओं का अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतर की शुद्धि किसी मे भी शत्रुभाव न रखना, अपने मे पूज्यता का अभिमान न पाना ये सब गुण नरदेव मे स्वयं आजाते हैं ऐसे कर्त्तव्य निष्ठ का जीवन 'वसुधैव कुटुम्बकं' की व्यावहारिकी धारणा से सम्पन्न होता है।

कर्त्तव्य निष्ठ मानव प्राचीन काल में जब गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात् सर्वस्व त्यागकर पावन तपो भूमि मे एकान्त साधन द्वारा ब्रह्मचिन्तन मे निमग्न रहते थे तब ऐसे वीतराग और गुणातीत महापुरुषों के अनुभव से लाभ उठाने के लिये तत्कालीन शासक और सम्राट् भी उनके परामर्श से राष्ट्र की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाने के निमित्त उनकी सेवा मे उपस्थित होते थे और अपने मणि जटित सुवर्ण मुकुट इनके चरणों में रखते थे। उस समय के शासक इस आध्यात्मिक रहस्य को भली भाँति समझते थे कि निरन्तर राजसी कार्य करते रहने से हमारी बुद्धि पर रजोगुणी आवरण पड़ गया है, अत अपने द्वारा किया हुआ कोई निर्णय राष्ट्रहितों में बाधक भी बन सकता है। इसी से अन्ध पंगु न्याय के अनुसार गुणातीत संत का आदेश ही कल्याण कारी होगा। प्राचीन भारत के चरमोत्कर्ष का रहस्य यही था। इतिहास में ऐसे अनेकों उदाहरण पाये जाते हैं! महर्षि वशिष्ठ के आदेश से ही रामराज्य की स्थापना हुई, याज्ञवल्क्य के सदुपदेशों राजा जनक को विदेह पदवी प्रदान की और धौम्य ऋषि की कृपा से पाँचों पाण्डव आजीवन कर्त्तव्य निष्ठ बने रहे। आधुनिक युग मे भी इसका ज्वलन्त उदाहरण विश्व वन्द्य महात्मा गाधी के पावन चरित्र से मिलता है।

प्रचीन काल में इसी कारण राजा प्रजा को सन्तानवत् तथा प्रजा राजा को पिता के समान देखती थी। वर्तमान युग में यद्यपि इस आदर्श का अनुकरण होना असम्भव है, तो भी यत्किञ्चित् इस योजना को व्यावहारिक रूप दिया जाय तो अपने देश वासी कर्त्तव्य निष्ठ बनाये जा सकते हैं। क्योंकि आश्रम धर्म के अनुसार संत महापुरुष सर्वस्वत्यागी और वीतराग होने से शासन करने मे असमर्थ हैं और शासक रजोगुणी बुद्धि होने के कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्य का मार्ग निश्चित करने मे अयोग्य है। वर्तमान युग की घोर अशान्ति के मूल कारण में अधिकार लिप्सा और भोग प्रियता स्पष्ट रूप से जान पड़ती है। सर्वत्र अधिकार प्राप्ति का सघर्ष दृष्टिगोचर हो रहा है और कर्त्तव्य पालन की भावना नष्ट होती जा रही है। अतएव इस भयकर परिस्थिति मे प्रत्येक कर्त्तव्यानुरागी को चाहिये कि वह अधिकाधिक सत्सग के द्वारा दैवी गुणों का प्रचारकर बढ़ती हुई दानवता को रोकने में सहयोग प्रदान करे। वीतराग संतों की शरण में जाकर सत्संग का आश्रय लेकर अपनी मन-इन्द्रियों को तदनुसार चलावें—यही सच्चा पुरुषार्थ है तथा यही सच्चे अर्थों मे कर्त्तव्य निष्ठा है।

प्राचीन साहित्य में योग

(गताङ्क से आगे)

(श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज)

भारतीय आर्षसाहित्य के साथ योग का प्राय: अविनाभावी सम्बन्ध है। वेदों से लेकर अर्वाचीन सन्तों की वानियों तक में किसी-न-किसी प्रकार के योग का ही वर्णन किया गया है। ऊपर यह कहा जा चुका है कि परमार्थ प्राप्ति के जितने साधन हैं वे सभी योगपदवाच्य हैं। अत: परमार्थ का प्रतिपादन करने वाला जितना भी साहित्य है उसमे योग का ही निरूपण किया गया है। उसके सिवा ज्योतिस गणित, आयुर्वेद और व्याकरण आदि व्यावहारिक शास्त्रों मे भी विभिन्न अर्थों मे 'योग' शब्द का प्रयोग हुआ है। अत योग का कहाँ कहाँ उल्लेख हुआ है—यह दिखाने से पूर्व इस बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि इस शब्द का किन-किन अर्थों मे प्रयोग होता है।

'योग' शब्द 'युज्' धातु के आगे करण वा भाव मे 'घञ्' प्रत्यय लगाने से सिद्ध होता है। युज् का अर्थ है समाधि। 'समाधि' शब्द सम्+आ+धा+कि इस प्रकार सिद्ध होता है। अतः इसका अर्थ सम्=सम्यक्+आधि=आधान अर्थात् सम्यक् स्थापना है। इस प्रकार योग का प्रधान अर्थ चित्र को किसी विशेष आलम्बन मे सम्यक् प्रकार से स्थिर करना है। इसे सीधी भाषा में जीवात्मा और परमात्मा का मिलन, प्राण और अपान की एकता शिव और शक्ति का सामञ्जस्य या चन्द्र और सूर्य नाडियों का संयोग कह सकते हैं। यह 'योग' शब्द का प्रधान अर्थ है, इसकी व्युत्पत्ति 'युज्यते य: स योग:' इस प्रकार समझनी चाहिये। वहाँ भाव मे घञ् प्रत्यय हुआ है। किन्तु जब यह प्रत्यय करण में होता है तो 'युज्यते अनेन इति योग'' इस प्रकार व्युत्पत्ति करके इसका अर्थ योग के साधन आसन-प्राणायामादि किया जाता है। अत: योग शब्द से प्रधानतया समाधि और समाधि के साधन ही अभिप्रेत होते हैं।

किन्तु डाक्टर सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का कथन है कि वास्तव मे 'योग' शब्द 'युजिर्' धातु से निष्पन्न हुआ है और पहले उसका प्रयोग योजन या जुआ (Yoke) के अर्थ मे होता था। पीछे जब समाधि के अर्थ मे भी उसका प्रयोग होने लगा और उसके पूर्व अर्थ से उसका विवेक करना कठिन हो गया तो महर्षि पाणिनिने समाधि के अर्थ मे काल्पनिक धातु 'युज्' का आविष्कार किया। इसी से उन्होंने समाध्यर्थक 'युज्' और योजानार्थक युजिर्' का भेद दिखाया है।❀

इससे सिद्ध होता है कि पहले 'योग' शब्द का जुये के अर्थ में भी प्रयोग होता था। डाक्टर सुरेन्द्र नाथ ने वेद और ब्राह्मणों के जिन-जिन मन्त्रों में इस शब्द का इस अर्थ मे प्रयोग हुआ है उनकी सूची इस प्रकार दी है—ऋग्वेद—२।३६।४, ३।५३।१७, १।११५।२, ८।८०।७, १०।६०।८, १०।१०१।३, तैत्तिरीय ब्राह्मण—१।५।१।३, शतपथ ब्राह्मण—३।५।१।२४,३ ४ इत्यादि। इसके आगे वे लिखते हैं कि स्वयं पाणिनि ने भी अपने व्याकरण मे कई जगह इस शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु वहाँ इसका अर्थ जोड़ना या संयुक्त करना ही है, जैसे—पाणिनीय सूत्र—१।२।५१ १।२।५५, ३।४।२०, ५।१।१०२, ५ ४।४४, ५।४।५०; ५ ४।१२६, ६।४।७४, ६।५।७५; ८।१।५६।

❀ देखिये Yoga Philosophy by Dr. S N. Dasgupta. Chap. II pp. 42-44.

समाधि या चित्तवृत्ति निरोध और जुआ तथा योजना के सिवा इस शब्द के और भी कई अर्थ हैं। भिन्न-भिन्न प्रसगों में इसका किन-किन अर्थों में प्रयोग होता है इसका सक्षेप में दिग्दर्शन कराया जाता है—

१. आयुर्वेद में इसका प्रयोग विभिन्न औषधियों के मिश्रण के अर्थ मे होता है।

२ काव्य मे सयोग या सम्बध के अर्थ मे इस का प्रयोग हुआ है, जैसे—

सयोग—'उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्❀' (शकुन्तला ७।१०)

सम्बन्ध—'तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि'+ (रघुवंश ३।२६)

३. फलित ज्योतिष में कुछ विशिष्ट तिथि, वार नक्षत्र और ग्रहोंका किसी निश्चित नियम के अनुसार एक साथ पड़ना योग कहलाता है, जैसे—

सप्तम्यां चरवेर्वारो बुधस्य प्रतिपद्दिने संवर्ताख्यस्तदा योगो वर्जितव्यः सदा बुधैः।'‡

४. गणित मे कई राशियोंके जोड़ (Addition) को योग कहते हैं।

५. कहीं युक्ति या प्रसगके अर्थमें इस का प्रयोग होता है, जैसे—

कथायोगेन बुध्यते।' × (हितोपदेश)

६ किसी स्थान में उद्देश्य के अर्थ मे योग शब्द आता है, जैसे—

'रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति'❀ (शकुन्तला २।१४)

७. गीता मे अप्राप्त की प्राप्ति के अर्थ मे भी योग शब्द का प्रयोग हुआ है—

'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (९।२२)

इसके सिवा योग शब्द के और भी कई अर्थ होते हैं। विश्वकोश मे इसके चालीस अर्थ किये हैं, जिसमे कुछ ये हैं—कवच पहनना, लाभ, दूत, छकड़ा, चतुराई, परिणाम, नियम, उपयुक्तता, सामादि चार उपाय, सूत्र, सद्भाव, एक प्रकार का छन्द जिसके प्रत्येक चरण में बारह और आठ के विराम से बीस मात्राएँ और अन्त मे भगण होता है, सुभीता तथा सूर्य और चन्द्रमा के कुछ विशिष्ट स्थानों मे आने से प्राप्त होने वाले विष्कम्भ-प्रीति आदि सत्ताईस योग।

अस्तु। इसी प्रकार योग के अनेकों अर्थ हो सकते हैं, परन्तु हमारा उद्देश्य तो यहाँ भगवत्प्राप्ति के साधनभूत योग से है। अतः अब यह दिखाया जाता है कि श्रुति स्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में इसका कहाँ-कहाँ वर्णन हुआ है

योग समाधि, विवेकख्याति और ऋतम्भराप्रज्ञा का जनक है। ईश्वर की कृपा से इन्हें प्राप्त करने मे और भी सुगमता होती है। अतः नीचे लिखा मन्त्र इनकी प्राप्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करता है—

'स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम्। गमद्वाजेभिरा स नः' + (ऋ० १।५ ३, साम० उ० १।२।१०।३, अथर्व० २० ६९।१)

❀ चन्द्रग्रहण के पश्चात् रोहिणी चन्द्रमा से सयोग को प्राप्त हुई।

+ शरीर के सम्बन्ध से होने वाले सुख से त्वचा को अमृत के समान सींचने वाले उसको गोद में लेकर।

‡ सप्तमी को रविवार और प्रतिपदा के दिन बुधवार होने से संवर्तसज्ञक योग होता है, बुद्धिमानों को उसे सर्वदा बचाना चाहिये।

× कथा रूप युक्ति के द्वारा अथवा कथा प्रसंग से समझ लिया जाता है।

❀ रक्षा उद्देश्य से यह भी प्रति दिन तपका संचय करता है।

+ वह परमात्मा हमारे योग (समाधि) के अभिमुख हो, वह विवेकख्याति और ऋतम्भरा प्रज्ञा के लिये हमारे अनुकूल हो तथा वह अणिमादि सिद्धियों के सहित हमारी ओर अग्रसर हो। (यह मन्त्र शाखाभेद से ऋक साम और अथर्व तीनों वेदों में आया है)।

नीचे लिखा मन्त्र लययोग के रहस्य विज्ञान के लिये महर्षियों की उत्कण्ठा प्रदर्शित करता है—

'क्व त्रीचक्रा त्रिवृतो रथस्य
क्व त्रयो वन्धुरो ये सनीलाः ।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य
येन यज्ञं नासत्योपयाथ ॥ ❀
(ऋ० १।३४।६)

आगे के मन्त्र मे यज्ञादि की सिद्धि के लिये योग की आवश्यकता दिखाई गयी है—

'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ।' + (ऋ० १।१८।७)

इन सब मन्त्रों मे 'योग' शब्द का प्रयोग समाधि या भगवत्प्राप्ति के अर्थ ही हुआ है। किन्तु एक जगह इसका प्रयोग अवसर-अर्थ मे भी हुआ है, जैसे—

'योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ।'

(ऋ० १।३०।७, शु० यजु० ११।१४, साम० उ० १।२२।११, फ० २।२।७६, अथर्व० १६।२४७ तथा २०।२६।१)।

अर्थात् अवसर-अवसर पर और संग्राम के समय हम साधक लोग रक्षा के लिये बलवान् इन्द्र को बुलाते है।

यहाँ तक वेदों के संहिता भाग में 'योग' शब्द का प्रयोग दिखाया गया है। सम्भव है, इनके अतिरिक्त कुछ अन्य मन्त्रों मे भी यह शब्द आया हो। संहिता की तरह ब्राह्मण और आरण्यकों में भी जहाँ-तहाँ योग का वर्णन हुआ है। परन्तु प्रधानतया योग विद्या का वर्णन उपनिषदों मे है। उपनिषद् वेदों के शीर्ष भाग हैं। ये अध्यात्म विद्या के मूल स्रोत हैं। इन्हीं के आधार पर भारत के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों की स्थापना हुई है। ज्ञानयोग के ये तो आधार स्तम्भ ही हैं, तथापि समाधि योग का भी इसमे जहाँ-तहाँ पर्याप्त निरूपण है। योग की अगभूत प्राणोपासना तो आरण्य और उपनिषदों मे कई स्थानों मे आयी है।

यद्यपि आर्षसिद्धान्त के अनुसार तो वेद अपौरुषेय और अनादि होने के कारण उन्हीं की अगभूता उपनिषदें भी अनादि ही हैं, तथापि आधुनिक विद्वानों ने उनमे भी पौर्वापर्य की कल्पना की है। अधिकांश विद्वानों के मत मे ईश, केन, कठ मुण्डक, माण्डूक्य प्रश्न, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—ये दश शेप उपनिषदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। डाक्टर डायसन ने प्रश्न और माण्डूक्य को अपेक्षाकृत अर्वाचीन माना है और कौषीतकि, श्वेताश्वतर एव महानारायण को प्राचीन। अस्तु हमें इन कल्पनाओं के विषय में विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे लिये तो सभी वन्दनीय और परम प्रमाण स्वरूप हैं।

प्रथम दश उपनिषदों मे से प्रधानतया कठ मे योग का सुस्पष्ट वर्णन है। नचिकेता को इन्द्रियादि का उत्तरोत्तर सयम करते हुए आत्मस्थिति का उपाय बताते हुये यमराज कहते हैं:— (क्रमशः)

❀ [तेज अप्-अन्न] तीन भूतों के कार्य शरीर रूप रथ के] मूलाधार, स्वाधिष्ठान और मणिपूर] तीन चक्र कहाँ हैं ? देवों के निवास स्थानों के सहित सहस्रा- दादि तीन कमल कहा है ? कुलकुण्डलिनी रूपा महाशक्ति से सर्वशक्ति सम्पन्न रसमय शिव का योग कब होता है ? जिस लययोग के द्वारा शिव और शक्ति सयोग को प्राप्त होते हैं। [उसका भी हमें ज्ञान नहीं है]

+ जिसके बिना विद्वान् का भी कार्य सिद्ध नहीं होता वह चित्तवृत्तियों का निरोध रूप योग कर्त्तव्य कर्मों में व्याप्त है ।

आध्यात्मिकता की वास्तविकता

(*श्री सत्यभक्त जी सम्पादक, 'सतयुग'*)

संसार मे दो प्रकार के मनुष्य पाये जाते हैं। एक वे जो सासारिक सुख की लालसा रखते हैं और दूसरे वे जो पारलौकिक कल्याण को अधिक महत्व देते हैं। अथवा यों कहिये कि एक स्वार्थवादी होते हैं और दूसरे परमार्थवादी। आज कल की परिभापा मे यह भी कह सकते हैं कि एक शरीर को ही सब कुछ समझते हैं और दूसरे आत्मा को दृष्टिगोचर रखकर आचरण करते हैं।

हमारे भारतवर्प के अधिकांश लोगों का यह ख्याल है कि हम ससार के सब देश वालों की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक है। हमारी निगाह में योरोपियन अमरीकन आदि तो घोर भौतिकवादी हैं, स्वार्थ परायण हैं, नास्तिक हैं। मुसलमानों और यहूदियों आदि को भी हम अध्यात्मिक दृष्टि से बहुत नीचे दर्जे पर समझते हैं। चीनी, जापानी, रूसी आदि के विपय में हमको विशेप ज्ञान नहीं, पर यह बात हम छाती ठोंककर कह सकते हैं कि आध्यात्मिकता के मामलों में वे हमारे मुकाबले मे जरा भी नहीं टिक सकते।

अगर अध्यात्मिकता का अर्थ, ईश्वर, परमात्मा परब्रह्म की चर्चा करना, भाग्य और कर्म के सिद्धान्तों का निरूपण करना पाप-पुण्य. सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा आदि की मीमांसा करना स्नान, ध्यान देव-दर्शन, तीर्थयात्रा में अनुराग रखना चौका. चूल्हा शुद्धि अशौच आदि के नियमों का पालन करना आदि बातों से ही तो हमको इस बात के मान लेने से इन्कार नहीं कि हमारे भाइयों का दावा पूर्णतः नहीं तो अधिकांश में ठीक माना जासकता है।

पर हमको कुछ सकोच पूर्वक कहना पड़ता है कि आध्यात्मिकता का एक दूसरा पहलू भी है। हमारी सम्पति से आध्यात्मिकता केवल अध्ययन, मनन, आदि निरूपण की चीज नहीं वरन् कार्य रूप मे पालन करने की चीज है। जिस प्रकार बड़े से बड़े स्वास्थ्य सम्बन्धी ग्रन्थ को पढ़कर और कण्ठस्थ करके भी हम जब तक अपना आहार विहार न सुधारें नियमित रूप से कोई शारीरिक व्यायाम न करें। स्वच्छता और सफाई के नियमों को अच्छी तरह से पालन न करे, इसी प्रकार उपनिपद्, गीता योग वाशिष्ट के सैकड़ों पारायण भी हमको आध्यात्मिकता के निकट नहीं पहुँचा सकते, अगर हम उनके उपदेशों के वास्तविक मर्म को ग्रहण करके तदनुसार आचरण न करें।

इस कसौटी पर जब हम अपने भाइयों को कसते हैं तो हमको ज्यादातर हिस्से मे 'कैमिकल गोल्ड' ही मिलता है। ज्यादा न लिखकर हम इतना ही कहना चाहते हैं कि जहाँ हमको योरोप आदि में कार्लमार्क्स, क्रोपाटकिन, लेनिन, सनयात सेन और इनके साथी हजारों अन्य क्रान्किारी ऐसे मिलते हैं जो यद्यपि हमारी परिभाषा के अनुसार अधार्मिक हैं नास्तिक भी हैं, फिर भी उन्होंने अपना सारा जीवन केवल लोकोपकार में लगाया और इसीके लिये अपने प्राण दे दिये। इसके विपरीत हमारे यहाँ अनगिनती ऐसे ही सज्जन मिलते हैं जो सुबह गंगा जी पर दो घटे आँख मूँदकर पूजन करते हैं या शाम घण्टे भर तक भगवान् की मूर्ति के सामने हाथ जोडे खडे रहते हैं और दिन भर लोगों के ठगने या निर्बलों को सता कर अपना मतलब गाँठने का धन्धा किया करते हैं। इनमें से अनेक भाई गीता और उपनिपदों का भी पाठ किया करते हैं। उनका अर्थ भी समझते हैं, पर व्यवहार करते समय उनकी बातों को ताक पर उठाकर रख देते हैं।

अनेक प्रकार की दार्शनिक मान्यताएँ तथा अनेक

प्रकार के कर्मकाण्ड मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से हैं, जिन उपायों से जिन विचारों से मनुष्य का चरित्र ऊँचा उठे, वह पारस्परिक प्रेम, सहयोग न्याय उदारता सचाई एवं सयमशील बनें, उन्हें ही अध्यात्म कहते हैं। आज अध्यात्मवाद की चर्चा तो बहुत होती है पर उसकी वास्तविकता का लोप हो रहा है।

हमे सच्चे अध्यात्मवाद की तलाश करनी चाहिये, तलाश करके उसे ही अपनाना चाहिये। क्योंकि हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक कल्याण उस सच्चे अध्यात्मवाद पर ही निर्भर है। उच्च चरित्र, सदाचार एवं सर्वतोमुखी नैतिकता ही अध्यात्मवाद का प्राण है। उसकी सजावट और सुविधा के लिये पूजा पाठ के उपचार हैं। यदि प्राण निकल जाये तो देह बेकार है, इसी प्रकार उच्च नैतिकता के बिना धार्मिक कर्मकाण्डों की तरह विशेष उपयोगिता नहीं है।

सुख का साधन

(श्री रामलाल जी पहाड़ा, पेंशनर)

श्रीरामचरितमानस मे श्री गोस्वामी जी ने दुःख और सुख का स्वरूप सारगर्भित थोडे शब्दों में ही कह दिया है—

नहि दरिद्र सम दुख जगमाहीं।
संत मिलन सम सुख कछु नाहीं॥

वहिरग स्थूल वस्तुओं के अभाव की दरिद्रता तो दुःख है ही किन्तु अंतरग सूक्ष्म सद्भावों का अभाव अनेक दुःखों का कारण है। मनुष्यों में सद्भाव की त्रुटि होने से सदाचार की शिथिलता और इससे समाज मे ईर्ष्या, दम्भ, पाखंड, कपट आदि दुर्गुणों की वृद्धि हो जाती है। परिणामत समाज मे दुःख बढ जाते हैं। स्थूल और सूक्ष्म परस्पर अवलम्बित है। कहा है, ओछी पूँजी में कलह होती है और दुःख बढ़ते हैं।, गौतम ऋषि भी कहते हैं—

असंतोषः परदुख संतोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात्सन्तुष्टः सततंभवेत्॥

ऋषि के मत में अपनी वर्तमान स्थिति एवं सम्पति से असंतुष्ट रहना ही दुःख है। श्रीमद्भागवत मे भी कहा है—

'आशाहि परमं दुःख, नैराश्यं परमं सुखम्'

यहाँ भी भावार्थ यही है कि अपनी पास की वस्तुओं से सन्तुष्ट न रहकर आशा लगाकर मारे-मारे फिरना ही दुःख है' मनुष्य अपने कर्त्तव्य के पालन मे तत्पर रहे और किसी से कुछ पाने की आशा में भटकता न रहे। वस्तु मिलने वाली होगी तो अवश्य मिल जायगी, उसके लिये आतुर होना और अपेक्षा करते बैठना ही मन मे दुःख उत्पन्न करता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता अ० ५। २२)

संस्पर्श से उत्पन्न होने वाले भोग दुःखों को उत्पन्न करने वाले हैं। लक्ष्यार्थ में यह है कि शब्द, रूप रस, गध और स्पर्श से अर्थात् वहिर स्थूल भूतों से मिलने वाले भोग दुःखों के ही जनक हैं। जो मनुष्य विषय भोगों मे पडता है वह दुःखी होता है। अध्यात्मरामायण किष्किंधाकांड के आठवें सर्ग के ४२ श्लोक में कहा है—

एवं देहोऽहमित्य स्मादध्यासान्निर यादिकम।
अवभासादि दुःखानि भवन्त्य भिनिवेशतः॥

"मैं देह हूँ" ऐसे अभ्यास से जीव को नरक गर्भवास आदि के दुख उठाने पड़ते हैं—सारांश यह कि दरिद्रता, असंतोष, आशा, शब्द, रूपादि से उत्पन्न भोग, देहाभिमान ही दुःख है। जहा ये रहते हैं वहाँ व्यक्ति और तदनुसार समाज दुःखी होता है क्योंकि अणु परमाणुओं का परस्पर विनिमय होता रहता है। इस तरह संसर्ग दोष से संपूर्ण संसार दुःख भोगता है वर्तमान में सबको यह दुःखदायक स्थिति प्रत्यक्ष होरही है कि व्यक्तिगत देहाभिमान बढ़ जाने से प्रत्येक व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थ भोग के साधन में लगा हुआ है।

सुख और दुःख के स्वरूप में मूल वस्तु एक ही है सु औ दु तो मूल वस्तु के साथ मानसिक संवेदना नुकूल उपसर्ग लगाकर भेद बना दिया गया है। 'ख' ब्रह्म और आकाश है अतएव ख निर्गुण निराकार किंवा शून्य है और सदा एकरस रहता है। कहा है कि:—

ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग॥

इसी न्याय से मूल वस्तु ख भी संसर्ग से भेद भाव में भासने लगती है।

सुख और दुख सापेक्ष हैं। इसलिये यदि एक वस्तु है तो अन्य अभाव सूचक परिस्थिति है, यथार्थ कुछ नहीं है। जैसे प्रकाश और अंधेरा सापेक्ष है अब यदि प्रकाश कुछ वस्तु है तो अंधेरा अभाव सूचक स्थिति है, स्वयं कुछ भी नहीं है। इसलिये वेदान्ती कहते हैं "द्वितीयाद्भय" दो मानने वालों को भय रहता है। एक मानने वाला ब्रह्मज्ञानी निर्भय तदा शोक और मोह से रहित होता है।

दुख निवारण के लिए मानस में सीधा सुझाव यही है कि दुःख मिटाना है तो सुख का उपाय ढूँढो। संतों से मिलो, उनकी सेवा करो और उनके उपदेशानुसार जीवन निर्वाह करो। अथवा राम के गुण ग्रामों का मनन करो। क्योंकि—

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के।
कामदवन दारिद दवारि के।

राम-गुण काम पूर्ण करने वाले घन के समान दरिद्रता दवारि को बुझाकर शान्त कर देते हैं।

और भी—

जपहिं नामु जन आरत भारी।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

भारी विपत्ति आने पर मनुष्य नाम जपते हैं और अपने जीवन को तदनुसार सुधारते भी हैं तो उनके कुत्सित संकट भी मिट जाते हैं और वे सुखी होते हैं।

इसके अतिरिक्त और भी कहा है—

शठ सुधरहिं सतसंगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥
काहु न कोउ सुख दुःख कर दाता।
निज कृत करम भोग सुनु भ्राता॥

सतसंग से शठ भी सुधर कर सुखी हो सकता है। दुःख में पड़कर अन्य जनों को दोष मत दो, किन्तु अपने कर्मों की ओर देखो और उनका यथोचित परिमार्जन किंवा प्रायश्चित करो।

तथा—*नहिं कलि करम न भगति विवेकू।*
राम नाम अवलंबन एकू॥

वर्तमान कलिकाल में स्वार्थवश किये हुए कर्मों में भक्ति और विवेक का अभाव होता है किन्तु राम-नाम ही एक सहारा है, जो मनुष्य के दुःखों का निवारण कर सकता है। गीता में श्रीकृष्ण जी कार्य-कारण का सम्बन्ध रख दुःख निवारण का अमोघ उपाय बताते हैं। पहले तो सामान्य उपाय समता रखने का सुझाते हैं—

'मात्रा स्पर्शास्तुकौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

—जो मनुष्य सुख दुःख दायक आने-जाने वाली द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों को सहन कर लेता और व्यथित नहीं होता वही समता रखने वाला धीर पुरुष अमर रहने योग्य होता है। अध्यात्मरामायण में भी कहा है—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
द्वयमेतद्धि जन्तूनाम लङ्घ्यं दिनरात्रिवत्॥

संसार में प्राणियों के लिये दिनरात्रि के समान दोनों अनुलंघनीय हैं। प्रत्येक को सुख के उपरान्त दुःख और दुःख के उपरान्त सुख में आना ही पड़ता है। दूसरे अध्याय में श्रीकृष्ण जी परोक्ष रीति से कारण बताते हैं कि—

'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्यभावना।
न चाभावयतःशान्तिरशान्तस्य कुतःसुखम्॥'

जो मनुष्य युक्त नहीं है (परमात्मा का भय नहीं रखता, नास्तिक हो गया है) उसमें न बुद्धि और न सद्भावना रहती है और भावना हीन को शान्ति नहीं रहती तो अशान्त को सुख कहाँ है? अर्थात् कहीं नहीं, वह दुःख ही पाता है। युक्त होने से मनुष्य में बुद्धि, सद्भावना और शान्ति आती है और वह शान्त रहने से सुख पाता है। अतएव भगवान् दुःखनिवारण का अमोघ उपाय बताते हैं।

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्यकर्मसु।
युक्तस्वप्नाव बोधस्य योगोभवति दुःखहा॥

जो मनुष्य अपना आहार-विहार, अमोद-प्रमोद चेष्टा (धन्धों में परिश्रम) और जागना या सोना, देश काल, कर्म गुण (पदार्थों के गुण) स्वभाव अन्तरंग-बहिरंग) प्रकृति, सामर्थ्य परिस्थिति आदि का ध्यान रखता है उसे ही सब दुखों का नाश करने वाला योग प्राप्त होता है।

यजुर्वेद के ईशोपनिषद् में कहा है:—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैव भूद्विजानतः।
तत्रको मोहः कः शोकऽएकत्वमनु पश्यतः॥

जिसमें सर्वभूत आत्मा हो जाते हैं अर्थात् जो क्षुद्र स्वार्थ (देहाभिमान) को छोड़ सबभूतों के साथ व्यापक तत्त्व आत्मा में मग्न हो जाता है ऐसे विशेष ज्ञानी के लिये जो आत्मानुकूल एकत्व को देखता है, उसे मोह और शोक क्या है? अर्थात् कुछ नहीं है।

उपनिषद् में कहा है.—

द्वासुपर्णा सयुजा सखाय समानं वृक्षं परिषस्वजाते,
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।
समाने वृक्षेपुरुषो निमग्नोऽनीशयाशोचति मुह्यमानः,
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमितिवीतशोकः

अथवा—पृथगात्मानं प्रेरितांरच मत्वा
जुष्ट स्ततस्तेनामृतत्वमेतिः—

एक समान वृक्ष पर दो सखा पक्षी बैठे हैं, चिपक कर लगे हुए हैं उनमें से एक फलों का स्वाद ले रहा है, कर्म कर परिणाम भोग रहा है, जगत में रहकर विषयों का रस ले रहा है और दूसरा केवल देख रहा है, मन ही मन विचार कर रहा है। विषय रस में पड़ने वाला मोह भ्रष्ट होकर शोक करता है, जब वह अपने साथी से युक्त होकर उसकी महिमा को देखता है तब शोक रहित हो जाता है अथवा जब वह प्रेरणा करने वाले (सत्ता रखने वाले) आत्मा को पृथक मानकर (अपना अन्य साथी जानकर) उसके साथ मिल जाता है अपने को अभिन्न समझने लगता है तब अमर हो जाता है शोक से तर जाता है इसी गूढ़ भाव को मानसकार संक्षेप

मे समझाते हैं जो व्यवहारिक रीति से सुलभ है।

सुमति कुमति सबके उर रहहीं।
नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥
जहाँ सुमति तहँ सपति नाना।
जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥

सबके उर (रुपी वृक्ष) मे सुमति और कुमति (रुपी दो पक्षी) रहती है। जहाँ सुमति है वहाँ सपति ऐश्वर्य है और जहाँ कुमति है वहाँ विपति दुख है। कुमति मे पड़कर विपय भोगों के वश हो नर विपत्तियाँ भोगता है, जब वह अपनी सुमति से काम लेने वाले साथी की महिमा को देखता, सुनता, समझता और उसके साथ मिलकर अपने आचरण को सुधारने लगता है तब उसका भी शोक मिट जाता है।

गीता का कर्मरहस्य

(*श्री चन्द्रप्रकाश जी, अग्रवाल यम. काम, यल. यल बी, विशारद*)

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने परमार्थ प्राप्ति के लिये श्रीमद्भगवद्गीता में—कर्म, भक्ति और ज्ञान, का यथोचित वर्णन किया है। यद्यपि उन्होंने ज्ञानयोग को कर्मयोग से श्रेष्ठ बतलाया है तथापि उन्होंने प्रथम छः अध्याय में कर्मयोग की अपार महिमा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। तृतीय अध्याय के प्रथम श्लोक में ही अर्जुन अपने शंकापूर्ण प्रश्न को भगवान् के सम्मुख रखता है—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मा नियोजयसि केशव॥
(गी० ३।१)

अर्थात् हे जनार्दन! यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयकर कर्म में क्यों लगाते हैं?

उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुये भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इस लोक में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो ज्ञान में निष्ठा रखते हैं और कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कर्म में निष्ठा रखते हैं। जो लोग ज्ञाननिष्ठ होते हैं उनमें कर्म करने की उतनी सामर्थ्य नहीं होती जितनी ज्ञानोपार्जन की और जो कर्मनिष्ठ होते हैं उनसे ज्ञानार्जन यथोचित नहीं हो पाता।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ
ज्ञान योगेन साख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गी० ३।३)

यह सब क्यों होता है? पूर्व जन्म के सस्कार, जन्म स्वभाव तथा प्रकृति की विभिन्नता के कारण ही ऐसा होता है। विचारकों से व्यवहारिक कर्म नहीं हो पाते और व्यवहार में संलग्न जनों से तत्व विचार नहीं होते बनता। वास्तव में यह सामर्थ्य की विभिन्नता के ही कारण होता है जो अनेक कारणों से होती है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने हमें यह बतलाया है कि हमें प्रतिक्षण कर्म करते रहना चाहिये क्योंकि कर्म करना प्राणिमात्र के लिये अनिवार्य है। बात यह है कि कोई भी मनुष्य कर्मों को त्याग देने मात्र से निष्कर्मता को प्राप्त नहीं होता—

"न कर्मणा मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"।
(गीता० ३।४)

प्रत्येक व्यक्ति को इच्छा न होते हुये भी कर्म करना ही पड़ता है क्योंकि एक क्षण भी कोई मनुष्य बिना कर्म किये नहीं रह पाता यदि वह सो रहा है तो भी उसका मस्तिष्क जाग्रतावस्था रहता है। दृश्य देखना, शब्द श्रवण करना, गन्ध सूंघना, स्पर्श करना, रसास्वादन करना आदि सभी काम हैं जो प्रत्येक प्राणी करता ही रहता है। निद्रावस्था में वह स्वप्न देखता है। श्वास प्रश्वास, हृदय की धड़कन तथा चिन्तन आदि सभी कर्म हैं। तात्पर्य यह कि कोई भी प्राणी किसी क्षण भी निष्कर्म नहीं रह सकता, किन्तु यह कर्म प्रत्येक मनुष्य परवश होकर प्रकृति से उत्पन्न हुये गुणों के अनुसार करता है। प्रकृति त्रिगुणमयी है—सत, रज, तम। सात्विकता जिस व्यक्ति में जितनी अधिक मात्रा में होती

है उसमें उतनी ही निवृत्ति की भावना होती है। रजोगुणी व्यक्ति में प्रवृत्ति की भावना होती है और तमोगुणी में आलस्य, प्रमाद इत्यादि दुर्गुण होते हैं।

परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक व्यक्ति में न्यूनाधिक मात्रा में ये तीनों गुण—सत्व, रज, तम विद्यमान रहते हैं। ठीक उसी प्रकार कोई भी कार्य हो उसमें भलाई भी होती है और बुराई भी। कोई भी व्यक्ति केवल सात्विक नहीं हो सकता ठीक उसी प्रकार कोई भी कार्य भला ही हो ऐसा नहीं हो सकता। निश्चित रूप में उस कार्य में न्यूनाधिक मात्रा में भलाई-बुराई दोनों निहित होंगी। हो सकता है कि कोई कार्य अधिक हितसाधक हो और कम अहितकारी। यह भी हो सकता है कि कोई कार्य अधिक अहितसाध्य और कम हितकारी हो। आप कहेंगे यह तो अद्भुत बात है किन्तु मैं कहता हूँ कि थोड़ा सा विचार करने पर इसमें कोई विचित्रता प्रतीत नहीं होती। मान लीजिये कि एक आततायी किसी स्त्री पर बलात्कार करने का उपक्रम कर रहा है और आपने उस स्त्री को असहाय अवस्था में देखकर आततायी की हिंसा कर उसे विपत्ति से मुक्त कर दिया। इसमें आपने उस स्त्री, उसके सम्बन्धियों तथा हितचिन्तकों के प्रति भलाई की किन्तु उस आततायी की हत्या कर उसके प्रति, उसके कुटुम्बियों के प्रति तथा उस आततायी के शुभ चिन्तकों के प्रति बुराई की। इस प्रकार से यह शुभ कार्य भी दोषयुक्त हुआ किन्तु इस कार्य में दोष की अपेक्षा गुण अधिक है, बुराई की अपेक्षा भलाई अधिक है क्योंकि नैतिकता का यही सिद्धान्त है कि हम दुराचारों को दूर करने का यथोचित प्रयत्न करें। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति-गुण आधीन होकर प्रत्येक समय कर्म करता ही रहता है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

अर्थात्—हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है, अर्थात् ज्ञानयोग द्वारा ज्ञान प्राप्ति होने पर कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसलिए यह शंका उठ सकती है कि एक ओर से तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि कोई व्यक्ति किसी भी काल में किसी क्षणमात्र भी निष्कर्म नहीं रह पाता और दूसरी ओर कहते हैं कि ज्ञान प्राप्ति होने पर वह कर्म के बन्धन से छूट जाता है, इन दोनों में से कौन सी युक्ति ठीक है? मेरे विचार से दोनों ही युक्तियाँ ठीक हैं। प्रथम के सम्बन्ध में तो लिखा जा चुका है। द्वितीय के सम्बन्ध में केवल यह कहना है कि यजुर्वेद के ३४ वें अध्याय के तीसरे श्लोक के अनुसार जब कोई पुरुष ज्ञान की चरम अवस्था अमृतम (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है तो वह पुरुष नहीं रहता है प्रत्युत परमात्मा में विलीन होकर परमपद को प्राप्त हो जाता है:—

यत्प्रज्ञानयुत चेतो धृतिश्च,
यज्ज्योतिरन्तर मृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते,
तन्मे मन. शिवसङ्कल्पमस्तु॥

किन्तु गीता के तृतीय अध्याय में चतुर्थ श्लोकः—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

में पुरुष शब्द की ओर स्पष्ट संकेत है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये? इसका निर्णय करने के लिये श्रीमभगवद्गीता के सोलहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण का स्पष्ट निर्देश है:—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय करने के समय तुझे शास्त्रों को प्रमाण मानना चाहिये और शास्त्रों में जो कुछ लिखा है उसको समझकर तदनुसार इस लोक में कर्म करना तुझे उचित है। इसी लिये अर्जुन को क्षत्रिय होने के नाते उसी के प्रकृति-गुण के अनुसार युद्ध की प्रेरणा भगवान् द्वारा दी गई है और युद्ध में स्थिर होकर शत्रु के साथ लड़ना ही उसका कर्त्तव्य बतलाया गया है।

किन्तु यह कर्म (कार्य) जो हम करें शास्त्रानुसार होते हुये भी अनासक्ति (Non attachment) की भावना से ही प्रेरित होकर करें क्योंकि यदि हमने ऐसा

नहीं किया तो इच्छित फल प्राप्त न होने पर हमें विषाद होगा और इच्छित फल की प्राप्ति होने पर हर्ष होगा। परन्तु यदि हम किसी भी कार्य को बिना किसी आसक्ति के करते हैं तो हम कार्य की सिद्धि अथवा असिद्धि दोनों ही परिस्थितियों में समबुद्धि रहेंगे और हमें संताप की अग्नि में नहीं जलना पड़ेगा।

मैंने पीछे कहा है कि हम कोई भी कार्य ऐसा नहीं कर सकते जिसमें हित और अहित दोनों निहित न हो। जब हम कोई कार्य करते हैं तो कुछ के लिये यह कार्य हितकारी होता है और कुछ के लिए यही कार्य घातक सिद्ध हो सकता है। आप पूछेंगे यह कैसे हो सकता है? इसका उत्तर उपर्युक्त है। हम कोई अच्छा कार्य करते हैं, या करने का भाव मन में लाते हैं तो वायुमण्डल में तत्सम्बन्धी तरंगों की उत्पत्ति करते हैं। इसके विपरीत जब हम कोई बुरा कार्य करते हैं या करने का भाव मन में लाते हैं तो वायुमण्डल में बुरी तरंगों की उत्पत्ति करते हैं। हमको यह जानना चाहिये कि हमारे प्रत्येक भाव, शब्द तथा कार्य का प्रभाव वायुमण्डल पर पड़ता है और यह प्रभाव वायुमण्डल में तरगें उत्पन्न करता है। यह तरंगे अनश्वर हुआ करती है किन्तु प्रत्येक तरंग सजातीय तरंगों में मिल जाती है और इस प्रकार से सजातीय तरगों को घनीभूत कर उनकी शक्ति की अभिवृद्धि करती है। अच्छा भाव मन में लाने से या अच्छा कार्य करने पर हम अच्छी तरगों को घनत्व प्राप्त कराते हैं और बुरे भाव या बुरे कार्य करने पर हम बुरी तरगों के बल को बढ़ाते हैं। जब कोई दूसरा व्यक्ति अच्छा कार्य करने का भाव मन में लाता है तो घनी भूत हुई अच्छी तरंगे उस भाव को प्रोत्साहित करती हैं और बुरे भावों को बुरी तरंगों द्वारा प्रोत्साहन प्राप्त होता है। इस बात को एक उदाहरण द्वारा बतलाते है।

मान लीजिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर क्रोधित होने के कारण उसके लिये अपशब्द मुँह से निकालता है। अपशब्दों को सहन न कर सकने के कारण उसके मन में उसे लाठी से पीटने का भाव उदय होता है इस घटना के समय कुछ और लोग खड़े हुये हैं। उन कुछ लोगों में से थोड़े लोगों के मन में भी यह भाव उत्पन्न होता है कि दुर्वचन कहने वाले की मार होनी चाहिये। अब उन थोड़े लोगों के भाव तथा वायुमण्डल में पहले से ही विद्यमान सजातीय भाव उस व्यक्ति के लाठी मारने के भाव को प्रोत्साहित करेंगे और यदि वह लाठी मार देता है तो मैं कहूँगा कि तत्त्वतः केवल वही व्यक्ति इस दुष्कर्म के लिये उत्तरदायी नहीं है प्रत्युत वे थोड़े से लोग जिन्होंने अपने मन में सजातीय भावों का उदय किया तथा वे लोग भी जो अब इस संसार में नहीं है किन्तु जो सजातीय प्रभाव वायुमण्डल में छोड़ गये हैं वे भी इस के उत्तरदायी हैं। इस लिये हमें चाहिये कि हम सदैव अच्छे भाव मन में लायें और अच्छे ही कार्य करें। यही गीता का उपदेश है।

जैनियों का सिद्धान्त है कि हमें चाहिए कि हम क्रमशः मृत्यु की ओर अग्रसर होते रहें क्योंकि हमारे जीवित रहने के कारण अन्य लोगों के जीवन पर भार पड़ता है, हमारा जीवन छोटे छूटे अनेक पशुओं तथा पौधों की मृत्यु को बुलाता रहता है। किन्तु मैं कहता हूँ कि इस समस्या का सच्चा समाधान गीता में किया गया है। गीता का अनासक्ति (Non attachment) सिद्धान्त ही इस समस्या का निराकरण है। जब हम कोई कार्य करें तो हमें चाहिए कि हम किसी से भी अपनी आसक्ति न बढ़ायें। भगवान् श्रीकृष्ण किंकर्त्तव्यविमूढ़ युद्ध से विमुख अर्जुन की शका निवृत्ति करते हुए कहते हैं

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ हैं।

उपर्युक्त श्लोक से हमें ज्ञात होता है कि अनासक्ति भाव के उदय के लिये दशों इन्द्रियों का निग्रह परमावश्यक है। जो व्यक्ति इन्द्रिय निग्रही होकर अनासक्ति भाव से कर्मयोग का आचरण करता है वह ससार में रहता हुआ भी ससार से अलग है क्योंकि वह कोई कार्य अपने लिये नहीं करता है। जो व्यक्ति पूर्ण अनासक्ति भाव से कर्मों को करता है उस व्यक्ति पर अपने द्वारा किये हुये कर्मों का प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि हम आसक्ति भाव से कोई कार्य करते हैं तो हमें उसके प्रभाव का

उत्तरदायित्व लेना ही पड़ता है। यदि हमारा कार्य अच्छा होगा तो उसका प्रभाव या परिणाम भी हमारे लिये अच्छा होगा और यदि बुरा हुआ तो हमारे ऊपर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। किन्तु जो कार्य हम अपने लिये नहीं करते उसका अच्छा-बुरा प्रभाव हम पर नहीं पड़ता है प्रत्युत उस पर पड़ता है जिसके लिये हम वह कार्य करते हैं। अपने लिये न करने के यह अर्थ नहीं कि यदि हम कोई कार्य दूसरे के लिये करें और साथ ही में यह भावना भी उस कार्य के पीछे रहे कि हमारा इससे मान बढ़ेगा या हमें प्रत्युपकार में कुछ प्राप्त होगा, अभी नहीं तो हमारा यह परहितकारी कार्य भविष्य में प्रतिफलात्मक सिद्ध होगा तो यह हमारा पूर्ण अनासक्ति भाव से कार्य करना नहीं है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे कर्मों का प्रभाव हम पर न पड़े तो हमें चाहिये कि हम अपने कार्यों को पूर्ण अनासक्ति के साथ करें। यदि तब हम सम्पूर्ण संसार को भी मार डालें या स्वयं को मार डालें तो हम न तो मारने वाले हैं और न मरे हुये हैं। जो लोग इस संसार में आसक्त हुये कर्मों को करते हैं वे यह समझते हैं कि यह संसार हमारे मनो-विनोद के लिये है। मनो विनोद ही हमारा लक्ष्य है। वे लोग यही शिक्षा अपने बच्चों को देते हैं किन्तु वे भ्रम में हैं। न हमारा लक्ष्य मनो विनोद है और न यह संसार हमारे मनो-विनोद के लिये निर्मित हुआ। हम यदि थोड़ा विचार कर देखें तो हमें मालूम पड़ेगा कि जब हम इस संसार में नहीं रहते हैं तब भी यह संसार चलता ही रहता है। इसलिये हम यह कैसे कह सकते हैं कि यह संसार हमारे लिये ही बनाया गया है। यदि यह संसार हमारे लिये बनाया गया होता तो हमारी मृत्यु के साथ साथ इसका भी अन्त हो जाना चाहिये था इस भूतल की सृष्टि तो परमेश्वर ने अपनी इच्छा से की है। इस संसार की सृष्टि तो परमेश्वर के लिये हुई है।

जब हम कोई परोपकारी कार्य करते हैं तो हमारे मन में यह अहंकार (Egoisen) उत्पन्न होता है कि हम दूसरों की सहायता कर रहे हैं किन्तु वास्तविकता ठीक इसके विपरीत है। यदि हम दूसरों के लिये कोई कार्य न करें तो भी दूसरों के कार्य होते ही रहेंगे तभी तो विवेकानन्द ने कहा था—"You can not help anybody but can sirve only, अर्थात् तुम किसी की सहायता नहीं प्रत्युत सेवामात्र ही कर सकते हो। इसीलिये प्रत्येक गृहस्थ का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने बच्चों का पालन-पोषण आसक्ति भाव से न करे प्रत्युत सेवा भाव से ईश्वर के निमित्त करे जैसे एक नर्स आपके बच्चों की देखभाल आपके निमित्त करती है। जिस प्रकार नर्स किसी भी बच्चे से आसक्ति न बढ़ाकर अपना कार्य करती है उसी भाँति हमें भी चाहिये कि हम अपने बच्चों से आसक्ति न बढ़ायें। नर्स को बच्चों से वियोग होने पर तनिक भी दुःख नहीं होता उसी प्रकार यदि हमने अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण निरासक्ति पूर्वक किया है तो हमें भी अपने कुटुम्बियों के वियोग होने पर दुःख न होगा। अनासक्ति भाव से कर्म करने पर व्यक्ति कर्म-बन्धन में नहीं पड़ता है। यथा—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचार॥
(गी० ३।९)

अर्थात् बन्धन के भय से भी कर्मों का त्याग करना योग्य नहीं है, क्योंकि यज्ञ अर्थात् परमेश्वर के निमित्त किये हुये कर्म के अतिरिक्त अन्य कर्म में लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मों द्वारा बंधता है, इसीलिये हे अर्जुन! आसक्ति से रहित हुआ, उस परमेश्वर के निमित्त, कर्म का भली प्रकार आचरण करे।

इसलिये जो व्यक्ति यह समझकर अनासक्ति भाव से कर्त्तव्य कर्म का भली प्रकार आचरण करता है वह परम पद को प्राप्त होता है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गी० ३।१९)

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

"काक होंहि पिक"

(श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज)

देवराज तथा देशराज दोनों ही समवयस्क, स्वस्थ, नवयुवक एक ही कालेज के विद्यार्थी हैं विद्याध्ययन भी साथ ही साथ एक ही कक्षा मे करते हैं तथा निवासी भी एक ही मुहल्ले के हैं। हाँ, देवराज के निवास स्थान का प्रमुख द्वार पूर्व को है, और देशराज के स्थान का पच्छिम को। जिस प्रकार उनके निवास-स्थानों में भिन्नता है ठीक उसी प्रकार दोनों के विचार, भावनायें तथा क्रियायें एक दूसरे से प्रतिकूल हैं देवराज पूर्वी अध्यात्म सभ्यता का अनुयायी है तथा देशराज पच्छिमी भौतिकवाद का पथिक है। देवराज के निजी कमरे मे देवताओं, महात्माओं, वीरों आदर्शवान पुरुषों के चित्र लग रहे हैं तथा बहुत प्रकार की शिक्षाप्रद बातें लिखीं हुई हैं जैसे "सत्य-प्रिय हितकारी वचन बोलो" "किसी को छोटा मत समझो" "पंडित वही है जो ईश्वर को पहचान लेता है" "विद्या का फल असत की निवृत्ति है" तथा कुछ चौपाइयाँ भी लिखी हैं जिसमे "*मज्जन फल देखिय तत्काला, काक होंहि पिक बकहु मराला*" भी पढने में आती है। देशराज के कमरे में, वेश्याओं, विलासियों के फोटू प्रकृति के जड़ चित्र लग रहे हैं "खाओ पियो मौज करो" कई जगह लिखा हुआ है। तात्पर्य यह कि देवराज, परमदेव (परमात्मा) का उपासक, गुरु-पिता माता व देश का भक्त, इन्द्रिय सयमी सादी रहन-सहन वाला है तथा देशराज देव-विमुख श्रुति सन्त विरोधी, अभिमानी व विलासी है। परीक्षा हो जाने के पश्चात् माह मई मे कालेज बन्द हो चुका है अतएव जीवन का इतना समय कहीं बाहर चलकर आनन्द सहित व्यतीत करें ऐसा विचारते हुये दोनों ही कुछ आगे-पीछे अपने-अपने आवश्यकीय सामान सहित स्टेशन पर जा पहुँचे।

देवराज ने ऋषीकेश का टिकट इस विचार से लिया कि ऋषीकेश योग भूमि है वहाँ अनेकों सन्त महात्माओं व भगवती भागीरथी के दर्शन स्नान आदि का लाभ है तथा सत्सग द्वारा बुद्धि को शुद्ध करने का सुअवसर है, शीतल प्रदेश है यहाँ की तपन से भी बच जाना है कुछ समय पश्चात् देशराज ने भी देहरादून का टिकट यह विचारते हुये लिया कि "वहीं पास मे मन्सूरी है जो कि एक भोग भूमि है वहाँ अधिकांश मे इस अवसर पर धनिक लोग आते रहते हैं, जहाँ अच्छे-अच्छे मन लुभावने दृश्य हैं, ठाट बाट के विचित्र हाट हैं, खान पान के निराले सामान हैं आराम के साथ रहने के लिये होटलों आदि मे अच्छा प्रबन्ध है अर्थात् पंच विषय अच्छे रूप में नृत्य कर रहे हैं वहाँ ही चलें बड़ा ही सुख रहेगा, पैसे की कमी अपने पास है नहीं, पिता जी अभी पुलिस मे नौकरी कर ही रहे हैं।" सयोग वश रेल के इन्टर क्लास में दोनों ही जा पहुँचे यह एक दूसरे के पड़ोसी तथा परिचित तो थे ही अतएव बैठे हुये देवराज ने आये हुये देशराज से "जय परमात्मदेव" कहा जिसके उत्तर में देशराज के मुँह से सहसा ही "जय हिन्द" उच्चारण हुआ। गाड़ी चालू हुई साथ ही वर्तालाप भी चल पड़ा, तथा इसी बीच मे एक को दूसरे से उनके गन्तव्य स्थान का पता भी चल गया। आज कालेज के सहपाठी परदेश के साथी बने। साथी तो अवश्य बने किन्तु लक्ष्य एक दूसरे से भिन्न-भिन्न है अब क्या था अपने अपने विचारों के अनुसार वार्तालाप भी करने लगे। (यहाँ से देवराज तथा देशराज के लिये केवल देव तथा देश ही लिखा जावेगा) ।

देश—क्यों भाई देव जी ? आप ऋषीकेश

क्या बाबा बनने जा रहे हैं ? आपने भी गजब कर डाला अच्छा है बाबा बनकर हमको भी आशीर्वाद दिया करना। अफसोस—अभी कुछ नहीं बिगड़ा. अच्छा होता कि आप हमारे साथ साथ मन्सूरी चलते, और वहाँ लूटते आनन्द। बतलाइये तो सही कि आप ऋषीकेश क्यों जा रहे हैं ?

देवः—भाई जी! उत्तराखण्ड का प्रमुख प्रवेश-द्वार हरद्वार है हरद्वार के अर्थ तो आप जानते ही हैं कि हर मानी भगवान् तथा द्वार मानी दरवाजा अर्थात भगवत धाम का द्वार=हरद्वार है और ऋषीकेश तो उस द्वार के भीतर उन श्रेष्ठ ऋषियों व महात्माओं के निवास का स्थान है जो उस सत्य परम धाम का स्थान बताते हैं जहाँ पहुँच कर प्राणी पुनः इस ससार चक्र मे नहीं आता, वहाँ बड़े-बडे तत्त्व वेत्ता व भक्त जन तप करते हैं जिनके दर्शन से पाप ताप टर जाते हैं उनके सत्संग द्वारा अनेक प्रकार शुद्ध विचार बुद्धि में प्रकट होते हैं, जिस विवेक से मोह की निवृत्ति हो जाती है, तथा जीवन का विकास व मनो मालिन्य का विनाश होता है वहाँ के शुद्ध सतोगुणी वातावरण के प्रभाव से चित्त को शान्ति मिलती है। वहाँ पाप ताप हारिणी भगवती भागीरथी कल-कल झर-झर शब्द करती, पत्थरों के छोटे बड़े टुकड़ों से खेलती व उनको एक दूसरे से भिड़ाकर गोल करतीं, अपनी शिशु अवस्था को दूर बहाती, हिम पहाड़ी के अचल से यकायक मुसकराती हुई सी दर्शन देती हैं जिनका दर्शन व स्नान शरीर में शीतलता तथा हृदय मे अनुपम आनन्द का अनुभव कराता है। यथाः—

"दरश परश मज्जन अरु पाना।
हरै पाप कह वेद पुराना॥"

उनके समीप के प्रर्वत उनको इधर उधर बहकने से मना करते हैं तथा शान्ति भाव से दक्षिण दिशा को चलने का पथ दिखाते हुये अपने अचल व उपकारी सन्त स्थिति का परिचय देते हैं उनकी मूक गम्भीर भाव की रहनी चुपके से संकेत करती है कि देवसरि दक्षिण की ओर प्रस्थान करे जिससे वहाँ के निवासियों को देव स्वभाव तथा साधु सन्त व भक्त जनों के शरीर व मन को सतोगुणी उत्तम आश्रय सुलभ होकर, अन्त में वह भी इस आश्रय द्वारा मन से मूक, बुद्धि से परे अपने शुद्ध बुद्ध अचल आनन्द स्वरूप का अनुभव कर, आवागमन से रहित हो, पूर्ण भाग्यशाली हम पर्वत जैसे अचल बन सकें।

ऋषीकेश के पास सघन सुहावना वन, वहाँ निवासी तपस्वी जनों का उत्तम सुगन्धित वायु तथा फलों द्वारा अतिथि सत्कार करता हुआ उनकी दृष्टि को इधर उधर अधिक दूर न जाने देकर वायु द्वारा यह सन्देश सुनाता है कि "चक्षु आदि इन्द्रियों की जहाँ तक पहुँच है तथा मन का जहाँ तक पसारा है वह सब माया है जो कि परिवर्तनशील जड़ व दु.खालय है तथा मानव जीवन बुद्धि प्रधान क्षेत्र है जिसका उत्थान बुद्धि की शुद्धता पर ही निर्भर है केवल स्थूल शरीर व उसके सम्बन्धी भौतिक पदार्थों के जोड़ तोड में ही नहीं। यदि किसी व्यक्ति का बाह्य जगत अर्थात् शरीरोपभोगी वस्तुयें व शरीर ही केवल बढ़ रहा है साथ ही साथ यदि उसका अन्तः जगत् बुद्धि, मन अशुद्ध एव मलीन हो रहा है तो उसका पतन होता जा रहा है ऐसा सद्शास्त्र व महापुरुष बड़ी जोर से कह रहे हैं। अतएव बुद्धि को शुद्ध करने के लिये ऋषिकेश अति उत्तम क्षेत्र है इसीलिये मैं ऋषीकेश जा रहा हूँ। और भाई जी मन्सूरी इसलिये जाना पसन्द नहीं करता हूँ कि वहाँ तो विषयों का खुला व गरम बाजार है जो कि इन्द्रियों के मार्ग से मन व मस्तिष्क में बलात् प्रवेश करना चाहता है ऐसे घोर रजोगुणी वातावरण द्वारा इन्द्रियाँ पापमयी, मन विषयी तथा

बुद्धि अशुद्ध बन जाती है। भाई! मन्सूरी तो वास्तव में मन की सूली अर्थात् मन को बुरी तरह चुभने वाली भूमि है जहाँ बुद्धि की शुद्धता का सामान अभाव रूप में है, है तो केवल मायावी मन व इन्द्रियों का विषैले ठाठ का हाट, अच्छा हो कि आप अपने पर दया करें अर्थात् अपने को अधोगति की ओर ले जाने वाले पथ से बचावें और चलावें उस मार्ग पर जिससे चरित्र सुन्दर, जीवन दिव्य तथा बुद्धि ज्ञानमयी बने, बहुत ही अच्छा हो कि आप ऋषीकेश चलें और वहाँ कुछ दिन निवास करें फिर यदि मन न लगे, कुछ लाभ न दीखे तो मन्सूरी चले जावें।

देश के पूर्व-शुभ-संस्कारों के उद्‌भूत होने का अवसर आ गया था जिससे देव की इस बात का प्रभाव पड़ा और भोग-स्थली (मन्सूरी) का विचार बदल कर योग-स्थली (ऋषीकेश) जाने का विचार हो गया तथा दूसरे दिन देव के साथ देश भी जा पहुँचा ऋषीकेश स्वर्गाश्रम।

क्या ही शुचि सुरम्य आश्रम बना हुआ है सामने की ओर से पावन सुरसरि आश्रम के चबूतरे को अपने तरंगों से स्पर्श कर अपनपौ सूचित करती हुई आगे को बढ़ रही है। आश्रम का मन्दिर विचित्र ढंग का बना हुआ अपने अन्दर स्थापित देव मूर्तियों की सौंदर्य्य तथा सौम्यता द्वारा ज्ञान के सर्व उच्च कोटि का सिद्धान्त "तीनों देवा एकहि सेवा" का मत्र सबसे ऊँची चोटी पर से प्रकट कर रहा है अर्थात् मानो कह रहा है कि 'भेद भ्रम तोड़ो, समत्व में बुद्धि जोड़ो। बीच का सत्संग भवन अपनी दीवालों पर बहुत प्रकार की दिव्य वाणियों से शिक्षा दे रहा है कि "परमात्मा व अपने में बीच मत रक्खो" (जिस प्रकार मैं आश्रम का इसी प्रकार प्राणी, परमात्मा का अंश है) अतएव "परमात्मा में अपने को तथा अपने में परमात्मा को समझो"। आश्रम मे रहने सहने, भजन भोजन, पूजा, पाठ, जप, तप, सत्सग, विचार आदि की सभी सुव्यवस्था है कई एक सन्त जन तथा विद्वान पण्डित रह रहे हैं जिनके द्वारा प्रार्थना पाठ, कीर्तन, सत्सग व शंका समाधान भी हुआ करते हैं विभिन्न प्रान्तों के बहुतेरे सज्जन सत्संग, एकान्त सेवन भजन पूजन आदि का विचार कर आश्रम मे ठहरे हुये हैं।

देव तथा देश भी इसी आश्रम में सुविधा पूर्वक रहते हुये प्रार्थना सत्सग आदि मे सम्मिलित होते हैं देव तो देव ही था उसे तो साक्षात् देवलोक का सुख प्राप्त हो गया किन्तु देश को कभी कभी मन की अशुद्ध कल्पना से यह दिव्य देव लोक, दुःख स्वरूप नरकलोक सा प्रतीत होने लगता था एक दिन देव तथा देश दोनों ही आश्रम मे ठहरे हुये एक संतजी के पास पहुँचे तथा सादर नमस्कार आदि कर अपना-अपना परिचय देते हुये उनके समीप सामने बैठ गये। देव ने हृदय की इस भावना से प्रेरित होकर कि "देश का कल्याण-पथ शुद्ध हो" सन्त जी से प्रश्न कर दिया।

देव—सत् स्वरूप में स्थित दयालु प्रभो! प्राणी शान्ति की अभिलाषा रखकर जगत की ओर बढ़ता है तथा हर प्रकार से अथक परिश्रम करता हुआ भी शान्ति सुख को प्राप्त न कर, पूर्व से अशान्त व दुःखी ही होता जाता है। ऐसा क्यों है?

सन्त जी—आस्तिक बुद्धि व शुभ स्वभाव वाले देव! यह प्रश्न तुम्हारा अति उत्तम है तथा सभी के लिये हितकारी तथा भली प्रकार से समझने की आवश्यकीय वस्तु है अतएव पूर्ण ध्यान से सुनना व समझना चाहिये।

जिस प्रकार इस सामने की दूकान वाले दही में दो वस्तुयें हैं एक तो मक्खन है जो दही के कण-कण मे रम रहा है जो इन चर्म चक्षुओं से दिखाई

नहीं पड़ता है पर विवेक दृष्टि से समझकर कहा जाता है कि इसमें रमा हुआ है अवश्य ही। तथा इस दही के साथ में रह रहे मक्खन से पूड़ी आदि का काम भी नहीं निकल सकता है हाँ जब बिलोकर मूल्यवान मक्खन अलग कर लिया जाता है तब काम भी निकाला जा सकता है तथा रक्खे रहने के लिये मक्खन (रूपी घृत) टिकाऊ हो जाता है व मक्खन को सेवन करने वाला शक्तिशाली भी बन जाता है और दूसरा है मट्ठा (मही या छाछ) जिसमें मक्खन रमा हुआ है। जो इन नेत्रों से दिखलाई भी पड़ता है तथा मक्खन से मट्ठा जब अलग हो जाता है तब मट्ठा बे मूल्य का सा रह जाता है दो चार दिन में सड़ भी जाता है तथा इसे सेवन करने वाला शक्तिवान भी नहीं बन पाता है। इसी प्रकार जहाँ भी देखते हैं अथवा जहाँ जाते हैं वहाँ भी दो ही वस्तुयें हैं। एक अस्ति (सत्) + भाति (चिद्) + प्रिय (आनन्द) स्वरूप परमात्मा (देव) जो प्रमुख है और द्वितीय नाम + रूप वाली माया (जगत = देश) । प्रमुख देव, मक्खन के समान नाम रूपात्मक देश में छुपा हुआ है जो जन्म मरण रहित अखण्ड शान्ति व पूर्ण शक्ति का स्वरूप हैं। दूसरी माया (देश) मट्ठे के समान है जो इन नेत्रों से दिखाई सुनाई पड़ती है वह परिवर्तनशील दुःख स्वरूप है। जिस प्रकार मट्ठे मे चिकनाई व सुस्वादपन मक्खन का है इसी प्रकार माया मे सत व आनन्द की प्रतीति परमात्मा की है। तथा साथ रहने के कारण ही इस माया का मूल्य एवं आदर है। जिस प्रकार जो व्यक्ति अनुपम स्वाद व शक्ति का अभिलापी है वह मक्खन को सेवन करने पर ही पा सकता है मट्ठा के सेवन करने से कदापि नहीं। इसी प्रकार चूँकि प्रत्येक प्राणी प्रतिपल पूर्णता का प्रेमी एवं प्यासा है दूसरे शब्दों में हर प्राणी सतचिद् आनन्द (पूर्ण शान्ति) का सतत अभिलापी है अतएव प्राणी की पूर्ति परमात्म देव द्वारा ही हो सकती सम्भव है माया का लक्ष्य रखकर कदापि नहीं। इसीलिये जो प्राणी माया का लक्ष्य रखकर उसे ही जोड़ जाड़ कर उसी से ही पूर्ण सुख शान्ति चाहता है वह नितान्त भूल में भ्रमात्मक बुद्धि वाला कहा जाता है, हाँ परमात्मा का लक्ष्य रखते हुये मायिक पदार्थों से सीमित रूप से काम लेना अथवा इतना गौणरूप से आदर देना है जितने से लक्ष्य में भूल व हानि न पहुँचे। फिर यदि देव का लक्ष्य रखकर जीवन व्यतीत किया जाता है तो अक्षय, पूर्ण शान्ति स्वरूप परमात्मा तो मिलता ही है साथ मे देश (माया) भी हाथ में आ जाता है और यदि अशुद्ध बुद्धि से माया का लक्ष्य रख कर जीवन व्यतीत किया जाता है तो नाशवान माया तो छूट ही जाती है साथ मे अशान्ति एवं जन्म मरण और भी प्राप्त हुआ करता है।

इस बात को तुम दोनो ही अपना ही उदाहरण रखकर समझ सकते हो एक तुम अर्थात् देव हो और द्वितीय यह देश है। जो तुमसे सम्बन्ध रक्खेगा वह तुम्हारे गुण व वस्तुएँ पावेगा और जो इनका संग करेगा वह इनके गुण विचार या वस्तुएँ पा सकेगा ऐसा तो नितान्त ही असम्भव है कि देश के पास जाकर देव की वस्तुयें उपलब्ध कर सके फिर जिसने देव को मुख्य और देश को गौणरूप मे रक्खा तो तुम्हारे देव नाम के पीछे का व तथा इन देश नाम के पीछे का श दोनों ही मिलकर (व+श) वश बनता है (दे दोनों मे समान रूप से स्थित है) अर्थात् देश वश में हो जायगा दूसरे शब्दों में (परमात्मा) लक्ष्य रखने वाले के मायावी पदार्थ स्वतः वश में हो जावेंगे। और यदि भूल से कहीं लक्ष्य माया (देश) का रक्खा तो देश नाम के पीछे का श तथा देव नाम के पीछे का व दोनों ही मिल कर (श+व) शव (मुर्दा) होता है। अर्थात् देश को मुख्य व देव (परमात्मा) को गौण रूप से लक्ष्य रखने वाला मुर्दा, मरण धर्मा दुःख का भागी

बनता जावेगा। अतएव जगत का लक्ष्य बदल कर परमात्मा-लक्ष्य करने पर ही पूर्ण शान्ति हो सकती संभव है। माया का लक्ष्य रहने पर तो अशान्ति बढ़ती ही जावेगी। इसीलिये तो सन्त प्रवर श्री गोस्वामी तुलसीदास जी अकाट्य शब्दों में कथन कर रहे हैं। यथा:—

श्रुति गुरु साधु स्मृति सब मत यह,
दृश्य सदा दुख कारी।
तेहि बिनु तजे, भजे बिनु रघुपति,
बिपति सकै को टारी॥
"श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं,
रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं।"

सन्त जी ने इतना कह कर विराम लिया।

पूर्व के सुसंस्कार, देवसरि के समीप का वातावरण, देव तथा भक्तों का संग, नित्य का सत्संग तथा वर्तमान में श्री सन्त जी के हृदय भेदी शब्दों का कथन-इन सभी ने मिलकर क्या ही विचित्र प्रभाव दिखलाया कि देश की बुद्धि शुद्ध तथा परिवर्तित हुई इधर देव ने जो प्रथम से ही हृदय का भाव देश के हितार्थ बनाये हुये था देश की ओर नेत्रों का संकेत किया तो मानों देव के दोनों नेत्रों से देवत्व निकलकर देश के नेत्रों द्वारा उसके हृदय में आ समाया जिससे देश, देश लक्ष्य वाला न रहकर देव सरीखा बन गया, अब देश बोला।

देश—परम कल्याणकारी सच्चे मेरे भ्रात देव जी:—आप की ही कृपा से यहाँ आना हुआ तथा परम कारुणीक सन्त चरण की अहैतुकी दया से मेरे हृदय का भाव ही बदल गया अब हम देश, देश न रहकर आप जैसे देव बन गये तथा तुम व हम अर्थात देव तथा देश एक हो गये और देव बन भी ऐसे गये कि हे देव तुमसे कभी विलग भी नहीं किये जा सकते।

कुछ देर पश्चात् देव तथा देश दोनों ही आश्रम के अपने निवास स्थान पर जा पहुँचे अब तो देश का विचार बदलने से सभी कुछ बदलने लगा, अन्त मे वह भी एक अच्छे स्वभाव का सच्चरित्र युवक बन गया, कुछ दिनों के पश्चात् वहां से चल कर दोनों ही सच्चे साथी अपने निवास स्थान शहर में आ गये। जो देश काक (कटु) भाषी था वह अब पिक (मधुर) भाषी तथा जो स्वभाव से बक (अभक्ष्य भोगी) था वह अब हंस (शुभ भोगी) स्वभाव वाला पाया गया, साथ ही परमात्मा का उपासक गुरु पिता माता व देश का भक्त समझ पड़ा, उसके माता पिता व पड़ोसियों को आश्चर्य्य सा होता था उसके माता पिता जो रामायण का पाठ करते थे उनके एक दिन पूछने पर देश ने ऋषीकेश जाने का सभी हाल कह सुनाया तब पिता जी ने कहा कि—

"मज्जन फल देखिय ततकाला,
काक होहिं पिक बकहु मराला।"

इधर देश के कालेज का समय था वह भी स्वयं कालेज की ओर चल कर *"काक होहिं पिक बकहु मराला"* करता हुआ निवास क्षेत्र से अदृश्य होगया।

ॐ शान्तिः। शान्तिः॥ शान्तिः॥।

जिसमें हमें कञ्चन का भ्रम था उसे आदि से काँच बताते रहे।
जतलाते रहे थे त्रिताप जिसे अपने को उसी में तपाते रहे॥
भव बन्ध से नाथ सचेत किया फिर भी स्वयमेव फसाते रहे।
नित ही नई ठोकरें खाते रहे इस माया ठगी से ठगाते रहे॥

तिरुपुगल का अमर गायक संत अरुणगिरि

(श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती)

जिसके गीतों में वाल्मीकि का रामायणीय माधुर्य है, जिसके जीवन की झाँकी में ईश्वर की असीम कृपा का सागर लहराता है और जिसने अपने जीवन में भगवान् की प्रतिज्ञा को कठोरतम कसौटी पर कसा—किन्तु सदा यही पाया कि "स्त्रियो वैश्यस्तथा शूद्रा ते पि यान्ति परा गतिम्" अर्थात् क्या स्त्री क्या बनिया और क्या शूद्र—सभी भगवान् के चरणों के समान अधिकारी हैं। आज भी ५ शताब्दियों के बाद भागवत जनता तिरुपुगल के अमर गायक सन्त अरुणगिरि के शब्दों में गाना गाती है, दिल के अरमानों के उभरते हुये आवेश को प्रकट करती है और उसी की मर्मस्पर्शी कथायें आज घर-घर की गीतमालायें हैं।

× × ×

तिरुवण्णमलय में आज से ५ शताब्दि पहिले अरुणगिरि का नाम प्रत्येक वेश्या के घर का खिलौना था। उसकी माँ देवदासी थी, जिसने अपने जीवन में प्रतिदिन नये-नये पुरुषों का संग किया था। अपने जीवन में विभिन्न प्रकार के आनन्दों का उपभोग करती हुई वह देवदासी एक दिन मरण-शय्या पर पड़ चुकी थी। उस समय उसके अपने कहे जाने वाले दो प्राणी थे' एक पुत्र और एक पुत्री—नौजवान किन्तु आवारा और जीवन की कला से अनभिज्ञ था उसका लड़का। किन्तु पुत्री नवयौवन के मार्ग पर आरोहण कर चुकी थी, एवं सब कुछ जानती और सब कुछ समझती थी।

जीवन के अन्तिम क्षणों में माँ ने पुत्री के हाथों को अपने कांपते हाथों में लेकर कहा, मीनाक्षी, अरुणा का ख्याल रखना। वह लापरवाह है, बुद्धि हीन है और कलाहीन है ‥ मरण-निरत वृद्धा ने अपनी पुत्री से वचन लिया कि वह बहिन के ही समान नहीं, किन्तु मां और पत्नी के समान उसका ख्याल रखेगी उसकी देखभाल करेगी और उसकी जीवन सुविधाओं के लिये भरसक प्रयत्न भी करेगी।

जो आज्ञा हो, माँ. पुत्री ने सिर नीचा किए कहा था, मैं अपने जीवन की भी बाजी लगा कर, यदि आवश्यकता हुई तो अरुणा के जीवन को दुःखमय न होने दूंगी, उसके जीवन की सभी सुविधाओं के लिये अपना तन, मन, और सर्वस्व समर्पण करती रहूँगी ‥ पुत्री ने वचन दिया और मां ने सुख के साथ अन्तिम श्वास ली। मां मर गई थी, मीनाक्षी और अरुणा को छोड़कर।

× × ×

अरुणा आवारा तो था ही और उस पर देवदासी का पुत्र। उसको युवावस्था में ही कामुकता ने आ घेरा और उसके दिन वेश्याओं के ही संग में व्यतीत होने लगे। उसका जीवन दिन-प्रतिदिन नारकीय होने लगा। बहिन ने देखा किन्तु चुप रही। कहकर ही क्या कर सकती थी बेचारी, वचन जो दिया था। जानते हुये भी वह उसके मार्ग की बाधक न हो सकी।

जब तक मां के द्वारा संचित किया हुआ धन था तब तक अरुणा ने अपना हाथ सफा किया और उसे कुछ ही दिनों में समाप्त कर दिया जिस धन को मां ने अपने जीवन भर सहस्त्रों व्यक्तियों से चरित्र के मोल संचय किया था, उसी धन को अरुणा ने कुछ ही दिनों में काम-पिपासा की प्रवाहिनी में बहा दिया, कामाग्नि में भस्म कर दिया। बहिन देखती रही, विधाता के सुन्दर विधान को और देखती रही धन के अवसान को ठीक उसी तरह, जैसे आया था।

एक दिन ‥ प्रातः काल भाई कई सप्ताह के बाद घर आया. अकेली बहिन के पास और कुछ धन की याचना की। धन चाहिये ? बहिन ने पूछा और अपने मन में कुछ सोचा। मा की आज्ञा याद

की ओर प्रत्यक्ष में बोली, आज रात्रि को प्रथम प्रहर के अन्त होने पर आना तो कुछ दे दूंगी।

भाई चला गया। उसने और कुछ न पूछा। पूछने की आवश्यकता ही क्या थी वह काम के पाश मे जकड़ा हुआ निश्चेष्ट सा पड़ा था, किसी वेश्या के आवास-गृह मे।

इधर बहिन की अग्नि परीक्षा हुई। कैसे वह धन लायेगी? यही विचारणा थी। क्या आज वह दिन आया है, जब कि मुझे अपने जीवन की बाजी लगाकर भाई के जीवन की सुविधाओं और आशाओं की सम्पूर्ति करनी है? अन्ततः बहिन ने निश्चय किया कि जिस कलुषित-कर्म से वह घृणा करती आई, वेश्या-पुत्री होते हुये भी, उसी कलुषित-वृत्ति को वह अपने भाई के हेतु धारण करेगी ही। उसे मां की याद आई और अपना वचन भी याद आया अपना तन मन, धन और सर्वस्व भाई के जीवन-सुखों के लिये समर्पण करूंगी वह उस दिन जी भर कर रोई अपने आवेगों पर विजय पाने, अपने निश्चय को पलटने के लिये। केवलमात्र मां की आज्ञा के अनुसरण के लिये, केवल मात्र भाई के लिये उसने अपने जीवन मे पहिली बार पहिले सिद्धान्त को तोडा और इच्छा न रहते हुए भी वह पेशे मे प्रवृत हो गई।

मीनाक्षी ने अपना जीवन वेचना प्रारम्भ किया नित्यप्रति उसके द्वार पर सहस्त्रों कलिमूर्तियाँ आतीं और वह उनको रिझाती, उनमे किसी किसी की वासनापूर्ति भी करती। पैसा आ रहा था, तीव्र वेग से। धन की लीला हो रही थी। किन्तु हाय अरुणा ने एक भी पैसा नहीं बचने दिया। बहिन के जीवन के दुःखों पर, आत्म ग्लानि पर उसने कुछ भी विचार नहीं किया किन्तु वह हर दिन उसके पास आता और अच्छी खासी रकम ले जाता उस रकम को उसी तीव्र वेग से गँवा देता। उसे आत्म-ग्लानि नहीं होती, पश्चात्ताप नहीं होता और न किंचित हिचकिचाहट ही।

अन्त में वह दिन भी आने लगे, जब देवदासी के द्वार पर से जन समागम छटने लगा। उसमें वह सौन्दर्य नहीं रहा, वह नवीनता नहीं रही, वह यौवन नहीं रहा और न रही कामातुरों को प्रसन्न करने की पूर्व-तुल्य उत्साह शक्ति ही। द्वार पर से जन-समागम की गरमी और भी हल्की होती गई। अन्त मे निराश होकर उसने द्वार पर प्रतीक्षा करना भी छोड़ दिया। उसके नेत्र मानो पथराने लगे। भला कब तक प्रतीक्षा करेगी, कोई आवे तब न? फल यह हुआ कि अरुणा के लिये धन प्राप्ति का एक मात्र मार्ग भी बन्द हो गया अपने शरीर को जुवे पर हार कर देवदासी आज अकेली और हतप्रभ पड़ी हुई थी।

+ + +

पश्चिम-सागर अरुणा भिरजित हो चुका था। विशाल शून्य में हंसों की पक्तियाँ निरन्तर-शब्द करती हुई नीडों को लौट रही थी। मछुये अपने-अपने जालों को कन्धे पर लादे समुद्र तट की ओर रात्रि के शिकार के लिये जा रहे थे। सरोवरों पर जन-कलरव निहित होता जा रहा था। दूधवालियाँ दूध बेचकर अपने- अपने घरों को वापिस आ रही थीं।

घरों मे दीपक भी जल उठे। मीनाक्षी अटारी पर बैठी थी। दूर कहीं अट्टहास सुनकर उसका हृदय जल-सा रहा था। हाय, कोई उसके द्वार पर नहीं आता। क्या किया जाय, वह सोच रही थी, अरुणा आता ही होगा और पैसों के लिए तकाजा करेगा। परसों से मैं उसको आशा दिलाती आ रही हूँ कि कल दूंगी और कल दूंगी। आज वह जरूर आकाश-पाताल एक कर देगा। हाय भगवन्, वह देवदासी सोच रही थी, किस प्रकार उसे मेरी दशा का परिज्ञान हो और किस प्रकार वह मेरे दु.खों को समझने का प्रयत्न करे?

वह सोच ही रही थी कि दरवाजे पर धक्का लगा और थोड़ी ही देर में क्षत-विक्षत वस्त्रों के अन्दर अपनी मानव-कालिमा छिपाए अरुण अन्दर आ पहुँचा। उसके गाल धँसे हुए थे। उसकी आँखें गढ़हे में सो चुकी थी।

दीदी, लाओ आज तो दो कुछ। काम चलना चाहिये। परसों से तुम सान्त्वना देती आ रही हो।

मुझे तीन दिन का किराया देना है और आज भी तो जाना ही होगा।

देवदासी चुप रही। भाई की ओर उसने निर्निमेष-दृष्टि से देखा और आँख से आँसू निकल आए। परन्तु पाप की कालिमा से पक प्रपूरित अरुण के हृदय में उस दृश्य का, प्रवेश ही नहीं हुआ। वह बोला—यदि आज नहीं दोगी तो मैं यहीं द्वार पर आत्महत्या कर डालूंगा। बोलो, देती हो कि नहीं…… ?

देवदासी कुछ देर चुप रही और सोच ही रही थी क्या किया जाय। अरुण उतावला सा-बकता जा रहा था। किन्तु देवदासी ने कुछ भी नहीं सुन पाया। उसे माँ की याद आ रही थी, जिस मां ने उसे पाला और पोसा तथा बडा किया, जिस मा ने मृत्यु के पहिले उससे प्रण करवाया था और जिस मां से उसने कहा था, मां चिन्ता न करो। मैं अपने जीवन की बाजी लगाकर भी अरुण को दुःखित न करूंगी और उसके जीवन की सुविधाओं के लिए भरसक प्रयत्न करती रहूँगी और यदि मुझे अपना तन, मन, धन और सर्वस्व भी समर्पण करना पडे तो सदा तैयार रहूगी। आज परीक्षा थी, मां के प्रति सन्तान के कर्त्तव्यों की बहिन की अपने भाई के प्रति। चाहे उस परीक्षा का स्वरूप कितना ही घृणित क्यों न हो, चाहे वह परीक्षा अमानवीय ही क्यों न हो, किन्तु वह सन्तानों के लिए एक ज्वलन्त उदाहरण है कि माता की आज्ञा का पालन करना सन्तान का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। अन्य सभी कर्त्तव्य गौण हैं।

घर के अन्दर दीपक की लौ हिल-सी रही थी, मानो रो रही हो। देवदासी तन कर खड़ी हो गई। उसने अपना कर्त्तव्य निर्धारित कर लिया था, भाई के खातिर और मा के खातिर। वह निश्चय कठोर अवश्य था, सम्भवतः कठोरतम भी और भीषण —मर्मविदारक भी। सुनने वाला सन्न भी रह सकता है। किन्तु देवदासी ने वही निश्चय किया था।

भाई, वह अवरुद्ध कण्ठ से बोली, तेरी मति में कलि का आक्रमण हो चुका है। तू कामलिप्सा का शिकार बन चुका है। तेरी काम-पिपासा अत्यन्त तीव्र है। मैंने अपना जीवन बेच कर भी तेरी लिप्सा को पूरी करना चाहा, किन्तु वह आग में घी डालने के समान ही सिद्ध हुई। देख इधर, मैं तुझे उपदेश नहीं देती हूँ। मैंने जो कुछ किया मा के लिए किया और तेरे लिए किया। मुझे अपनी वेश्यावृत्ति से कोई प्रेम नहीं था और न किंचिन्मात्र रुचि ही थी। यह जीवन अत्यन्त पापमय है। भला कौन इसको स्वीकार करेगा। किन्तु मैंने तेरे खातिर अपने सिद्धान्तों को कुचल दिया, अपने शरीर को बेच दिया, अपनी नैतिकता को दो पैसों के लिए गिरवी रखा, नहीं-नहीं नीलाम पर चढ़ा दिया पर इसका फल यही हुआ कि मैं तुझे तृप्त नहीं कर पाई। तू आज भी पहिले की तरह स्त्री-सग से अनुरक्ति हो रखता है।

वह कहती जा रही थी। उसका अवरुद्ध कण्ठ और स्पष्ट तीव्रतर होता जा रहा था, अब और कोई चारा नहीं। आज कल मेरे पास कोई भी नहीं आता, जो कुछ पैसा दे और जिससे मैं तेरी सहायता कर पाऊ। किन्तु एक रास्ता अवश्य खुला है। वह है मर्मविदारक। शायद मनुष्य के कान बहरे हो जायेंगे।

थोड़ी देर तक उसने श्वास ली, मुझे मालूम है कि हम दोनों एक ही मा से पैदा हुए हैं, परन्तु मुझे मालूम है कि हमारे पिता एक नहीं हैं। हमारा वीर्यदाता एक नहीं हैं। हमारा रक्त एक नहीं है। जो हो, आज तुम पागल हो ही गए हो और मैं भी मा और भाई के प्रति अपने कर्त्तव्यों की पराकाष्ठा करना चाहती हूँ। क्यों ठीक है न ? जिस आनन्द को तुम दूसरी स्त्री से प्राप्त करना चाहते हो, और जिस आनन्द के लिए तुमको पैसे की आवश्यकता है … वही आनन्द आज मैं तुमको देती हूँ, उसी विलास की पूर्ति तुम मेरे गलित यौवन-रजित शरीर से कर सकते हो… …।

मानो वज्रपात हो गया हो। मर्मविदारक स्वर

निकल कर रह गए। अरुण कितना ही पापी क्यों न था, किन्तु सन्न सा रह गया। देवदासी की ओर देखते ही मानो उसकी आँखों मे अग्नि जल उठी। उसके पांव लड़खड़ाने लगे। उसका शरीर ढीला होने लगा। देवदासी के शब्द अभी भी उसके कानों में गूंज रहे थे ·· · ·· जिस आनन्द के लिए तुमको पैसों की आवश्यकता है · · वही आनन्द आज मैं तुमको देती हूँ, उसी विलास की पूर्ति तुम मेरे गलित यौवन–रंजित शरीर से कर सकते हो । वह सहम गया और चिल्लाया, बहिन और आक्रोश को न सह सकने के कारण मूर्छित होगया, बहिन के पावों के पास, आत्मसमर्पण करते हुए, अपने जीवन के पापों को अनुजा के चरणों की रज से मार्जित करते हुए और उसके आंसुओं की धारा से पुराने जीवन की कालिमा को धोते हुए ·· ।

\+ + +

अरुण के जीवन का अध्याय बदल चुका। यवनिका गिर चुकी थी। बहिन के वाक्यों ने गलते हुए सीसे के समान उसके नारकीय जीवन को पंगु कर दिया, निर्जीव कर दिया और मृतक बना दिया। उसने अपने जीवन का अन्त करना चाहा ··

दीपक की लौ मे वह अपनी चेतना को प्राप्त करता हुआ सोच रहा था कि इस जीवन का अन्त किस प्रकार करना चाहिए। उसके नेत्र दीवाल पर लगे थे, जहाँ देवसेनापति कार्तिकेय का चित्र टंगा हुआ था। चित्र के नीचे लिखा हुआ था, अरे योधा आओ। मैं तुमको विजयी बनाऊंगा। मेरी गोद में ही तुम सुरक्षित रह सकोगे।

देवदासी मीनाक्षी थक कर सो गई थी, पास ही अरुण के नजदीक। अरुण ने उसकी ओर भ्रातृ-स्नेह की दृष्टि से संपरिप्लावित हो देखा और मन-ही-मन प्रणाम किया। हिलते हुए दीपक की लौ के प्रकाश में, रात्रि के गहन-अन्धकार में, विकराल काल मे वह दरवाजे को धीरे से खोल अन्धकार में अदृश्य होगया, जीवन-त्याग के लिये, सम्भवतः आत्महत्या के लिये।

\+ + ×

रात्रि के घटाटोप अन्धकार मे अरुण ने पास के उत्तुंग-मलय की शिखा से चारों ओर अन्धकार की गोद में निहित संसार को देखा, बांसुरी के सुरीले राग को कहीं दूर से आते हुए सुना, झिंगुरों की निरन्तर ध्वनि सुनी और सुनी अपने अन्दर किसी अनाहत-शक्ति की गीता। वह सहम गया। अंधेरे में पर्वत की शिखा पर से देखा रसातल के समान गहराई काले चादर की ओट मे भयंकर भविष्य का खेल देखने के लिये उत्सुक-सी हो रही थी। वह दो कदम पीछे हटा, ओह भयंकर गहराई वह चिल्लाया। परन्तु पुन. साहस धारण कर आगे बढ़ा और दोनों हाथ बाँध लिये, भगवान को प्रणाम समर्पित किया।

भगवान्, देवसेनापते, वह कहता गया, आज मुझे अपने नारकीय जीवन का अन्त करना है। मैंने जो कुछ किया हो, उनका प्रतिफल मुझे अवश्य मिले. किन्तु नि.सन्देह मैं जन्म-जन्मान्तरों में भी अपने कर्म के प्रतिफल को भोगता हुआ भी आपको याद करता रहूँ। यदि मैं इस भयंकर पर्वत-शिखर से भीषण गहराई मे अपने प्राणों के त्याग के लिये कूद भी पड़ूं तो हे दण्डपाणे, मुझे तनिक भी सन्ताप न हो, किन्तु मैं सतत तेरे ही पवित्र नामों को स्मरण करता रहूँ। पापों को धोने के लिये नहीं, किन्तु पापों का प्रायश्चित करते हुए मैं तुझे कभी न भूलूं। देवाधिपते, सदा तुम मेरे साथ रहना और सदा मुझ पापी के हृदय में बसे रहना। मृत्यु के समय मृत्यु के अनन्तर और अनेकानेक जन्मों में मुझे तेरे ही स्मरण का पुण्य मिले, यही एक वर चाहिये ···

श्रुतिप्रवाह-सा वेग से वह बहता जा रहा था। सहसा ही उसने पावों पर जोर दिया और लैं षण्मुखमूर्त्ते कहते हुए अथाह गहराई मे छलांग मार दी, अन्धकार की गोद मे सदा के लिये अदृश्य होने

मृत्यु की सुखद-भूमिका में सदैव के लिये विलीन हो जाने और अपने महा-पापिष्ठ-जीवन का अन्त करने···· तीव्रगति से, शून्य-वातावरण में वायु के साथ फहराते हुए अरुण की देह रसातल की ओर जा रही थी··· और वह सदा के लिये अदृश्य हो जाने वाला था · ··

उस अन्धकार में प्रकाश की किरण जागी। रसातल का सा वह मार्ग प्रद्योतित होने लगा। भयंकर वेग से गिरता हुआ अर्द्ध-मृत अरुण किसी शक्तिमय जीवन द्वारा बीच ही में संभाल लिया गया। अरुण को चेतना आई तो देखा कि साक्षात योगिराज थे काषायवस्त्रानुरंजित, योगाग्नि से दीप्त शरीर था उनका। उन्होंने ही उस ऊँचे पर्वत से आत्महत्या के लिये कूदते हुए अरुण को बचा लिया था, अपनी योग शक्ति द्वारा।

अरुण भला करता क्या, पांवों पर सिर टेकता हुआ रोने लगा अपना कल्मष बहाने लगा। योगिराज बोले, अरुण, यह जीवन का अन्त नहीं है, जीवन अमर है। इस जीवन के अन्त का प्रयास करना हमारे लिये उचित नहीं। रणभूमि में हार सबको खानी पड़ती है। विजयी भी वारों से बचकर नहीं जा पाता, फिर तुम्हारी कौन कहे। तात, तुम हार कर भी जीत रहे हो। अपने जीवन को दाव पर लगाकर तुमने अनन्त-जीवन का संग करना आरम्भ कर दिया है। मृत्यु तुम्हारे लिये महापाप है। कुमार ही तो तुम्हारे सब कुछ हैं। अत. आओ मैं तुमको कुमार षडक्षर-मन्त्र देता हूँ, वह तुम्हारे जीवन का युगान्तरीय-महोदर रहेगा। वह देख, उत्तर की ओर, जहाँ उस देवाधिदेव का निवास है, तू कृतार्थ हो जायेगा ·

शब्द गम्भीर हो गये। योगी अदृश्य होगया था। अरुण ने उत्तर की ओर देखा तो तेजपुंज योगी की मूर्ति देवसेनापति कार्तिकेय के रूप में आवर्तित होती जा रही थी। वह योगी नहीं, किन्तु साक्षात् शंकर के तारकासुरसंहारक पुत्र षडानन थे, जिन्होंने उसको पर्वत से गिरते हुए बचाया था। अरुण ने देखा, रो पड़ा, नेत्रों से जलाशय का जन्म हुआ और उस जलाशय में ज्ञानरूप कमल खिलने लगे, सुन्दर और अतीव-सुन्दर। अरुण अब सन्त अरुणगिरि हो गया, अमर गीतों को गाने वाला, ईश्वर प्रेम में दीवाना।

\+ \+ \+

आज शताब्दियों के बीत जाने पर भी योगी अरुणगिरि की कथा दक्षिण में घर घर गाई जाती है। वह भी घर घर गया था, गांवों गांवों में जाकर उसने भगवान् षण्मुख की महिमा के गीत गाये। जनता उसके पीछे भागी जाती थी, उसके गीतों को सुनकर उसके रोते हुए कण्ठ से भक्ति के उद्‌गारों को निकलते हुये देखकर। उसके गीत दक्षिण में घर-घर गाये जाते हैं, पूजा-पर्व के समय, ईश्वर चिन्तन के समय। मर्मस्पर्शी जीवन का नायक अरुणगिरि वह प्रसिद्ध सन्त हुआ, जिसने मनुष्य जीवन में नवीन प्राण संचारित किये, भक्ति पन्थ में नवीन सौन्दर्य धारा बहाई और अपने आह्लामृत से असंख्य आतप्तों को शीतल किया, शान्त किया। और सुखी भी किया। वह तिरुपुगल का गायक आज भी हमारे जीवन पथ पर प्रकाश प्रसारित किये हैं, जिसमें हम पथ पर निरन्तर बढ़ते जाँय और अपनी दीर्घ यात्रा की पूर्ति करें····· अनन्त-सुखात्मक-कैवल्यधाम में निवास करें।

क्षमा-याचना

निरन्तर अतिवृष्टि के कारण प्रेस भवन विशीर्ण हो गया था। अतएव विवशतया इस अङ्क के प्रकाशन में विलम्ब हुआ। आशा है अनुग्रही ग्राहक महानुभाव अपरिहार्य इस अपराध को अवश्य क्षमा करेंगे।

व्यवस्थापक

सत्संग-समाचार

श्री तुलसी-जयन्ती महोत्सव
मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर

श्री तुलसी-जयन्ती महोत्सव श्रावण शुक्ला सप्तमी सोमवार सं० २०१० वि० को स्थानीय आश्रम की ओर से बड़े समारोह के साथ पूज्य श्री स्वामी सदानन्द सरस्वतीजी के तत्वावधान में मनाया गया। जिसमें यथा विधि श्री रामचरितमानस जी के अखण्ड परायण के साथ साथ भगवन्नाम कीर्तन एवं धर्मोपदेशपूर्वक कवि सम्राट् श्री गोस्वामी जी के जीवन चरित्र पर विविध विद्वानो द्वारा पूर्ण विवेचनात्मक प्रकाश डाला गया।

इस पुण्य पर्व में स्थानीय शिक्षाप्रेमी जनता ने पर्याप्त संख्या में सम्मिलित होकर जो सफलता प्रदान की आश्रम के अधिकारी इसके आभारी एवं कृतज्ञ हैं।

श्री गुरु पूर्णिमा महोत्सव मैनपुरी

इस वर्ष यह उत्सव दिनांक २४, २५, २६ जुलाई को श्री एकरसानन्द आश्रम मैनपुरी मे बड़े समारोह के साथ मनाया गया। विभिन्न प्रान्तों के सहस्रों भावुक भक्तों अनेकों वीतराग सन्त महात्माओं एवं उपदेशक विविध विद्वानों ने पधारकर महोत्सव को पूर्ण सफलता प्रदान की।

सन्त महात्माओं एवं आगत भक्त समाज ने यथाविधि शास्त्रीय पद्धति से श्री गुरुदेव भगवान् का षोडशोपचार पूजन पूर्वक श्रद्धेय सन्त विद्वानों के धर्मोपदेश का पूर्ण आनन्द लिया यद्यपि सामयिक वर्षा के कारण उपस्थित जनसाधारण को कुछ कष्ट भी रहा ही किन्तु श्रद्धालु सज्जनों ने इसकी कोई अपेक्षा नहीं की तथा प्रत्येक कार्यक्रम में पूरा-पूरा भाग लिया।

स्थानीय चित्रगुप्त उच्चतर महाविद्यालय के स्काउट छात्रों तथा आश्रम के श्रमशील ब्रह्मचारियों एवं कर्मचारियों की सेवा सराहनीय थी, स्टेशन पर स्वागत हाल कमरे मे पंखों, साइकिलों एवं (जूतों) पादत्राणों के सुप्रबन्ध की उपस्थित जनता ने भूरि भूरि प्रशंसा की। बालकों का यह सेवा कार्य सम्बन्धी उत्साह अतीव प्रसन्नता सूचक था।

आगत भक्तजनों ने भी यथा शक्ति प्रबन्ध कार्य में समुचित सहायता दी इसके लिये आश्रम के अधिकारी उनके आभारी हैं।

प्रेषकः—रामगोपाल सक्सेना, मैनपुरी

श्री गायत्री—माहात्म्यम्
मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर

दिनाङ्क २० अगस्त को "अखण्ड ज्योति" के सम्पादक आदरणीय आचार्य श्री प० श्रीराम शर्मा जी मथुरा से पधारे।

सायम् ५ बजे श्री गायत्री अनुष्ठान का लक्ष्य लेकर रचनात्मक शैली मे परम गम्भीर प्रवचन किया। तथा आश्रम के दिव्यधामान्तर्गत साधन कुटीर में निवास किया एवं वहाँ के शान्त सात्विक वातावरण से पर्याप्त प्रभावित हुए और उस रम्य स्थल को अनुष्ठानोपयोगी बतलाते हुये आश्रम की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

नागरिक दैनिक सत्संग परायण अनुष्ठान प्रेमी जनता ने अधिक संख्या मे सम्मिलित होकर प्रवचन से पूर्ण लाभ प्राप्त किया।

श्रावणी (उपाकर्म) प्रयोग

श्री शुभ श्रावण शुक्ला पूर्णिमा सोमवार को मुमुक्षु आश्रम में श्री केदारेश्वर भगवान् के सम्मुख "सत्संग सरोवर" में विधिवत् उपाकर्म प्रारम्भ हुआ। उक्त "सरोवर" निर्मल जल से परिपूर्ण था। नगर के प्रसिद्ध कर्मठ पण्डित श्री भोलानाथ जी एवं श्री प० छोटेलाल जी आदि के सहयोग मे श्री पं० श्रीनाथ जी त्रिपाठी व्याकरणसाहित्याचार्य धर्म शास्त्री एम० ए०, के आचार्यत्व में स्थानीय धर्म प्रेमी द्विज वर्ग एवं आश्रम के गुरु जनों सहित ब्रह्मचारियों द्वारा साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हुआ। आश्रम की परमपुनीत यज्ञशाला मे अरुन्धती सहित ऋषि पूजन, तर्पण, हवनादि कृत्य सानन्द सम्पूर्ण हुए। हेमाद्रि स्नान, गण स्नान आदि अवसरों पर सुखद सरोवर की शोभा वर्णनातीत थी।

पं० प्यारेलाल शर्मा

ग्राहक महानुभावों से विनम्र निवेदन

श्रीमन्महोदय !

पत्र व्यवहार में अपनी ग्राहक संख्या लिखने का पूरा पूरा ध्यान रखें, अन्यथा कार्यालय की ओर से पत्रोत्तर में विलम्ब होना अवश्यम्भावी है। एवं सहस्रों ग्राहकों की नामावली पढ़ने में कार्यालय की कार्य हानि होती है। तथा "राइपर" पर लिखे हुए अपने नाम सहित पूरे पते को ध्यान पूर्वक पढ़लें, और यदि उसमें कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों तो पत्र द्वारा निर्देश करने की अवश्य कृपा करें, ताकि भविष्य में सुधार होजावे।

विशेष-सूचना

"परमार्थ" ने चार वर्ष के अपने शैशव काल में जनता-जनार्दन की जो आध्यात्मिक सेवा की है एवं प्रसाद गुण प्रधान भाव गाम्भीर्य भरी भाषा द्वारा भावुक भक्तों के हृदय में जो विशेष स्थान प्राप्त किया है इस लोक-प्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है इसकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ग्राहक संख्या।

किन्तु अपनी विशाल भावनाओं के प्रसार में परायण "परमार्थ" का कार्य क्षेत्र भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है तदनुसार द्रव्य की सहायता भी अत्यधिक अपेक्षित है। जिसकी अनायास पूर्ति का साधन है धर्मानुरागी उदार-मना धनी मानी सज्जनों की सदस्यता।

इस मास में जिन दान वीरों ने इसमें आर्थिक सहयोग दिया है नीचे लिखे ब्यौरे के अनुसार है। आशा है अधिकाधिक संख्या में इस पत्र की आजीवन सदस्यता द्वारा सहायता करने की अवश्य कृपा करेंगे। जो सज्जन न्यूनातिन्यून १०१) रुपये की सहायता प्रदान करेंगे वे इसके निःशुल्क आजीवन ग्राहक एवं सदस्य समझे जावेंगे।

५००) श्री साहू रामस्वरूप जी, बरेली।
१०१) श्री ला० शान्तिस्वरूप जी खण्डसारी, बरेली।
१०१) श्री सेठ हनुमान प्रसाद जी डालमियाँ, बम्बई।
१०१) श्री पं० निरंजनलाल जी भगानिया, वकील झरिया।

सचित्र मासिक-पत्र

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापकः—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादकः—

स्वामी सदानन्द सरस्वती,

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सहायक सम्पादकः—

सर्वश्री प० श्रीनाथ त्रिपाठी व्याकरण साहित्याचार्य धर्म शास्त्री एम, ए०, रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, प० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री साहित्यरत्न, रामशंकर वर्मा एम० ए० साहित्यरत्न,

शुभ-सन्देश

वन्धुओ !

आपको यह जानकर परम हर्ष होगा कि सहृदय मानव समाज के मानस पटल पर दैवी गुणों का प्रकाश डालकर सच्चे सुख एवं शान्ति का सञ्चारक "परमार्थ" पत्र अपने शैशव के पञ्चम वर्ष में प्रवेश करते समय (१५ जनवरी १९५४ ई०) विशेषाङ्क "चरित्रनिर्माणाङ्क" प्रकाशित करने जा रहा है। जिसकी विषय-सूची इसी पत्र के पृष्ठ भाग पर अङ्कित है। जिसको पढ़कर आप भलीभाँति समझ सकेंगे, कि यह विशेषाङ्क साम्प्रतिक विषैले वातावरण से कलुषित-अन्त करण प्राणियों को सदाचार, सद्विचार की ओर आकर्षित एवं अग्रसर करने में पूर्णतया उपयोगी सिद्ध होगा।

क्योंकि नैतिक पतन के गम्भीर गर्त में गिरती हुई गौरवानुगामिनी दीन जनता के अपूर्व उत्थान का समुचित, समयोपयोगी, सरल एवं सुदृढ़ साधन है "चरित्रनिर्माण"। राजनैतिक, समाजिक एवं धार्मिक उलझनों को सुलझाने का सुगम उपाय है, चरित्रनिर्माण। दैविक, दैहिक एवं भौतिक इन त्रिविध तापों से सन्तप्त सद्गृहस्थों को सुख शान्ति का अनुभव कराने का मूल मन्त्र है "चरित्रनिर्माण"।

स्वतन्त्र भारत की भावी राष्ट्रिय नौका की कर्णधार हमारी सन्तान को सुशील, सत्यसेवी एवं सभ्य नागरिक बनाने की प्रारम्भिक भूमिका है "चरित्रनिर्माण"।

चरित्रनिर्माण ही की आधार शिला पर आश्रित भारत की प्राचीन सभ्यता विश्व का आदर्श बनकर रही, जैसा मनु का कथन है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः । स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ॥

अतएव सुप्रसिद्ध वीतराग सन्त महात्माओं के सदुपदेशों, वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण एव दर्शनों मे प्रतिपादित आर्ष सिद्धान्तों, विख्यात विविध विद्यावागीश विद्वानों के सारगर्भित निवन्धों, राजनीति के मर्मज्ञ अनुभवी महान् विभूतियों के हृदयोद्गारों, नैष्ठिक कर्मठ भावुकभक्तों के भक्ति पूर्ण भावों तथा अनेकों रग विरंगे सुन्दर मधुर मनोहर चित्रों से परिपूर्ण एव सुसज्जित यह विशेषाङ्क ग्राहक महानुभावों के कर कमलों में यथा समय सप्रेम समर्पित किया जावेगा।

परम उपादेय एव शान्ति सन्तोष संचारक इस चरित्रनिर्माणाङ्क के सहित वर्ष के सम्पूर्ण अङ्कों का मूल्य गत वर्ष की भाँति केवल ४॥) ही होगा एव केवल विशेषाङ्क का मूल्य ३॥) होगा।

व्यवस्थापक—
परमार्थ मासिक पत्र
पो० मुमुक्षु आश्रम (शाहजहाँपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

पुरुषार्थी मासिक-पत्र

के पञ्चम वार्षिक विशेषाङ्क

चरित्र निर्माणाङ्क की विषय-सूची

महा काली

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तुनिरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ सितम्बर १९५३ भाद्रपद सप्तमी मङ्गलवार, सम्वत् २०१० | अङ्क—९

माँ जगदम्बे !

चण्ड मुण्ड से प्रचण्ड शत्रुओं के क्षण ही में,
होकर कृपाण पाणि प्राण हरती हो माँ !
दीन हीन कृशकाय असहय निरुपाय,
भक्त हृदयों में भक्ति व्यक्त करती हो माँ !
कृत क्रियमाण औ करिष्यमाण कर्मजन्य,
पावन प्रताप से त्रिताप हरती हो माँ !
कवियों के रिक्त लघु हृदयघटों के मध्य,
सुखद सुकाव्य सुधा सिन्धु भरती हो माँ !

(श्री श्रीनाथ जी त्रिपाठी आचार्य, एम० ए०)

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—हवा का संग करने से धूलि आकाश में उड़कर लोगों के मस्तक पर आसीन होती है और वही धूलि नीच जल के संग से कीचड़ बन जाती है लोग उसमे पैर डालना भी पसन्द नहीं करते। इसी प्रकार, याद रक्खो, सत्पुरुषों का संग करोगे तो इस लोक में तो मान प्रतिष्ठा सुख ऐश्वर्य की प्राप्ति होगी ही, साथ ही परलोक भी सुधर जायगा, और यदि दुष्टों, नीच प्रकृति के प्राणियों का साथ किया तो यहाँ भी दुःख पाओगे और परलोक में भी नरक भोगकर कूकर-सूकर चूहा-छिपकली आदि योनियों में जन्म लेना पड़ेगा।

विचार करो—रात्रि में जब तक दीपक (लालटेन) नहीं जलाया जाता तब तक पतंगे इधर उधर दुबके बैठे रहते हैं मानों समाधिस्थ हों परन्तु ज्योंही दीपक जलाया त्योंही वे उस पर टूट पड़ते हैं। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, ये मन इन्द्रियाँ जब तक सामने विषय भोग नहीं होता तभी तक साधु बनी रहती हैं, परन्तु ज्योंही सामने विषय-भोग आया कि ये उन पर टूट पड़ती हैं। साधक वही है जो भोग उपस्थित होने पर भी उन्हें भोगे नहीं।

विचार करो—कोई अफीम खाना तो छोड़े नहीं और चाहे कि नशा न आवे तो क्या यह सम्भव है? कदापि नहीं। जानते हो नशा न हो इसके लिये उसे क्या करना चाहिये? बस केवल इतना ही कि वह अफीम आदि मादक वस्तुओं का सेवन छोड़ दे। इसी प्रकार, निश्चय रक्खो, कोई शास्त्रोक्त निषिद्ध कर्म (पाप कर्म) तो छोड़े नहीं और चाहे कि दुःख न आवे तो यह कदापि सम्भव नहीं है। यदि चाहते हो कि दुःख आवे नहीं तो दूसरों को दुःख देना छोड़दो—पाप करना छोड़दो—शास्त्रोक्त शुभ कर्म करो।

विचार करो—रूखा खाओ चाहे रसीला, पेट तो सभी से भर ही जायगा किन्तु जानते हो रसीले स्निग्ध और मधुर पदार्थों में स्वाद विशेष होता है। इसी प्रकार, निश्चय रक्खो, भगवान को काम से, द्वेष से, भय से, प्रेम से कैसे भी भजो संसार से मुक्त तो हो जाओगे, किन्तु विशेष रस की प्राप्ति तो प्रेम मार्ग में ही होगी।

विचार करो—पित्त के रोगी को मिश्री कड़वी लगती है परन्तु जानते हो पित्त की औषधि भी तो मिश्री ही है। नित्य मिश्री के सेवन से पित्त विकार चला जाता है। इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, कथा सत्संग, भजन में मन न लगना तो स्वाभाविक ही है। परन्तु कथा-सत्संग-भजन में मन लगाने का साधन भी कथा-सत्संग, भजन ही है। इच्छा-अनिच्छा से लगे रहो—यही करते रहो—मन स्वयमेव लग जायगा।

विचार करो—कुत्तों के बीच में एक रोटी का टुकड़ा डाल दो। जानते हो क्या होगा? रोटी का टुकड़ा ज्यों का त्यों पड़ा रहेगा और कुत्ते आपस में लड़ करके लहु लुहान हो जायेंगे। इसी प्रकार, सोचो तो, क्या वे कुत्तों के समान नीच नहीं, जो एक तुच्छ से भोग के लिये लड़ते हैं—मुकदमे में हजारों रु० खर्च कर देते हैं।

एक महात्मा के सत्संग से

प्रश्न—जब हमारा वास्तविक "अपना-आप" आनन्द स्वरूप है तो हमें अनेक प्रकार के दुःख और बन्धन क्यों होते हैं? हम सदा सुखी और मुक्त ही क्यों नहीं रहते?

उत्तर—सांसारिक विषयों से होने वाले दुःख अथवा सुख का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है। सुख की अपेक्षा से दुःख अथवा दुःख की अपेक्षा से सुख प्रतीत होता है। इससे सिद्ध होता है कि सुख और दुःख दोनों ही झूठे हैं। यदि ये सच्चे होते तो प्रत्येक अपने ही आधार पर यानि स्वतन्त्र रूप से सदा बने रहते। इसके अतिरिक्त सुख और दुःख की अवस्था कभी स्थिर नहीं रहती, और न किसी पदार्थ में सुख अथवा दुःख सदा इकसार बना रहता है। किसी अवस्था में कोई पदार्थ सुखदायक प्रतीत होता है, दूसरी अवस्था में वही पदार्थ महान दुःखदायक हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था में सुख-दुःख का कुछ भी अनुभव नहीं होता, और सुषुप्ति अवस्था प्राणिमात्र के लिये जाग्रत और स्वप्न दोनों से बहुत बड़ी होती है। आत्मज्ञान की तुरीय-अवस्था और योग की समाधि-अवस्था में भी सुख-दुःख का भान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि सुख-दुःख दोनों ही मिथ्या हैं। इसके अतिरिक्त जिस वस्तु में हमारी जैसी भावना होती है वह वैसी ही सुखदायक अथवा दुःखदायक बन जाती है। हम अपनी ही खुशी से और अपने ही मन के संकल्प से सुख और दुःख की कल्पना से रहित हो सकते हैं। फिर सुख-दुःख जरा भी न रहेंगे। हमारा वास्तविक "अपना-आप" तो स्वभाव से ही इन सुख दुःखों से रहित स्वतः आनन्द स्वरूप है।

नाना भाँति के बन्धन भी हमने अपनी इच्छानुसार व्यक्तित्व के अहंकार से कल्पित कर लिये हैं। यदि हम चाहें तो उनको फौरन हटा सकते हैं, क्योंकि हमारा वास्तविक "अपना-आप" (Self= आत्मा) तो स्वभाव से ही मुक्त है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सुख तो सब चाहते हैं, परन्तु दुःख की इच्छा कोई नहीं करता, फिर दुःख हमने स्वतः कैसे उत्पन्न कर लिये? इसी तरह बन्धन में भी कोई नहीं रहना चाहता, फिर बन्धन हमने स्वयं कैसे उत्पन्न कर लिये? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि यद्यपि हम अपने लिये दुःख और बन्धन नहीं चाहते, परन्तु यह बात भी बिल्कुल सत्य है कि दुःख और बन्धन हमने स्वयं ही उत्पन्न किये हैं और कर रहे हैं, और उनसे अलग होना नहीं चाहते। पहिले कह आये हैं कि सांसारिक पदार्थों का सुख और दुःख दोनों सापेक्ष हैं, एक का होना दूसरे पर निर्भर है, एक के होने के लिये दूसरे का उतनी मात्रा में होना अनिवार्य है। जितनी मात्रा में एक उत्पन्न होता है उतनी ही मात्रा में दूसरा साथ ही उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि यों कहें तो अनुचित नहीं होगा कि ये एक ही वस्तु के दो रूप हैं—एक क्रिया (action) और दूसरी उसकी प्रतिक्रिया (reaction) है, अतः ये दोनों साथ ही रहते हैं। इसलिये जब हम आनन्द स्वरूप अपने आपको भूलकर सांसारिक विषयों के सुख की कामना करके उनमें आसक्ति करते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया-दुःख स्वयं उत्पन्न करते हैं। जिस सांसारिक पदार्थ का संयोग होता है, उसका वियोग होना अनिवार्य है। अतः जिसके संयोग से जितना सुख माना जाता है, उसके वियोग में उतना ही दुःख होना अवश्यम्भावी है, और इन सांसारिक सुखों की आसक्ति हम छोड़ना चाहते नहीं, अर्थात् हम सदा इन सुखों को भोगते रहने की इच्छा रखते हैं—कभी इनका वियोग सहन कर सकते नहीं, और जबकि सुख और दुःख साथ ही रहते हैं तो इससे

स्वतः सिद्ध है कि दुःखों को भी हम छोड़ना नहीं चाहते। यदि किसी को नशे आदि की आदत पड़ जाती है, तो वह उससे बहुत दुखी होता है परन्तु जब तक वह उस व्यसन को नहीं छोड़ देता तब तक वह उस दुःख से छुटकारा नहीं पा सकता। यद्यपि आदत डालना और छोड़ना उसके अधिकार में होता है।

अपने आप के साथ व्यक्तित्व के भाव की उपाधि और उस व्यक्तित्व के साथ जाति विशेष, नाम विशेष, कुल विशेष, धर्म विशेष, सम्प्रदाय विशेष समाज विशेष, निवास विशेष, पद विशेष, प्रतिष्ठा विशेष आदि अनेक प्रकार की उपाधियों के अहंकार के बन्धन और अनन्त प्रकार की कामनायें हम स्वयं अपने साथ लगाते हैं और उन विविध प्रकार की उपाधियों एवं कामनाओं के कारण अपनी आवश्यकतायें भी बहुत बढ़ा लेते हैं, क्योंकि प्रत्येक उपाधि के साथ उसकी विशेष आवश्यकतायें लगी हुई रहती हैं। अतः जितनी अधिक उपाधियाँ होती हैं उतना ही अधिक व्यक्तित्व का अहंकार और उतनी ही अधिक आवश्यकतायें होती हैं, और व्यक्तित्व के अहंकार, व्यक्तिगत आवश्यकताओं एवं कामनाओं की आसक्ति ही मनुष्यों को परवश करती हैं। फिर हमको उन उपाधियों के बन्धन और कामनाओं की परवशतायें इतनी प्यारी लगती है कि उससे ऊपर उठकर उनसे परे अपने आप के यथार्थ स्वरूप में स्थित होना नहीं चाहते, और उनसे ऊँचे उठे बिना अर्थात् उनकी आसक्ति से रहित हुये बिना बन्धनों से मुक्ति हो नहीं सकती। इससे स्पष्ट है कि हम स्वयं ही बन्धनों से मुक्त होना नहीं चाहते। जो उन उपाधियों और कामनाओं से जितना ही ऊपर उठता है अर्थात् उनमें जितनी कम आसक्ति रखता है, उतना ही वह बन्धनों से मुक्त होता है। वास्तव में सबका "अपना-आप" तो आनन्द और मुक्तस्वरूप ही है। "अपने-आप के असली स्वरूप यानी सर्वात्मभाव को भूलकर व्यक्तित्व की उपाधियों और व्यक्तिगत विषय सुखों की कामना ही में आसक्त होने से दुःख और बन्धन प्रतीत होते हैं।

चाह

नाम की न चाह धनधाम की न चाह,
नैको वाम की न चाह जाके शील को सराहिये।
मान की न चाह सन्मान की न चाह काहू,
आन की न चाह को लौं नेम निरवाहिये।
अङ्ग की न चाह रति रङ्ग की न चाह नीके
दृग की न चाह कहो काते दुःख दाहिये।
मोहि दिन राति और बात की न चाह,
एक नन्द के किशोर की कृपा की कोर चाहिये।

(श्री श्रीनाथ जी आचार्य एम० ए०)

साधन विज्ञान

(लेखक साधुवेश में एक पथिक)

मनुष्य जब तक नाम रूपात्मक जगत् के मूल में रहने वाले परात्पर परमाधार परमात्मा मे ही बुद्धि स्थिर करके निवास नहीं करता तब तक परम शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता। उसे सुख की तृष्णा वश किसी न किसी अभाव से दु.खी रहना पड़ता है। सभी प्रकार के अभाव की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति एक मात्र परमात्मा के योगानुभव होने पर ही होती है।

परमानन्द स्वरूप परमात्मा के योगानुभव से सांसारिक पदार्थों के सयोग-वियोग जनित सुख दु.ख के बन्धन कट जाते हैं। सासारिक सुखों तथा दु.खों का बन्धन ही जीव को सत्यानन्द धाम की ओर बढ़ने नहीं देता। अब प्रश्न उठता है कि परमात्मा का योगानुभव कैसे हो, तो इसका साधन परमात्मा के प्रति प्रगाढ़ भक्ति है। इस प्रकार की भक्ति का साधन प्रगाढ़ ध्यान है। ध्यान वही है जो बिना किये ही स्वतः होता रहे, इस प्रकार के ध्यान का साधन प्रगाढ़ प्रेम है, प्रेम होने पर ही स्वयमेव ध्यान रहा करता है। और प्रेम वह है जिससे प्रेमास्पद देव के अतिरिक्त अन्य किसी के लिये हृदय में स्थान न रहे, अपने तन, मन के सुख दु.ख का भी ध्यान न रहे। इस भाँति के प्रेम का साधन परम प्रभु की अनन्त कृपा दया एवं उनके अनन्त सौन्दर्य माधुर्य और महदैश्वर्य का समुचित ज्ञान है। सांसारिक सम्बन्धियों मे जिसकी जितनी अधिक सुखमय कृपा का आस्वादन होता है- उतनी ही अधिक उस सम्बन्धी से प्रगाढ़ प्रीति होती है। इसी प्रकार परमात्मा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होने के लिये प्रेमी को उनकी अहैतुकी कृपा एवं सभी प्रकार की महत्ता का ज्ञान-प्राप्त करना चाहिये। अनुभव करना चाहिए कि हम चतुर्दिक् से उसी परमानन्द-स्वरूप तत्व से घिरे हुये उसी में नित्य सुरक्षित हैं और उसकी सत्ता में रहते हुये हम कितने ही जन्मों से विविध कामनाओं की पूर्ति करते रहते हैं उनसे विमुख रहकर फिर भी उनसे ही नित्य शक्ति पाते हैं हमसे अगणित अपराध होते आ रहे हैं फिर भी वे दयामय प्रभु हमारा कभी त्याग नहीं करते। इस प्रकार जितना ही उनकी कृपा का मनन-चिन्तन होता है उतना ही उनसे प्रेम बढ़ता जाता है, निष्कर्ष यह निकला कि प्रभु के प्रेम का साधन, सत्य ज्ञान है, ज्ञान का साधन सूक्ष्मदर्शी बुद्धि और ज्ञान प्रकाशक गुरुदेव के प्रति सात्विक श्रद्धा है। कदाचित किसी की बुद्धि मन्द हो तो ज्ञानी महापुरुष का सग करते हुये अधिक काल तक ज्ञान नहीं बढ़ता और यदि किसी की बुद्धि तीव्र हो किन्तु गुरुदेव के प्रति श्रद्धा दृढ़ न हो तो भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। क्योंकि श्रद्धा के अभाव में अपने सीमित ज्ञान का अभिमान आगे नहीं बढ़ने देता, अत. शुद्ध ज्ञान के लिये ज्ञानी गुरुदेव के प्रति श्रद्धा और तीक्ष्ण बुद्धि दोनों का होना आवश्यक है।

श्रद्धा एव तीक्ष्ण बुद्धि होने का साधन, सन्त महापुरुषों का सुसंग है क्योंकि संग के अनुसार ही बुद्धि बनती है, बुद्धि की योग्यतानुसार ही न्यूनाधिक ज्ञान होता है। मनुष्य को अपने जन्म के साथ ही किसी न किसी प्रकार का संग मिला है, जिस प्रकार के भाव, विचार भाषा और भूषा वाले व्यक्तियों के संग में मानव जीव को रहना पड़ता है उसी प्रकार के भाव विचार. भाषा भूषा अभ्यास उसमें दृढ़ हो जाता है। दैव योग से यदि किसी को जन्म लेने के साथ ही सत्यदर्शी ज्ञानी महात्माओं का सग सुलभ हो जाय तो निःसन्देह उसी का प्रभाव जीवात्मा पर दृढ़ होगा। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि

संग की सिद्धि शरीर मात्र की समीपता से नहीं अपितु शरीर के साथ ही इन्द्रिय मन और बुद्धि के संयोग से है।

ज्ञानी सन्त महात्माओं के सुसंग का साधन सञ्चित पुण्य और भगवत्कृपा है। मन्द भागी को सन्त महात्माओं का समागम सुलभ नहीं होता, पाप बाधक बना करते हैं। जिस पुण्य से सन्तसमागम एवं भगवत्कृपा होती है उस पुण्य की प्राप्ति का साधन दूसरों की निस्काम भाव से सेवा करना एवं परोपकार करना है।

सेवा करते हुए मानव को अभिमान एवं अहंकार से सावधान रहना चाहिये। अहंकार वह भयानक अपराध है जो किसी प्रायश्चित से दूर नहीं होता इसके लिये तो एक मात्र विनम्रता ही साधन है। विनम्रता प्राप्ति का साधन भगवान् की ही शक्ति का अपने भीतर बाहर अनुभव करते रहना है।

सेवा करने वाले में कष्ट सहिष्णुता विनम्रता अटूट धैर्य और विशुद्ध प्रीति जब तक न होगी तब तक सेवा पूर्ण नहीं हो सकती।

उपरोक्त सद्गुणों के लिये विवेक पूर्वक संयम करना होगा। संयम से शक्ति का सञ्चय होता है, शक्ति सम्पन्न व्यक्ति ही सद्गुण सम्पन्न होकर सेवा परायण हो सकता है। दोषों का त्याग ही सद्गुण सम्पन्न होने का साधन है। सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति ही परमात्मा का अनुभव कर सकता है क्योंकि निर्दोष जीवन ही परमात्मा को अत्यन्त प्रिय एवं भगवान् को पाने में समर्थ होता है प्रेममय परम प्रभु से मिले बिना जगत् से कुछ भी पाकर मानव परम शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता सर्वभावेन दोषों का त्याग ही परम शान्ति की प्राप्ति का साधन है। और दोनों के त्याग तथा दैवी गुणों के विकास के लिये यह मानव जीवन ही साधन है।

पाठकों को गम्भीरता पूर्वक विचार करना चाहिये। अधिकतर साधक विविध प्रकार की साधना करते हैं फिर भी साधन का अर्थ नहीं समझते। वास्तव में जिसके द्वारा कोई वस्तु प्राप्त की जाय उस वस्तु की प्राप्ति का साधन उसी को कहना चाहिये। जैसे कि वाणी के द्वारा नाम उच्चारण किया जाता है इसलिये नामोच्चारण का साधन वाणी है; इसी प्रकार उच्चारित वाक्य ग्रहण का साधन श्रोत्र है, रूप ग्रहण का साधन नेत्र हैं; स्पर्शानुभूति का साधन त्वचा है, किसी को अपना मानने और उसी का स्मरण मनन करने का साधन मन है, जिसको अपना माने अथवा जिसके नाम रूप गुण स्वभाव का मनन करे उसके तत्वतः रूप को जानने का साधन बुद्धि है।

बुद्धि से ही जगत् और जगदाधार परमात्मा का तत्वतः ज्ञान होता है। तत्वतः ज्ञान होने पर असत् से विराग और सत् से अनुराग होता है। सत् और असत् से मिलने का साधन सीमित अहं है, अहं का अर्थ, 'हम' अथवा 'मैं' है, 'हम' ही जगत के नाम सूत्र से मिल कर अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि से मिल कर तद्रूप हो जाता है, यह 'हम' ही सब का संगाभिमान छोड़कर परमाधार परमात्मा से मिलकर भक्त अथवा समस्त बन्धन से मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह निकला कि जिस जीवन रूप साधन के द्वारा हम जगत से मिले हैं उसी जीवन रूप साधन के द्वारा ही हम जगदाधार परमात्मा से मिल सकते हैं।

प्रायः कुछ लोग भगवद् नाम जप, कीर्तन मात्र को ही भगवद् प्राप्ति का साधन मान बैठते हैं उन्हें समझना चाहिये कि कीर्तन, जप के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ करना पड़ेगा।

हमें सर्वाङ्गों द्वारा भगवान् की ओर बढ़ना होगा। हमारा कोई भी अङ्ग यदि भगवद् समर्पण से बच रहेगा तो वह संसार से ही आबद्ध रहेगा।

उतने अङ्गों में हम भगवान् के योग से वंचित ही रहेंगे अतः समग्र जीवन के द्वारा ही हम पूर्ण परात्पर प्रभु का योगानुभव कर सकेंगे गुरुदेव की समीपता में रहकर ही हम समग्र जीवन को परम प्रभु की प्राप्ति का साधन बना सकते हैं। सद्गुरु सग से वञ्चित रहकर प्रायः हमारे साध्य के बीच में साधन ही बाधक बन जाता है। कहीं कहीं पर साधक साधन को ही साध्य बना बैठते हैं साधना के अभिमानी बनकर रस लेते रहते हैं। ज्ञानी गुरु ही साधन सम्बन्धी भ्रान्ति को दूर करने में समर्थ है अतः साधक को साध्य तथा साधन का समुचित विवेक प्राप्त करना चाहिये। सच्चा साधन वही है जो साध्य से मिला दे। जिन साधनों से जगत् को पकड़ रक्खा है उन्हें पहले स्ववश करो और पुनः उन स्ववश साधनों से परम प्रभु परमात्मा के योगी बनो।

श्री सद्गुरुदेव

(गतांङ्क से आगे)

(श्री मञ्जुल जी)

सराय प्रयाग आश्रम पर निवास करते हुए आप का साधन भजन का कार्य्य-क्रम दृढ़ता के साथ चलने लगा, आप के प्रेममय व्यवहार और अनुभव पूर्ण उपदेशों की चर्चा चारों ओर चल पड़ी, दैहिक दैविक भौतिक तापों से सतप्त हुए अनेकों प्राणी आप के पास पहुँचकर अपूर्व शान्ति लाभ प्राप्त करने लगे दूर दूर से भावुक भक्तजन तथा जिज्ञासु लोग अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर रहे थे। शारीरिक व्याधियों से ग्रसित दुःखी प्राणी समय-समय पर आप के आश्रम में आकर आप की औषधियों से अद्भुत लाभ प्राप्त कर रहे थे।

पर उपकार वचन मन काया।
सन्त सहज स्वभाव सगराया॥

पूज्यपाद श्री गोस्वामी जी महाराज की रामचरितमानस में कही हुई यह उक्ति आप के चरित में सर्वथा घटित होती थी। पुण्य सलिला भागीरथी के पावन प्रवाह की भाँति आप की वाणी सभी प्राणियों के मानस को निर्मल बनाती हुई अपूर्व सुख शान्ति प्रदान करती थी। दिन रात आप सबको सुख पहुँचाने का प्रयत्न करते थे।

माघ का महीना था, सर्दी कड़ाके की पड़ रही थी। एक ओर भगवान भुवन भास्कर दिन में अपनी मंद मंद किरणों से ससकोच जगती को निहारते हुये धीरे-धीरे पश्चिमाचल में छिपने जा रहे थे, दूसरी ओर विलासी जन प्रिया रजनी अपनी सहचरी सध्या को अम्बर की थाली में अरुण वर्ण कुकुम सजाकर अपने निशानाथ के स्वागतार्थ प्रेषित करने लगी। विमल विधु ने अपनी प्रियतमा का स्वागत स्वीकार किया। अपनी विमल किरण माला से संध्यानुगामिनी प्रियतमा विभावरी को चतुर्दिक से आलिंगन करते हुये समोद अक में भर लिया, चारुचन्द्र की चाहचातुरी देखकर साश्चर्य्य विमुग्ध भाव से निर्निमेष उसकी ओर निहारने लगी। कौमुदी खिलखिलाकर हँस पड़ी, विलासी जनों को विपुल विलास सुपास मिला किन्तु साथ ही दारिद्र्य दावानल में दग्ध हुये दीन दुःखियों पर शीत का निठुर प्रहार प्रारम्भ हो गया। वे ज्यों ज्यों अपने शीत प्रकंपित गात्रों को अपने जीर्ण शीर्ण वस्त्र खण्ड मे समेटते हुए सत्वर प्रभात भानुदय की प्रतीक्षा कर रहे थे त्यों-त्यों रंक दु:खदायिनी मयंकमयी निशा शनैः शनैः अपने पैर पसारती जा रही थी। विधाता

का विधान विचित्र है विश्व की एक ही वस्तु अपने प्राक्तन कर्मानुसार प्रत्येक प्राणी को सुख-दुःख द्वन्द्वों में परिणत होकर समय-समय पर सुख दुःखदायक प्रतीत होती है।

श्री महाराज जी अपनी कुटिया मे लेटे हुये थे। अर्धरात्रि का समय था सहसा किसी शीत प्रकम्पित दुखिया जन का करुणा पूर्ण शब्द "बाबा जी" आप को सुनाई पड़ा, आप तत्काल ही उठकर कुटिया का द्वार खोलकर बाहर आये। आप ने देखा कि एक अन्धा दीन दुखी जिसके वस्त्रों से दुर्गन्ध आ रही थी शीत से काँपता हुआ रोरोकर आप को पुकार रहा है शीत की अधिकता के कारण उसका सारा शरीर काँप रहा है, आप उसके निकट पहुचकर बड़े प्रेम से पूछने लगे, प्यारे इतने घोर शीत में इस समय तुम कहाँ से आ रहे हो, तुम्हारे पास तो ओढ़ने के लिये कोई वस्त्र भी नहीं। तुम्हारे वस्त्र से दुर्गन्धि क्यों आ रही है मुझे बतलाओ ? मैं यथा सम्भव तुम्हारा दुःख दूर करूँगा। आप के प्रेम भरे शब्दों को सुनकर उसे कुछ धैर्य हुआ उसने रोते हुये अपनी दुःखमयी गाथा कहना प्रारम्भ की बाबा जी! मैं अन्धा आदमी हूँ जाति का चमार हूँ। दिन भर इधर उधर भटककर जो कुछ माँग लेता हूँ उसी रूखे सूखे अन्न से अपना पेट भर लेता हू। मुझे कोई अपने द्वार पर बैठने नहीं देता कोई विरले दयावान सज्जन मुझे रोटी दे देते हैं। कल दिन में ऐसे ही एक सज्जन पुरुष ने मुझे कुछ बासी सूखी रोटियों के टुकडे लाकर दे दिये। मैंने उनको खा लिया न जाने मेरे किस जन्म के पापों का फल ऐसे भयानक दुःख रूप में उदय होने को था कि जिसके कारण उन रोटियों के टुकड़ों को खाते ही मुझे भयानक अतिसार रोग प्रारम्भ हो गया। घड़ी-घड़ी पर दस्त आने लगे यहाँ तक कि मेरे ओढ़ने का जो टाट है उसमे भी विष्टा भर गई, शरीर में मल लगा रहने के कारण दुर्गन्ध जोर से आने लगी। मुझे मार्ग सूझता नहीं है, जैसे तैसे करके मैंने एक दो सज्जन के द्वार पर जाकर पानी माँगने का प्रयास किया किन्तु लोगों ने मुझे ढेले मारकर भगा दिया, ढेलों की मार से मेरे शरीर में कई जगह असह्य पीड़ा हो रही है। मुझ दीन दुखियों को कोई एक लोटा जल नहीं देता जिससे मैं अपने शरीर को मल धोकर स्वच्छ कर सकूँ। जल के स्थान पर दिन भर फटकार दुतकार तथा ढेलों की मार सहता हुआ तथा अपने इस दुर्भाग्य पूर्ण दिन के महान कष्टों को भोगता महाराज ? मैं इस अर्ध रात्रि में अचानक आप की कुटिया के पास आ गया, यहाँ आते ही मुझे कुछ शान्ति मिली है। आप इस दुःखी अंधे की सहायता अवश्य ही कर सकेंगे। इस आशा से मैंने इस अर्ध रात्रि में आप को पुकारा है आप कृपा करके मुझे जल दीजिये। उसकी बात सुनकर आप का हृदय प्रभावित हो गया।

आपने कहा प्यारे घबड़ाओ नहीं मैं अभी तुम्हें जल देता हूँ, वस्त्र देता हूँ, पहले जल से तुम अपने हाथों को धोकर साफ करो। इतना कह कर आप कुटिया के अन्दर से रस्सी और बाल्टी उठा लाये, तत्काल ही कुयें से जल निकाल कर उसके हाथ धुलाये, शरीर मे जहाँ कहीं विष्टा लगी थी उसको धीरे धीरे धुलवाकर साफ कराया, तत्पश्चात् तत्काल ही आप कुटिया से एक अचला और एक कम्बल उठा लाये, उसे देते हुए आपने उससे कहा कि प्यारे लो तुम इस कपड़े को पहन लो और अपने कपड़े उतार कर रखदो और यह कम्बल ओढ़लो, मैं तुम्हारे कपड़े अभी धोये देता हू, प्रातः काल तक ये कपड़े सब सूख ही जावेंगे। उसने रोते हुए कहा कि महाराज आप मेरे कपड़े न धोइये, मैं स्वयं धोलूँगा, आप जल देदीजिये आपने कहा नहीं-नहीं तुम्हारा शरीर शीत के कारण काँप रहा है, अस्तु तुम पहले अपने कपड़े उतार दो, फिर अभी अग्नि जलाता हूँ, उससे तुम अपने शरीर को सेंको

शेष कार्य्य मैं स्वयं करलूँगा, तुम संकोच मत करो, यही तो भगवान् की सच्ची सेवा है, ऐसा कहते हुए आपने झट से दियासलाई लाकर लकड़ियाँ इकट्ठी करके आग जला दी और उस अंधे को वह अचला देकर उसके कपड़े अलग रखवाये उसको कुटिया से अमृतधारा लाकर खिलाई उसके बाद उसको कम्बल ओढ़ाकर अग्नि से थोड़ी दूर लाकर बैठा दिया और उससे बोले कि प्यारे दूर से ही अग्नि तापते रहना, उसे वहाँ बैठाकर आपने पुन. एक दो बाल्टी पानी खींचकर उसके मल से सने हुये कपड़ों को धोना प्रारम्भ किया, बहुत प्रेम और प्रसन्नता के साथ उसके कपड़े में लगी हुई विष्टा धोने लगे, 'धन्य है' दयालुता ससार में—

सम्पति सम्पति जान के सबको सब कोई देय ।
दीनबन्धु बिन दीन की को रहीम सुधि लेय ॥

ससार जब अपनी सुकोमल शय्या पर सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों को लपेटे हुए सुख से निद्रा देवी की गोद में विश्राम कर रहा है तब एक सन्त दीन दुःखी अनाश्रित अन्धे की विष्ठा अपने हाथों से धोरहे हैं, इसी व्यापक सर्वात्म भावना से ही तो भगवान् सन्तों के हाथ बिके हुए हैं। जिनके हृदय में दीनों के प्रति दया नहीं दुखियों से प्रेम नहीं वह भगवन्त के प्यारे कैसे बन सकते हैं, किसी कवि ने कहा है कि—

दीनन देखि घिनात जे नहि' दीनन सो काम ।
कहा जानि ते लेत हैं दीनबन्धु को नाम ॥

आपने सर्वात्मा प्रभु दीनबन्धु के भाव से उस अन्धे के वस्त्रों को धोया, रात्रि में कई बार उसने जल माँगा आप उसको बार-बार उठकर जल देकर हाथ पकड़ कर कुटिया से दूर शौच के लिए लेजाते रहे, उसके कपड़े धोकर सुखाने के लिये डाल दिये रात्रि मे तीन चार बार उसको दवा खिलाई प्रातः काल होते होते उसके दस्त बन्द होगये, धूप निकल आने पर जब उसके कपड़े सूख गये तब वह अपने कपड़ों को लेकर बहुत सुख पूर्वक आपकी प्रशसा करता हुआ धीरे धीरे दूसरे ग्राम को चला गया।

(क्रमशः)

"भ्रम"

(श्री श्यामसुन्दर जी रावत)

एक व्यक्ति ने भेड़ खरीदी और उसे बाँधकर घर लिये जा रहा था। मार्ग में एक परिव्राजक की कुटी मिली। उस व्यक्ति को देख कर परिव्राजक ने अपने शिष्य से कहा कि देखो, भेड़ इस आदमी को बाँधे हुये है और यह समझता है कि मैं ही भेड़ को बाँधे हूँ। कुटी मार्ग के किनारे ही थी। व्यक्ति ने साधु की बात सुन ली और उसकी मूर्खता पर हँसने के लिये कुटी में प्रवेश किया।

साधु ने उससे कहा, "तुम इस भेड़ को छोड़ दो"।

"क्या मैं मूर्ख हूँ जो उसे, इस तरह छोड़ दूँ" व्यक्ति ने उत्तर दिया।

"यदि वास्तव में तुम्ही उसे बाँधे होते तो तुम उसे छोड़ भी सकते थे; किन्तु तुम उसे छोड नहीं सकते इससे सिद्ध होता है कि भेड़ ही तुम्हें बाँधे हुये है" अब तक साधु रहस्य खोल चुका था।

व्यक्ति निरुत्तर होकर चला गया।

"वत्स ! यही बात सांसारिक भोगों के विषय में है। हम समझते हैं कि हमने उन्हें भोगा किन्तु वास्तव में भोगों ने ही हमें भोग कर और निचोड़ कर काल के हवाले कर दिया।" परिव्राजक ने अपने शिष्य के सम्मुख पड़ा हुआ माया का चमकीला परदा हटा दिया था।

"समय कितना अमूल्य है"

(लेखक—पं० मदनगोपाल शास्त्री वाजपेयी)

जीवन का समय देने से तो धन सम्पत्ति आदि प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु धन सम्पत्ति आदि के देने पर भी जीवन का एक सेकेण्ड भी नहीं मिलता। ऐसे मानव जीवन का समय व्यर्थ ही नहीं खोना चाहिये। जीवन का समय बड़ी तेजी से दिन रात व्यतीत होता चला जा रहा है। तो भी मानव प्राणी को चेत नहीं होता है। मनुष्य को अपने शरीर का ही ज्ञान नहीं है, इस विषय मे होश नहीं है, इधर ध्यान ही नहीं है, ऐसे अमूल्य समय को, मानव जीवन को, सफल बनाने में ही लगाना चाहिये। भ० नारायण कहते हैं—

"गई सो गई अब राख रही को—"

रे मन क्यों भटकत फिरत, भज श्री नन्द कुमार।
नारायण अबहू सुमिर, भयो न कछू बिगार॥

सवेरे का भूला यदि शाम को घर आ जावें तो वह भूला नहीं कहा जा सकता है। मृत्यु में जो देर हो रही है वह इसलिये कि हमारे जीवन का समय शेष है—हम जी रहे हैं समय के आधार पर—बुद्धि के आधार पर नहीं, बल के आधार पर नहीं, धन सम्पत्ति के आधार पर नहीं—कितने आश्चर्य की बात है—कि बुद्धिमान होकर भी हम इतनी हानि कर रहे हैं, इस भूल का जो परिणाम होगा वह हमें स्वयं ही भोगना पड़ेगा। भर्तृहरि ने कहा है—

यावत्स्वस्थ मिदं कलेवर गृहं
यावच्च दूरे जरा
यावच्चेन्द्रिय शक्ति रप्रतिहता,
यावत्क्षयो नाऽऽयुषः।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा
कार्यः प्रयत्नो महान्
प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखनन
प्रत्युद्यमः कीदृशः॥१॥

"जब तक स्वास्थ्य ठीक है, वृद्धा अवस्था दूर है इन्द्रियों में भगवत्प्राप्ति-साधन-भजन-ध्यान करने की शक्ति है, आयु शेष है, तभी तक आध्यात्मिक उन्नति के लिये पूर्ण प्रयत्न कर लेना चाहिये, क्यों कि जब घर में आग लग जाय, तब कोई कहे कि जल्दी करो, कुआ खुदवाओ तो जल कब आयेगा" अत शीघ्र ही अपने उद्धार का उपाय करना चाहिये। खाना-पीना, ऐश-आराम और सब प्रकार के भोग तो पशु, पक्षी आदि सभी योनियों में प्राप्त होते हैं, परन्तु आध्यात्मिक उन्नति तो मनुष्य योनि में ही हो सकती है, बिना इसके तो रोना पीटना ही होगा। फिर जन्म, मृत्यु, जरा, आधि, व्याधि से ही हृदय सन्तप्त होकर अनेकों प्रकार के दुःखों का सामना करेगा।

बड़ी भूल की बात है कि हम समझते हैं कि हम भोगों को भोग रहे हैं, वास्तव में भोग हमको ही भुगता रहे हैं। यह हमारे जीवन को समाप्त कर देते हैं और चौरासी के चक्कर में डाल देते हैं। भर्तृहरि जी कहते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता
कालो न यातो वयमेव याताः
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः
तृष्णा नजीर्णा वयमेव जीर्णाः।

हमने न भोगे भोग भोगों ने हमें भुगता दिया,
काल नहिं बीता, गये बीते हमीं को बना दिया।

तप नहीं हमने किया, सन्ताप तापित हम हुए,
तृष्णा नहीं जीरन हुई, हम जीर्ण शीरन तन हुए ॥

—ऐसे अमूल्य समय का एक क्षण भी व्यर्थ खर्च नहीं होने देना चाहिये—

याद रखिये—यह सब धन सम्पत्ति आदि साथ नहीं जावेंगे—अच्छे या बुरे कर्म ही साथ जावेंगे।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
भार्या गृह द्वारि जनः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक मार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

यह धन सम्पत्ति सब भूमि में ही गड़ी रह जावेगी, सम्पूर्ण पशु हाथी, घोड़े आदि पशुशाला में बंधे रह जावेंगे, धर्मपत्नी घर के दरवाजे तक ही जा सकेगी, हितू मित्र आदि मनुष्य श्मशान तक ही जायेंगे और हमारा प्यारा यह शरीर चिता तक ही साथ देगा, परलोक मार्ग में तो भले बुरे कर्मों के साथ इस जीवात्मा को ही एकाकी जाना पड़ेगा।

"मुहैय्या गर्चे सब सामान मुल्की और माली थे।
सिकन्दर जब चला दुनिया से दोनों हाथ खाली थे॥"

ॐ शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः।

रामराज्य का आदर्श साम्यवाद

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के शासन काल में चारो आश्रम सुचारु रूप से व्यवस्थित थे। द्विजाति मात्र के बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रविष्ट होकर, निस्पृह और मनीषी वानप्रस्थियों द्वारा शिक्षा प्राप्त करते थे। यह आश्रम नगर से दूर सरिताओं के सुरम्य तट पर मनोरम प्राकृतिक दृश्यों के स्थानों पर बनाये जाते थे। इन आश्रमों में पहुँचकर स्वाभाविक ही एक प्रकार का शान्ति दायक आकर्षण दर्शक को आकर्षित करता था। वानप्रस्थी महापुरुषों के संरक्षण में बालक उनका हार्दिक प्यार पाकर अपनी माता को भूल दत्तचित्त विद्याध्ययन करते थे। राजा एवं रंक दोनों के बालक समान वेष-भूषा तथा रहन सहन से त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुये निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्याश्रमों के नियमों को पालन करते थे। इस प्रकार जीवन-निर्माण की नींव रूपी इस अवधि में वेष-भूषा, रहन-सहन तथा त्याग की मनोवृत्ति से स्वाभाविक ही सब बातों में समता का भाव भर जाता था अर्थात् व्यावहारिक शिक्षा का श्री गणेश क्रिया रूप में परिणत करके जब वे बालक शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् गुरु की आज्ञानुसार गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते थे तो अपने स्वभावानुसार गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन करते हुये जीवन यापन करते थे। गुरुकुल में उन्हें गृहस्थाश्रम के धर्मों की शिक्षा मिलती थी उसके अनुसार प्रत्येक गृहस्थ व्यावहारिक साम्यवाद को सामने रखकर आचरण करता था उन्हें बताया जाता था कि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर तुम्हें वस्तु संचय का अधिकार है। किन्तु वे सभी वस्तुएँ केवल तुम्हारी अथवा कुटुम्बी जनों की भोग्य न बनकर समस्त राष्ट्र की सम्पत्ति है। तुम्हें संचय करने का अधिकार अवश्य है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर तत्क्षण राष्ट्र-हित की भावना से उसका त्याग करने में लेश-मात्र भी संकोच नहीं होना चाहिये। उन्हें हृदयंगम कराया जाता था कि संचित भोगों को भोगते हुये "पद्म पत्रवत्" रहने का ही अधिकार है। यदि तुमने अपने पुरुषार्थ से एकत्र किये हुए ऐश्वर्य और भोगों को केवल अपना ही मान लिया अर्थात् उनमें तुम्हारी आसक्ति दृढ़ हो गई तो निश्चय ही तुम्हारी वृत्तियाँ पतनोन्मुखी बन कर तुम्हें नीचे गिरा देंगी, मानव जीवन के लक्ष्य से दूर कर देंगी भोगासक्त होने के कारण भोग योनियों में ले जायेंगी। जिस प्रकार एक ततैया (बर्रे) शीरे में आसक्त

होने के कारण उसके समीप पहुँच कर उसका स्वाद लेती है यह तो उसका स्वाभाविक धर्म ही है। यदि वह दूर से ही पंखों को बचाती हुई शीरे का स्वाद लेती तब तो कोई हानि न थी, किन्तु वह अत्यन्त आसक्त होने के कारण पंखों को भी शीरे में डुबा देती है, और उससे विवश होकर प्राणों तक से हाथ धो बैठती है। इसी प्रकार दीप-शिखा से दूर रहकर पतंगा यदि प्रकाश का आनन्द लेता, तभी तक उसकी भलाई थी, किन्तु वह आसक्ति वश उसमें कूद कर अपने शरीर को भस्म कर देता है।

यही बात आधुनिक भौतिकवादी संकुचित दृष्टिकोण वाले स्वार्थी जनों की है वे अपने पुरुषार्थ द्वारा संचित किये पदार्थों को केवल अपना मान कर तिजोरियों में बन्द रखते हैं और इस प्रकार देश की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। उस संचित धनराशि का सदुपयोग न होकर दुरुपयोग होता है। ऐसे स्वार्थान्ध संग्रही व्यक्तियों के कारण देश का जो अहित होता है वह अवर्णनीय है इस अहित के मूल कारण को विचार करने से विदित होता है कि भौतिकवाद अर्थात गृहस्थाश्रम की आधार-शिला ही निर्बल है क्योंकि उन्हें जैसी शिक्षा अथवा रहन-सहन के वातावरण में जीवन व्यतीत करना पड़ा, उसी के अनुसार उनका यह वर्ताव चल रहा है। उन्हें शिक्षा ही नहीं मिली कि यह शरीर भी राष्ट्र की सम्पत्ति है। उन्हें तो बाल्यकाल से ही विलासितामय जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी गई है।

अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें यदि दम्भ, छल, कपट का आश्रय लेना पड़ता है तो वे उसमें किसी प्रकार की हानि नहीं समझते। आसक्ति के परिणाम में दुःख तथा त्याग के परिणाम में परम शान्ति सन्निहित है इस रहस्य को वे कभी जान ही नहीं पाते। यही कारण है कि बंगाल में लाखों व्यक्ति भूख से तड़प तड़प कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर गए, किन्तु भौतिकवादी स्वार्थी जनों के हृदयों में कोई चोट नहीं पहुँची। इसी मनोवृत्ति के परिणाम-स्वरूप सोशलिज्म और कम्युनिज्म की विचारधारा तीव्र गति से आगामी क्रान्ति के लिए प्रोत्साहन दे रही है। रामराज्य में व्यावहारिक साम्यवाद इसी कारण था कि ब्रह्मचर्याश्रम रूपी त्यागमय आधार शिला पर गृहस्थाश्रम का निर्माण होता था। तब गृहस्थाश्रम में रहते हुए तथा भोग-ऐश्वर्य का संचय करते हुए भी पूर्वाभ्यास के प्रभाव से सद्गृहस्थ भोगासक्त न बनकर त्यागमय जीवन व्यतीत करके वास्तविक शान्ति की अनुभूति करते थे।

समस्त पारिवारिक सदस्य संगृहीत वस्तुओं को परस्पर एक दूसरे की समझते थे। पिता अपने संचित ऐश्वर्य भोग पुत्र के लिए, पति पत्नी के लिये, बड़ा भाई छोटे के लिए, स्वामी सेवक के लिए समझते थे। और इसी के परिणाम से पुत्र पिता को, पत्नी पति को छोटा भाई बड़े को, सेवक अपने स्वामी को सर्वस्व मानकर उनकी पूजा किया करते थे। इस प्रकार अनायास ही पितृ-भक्ति, पातिव्रत-धर्म भ्रातृ-वत्सलता, स्वामि-भक्ति आदि सद्गुणों की व्यापकता उस पुनीत काल में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती थी। पुत्र जानता था कि मेरे पूज्य पिता गृहस्थाश्रम की अवधि शीघ्र ही समाप्त कर वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करेंगे, इस घर को छोड़कर "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धान्तानुसार जनता जनार्दन की सेवा के निमित्त चले जायँगे। ऐसा विचार कर वह अपनी धर्म-पत्नी सहित पूर्ण मनोयोग से पिता की सेवा में तत्पर रहता था।

आजके इस भयानक युग में माता-पिता की सेवा का भाव तो दूर रहा, उन्हें जैसा कष्टमय जीवन वृद्धावस्था में व्यतीत करना पड़ता है अकथनीय है। यह दशा तो अपने धर्म प्रधान भारत की है, पाश्चात्य देश तो इस दशा में इतने आगे बढ़ गये कि वे अपने वृद्ध माता-पिता को बूढ़े बैल की भाँति त्याग कर पत्नी को ले अपना संसार अलग बसाते हैं। उन वृद्ध असहाय जनों के लिए Old Men's Colony (बूढ़ों का निवास-स्थान) बनाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं।

रामराज्य के शुद्ध साम्यवाद में सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य था उसके मूल कारण में आप को गृहस्थाश्रम में रहकर भोगों को भोगते हुए त्यागमय जीवन व्यतीत करने का रहस्य छिपा मिलेगा। गृहस्थ-जीवन की समाप्ति के पश्चात् वनस्थलियों में रहकर जीवन का तृतीय भाग जनहित में व्यतीत करने से उनका अन्तःकरण पूर्णरूपेण शुद्ध होजाता था। जिसके परिणाम से एक दिन स्वयं ही सर्वस्वत्याग की भावना जागृत

होकर अग्नितुल्य देदीप्यमान सन्यासाश्रम की प्राप्ति करा देती थी। वे वीतराग सन्यासी आत्मचिन्तन में निरत वृत्तियों का निरोध करते हुये शरीर के शेष प्रारब्ध भोगकर परम धाम की यात्रा करते थे। इन सन्यासी महापुरुषों की अहैतुकी कृपा सदा कठा राज्य सचालकों को प्राप्त होती रहती थी। उनके अनुभव और सदुपदेशों से लाभ उठा कर उस समय के राजा शासन करते थे। सारांश यह कि विवेक सहित चारों वर्णों के पुरुष अपने कर्त्तव्य पालन में तत्पर रहकर दूसरों को सुख पहुँचाने की भावना से प्रत्येक कार्य करते थे। यही कारण था कि उस समय देश में दुःख और अशान्ति का लेश मात्र भी नहीं था। पूज्यपाद गोस्वामी जी ने उस अनुकरणीय साम्यवाद का वर्णन निम्नलिखित दोहे में किया है।

वर्णाश्रम निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहि भय शोक न रोग॥

वर्णाश्रम धर्म के अनुसार उस काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार श्रेणियों में समस्त जनता विभाजित थी। अपने अपने धर्म के अनुसार ये चारों वर्ण अलग होते हुये भी वस्तुतः एक ही थे। बुद्धि प्रधान होने के कारण वेदों के पठन पाठन द्वारा ब्राह्मण समस्त जनता की सेवा करते थे। क्षत्रिय अपने बाहुबल से तीनों वर्णों की रक्षा करते थे। कृषि, गोपालन तथा वाणिज्य के द्वारा वैश्य, शूद्र शारीरिक परिश्रम द्वारा तीनों वर्णों की सेवा में कर्त्तव्य परायण रहते थे। यही सच्चा साम्यवाद था। इसी लिये ब्राह्मण को शिर, क्षत्रिय को बाहु, वैश्य को उदर, शूद्र को पैर कहा गया है। पैर में यदि काँटा लगे तो तुरन्त ही हाथ पैर की रक्षार्थ कार्यशील हो जायेंगे। मुख जैसे उदर में भोजन सचित कर समस्त अंगों का पोषण करता है, ऐसे ही उस समय के वैश्य अपने धन द्वारा सबकी सेवा में सलग्न रहते थे। शरीर के किसी अंग प्रत्यंग पर आघात होने से समस्त शरीर को कष्ट का अनुभव होता है। ठीक इसी प्रकार समान भाव से चारों वर्णों के पुरुष एक दूसरे की सेवा म स्वय कष्ट उठाकर अपने को भाग्यशाली मानते थे। इस समानता के मूल कारण में अभिमान रहित विवेक ही अन्तर्हित है। और इस विवेक की प्राप्ति आध्यात्मिकता द्वारा हुई थी। इन चारों में न कोई अपने को श्रेष्ठ मानता था और न अपनी अपेक्षा किसी को हीन समझता था। इस प्रकार के साम्यवाद से सम्पूर्ण राष्ट्र सुख शान्ति के महासागर में निमग्न रहता था।

उस प्राचीन आदर्श का उदाहरण आज के जन सेवी साम्यवादी भी उपस्थित करते हैं और यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि हमारे सिद्धान्त के अनुसार चलने से रामराज्य के जैसी सुख और शान्ति प्राप्त हो जायगी, किन्तु अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते समय अध्यात्मवाद के प्रति उदासीनता होने के कारण परिणाम में उनके सिद्धान्त भी सुखद प्रतीत नहीं होते। त्याग का आधार न होने से उनकी योजना आगे चलकर एक ऐसे बन्धन में आबद्ध कर देती है जिसे हम वास्तविक साम्यवाद नहीं कह सकते। वस्तुतः जो क्रिया विवेक सहित की जाती है वह सुख का कारण बनती है। और विवेक रहित होने से वही क्रिया दुःख का कारण बन जाती है। अर्थात् सदुपयोग होने से सुख होता है, दुरुपयोग होने से दुःख होता है। प्रत्येक कार्य को कुशलता पूर्वक सम्पादित करने के लिये उस कला में अभिज्ञ होना आवश्यक है। जैसे यदि हम तैरना नहीं जानते हैं और नदी में कूद पड़ते हैं तो अवश्य ही डूब जायेंगे। यदि हमारे पास बन्दूक तलवार आदि घातक अस्त्र सगृहीत हैं और हम उनके सचालन की क्रिया से अनभिज्ञ हैं तो किसी शत्रु के सहसा आक्रमण होने पर वे शस्त्र हमारे ही घातक बनकर हमारा नाश कर देंगे। तात्पर्य यह कि भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर उन्हें भोगने की कला न सीखने से उनमें आसक्त हो जाना अवश्यम्भावी है क्योंकि आसक्ति ही दुःख का मूल कारण है।

वर्तमान काल में भी हम मनुष्य को चार भागों में विभाजित पाते हैं। जिनके सम्बन्ध में विचार करने से अनुमान होता है कि ये चारों स्थितियाँ विकृत रूप से परिवर्तित होकर हमारे सामने आती हैं। आज से लगभग ५०–६० वर्ष पूर्व भारत के अधिकांश नागरिक निरक्षर थे अर्थात् विद्या का प्रचार न था। इसके पश्चात् पाश्चात्य शिक्षा की प्रबल आँधी से अधिकांश व्यक्ति साक्षर बनकर भौतिकवाद के पुजारी बने। उन्होंने प्रथम श्रेणी के व्यक्तियों को मनहूस बताकर अपने को श्रेष्ठ समझा और नवीन आविष्कार तथा अधिक से अधिक सचय कर

सुख प्राप्ति की होड़ में ही अपना कर्त्तव्य मान अपने को श्रेष्ठ समझने लगे। तीसरी श्रेणी के विभाजन में वे लोग आते हैं जो परिस्थिति वश न तो अधिक विद्याध्ययन ही कर सके और न भोग सामग्रियाँ ही संचित कर सके। विवश होकर इन्हें मजदूरी आदि साधन से कठोर परिश्रम के द्वारा जीवन यापन करना पड़ा। तब इन्होंने विचार किया कि हम लोग तो कष्ट पूर्ण जीवन व्यतीत करें और ये बड़े बड़े सेठ मसनद लगाये तोंद फुलाये सुख से जीवन व्यतीत करें। इन्हें हमसे अधिक भोगों की प्राप्ति का क्या अधिकार है। अतएव सम्पत्ति का बटवारा समान रूप से होना चाहिये। जिससे सभी को समान सुख की प्राप्ति हो और कोई दुखी न रहे यही आधुनिक साम्यवाद है। तीसरी श्रेणी के इन व्यक्तियों के अतिरिक्त कुछ योरोपीय देशों में नेचरवाद का जन्म हुआ है। इस मत के अनुयायी पुरुष और स्त्री दोनों एक निर्दिष्ट स्थान में नग्न रहकर पशुवत जीवन व्यतीत करते हैं। उनका मत है कि माता के उदर से बालक जिस प्रकार जन्म लेता है वैसे ही रहने से प्रकृति माता सदा सुख प्रदान करेगी। चतुर्थ श्रेणी के इस आश्चर्यजनक वाद को अभी योरोपीय देशों में ही प्रसारित होने का अवसर मिला है। इस प्रकार वर्तमान शताब्दी में मनुष्य चार प्रकार की श्रेणियों में विभाजित हुआ। प्रथम निरक्षरवाद, द्वितीय साक्षर वाद अथवा भौतिक वाद, तृतीय साम्यवाद, चतुर्थ नेचरवाद। इन चारों प्रकार के वादों में विचार करने पर विवेक हीन प्राचीन सभ्यता का विकृत रूप दृष्टिगोचर होता है। विवेक हीनता के कारण किसी को वास्तविक सुख और शान्ति की उपलब्धि नहीं हो सकती। निरक्षरवाद का जन्म ब्रह्मचर्याश्रम के अभाव के कारण हुआ। इस परिस्थिति में मनुष्य लकीर के फकीर की भाँति पशुवत् जीवन व्यतीत करता था। अतएव उसे विवेक न होने के कारण शान्ति की अनुभूति न हो सकी। समय ने पलटा खाया और पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से भौतिकवाद को आश्रय मिला किन्तु इस शिक्षा की भित्ति विवेक हीनता पर आधारित होने के कारण स्वार्थ परता तथा संकुचित दृष्टिकोण की ओर लग गई। रूप रंग और चमक, दमक में यह शिक्षा बहुत सुन्दर लगी। नित नूतन आविष्कार भी हुए। किन्तु इन अनेक भोगों को भोगने की कला न सीखने के कारण अशान्ति का जन्म हुआ। यह प्राचीन काल के गृहस्थाश्रम का विकृत रूप कहा जा सकता है। इस विकृत रूप की प्रतिक्रिया साम्यवादी विचार धारा के रूप में तृतीय श्रेणी के व्यक्तियों में दृष्टिगोचर हुई। समान रूप से वितरण करने की यह भावना प्राचीन काल के वानप्रस्थाश्रम का विकृत रूप जान पड़ता है। किन्तु विवेक हीनता के कारण यह साम्यवाद भी वास्तविक सुख और शान्ति की ओर न ले जाकर अशान्ति की ओर ही ले जावेगा। नेचरवादी चतुर्थ श्रेणी के व्यक्ति प्राचीन काल के सन्यासाश्रम की ओर संकेत करते हैं। अतएव यह नेचरवाद सन्यासाश्रम का विकृत रूप जान पड़ता है। उस सन्यास तथा आधुनिक नेचरवाद में आकाश पाताल का अन्तर है। वह तो अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् स्वाभाविक ही हो जाता था और यह भौतिकवाद की अशान्ति से ऊबकर अपने पैर फैला रहा है।

उपर्युक्त चारों प्रकार की श्रेणियों में किसी को भी वास्तविक शान्ति की अनुभूति होना असम्भव है। रामराज्य के अनुकरण आदर्शवाद का सिंहावलोकन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि वास्तव में यथार्थ साम्यवाद अर्थात् रामराज्य का पुनर्निर्माण करना है तो तदनुसार योजना के द्वारा सम्भव हो सकता है। अन्यथा इसी प्रकार बालू की दीवारें उठती तथा गिरती रहेंगी। अर्थात् अशान्ति का निराकरण न होने से मानव इसी भाँति सदैव संत्रस्त बना रहेगा। यदि वास्तविक शान्ति लाभ की इच्छा है तो रामराज्य कालीन आदर्श को सामने रखकर तथा उसके अनुसार विवेक का आश्रय लेने से सफलता मिल सकती है।

रहिमन कहत सुपेट सों क्यों न भयो तू पीठ।
रीते अनरीते करत भरे विगारै दीठ॥

प्राचीन साहित्य में योग

(गताङ्क से आगे)

(श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज)

प्रथम दश उपनिषदों में से प्रधानतया कठ में योग का सुस्पष्ट वर्णन है। नचिकेता को इन्द्रियादि का उत्तरोत्तर संयम करते हुये आत्मस्थिति का उपाय बताते हुये यमराज कहते हैं:—

यच्छेद्वाङ्मनसि प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥
(१।३।१३)

'बुद्धिमान् पुरुष वाणी का मन में संयम करे, उसे बुद्धि में लीन करे, बुद्धि का महदात्मा में संयम करे और उसे शान्तात्मा में लय करे।' फिर स्वभावतः बाह्य प्रवृत्तिवाली इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके आत्मसाक्षात्कार करने का आदेश करते हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः
तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (२।१।१)

विधाताने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है, इस लिये जीव बाह्य पदार्थों को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। कोई मतिमान् अमृतत्व की इच्छा करके इन्द्रियों का निरोध कर प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करता है। अन्त में समाधिस्थितिरूप परागति का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।'
(२।३।१०, ११)

'जब मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती है और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती तो उसे परम गति कहते हैं। इस स्थिर इन्द्रियधारणा को 'योग' कहते हैं। उस समय जीव प्रमाद शून्य हो जाता है। योग ही उत्पत्ति और प्रलय रूप है।'

इस प्रकार कठोपनिषद् के योग सम्बन्धी प्रसंग का दिग्दर्शन कराया गया। शेष उपनिषदों में प्रायः ज्ञानयोग अथवा ओंकार, प्राण, मन एवं यागादि की ब्रह्म रूप से उपासना बतायी गयी है। मुण्डकोपनिषद् ने प्रणवरूप धनुष पर आत्मारूप बाण चढ़ा कर उससे ब्रह्मरूप लक्ष्य को बेधकर तन्मय हो जाने का आदेश दिया है:—

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥'
(२।२।४)

इसके पश्चात् श्वेताश्वतरोपनिषद् में योग का बड़ा विशद वर्णन मिलता है। प्रथम अध्याय में ध्यान के द्वारा आत्मदेव का साक्षात्कार करने का आदेश करते हुए श्रुति कहती है:—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मन्थनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥
(१।१४)

'अपने देह को नीचे की अरणि और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास से [बुद्धि रूप गुहा में] छिपे हुए आत्मदेव का साक्षात्कार करे।' इसके पश्चात् द्वितीय अध्याय के आठवें से पन्द्रहवें मन्त्र तक योग का बड़ा सुन्दर निरूपण हुआ है। आठवें श्लोक में योगाभ्यासी को किस प्रकार बैठना चाहिये यह बताया गया है, नवें में प्राणसंयमपूर्वक मन को वश में करने का आदेश

किया है, दशवें मे अभ्यास के योग्य स्थान का स्वरूप बतलाया गया है, ग्यारहवें मे योग सिद्धि के पूर्व-लक्षणों का निरूपण हुआ है। बारहवें मे योगसिद्ध शरीर की विशेषताएँ बतायी गयी हैं, तेरहवें मे योग की आरम्भिक प्रवृत्ति के लक्षण कहे हैं और चौदहवें एवं पन्द्रहवें में आत्मदर्शी की कृतकृत्यता का निरूपण किया गया है। ❀

इनके सिवा जिन जिन उपनिषदों मे योग का प्रधानतया निरूपण हुआ है उनकी संख्या इक्कीस बतायी जाती है। इनमे से योगराज नामक एक उपनिषद् अभी अप्रकाशित है। शेष बीस उपनिषद् ब्रह्मयोगिकृत टीका सहित मद्रास की ऐडियार लाइब्रेरी से प्रकाशित हुये हैं। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है उपनिषदों के आगे कोष्ठ मे संकेताक्षरों द्वारा ? उनके वेद की सूचना दी गई है: –

१ अद्वयतारकोपनिषद् (शु० य०)— इसमे तारकयोग शाम्भवी मुद्रा और गुरु के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

अमृतनादोपनिषद् (कृ० य०)— इसमें प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि इस षडङ्ग योग का वर्णन किया गया है। इनमे शास्त्रविरुद्ध अनुमान का नाम तर्क है। शेष अंगों के लक्षण अन्य ग्रन्थों द्वारा बताये हुये लक्षणों के ही समान हैं। इसकी वर्णन शैली बड़ी स्पष्ट है। देखिये, प्रशान्तका लक्षण कैसा सुन्दर किया गया है:—

अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु।
काष्ठवत्पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम् ॥❀

३ अमृतबिन्दूपनिषद् (कृ० य०)— इसमे मन को ही बन्धन का कारण और मन के संयम से मुक्ति का निरूपण करके अन्त में ज्ञान का स्वरूप और ध्यान की विधि बताई गयी है।

४ क्षुरिकोपनिषद् (कृ० य०)— यह बहुत छोटा उपनिषद् है। इसमे संक्षेप से प्राणायाम धारणा, ध्यान और समाधि का निरूपण तथा इडा पिंगला एवं सुषुम्ना नाडियों का वर्णन किया गया है।

५ तेजोबिन्दूपनिषद् (कृ० य०)— इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे परब्रह्म का स्वरूप और उसके साक्षात्कार के लिये पञ्चदशाङ्ग योग का वर्णन हुआ है। वे पन्द्रह अंग इस प्रकार हैं—यम नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा आत्मध्यान और समाधि। इनके स्वरूप भी भिन्न प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ यम का लक्षण देखिये—

❀ त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८
प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत। दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९
समे शुचौ शर्करवह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाशयादिभिः। मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०
नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३
यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम्। तद्वदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५

संकेतों का विवरण इस प्रकार है—शु० य० = शुक्ल यजुर्वेद, कृ० य० = कृष्णयजुर्वेद, सा० वे० = सामवेद, ऋ० वे० = ऋग्वेद, अ० वे० = अथर्ववेद।

❀ अन्धे की तरह रूपों को देखो, बहिरे की तरह शब्द सुनो और काष्ठ की भाँति शरीर को देखो—यही प्रशान्त लक्षण है।

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥
(१।१७)

'सब कुछ ब्रह्म है—इस ज्ञान से इन्द्रियवर्ग का सयम हो जाना यह यम कहा गया है, इसका पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये । भगवान् शकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति में इन पन्द्रह योगाङ्गों को उद्धृत किया है ।

द्वितीय अध्याय में अखण्डैकरसत्व और चिन्मात्रत्व की भावनाद्वारा सबकी एक रूपता का प्रतिपादन हुआ है । तृतीय अध्याय में ब्रह्मानुभव का वर्णन है । चतुर्थ में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का स्वरूप बताया गया है । पञ्चम में तत् और त्वपदार्थ की एकता तथा षष्ठ में वेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्म के शुद्धस्वरूप का निरूपण किया गया है । यह उपनिषद् निदिध्यासनरूप है तथा ज्ञाननिष्ठा के लिये बहुत उपयोगी है ।

६ त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् (शु० य०) — इसमें १६४ मन्त्र हैं आरम्भ में सृष्टि क्रम का और फिर सक्षेप से कर्मयोग और ज्ञान योग का वर्णन करके श्लोक २८ से अन्त तक अष्टाग योग का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है । इसमें यम और नियम दश-दश बताये गये हैं । उनका विवरण इस प्रकार है—**यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच । **नियम**—तप, सतोष, आस्तिक्य, दान, हरिका आराधन, वेदान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत । शेष अगों में कोई नवीनता नहीं है ।

७. दर्शनोपनिषद् (सा० वे०)—इसमें अष्टागयोग का ही वर्णन है । यम और नियम उपर्युक्त दश-दश ही हैं । यह उपनिषद् अभ्यासियों के लिये बहुत उपयोगी है ।

८. ध्यानबिन्दूपनिषद् (कृ० य०)—इसमे ध्यान योग का वर्णन है तथा नादानुसन्धान द्वारा आत्मसाक्षात्कार का उपाय बताया गया है ।

९. नादबिन्दूपनिषद् (ऋ० वे०)—इसमे प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान का वर्णन है ।

१० पाशुपतब्रह्मोपनिषद् (अ० वे०)—इसमे ज्ञान याग का प्रतिपादन है तथा परमात्मा की हस रूप से भावना अन्तर्याग और ज्ञान यज्ञरूप अश्वमेध आदि का वर्णन है ।

११. ब्रह्मविद्योपनिषद् (कृ० य०)—इसमें ॐकार की चारों मात्राओं और सुषुम्ना का वर्णन तथा नादानुसन्धान, हसविद्या और आत्मानुसन्धान का निरूपण है ।

१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (शु० य०)—पहले अष्टागयोग का वर्णन है । इसमें शीत उष्ण आहार और निद्रा को जीतना, सर्वदा शान्त रहना, निश्चलता एवं विषयेन्द्रियनिग्रह—ये चार यम तथा गुरुभक्ति, सत्यमार्गानुरक्ति, सुख पूर्वक प्राप्त हुई वस्तु का सेवन, उसके अनुभव से सन्तोष, निःसगता, एकान्तवास, मनोनिवृत्ति, फलेच्छा का त्याग और वैराग्य—ये नौ नियम बताये गये हैं । इस योग के पूर्व और उत्तर विधानरूप दो भेद हैं । पूर्वविधान तारकयोग है और उत्तर विधान अमनस्क योग ।

१३. महावाक्योपनिषद् (अ० वे०)—इसमें हंसविद्या का निरूपण किया गया है ।

१४. योगकुण्डल्युपनिषद् (कृ० य०)—इसके प्रथम अध्याय में प्राणायामादि द्वारा कुण्डलिनी योग, द्वितीय अध्याय में खेचरीमुद्रा और तृतीय अध्याय में ब्रह्म जीव एवं मुक्ति के स्वरूप का वर्णन किया गया है ।

१५. योगचूडामण्युपनिषद्(सा०वे०)—इसमें

चक्रनाडी और वायु आदि का तत्व बताते हुये षडग योग और प्रणवाभ्यास का निरूपण हुआ है।

१६. योगतत्वोपनिषद् (कृ० य०)—इसमें मन्त्रयोग, हठ योग, राजयोग और लययोग चारों का वर्णन किया है।

१७. योगशिखोपनिषद (कृ० य०)—योगोपनिषदों मे यह बडे महत्व का है। इसमे उपर्युक्त चारों योगों का बड़ा मार्मिक वर्णन है तथा इन चारों को एक महायोग के अन्तर्गत बताया गया है।

१८. वाराहोपनिषद् (कृ० य०)—इसमे पाँच अध्याय हैं। पहले चार मे ज्ञानयोग का वर्णन है तथा पाँचवें मे लययोग मन्त्रयोग एव हठयोगका निरूपण किया गया है।

१६. शाण्डिलोपनिषद् (अ० वे०)—इसका प्रथम अध्याय बहुत बडा है। उसमे अष्टांगयोग तथा प्राण एव नाड़ी आदिका वर्णन है तथा सयम द्वारा भिन्न-भिन्न सिद्धियों की प्राप्ति बतायी गयी है। द्वितीय और तृतीय अध्याय बहुत छोटे हैं। उनमे पहले परब्रह्म के स्वरूप का और अन्त मे भगवान् दत्तात्रेय की महिमा का वर्णन किया गया है।

२०. हंसोपनिषद् (शु० य०)—इसमें सक्षेप से हंसविद्या, अजपा जप और नादानुसन्धान का वर्णन हुआ है।

इस प्रकार यह उपनिषदों के योगविषयक अंश का सक्षेप में परिचय दिया गया। इसके अतिरिक्त मैत्रायणी अन्नपूर्णा, तथा महोपनिषदादि में भी जहाँ तहाँ योग का कुछ प्रसग आया है। शिवसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता योगयाज्ञवल्क्य एव गोरक्षपद्धति आदि परवर्ती योगग्रन्थ इन्हीं के आधार पर रचे गये हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार तो योग के आदि वक्ता भगवान हिरण्यगर्भ हैं। वहाँ ऐसा कहा है—

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य: पुरातन:।' अर्थात् योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, उनसे अधिक प्राचीन और कोई वक्ता नहीं है। कहते हैं इन भगवान हिरण्यगर्भ का ही 'हिरण्यगर्भ सहिता' नामक एक ग्रन्थ था। उसीके आधार पर भगवान पतञ्जलि ने योगसूत्रों की रचना की थी। इसीसे वे 'अथ योगानुशासनम्' इस प्रथम सूत्र द्वारा योग के अनुशासन मात्र की प्रतिज्ञा करते हैं। इससे सूचित होता है कि योग के आदि शासनकर्त्ता कोई और ही थे। और वे याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार भगवान् हिरण्यगर्भ माने जा सकते हैं। अन्य शास्त्र ग्रन्थों के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि 'हिरण्यगर्भ' भगवान ब्रह्मा का नाम है। अत: निश्चय हुआ कि श्री ब्रह्मा जी ही योग के आदि प्रवर्तक हैं। महाभारत मे भी कहा है—

'हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एतच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभु. स्मृतः॥'

अर्थात् वेदों में जिनकी स्तुति की गयी है वे प्रकाशमय भगवान् हिरण्यगर्भ सर्वदा योगों के द्वारा पूजित होते हैं तथा वे लोक मे व्यापक कहे जाते हैं।

ब्रह्मा जी के पश्चात् ऋषभदेव, दत्तात्रेय, याज्ञवल्क्य आदि और भी कई योगाचार्यो का पुराणों में उल्लेख हुआ है। ये सभी महर्षि पतञ्जलि से पूर्ववर्ती हैं। किन्तु इनके कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते। इनके पश्चात् श्रीमद्भगवद्गीता का उल्लेख किया जा सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता तो सारी ही योगमयी है। उसका प्रत्येक अध्याय एक-एक योग है। उसमें योग, योगी और युक्त शब्दों का प्राय: अस्सी बार प्रयोग हुआ है तथा भिन्न-भिन्न प्रसगों में कई प्रकार के योग का वर्णन किया गया है। किन्तु हमारा उद्देश्य प्रधानतया ध्यानयोग का अनुसन्धान करना है। गीता में ध्यानयोग का स्पष्ट वर्णन छठे अध्याय

में है। उसके दसवें से पन्द्रहवें श्लोक तक एकान्त और पवित्र देश में स्थिर आसन से बैठकर शान्त-चित्त से अभ्यास करने का आदेश किया है सोलहवें और सत्रहवें श्लोक में युक्त आहार-विहार की आवश्यकता दिखायी है, अठारहवें से तेईसवें श्लोक तक समाधि स्थिति और समाधि सुख का वर्णन है, चौबीस से छब्बीसवें श्लोक तक चित्त एकाग्र करने की युक्ति का वर्णन है तथा सत्ताईस और अट्ठाईसवें श्लोकों में ध्यानानन्द का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके पश्चात मनोनिग्रह की कठिनता के कारण अर्जुन के शङ्का करने पर श्री भगवान ने पैंतीस और छत्तीसवें श्लोक में अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसकी सुसाध्यता और असयतात्मा के लिये इसकी असाध्यता बतायी है। फिर योगभ्रष्ट की सद्गति के विषय में शङ्का करने पर चालीसवें से छियालीसवें श्लोक तक उसकी सद्गति का वर्णन है तथा सैंतालीसवें श्लोक में योगी की महिमा और अड़तालीसवें में अनन्य भक्त की सर्वोत्कृष्टता बताई गयी है।

गीता में ध्यानयोग का व्यवस्थित वर्णन केवल इतना ही है। अन्य स्थानों में सांख्ययोग, बुद्धियोग, भक्तियोग, कर्मयोग एवं ज्ञानयोगादि का वर्णन है। इनमें सांख्ययोग और ज्ञानयोग तो एक ही है। इनका वर्णन प्रधानतया दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें अध्यायों में है। बुद्धियोग और कर्मयोग का वर्णन द्वितीय, तृतीय और पञ्चम अध्यायों में है तथा भक्तियोग प्रधानतया सप्तम से द्वादश अध्याय तक कहा गया है। इन्हीं के अन्तर्गत समत्वयोग, सन्यासयोग विभूतियोग ज्ञान-विज्ञान-योग आदि अन्य कई योग भी हैं। द्वितीय अध्याय के अड़तालीसवें श्लोक में समत्व को योग बताया गया है—'समत्व योग उच्यते।' यह समदृष्टि का ही दूसरा नाम है। इसका वर्णन और भी कई जगह हुआ है। अध्याय के उनतीस से बत्तीसवें श्लोक तक इसका बड़ा विशद वर्णन है। द्वितीय अध्याय के पचासवें श्लोक में कर्मकौशल को भी योग बताया है—'योगः कर्मसु कौशलम्'। यह कर्मकौशल बुद्धियोग का ही नामान्तर है। इसी प्रकार गीता में विभिन्न प्रसंगों में कई प्रकार के योगों का वर्णन हुआ है।

दर्शनों की ओर आते हैं तो वे भी मुक्तकण्ठ से योग की उपयोगिता स्वीकार करते दिखायी देते हैं। सांख्य तो योग का सगा भाई ही है। इसलिये उसीमें सबसे अधिक इसकी छाया दिखायी देती है। इसके लिये उसके निम्नाङ्कित सूत्र उद्धृत किये जा सकते हैं—तृतीय अध्याय में सूत्र ३० से ३६ तक, पञ्चम अध्याय का १२८ वाँ सूत्र तथा षष्ठ अध्याय के सूत्र २४ से ३१ तक। वेदान्तदर्शन को देखा जाय तो उसमें भी स्पष्टतया चतुर्थ अध्याय प्रथमपाद के सूत्र ७ से ११ तक उपासना के लिये आसन और ध्यान की उपयोगिता स्वीकार की है। इसी प्रकार न्यायदर्शन ने भी दुःख निवृत्ति के लिये यम-नियम के अभ्यास और योग की आवश्यकता स्वीकार की है—'तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः' (४।२।४३)। इससे पहले सूत्र ३८ में समाधिविशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान के साक्षात्कार की बात कही है तथा ३६ वें सूत्र में योगाभ्यासोपयोगी स्थानों का निर्देश किया है।

वेद, उपनिषद्, गीता और दर्शनों की भाँति तन्त्र और पुराणों में भी जहाँ-तहाँ योग का बहुत प्रसंग है। योगवाशिष्ठ में तो जगह-जगह प्राणनिरोध, मनोलय, अमनीभाव और शिलावत्स्थिति की बात आती है। बौद्ध और जैन दर्शनों ने भी योग को खूब अपनाया है। दार्शनिक सिद्धान्तों में गहरा मतभेद होने पर भी अपनी साधना के लिये तो वे योग-सम्बन्धी आर्षसाहित्य के ही ऋणी हैं। अधिक क्या, यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो योग भारतीय आध्यात्मिकता का प्राण ही है और वह सम्पूर्ण आध्यात्मिक साहित्य में ओत-प्रोत है। ऊपर जो दिग्दर्शन कराया गया है उससे उसकी प्राचीनता और सर्वमान्यता अच्छी तरह प्रमाणित हो जाती है। अब आगे उसके विभिन्न स्वरूपों का [illegible] जायगा।

ध्यान

(श्रीकृष्ण देवनारायण एम० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट)

ध्यान का विषय बहुत ही गहन है। योगशास्त्र की पेचीदगियों मे वगैर घुसे हुए भी हम देखें तो हमे ज्ञात होगा कि ध्यान का प्रयोग हमको नित्य के व्यवहार में करना पड़ता है और हम करते हैं। विना ध्यान कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। "ध्यान देकर सुनो, ध्यान से पढ़ने से समझ में आजायगा" इत्यादि नित्य के वाक्य हैं। धारणा एकाग्रचित होने को कहते हैं और उस एकाग्र हुए चित्त को किसी लक्ष्य विशेष में लगाकर उसके गुह्य भेदों को जानने के प्रयत्न को ध्यान कहते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कथा आती है कि एक समय कुछ ब्रह्मवेत्ता ऋषि तथा ज्ञानी लोग एकत्र होकर विचार करने लगे कि जगत् का कारण भूत ब्रह्म कैसा है। जब वे लोग सब प्रकार के प्रयत्न कर चुकने के बाद भी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे तो उन लोगों ने ध्यान का आधार लिया और ध्यान के द्वारा ही इस बात को जान सके। क्या जाना यह तो उपरोक्त उपनिषद का विषय है। कहने का तात्पर्य यह है कि ध्यान की इतनी महिमा है कि इसके द्वारा ईश्वर को भी जाना जा सकता है और पुरातन में ऋषियों ने ऐसा किया भी है।

तो यह ध्यान है क्या चीज। हर पूजा करने वाले को यह बात मालूम है कि जिस देवता की वह पूजा करता है उसका उसको ध्यान भी बताया जाता है। योगशास्त्र का तो ध्यान स्तम्भ ही है चाहे वह मन्त्र-योग हो अथवा लय योग, ज्ञानयोग अथवा कर्मयोग। बिना ध्यान के किसी भी योग की सिद्धि नहीं होती। भगवान् पतंजलि ने योग दर्शन में ध्यान की व्याख्या इस प्रकार की है—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" ।।३।२।। चित्त का एक ध्येय पर स्थिर होकर ध्येय के आकारमय हो जाना ही ध्यान है। यह व्याख्या स्वयं बहुत कठिन है। धारणा की अवस्था में चित्त जिस लक्ष्य, वस्तु या ध्येय पर स्थिर हो जाता है उसी पर चित्त को स्थिर रखना ताकि उसके गुह्य भेदों का ज्ञान प्राप्त हो जावे—इसको ही ध्यान कहते हैं। इसके पहले के लेख में बतलाया जा चुका है कि अनुभवी लोगों का कहना है कि धारणा का अभ्यास तीन मिनट नित्य करना ही नये साधक के लिये पर्याप्त है। ३ मिनट धारणा करने के साथ २० मिनट ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। ध्यान की अवस्था में केवल लक्ष्य का चिन्तन होना चाहिये। इस क्रिया को ही वैदिक साधना में निदिध्यासन कहते हैं। ध्यान के परिपक्व होने पर समाधि की अनुभूति होती है। समाधि बहुत प्रकार की होती है पर प्रस्तुत लेख में उसका वर्णन नहीं किया जावेगा। ध्यान के अभ्यास में प्राणायाम बहुत ही सहायक है परन्तु कुछ अनुभवी लोगों का कहना है कि प्राणायाम का अभ्यास अखंड ब्रह्मचर्य से होने पर ही करना चाहिये। इसके लिये एक सहज साधन "नाड़ी शोधन को" भगवान् शंकराचार्य ने बताया है। ध्यान आरम्भ करने के पूर्व दाहिने नाक को अंगूठे से दबा कर बायें से धीरे-धीरे यथाशक्ति वायु अन्दर खींचे; फिर बिना विलम्ब दाहिने को छोड़कर बायें को अंगुलियों से दबावें और दाहिने नाक से वायु को बाहर निकाल दें। फिर दायें से वायु भीतर खींचकर बायें से निकाल दें। यह क्रिया तीन बार करके तब धारणा और ध्यान में अग्रसर होवे। यह नाड़ी शोधन की क्रिया बहुत ही उपयोगी है। इससे चंचल मन बहुत कुछ शान्त हो जाता है और धारणा और ध्यान में बहुत सहायता मिलती है। योगियों ने ध्यानावस्थित मन से ही ईश्वर की अनुभूति प्राप्त की है।

जीव जन्म लेते ही तीन शरीर धारण करता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। स्थूल शरीर Physical body वह है जिसके द्वारा जीव को जागृत अवस्था मे स्थूल ससार की अनुभूति होती है और वह इसमे इसके द्वारा ही कर्म करता है। सूक्ष्म शरीर के द्वारा स्वप्नावस्था मे जीव ससार में भ्रमण व अनुभूति प्राप्त करता है और कारण शरीर सुपुप्ति अवस्था मे कार्य करता है। स्वप्नावस्था में जीव को इस स्थूल शरीर का ज्ञान नहीं रहता उसी प्रकार सुपुप्ति अवस्था मे स्थूल और सूक्ष्म शरीर का भान नहीं होता और जीव को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इन्द्रिय और मन के जितने विकार हैं सब शान्त हो जाते हैं और जीव अपने स्वरूप मे स्थित होकर आत्माराम हो जाता है। मन का आत्मा मे लय हो जाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश चचल मन को यह अवस्था बहुत ही कम प्राप्त होती है। ध्यान जीव को स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण शरीर मे ले जाता है। जिस समय ध्यानावस्थित अवस्था मे स्थूल शरीर को त्याग कर जीव सूक्ष्म में स्थित हो जाता है तो उसको सूक्ष्म जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है स्थूल शरीर मे ज्ञान प्राप्ति का सब से बड़ा बाधक Space & Time देश और काल होता है। सूक्ष्म शरीर में यह बाधायें दूर हो जाती हैं। जिस प्रकार Radio & television के द्वारा हम एक स्थान पर रहते हुए भी हजारों कोस दूर की बातें व चीजें सुन और देख सकते हैं उसी प्रकार ध्यानावस्थित होकर हम दूर की बातों और चीजों को देख व सुन सकते हैं। इसमे कोई आश्चर्य करने की बात नहीं है सूक्ष्म जगत् Astral world के निवासियों से भेंट होती है उनसे शक्तियाँ प्राप्त होतीं हैं और Clairvoyance & clairaudience की शक्तियों का विकास होता है। परन्तु ऐसी शक्तियां बाधक ही होतीं हैं मनुष्य को इन शक्तियों का परिस्कार करके अपने प्रयत्न में लगा रहना चाहिये। जब जीव सूक्ष्म शरीर को भी ध्यान द्वारा त्याग कर कारण शरीर मे स्थित होता है तो उसकी सच्ची आध्यात्मिक उन्नति होती है और वह योगारूढ़ कहलाता है।

ध्यान का मुख्य उद्देश्य है अपने को भूलना इससे शारीरिक और मानसिक बन्धन ढीले पड कर धीरे-धीरे कट जाते हैं। ध्रुव सत्य या ईश्वर की अनुभूति होना उस समय तक सम्भव नही है जब तक कि मनुष्य अपने को भूल न जाय। एक सूफी फकीर के वाक्य हैं—

"बेखुदी छा जाय ऐसी दिल से मिट जाये खुदी।
उनसे मिलने का तरीका अपने खोजाने में हैं॥"

तो यह बेखुदी या आत्मविस्मृति ही ध्यान का लक्ष्य है। अपना अस्तित्व न रखकर ध्येय के आकार का होजाना ही ध्यान है और इसी को योगदर्शन मे "तत्र प्रत्ययैकतानता" कहा है। ध्यान की विधि तो किसी योग्य गुरु से ही सीखना चाहिये। ऐसा करने से गुरु की शक्ति की भी सहायता मिलती है और सफलता में शीघ्रता होती है परन्तु योग्य गुरू को खोजना और मिलना दोनों ही कठिन हैं। यह बहुत लोगों का अनुभव है कि इस मार्ग में अपनी योग्यता अथवा अधिकारिता के अनुसार हमको जैसे गुरु की आवश्यकता होती है मिलते अवश्य हैं। गुरु स्वय शिष्य को खोज लेते हैं और उसके सामने प्रगट होकर शिष्य का कल्याण करते हैं। परन्तु इसके लिये लगन चाहिये यदि इस मार्ग के लिये हममे सच्ची लगन पैदा हो जायगी। सच्ची उत्कण्ठा व व्याकुलता होगी तो मार्ग और मार्ग-प्रदर्शक दोनों ही मिलेंगे अवश्य। ध्रुव व प्रह्लाद को कौन से गुरु मिले थे। हृदय में व्याकुलता व लगन आते ही गुरु भी मिल गये और मार्ग भी। इसलिये निराश होने की आवश्यकता नहीं।

पहले लेख मे बताया जा चुका है कि धारणा

Concentration किसी एक लक्ष्य पर मन को एकाग्र करने को कहते हैं जैसे नासिकाग्र, भृकुटी, विन्दु इत्यादि ध्यान में भी एकाग्रता आवश्यक है पर धारणा और ध्यान में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है धारणा मानसिक कसरत है। आध्यात्मिकता Spiritualism का और धारणा का बहुत कम सम्बन्ध है परन्तु ध्यान आध्यात्मिकता प्राप्त करने की सीढी है ध्यान द्वारा ऐसी चेतन शक्ति उत्पन्न होती है जिसके द्वारा आध्यात्मिकता का विकाश अनुभूति और प्राप्ति होती है इसके द्वारा वह शक्ति प्राप्त होती है जिससे संसार का कल्याण और हानि दोनों ही किये जा सकते हैं। इस हेतु इस साधन का उद्देश्य शुद्ध, पवित्र व निष्काम होना चाहिये। साधक में High moral values अच्छे बुरे पहिचानने की शक्ति ऊंची होनी चाहिये दूसरों के सुख मे सुखी और दुःख मे दुःखी होने का अभ्यास होना चाहिये। दूसरे को सुखी देखकर ईर्षा या द्वेष नहीं होना चाहिये दुखी का त्याग न करके यथाशक्ति उसका दुःख निवारण करने का प्रयत्न करना और पापी से घृणा नहीं होनी चाहिये Hate the sin & not sinner पाप से घृणा करो पापी से नहीं। इसीसे यम नियमों की साधना भी होती रहे तो अच्छा है ध्यान द्वारा विविध शक्तियों का विकास होता है। यदि शुद्ध उद्देश्य से Impersonal motive निस्स्वार्थ भाव से उनको न प्राप्त किया जाय तो ससार का अकल्याण होगा और आध्यात्मिकता के स्थान पर Magic या जादू ही रह जावेगा और इस अशुद्ध शरीर में उन शक्तियों को धारण करने की क्षमता न होने से इस शरीर के ही नष्ट हो जाने का भय रहेगा। जिस प्रकार कम Voltage वाले यन्त्र मे High voltage की बिजली जाने से यन्त्र जलकर नष्ट हो जाता है। इस कारण कुछ वाह्य और कुछ बन्धन में अपने को बाँधना पड़ेगा इस साधना के करने वाले को "अति" Excess हर प्रकार का वर्जित है "अति" न खाने में, न पीने में, न सोने मे, न जागने मे अर्थात् कहीं भी "अति" नहीं। साधक को युक्त आहार और विहार करना पड़ेगा। गीता में ऐसे ही साधक के लिये कहा है "युक्ताहार विहारस्य योगो भवति दु खहा" इस बात का हर समय ध्यान रखना होगा कि किसी भी प्रकार की उत्तेजना Excitement मन को न होने पावे। क्योंकि विक्षिप्त चित्त से योग साधन नहीं हो सकता। कुछ नियमों का पालन आवश्यक है जैसे समय, स्थान इत्यादि, वाणी द्वारा अनर्गल नहीं बकना होगा।

ध्यान के लाभ तो अनेकानेक हैं परन्तु कुछ प्रत्यक्ष लाभ हर साधक को दिखाई पड़ेगा जिससे कि उसको यह मालूम होगा कि उसे साधना मे सफलता मिल रही है, एकाग्रता और तन्मयता बढने से मन पर बाहरी चीजों का Reaction कम हो जावेगा और साधक को एक प्रकार की अवर्णनीय शान्ति का अनुभव होगा बहुत सी ऐसी कमजोरियाँ Frailties of weakness जिनका दूर होना साधक असम्भव समझता था स्वय ही दूर हो जाती है कामोत्तेजना पर विजय पाने और उसको वश मे करने के लिये धारणा और ध्यान से बढ़कर दूसरा कोई अचूक उपाय नहीं, वाणी मधुर, शरीर सौम्य तथा तेजयुक्त हो जाता है। विवेक और प्रज्ञा की उत्पत्ति होती है और मनुष्य को स्थूल जगत के पीछे जो कारण जगत लगा हुआ है उसका ज्ञान प्राप्त होता है दिव्यदृष्टि के खुलने से "ऋतम्भरा प्रज्ञा" आती है Intuition और Inspiraton की जागृति साधक में होती है और भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव प्राप्त होते हैं।

ध्यान की बाधायें भी बहुत है उनको दूर करके तो साधक को आगे बढ़ना पड़ेगा ये बाधायें शारीरिक और मानसिक, स्थूल और सूक्ष्म हैं रोग स्त्यान

संशय प्रमाद आलस्य, आसक्ति भ्रान्ति और मन के विक्षेप होने मे मुख्य बाधायें हैं। शब्द Noise शरीर की चंचलता Ifgettiness जिसे योग दर्शन में 'अङ्गमेजयत्व" कहा है इत्यादि बाधाये हैं ये सब बाधायें कुछ तो शरीर को संयम पूर्वक रखने से और कुछ तीव्र इच्छा शक्ति से दूर की जा सकती हैं इनके अलावा Psychic बाधायें भी हैं जैसे संसार की दूषित विचार धारायें सर्वदा हमारे मानस पटल पर आघात पहुचा रही हैं और उसी प्रकार के विचार और भाव हमारे मन मे भी उत्पन्न कर रही हैं। जिनसे मन की चंचलता बढ़ती है ऐसी विचार धाराओं को न रोका जा सकता है और न मारा ही जा सकता है इसके लिये एक बहुत ही सुन्दर उपाय योग-सूत्र मे भगवान पतञ्जलि ने बताया है "वितर्क बाधने प्रतिपक्ष भावनम्' २।३३ अर्थात् जो कुविचार या कुभाव मन में उठे उसके स्थान पर उस विचार या भाव का उल्टा विचार या भाव मन में धारण कर लो जैसे किसी वस्तु या प्राणी में आसक्ति विशेष हो तो उसके दोषों को देखना शुरू कर दें सूरदास और चिन्तामणि वेश्या की कथा बहुत ही प्रसिद्ध है इसी प्रतिपक्ष भावना के ही कारण बिल्वमगल पापी से महात्मा हो गया।

परन्तु इन सब बाधाओं से बढ़कर और साधक को नीचे गिराने वाली दो मुख्य बाधायें हैं वह है साधक की अधीरता Inpatience और अहंकार Egotism। साधना में अधैर्य कभी नहीं होना चाहिये और साधना मे प्रगति होने पर अहकार नहीं आना चाहिये नहीं तो इन दोनों बाधाओं के आते ही सब साधना समाप्त हो जाती हैं।

इस बात का सर्वदा ध्यान रहे कि यह विद्या करने की है सुनने या पढ़ने की नहीं स्वर्ग अपने ही मरने से दिखलाई देता है, सुनने या दूसरे के मरने से नहीं महात्मा बुद्ध ने धम्मपद में इस लिये कहा है तुम्हें ही "किच्चमातप्प अक्खातारो तथागता." ॥ २०।४ अर्थात् रास्ता तुम को ही चलना और तै करना पडेगा तथा गत अर्थात् सद्गुरु तो केवल मार्ग प्रदर्शन करेंगे।

निम्नलिखित बातों का विशेष रूप से ज्ञान रखकर तो इस साधना मे अग्रसर होना चाहिये एक तो यह कि इस साधना से Blood pressure कम हो जाता है कम Lowblood pressure वालों को यह साधना बहुत सचेत रहकर करना चाहिये नहीं तो हृदय गति के बन्द हो जाने का Heart failure का भय रहता है।

दूसरा यह है साधक को पौष्टिक और शीघ्र पचने वाला भोजन करना चाहिये, जैसे दूध मलाई मक्खन, फल इत्यादि इससे Bloodpressure अधिक गिरने नहीं पावेगा तीसरा यह कि कठिन शारीरिक परिश्रम नही होना चाहिये चौथा किसी प्रकार का भय मन मे नहीं रहना चाहिये ध्यान को समाप्त कर मन को शान्त कर लेना चाहिये पाँचवा साधना के बाद मानसिक थकावट Mental fatigue नहीं होना चाहिये। यदि किसी साधक को ऐसा होता हो तो उसे तुरन्त यह समझ लेना चाहिये कि साधना मे कहीं कोई त्रुटि हो रही है। ऐसे समय में मूर्छा आ जाती है जिसे समाधि समझ बैठते हैं ऐसों को Brain paralysis होने का भय रहता है साधना के बाद तो मस्तिष्क हल्का और चित्त प्रसन्न होना चाहिये यदि ऐसा नहीं होता तो कहीं कोई त्रुटि अवश्य है उसको सुधार लेना चाहिये।

अन्त मे इस प्रकार ध्यान का अनवरत बिना थकावट निष्काम उद्देश्य से दृष्टि को लक्ष्य पर रक्खे हुये अभ्यास करे और इसके द्वारा जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त हो वह अपने साथ के पथिक के साथ बाँटता हुआ जो साधक आगे बढ़ता है उसको ज्ञान की प्राप्ति होती है और वह निश्चय ही लक्ष्य पर पहुचेगा महात्मा वेवेटस्की के शब्दों का उल्लेख करके लेख समाप्त किया जाता है।

"Point out the "way" however dimly and lost among the host, as does the evening star to those who tread their path in darkness. Give light and comfort to the toiling pilgrim, and seek out him who knows still less than you ...and let him hear the law.

Voice of Silence H. P. B.

भगवान् की विचित्र चित्रशाला

(श्री श्रीनाथ जी त्रिपाठी आचार्य, एम० ए०)

ससार भगवान् की एक अनौखी चित्रशाला है जो मनोरञ्जनार्थ कल्पनाओं के आधार पर पञ्च तत्वों के रग एव बुद्धि के बुर्श द्वारा आकाश भित्ति पर अङ्कित की गई है। यद्यपि इसी प्रकार की चलती फिरती, बोलती चालती चित्रावली सिनेमा में दृष्टिगोचर होती है किन्तु इसमे एक विलक्षण अनौखापन है और वह है जड़ चेतन का सयोग वियोग समयानुसार शक्ति का ह्रास विकास आदि।

इस अद्भुत कला को जानने का प्राचीन ऋषि महर्षि आदि सन्त विद्वान् महात्माओं ने वेदादि द्वारा अथक प्रयत्न किया किन्तु दैवी रहस्य को केवल ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर कहकर छोड़ दिया। इसी गूढ रहस्य का नाम माया है। जो अनिर्वचनीय है तथा सदसद्विलक्षण है। अब प्रश्न उठता है कि भाई माया नाम की एक अद्भुत कला जो ज्ञान-भण्डार चेतनतत्व आत्मा को जड़ शरीर के साथ एक लम्बे अर्थात् निरवधि काल के लिये जोड़ देती है। कैसे जानी जाय अथवा इसके इस बेडौल जोड़ से छुटकारा पाया जाय—इसके उत्तर में श्री गोस्वामी जी लिखते हैं—

सोइ जान जेहिं देउ जनाई।
जानत तुमहि तुमहि हुइ जाई॥

वही जान पाता है जिसे आप जना देते हैं। अर्थात् भगवत्कृपा के बिना भागवती माया किसी भी अन्य बुद्धि वैभव से नहीं जानी जा सकती। भगवत्कृपा की भूमिका है भगवद्भक्ति एवं इसका द्वार है श्रद्धा। इसलिये श्रद्धा के द्वार से भक्ति रूपी कुटी में प्रवेश करे एवं विश्वास की श्वासें लेता हुआ अन्तःकरण मे प्रभु का ध्यान करे, आह्वान करे, और करे उनके नाम का जप। इस प्रकार निरन्तर रट लगाते-लगाते जब गद्‌गद् कण्ठ प्रेमाश्रुओं से डवडवाते हुये नेत्र, रोमाञ्चित अङ्ग प्रत्यङ्ग होने लगेंगे तभी आत्म विस्मृति का पूर्व रूप बनने लगेगा जो भक्ति का निदान है।

मित्रो! *सहज उपाय पाइबे केरे,*
नर हत भाग्य देत भट भेरे॥

हमारा ही दुर्भाग्य बाधक हो जाता है जो हम अपने आप मे सर्वदा अबाध रूप मे स्थित प्रभु को पाने में इस प्रकार हताश एव निष्क्रिय हो बैठते हैं जैसे चन्द्रमा को चूस कर अमृत पान की आशा से कोई बुद्धिमान् तदनुसार प्रयत्न नहीं करता। किन्तु ऐसा है नहीं—जहाँ तक सन्तों की वाणी और शास्त्रों के आदेशों का सम्बन्ध है—यह निश्चित सिद्ध ही है कि "विश्वास के बल पर श्रद्धा द्वारा भगवद्‌भजन, भगवत्प्राप्ति का सुगम, सुदृढ़ एव सुनिश्चित साधन है।

अतएव पतित पावन प्रभु के पुनीत प्रेम में विभोर भक्त जन करुणा पूर्ण भावों से भगवान् को भावित कर अपने आत्मसमर्पण द्वारा आत्म-विस्मृति रूपी प्रगाढ़ भक्ति का पूर्ण परिचय देकर प्रभु को पिघला ही लेते हैं। और परम दयालु भक्त वत्सल भगवान् भी ऐसे भक्तों को अपना आत्म-

समर्पण कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि भक्त ने अपना स्वरूप भगवान् को दे दिया तो भगवान उसे ही स्वीकार कर स्वयं उसके भक्त बन जाते हैं और उसकी एवज में भगवान् अपना स्वरूप भक्त को अर्पित कर उसे भगवान बना देते हैं। ॐशान्ति' शान्तिः शान्ति.

संसार रूपी चित्रशाला मे यही तो एक आश्चर्य जनक विचित्रता है कि इसके चित्र प्रतिक्षण अपरिमितरूपों मे परिवर्तित होते रहते हैं, और सभी एक ही प्रकार के नियम से नियमित रहते हैं। सभी स्वतन्त्र हैं तो सभी परतन्त्र भी। सभी बँधे हैं तो सभी मुक्त भी। सभी अलग अलग हैं तो सभी मिले हुये भी। सभी अमर हैं तो सभी मरे हुये भी।

बन्धुओ! यह सभी बातें गहराई के साथ विचार करने की हैं। जगत् परिवर्तन शील है किंतु नियमित परिवर्तन के द्वारा—इसका नियन्ता प्रभु है—

जो चेतन कहँ जड करै जडहिं करै चेतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य॥

जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है तो फल भोगने में परतन्त्र भी है। जीव मोह के पाश में बँधा रहता है तो त्याग की तल्वार से पाश को काट भी देता ही है। नामरूप की अनेकता को अपने चेतन में आरोपति कर भ्रमवश अलग अलग समझता है तो आत्मा की एकता से मिले हुए भी। आत्मरूप से सभी अमर हैं तो शरीर रूप से सभी मरे हुए भी।

अतः यह चित्रशाला विचित्र है जिसके चित्र चितेरे के रूप मे और चितेरा जब तब चित्र के रूप मे भी परिवर्तित होता रहता है।

जो इस चित्रशाला के मर्म को यत् किंचित भी जान पाते हैं उनके अगाध आनन्द की सीमा नहीं रह जाती। इस आनन्द को बालक ध्रुव ने, प्रह्लाद ने, श्री शुकदेव जी ने एवं सन्त सूर ने, तुलसी ने, कबीर ने तथा भक्त शिरोमणि वीर क्षत्रिय बालिका मीराबाई ने प्राप्त कर अपना नाम सर्वदा के लिये ससार के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित करा दिया।

भावुक भगवत्प्रेमियों के हृदय में अपूर्व आदर पूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। भावी सन्तान को इस मार्ग मे अग्रसर होने एवं पूर्ण सफलता प्राप्ति का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। भारत की अतीत की सम्पत्ति धर्म प्राणता में पूर्णतया प्राणसञ्चार कर दिया जब कि कलिकाल की कराल झंझा के झोंकों से पाश्चात्य पतित प्रथानुसार भारत की भावुक जनता भोगों के भारी प्रलोभनों में फँसाकर कर्त्तव्य अकर्त्तव्य में विमूढ़ बनाई जारही थी। अतएव ऐसे उपयुक्त समय में आर्यावर्त की परम प्राचीन पुनीत आर्य परम्परा (जो मरणासन्न दशा को पहुँच चुकी थी। अरब के अत्याचारियों द्वारा) को पुनरुज्जीवित करने का श्रेय प्राप्त किया। बोलिये प्रेम से भक्तों और उनके भगवान् की जय।

लक्ष्मी जी के प्रति

सुनरी अरी मूर्खे ? समुद्रसुते ? इससे मुँह से भी न बोलती है।
कृपणों के ही काले कुटीर में तू हँस के अपना मुँह खोलती है॥
निज वैभव भूमि में खोती हुई यों डॉवाडोल ही डोलती है।
यही शोक कलङ्क कलाधर में जो कि सूमको ही तू टटोलती है॥

भक्तों के भगवान्

(श्रद्धेय श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी)

जीव को कोई आश्रय चाहिये। गाँवों में राज्य की ओर से एक प्रहरी (चौकीदार) रहता है। वेतन तो उसे महीने में दो चार रुपये ही मिलते हैं, किन्तु उस पर एक राज्यपट्टिका (चपरास) रहती है। उसके बल पर वह अकड़कर चलता है। आधी रात्रि में वह निर्भय होकर चला जाता है। सब लोग उससे भय खाते हैं। उसमें जो इतना साहस है, प्रभाव है, वह निजका अपना नहीं; वह जो भी कुछ करता है, राज्य के बल पर करता है। उसे विश्वास है मेरे सिर पर बड़ा शासक है, वह मेरी सब प्रकार रक्षा करेगा।

हमको कोई धनी आकर यह विश्वास दिला दे कि "आप किसी बात की चिन्ता न करें, आपको जो आवश्यकता होगी उसका प्रबन्ध मैं करूँगा।" तो हम कितने निश्चिन्त हो जाते हैं, हमें कितना बल प्राप्त हो जाता है। पीछे चाहे वह अपने वचन को पूरा न करे, किन्तु उस समय तो हम चिन्ताओं से मुक्त हो ही जाते हैं। जब अल्पप्राण अल्पसामर्थ्यवाले इन संसारी शासक तथा धनिकों के आश्वासन से हम बली, निर्भय तथा निश्चिन्त हो जाते हैं, तो जो सबका ईश है, चराचर का स्वामी है, वह डंके की चोट पर छाती ठोककर कहता है कि "तुम सब कुछ छोड़ कर मेरी शरण में आजाओ, मैं तुम्हें सभी दु:खों से मुक्त करदूँगा, तुम सोच मत करो।" यदि हमें भगवान् के इन ओजपूर्ण वचनों पर विश्वास नहीं, तो अभी हम भक्ति मार्ग से कोसों दूर हैं। भगवान् कहते हैं—"मुझे सब भूतों का तुम जब सुहृद मान लोगे तब शान्ति को प्राप्त कर लोगे।"

भक्ति मार्ग में अपना न कुछ कर्त्तव्य रह जाता है, न अपने लिये कुछ पुरुषार्थ यदि कोई कर्त्तव्य रह जाता है तो यह है अपने इष्ट के ही लिये कर्म करना। यदि पुरुषार्थ शेष रहता है तो यही कि अपने योगक्षेम की चिंता को सर्वात्मभावसे उनके ही ऊपर छोड़ देना, भगवान् को अपना मान लेना। उनसे अपनी इच्छानुसार कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित कर लेना। भगवान् तो ऐसे भोले हैं कि उन्हें जो कोई पिता बनाता है, पिता बन जाते हैं, माता बनाता है माता बन जाते हैं, यहाँ तक कि वे भाई, बन्धु, सखा, सुहृद्, पुत्र तथा पत्नी तक बन जाते हैं। इस सम्बन्ध की बहुत सी कथायें हैं। उन्हीं कथाओं में से एक बुढ़िया की कथा है। वह गोपालजी को अपना पुत्र मानती थी, पुत्र की भाँति उनकी देख-रेख रखती। प्रात: तड़के उठकर उनके मुँह हाथ धुलाती। मक्खन निकाल कर उन्हें खिलाती। गोपाल जी प्रत्यक्ष उसके आँगन में खेलते। उससे लड़ाई झगड़ा करते। साग भाजी न बनाती तो बुढ़िया से रूठ जाते। बुढ़िया उनकी इन बातों से खीज उठती। उन्हें खरी खोटी सुनाती। कहती— मैं बूढ़ी होगयी, तू कुछ कमाई तो करता नहीं। मुझे सदा दु:ख देता रहता है। मैं तेरे लिये साग भाजी कहाँ से लाऊँ, जो बना है वही खाले।" इसी प्रकार माँ बेटा में नित्य ही प्रेम कलह होती रहती।

एक दिन बुढ़िया ने सुना। एक भेड़िया आया है वह बच्चों को उठा ले जाता है, तब तो उसे बड़ी चिन्ता हुई। "मेरा गोपाल छोटा है, वह चपल भी बड़ा है, रात्रि में कहीं भेड़िया उसे उठा न ले जाय।" इस विचार के आते ही उसका हृदय द्रवीभूत हो उठा। उसने रात्रि में सोना ही छोड़ दिया। डंडा लेकर रात्रि भर द्वार पर बैठी रहती। इस प्रकार उसे कई दिन होगये। भगवान् भला अपनी माँ का इतना दु:ख कैसे देख सकते हैं। वे एक ग्रामीण के वेष में आये और बोले—"माँ! वह बालक को उठा लेजाने वाला भेड़िया तो मार दिया गया। तू विश्वास कर, अब वह नहीं है।" तब बुढ़िया ने सोना आरम्भ किया। यह कथा पुरानी है, किन्तु ये भाव तो नित्य हैं। अब भी ऐसे भक्त हैं और आगे भी होंगे। यह अभी थोड़े ही दिन की बात है।

× × ×

बरेली में एक बुढ़िया थी। उसके पास एक गोपालजी थे। उसका भी उनमें पुत्रभाव था। वह उसके आँगन में खेलते, उससे बातें करते। हमारे यहाँ प्रयाग में एक बड़ी नामी वैद्या महिला हुई हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व उनकी मृत्यु

हुई है उनका नाम था यशोदादेवी। उनका उस बुढ़िया से कोई सम्बन्ध था। बुढ़िया की इच्छा माघमकर में त्रिवेणी स्नान की हुई। उसने अपने गोपाल जी से कहा—"देख, तू यहीं रहना। मैं प्रयाग स्नान कर आऊँ, वहाँ भीड़ भाड़ में तू कहीं पिचपिचा जायगा।"

गोपाल जी ने कहा—"नहीं नहीं, मैं भी चलूँगा। मैं यहाँ अकेला नहीं रहूँगा।"

बुढ़िया ने कहा—मैं तेरी इसी हठ से दुखी रहती हूँ। तू मेरी बात मानता ही नहीं।

गोपाल जी मचल उठे। उन्होंने कहा—मैं तो चलूँगा ही। मैं भी प्रयाग स्नान करूँगा।

बुढ़िया ने कहा—'तू तो मेरे पीछे पड़ा है। मैं तुझे नहीं ले जाती।"

यह कहकर वह पूजा किसी दूसरे को सौंपकर घोड़ागाड़ी में बैठकर चल दी। उसने देखा घोड़ागाड़ी के साथ गोपाल जी दौड़े आ रहे हैं। वह गाड़ी में से ही चिल्लायी—"अरे, तू कहाँ चल रहा है। पैदल क्यों दौड़ता है, इसने तो बड़ा द्वन्द मचा रखा है।" यह कहती कहती वह अधीर हो गयी। उसने गाड़ी खड़ी करायी। गोपाल जी भाग गये। फिर गाड़ी चली तो पीछे पीछे उसे गोपाल जी दिखायी दिये। फिर वह चिल्लाने लगी। और किसी को तो गोपाल जी दीखते नहीं थे। लोगों ने समझा—बुढ़िया वैसे ही बक रही है, फिर किसी ने गाड़ी खड़ी नहीं की। स्टेशन पर पहुँचकर सब रेलगाड़ी में बैठे। गोपाल जी भी द्वार पर खड़े हुए। जैसे तैसे उसने उन्हें बुलाया। प्रयाग पहुँच कर सब लोग कटरा कर्नलगंज में यशोदादेवी के बंगले पर ठहरे। प्रातःकाल त्रिवेणी स्नान करने चले। बुढ़िया ने इक्के में बैठने को अपने गोपाल से बहुत कहा, किन्तु वे नहीं बैठे। इक्के के साथ ही साथ दौड़ते हुए त्रिवेणी तक गये। बुढ़िया बड़बड़ाती रही, गोपाल जी को खरी खोटी सुनाती रही। लोगों ने समझा बुढ़िया का माथा फिर गया है।

त्रिवेणी जी पर पहुँचकर बुढ़िया ने गोपाल जी को पकड़ा। उन्हें स्नान कराके तखत पर खड़ा किया और कहा—"भीतर जल में मत जाना यहीं खड़े रहना।" यह कहकर बुढ़िया नहाने लगी। गोपाल जी ने कहा—"मुझे तो बड़ी भूख लगी है।" बुढ़िया अत्यन्त खीज गयी और बोली—"तू मुझे बहुत दुःख देता है। अब यहाँ मैं तेरे लिये खाने को कहाँ से लाऊँ।"

गोपाल जी ने कहा—"यहाँ जलेबी मिलती हैं, मुझे जलेबी मँगादे।

बुढ़िया ने अपने साथी से कहा—"भैया! पाव भर जलेबी ला दो।"

उन दिनों डेढ़ दो आने पाव जलेबी मिलती थीं वह आदमी गरम जलेबी ले आया। अब तो गोपाल जी फिर मचल गये और बोले—"मैं इन जलेबियों को नहीं खाऊँगा। यह तो कोकोजमकी हैं।" बुढ़िया कोकोजम समझती ही नहीं थी। उसने अपने साथी से कहा—"भैया, यह मेरा पीछा न छोड़ेगा। कुछ न कुछ ऐब निकालते ही रहेगा। कोकोजम क्या होता है, उसकी जलेबी यह नहीं खाता, इसे घी की जलेबी ला दो।

तब वह आदमी खोजकर एक विश्वसनीय दुकान से पाव भर या आध सेर जलेबी ले आया। सबने समझा बुढ़िया की इच्छा स्वय ही जलेबी खाने की है, इस लिये पाखण्ड रच रही है।" किसी ने कह भी दिया। बुढ़िया ने इधर ध्यान ही नहीं दिया। उसे तो अपने गोपाल की चिन्ता थी। सब लोग बुढ़िया को घेर कर बैठ गये। पंडा के तखत पर उसने कहा—"ले खाले, अब तो ये घी की हैं।" सबने आश्चर्य के साथ देखा, कि दोना तो है किंतु उसमें एक भी जलेबी नहीं। बुढ़िया गोपालजी को खिलाकर चल दी। पीछे लोगों ने उससे पूछा जिससे पहिले जलेबी लाये थे। उसने बतलाया सचमुच मैंने कोकोजम (जमे तेल) से ही जलेबी बनायी थीं।

यह बात कोई बनावटी नहीं पुरानी नहीं। अभी थोड़े दिनों की बात है। इस घटना को देखने वाले लोग अभी शायद जीवित भी हैं। ऐसी ही एक घटना अभी हाल की और है।

झाँसी जनपद में एक स्थान है ललितपुर। वहाँ पर एक साधु रहते थे, उनका नाम था लाला बिहारिया। नाम तो उनका रामचन्द्रदास था. इस नाम के पड़ने का एक इतिहास है। उनका अत्यन्त योग्य युवक पुत्र था, उसकी

असमय ही मृत्यु हो गयी। इससे उन्हें दुःख होना स्वाभाविक ही था। उसी दुःख में उनके मन में यह बात आई कि क्यों नहीं मैं भगवान् को ही अपना पुत्र मान लूँ ऐसा मन में आते ही उन्होंने कुञ्जविहारी जी को अपना पुत्र मान लिया। पुत्र भाव से ही वे उन्हें मानने लगे। प्यार में वे बिहारी जी को बिहरियालाला कहते। इसलिये सब लोग भी उन्हें बिहरियालाला ही कहने लगे। वहाँ आस पास यह बात फैली थी कि बिहारी जी इनसे प्रत्यक्ष बातें करते हैं। कोई वैष्णव साधु इसकी परीक्षा करने कई महीनों उनकी कुटिया पर रहे और उनकी सब चर्या देखी। उन्हीं के द्वारा ज्ञात हुआ कि भगवान् प्रत्यक्ष हो कर उनको पुत्र का सुख देते थे। सोते सोते रात्रि में कहते—"अरे, लाला! देख तुझे दया भी नहीं आती, मैं बुड्ढा हो गया। तू अपने पैर मेरे पेट में घुसेड़ देता है। तनिक पैर को हटा ले।" बाहर सोये हुए साधु ने नूपुर की झुनझुन की ध्वनि सुनी और ऐसा प्रतीत हुआ कि कोई चरण हटकर दूसरी ओर हुआ है।

उनको जल भी पीना होता, तो कहते—"लाला, मैं जल पीऊँगा। किसी बात पर मन चले तो उसे वे लाला से कहते। एक दिन कह रहे थे—"इस बुढ़ापे में मन भी कैसा हो जाता है, आज मन करता है, मिस्सीरोटी हरीमिर्च के साथ खाऊँ। वैसे लाला मेरा सब प्रबन्ध करता है इसका भी प्रबन्ध करेगा, किन्तु यह मन बड़ा दुष्ट है।" इतने में ही एक आदमी आया और उनसे कहा— बिहरियालाला! आज हमारे यहाँ आप प्रसाद पावें, किन्तु मिस्सीरोटी और हरी मिर्च की चटनी यही खिलावेंगे।" उन्होंने कहा—"आज मैंने लाला से यही तो कहा था। वही सब मेरी इच्छा पूरी करता है।"

ज्ञान मार्ग में ध्यान और भक्ति मार्ग में गान ये मुख्य साधन माने जाते हैं। हमारे बिहारियालाला भी गाना सुनने के बड़े अनुरागी थे। जो भी गाने वाले नाचनेवाले आते, तो कहते—हाँ, हमारे लाला को गाना सुनाओ उसे नाच दिखलाओ। हमारा लाला बड़ा नचैया गवैया है। जो भी आकर नाचता गाता, उसे ही पाँच रुपये पारितोषिक देते। गद्दी के नीचे से रुपये निकाल कर दे देते। वे रुपये कहा से आते थे कुछ पता नहीं। नाचने गाने वाला कोई क्यों न हो, बहुत सी नर्तकी आकर नाच जातीं, गा जातीं, उनके लाला को संगीत सुना जाती। उनको भी भेंट देते। ५) उनके बँधे थे।

महात्मा बिहारिया के प्रेम की अनेकों बातें हैं जो स्थल सकोच के कारण लिखी नहीं जा सकतीं। उन्हें सदा एक प्रकार का आवेश सा रहता था। शौच को बैठे हैं—लड़कों ने चिल्लाया—"बिहरियालाल की जय" तो तुरन्त वे भी चिल्ला उठते—"बिहरिया लाला की जय।" पीछे लड़के कहते हैं—"आप शौच होते होते बोल उठे।" वे कहते—"हम कब बोले।"

मरते समय वह कह गये—"लाला! मेरी क्रिया कर्म तू ही करना। मेरी हड्डी को गंगा जी में पहुँचाना।"

थोड़े दिन हुये उनकी मृत्यु हुई। सब लोग बड़ी धूम धाम से उन्हें श्मशान में ले गये। उसी समय एक सुन्दर लड़का पीले वस्त्र पहिने रोता हुआ आया कि "इनकी कपाल क्रिया तो मैं करूँगा।" कोई भी आपत्ति न कर सका। बालक रोता ही रहा, रोता ही रहा। उसके अश्रु बन्द ही नहीं होते थे। जब तक चिता जलती रही वहीं रहा। फिर कई दिन पश्चात् एक ताम्रकलश लाया, उनकी हड्डियों को चुनकर गंगा जी के लिये चला गया। सभी लोगों ने उन्हें देखा।

× × ×

फर्रुखाबाद में एक भक्त थे। बड़े सरल बड़े सीधे बड़े रसिक। हम सब लोग उन्हें बड़े बाबू जी कहते थे।

एक बार एक रामलीलामण्डली फर्रुखाबाद में आयी उसमें जो श्री राम बनते उनमें उन्हें साक्षात् श्रीरामचन्द्र जी का भाव हो गया। और उनमें उन्होंने अनेक अलौकिक शक्तियाँ भी देखी थी। उनका बड़ा भारी जीवन-चरित्र है स्वयं भी उन्होंने अपना जीवन चरित्र लिखा था, उसे प्रकाशित करने की भी बात थी। मुझसे उन्होंने कहा भी था, किन्तु तब वह प्रकाशित न हो सका। बाबू जी बड़े अच्छे रसिक कवि भी थे। उनकी कई छोटी छोटी पुस्तकें प्रकाशित भी हुई थीं। एक थी "जनकपुर के सखा।" वे बड़े ही शान्त गंभीर, नम्र तथा तेजस्वी थे। बहुत ही कम बोलते थे, जो भी बोलते थे ऐसा लगता था मानो अमृत उड़ेल रहे हैं। सुना अभी वर्ष दो वर्ष पहिले परलोकवासी हुये हैं। उनकी आर्थिक स्थिति जीवन भर अत्यन्त ही साधारण रही। अन्त समय फर्रुखाबाद छोड़ जयपुर चले

गये थे। उनका भगवान् पर अत्यन्त ही विश्वास था। उनके कोई पुत्र नहीं था। पुत्री ही थी। जैसी कि सभी की इच्छा होती है, उनकी भी इच्छा थी एक पुत्र हो जाय। उनको आशा थी, अब के पुत्र होगा, किन्तु अब के पुत्री ही हुई। धायने आकर कहा—"पुत्री हुई है।"

बाबू जी ने कहा—जैसी भगवान् की इच्छा। वे ध्यान करने लगे। कुछ ही काल पश्चात् धाय आई कि वह तो पुत्र हो गया। यह एक अद्भुत चमत्कार था। भगवान् भक्त की इच्छा कैसे पूर्ण करते हैं। इसे बिना भक्त बने तर्क से कोई समझ नहीं सकता। यह अनुभव की वस्तु है। बाबू जी का वह पुत्र तो अभी तक है।

ऐसी ही एक घटना और हुई। उनके घर में उनके पिता की या किसी और सम्बन्धी की मृत्यु हुई। बाबूजी नागर ब्राह्मण थे। उनके यहाँ कुल परम्परागत कुछ ऐसी प्रथा है कि वे अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य किसी से मृतक को नहीं उठवाते। जातिवाले ही उसे श्मशान तक ले जाते हैं। वहाँ उनका कोई जाति बन्धु नहीं था। घर में वे अकेले ही थे। वे बड़ी चिन्ता में थे अब क्या करें। सहसा पीले पीले कपड़े पहिने चार पाँच व्यक्ति आये और उन्होंने आकर कहा—"हम गुजराती ब्राह्मण हैं, हमारे पूर्वज गुजरात के अमुक स्थान के थे। हम इनका दाह संस्कार कर आवेंगे" यह कह कर वे उन मृतक को बड़ी धूम धाम से ले गये। सब कार्य कराकर वे लोग चले गये, फिर किसी ने उन्हें नहीं देखा।

इस प्रकार एक नहीं अनेकों उदाहरण हैं कि भगवान् स्वयं ही अपने भक्तों के समस्त कार्यों को करते हैं। आप ही सोचो भगवान् यदि भक्तों की इतनी देख रेख न रखें, इतनी भक्तवत्सलता प्रकट न करें तो भक्तों का कैसे निर्वाह हो, वे किस प्रकार ऐसे निर्भय हो कर संसार में विचरें। बहुत से लोग कहते हैं—"संसार कर्माधीन है, जैसा करोगे वैसा भरोगे। अच्छे कर्म करोगे सुख पाओगे, बुरे कर्म करोगे दुःख पाओगे। कर्म की रेख पर कोई भी मेख नहीं मार सकता। यह विश्व तो कर्म प्रधान है जो जिसका पेड़ लगावेगा उसे उसी का फल मिलेगा। भक्तिमार्ग कर्म का विरोध नहीं करता। उसे इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति नहीं।

भक्त नहीं चाहते कि कर्मानुसार फल भोगने में हमारे साथ कुछ पक्षपात किया जाय। इस बात को भगवान् मान लेते हैं, कि भक्त को कर्म भोग भोगने पड़ें, किन्तु अपने भक्तों को वे ऐसी शक्ति दे देते हैं कि उन्हें दुःख, दुःख नहीं प्रतीत होता। दुःख के समय भगवान् को बार-बार अपने भक्त की देख रेख को आना ही पड़ता है। इसलिये उनका वह दुःख अनन्त प्रकार के सुख रूप में परिणत हो जाता है, तभी तो महारानी कुन्ती ने दुःखों का ही वरदान माँगा है कि अपुनर्भवदर्शन! आप के दर्शन हमें दुःख के ही समय तो होते हैं।

पुरी के परम भगवत् भक्त श्री जगन्नाथ दास वैष्णव की कथा है। उन्हें संग्रहणी हो गयी थी। बार बार उन्हें शौच जाना पड़ता था। अंत में ऐसी दशा हो गयी कि लँगोटी अशुद्ध हो जाती। उसी समय एक बालक आजाता, उनकी लँगोटी धोता और सब प्रकार की सेवा करता। कई दिन तक वह निरन्तर इसी प्रकार सेवा करता रहा।

एक दिन जगन्नाथदास जी ने पूछा—"भैया, तुम कौन हो, मेरी ऐसी सेवा क्यों करते हो?"

उसने कहा—"मैं ही जगन्नाथ हूँ, तुम मेरे भक्त हो, तुम्हारी सेवा करना मेरा धर्म है, अपने भक्तों की सब प्रकार की देख रेख मैं करता हूँ।"

जगन्नाथदास जी ने कहा—"भगवन्! आप त्रिलोकीनाथ होकर भी ऐसा हेय कार्य क्यों करते हैं। आपके तो सङ्कल्पमात्र से सृष्टि हो जाती है, आप पर जब मेरा दुःख नहीं देखा गया, तो आप अपने संकल्प से ही मेरे रोग को निवृत्त कर सकते थे। ऐसी घृणित सेवा आपके स्वरूपानुरूप नहीं है।"

इस पर भगवान् ने कहा—"जगन्नाथदास जी! प्रारब्ध कर्म को तो आप भी मेटना नहीं चाहते। किन्तु मेरी प्रतिज्ञा है, भक्तों के योगक्षेम का समस्त भार मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ। जब मैंने समस्त भार ले लिया, तो फिर उसमें छोटे बड़े का प्रश्न ही नहीं उठता।"

सारांश यह है कि भक्त जब सब प्रकार से भगवान् के शरणापन्न हो जाते हैं, तो उनके सभी काम भगवान स्वयं ही करते हैं।

भीष्मपितामह जब चलने में असक्त हो गये। शरशय्या पर विंधे रहने के कारण हिलडुल भी नहीं सकते थे, किन्तु वे भगवान् को देखते देखते शरीर छोड़ना चाहते थे। तब भगवान् वासुदेव स्वयं ही हस्तिनापुर से चलकर उनके समीप पहुँचे और जब तक उन्होंने देह त्याग नहीं किया, उनके सम्मुख ही बैठे रहे। यही भगवान् की भक्तवत्सलता है।

गृद्धराज रावण के प्रहारों से आहत हो गया था, उसके मुख से निरन्तर रक्त निकल रहा था। उसकी चेतना लुप्त हो गयी थी, उस समय वह भगवान् का ध्यान करने में सर्वथा असमर्थ था। भक्तभयहारी भगवान् स्वयं उसके समीप पहुँच गये। वह स्मरण न भी कर सका, किन्तु श्री रामचन्द्र जी ने उसका स्मरण किया। उसे अपनी गोदी में बिठाकर बार बार चाचा चाचा कहकर पुकारते रहे। मरते समय जो भगवान् का स्मरण करते हैं, वे भक्त धन्य हैं। किन्तु जिनका मरते समय भगवान् ही स्मरण करें उनके भाग्य का तो कहना ही क्या है।

यही बात एक बार भूदेवी ने वाराह भगवान् से पूछी—"भगवन्! जो आपके ऐसे भक्त हैं कि जीवन भर उन्होंने आपका स्मरण किया किन्तु मरते समय उनकी वाणी रुक गयी या कोई असाध्य रोग हो गया कि वे आपका स्मरण न कर सके, तो उनकी क्या गति होगी?"

इस पर भगवान् वाराह ने कहा—"देवि! जो पुरुष शरीर के स्वस्थ रहने पर, मन के स्थिर रहने पर, सब धातुओं की साम्यावस्था में मुझ-विश्वरूप अनादि अज अच्युत का स्मरण करता है, यदि वह मरते समय काष्ठ पाषाण के सदृश हो जाता है, तो उस म्रियमाण अपने भक्त का मैं ही स्मरण करता हूँ, मैं स्वयं ही उसका स्मरण करके उसे परमागति को प्राप्त करा देता हूँ, अर्थात स्वयं ही उसे अपने लोक में ले जाता हूँ।*

---

*स्थिरे मनसि सुस्वस्थे शरीरे सति यो नरः। धातुसाम्ये स्थिते स्मर्ता विश्वरूपमजं हि माम्।
ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठ पाषाण सन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

शरणागत वत्सल शिवि

(श्री मञ्जुल जी)

जीवन को, कर्त्तव्य पाथ प्रवाह में, लगन के साथ, नित्य निरन्तर निश्छल हृदय से, प्रवाहित करना ही, यथार्थ प्रगति है। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में कर्त्तव्य पालन करते हुये जीवन दे देने वालों को ही अमरकीर्ति प्राप्त होती है। उशीनर देश के नरेश, महाराज शिवि, अपने नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन करते हुये, हरिभक्ति मे तल्लीन होकर भी प्रजा का पालन नीति न्याय पूर्वक किया करते थे। अनाथों को आश्रय देना, शरणागतों को शरीर देकर भी रक्षा करना उनका मुख्य व्रत था।

देवराज इन्द्र को महाराज शिवि के पुण्य से भय हुआ। उन्होंने यह समझा, कि यदि इसी प्रकार इनके कर्त्तव्य पालन की प्रगति रही तब एक न एक दिन हमारा स्वर्ग का सिंहासन छिन जायेगा। अस्तु, उन्होंने परीक्षा के लिये, धर्मदेव और अग्नि को भेजा। धर्मदेव बाज बन गये और अग्निदेव कबूतर बन गये। महाराज शिवि प्रातःकाल जिस समय सुख पूर्वक अपने राजभवन मे बैठे हुये, श्रीहरि चिन्तन कर रहे थे। उसी समय एक भयभीत कबूतर राजा शिवि की गोद मे आकर गिर गया।

महाराज शिव ने, शरणागत कपोत को बड़े प्रेम से पुचकारा, उसके शिर पर हाथ फेरा और उसको अत्यन्त हित के साथ अपनी गोद में बैठा कर बोले, "प्रिय पक्षिन्! अब तुम बिलकुल न डरो,

मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। तुम निश्चिन्त होकर हमारी गोद में बैठे रहो।' महाराज के वचन सुन कर वह कबूतर शान्त होकर चुपचाप महाराज की गोद में बैठ गया।

थोड़ी देर बाद राजा के सम्मुख एक बाज ने आकर कहा, राजन्, मेरे आहार, इस कबूतर को आप शीघ्र ही छोड़ दीजिये मैं इस समय बहुत भूखा हूँ।' महाराज ने कहा, 'पक्षिराज! अब यह कबूतर तुम्हें कदापि प्राप्त नहीं हो सकता, इसने मेरी शरण ली है, शरणागतों की रक्षा करना मेरा मुख्य कर्त्तव्य है। मैंने इसे अभयदान दिया है। अत: इसको छोड़कर तुम दूसरा कोई आहार ढूँढ़ लो।'

बाज ने कहा, राजन्! शरणागत की रक्षा करना आपका प्रमुख कर्त्तव्य है। किन्तु साथ ही सारी प्रजा के प्राणों की रक्षा करना भी तो आपका कर्त्तव्य है। मुझे आज यदि यह कबूतर नहीं मिला तब मैं सध्या समय तक अवश्य ही मर जाऊँगा। मेरे मरते ही मेरे आश्रित मेरा परिवार पूराका पूरा समाप्त हो जावेगा। आपको एक प्राणी के प्राणों की रक्षा करने के बदले अनेकों जीवों के भूखों मरने का पाप लगेगा। अतएव मेरे प्राणों की रक्षा करना भी आप का मुख्य कर्त्तव्य है।' राजा ने कहा, 'प्यारे बाज? यदि तुम्हें इस कबूतर के बराबर किसी दूसरे का मास खाने के लिये दे दिया जावे उससे तुम्हारा पेट भर दिया जावे, तब तुम्हारी रक्षा हो सकेगी?

बाज ने कहा, 'राजन्! विधाता ने हम मांसाहारी बाज पक्षियों की विचित्र प्रकृति बनाई है। हमे जीवित पक्षी का मांस नोच नोच कर खाने से ही पूर्ण सन्तोष होता है। इसके अतिरिक्त दूसरे मृत शरीरों का मास हमें रूचिकर नहीं होता। राजा ने कहा 'पक्षिवर! यदि तुम्हे इस कबूतर के बदले मे मैं तौलकर अपने शरीर का मास खाने के लिये दे दू तब तो तुम कबूतर को छोड दोगे तुम्हारी तृप्ति हो जायेगी? बाजने कहा हाँ! हाँ! महाराज! मैं इस कबूतर के बदले आप के पवित्र शरीर का मांस ले लूँगा, उसी से मेरी तृप्ति हो जावेगी।

राजा ने तत्काल ही तराजू मँगवाकर एक पलड़े पर कबूतर को बैठा दिया और दूसरे पर अपने शरीर का मास तलवार से काट-काट कर चढाना प्रारम्भ कर दिया। देखने वाले सहम गये, सारी भूमि रक्त रञ्जित हो गई, किन्तु राजा का साहस और धैर्य असीम था। राजा जैसे-जैसे अपना मास काटकर अपने पलड़े पर चढ़ाता जाता था, वैसे वैसे कबूतर वाला पलड़ा और भारी हो जाता था राजा ने अपने शरीर के खण्ड खण्ड कर दिये तब भी कबूतर का पलड़ा भूमि पर ही रक्खा रहा। अन्त मे राजा ने घसीट कर अपना कुल शरीर उसी पलड़े पर रख लिया। महाराज शिवि के इस अपूर्व बलिदान को देखकर समस्त देवगण आकाश से धन्य धन्य कहते पुष्प बरसाने लगे। धर्मदेव और अग्नि ने अपने असली स्वरूप में प्रकट होकर महाराजा शिवि को गले लगा लिया। उनकी कृपा से राजा का सारा शरीर पूर्ण होकर वैसा ही सुन्दर बन गया। तथा उन्हें शरणागतरक्षा के कर्त्तव्य पालन से अक्षय स्वर्ग सुख की प्राप्ति हुई।

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्ति नाशनम्॥

शंका-समाधान

(प्रेषक—श्री हरिशंकर जी वर्मा)

शंका—विश्व की सेवा से क्या अर्थ है और कोई सारे विश्व की सेवा करने की योग्यता कैसे रख सकता है।

समाधान—वास्तव में विश्व की सेवा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवम् बड़ा गहन है अतः यदि हम केवल इसके शाब्दिक अर्थ पर जायें तो हम निरुत्साहित हो जायगे कि हम विश्व की सेवा कर ही नहीं सकते क्योंकि सारे विश्व की सेवा करने की हममे शक्ति ही नहीं दिखाई पड़ती। परन्तु वास्तव मे यह हमारी भूल है, हमें इसका व्यापक अर्थ लेना चाहिये। विश्व की सेवा करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि हम विश्व के प्रत्येक प्राणी की सेवा करें, क्योंकि ऐसा करना असम्भव ही है। हमारी हर प्राणी तक पहुँच नहीं हो सकती। यह सत्य है कि हमारा शरीर हर प्राणी तक उनकी सेवा करने मे नही पहुँच सकता लेकिन हमारी भावना निश्चय ही हर प्राणी तक पहुँच सकती है। अस्तु हमें हृदय मे विश्व की सेवा की भावना करके अपने जीवन को इसमे लगा देना चाहिये। जिस प्रकार केवल पते के द्वारा तीन पैसे का पोस्टकार्ड १० मील, १००, मील तथा १००० मील अथवा दुनियाँ के किसी भी कोने में जा सकता है उसी प्रकार भावना रूपी पते से हम विश्व के कोने कोने मे हर प्राणी की सेवा करने के लिये पहुँच सकते हैं। कर्म का रूप असीम नहीं है पर भावना का रूप असीम है। भावना से ही हमें उस असीम परमात्म तत्व का ज्ञान हो जाता है और भावना ही हमे परमेश्वर तक पहुँचाती है। अस्तु हमें विश्व की सेवा की भावना रखकर अपना कर्त्तव्य करना चाहिये तब हम देखेंगे कि हम शरीर रक्षा के लिये जो कुछ भी करते हैं वह सब ही विश्व की सेवा है। क्योंकि शरीर रूपी मशीन से ही हम परहित कर सकते हैं अस्तु जो क्रियायें हमारे शरीर की रक्षा में सहायक हैं वह हमारे परहित साधन में सहायक हुई। देखो एक आदमी एक विधवा को सच्चरित्र बनाये रखने मे सहायता करता है क्या वह विश्व की सेवा नहीं कर रहा है। मान लो वह विधवा आज दुश्चरित्र हो जाती है तो उसकी देखा देखी और भी विधवाओं में यह प्रलोभन उठ सकता है और यदि सब उसका अनुसरण करें तो संसार में व्यभिचार का बाजार गरम हो जायेगा। उसी प्रकार यदि एक मनुष्य अपना एक दुर्गुण छोड़ता है तो वह उसी के द्वारा सारे विश्व का कल्याण कर रहा है। एक बड़ा सुन्दर उदाहरण है एक सेठ का लड़का गांजा व चरस पीने का बड़ा आदी था और रोज १०) की चरस स्वय पी जाता था और अपने इष्ट मित्रों को पिलाता था। एक दिन एक उत्सव में महात्माओं के उपदेश से प्रभावित होकर उसने इस आदत को छोड़ने का संकल्प किया और छोड़ दिया। यदि हम मानले कि वह ५० साल तक जीवित रहता है तो अपने जीवन में ३६५×१०×५० = १८२५००) करीब दो लाख रुपया चरस मे स्वयं फूंकता और इससे कहीं अधिक धन उसके इष्ट मित्र जिनमे वह इसकी आदत डलवा रहा था फूंक डालते। उसके इस दुर्गुण के छोड़ने से लाखों रुपये की बचत हुई तथा हजारों उसके त्याग से प्रभावित होकर स्वयं उस दुर्गुण से बचे क्या यह उसने विश्व की सेवा नहीं की अस्तु प्रत्येक मनुष्य केवल अपने मे गुण संग्रह करने का प्रयोग कर रहा हो तो वह अवश्य ही विश्व की सेवा करता है। इस लिये हमें चाहिये कि हृदय में विश्व को सेवा की भावना रखकर अपना कर्त्तव्य करते हुये मन वाणी तथा शरीर का तप करें। यही उनकी सच्ची विश्व की सेवा है।

सत्संग-समाचार

सत्सङ्ग-सम्मेलन मोक्षाश्रम बैरी

सदा की भांति, श्री दैवी सम्पद् मण्डल के तत्वावधान में मोक्षाश्रम बैरी (Ry Statean Barrajpur B. B. C. I R.) में आगमी क्वॉर शुक्ल ८ ६, १० तदनुसार, शुक्रवार, शनिवार तथा रविवार, दिनांक १६-१७ तथा १८ अक्टूबर १९५३, को तीन दिन का एक विराट् सत्संग-सम्मेलन होगा। इस समारोह में प्रसिद्ध महात्मा तथा कथावाचक विद्वानों के अतिरिक्त श्री दैवी सम्पद् मण्डल के सभी महात्मा वर्ग पधारेंगे।

सभी प्रेमी भक्तों से प्रार्थना है कि इस अवसर पर पधार कर जीवन का लाभ उठावें।

ऋषिपञ्चमी महोत्सव
मुमुक्षु-आश्रम, शाहजहाँपुर

भाद्रपद शुक्ला ५ रविवार दिनांक १३। ६। ५३ को मध्याह्न काल में श्री रामचरितमानस जी का अखण्ड पारायण आश्रम निवासी ब्रह्मचारियों महाविद्यालय के अध्यापकों तथा नगर के भक्त सद्गृहस्थों द्वारा सानन्द सम्पूर्ण हुआ एवं ब्रह्मलीन परम पूज्य श्री गुरुदेव भगवान श्री १००८ श्री स्वामी एकरसानन्द जी महाराज की जयन्ती बड़े समारोह के साथ मनायी गयी। एवं सायम् ५ बजे से श्री केदारेश्वर भगवान के भव्य मन्दिर में ऋषिपूजन प्रारम्भ हुआ, नागरिक नर-नारियों की पर्याप्त उपस्थिति में नैष्ठिक भक्तों द्वारा षोडशोपचार पूजन ऋषि तर्पण तथा यथाविधि विविध विरुदावली पूर्ण स्तोत्रपाठ सभी के द्वारा मिल कर किया गया। एवं ऋषियों सहित भगवान् की सामूहिक आरती करते हुए श्री भगवन्नाम कीर्तन की गम्भीर ध्वनि के साथ सभा विसर्जित की गयी।

दमा श्वास औषध वितरण

गत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी दमा-श्वास की औषधि का वितरण दैवी सम्पद् मण्डल के निम्न-लिखित आश्रमों पर होगा।

शरद् पूर्णिमा ता० २२ अक्टूबर १९५३ को रोगियों को चाहिये कि उस दिन व्रत रक्खें और दो छटॉक साठी चावल एवं तीन पाव गौ का दूध लेकर नीचे लिखे दैवी सम्पद् महामण्डल के आश्रमों में से किसी एक समीप वाले आश्रम पर उपस्थित होवें। रात्रि में तीन चार बजे स्थानीय पूज्य श्री स्वामी जी महाराज औषध वितरण करेंगे।

औषध वितरण स्थान—

१ श्री परमार्थ निकेतन, स्वर्गाश्रम ऋषीकेश।
२. श्री मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर।
३ श्री एकरसानन्द आश्रम, मैंनपुरी।
४. श्री मोक्षाश्रम बैरी (station Barrajpur B.B.C. I- R.)।

व्यवस्थापक

फ़ोन नं० १०१ रजिस्टर्ड नं० ए-८७८

नीति

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम् ॥
सौजन्यं यदि किं गुणैः स्वमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥

यदि लोभ है तो और औगुणों की क्या जरूरत ! यदि परनिन्दा या चुगलखोरी है, तो और पापों की क्या आवश्यकता ? यदि सत्य है, तो तपस्या से क्या प्रयोजन ? यदि मन शुद्ध है, तो तीर्थों से क्या लाभ ? यदि सज्जनता है तो और गुणों की क्या जरूरत ? यदि कीर्ति है, तो आभूषणों की क्या आवश्यकता ? यदि उत्तम विद्या है, तो धन का क्या प्रयोजन ? यदि अपयश है, तो मृत्यु से और क्या होगा ?

मुद्रक तथा प्रकाशकः—स्वामी सर्वदानन्द सरस्वती, परमार्थ प्रेस, पो० मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

सचित्र मासिक-पत्र

विदेश के लिये ८)

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ अक्टूबर १९५३ | आश्विन शुक्ला दुर्गाष्टमी गुरुवार, सम्वत् २०१० | अङ्क—१०

श्री महालक्ष्मी--वन्दना

श्री वृन्दारकवृन्द वन्द्य चरणाऽमन्दार विन्दासना ।
पार्श्वाभ्यामभित. स्वलंकृतगज द्वन्द्वस्य शुण्डस्रजा ॥
नानाभूषण भूषिता स्मितमुखा मुख्यार्थिभिः पूजिता ।
श्री लक्ष्मी रमताम् स्वभक्तसदने दीपावली वेल्लिता ॥

अर्थ—अखिल लोकनायक नारायण की विश्व भरण पोषणमयी शक्ति स्वरूपा श्री महालक्ष्मी जी जिनका चरणवन्दन देववृन्द भी करते हैं विकसित कमल के आसन पर आसीना दोनों पार्श्वभागों में विविधमणि मण्डित गण्ड गज युगल द्वारा अपनी अपनी शुण्डादण्ड (सूँड़) में लटकायी हुई पुष्पमालाओं से सुपूजित मुख्य रूप से धर्मधुरन्धर धनी जनों द्वारा तथा जनसाधारण द्वारा दीपावली के स्वर्णावसर पर नीराजनार्थ प्रचुर प्रकाशित दीपावली से देदीप्यमान श्री महालक्ष्मी जी महारानी अपने भावुक-भक्तों के घर घर में निरन्तर रमण करें ।

(*श्री श्रीनाथ त्रिपाठी आचार्य, एम ए०*)

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—पत्थर का टुकड़ा जब तक मार्ग मे किवा पर्वत के किनारे पड़ा रहता है तभी तक ठोकरें खाता रहता है—लोग उस पर मल मूत्र त्याग करते हैं। परन्तु जब वही कारीगर के हाथ के हथौड़े खाखाकर एक मूर्ति के रूप में गढ दिया जाता है तो जानते हो लोग उसी पत्थर के सम्मुख जाजाकर क्या करते हैं ? क्या उसे अब भी ठोकरें खानी पड़ती हैं ? कदापि नहीं। अब दूर-दूर के लोग कोसों चलकर श्रद्धा सहित उसके दर्शन को आते हैं, उस पर फूल चढ़ाते हैं—माला पहिनाते हैं, पूजा करते हैं, आरती उतारते हैं, और हाथ जोड़ते हैं दण्ड वत् प्रणाम करते हैं। इसी प्रकार याद रक्खो ? इस मानव जीवन के कष्ट व दुःखोंसे घवड़ाओ नहीं—समझो कि सृष्टि का रचयिता कारीगर परम पिता परमात्मा तुम्हें मूर्ति बना रहा है। उसकी आज्ञानुसार विलासिता को त्याग कर खूब अभ्यास करो-पुरुषार्थ करो, दुर्गुणों को त्याग कर सद्गुणों को धारण करो फिर निश्चय पूर्वक सभी लोग तुम्हें आदर की दृष्टि से देखेंगे, तुम्हारी पूजा करेंगे फूल चढ़ायेंगे नहीं तोयाद रक्खो मार्ग के रोड़े की तरह ठोकरें खाओगे।

सोचो तो—पौधों की टहनियाँ तभी तक ऊँची-ऊँची रहती हैं जब तक कि उन पर फल-फूल नहीं होते। जब वे फल-फूलों से लद जाती हैं तो क्या वे ऊँची की ऊँची ही बनी रहती हैं ? कदापि नहीं। वे झुक जाती हैं। इसी प्रकार निश्चय रक्खो विद्या पढ़ने का फल यही होना चाहिये कि तुम्हारे हृदय मे नम्रता आवे, व्यवहार में सदाचार शिष्टाचार हो और तन मन-धन माता-पिता देश धर्म तथा गुरुजनों एवं भगवान् की सेवा में लगे। यदि नम्रता की जगह मद-अभिमान बढ़ता है, सदाचार-शिष्टाचार की जगह विलासिता तथा दम्भ छल कपट होता है; और माता-पिता, देश-धर्म व गुरुजन भगवान् में श्रद्धा-भक्ति की जगह अनुशासन हीनता, नास्तिकता, आपस में वैमनस्य, राग द्वेष, आदि बढ़ता है तो सोचो तो सही क्या इस प्रकार की विद्या पढ़ने से वे अच्छे नहीं जो निरक्षर होते हुए भी नीति-मर्यादानुसार सदाचार पूर्वक खेती-मजदूरी करते हैं।

समझो—जो कम्पनी ऊपर का पैकिंग तो बहुत बढ़िया लगाती है परन्तु भीतर का माल नकली रद्दी सड़ा-गला देती है, क्या उसका कोई विश्वास करता है ? कदापि नहीं। विश्वास तो उस कम्पनी का होता है जो पैकिंग चाहे साधारण (केवल माल की रक्षा-के लिये) ही लगाती है पर माल असली पूरा और बहुत बढ़िया देती है। इसी प्रकार. विश्वास रक्खो जैसे तैसे करके अनेक सार्टीफिकेट भले ही इकट्ठे करलो कीमती कपड़े-जूता, तेल-साबुन आदि वेष-भूषा से शरीर को भले ही सजा लो, इधर उधर देख दाखकर रट-रटाकर गद्य वा पद्य कितना ही सुन्दर लिख दो वा सुना दो; परन्तु निश्चय रक्खो जब तक अपनी भावना, तथा चरित्र उच्च न बनाया तब तक ये उपर्युक्त सर्टिफिकेट, वेष-भूषा और गद्य-पद्य सब व्यर्थ नहीं तो और क्या ? किसी महापुरुष ने कहा भी है... ...

If wealth is gone nothing is gone
and Health is gone something is gone
but character is gone every thing is gone.

"आनन्द"

शंका--समाधान

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त)

प्रश्न—परमात्मा के प्राप्ति की आवश्यकता क्यों है ?

उत्तर : यदि इस पर विचार किया जावे तो यही उत्तर होगा कि आवश्यकता उस वस्तु की होती है कि जिसके बिना किसी प्रकार न रह सकें। सभी महानुभाव स्थायी प्रसन्नता चाहते हैं। जब संसार की कोई अवस्था स्थायी प्रसन्नता नहीं दे पाती तो स्थायी प्रसन्नता का अभिलाषी संसार का त्याग करने के लिये मजबूर हो जाता है। यदि विचारशील पुरुष अपनी अभिलाषाओं की जाँच करे तो उनको यह भली भांति मालूम हो जावेगा कि अभिलाषायें केवल दो प्रकार की होती हैं : एक शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये और दूसरी सब प्रकार से पूर्ण होने के लिये। शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये कर्म तथा संसार की आवश्यकता होती है। संसार तथा कर्म की सहायता से पूर्णता किसी प्रकार मिल नहीं सकती, क्यों कि संसार की कोई भी अवस्था पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार गोल चक्र में चलने वाला पथिक कभी मार्ग का अन्त नहीं पाता, उसी प्रकार संसार की ओर जाने वाला कभी शान्ति तथा पूर्णता नहीं पाता। अतः स्थायी प्रसन्नता तथा पूर्णता के लिये परमात्मा की आवश्यकता होती है।

प्रश्न परमात्मा की प्राप्ति के साधन क्या हैं ?

उत्तर इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि सद्-भाव पूर्वक परमात्मा की प्राप्ति की अभिलाषा ही परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग है। जिस प्रकार बड़ी मछली सब छोटी मछलियों को खाकर स्वयं मर जाती है, उसी प्रकार परमात्मा को प्राप्त करने की अभिलाषा सभी अभिलाषाओं को मिटाकर अन्त में अपने आप मिट जाती है। बस उसी काल मे परमात्मा का अनुभव हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए किसी संगठन की आवश्यकता नहीं बल्कि सभी संगठन मिटाने होंगे। यदि कहा जाय कि परमात्मा को प्राप्त करने की अभिलाषा किस प्रकार उत्पन्न होती है ? तो इसका उत्तर यही होगा कि आपने अपने को जिस कल्पना में बाँध लिया है उसी के अनुसार कर्म करो और अनावश्यक कर्मों का त्याग करो। अनावश्यक कार्य पूरा होने पर परमात्मा की प्राप्ति की अभिलाषा स्वयं उत्पन्न होगी जो आवश्यक कार्य पूरा नहीं करते और अनावश्यक कार्यों को हृदय मे इकट्ठा रखते हैं उनको परमात्मा को प्राप्त करने की अभिलाषा सद्भाव पूर्वक उत्पन्न होने की फुर्सत ही नहीं मिलती। वे बेचारे आगे पीछे का व्यर्थ चिन्तन करते रहते हैं। यदि यह कहा जाय कि आवश्यक कार्य क्या है ? तो इसका उत्तर यही होगा कि जिस कार्य के बिना न रह सको तथा जिसके करने का साधन प्राप्त हो तथा जिस के करने मे किसी प्रकार का भय न हो वही आवश्यक कार्य है। कर्ता अपने कर्त्तव्य का पालन करने पर स्वयं उन्नति कर जाता है। अतः उन्नति के लिए निराश होना परम भूल है। जीवन की परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, परमात्मा के अनुभव के लिए सभी मनुष्य समर्थ हैं। विचार दृष्टि से देखो जिस प्रकार राजा का सम्बन्ध राज्य की सभी वस्तुओं से है उसी प्रकार परमात्मा का सम्बन्ध सभी से है। जो अपने बनावटी स्वभाव को मिटा देता है वह परमात्मा का अनुभव कर लेता है। और जो अपने स्वभाव को नहीं मिटाता या नहीं मिटा पाता वह परमात्मा को किसी प्रकार नहीं पा सकता। परमात्मा संसार की सहायता से नहीं

मिल सकता। यदि गुणों का अभिमानी अपने गुणाभिमान को नहीं मिटा सकता तो वह परमात्मा को नहीं पा सकता। यदि महान पतित अपने पतित स्वभाव को मिटा देता है तो वह परमात्मा को पा लेता है, यद्यपि संसार की दृष्टि से गुणयुक्त जीवन सर्वदा पूजनीय है तथापि गुणों के अभिमान के कारण मनुष्य परमात्मा से विमुख रहता है। यह भली प्रकार समझलो कि जिसे संसार किसी प्रकार प्रसन्नता नहीं दे पाता, वह भी परमात्मा को पाकर अपार आनन्द पाता है। संसार का कोई व्यक्ति अपने प्यारे से प्यारे को अपने समान नहीं बना सकता, जिस प्रकार कोई भी राजा किसी को राजा नहीं बना सकता। परन्तु परमात्मा की प्राप्ति का अभिलाषी परमात्मा को पाकर परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाता है। व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है। यदि यह कहा जाय कि व्यक्तित्व की गुलामी का त्याग किस प्रकार किया जावे। तो इसका उत्तर यही होगा कि जो अपने व्यक्तित्व को मिटा देता है उसे फिर किसी भी व्यक्ति की गुलामी की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि व्यक्तित्व को ही व्यक्ति की आवश्यकता होती है। यदि यह कहा जाय कि व्यक्तित्व किस प्रकार मिटाया जाय? तो इसका उत्तर यही होगा कि मिटाई वही वस्तु जाती है जो वास्तव में न हो, अर्थात जिसका कोई स्वरूप न हो परन्तु अविचार के कारण प्रतीत होता हो। देखो, आप अपने में जो व्यक्तित्व अनुभव करते हैं क्या आप ने उसे कभी देखा है? तो आप यह कहने के लिये मजबूर होजावेंगे कि हमने अपने व्यक्तित्व को सुनकर स्वीकार कर लिया है। देखा नहीं। यदि यह कहो कि शरीर का व्यक्तित्व तो देखने में आता है तो उसका उत्तर यही होगा कि शरीर तो संसार से अभिन्न है। उसमें आपका क्या? विचार दृष्टि से देखो कि जिस शरीर को आप अपना समझते हैं वह वास्तव में सारे संसार से एक है, क्योंकि शरीर तथा संसार अंग तथा अंगी के समान हैं। अंग तथा अंगी में स्वरूप से एकता तथा माना हुआ भेद होता है। जिस प्रकार भारतवर्ष के अनेक प्रान्त भारतवर्ष से अभिन्न हैं, उसी प्रकार शरीर संसार से अभिन्न है। अतः सुने हुये व्यक्तित्व को विचार रूपी अग्नि में जला दो। व्यक्तित्व के मिटते ही गुलामी का अन्त हो जायगा और परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग दिखाई देगा। परमात्मा का मार्ग इतना संकीर्ण है कि उसे परमात्मा की प्राप्ति का अभिलाषी अकेला ही पार कर सकता है। यहाँ तक कि मन, बुद्धि आदि तक का साथ छोड़ना होगा, क्योंकि संगठन का मिटाना ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है।

उपदेश-संग्रह

नारायण हरि भजन में, तू मत देर लगाय। ना जाने या देर में श्वास रहे की जाय॥
बहुत गई थोरी रही, नारायण अब चेत। कालचिरैयाँ चुग रहीं निशि दिन आयु खेत॥
कहता हूँ कहि जात हूँ कहो बजाऊँ ढोल। स्वासा खाली जात है तीन लोक को मोल॥
धन यौवन यूँ जायंगे जैसे उड़त कपूर। मन मूरख गोपाल भज क्यों चाटत जग धूर॥

क्रोध और उसकी निवृत्ति के उपाय

क्रोध अत्यन्त मलिन स्वभाव है। इसका बीज अग्नि है। किन्तु यह ऐसी अग्नि है जो शरीर को नहीं हृदय को जलाती है। इससे ऐसा विक्षेप उत्पन्न होता है कि चित्त कभी शान्त नहीं होता, और शान्ति ही सारे शुभ कर्मों का फल है। कहते हैं कि एक बार किसी प्रेमी ने महापुरुष से पूछा कि मैं भगवान के कोप से किस प्रकार छुटकारा पाऊंगा? उन्होंने कहा जब तू किसी पर भी क्रोध नहीं करेगा तो प्रभु के क्रोध से भी मुक्त रहेगा। फिर जब उस प्रेमी ने पूछा कि मुझे कोई ऐसा कर्म बताइये जिसमें क्रिया तो थोड़ी हो किन्तु उसका फल महान् हो। तब भी उन्होंने यही कहा कि क्रोध से रहित होना ही बहुत अधिक फल दायक है तथा इसमें क्रिया भी बहुत कम है। महापुरुष ने यह भी कहा है कि जैसे शहद को खटाई नष्ट कर देती है वैसे ही क्रोध से धर्म नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि क्रोध से सर्वथा छुटकारा पाना तो अत्यन्त कठिन है तो भी जिज्ञासु को यह तो चाहिए कि जहाँ तक बने यत्न करके क्रोध का वेग सहन करे। जिन महापुरुषों ने धैर्य पूर्वक क्रोध को जीता है उनकी भगवान् ने भी प्रशंसा की है।

ऐसा भी कहा है कि विचार की मर्यादा से रहित होकर क्रोध करना साक्षात् नरक का द्वार है। अतः अपने क्रोध को भक्षण करना ही सबसे अच्छा आहार है। तथा कई सन्त जनों ने मिलकर यही सिद्धान्त निश्चय किया है कि क्रोध के समय धैर्य रखना और लोभ के समय सन्तोष करना वीरता का काम है। कहते हैं, एक ऐश्वर्यशाली सन्त थे। कोई दुष्ट उनके पास आकर दुर्वचन कहने लगा। किन्तु वे अपना सर नीचा किए चुपचाप सुनते रहे। फिर उस दुष्ट से बोले कि तुम मुझे क्रोधित करना चाहते हो तथा मेरे चित्त को माया के जाल में फंसाना चाहते हो सो मैं तो ऐसा करूंगा नहीं, पर याद रक्खो भगवान् ने यह क्रोध भी इस लिए रचा है कि यह मनुष्य का एक शस्त्र होगा और इस शस्त्र के द्वारा वह अपने शत्रुओं का संहार करके अपने शरीर की रक्षा कर सकेगा। जैसे भूख और प्यास इस लिए बनाई गई है जिससे शरीर अन्न और जल खींच कर पुष्ट हो सके। अतः निश्चय हुआ कि इच्छा और क्रोध ये दोनों भी मनुष्य के शस्त्र ही हैं किन्तु जब ये मर्यादा से अधिक बढ़ जाते हैं तो दोनों ही दुःखदायक हो जाते हैं। जिस समय क्रोध रूपी अग्नि हृदय में प्रज्वलित होती है उस समय उसका धुआँ सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। उसके कारण बुद्धि और विचार भी अन्धकार ग्रस्त हो जाते हैं और फिर मनुष्य भलाई बुराई को भी नहीं पहिचान सकता। इसी से कहा कि क्रोध बुद्धि का शत्रु है और अत्यन्त मलिन स्वभाव है। परन्तु यदि क्रोध का सर्वथा मूलोच्छेद होजाय तब तो कुसंग और अपकर्मों से भी ग्लानि नहीं रहेगी। इसलिए उचित यही है कि क्रोध मर्यादा में ही रहे, न तो अधिक बढ़े और न सर्वथा शून्य ही हो। इसका धर्मानुकूल मर्यादा में रहना ही सबसे अच्छा है।

पहले मैं कह चुका हूँ कि अत्यन्त क्रोधहीन होना भी बहुत कठिन है। तथापि कई अवसरों पर क्रोध ऐसा लीन हो जाता है कि जाना ही नहीं जाता। इसका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है। कि क्रोध का कारण मनोरथ है, सो जब कोई मनुष्य इसकी किसी प्रिय वस्तु को लेना चाहता है तो तुरन्त क्रोध उत्पन्न हो जाता है। जिस पदार्थ में इसका कोई मनोरथ नहीं होता उसके दूर होने पर इसे क्रोध भी नहीं होता। तथा जब तक इस जीव का देह में अभिमान है तब तक यह भोजन, वस्त्र और स्थान की अपेक्षा से सर्वथा मुक्त भी नहीं हो सकता।

इसी से जब कोई व्यक्ति इन पदार्थों को छीनना चाहता है तो इसे नि.सन्देह क्रोध उत्पन्न हो जाता है। अतः निश्चय हुआ कि प्रयोजन ही बन्धन है और प्रयोजन से रहित हो जाना ही मुक्ति है इसी से जब जिज्ञासु पुरुपार्थ करके पदार्थों की तृष्णा को घटावे और फिर मानादि की अभिलापा से रहित हो जाय तब क्रोध भी स्वाभाविक ही घट जाता है। यदि कोई मानी पुरुप का आदर न करे तो उसे अवश्य क्रोध उत्पन्न हो जायगा और यदि निर्मान पुरुप से कोई आगे होकर चले अथवा उसका मान न करे तो उसे क्रोध नहीं होगा। इसी से, यद्यपि लोगों के चित्तों की अवस्थाओं मे बहुत भेद होता है, तथापि सामान्यत धन और मान की अधिकता होने पर क्रोध भी अधिक होता है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य प्रयत्न और अभ्यास के द्वारा क्रोध मे कमी तो बहुत आ जाती है परन्तु वह सर्वथा नि शेप नहीं होता। और जब वह विचार की मर्यादा से अधिक न हो तो उसमे कोई दोप भी नहीं है। इसी पर महापुरुप ने भी कहा है यद्यपि मैं भी और मनुष्यों के समान क्रोध करता हूँ अथवा कुछ दण्ड भी देता हूँ, तथापि इससे मेरे हृदय से दया दूर नहीं होती। मेरा वह क्रोध भी उसकी भलाई के लिये ही होता है। एक और सन्त ने कहा है कि जब मैं क्रोध करता हूँ तब भी मेरी जिह्वा से यथार्थ वचन ही निकलता है।

परन्तु किन्हीं मनुष्यो की तो ऐसी भी स्थिति है कि वे सभी कार्यों का कर्त्ता-धर्त्ता भगवान को ही देखते है अत ऐसी दृष्टि रहने के कारण उनका क्रोध क्षीण हो जाता है। जैसे यदि कोई पुरुप इसे पत्थर मारे तो यह पत्थर पर तनिक भी क्रोध नहीं करता और न उसे अपने दुःख का कारण ही मानता है। इसी प्रकार राजा यदि किसी पुरुप को मृत्युदण्ड देने के लिये आज्ञा पत्र लिख दे तो वह लेखनी पर कभी क्रोध नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि लेखनी तो राजा के हाथ मे पराधीन है। इसी तरह जिन लोगों ने निश्चित रूप से भगवान् की सामर्थ्य को जाना है वे सभी जीवों को पराधीन देखते हैं और जानते हैं कि उनके प्रेरक तो एकमात्र भगवान् ही हैं। इसलिये वे किसी पर क्रोध नहीं करते। वे जानते हैं कि यद्यपि कर्म का कारण बल है और बल का श्रद्धा, तथापि मनुष्य की श्रद्धा उसके आधीन नहीं है, वह तो भगवान की प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इसी से सन्तजनों ने कहा है कि यह मनुष्य भी पत्थर और लेखनी के समान ही पराधीन है। यद्यपि कर्म करता हुआ तो मनुष्य ही दिखायी देता है, तथापि इसमें अपना कोई सामर्थ्य नहीं है। जिन मनुष्यों में ऐसी बुद्धि दृढ़ हो जाती है वे कभी किसी पर क्रोध नहीं करते वे दु.ख से आक्रान्त होने पर उद्विग्न भी हो जाते हैं, तथापि उन्हें किसी पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता दुःख से उद्विग्न हो जाना दूसरी बात है और क्रोध करना दूसरी। यदि अकस्मात् किसी का पशु मर जाय तो वह शोक से उद्विग्न तो होगा किन्तु किसी पर क्रोध नहीं करेगा परन्तु इस प्रकार सब जीवों को पराधीन देखना और सर्वदा इसी समझ में स्थित रहना है बहुत दुर्लभ।

सामान्यतया जीवों में विद्युत के समान इस दृष्टि की चमक तो होती है, किन्तु वह स्थिर नहीं रहती, स्थूलता की प्रबलता होने के कारण पुन. विक्षेप हो जाता है। किन्तु ऐसी अवस्था मे प्राप्त न होने पर भी कितने ही जिज्ञासुओं का परमार्थ मे ऐसा दृढ़ अभ्यास हो जाता है कि उन्हें कभी क्रोध नहीं आता। जैसे किन्ही सन्त से जब किसी ने दुर्वचन कहा तो वे बोले, "यदि मैं परलोक के दुःख से निवृत्त हो गया हूँ तब तो मुझे तुम्हारे कथन का कोई भय है नहीं, और यदि मुझे परलोक का दुःख भोगना ही है तब तुम जैसा कहते हो मैं उससे भी नीच हूँ।" ऐसी स्थिति मे तो तुम्हारे कथन में कोई

सन्देह नहीं। एक और सन्त से भी किसी ने कुछ दुर्वचन कहा। तब वे बोले "भाई मेरे परम सुख के मार्ग मे कितनी ही घाटियाँ हैं, जिन्हें मै पार करना चाहता हूँ। सो यदि मैंने इन्हें पार कर लिया तब तो तुम्हारे कथन का मुझे कोई भय नहीं है और यदि इन्हें पार न कर सका तो तुम जैसा मुझे कहते हो मैं उससे भी अधिक नीच हू। इसी प्रकार किसी अन्य सन्त से भी जब किसी ने दुर्वचन कहा तो वे बोले" भाई, मुझमे जितने अवगुण हैं वे तो तुम्हारी जानकारी से बहुत दूर हैं और उनकी कोई संख्या भी नही की जा सकती।

तात्पर्य यह है कि कोई जिज्ञासु वैराग्य और अभ्यास मे ऐसे लीन हुये हैं कि उन्हे क्रोध का कोई स्फुरण ही नहीं रहा। कहते हैं—एक भगवत्प्रेमी से किसी स्त्री ने कहा कि तू बडा कपटी है। तब उन्होंने कहा "तुमने मुझे ठीक पहिचाना है।" इसी प्रकार एक भगवत्प्रेमी से किसी ने कोई दुर्वचन कहा तो वे बोले" यदि तुम्हारा कथन ठीक है तो प्रभु मेरी यह अवज्ञा क्षमा करें और यदि तुम झूठ कहते हो तो वे मेरी रक्षा करेंगे ही। इससे निश्चय होता है कि इन सब उपायों से क्रोध जीता जा सकता है। और यदि किसी व्यक्ति की ऐसी दृढ़ धारणा हो जाय कि क्रोध हीन पुरुष को भगवान बहुत अधिक प्रेम करते हैं तो वह भी प्रभु की प्रसन्नता के लिये क्रोध से रहित हो जाता है। जैसे किसी मनुष्य का कोई अत्यन्त प्रिय जन हो और उसे उसका पिता या पुत्र पीडित करे और वह मनुष्य यही समझे कि मेरा प्यारा ही मुझे यह पीड़ा पहुँचा रहा है, तो उसके प्रेमवश उस पीड़ा का विशेष दुःख नहीं होगा और न उसके कारण उसे क्रोध ही होगा अत जिज्ञासु को चाहिये कि किसी ऐसी दृष्टि का आश्रय लेकर क्रोध का त्याग करे। यदि इनसे उसका सर्वदा त्याग न हो सके तो उसकी प्रबलता को ही क्षीण करे। अर्थात् यदि वह क्रोध को मूल से ही नष्ट न कर सके तो भी इतना प्रयत्न तो अवश्य करे कि वह बुद्धि और सन्तजनों की मर्यादा का उल्लङ्घन न कर सके, क्योंकि नि सन्देह बहुत लोगों को तो यह क्रोध ही नरक मे डालता है, तथा यहा अनेको विघ्नों का कारण है। अत इसे जीतने का उपाय करना परम आवश्यक है।

क्रोध को जीतने का उपाय दो प्रकार का है। उनमे पहला उपाय तो ऐसा उत्तम है कि वह क्रोध को मूल से ही उखाड कर हृदय को शुद्ध कर देता है। तथा दूसरा उपाय मध्यम कोटि का है, वह प्रयत्न पूर्वक धीरे धीरे क्रोध को निर्बल करता है। उत्तम उपाय तो यही है कि पहले क्रोध के कारण का विचार करे और फिर उसे मूल से ही नष्ट कर दे। क्रोध के कारण पॉच हो सकते हैं—

१—क्रोध का पहला कारण अभिमान है, क्योंकि अभिमानी पुरुष तनिक-सी बात या थोडा सा निरादर होने पर ही कुपित हो जाता है। इसकी निवृत्ति का उपाय दीनता है। यह सोचना चाहिये कि सभी जीव परमात्मा के उत्पन्न किये हुये हैं, और एक समान हैं। यदि किसी को विशेषता दी जाती है तो वह शुभ गुणों के कारण ही होती है और अभिमान तो बडा ही मलिन स्वभाव है तथा नीचता का ही कारण है। इसलिए वह सर्वथा त्याज्य है।

२—हँसी करना क्रोध का दूसरा कारण है। इसका उपाय यह है कि जिज्ञासु सर्वदा परलोक सम्बन्धी कार्यो मे लगा रहे, शुभ गुणों को ग्रहण करने का विचार रखे और वाद विवाद एव हँसी मजाक से दूर रहे। तथा अपने को इस प्रकार समझावे कि यदि कोई इस लोक मे किसी की हँसी करता है तो परलोक में उसे भी लज्जित किया जाता है।

३—निन्दा या दोषारोपण क्रोध का तीसरा कारण है। जब कोई इसकी निन्दा करता है, अथवा इस पर दोषारोपण किया जाता है तो दोनों ही ओर क्रोध उत्पन्न हो जाता है, इसका उपाय यह है कि अपने को निर्दोष न समझे और ऐसा जाने कि

मैं तो दोषों से भरपूर हूँ, फिर मैं किसी पर क्रोध क्या करूँ ? और यदि वास्तव मे मुझमे कोई दोष नहीं है तब भी किसी के निन्दा करने पर मुझे क्या भय है ?

४—तृष्णा और ईर्ष्या क्रोध का चौथा कारण है क्रोधी मनुष्य से जब कोई एक दमड़ी भी माँगता या ले लेता है तो वह क्रोध से आग बबूला हो जाता है इसी प्रकार यदि तृष्णाग्रस्त पुरुष को कोई कुछ न दे तो उसे दुःख हो जाता है। सो येसब बहुत बुरे स्वभाव हैं इन्हें निवृत्त करने का उपाय यह है कि तृष्णा के विघ्न को पहिचाने। क्योंकि तृष्णालु पुरुष इस लोक मे भी दुःखी रहता है और परलोक मे भी दुःख भोगता है। अतः तृष्णाओं को हृदय से दूर करे और ऐसे मलिन स्वभावों से विरोध करके आत्मधर्मों मे स्थिति हो।

५—क्रोधी पुरुष की संगति क्रोध का पाँचवा कारण है। ये लोग ऐसे मूर्ख होते हैं कि क्रोध की अधिकता को भी बड़ा पुरुषार्थ समझते हैं और बड़े गर्व से कहते हैं कि हमने डाँटडपट से ही अमुक पुरुष को सीधा कर दिया, अमुक सन्त ने एक ही शाप द्वारा अमुक पुरुष को भस्म कर डाला और उसका घर एवं धन सभी नष्ट कर दिया। वे कहते हैं कि बलवान पुरुष का यही लक्षण है कि उसके सामने जो मुँह खोलता है उसी का सर्वनाश हो जाता है किन्तु याद रक्खो ऐसा करने वाला पुरुष महामूर्ख है क्रोध को तो सन्त जनों ने कुत्तों का स्वभाव बताया है और ये उसे ही बड़े महत्व और गौरव की बात समझते हैं। महापुरुषों का स्वभाव तो सहन शीलता है, जिसे ये बल हीनता का चिन्ह मानते हैं। सो यह सब मलिन मन का ही स्वभाव है जो छल करके बुराई को सुन्दर और गुण को कुरुप करके दिखाता है। किन्तु बुद्धिमान पुरुष निःसन्देह जानता है कि यदि क्रोध का नाम पुरुषार्थ होता तो रोगी वृद्ध और स्त्रियों को बहुत अधिक क्रोध होता है। अतः जगत में इन्हीं की विशेषता होनी चाहिये थी। पर ऐसी बात तो है ही नहीं वास्तव मे तो क्रोध को जीतना ही पुरुषार्थ माना जाता है। और यही महापुरुषों का लक्षण भी है। क्रोधी पुरुष तो जगली जीवों की तरह है। वे देखने मे तो मनुष्य मालूम पड़ते हैं, किन्तु स्वभाव से तो सिंह और व्याघ्ररूप ही हैं। अतः तुम विचार कर देखो कि महापुरुषों के लक्षण का नाम पुरुषार्थ है या पशु और मूर्खों के स्वभाव को पुरुपार्थ कहते हैं।

(पारसमणि से)

न पूँछो कैसा है संसार।

(श्री प्रभुदयाल जी बैनाडा 'निराकार')

कोई कहें मनभावन जग ये, कोई कहे दुखभार !
कोई के मन से केवल सपना, कोई कहे नासार ॥ न पूँछो०
कोई कहे है प्रेमहि सब कुछ, कोई कहे है विराग।
जितने मुख हैं उतनी बातें, किस पर करें विचार ॥ न पूँछो०
कोई कहे मदमस्त बना रह, कौन है किसका यार।
कोई तत्त्व-ज्ञानी कहते, अपने मन को मार ॥ न पूँछो०
नाना भाव हैं जगजीवन के अपनी ओर निहार।
'निराकार' का भाव यही है, सुकर्म करें सपार न पूँछो०

संसार में हम कैसे रहें ?

(पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

अगाध जलराशि मे चलने, वाली नौका, तीव्र वेग वाली सरिता के दूसरे तट पर चतुर माँझी के द्वारा पहुँच ज ती है । नौका स्वय तो पार होती ही है उसका जो आश्रय लेता है वह भी उसके साथ पार हो जाता है । किन्तु यदि नौका के भीतर जल आजायगा तो अपने आश्रितों सहित वह डूब जायगी । तात्पर्य यह कि नाव जल मे रहे, नाव में जल न रहे । इसी लिये केवट अपनी नौका को उस पार ले जाने से पहिले उसके भीतर भरे हुए जल को उलीच देता है इसी प्रकार इस भव सागर के उस पार जाने के लिए हमे अपना मन ससार मे तो रखना चाहिए किन्तु मन मे ससार को नहीं रखना चाहिए । यदि संसार मे हमारा मन नहीं रहेगा तो व्यवहार के कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकते । व्यवहार को सुन्दर ढग से सम्पन्न करने के लिए हमें तन्मय होकर प्रत्येक कार्य में सलग्न होना पड़ेगा । तन्मयता के अभाव मे किसी भी कार्य मे सफलता मिलनी असभव है । मन को ससार मे रक्खे और मन मे संसार न आने पावे यह दोनों परस्पर विरोधी वाते जान पड़ती हैं । शंका होती है कि ऐसा किस प्रकार सभव है ? क्यों कि मनुष्य जो कार्य करता है अथवा जिस वातावरण में रहता है उसी के अनुरुप स्मृति का होना अवश्यभावी है । कार्य मे यदि सफलता मिल गई तो सुख और असफलता हुई तो दु.ख होगा ही । इसी शका को निर्मूल करने के लिए लीला पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को, उनके विषाद मग्न होजाने पर सर्व प्रथम साख्य योग का उपदेश किया । अर्जुन के मन मे ससार भर गया था । भगवान ने देखा अर्जुन की नौका डूबी जा रही है, इसके मन से ससार यदि नहीं निकला तो यह कर्त्तव्यच्युत होकर लक्ष्य भ्रष्ट हो जायगा । इसीलिये सर्व प्रथम उन्होंने "मैं कौन हूँ" यह रहस्य अर्जुन को हृदयङ्गम कराया । जब अर्जुन को यह बोध हुआ कि मैं यह शरीर, मन बुद्धि या अन्त करण नहीं हूँ तब भगवान ने कहा—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

कर्म करने मे ही तेरा अधिकार है फल में नहीं ऐसी दृढ़ भावना बनाकर मनुष्य जब ससार क्षेत्र में आगे बढ़ता है तो उसके मन से ससार निकल जाता है । मनुष्य योनि को कर्मयोनि कहा गया है, अर्थात मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र है शुभ अथवा अशुभ कर्म द्वारा वह अपने भावी जीवन का, अपने भाग्य का निर्माण कर सकता है । फलाशा को छोड़कर दत्त चित्त होकर आगे बढ़ने पर जब कभी सफलता के स्थान पर असफलता का भी सामना उसे करना पडता है तो वह निराश और हताश नहीं होता क्यों कि वह अपने को नियन्त्रित कठपुतली की भाँति निमित्त मानकर सभी कार्य करता है अनुकूल परिस्थिति होने पर उसे हर्ष नहीं होता और प्रतिकूल परिस्थिति आजाने पर उसे शोक नहीं होता । दोनों प्रकार से उसका मानसिक संतुलन स्थिर रहता है । ऐसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए स्वय श्री मुख से भगवान् ने अर्जुन से कहा—

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

किन्तु ऐसी स्थिति का प्राप्त करना वाणी का विषय नहीं, सरल और साधारण बात नहीं है । ऐसा भी नहीं कि ऐसा होना असंभव है क्यों कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जीव को यह मानव

बुलाने के निमित्त आधी रात को हो जाने के लिये तैयार हैं। विचार कीजिये ! जब अपने ही लडके और पुत्रवधू मे मैं और मेरा पन नहीं था तब उन्हें वे दु खदायी जान पड़ते थे और अब सुखरूप जान पड़ते हैं। इस दृष्टान्त से आप समझ सकते हैं कि यह मैं और मेरा ही सुख और दु ख का कारण है। यदि इसे मन से निकाल दिया जाय तो ससार का अत्यंताभाव होकर आनन्द की उपलब्धि होसकती है।

मन से ससार को निकालने के दो ही उपाय हैं ज्ञान के द्वारा अथवा भक्ति के द्वारा। हमें विचार करना चाहिये कि माता के उदर मे आने से पहिले "मै और मेरा" की भावना को पुष्ट बनाने वाली कौन कौन सी वस्तु हमारे साथ थी ? जिन्हें हमने अपना मान रक्खा है क्या वे सब वास्तव में मेरी हैं ? अथवा जब हम इस नश्वर ससार को छोड़कर मृत्यु की चिरशान्तिदायिनी गोद मे विश्राम पायेंगे तो इनमें से कौन कौन सी चीजें हमारे साथ जायगी ? ऐसा विचार होने पर हमे स्वय ही स्पष्ट उत्तर मिल जायगा कि यह सब तमाशा तो यहीं समाप्त हो जाने वाला है। अपने साथ जाने वाला तो यह अपना माना जाने वाला शरीर भी नहीं है। प्राण पखेरू उड़ जाने पर यह भी चिता में जलकर भस्मीभूत हो जाता है, पृथ्वी में गाढा जाकर मिट्टी मे मिल जाता है अथवा नदी में फेंक दिया जाता है। इसीलिये भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सावधान करते हुए कहा—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

(गीता २। २८)

जो वस्तु जन्म से पहिले अपनी नहीं थी अन्त मे भी अपनी नहीं रहेगी केवल मध्य में ही अपनी प्रतीत होती है, उसके विषय मे अपनत्व भावना करना कहाँ तक उचित हैं। हमारी ऐसी विचार-धारा बनते ही हमारी तमसाच्छन्न वृत्तियाँ ज्ञान के आलोक से प्रकाशित हो जायँगी तब हम दृढ़ निश्चय पूर्वक कह सकेंगे कि—

बीचहि मिलैं बीच छुटि जावैं।
आदि अन्त कोउ काम न आवैं ॥

ऐसी पुष्ट-धारणा के बनते ही हमारे मन से "मैं और मेरा" का विष निकल जायगा। तब हम विश्वनियन्ता की इस नाट्यशाला में एक सफल अभिनेता की भाँति अपना पार्ट अदा करते हुए अपने प्रियतम प्रभु को प्रसन्न कर लेंगे। मन रूपी नौका से वासनाओं का जल निकल जायगा और यह जीव शुद्ध-बुद्ध बनकर भवसागर के उस पार अनायास पहुँच जायगा।

भक्ति-मार्ग के भावुक पथिक को नित्य ही मंगलमय प्रभु का ध्यान करने के पूर्व निश्चय करना चाहिये कि माता के उदर मे इस शरीर की रचना किसने की थी ? गर्भ से बाहर आने पर माता के स्तनों मे दुग्ध का प्रबन्ध किसने किया ? अब युवक बनकर हम नाना प्रकार के जो भोजन करते हैं उनसे रक्त, मास, मज्जा और सप्तम धातु कौन बनाता है ? हमे तो यह भी पता नहीं कि प्रात.काल किया हुआ भोजन इस समय किस रूप में परिवर्तित हो चुका है। जिस महामहिमामयी शक्ति के द्वारा ससार का यह सब क्रिया-कलाप होता है वही तो इस जीव का सर्वस्व है। फिर बीच मे यह "मैं और मेरा" का मिथ्याभिमान क्यों ? इस सिद्धान्त के अनुसार 'मेरा पुत्र' 'मेरी स्त्री' 'मेरा धन' कुछ भी तो अपना नहीं है। यह जो कुछ भी अपनी दिखाई देने वाली चीजें हैं वस्तुत अपनी नहीं, उसी नियामक की धरोहर हैं, उसी निखिल ब्रह्माण्ड-नायक की सम्पत्ति है। यदि हम इन्हें अपना मानते हैं तो नियमानुसार अपराधी हैं। ऐसी धारणा ही वास्तविक आत्म समर्पण है।

मेरा मुझको कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपना क्या लागत है मोर॥

इसी भावना का प्रतिपादन करते हुए प्रातःस्मरणीय भक्त-शिरोमणि पूज्यपाद गोस्वामी जी ने कहा—

जननी जनक बधु सुत दारा।
तन, धन, धाम सुहृद परिवारा॥
सब कर ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बटि डोरी॥

संसारासक्त पुरुषों में प्रायः दश वस्तुओं मे ही अपना मन दौड़ लगाता है। उनके संयोग और वियोग से अपने को सुखी और दुखी मानता है। जब उन सबका ममत्व प्रभु के पादपद्मों में समर्पित हो जायगा तब यह सब 'मेरा' "तेरा ही तेरा" बन जायगा। इस भावना के द्वारा मन से ससार निकल जायगा। ससार मे रहकर भी अपना मन मालिक के मुनीम की भाँति हानि-लाभ में दुःख-सुख से अलग रहेगा।

ज्ञान और भक्ति दोनों प्रकार के साधनों से अहर्निश अपने मन से संसार को निकाल कर सासारिक व्यवहार मे प्रवृत्त होने पर भी हम 'पद्मप्लावन" रह सकते हैं। इह लोक और परलोक दोनों का सुधार हो सकता है और अपने आदर्श जीवन से दूसरों के सुख का कारण बन सकते हैं। ऐसे आदर्श जीवन की सराहना करते हुए किसी उर्दू कवि ने कहा था—

जहाँ में जब तू आया था सभी हसते तू रोता था
बसर कर जिन्दगी ऐसी सभी रोए तू हसता जा

चेतावनी

तीनहिं लोक अहार कियो सब, सात समुद्र पियो पुनि पानी॥
और जहाँ तहाँ ताकत डोलत, काढ़त आँख डरावत प्रानी॥
दाँत दिखावत जीभ हिलावत, या हित मैं यह डाकिनि जानी॥
"सुन्दर" खात भये कितने दिन! हे तृष्णा! अजहूँ न अघानी॥

ये मम देश, विलायत हैं गज, ये मम मन्दिर, ये मम थाती॥
ये मम मात पिता, पुनि बान्धव, ये मम पूत, सु ये मम नाती॥
ये मम कामिनि, केलि करै नित, ये मम सेवक, है दिन राती॥
"सुन्दर" ऐसेहि छाँड़ि गयो सब, तेल जर्यो सु बुझी जब बाती॥

—सन्त सुन्दरदास जी

योग के प्रकार-भेद

(गताङ्क से आगे)

(श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज)

आत्यन्तिकी शान्ति प्राप्ति के जितने साधन हैं वे सभी योग कहे जा सकते हैं। कर्मविपाकों की विचित्रता के कारण सब साधकों की प्रकृति एक सी नहीं होती। इस लिये सर्वभूतहितैषी महर्षियों ने विभिन्न कोटि के अधिकारियों के लिये विभिन्न प्रकार के परमार्थ-पथों का आविष्कार किया है। परमार्थ तो एक ही है। उस एक को ही भिन्न भिन्न अधिकारी अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। किन्तु वह ऐसा उदार है कि उसे जो जिस प्रकार पाना चाहता है उसे वह उसी प्रकार मिल जाता है। कोई भी सच्चा साधक उसकी दृष्टि से ओझल नहीं होता, क्यों कि उसे कोई ठीक-ठीक जाने या न जाने वह तो यह जानता ही है कि ये सब मेरे लिये ही बेचैन हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥'

गीता (४।११)

इस प्रकार साधकों की योग्यता के अनुसार शास्त्रने जितने मार्गों का निरूपण किया है उन्हें चार प्रकार के योगों मे विभक्त किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक के फिर कई अवान्तर भेद हैं। वे चार योग ये हैं—कर्मयोग, महायोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। किन्हीं किन्हीं महानुभावों ने महायोग के स्थान में राजयोग लिखा है। परन्तु योगशिखोपनिषद् में राजयोग को महायोग का ही एक अग माना है। इसलिये मेरे विचार से महायोग को ही प्रधान योगविभाग मानना अधिक युक्तिसगत है। अब क्रमशः इनके अधिकारी, अवान्तर भेद और साधनों का वर्णन किया जाता है।

कर्मयोग

कर्मयोगके द्वारा मनुष्य को अध्यात्म-राज्यमें प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है। यह सकाम और निष्काम भेद से दो प्रकार का होता है। मीमांसक दो प्रकार के कर्म बताते हैं—अर्थकर्म और गुणकर्म जिस कर्म से किसी प्रकार का अदृष्ट बनता है उसे 'अर्थकर्म' कहते हैं, जैसे अग्निहोत्रादि। और जिस कर्म से वस्तु का संस्कार होता है वह गुण कर्म कहलाता है, जैसे व्रीहिप्रोक्षणादि। इनमे अर्थकर्म के तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नीचे संक्षेप मे इनका विवरण दिया जाता है—

१. नित्य—गृहस्थसे चूल्हे, चक्की, ऊखल, झाड़ू और जल के स्थान में प्रायः हिंसा होती रहती है। इससे होने वाले पापमय अदृष्टकी शान्ति के लिये शास्त्रों ने देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ इन पाँच महायज्ञों का विधान किया है। इनमें सध्या और अग्निहोत्र देवयज्ञ हैं, जल अथवा अन्न से पितृगण का तर्पण करना पितृयज्ञ है, अतिथि पूजन मनुष्ययज्ञ कहलाता है, पशु-पक्षियों को बलिवैश्वदेवकी विधिसे अन्नादि देना भूतयज्ञ है और वेदादि सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। ये पाँचों महायज्ञ गृहस्थों को अवश्य करने चाहिये। इन्हें न करने से प्रत्यवाय होता है। इनमे नियमकी प्रधानता है।

२. नैमित्तिक—जो कर्म किसी निमित्त से किये जाते हैं वे नैमित्तिक कहलाते हैं। ये दो प्रकार के हैं—(१) पुण्योपार्जन के हेतु और (२) पापक्षय करने वाले। एकादशी-पूर्णिमा आदि पुण्य तिथियों पर व्रत उपवासादि करना, तीर्थसेवन करना, पुरश्चरणादि कराना प्रथम कोटिके नैमित्तिक कर्म हैं। तथा अपने से अकस्मात बने हुए पापोंकी शान्ति के लिये कृच्छ्र चान्द्रायण, सान्तपनादि व्रत अथवा अन्य किसी प्रकार के क्लेशों को नियमानुसार सहन करना दूसरी कोटि के नैमित्तिक कर्म हैं। इन्हें प्राय-

श्चित्त भी कहते हैं। कुमारिल भट्टने गुरुद्रोहजनित पापकी शान्ति के लिये तुषाग्निमें अपना शरीर जला दिया था। ज्ञानेश्वर महाराज के पिता श्री चैतन्यानन्द जी सन्यासाश्रम से पुनः गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के कारण जातिच्युत हो गये थे। उसके प्रायश्चित्त के लिये उन्हें नदी में कूदकर प्राण परित्याग करना पड़ा था। इसी प्रकार जिस समय अपने से कोई अयुक्त आचरण हुआ जान पड़े उस समय उसके नाशन के लिये जो उपवासादि किया जाता है वह प्रायश्चित्त कर्म के ही अन्तर्गत है। जगद्विख्यात पूज्यपाद् महात्मा गांधी जी के लम्बे-लम्बे उपवास भी इसी कर्मकोटि के अन्तर्गत हैं। इन कोटिके कर्मोंमें भावकी प्रधानता है।

३ काम्य—जो कर्म किसी विशेष फल की कामना से किये जाते हैं वे काम्य कहलाते हैं। ये ऐहिकफलक, आमुष्मिकफलक और ऐहिकामुष्मिक-फलक भेद से तीन प्रकार के हैं। पुत्र एवं वृष्टिरूप ऐहिक फल देने वाले पुत्रेष्टि एवं कारीरियाग ऐहिक-फलक हैं। अग्निहोत्रादि स्वर्गप्रद कर्म आमुष्मिक-फलक हैं तथा अश्वमेध-राजसूयादि कर्म ऐहिकामुष्मिकफलक हैं, क्योंकि इनसे लोक में भी प्रतिष्ठाकी वृद्धि होती है और परलोक में भी स्वर्ग-सुख की प्राप्ति होती है। इन कर्मों में विधि को प्रधानता है। इन्हें न करने में कोई दोष नहीं है, विधिवत् करने से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है और विधि से व्यतिक्रम हो जाने से अनिष्ट की आशंका रहती है।

ये कर्म सकाम और निष्काम दोनों प्रकार से हो सकते हैं। सकाम होने पर इनसे अभीष्ट अर्थ की सिद्धि तो होती ही है, साथ ही अदृष्ट में विश्वास बढ़ने के कारण स्थूल कर्तृत्वाभिमान में भी कुछ कमी आती है। किन्तु निष्काम होने पर तो ये सर्वथा चित्तशुद्धि के ही कारण होते हैं। निष्काम कर्म तीन प्रकार से किये जा सकते हैं—(१) फलेच्छात्याग-पूर्वक केवल कर्त्तव्य पालन के लिये, (२) भगवदाज्ञा मानकर भगवान् की प्रसन्नता के लिये और (३) संसार को भगवद्रूप समझ कर उसकी सेवा से भगवान की पूजा करने के लिये। इनमें उत्तरोत्तर कोटि उत्कृष्ट है।

इस प्रकार जब साधक स्वकर्म से भगवान् का पूजन करने लगता है तो उस पर भगवान् की कृपा होती है और उसे बुद्धि योग प्राप्त होता है। यह बुद्धियोग ही कर्मयोग का फल है। इसके प्राप्त होने पर साधक के कर्म बन्धन का अन्त हो जाता है, क्योंकि फिर उसमे कर्तृत्वाभिमान का लेश नहीं रहता। फिर तो उसे यही जान पड़ता है कि सम्पूर्ण भूतों के अन्तःकरणों में स्थित श्रीहरि ही सबको नचा रहे हैं यह सारा कर्मकलाप उन लीलामय का ही लीलाविलास है, वे ही करने वाले हैं, वे ही कराने वाले हैं, वे ही कर्म हैं, अधिक क्या यह सारा नाट्य उन नटनागर का ही आत्मरमण है। बस, यहीं इस साधना का पर्यव-सान है।

महायोग

'योग' शब्दसे प्रधानतया महायोग ही ग्रहण किया जाता है। इसके चार भेद हैं—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

हठयोग—इसमे प्रधानतया शारीरिक साधनाओं के द्वारा उन्मनी अवस्था को प्राप्त करना होता है। इसके छः अङ्ग* हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और समाधि। यम और नियम दश दश माने गये हैं। इनका उल्लेख ऊपर त्रिशिख-ब्राह्मणोपनिषद् के प्रसंग में किया जा चुका है। आसनों की पूर्ण संख्या प्राणियों की योनिसंख्या के अनुसार चौरासी लाख मानी गयी है। किन्तु योग-ग्रन्थों में चौरासी आसन प्रसिद्ध हैं, उनमें चार उनमें भी सिद्धासन सर्वोत्तम माना गया है। प्राणायाम

*हठ योग के अङ्गों के विषय में आचार्यों में मतभेद है। यह संख्या हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार है। गोरख-नाथ यम और नियम को स्वीकार न करके आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि ये छः अङ्ग मानते हैं, किन्तु स्वेरण्ड जी अष्टाङ्ग योग के पक्ष में हैं इसी प्रकार कोई सात अङ्ग भी मानते हैं।

आठ प्रकार का है।

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनीत्यष्टकुम्भकाः॥
(हठ० प्र० २।४४)

'सूर्यभेदन, उज्जाई, सीत्कारी, सीतली, भस्त्रिका भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लावनी। ये सब रेचक, पूरक कुम्भक के सहित होने के कारण सहितकुम्भके कहे जाते हैं। इनके अभ्यास से अन्त मे केवलकुम्भक की सिद्धि होती है। यह प्राणायाम का फलस्वरूप है। मुद्रा दश हैं—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध खेचरी, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालन। प्राणायाम में सफलता होनेके लिये नाडीशुद्धिकी बहुत आवश्यकता है। इसके लिये हठशास्त्रोमे धौति, वस्ति नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति—इन षट्कर्मों की व्यवस्था की है।

हठयोग का विषय इतना ही है। इन अग और उपाङ्गों का सविस्तर वर्णन हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता, गोरक्ष पद्धति तथा कई उपनिषदों में किया है किन्तु इनका अभ्यासक्रम गुरुकृपा से ही प्राप्त हो सकता है। इनके अभ्यास से शरीर और नाडियों को शुद्ध तथा प्राणों पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। जब प्राणों के सयम से मन.सयम की योग्यता प्राप्त हो जाती है तभी आगे के तीन योगों में प्रवेश हो सकता है। हठयोगप्रदीपिकाकार ने समाधि, राजयोग, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लयतत्त्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या—इन्हें पर्यायवाची माना है।*

लययोग—लययोग कई प्रकार का है। हठयोग प्रदीपिका (४।६५) में कहा है कि श्री आदिनाथने सवा करोड लयावधानोंका निरूपण किया है। किन्तु उनमें नादानुसन्धान प्रधान है। योगशास्त्रों मे नादानुसन्धान और षट्चक्रभेदन ही लयके प्रधान साधन माने हैं। नादानुसन्धानका प्रसग नादबिन्दूपनिषद्मे इस प्रकार आया है—योगी वैष्णवी मुद्राको† धारण कर सिद्धासन पर बैठे। तब उसे दाये कानमे अन्तर्नाद सुनाई देगा अभ्यास करने पर इस नाद से बाह्यध्वनि दब जायगी। इस प्रकार इससे बाह्यध्वनिपर पूर्ण विजय पाकर योगी तुर्यपदमे प्रवेश कर सकता है। पहले कई प्रकार का शब्द सुनाई देता है फिर अभ्यास बढने पर वह सूक्ष्म-सूक्ष्म होता जाता है। पहले समुद्र, मेघ, भेरी और झरने के शब्द के समान सुनने में आता है, फिर मृदग, घटा और काहल की सी ध्वनि होती है और अन्तमे किंकिणी, वशी, वीणा और भौरे की गुन्जार के समान शब्द सुनाई देता है। यदि चित्त सघन शब्द को छोडकर सूक्ष्म मे और सूक्ष्म को छोडकर सघन में लगता रहे तो इस प्रकार विक्षिप्त हुए चित्त को भी कहीं अन्यत्र चलायमान न करे, क्यों कि इनमे से किसी भी शब्द में स्थिर होकर चित्त उसी के साथ लीन हो जाता है। जिस तरह जल दूध मे मिल जाता है उसी प्रकार मन ब्रह्मवृत्ति का छोडकर नाद के साथ एकत्व को प्राप्त हो अकस्मात् चिदाकाशमे लीन हो जाता है।× इस प्रकार नादानुसन्धान के द्वारा चित्तलय के साधनका क्रम बताया गया। इसीको सुप्तशब्दयोग भी कहते हैं। अब षट्चक्रवेधन का क्रम बताया जाता है।

शरीर के मध्यमे जो मेरुदण्ड है उसके भीतर दोनों

* हठयोग प्रदीपिका अध्याय ४ श्लोक ३,४।

† दोनों कानोमें दोनों हाथो के अगूठे, आँखोंपर तर्जनी, नासारन्ध्रों मे मध्यमा और मुखके ऊपर अनामिका एव कनिष्ठिकाओं को लगाकर उन्हे मूँद देना वैष्णवी मुद्रा है। हठयोगप्रदीपिका मे यहाँ शाम्भवीमुद्रा धारण करने की व्यवस्था की है।

× देखिये नादबिन्दूपनिषद् मन्त्र—३१ से ३६ तक।

ओर इडा और पिंगला नामकी दो नाड़ियाँ हैं। इन दोनों के बीचमें सुषुम्ना नामका सूक्ष्म मार्ग है, जो मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक विस्तृत हैं। इसके मूलमें कुण्डलिनी नामकी एक तेजोमयी सर्पाकार शक्ति कुण्डलीकृत हुई नीचे को मुख किये स्थित है। प्राणायामके दृढ़ अभ्यास और मानसिक भावना के द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत करना होता है। उसके जगने से सुषुम्ना का मार्ग खुल जाता है और प्राण उस मार्गसे ऊपरकी ओर चढ़ता हुआ छहों चक्रोंको वेधता सहस्रारमें पहुँचकर लीन हो जाता है, तथा प्राणके साथ मनका भी लय हो जाता है। चक्रों का विवरण इस प्रकार है—

१. आधारचक्र—स्थान—गुदाके ऊपर, आकार रक्तवर्ण चतुर्दल कमल के समान, देव—ब्रह्मा, देवशक्ति—डाकिनी, 'बीजमन्त्र-लँ' चारों दलोंके वर्ण—वँ शँ षँ सँ, बीजवाहन—ऐरावत लोक—भू, तत्त्व—पृथिवी, यन्त्र—चतुष्कोण, कर्मेन्द्रिय—गुदा ज्ञानेन्द्रिय—घ्राण, गुण—गन्ध।

२. स्वाधिष्ठानचक्र—स्थान—मेढ़ू के ऊपर, आकार—सिंदूरवर्ण षड्दल कमलके समान, देव—विष्णु शक्ति—राकिनी, बीजमन्त्र—वँ, दलके अक्षर—ब भँ मँ यँ रँ लँ, वाहन—मकर, लोक—भुव, तत्त्व—जल, यन्त्र—चन्द्राकार, कर्मेन्द्रिय—उपस्थ, ज्ञानेन्द्रिय—रसना, गुण—रस।

३. मणिपूरचक्र—स्थान—नाभि, आकार—नीलवर्ण दशदल पद्मके समान, देव-वृद्ध रुद्र, शक्ति—लाकिनी बीजमन्त्र,—रँ, दलोंके अक्षर—डँ ढँ णँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ, वाहन—मेष लोक—स्वः, तत्त्व—अग्नि, यन्त्र—त्रिकोण, कर्मेन्द्रिय—चरण, ज्ञानेन्द्रिय—चक्षु, गुण—रूप।

४ अनाहत चक्र स्थान—हृदय, आकार—अरुणवर्ण द्वादशदल कमल के समान देव—ईशान रुद्र, शक्ति—काकिनी, बीजमन्त्र—यँ, दलों के अक्षर—कँ खँ गँ घँ ङँ चँ छँ जँ झँ ञँ टँ ठँ, वाहन मृग, लोक—महः, तत्त्व—वायु, यन्त्र—षट्कोण, [illegible]—हस्त, ज्ञानेन्द्रिय—त्वचा, गुण—स्पर्श।

५ विशुद्ध चक्र—स्थान—कण्ठ, आकार—षोडशदल धूम्रवर्ण कमल के समान, देव—पञ्चमुख शिव, शक्ति—शाकिनी, बीजमन्त्र—हं, दलों के अक्षर—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लॄ ए ऐ ओ औ अं अः, वाहन—हाथी, लोक—जन., तत्त्व—आकाश, यन्त्र—शून्यचक्र, कर्मेन्द्रिय—वाक्, ज्ञानेन्द्रिय—कर्ण, गुण—शब्द।

६ आज्ञा चक्र—स्थान—भ्रूमध्य, आकार—श्वेतवर्ण द्विदल कमल के समान, देव—इतराख्य लिंग, शक्ति—हाकिनी, बीजमन्त्र—ॐ, दलों के अक्षर—हँ, क्षँ, वाहन—नाद लोक—तपः, तत्त्व—महत्तत्त्व यन्त्र—लिंगाकार।

इन छहों चक्रों के ऊपर सहस्रार है, वह शून्य चक्र कहा जाता है, इसका स्थान मस्तक है, आकार सहस्रदल कमल के समान है, बीजमन्त्र विसर्ग है, बीजवाहन बिन्दु है, देव परब्रह्म है, देवशक्ति महाशक्ति है, यन्त्र पूर्णचन्द्र है तथा तत्त्व तत्त्वातीत है। यहाँ पहुंचने पर योगी को सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा वह निर्विकल्प समाधि में स्थित हो जाता है। इससे पहले चक्रों के वेधन के साथ नाना प्रकार के दिव्य दृश्य और चमत्कारों का अनुभव होता है। इस साधना को कुण्डलिनीयोग भी कहते हैं। योग शास्त्रों में इसका बड़ा महत्व है।

इसके अतिरिक्त शाम्भवी, खेचरी और उन्मनी मुद्राओं की भी समाधि प्राप्ति में बड़ी उपयोगिता मानी गई है। इनके लक्षण योगग्रन्थों से जाने जा सकते हैं, यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखे गये।

वस्तुत. हठयोग और लययोग दोनों मिलाकर ही एक योग हैं, तथा हठग्रन्थों में दोनों हीका वर्णन भी किया जाता है। परन्तु हठाभ्यास के बिना भी लययोग में सफलता होती देखी गई है, सम्भवत इसी से आचार्योंने इसे पृथक योग माना है। श्रीराधास्वामी सम्प्रदाय में केवल नादानुसन्धान से ही परमपद की प्राप्ति बताई गई है। महात्मा चरणदास जी ने भी शब्द की साधना का ही उपदेश किया है।

इसी प्रकार हठयोगप्रदीपिकादि हठग्रन्थों मे शाम्भवी खेचरी और उन्मनी मुद्राओं से भी समाधिसिद्धि बतायी है। इससे केवल हठसाधनाओं से भी परम पद की प्राप्ति होनी सिद्ध होती है। तथापि साधारणतया इनका क्रमिक अभ्यास ही अधिक उपयोगी माना गया है।

भगवान् की धर्मशाला संसार

(पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

भगवान् के भक्त तथा जनता जनार्दनके सच्चे सेवक—धनी धार्मिक हिन्दू तथा मुसलमान भाई जहाँ तहाँ तीर्थों, नगरों, एव स्टेशनों आदि स्थानों पर आगन्तुक यात्रियों के लिये अल्पकालिक विश्राम धाम बनाते हैं यह भवन धर्मशाला अथवा सराय कहलाते हैं। अधिक भ्रमण करने के कारण अनेक धर्मशालाओं में ठहरने का अवसर आता है। कभी कुछ रहस्य समझना होता है तो धर्मशालावालों से पूछते हैं कि तुम कबसे यहाँ रहते हो। कोई तीन दिन कोई सातदिन और विहार गया में तो १५ दिन तक सराय अथवा धर्मशाला में रहने का नियम है ताकि पितृपक्षमें श्राद्ध कर सकें। कोई ऐसा यात्री नहीं देखा जो धर्मशाला के उद्घाटन से उसके गिरने तक ठहरा रहे।

जीव छोटा और भगवान् महान् हैं तथा जो जैसा होता है वैसी ही उसकी कृति होती है अतएव भगवान ने भी अनेक महान धर्मशालायें बनाई हैं। किन्तु एक सौ वर्ष से अधिक कोई न रह सकेगा। क्या आज कोई सन् १८५३ का है और जो आज हैं उनमे कौन सन २०५३ मे रह जावेगा।

जगत् धर्मशाला बडी मालेक परम उदार।
बँधते रहते बिस्तरे खुलते हैं दो चार॥

धर्मशाला उसे कहते हैं जहाँ सदैव कोई न रह सके। जिस वस्तु को तुम्हारे बाबा पर बाबा आदि अपनी अपनी कहते कहते चले गए ''

ऐसी किंवदन्ती है कि—

मिट्टी कहै कुम्हार से तू क्या रौंदे मोहि।
एक दिन ऐसा होयगा मैं रौंदूगी तोहि॥

क्या कभी आम गिरकर फिर वहीं डाल मे लग सकते हैं —

आज खिले कल झुकि गए परसों ही झरि जाँय।
फूल देखि गनि फूल की फिर भी फूलत जाहि॥
पॉव थर्राते थे जिन के सामने जाते हुए।
देखा उनकी खोपडी को ठोकरें खाते हुए॥

वही रावण जिसके दरबार मे ब्रह्मा वेद पढ़ाने को जाया करते थे और शंकर जी पूजा कराने आते थे तथा पवन बुहारी देती थी। उसी रावणकी क्या दशा हुई।

अब सिर भुज तब जम्बुकखाहीं।
राम विमुख यह अनुचित नाहीं॥

सोने की लका के अन्दर रहनेवाले का सिर रुधिर में तैर रहा हो। जिसे मरने पर डेढ गज कफन तक न मिले तो आश्चर्य की बात ही क्या? धर्मशाला ही ठहरी इसमे अधिक दिन रहना ही नहीं है। तुम्हारे बाबा कहते थे कि हमारे नाम मकानका बैनामा है बैनामा तो नहीं हाँ (बे + नामा) अवश्य है जब तुम्हारे बाप बाबा अपना कहते, कहते खाली कर गए तो तुम्हें भी खाली करना ही पड़ेगा।

आस पास योधा खडे सभी बजावैं गाल।
बीच महल से ले चला ऐसा काल कराल॥

आठौ नोबत बाजतीं होत छत्तीसो राग ।
सो मन्दिर खाली पडे बैठन लागे काग ॥

अतएव यह निश्चय ही है कि यहां रहना नहीं है । यही बात सन्त कबीर लिखते हैं ।

रहना नहिं देश बिराना है—
यह ससार कागज की पुड़िया बूद पडे घुल जाना है ।
यह ससार कांट की बाडी उलझ पुलझ मर जाना है ॥
यह ससार झाड औ झौंखर आग लगे बरि जाना है ।
कहत कबीर सुनो भाई साधों सत् गुरु नाम ठिकाना है ॥

"मुर्दे का स्वॉग बनाकर आह का क्या काम"

इसकी किम्वदन्ती इस प्रकार है ।

एक बार त्रिदोष(इन्फ्लुएंजा)का रोग चला । पानी के स्थान पर मुर्दे ही मुर्दे उतराते हुये दीख रहे थे । उसी समय एक राजा के यहाँ डाका पड़ा । राजा ने डाकुओं को पकड़ने की कठोर आज्ञा अपने सैनिकों को सुना दी । द्वारपाल पता लगाते-लगाते उसी स्थान पर पहुँच लिये जहां जल के ऊपर मुर्दे उतरा रहे थे और उन्हीं मुर्दों में एक डाकू जा छिपा था । द्वारपालों ने निश्चय किया कि इन मुर्दों मे भाले छेदे जॉय यदि कोई जीवित होगा तो उसके शरीर से रुधिर निकलेगा । ठीक ऐसा ही करने भी लगे तब एक व्यक्ति के रुधिर की धारा बहती हुई दिखाई दी उन्होंने जान लिया एवं यह सोचकर कि यदि इसे छोड देते हैं तो हम सबको प्राण दण्ड भोगना पडेगा उसे पकड़ कर राजा के सामने उपस्थित किया । और कहा कि महाराज ? इसने भाला छेदने पर भी आह नहीं की । महाराज बोले भाई ! भाले चुभने पर भी तुमने आह क्यों नहीं की । तब डाकू बोला महाराज ! मुर्दे का स्वॉग बनाया तब आह का क्या काम ।

सज्जनों ? यह देह रूपी धर्मशाला तो एक दिन ली करनी ही है । जैसा श्रीभर्तृहरिजी ने लिखा है

आयुर्वर्षं शतन्नृणां परिमितम् रात्रौ तदर्द्धं गतम् ॥
तस्यार्द्धस्यपरस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ॥
शेष व्याधि वियोग दुःख सहितं सेवार्थिभिर्नीयते ॥
जीवे वारितरङ्ग चञ्चलतरे सौख्य कुतःप्राणिनाम् ॥

मनुष्य की पूर्णायु १०० वर्ष की है । इसमें से ५० वर्ष तो रात्रि के सोने मे निकले और शेष ५० वर्ष के आधे २५ वर्ष बालक पन मे तथा बुढापे में बीते । बचे २५ वर्ष उसमे भी अनेकों रोग (शरीरव्याधिमन्दिरम्) और प्रियवस्तु के वियोग आदि दुःखों की भरमार तथा जीवात्मा भी जल तरङ्गों की तरह चञ्चल है ऐसी दशा मे प्राणी को सुख कहां क्योंकि परमात्मा की प्राप्ति के लिये तो कुछ बचा ही नहीं ।

इसी लिये तो चेतावनी दी है—

सोने वाले स्वास यह हैं सोने के मोल ।
सोने में खोओ नहीं सुनो सुनहले बोल ॥

महा भारत मे आता है कि जिसके छोटे भाई और पुत्र कार्य सभालने वाले हो जॉय इतने पर भी उपरामता प्राप्त न हो तो कभी वियोग दुःख अवश्य पावैगा । अतएव वानप्रस्थ और सन्यास दो आश्रमों का प्रतिपादन महर्षियो ने वैराग्य और ज्ञान के निमित्त किया है ।

भावुकभक्तजनों ! यहां की धर्मशाला छोडकर चलते समय इक्के, टॉगे, मोटरे आदि प्राप्त हो सकते हैं किन्तु इस देह रूपी धर्मशाला के छोडने पर कुछ साथ नहीं जा सकता ।

हम-हम करि धन धाम सवारे अन्त चले उठि रीते ॥

एक राज्य का नियम था कि उस गद्दी पर बैठने वाला राजा केवल एक वर्ष ही बैठ सकता है इसके पश्चात् उस राजा को घोर पशुओं और व्याघ्रों से

युक्त बन मे भेज दिया जाता था। इस प्रकार अनेकों राजा हुये और गद्दी से एक वर्ष बाद उतार कर वन भेज दिये गये। एक बार एक सन्त बाबा का नम्बर आया वह अपने गुरु से आज्ञा लेकर तब गद्दी पर बैठे। श्री गुरुजी ने कहा कि प्रतिदिन एक घण्टे के लिये हमारे पास आया करो। हाँ—पहिले राज्य कर्मचारियों से पूछो कि हमे क्या-क्या मिलेगा। सत राजा ने कर्मचारियों से अपना अधिकार पूछा—तो उत्तर मिला:—

राजसिंहासन पर आसन बिछाके तथा,
तिलक सजाके तुम्हें राजा बनायेंगे।
रानी दास-दासी सब सेवा में तुम्हारी रहैं,
प्रजा के नारी नर आपके ही कहावेंगे॥
वैभव विलास धन धाम कभण्डार जिते,
आप सबही में निजानन्द को उड़ावेंगे।
वर्ष के भीतर "विनीत" वन वास मिले,
शेर और चीते ये शरीर धड़ खावेंगे॥

जनता जनार्दन की सेवा में एवं परोपकार मे जिसने सब कुछ व्यय कर दिया। संसार वाले उसे गरीब (दरिद्री) कहते हैं किन्तु भगवान् महान् धनी उसे समझते हैं।

श्री गुरु जी की आज्ञानुसार सन्तराजा ने पुन मन्त्रियों से अपने पूर्ण अधिकार पूछे—तब मन्त्री ने उत्तर दिया कि:—

सुना चुके है नियम सब पाछे दोष न देहु।
वर्ष भरे के भीतर जा चाहो करि लेहु॥

यह बात श्री गुरु जी को आकर सुना दी तथा श्री गुरुदेव भगवान की आज्ञानुसार इस प्रकार की घोषणा कर दी।

शीघ्र ही कटाके उसपार का भयङ्कर वन,
काँटे झाडझखडों में आग लगवा दी जाय।
जितनी दुकानें यहाँ पहुँचे उस पार वहाँ,
आज बाजार में मना दी करवा दी जाय॥
तग मरमर का महल बनवा के वहाँ,
सामने नवीन पुष्प वाटिका लगा दी जाय।
वर्ष भरके भीतर ही "विनीत" वहा सौगुनी,
सबही तरह की सम्पति सजा दी जाय॥

इस प्रकार सब कुछ प्रबन्ध हो जाने पर जिस गद्दी पर २ पौंड वजन प्रति मास कम होता था। उसी गद्दी को ११ मास में ही छोड़ने की सन्तराजा ने इच्छा प्रकट की और प्रजा से कहा कि भाई हम गद्दी छोड़ते हैं। तब प्रजा ने प्रार्थना की—महाराज!

अब आप न यह हमसे कहिये।
कुछ कष्ट होय उसको कहिये॥
नर को न कमी सुख सम्पति की,
नर के नित कर्म करो चहिये।
इस पार जो था उस पार किया,
मरजी हो यहा या वहा रहिये॥
हरि नाम का मन्त्र जपो मन में,
सुख शान्ति सुधा म सदा बहिये।

जब सब कुछ उस पार कर दिया तब राजा रोता हुआ क्यों जायगा वह तो हँसता हुआ प्रसन्न चित्त अपने परमार्थ के पुनीत पुण्य फल को आनन्द के रूप मे भोगने के स्वर्णावसर से लाभ प्राप्त करेगा। तभी तो कहा है कि—

अखण्ड प्रफुल्लित रहो दुःख में भी।

जहाँ मे जब तू आया था सभी हसते तू रोता था।
बसर कर जिन्दगी ऐसी सभी रोएं तू हसता जा॥

"त्यागिनी भीलनी" का ज्योतित जीवन

लेखक—प० सूर्यप्रसाद दीक्षित 'सुरेश' काव्यकला भूषण

आज कई वर्ष व्यतीत होगये होंगे किसी जंगल मे कोई चन्ड नामक भील अपनी पत्नी सहित निवास करता था। वह फल, कन्दमूल भक्षण कर और शिकार करके अपना उदर पोषण करता था। एक दिन जब वह शिकार के लिये इधर उधर भटक रहा था, उसे एक टूटा फूटा शिवालय दिखाई पड़ा जिसके ध्वंसावशेष ही शेष थे और शेष था भगवान् शंकर की एक मूर्ति। चण्ड उस मूर्ति को घर उठा लाया और किसी विदुषी से पूछ २ कर विधि विधान से उस मूर्ति का पूजन करने लगा। वह जंगल से बेलपत्र, पुष्प, धतूरे के पुष्प, फल, जल और चिता भस्मादि सचित कर लेता था, और इस प्रकार नित्य पूजन करने के उपरान्त जलपान करता था।

चण्ड का यही क्रम महीनों तक चलता रहा। एक दिन अचानक ऐसी वर्षा हुई कि सारी जगत की चिताभस्म बह गई। उसी दिन उसकी भस्म समाप्त भी हो गई थी। अतः दूसरे दिन प्रात काल वह भस्म के लिये बाहर आया और जगल २ भटक कर भस्म ढूढने लगा, परन्तु उसे अर्चनार्थ थोडी भस्म न मिल सकी।

इस प्रकार अपने कार्य मे विफल होकर वह घर लौटा। घर आने पर उसकी धर्मपत्नीने बडे ही प्रेम से पति पूजन किया, तत्पश्चात् मधुर शब्दों मे उदासीनता का कारण पूछा।

चण्ड ने कहा—भार्ये! मैं क्या बताऊ? मैं बड़ा ही अभागा हूँ। आज मैंने बहुत प्रयत्न किया, कोसों भटक आया परन्तु पूजन हेतु थोडी सी भस्म न मिल सकी। आज भगवान् बिना पूजा के ही रह जायेंगे फिर मैं जल कैसे पान कर सकूगा।

अपने पति की विषाद भरी बात सुनकर उस भीलनी को एक युक्ति सूझी। वह अपने प्राणेश्वर को आश्वासन देती हुई बोली—प्राणनाथ! बस इतनी ही बात मे आप व्याकुल हो उठे। क्या यही अपना कर्तव्य है। देखिये कहा भी गया है कि

> "कदर्थितस्याऽपि हि धैर्य वृत्ते,
> नंशम्यते धैर्य गुणः प्रमाष्टुंम्।
> अधोमुखस्याऽपि कृतस्य वह्ने,
> नाधः शिखायाति कदाचिदेव" ॥

अतः आप धैर्य धारण कर के स्नान कीजिये। अभी मिल जायेगी।

यह कहकर भीलनी वहाँ से चलदी। उसकी झोपड़ी के सामने एक पीपल का वृक्ष था। भीलनी वहाँ गई, शुद्ध मिट्टी से एक वेदी बनाई और झोंपडी का सामान निकाल २ कर पीपल के नीचे रखने लगी। अपनी पत्नी को ऐसी चेष्टा मे अनुरक्त देख कर चन्ड ने पूछा—प्रिये! तुम यह क्या कर रही हो? वह हक्का बक्का होकर देखने लगा उसकी समझ मे कुछ भी न आया पत्नी बोली—आप शीघ्र स्नान कीजिये और विश्वमूर्ति को इस वेदी पर बिठांकर उस की अर्चना करिये। झोपडी तो आज शामतक आप बना ही लेंगे मैं इस झोपड़ी मे आग लगाकर जली जाती हूँ और इस प्रकार से आप को चिताभस्म मिल जायेगी।

जिस निरपेक्षा से भील पशुओं का आखेट करता था उसी निरपेक्षा से भीलनी अपने शरीर की आहुति देने को प्रस्तुत थी। मानो वह कोई खेल करने के लिये जा रही थी।

चण्ड ने पत्नी के मुख की ओर देखा। उसके

प्रेम, त्याग और भक्ति ने उसे विह्वल कर दिया वह मुक्त कण्ठ से बोला—प्रिये! शरीर ही सभी कर्मों का आधार है। यही सुख, दुःख, पाप, पुण्य, धर्म और अधर्म का कारण है, अतः अपने शरीर को मत जलाओ।

भीलनी पति के पैरों मे गिर कर बोली स्वामी! आखिर एक दिन तो यह शरीर नष्ट ही होगा। मेरा शरीर भगवत पूजन में लगे यह कितने पुण्य की बात है। अत आप मुझे मत रोकें। भील के नेत्र आसुओं से भर आये, वह बोलने में असमर्थ रहा।

भीलनी ने स्नान किया, फिर शिव मूर्ति को वेदी पर बिठाया और पतिदेव को प्रणाम कर भगवान् की स्तुति करने लगी। उसकी श्रद्धा, त्याग एव पातिव्रत्यने उसे शुद्ध कर दिया। उसके सारे आवरण ध्वस्त हो गये। विशुद्ध ज्ञान तो उसके अन्तःकरण में ही है उस दिव्य ज्ञान से परिपूरित उसकी वाणी प्रेम से गद् गद् हो रही थी।

"वाञ्छामिं नाहमपि सर्वधनाधिपत्य
न स्वर्ग भूमिमचलां न पद विधातुः।
भूयो भवामि यदि जन्मनि नाथ नित्य
त्वत्पादपङ्कज लसन्मकरन्द भृङ्गी॥

अर्थात हे प्रभो! न तो मैं कुबेर का पद चाहती हू, न स्वर्ग, न मोक्ष और न ब्रह्म को ही पाने की इच्छा करती हू। हे नाथ! आपके चरण कमलों मे मेरी मन भ्रमरी नित्य लगी रहे। अर्थात आप से मेरा अनुराग बना रहे।

प्रार्थना करते करते भीलनीने प्रज्वलित अग्नि मे प्रवेश किया। उसका शरीर भस्म हो गया। भील ने स्नान किया। फिर थोड़ी सी भस्म जल से बुझा ली और पूजन करने लगा। वह नैवेद्य चढा कर उन्मुक्त मन से भगवान् शकर के सम्मुख नृत्य करने को खड़ा हुआ। आज से पूर्व भील अपनी पत्नी सहित नाचता था परन्तु आज वह अकेला ही नाचेगा।

परन्तु चन्ड के आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा जब उसने देखा कि नित्य की भांति उसके बाईं ओर उसकी वामाङ्गिनी खड़ी है। वह चकित होकर बोला-हैं! क्या मैं स्वप्न देख रहा हूँ? फिर तुम यहाँ कैसे? .....

भीलनी ने अपने पति को समझाया और नृत्य करने लगी। क्षण पश्चात एक दिव्य विमान ऊपर से आया और उस भील दम्पत्ति को उस मे बिठा कर वह विमान चालक बोला—

अब आपलोग कैलाश चलें, भगवान् शकर आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार वे दोनों दाम्पत्य का सुख भोग कर परम धाम को चले गये।

जगत में झूठी देखी प्रीत

अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत।
'मेरी मेरी सभी कहत हैं, हित सों बांध्यो चीत॥
अन्तकाल संगी नहीं कोऊ, यह अचरज की रीत।
मन मूरख अजहूं नहिं, समुझत सिख दै हारयौ नीत॥
'नानक' भव जल पार परै, जो गावै प्रभु के गीत।

सत्-संग का फल

(पं० स्वतन्त्रनारायण त्रिपाठी "चन्द्रधर")

शठ सुधरहिं सत् संगति पाई ।
पारस परसि कुधातु सुहाई ।।
(मानस)

सज्जनों ! सत् संगति की महिमा महान् है। इसके द्वारा बड़े से बड़े दुष्टों का उद्धार हुआ है। आप कहेंगे कैसे और किसका उद्धार हुआ है तो हम इसके उत्तर मे प्रथम तो वही मानस वाली चौपाई के द्वारा चेतावनी देने का प्रयत्न करेंगे.—

बाल्मीकि नारद घट यानी ।
निज २ मुखनि कही निज होनी ।।
(मानस)

इतने पर भी यदि आप की शका समाधान नहीं होती है तो एक दूसरा उदाहरण लीजिये—

एक बार एक महात्मा जी ने एक नगर में पहुँच कर एक ऐसा स्थान देखा जो बड़ा ही रमणीक है। उन्होंने देखा कि एक पक्की आलीशान कोठी बनी हुई जिसके सामने एक साइड मे एक फूलों से हरी भरी फुलवारी है और उसीके मध्य में एक कुआँ और एक शिव स्थान भी बना हुआ है। कोठी के दूसरे सिरे पर एक मनोहर कमरा भी बना हुआ है।

यह दृश्य देखकर महात्मा जी ने लोगों से पूछा कि भाई यह मकान किसका है।

लोगों ने उत्तर दिया कि यह मकान एक लाला जी का है।

महात्मा जी अब तो प्रसन्नता पूर्वक आगे बढ़े और जाकर उन्होंने पुष्प वाटिका में खूब प्रेमके साथ स्नान और भगवान् का पूजन किया। पूजन से अवकाश पाने के बाद महात्मा जी अब उस स्थान पर पधारे जो मकान के दूसरी ओर कमरे की बाउन्डरी थी उसे पार करके जब कमरे के दरवाजे पर पहुँचे तो जाकर लाला जी को पुकारा।

लाला जी जोकि पहले ही से कमरे मे पड़े हुए खर्राटे ले रहे थे। जिनका स्वभाव कुछ उग्र था साथ ही लालची और नास्तिक भी थे। आवाज को सुनकर आलस्य से मदमाते हुए लाला जी उठे और किवाड़ खोलकर देखा कि सामने एक पचपन वर्षीय महात्मा खड़े हुए हैं। लाला जी चुप चाप आलस्य के वशीभूत होकर चारपाई पर लेट गए।

कुछ क्षण के उपरान्त महात्मा जी बोले कि बच्चा उठो देखो कि करीब २ ग्यारह बजे का समय आगया है। अभी तक आपने नतो स्नान ही किया है और न पूजन भजन ही किया है। नींद के वशीभूत हुये लाला जी ने पूछा कि-हे महाराज यह तो बताइये कि पूजन-भजन किसका और क्यों करना चाहिए।

उत्तर मे ऋषिवर ने कहा कि पुत्र जिस समय यह जीव चौरासी लाख योनियों मे भ्रमण करके माता के गर्भ मे आता है तो उस पेट के मल मूत्र मे पड़कर जब कष्ट को प्राप्त होता है तो उस अवसर पर भगवान् से इकरार करता है कि हे भगवन् —

रौरव नर्क मॅझार पड़ा, अब आन के आप ही पार लगाओ।
नाथ मेरा इकरार यही, नित आप के चरण में ध्यान लगाओ।।
लेहु उबारि अरे अबकी, फिर नाथ कबो न तुम्हें बिसराओं।
ऐसे कर्म करूँगा "चन्द्रधर" फेरि न गर्भ के मध्य में आओं।।

इस लिये हे पुत्र उस गर्भ के इकरार को पूर्ण करने के लिये पूजन और भजन भगवान् का करना चाहिये।

मुनिवर ? यह तो ठीक है पर क्या करूं इस गृहस्थी के फेर में पड़कर सुबह से शाम तक रुपया के चक्कर मे पड़ा रहता हूँ और रात्रि के समय सो रहता हूँ कभी-कभी तो इसी ध्यान मे सवेरा हो जाता है और निद्रा देवी आती ही नहीं हैं। दूसरा दिन हुआ कि फिर वही कार्य चालू हुआ। अब आप ही बताइये भगवान् का भजन कब करूं लाला जी ऐसा कह कर चुप हो गये।

महात्मा जी ने कहा पुत्र यह तो ठीक है कि गृहस्थी के कार्य से मनुष्य को अवकाश प्राप्त नहीं होता है फिर जीवन में जहाँ सब कार्य होते हैं वहाँ यह कार्य भी दस पन्द्रह मिनट दिन भर में एक बार करना आवश्यकीय है क्योंकि विद्वान का मत है—

जिन्दगी जब तक रही फुरसत मिली न काम से।
कुछ समय ऐसा निकालो प्रेम करलो राम से॥

रहा अब धन का चक्कर सो जो लोग यह कहते हैं कि रुपया मेरा है घर जमीन मित्र और कुटुम्ब मेरा है सो सब व्यर्थ है। कोई किसी का नहीं है। हाँ अगर साथी है तो केवल एक वही जो भगवान् का भजन किया गया है और इसके अतिरिक्त और कोई नहीं —

धन दौलत से एक दिन, खाली होगा हाथ।
अन्त समय भगवान का भजन चलेगा साथ॥ (बिन्दु)

इस लिये पुत्र ? समझ चुके हो तो उठो और चल कर भगवान् का भजन और पूजन करो।

मैं सब समझ गया अब अधिक विलम्ब करने का अवकाश नहीं है देखो घड़ी ने भी ग्यारह बजा दिये हैं। अब मैं एक मिनट भी नहीं ठहर सकता कचेहरी के टायम से एक घण्टा लेट हो गया हूँ। अब भजन करने का अवकाश नहीं है। ऐसा कहते हुये लाला अपने वस्त्र पहनने लगे।

महात्मा जी कुछ क्षण विचार करके बोले कि पुत्र यह तो बताओ कि आप सुबह से शाम तक कितने कार्य करते हो आप को पूजन और भजन करने का अवकाश नहीं मिलता।

लाला जी ने कहा—सुनिये महाराज —

प्रात. उठि जाता लोटा अरु डोरि लै,
कानन में जाय मस्त हांके हवा खाता हूँ।
आता हूँ वहा से नव बजे के करीब,
लौटकर भोजन पेचित्त को लगाता हू॥
पाकर प्रसाद फिर करता आराम हूँ,
जाता कचहरी पर लट हो जाता हूँ।
इतने कार्य पूर्ण जब करता हूँ "चन्द्रधर"
होतीहै रात्रि तब फुरसत कहा पाता हूँ॥

इस भाँति के व्यङ्ग्य वचन लाला जी के सुनकर महात्मा जी ने कहा कि पुत्र ! यह अमूल्य मानव तन देवताओं को भी दुर्लभ है —

बडे भाग्य मानुष तन पावा।
सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन गावा॥

ऐसा दुर्लभ तन पाकर जिसने भगवान का भजन न किया और धीरे-धीरे अन्त समय आ जाता है तो यह जीव इस लोक से विदा हो कर उस लोक को जाने के लिये तैयार होता है और जमराज के दूत पकड़ कर ले चलते हैं। तो उस नर्क के महान् कष्ट को पाकर यह जीव घबडाता है और उन दूतों से यह चिल्लाकर कहता है कि हमें छोड़ दो, इस कष्ट से उबारो ! तब यमराज के दूत उस अवसर पर कहते हैं —कि क्या तुमने इस मानव तन को पाकर भगवान से प्रेम किया था। भगवत भजन किया था।

उस अवसर पर यह जीव जब नहीं का उत्तर पेश करता है। तब दूत कहते हैं कि तुम्हारे इस मानव तन प्राप्त होने पर धिक्कार है कि ऐसा दुर्लभ तन पाकर कुछ भी न किया —

हाय हाय तुम्हरे धिक्कारा।
नर तन पाय न कछू संभारा॥ मानस॥

इन वैराग्य पूर्ण वचनों को सुनकर लालाजी ने

कहा'—कि क्या मानव शरीर भागवान् के भजन ही करने के लिये प्राप्त होता हैं।

महात्मा जी ने कहा—हाँ

देह धरे कर यह फल भाई।

भजिय राम सब काम विहाई।।मानस।।

लाला जी थे समझदार इस लिये समझने मे देर न लगी और कहा—कि हे ऋषिवर मुझे अवकाश प्राप्त होने का कोई उपाय वताइये।

महात्मा जी ने कहा—कि उपाय कल वताएगे। ऐसा कह कर मुनि जी उस स्थान से चले गये।

इधर लाला जी भी जब अदालत से वापस आये तो विचार करने लगे कि महात्मा जी क्या उपाय करेगें।

दूसरे दिवस महात्मा जी संध्या के समय जब लाला जी के गाव मे पधारे तो उन्होंने देखा कि लाला जी शौच क्रिया को जा रहे हैं। अब तो मुनिवर ने सब उपाय सोच लिया और नगर के अन्दर जाकर लोगों से कहना प्रारम्भ किया—

भाइयों! आज इस ग्राम मे एक वहुत बड़ा राक्षस आयेगा। लोगों ने कहा–वह कैसा राक्षस है।

मुनि जी बोले कि-बच्चा वह एक साधारण मनुष्य का रूप बना कर ग्राम के अन्दर प्रवेश करता है+ और जब तक गाव का सफाया नहीं कर देता है तब तक वाहर नहीं निकलता है।

लोगों ने कहा कि मुनिवर? हमलोग कौन सा उपाय करें कि वह दुष्ट राक्षस ग्राम में न आने पाय!

बचने का उपाय केवल यही है कि इस ग्राम के समस्त लोग अपने अपने हथियारों समेत सुसज्जित हो कर ग्राम के मार्गों को रोक लो और जब वह राक्षस आएगा तो हम आप लोगों को बता देंगे। ऐसा ऋषिवर ने कहा।

फिर क्या था लोगों ने अपने शस्त्रों को लेकर ग्राम के बाहर महात्मा जी के साथ निकल आए। और उस लाला रूपी राक्षस की प्रतीक्षा करने लगे।

महात्मा जी ने कहा कि–सज्जनों देखो वह राक्षस इस भाति नहीं मर सकेगा और मर भी जायगा तो ग्राम नहीं छोड़ेगा।

लोगों ने कहा कि–वह, उपाय बता दीजिए कि जिससे राक्षस सदैव के लिए ग्राम छोड दे।

मुनिवर ने कहा–कि उसके लिए आपलोग शस्त्रों का प्रयोग तो करेंगे ही परन्तु साथ ही साथ राम नाम रूपी वाण भी चलाओ कि जिससे वह दुष्ट राक्षस सदैव के लिए इस ग्राम को छोड़ दे।

लोगों ने पूछा राम नाम रूपी वाण कैसा है हम लोग उसे देखने के लिए वहुत ही उत्सुक हैं।

वह वाण केवल यही है। कि जो हम कहें वही आपलोग भी अपने मुह से कहने का कष्ट करो। ऐसा कहते हुए महात्मा जी कीर्तन करने लगे.

श्री राम जय राम जय जय राम

श्री राम जय राम जय जय राम।

कुछ क्षण प्रेम के साथ कीर्तन होता रहा कि इतने ही में लाला जी आते हुए दिखाई देने लगे।

महात्मा जी ने कहा–पुत्र वह देखिये राक्षस आ रहा है। अब आपलोग भी तैयार हो जाइए।

इधर लाला इस भीड़ को देखकर विचार करने लगे कि आज ग्राम के लोग हमारा स्वागत करने के लिए वाहर आ आकर एकत्र हुए हैं। ऐसा विचार करते हुए लाला-जी ज्यों ज्यों करीब आने लगे। लोगों ने भी प्रथम तो उन पर वाक्य वाणों की वर्षा की और करीब और आने पर लोगों ने धूल और कंकड़ों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। अब तो लाला जी घवड़ाए और पुकार कर कहने लगे।

ऐ हो सुनो तो कुछ आप लोग बात मेरी,
　　कैसा ये सम्बन्ध हम गाँव के लाला हैं।
लोगों ने सुनकर उत्तर दिया बार बार,
　　जानते हम खूब आप शैतान आला हैं॥
दूर ही रहो अब गाँव के बाहर तुम,
　　आने का यहाँ व्यर्थ करते कसाला हैं।
मानोगे नहीं यदि देखो तुम "चन्द्रधर"
　　तो लालाजी पड़ेगा अब लाठियों से पाला है॥

इस भाँति का उत्तर सुनकर के निराश भाव में देखा कि लोगों का अस्त्र प्रहार मेरे ही ओर बढ़ता आ रहा है। तब तो लाला जी अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए वहाँ से जंगल की ओर नौ दो ग्यारह हो गये। इधर सब लोग खुशी २ अपने घर पधारे।

दूसरा दिन हुआ महात्मा जी लाला जी का पता लगाने के लिए ठीक उसी रास्ते से चले कि जिस मार्ग होकर लाला जी जंगल को भगे थे। कानन में कुछ दूर चलने के पश्चात महात्मा जी ने देखा कि लाला जी एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए अपने मुखारविन्द से बराबर यही उच्चारण कर रहे हैं:...

　　श्री राम जय राम जय जय राम।
　　　　श्री राम जय राम जय जय राम॥

फिर क्या था महात्मा जी तेजी के साथ आगे आगे बढ़े और लाला जी के पास पहुँचकर बोले कि पुत्र अब तो कचेहरी का समय आ गया है। उठिये और शीघ्र ही चलिये। उत्तर में लाला जी ने कहा.— कि आप कौन हैं जो हमारे भजन को भंग करने आये हो।

सज्जनो! विचार करने की बात है कि जिन लाला को पहले कभी भगवान् का भजन करने के लिये अवकाश न था। आज उन्हीं के मुख से ऐसे वाक्य सुनाई देते हैं। यह क्या है, केवल महात्मा जी के क्षणिक सत्संग का फल है।

महात्मा जी कुछ आगे बढ़े और लाला जी के समक्ष खड़े होकर कहने लगे कि क्या मैं वही हूँ कि जिससे आप ने अवकाश के प्रति कहा था। सो अब बतलाइये कि आप को अवकाश मिला या नहीं।

इन वचनों को सुनकर लाला जी ने ज्यों ही नेत्र खोलकर अपने समक्ष महात्मा जी को देखा तो झपट कर चरणों पर गिर पड़े और कहने लगे कि हे महाराज गृहस्थी के कार्य में पड़कर मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। परन्तु आपके इस क्षणिक सत्संग की बदौलत आज मेरे विचार पलट गये हैं। मैं अब प्रतिज्ञा करता हूँ कि जीवन की शेष आयु को भगवान के ही भजन में लगाऊँगा। ऐसा कहकर लाला जी विह्वल होकर रोने लगे।

महात्मा जी इन वाक्यों को सुनकर गद्गद् हो गये और लाला को उठाकर अपने हृदय से लगा लिया।

सज्जनो! सत्संग का फल ऐसा होता है। अब अधिक न कहकर केवल वही मानस की चौपाई याद आ जाती है:—

　　शठ सुधरहिं सत संगति पाई।
　　　　पारस परसि कुधातु सुहाई॥

जब मैं थी तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहिं।
　　प्रेम गली अति साँकरी जा में द्वै न समाहिं॥

ईश्वर की सत्ता

(कुमारी कमला, प्रभाकर, (पंजाब) विदुषी (प्रयाग

– ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये अनेक दार्शनिकों ने तर्क उपस्थित किये हैं। न्याय कुसमाञ्जलि के लेखक उदयनाचार्य ने सभी कारणों को एक श्लोक मे भले प्रकार स्पष्ट किया है। श्लोक इस प्रकार प्रारम्भ होता है—

कार्या योजन धृत्यादेः ।
पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः ॥

किन्तु मैं समयाभाव के कारण इसकी व्याख्या न कर सकूंगी।

पश्चिमी दार्शनिकों ने ईश्वर की सत्ता सम्बन्धी सभी कारणों का तीन श्रेणियों में समावेश किया है। वे इस प्रकार हैं.—

(क) सत्तावाद (Ontological proof) मै अपूर्ण हूँ। मैं आकाश को नहीं छू सकती, मैं चन्द्रमा को नहीं छू सकती क्योंकि मैं अपूर्ण हूँ। किन्तु अपूर्णता की भावना कहाँ से आई। अपूर्णता का ज्ञान पूर्णता के पश्चात् होता है। 'पूर्ण' शब्द मे अकार लगाने से 'अपूर्ण' शब्द बनता है। 'पूर्ण' शब्द मे सत्ता का भी समावेश है। यदि इसमे सत्ता न होगी, तो 'पूर्ण' 'अपूर्ण' हो जायगा।

जर्मनी के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता कॉण्ट ने इस मत का खण्डन किया है। कल्पना मात्र से सत्ता नहीं हो जाती। किसी काल्पनिक वस्तु को 'पूर्ण' कह देने से वह सत् नहीं हो जाती। यह कह देने से कि मेरी जेब में बेर है तो मेरी जेब में बेर उपस्थित नहीं हो जाता।

(ख) कार्य-कारण वाद (Cosmological proof) कार्य का कारण अवश्य होता है। मेरा कलम है, उसका कारण है। मेरी मेज का कारण है। इसी प्रकार समस्त विश्व का भी कारण होना चाहिये और वह कारण है ईश्वर।

कॉण्ट ने इस युक्ति का भी खण्डन किया है। यदि कार्य का कारण अवश्य है तो ईश्वर पर ही क्यों रुक जाते हो। ईश्वर का कारण ईश्वर का बाप, बाबा, पर बाबा, लक्कड़ बाबा, ऐसी कल्पनायें करनी होंगी और अनवस्था दोष हो जायगा। यदि कहीं रुकना है, तो प्रकृति पर ही क्यों नहीं रुक जाते। ऐसो ना। तो बहुत से मानते है जैन, बौद्ध, और भी।

(ग) प्रयोजन—वाद (Physico teleological proof) इस विश्व में और विश्व की वस्तुओं में स्थल स्थल पर क्रम सौन्दर्य और प्रयोजन लक्षित होते हैं। चन्द्र और सूर्य का नियमानुकूल उदय और अस्त होना, फल-फूल, पशु पक्षी आदि मे सौन्दर्य का होना। इससे पता चलता है इन सबको बनाने वाली बुद्धिमती और प्रयोजन शीला सत्ता है। वह है ईश्वर।

कॉण्ट के मत से यह भी 'कार्य कारण वाद' का रूपान्तर है। अत तर्क से टिकाऊ नहीं।

हमारे यहाँ सांख्य दर्शन के दो दृष्टि कोण हैं —सेश्वर सांख्य और निरीश्वर सांख्य। निरीश्वर सांख्य कॉण्ट की भाँति ईश्वर को असिद्ध बताता है ये लोग ईश्वर की सत्ता का न तो मण्डन करते हैं और न खण्डन ही। दोनो के लिये 'तर्कोऽप्रतिष्ठ',

हाँ, भारत में चारवाक आदि और यूरप मे कुछ प्रकृतिवादी ईश्वर में अविश्वास करते हैं। वे कहते हैं कि हम ईश्वर को न सूँघ सकते हैं, न चख

सकते हैं, न सुन सकते हैं, न छू सकते हैं। यदि ईश्वर होता तो हमारे अनुभव में अवश्य आता। अतः ईश्वर नहीं है। हम हवा को नहीं सुन सकते, शब्द को नहीं देख सकते, तो क्या 'हवा' और 'शब्द' नहीं हैं? हम चुम्बक में अग्नि नहीं देखते तो क्या चुम्बक में अग्नि नहीं है। हम गन्ध को नहीं सुन सकते, तो क्या गन्ध नहीं है? यदि ईश्वर हमारी इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है तो यह कह देना कि ईश्वर है ही नहीं, युक्ति-संगत नहीं।

कॉण्ट कहता है भले ही हम ईश्वर को तर्क से सिद्ध न कर सकें किन्तु ईश्वर को मान लेना लाभप्रद है। इससे हमारा जीवन आशामय हो जाता है ईश्वर हमें बुरे काम के लिये दण्ड देगा और भले काम के लिये पुरस्कार इससे संसार में व्यवस्था बनी रहती है। सभी बड़े धर्मों में यथा मुसलमान ईसाई आदि के धर्मों में ईश्वर को माना है। हिन्दु वेदों ने ईश्वर को माना है। हाँ जैन और बुद्ध का इस विषय में मत भेद है। ऋगवेद के 'नासदीय सूक्त' में और यजुर्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में ईश्वर की सुन्दर चर्चा की गई है।

भक्त-गाथा

भक्त अम्बालाल

हाल की सची घटना

(लेखक—श्रीमिश्रीलाल गुप्त, स्टेशनमास्टर, वन्दवारेश)

भगवान् श्री कृष्ण गीता में कहते हैं.—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।

अर्थात् मैं साधुओं की रक्षा करने के लिए दुष्टों के नाश करने के लिए तथा धर्म की स्थापना करने के लिए युग युग में अवतार लेता हूँ।' भगवान् ने अपने इस कथन में अवतार के तीन कारणों को बतलाया है—साधुहित, दुष्ट-विनाश तथा धर्म स्थापन इन में साधु-हित के दोनों अभिप्राय हो सकते हैं। एक तो जब संसार में कंस और रावण जैसे अत्याचारी पुरुष उत्पन्न हो साधु सन्तों को कष्ट देने लगते हैं तब भगवान् उन के कष्टों को दूर करने के लिए तथा उन अत्याचारी पुरुषों का नाश करने के लिए अवतार लेते हैं। दूसरे जब साधु पुरुष भगवान की प्राप्ति के लिए विरह व्याकुल हो दारुण तप करने लगते हैं तब भी वह दयामय प्रभू अपने भक्तों के इच्छानुसार रूप धारण कर उन्हें दर्शन देते हैं। अपने इसी जीवन में इन्हीं चर्म चक्षुओं से अपनी चाहना के अनुरूप भगवान का दर्शन करने वाले धन्य पुरुष इस जगत में अनेकों हो गये हैं। और प्रभु कृपा से आज भी ऐसे धन्य पुरुषों से ये जगती खाली नहीं है। भक्त अम्बालाल भी सम्भवतः ऐसे ही पूज्यकर्मा पुरुषों में से एक थे।

भक्त अम्बालाल पटेल का जन्म गुजरात में मेहसाना स्टेशन के समीप किसी गाव में हुआ था; उनका बचपन कैसे बीता था इस विषय में मुझे कुछ विशेष जानकारी नहीं है। हाँ यह तो निश्चित बात है कि सन् १८०३ ईसवी के लगभग वह अपनी सौतेली माता के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर घर से निकल पड़े थे और मेहसाना स्टेशन पर जा पहुँचे थे। वहाँ उस समय मिस्टर बेकर स्टेशन

मास्टर थे। अम्बालाल ने अपनी जीविका के लिए सहायता की प्रार्थना की स्टेशन मास्टर को अपने आफिस मे एक पत्र व्यवहार करने के लिए किरानी (correspondence clerk) की आवश्यकता थी और अम्बालाल इन्ट्रेन्स पास थे, इस लिए स्टेशन मास्टर ने १५) मासिक पर उन्हें उस पद पर अपने आफिस मे रख लिया और उस की स्वीकृत डी० टी० एस० मि० रॉबिन्सन से ले ली।

अम्बालाल जी कुछ दिनों तक उसी काम पर लगे रहे और धीरे-धीरे उन्होने वहाँ तार का काम भी सीख लिया। जब तार के काम करने की योग्यता का उन्हें पूरा अनुभव हो गया तब उन्होंने एकदिन स्टेशन मास्टर से तार के काम की परीक्षा दिलाने के लिए सिफारिश करने की प्रार्थना की। आफिस मे अम्बालाल का काम बहुत ठीक होता था और स्टेशन मास्टर इन से सदा सन्तुष्ट रहते थे इस लिये उन्होंने D. T. S. से सिफारिश कर के उन्हें अजमेर में तार की परीक्षा देने के लिए भेज दिया। अम्बालाल उसमें पास हो गये और मेहसाना में ही उन्हें २०) मासिक पर तार बाबू का काम मिल गया।

अब तक तो अम्बालाल का भजन पूजन कुछ वैसा नियमित न था परन्तु तार बाबू का कार्य मिल जाने पर उन का भजन में अधिक समय लगने लगा अम्बालाल का जीवन खूब ही सादगी से बीतता था। वे जो २०) मासिक पाते थे उन मे से (probident fund) काट कर उन्हें केवल १८) कुछ आने ही मिलते थे। जिस में दो रुपये कुछ आने मे ही वो अपना महीने भर निर्वाह कर लेते थे शेष साधु महात्माओं की सेवा मे खर्च कर दिया करते थे। भोजन मे वे बिना नमक मसाले अथवा घी के केवल जौ के आटे की रोटी और चने की दाल खा या करते' उनके कार्टर मे एक चटाई' एक टीन, एक कम्बल, लोटा और एक बाल्टी तथा पहनने के वस्त्रों में एक धोती एक कमीज दो कोपीन तथा रेलवे से मिले एक कोट और टोपी बस यही थे।

तार बाबू की Duty सप्ताह मे ही बदला करती है। परन्तु अम्बा लाल ने अपनी दिन चर्या ऐसी बना रक्खी थी कि आठ घंटे रेलवे की Duty तथा अन्य नित्य कर्मों के सिवा आठ घंटे भजन के लिये उन्हें प्रति दिन निर्विघ्न मिल जाया करते थे। Duty के बदलने के साथ-साथ ही उनके भजन का भी समय बदल जाता परन्तु भजन के आठ घंटे मे कमी न आती थी। वो अपने भजन के घण्टे कार्टर में नहीं बल्कि समीप के साबरमती नदी के किनारे एकान्त मे बिताया करते थे। नदी की धार के बीच एक छोटा सा दियरा पड़ गया था वही उन्होंने अपना साधन स्थान बना रक्खा था। वहाँ नित्य प्रति एक आसन पर बैठकर मुरली मनोहर का ध्यान करना उनका प्रति दिन का अनिवार्य कार्य था।

इस प्रकार उनके जीवन के कुछ ही महीने बीते थे। एक दिन रात को वो अपने नित्य नियम के अनुसार उसी साबरमती के दियरा में ध्यान जमाये बैठे थे। चाँदनी छिड़क रही थी। अचानक उनकी आँखे खुली और देखते क्या हैं कि एक बूढ़ा आदमी नदी के किनारे हाथ मुंह धो रहा है। परन्तु अम्बालाल को इससे क्या उन्होंने फिर आँखें बन्द कर ली इतने में वो बुड्ढा आदमी नजदीक आया और अम्बालाल से बोला बेटा तुम किसके लड़के हो यहाँ कबसे और क्यों बैठे हो तुम्हें नदी के भयानक जानवरों का डर नहीं देखो तुम तो आँखे मूँदे बैठे थे और उधर भयानक मगर मुँह बाये तुम्हारे ओर आ रहा था वह तो मेरे डराने से नदी में कूद गया है। यदि मैं न आता वो तुम्हारी जान आज गयी थी।

अम्बा लाल बूढे की इन बातों से भयभीत नहीं

हुये उन्होंने उत्तर दिया महाराज मैं एक पटेल का लड़का हूँ यहीं स्टेशन पर वार बाबू का काम करता हूँ। यहाँ की ठण्डी हवा बहुत अच्छी लगती है इसी लिये आकर बैठ जाया करता हूँ। आप ने व्यर्थ ही उस भूखे मगर को लौटा दिया।

वह बूढ़ा ब्राह्मण अम्बालाल के इस उत्तर से कुछ अप्रसन्न सा हो उसे डाटते हुये बोला। जान पड़ता है तू इस बहुमूल्य शरीर को तुच्छ समझ प्राण देनेपर उतारु हुआ है। देख यह शरीर वार-वार नहीं मिलता इसकी रक्षाकर मनुष्य को परमार्थ में लगना चाहिये बूढ़े के इन मार्मिक वचनों को सुन अम्बालाल का हृदय हिल गया और वे रुँधे स्वर से हाथ जोड़ कर बोले महाराज मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि से समझाया था कि यह शरीर मगर के काम भी आ जायगा तो इसका सदुपयोग ही होगा। यदि मेरा यह निश्चय धर्म विरुद्ध है तो कृपया मुझे क्षमा कीजिये। अम्बालाल के इस उत्तर से बूढ़ा बहुत प्रसन्न हुआ। अम्बालाल को बूढ़े के प्रभाव शाली वचनों को सुनते ही यह विश्वास हो गया कि निःसन्देह मुझे आज अपने भाग्य भास्कर प्राप्त हो गये हैं इस लिये उसने हाथ जोड़कर निःसकोच भाव से उनसे साक्षात भगवान का दर्शन कराने की इच्छा प्रकट की। वह बूढ़ा ब्राह्मण पहले तो मुस्कराया फिर अम्बालाल को समझाने लगा बेटा तुम्हें किसी ने भ्रम में डाल दिया है। ईश्वर एकदेशी नहीं है वह तो सर्व व्यापक है यह दृश्य अदृश्य सब कुछ तो वही है। फिर उन सर्व व्यापक को तू इन चर्मचक्षुओं से कैसे देख सकता है। यदि तू अपने आत्मा का दर्शन कर लेगा तो अवश्य ही उन व्यापक परमात्मा को भी देख लेगा। इस हठ को छोड़ और सावधानी से अपना धर्म पालन कर।' अम्बालाल ने अपने को इस ज्ञानोपदेश का अधिकारी न पाया। उसे तो एक ही धुन लगी हुई थी। वह मुरलीमनोहर के दर्शन चाहता था। इस लिये वह बूढ़े महाराज के ज्ञानोपदेश की अवहेलना स्वरूप चुप ही रहा। विवश होकर महाराज को पूछना पड़ा कि वह किस रूप का दर्शन करना चाहता है!' अम्बालाल के तो रोम-रोम में मुरली मनोहर की छवि समायी हुई थी, वह अन्तमे आनन्दित हो बोल उठा—(मोर-मुकुट पीताम्बरधारी मुरलीमनोहर शङ्ख चक्र गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप का।' महाराज ने पूछा— क्या यही उन का एक मात्र रूप है?' अम्बालाल ने उत्तर दिया— महाराज! यद्यपि शास्त्रों में ईश्वर के अनेकानेक रूपों का वर्णन है। मेरी तृप्ति तो केवल इसी रूप मे है यदि उन के अन्य रूप मुझे देखने को मिले तो उनसे मेरी तृप्ति नहीं होगी। और न मुझे यह भान ही होगा कि वह भगवान् हैं।' यह है अनन्य भावना। सच है—

जाको मन रम जाहि जाहि सन ताहि ताहि सन काम'।

अस्तु अम्बालाल ने आश्चर्य चकित हो देखा कि वह वृद्ध ब्राह्मण तत्काल उसी के मन चाहे चतुर्भुजी रूप में बदलकर अम्बालाल के सामने खड़े हैं। जिस प्रकार बहुत दिन का बिछुड़ा हुआ बछड़ा गाय की ओर दौड़ता है उसी प्रकार अम्बालाल प्रेम में उन्मत्त हो झपट कर अपने उपास्य देव के चरणों मे गिर पड़ा और लगा अपने अश्रुजल पाद्य से भगवान के चरण कमलों को धोने। करुणामय ने अम्बालाल को उठा उस का आँसू पोंछते हुए हृदय से लगा लिया और ढाढ़स देते हुये उसे धैर्य पूर्वक सासारिक कृत्यों के करते रहने की आज्ञा देकर अन्तर्धान हो गये। अम्बालाल कृतार्थ हो गये। आज उन का जन्म सफल हो गया! अब उन्हें क्या चिन्ता थी? वह भगवान् के उस मनोहर रूप का स्मरण करते हुये वारम्वार पुलकित होने लगे। कुछ ही देर के बाद उन का ध्यान भगवान् की आज्ञा पालन की ओर गया और वह प्रसन्न-मुख वस्त्र धारण कर स्टेशन पर अपनी ड्यूटी पर चले। आज अम्बालाल की कुछ निराली ही चाल है। कभी तो जल्दी जल्दी चलते हैं और

कभी रुक जाते हैं। कभी मुस्कराते हैं, तो कभी उन की आँखों से अश्रु प्रवाह होने लगता है। भक्त की इस अद्भुत अवस्था के आनन्द का अनुभव केवल उन्हीं पुरुषों को हो सकता है जो उस दयामय प्रभु की असीम कृपा को प्राप्त करने के लिये अधिकारी हुए हैं।

अम्बालाल आनन्द मे भरे हुये निःशक भाव से वार घर मे पहुँचे। परन्तु उनकी चाल आज अद्भुत ही थी इस लिये वह नियत समय से तीस मिनट देर से पहुँचे। वहाँ पहुँचने पर (बा बू द्वारकादास जो आज कल पिलोंटा-स्टेशन पर स्टेशन मास्टर हैं, उनके सहकारी थे तथा मि० प्राणशकर सिंगनेलर इन्चार्ज थे) इन्चार्ज साहब उन पर बिगड़े और उनके देर करके आने पर उन्होंने उनको बहुत डाँटा। परन्तु उनको क्या मालूम था कि अम्बा लाल आज साधारण मनुष्य नहीं हैं, उन्हें सासारिक वैभवों से परे की वस्तु मिल गयी है। अम्बालाल ने मुस्कराते हुये उनकी फटकार सुन ली और अन्त मे अपनी टोपी तथा पेन्सिल को जो रेलवे से मिली रहती है, इन्चार्ज साहब की टेबिल पर रखकर और यह कहते हुये कि—यह अपनी सम्पदा सँभालिये, वह आफिस से चल दिये बाबू द्वारिकादास तथा प्राणशकर जी ने उनको बहुतेरा पुकारा परन्तु उन्होंने एक न सुनी और देखते ही देखते आँखों से ओझल हो गये।

उस दिन रात को अम्बालाल रेलवे स्टेशन से चल देने के बाद फिर क्वार्टर मे नहीं गये और न उन्होंने स्टेशन मास्टर या और किसी से भेंट की। वह सीधे आबू पहाड पर चढ गये और फिर पाँच मील की तिरछी गहराई मे नीचे उतर कर एक पहाडी वृक्ष पर अपना कोट, कमीज तथा धोती लटका कर एक चौरस चट्टान पर दृढ़ आसन लगाकर बैठ गये।

इस प्रकार एक ही आसन पर बैठे हुये अम्बा लाल को सात दिन सात रात बीत गये। इस घोर तप से भगवान का आसन हिला और वह फिर अपने भक्त के पास पहुँचे। परन्तु इस बार वह वृद्ध ब्राह्मण के रूप में न आकर एक लकडिहारे के रूप मे दिख-लाई दिये और उन्होंने प्यासे होने के कारण पानी पीने की आतुरता प्रकट की। अम्बालाल उदारचेता तो थे ही, लकडिहारे की व्याकुलता देख वह बड़े ही असमजस में पड़े। यद्यपि सात दिन से निराहार बैठे रहने के कारण उनके शरीर मे चलने की शक्ति न थी तथापि आतुर की सहायता करना भगवान् की परम सेवा समझकर भगवान् पर विश्वास कर वह उठ चले, परन्तु उन्हें जलाशय का पता तो मालूम नहीं था इसलिये उठकर जिस किसी ओर जल की तलाश मे निकल पडे। थोडी ही दूर जाने पर उन्हें एक झरना बहता हुआ दीख पडा। जल लेने के लिये पात्र तो पास था नहीं अब वह पानी कैसे ले जाते? विवश हो उन्होंने एक युक्ति निकाली धोती का एक सिरा पकड कर उसकी चार तह बनाई और उसे दोनो हथेलियों मे मिट्टी रख ऊपर से डाल लिया। इस प्रकार मिट्टी के ऊपर वस्त्र की अञ्जलि मे वह कुछ पानी ले सके और उसे लाकर उन्होंने लकडिहारे को पिलाया। लकड़िहारा उनकी श्रद्धा भक्ति देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और साबर-मती नदी के किनारे पर कहे हुये वचनों के न पालन करने पर उन्हें डाँटा। अम्बालाल ने अब समझ लिया कि भगवान ही लकडिहारे के रूप मे सामने आये हैं। बस, उसने फिर उसी रूप में उनसे दर्शन देने की प्रार्थना की। भगवान् उनकी भक्ति निष्ठापर सन्तुष्ट तो थे ही, किरीट मुकुट धारण किये चतुर्भुज रूप से विराजमान हो गये। अम्बालाल पुनः अपने इष्ट देव का दर्शन कर आनन्द सिन्धु में हिलोरे लेने लगे। भगवान् उन्हें एकबार पुन अपनी नौकरी पर जाने और भजन तथा साधुसेवा मे कुछ दिन बिताने की आज्ञा देकर अन्तर्धान हो गये।

अम्बालाल को यद्यपि बन्धन प्रिय न था, और वह यह भी जानते थे कि रेलवे नियम के अनुसार अब उनकी नौकरी छूट गयी है तथापि भगवान् की आज्ञा शिरोधार्य थी इस लिये वह वहाँ से उठ सीधे स्टेशन की ओर चल दिये।

इधर सवेरे बाबू प्राणशंकर ने अम्बालाल के भाग जाने की सूचना स्टेशन मास्टर को दी। स्टेशन मास्टर ने पहले तो अम्बालाल को बहुत ढुंढवाया परन्तु पीछे पता न लगने पर उन के भाग जाने की सूचना डी० टी० ऐस० को कर दी, नियमानुसार उन का नाम नौकरी से काट दिया गया। परन्तु अभी उस जगह पर कोई आदमी बहाल नहीं हुआ था। इतने में अम्बालाल स्टेशन मास्टर के पास आ पहुँचे। स्टेशन मास्टर ने उन से सिर्फ इतना ही कहा कि अरे भगत जी तुम कहाँ चले गये थे? और उनके पुनः लौट आने पर प्रसन्नता प्रगट करते हुए उन से दरख्वास्त ले उस पर 'क्या मैं इन्हें नौकरी पर रहने दूँ?'–सिर्फ इतना लिखकर डी० टी० ऐस के यहाँ भेज दी।

रेलवे के नियमानुसार कोई भी मनुष्य जो नौकरी छोड़ कर चला जाता है, तीन महिने के पहिले उसे फिर काम नहीं मिलता और न उसकी नौकरी (service) कायम (continued) मानी जाती है डी० टी० एस आफिस के चीफ क्लर्क ने उसे डी टी० एस के सामने उपस्थित करना आवश्यक न समझ कर भी न जाने क्यों उनके मेज पर दूसरे पत्रों के साथ रख दी। तथा डी० टी० एस० साहब जो कानून के बड़े पाबन्द थे उस पत्र को पढ़ लेने के बाद कुछ देर तक सन्न हो गये और फिर उसपर 'हाँ (yes)' इतना लिखकर स्टेशन मास्टर के पास भेज दिया। डी० टी० एस० साहब की इस असाधारण क्रियापर सबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। सच कहा है—

जापै कृपा राम की होई। तापै कृपा करै सब कोई॥

इस रहस्य पर जो लोग श्रद्धा रखते हैं उन्हें कुछ आश्चर्य नहीं होता। भगवद्भजन करने वाले पुरुषों के लिये रेलवे ही के क्यों, संसार के कोई भी नियम बाधक नहीं हो सकते, क्योंकि जब उसने सारे संसार के सम्राट् को अपना स्वामी जान लिया और उसकी आज्ञा के पीछे अपने जीवन को अर्पण कर दिया तब उसके लिये कोई भी सांसारिक कामना अप्राप्य कैसे रह सकती है। परन्तु सच्चेभक्त अपनी भक्ति के बदले तुच्छ सांसारिक विभवों की कभी इच्छा ही नहीं करते।

अम्बालाल कुछ दिनों तक निर्भीकता पूर्वक रेलवे की नौकरी में लगे रहे अन्त मे हरद्वार-कुम्भ के मेले के अवसर पर गये और तब से फिर न लौटे। भला, जिनपर भक्ति का गाढ़ा रंग चढ़ जाता है वह माया के फेरे मे कब पड़ सकते हैं। धन्य हैं वे माता-पिता जिनकी सन्तान इस प्रकार भगवद् भक्ति के द्वारा अपना जीवन सुफल कर दूसरों के लिये उसको उदाहरण रूप मे छोड़ जाती है। तथा धन्य हैं वे पुरुष जिनकी रसना सदा साधुचरित की चर्चा में लग कर भगवदाराधन का प्रसार करती है।

बोलो भक्त और उनके भगवान की जय!

दो बातन को याद रख, जो चाहे कल्यान।
नारायण एक मौत को, दूजे श्री भगवान॥

जड़ चेतन ग्रंथि

(श्री दामोदरदास जी)

पानी में मीन पियासी, मोहिं सुन सुन लागै हासी।
आत्म ज्ञान बिना नर डोले, कोई मथुरा कोई काशी॥
नाभि बीच मृग कस्तूरी को, बाहर ढूढत जासी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सहज मिले अविनाशी॥

हृदय स्थित भगवान के हम अंश हैं, वह तो हमारे पास ही हैं उनको हम भ्रम के कारण इधर-उधर ढूढ़ते फिरते हैं। इस साढ़े तीन हाथ की हाड़-मास की देह को हम मानना ही भ्रम है, यह तो नश्वर पच तत्वों की खोल है, यह तो महान् है जिसमें हम रहते हैं इसी देहाध्यास के कारण हम सबको जन्म मृत्यु जरा व्याधि के कष्ट भोगने पड़ते हैं। श्रीमानस मे गोस्वामी जी लिखते हैं—

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तबते जीव भयउ ससारी।
ग्रन्थि न छूट न होइ सुखारी॥

देह जड़ है—जीवात्मा चैतन्य है। अपने को जीवात्मा न मानकर इस हाड़-मास की देह को हम मानना ही जड़ चेतन ग्रन्थि है।

यह शरीर जड़ है उसका पता पूर्णत' इसी बात से चलता है कि जीवात्मा के रहते हुये शरीर से सब क्रियायें होती हैं। शरीरादि चलता फिरता है, बोलता है, सुनता है, देखता है परन्तु जब जीवात्मा शरीर से निकल जाता है तब यह देह मिट्टी की तरह पड़ा रह जाता है। कोई क्रिया उस शरीर से नहीं होती, उसको ले जाने के लिये चार आदमियों को कधा लगाने की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार सुग्गा चैतन्य है और चोंगी जिसमें दाना पड़ा है वह जड़ है। सुग्गा स्वयं उस चोंगी को पकड़े हुये है। यदि उस जड़ चोंगी को छोड़ दे तो पकड़ा न जावे और सुखी हो जावे। बंदर भी इसी तरह सकरे बरतन में से खाने की वस्तु जिससे उसकी मुट्ठी बँधी है छोड़ देवे तो वह स्वतन्त्र हो जावे।

ठीक इसी प्रकार, जीवात्मा को जड शरीर से अपने को भिन्न देखने पर अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जड़ चेतन की ग्रन्थि सुलझने लगती है।

जीव को यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है। जीव ही शरीर नहीं है। अत: अपने को जीवात्मा न मानकर शरीर मान लेना बड़ी ही मूर्खता है और यही सब दु:खों का कारण है। अज्ञान के कारण प्राणी देह और जीव को मिश्रित कर देह ही को हम मानने लगता है और देह के सबन्धियों को हमारे मानकर उनके भरण पोषण के लिये अनेकों पाप करने लगता है। जिस मकान मे हम रहते हैं तो क्या हम मकान से अलग वस्तु नहीं हैं। मकान में रहने से क्या हम अपने को मकान मानने लगें यह कैसी उल्टी बात होगी। अत: अभ्यास द्वारा, स्वाध्याय द्वारा, संत महात्माओं के सत्संग द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करके देह से असंग रहते हुये कार्य करना चाहिये। तो फिर रागद्वेष उत्पन्न नहीं होगा और जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है और जो कुछ हो रहा है सब दैवी माया है। दैवी विधान से ही सब हो रहा है, ऐसा पूर्णत. ज्ञान होने लगेगा और हर कार्य मे सतोष और सावधानी होगी। मन निरंतर आत्म चिन्तन मे लगा रहेगा और पूर्ण सुख शान्ति प्राप्त हो सकेगी। जीवात्मा सब प्राणियों मे है, यह भी उसे ठीक दिखाई देने लगेगा और वह मानस मे अंकित निम्न चौपाई को चरितार्थ करेगा—

सीयराम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुगपानी॥

ऐसी ही स्थिति दृढ़ कर लेना है तभी आवागमन से, भवसागर के गर्त से छुटकारा मिल सकता है। ऐसा न करने से जीवन मरण, जरा, व्याधि के असह्य कष्टों को निरंतर झेलना होगा।

सत्संग-समाचार

राजस्थान में दैवीसम्पद् महामण्डल का प्रचार

चार दिसम्बर को श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज झुंझुनु पधारे। बैंड बाजे के साथ, खुली जीपकार में स्वामी जी महाराज का विशाल जलूस निकाला गया। अपने पूज्य अतिथि का स्वागत करने के लिये सारा नगर उमड पडा। राणी सती की जय, श्री स्वामी जी महाराज के जयघोष और अट्टालिकाओं से नारियों की पुष्प वर्षा के अपूर्व दृश्य से हृदय में आनन्द की हिलोरें उठती थीं। ११ सितम्बर तक राणी सती जी के मन्दिर मे प्रातः और सायं 'मंजुल' जी की कथा और स्वामी जी के प्रवचन से भावुक भक्तों ने अलभ्य लाभ प्राप्त किया। इस आयोजन का श्रेय श्री बिहारीलाल तुलस्यान को है।

१२ सितम्बर को प्रातःकाल स्वामी जी बीकानेर पधारे। कई सार्वजनिक स्थानों मे स्वामी जी के प्रवचन हुए। ग्यारह दिवस तक बीकानेर में सत्सग का आयोजन रहा। पं० कालूराम पुरोहित, श्री शिवप्रताप चांडक, हनुमानप्रसाद चाडक, प्रेमरत्न चांडक, श्री रतनलाल राठी, मास्टर रामचन्द्र आदि भक्तों ने आयोजन में सराहनीय सहयोग दिया।

श्री सेठ सदासुख जी कावरा के आग्रह से स्वामी जी २२ ता० को प्रात. कुचामन पधारे। श्री रघुनाथ जी चतुर्भुज जी और गोपाल जी के मन्दिरों में भावुक जनता ने मन्त्रमुग्ध होकर स्वामी जी के उपदेशों से लाभ उठाया। जवाहर हाई स्कूल के विद्यार्थिगण 'ब्रह्मचर्य' के व्यावहारिक उपदेश से बहुत प्रभावित हुए।

सुप्रसिद्ध संसद-सदस्य श्री गजाधर सोमाणी के पूज्य पिता परमभागवत् श्री सेठ हजारीमल सोमाणी के प्रेम से स्वामी जी २६ सितम्बर को मौलासर पधारे। २ दिन ठहर कर डीडवाना पहुँचे। श्री सेठ बांगड जी के आयोजन से आनन्द भवन में ३० सितम्बर तक स्वामी जी के प्रवचन हुए। ३० की रात्रि मे पूज्य स्वामी जी ब्यावर पधारे माहेश्वरी भवन में सत्सग का आयोजन हुआ। सहस्रों की सख्या मे जनता स्वामी जी के उपदेशों से लाभ उठाने के लिए एकत्र होती थी। ६ अक्टूबर तक श्री महाराज के उपदेशों से प्रभावित भावुक नर नारियों ने मादक पदार्थों, क्रोध, आदि दुर्गुणों का त्याग लिखित प्रतिज्ञा द्वारा किया। सैकड़ों व्यक्तियों ने आजीवन चमड़े का प्रयोग न करने की प्रतिज्ञा की। ब्यावर के सत्संग का श्रेय श्री चाँदमल जी मोदी को है।

राजस्थान की पवित्र भूमि का यह पंच-सप्ताहिक प्रोग्राम ७ अक्टूबर को श्री पुष्कर तीर्थ के दर्शन-स्नान से सानन्द सम्पन्न हुआ।

प्रेषक—श्री रामस्वरूप जी गुप्त

श्री नव दुर्गा महोत्सव मुमुक्षु-आश्रम शाहजहाँपुर

आश्विन शुक्लाप्रतिपदा दिनाङ्क ८।१०।५३ ई० से नवरात्रारम्भ के पुण्य पर्व मे श्री रामचरित मानस जी का "अखण्ड पारायण" मुमुक्षु-आश्रम के सत्सङ्ग भवन मे सानन्द होरहा है। आश्रम के अन्तर्गत श्री केदारेश्वर भगवान के भव्य मन्दिर में श्री दुर्गा सप्तशती का "नवचण्डी" प्रयोग विधिवत् चल रहा है। श्री रामायण जी के अखण्ड पारायण मे आश्रमीय वाचकों के अतिरिक्त नगर के भावुक सत्सङ्गी भक्त अपूर्व उत्साह के साथ सम्मिलित हुए। आश्विन शुक्लामहानवमी शुक्रवार को प्रात. ८ बजे रामराज्याभिषेक के सुन्दर सरस समारोह का मनोहर दृश्य दर्शनीय था।

॥ श्री परमार्थ निकेतन "स्वर्गाश्रम" पर सत्संग का स्वर्णावसर ॥

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज ने कृपा करके साधकों के कल्याणार्थ प्रकृति के शान्त सुखद पुण्य पर्वत की गोद में आमोद प्रमोद पूर्वक प्रवाहित पुण्य सलिला पतित पावनी भगवती भागीरथी के पुनीत तट पर वर्तमान "परमार्थ-निकेतन" स्वर्गाश्रम (ऋषीकेश) पर कार्तिक शुक्ला द्वितीया से पूर्णिमा तक विशेष सत्सग का आयोजन किया है। आशा है कि भगवद्भक्त इस सुअवसर से अवश्य लाभ प्राप्त करेंगे।

विशेष सूचना—निवास एवं भोजनादि की यथा साध्य सुव्यवस्था रहेगी। आगन्तुक साधकजन अपने पहुँचने की सूचना-व्यवस्थापक "परमार्थ निकेतन" स्वर्गाश्रम ऋषीकेश के पास भेजने की कृपा करें।

सचित्र मासिक-पत्र

वार्षिक मूल्य ४॥)

विदेश के लिये ८)

परमार्थ मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुरुचिपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक:—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक:—

स्वामी सदानन्द सरस्वती,

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सहायक सम्पादक:—

सर्वश्री पं० श्रीनाथ त्रिपाठी व्याकरण-साहित्याचार्य धर्म शास्त्री एम, ए०, रामाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य , पं० गयाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री "साहित्यरत्न" रामशंकर वर्मा एम० ए० "साहित्यरत्न" रामबहादुर कश्यप, रामस्वरूप गुप्त

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायैव समर्पयेतत् ॥

वर्ष ४ | मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ नवम्बर १९५३ कार्तिक शुक्ल नवमी रविवार, सम्वत् २०१० | अङ्क—११

करि मन जुगल चरण अनुराग

करि मन जुगल चरण अनुराग ॥टेक॥
बहुत दिवस तोहि सोवत बीते, जागुरे मूरख जाग,
मन मुखियन की संगति सों तू, जिमि किमि, झटपट भाग।
तिनकर साथ सदा दुखदाई, जिमि ढिग कारे नाग ॥
है वैरी पुनि मीत ह्वै मारैं, मृग को बरूआ राग।
या विधि तोहिं विषय दुःख देइहैं, चेतरे मन्द अभाग।
बसि गोलोक भजै क लापति, भूलि के अन्त न लाग।

—श्री नारायण स्वामी

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—दीपावली के अवसर पर हलवाई शक्कर के अनेक प्रकार के खिलौने बनाता है बच्चे उन्हें बडे चाव से खरीदते हैं कोई कहता है मुझे हाथी दो, कोई गाय, कोई सिपाही तो कोई राजा मागता है जिसके पास राजा है वह सिपाही वाले से अपने को श्रेष्ठ मानता है तथा जिसके पास हाथी है वह गाय वाले से अपने को अधिक धनी मानता है और मारे घमण्ड के फूला नहीं समाता-दूसरे की अवहेलना करता है, पर क्या यह उस की मूर्खता नहीं ? अवश्य है। हलवाई की दृष्टि से देखो तो सब शक्कर ही शक्कर है-सब खिलौनों मे बराबर ही शक्कर लगी है न कोई बड़ा न छोटा। वह जब चाहे उन्हे चासनी बना सकता है-तथा फिर खिलौने भी। इसी प्रकार विश्वास रक्खो, जो इन मिथ्या नाम रूपात्मक पदार्थों व शरीरों को पाकर अभिमान करते हैं किंवा अपने को बड़ा समझते हैं वे अज्ञानी नहीं तो और क्या ? ज्ञानी वही है जो सब नाम रूपात्मक भूत प्राणियों में एक परमात्मा को देखे फिर—

"निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करैं विरोध"

विचार करो—शरीर पर भीगा मलमल का कुरता चिपट जाता है तो उसको उतारने में बड़ा कष्ट होता है परन्तु सूखा बडी आसानी से उतर जाता है इसी प्रकार, विश्वास रक्खो, इस शरीर व शरीर सम्बन्धित पदार्थों या व्यक्तियों मे आसक्ति होगई तो शरीर छोड़ते समय अत्यन्त कष्ट होगा। और यदि किसी से आसक्ति न की तो मरते समय कोई कष्ट न होगा—और मरना भी वही श्रेष्ट है कि:—

जहॉं में जब तू आया था सभी हॅसते तू रोता था।
बसर कर जिन्दगी ऐसी सभी रोवें तू हॅसता जा॥

विचार करो—राजस्थान में स्त्रियाँ विवाह-गनगौर आदि उत्सव के अवसर पर, सर पर तीन-तीन पानी के कलश रक्खे, हाथ में जलते दीपक की आरती रक्खे हुए ढोल की ताल पर बड़ा सुन्दर नृत्य करती हैं परन्तु कलश गिरने की बात दूर रही कलश मे से पानी की एक बूंद भी नहीं गिर पाती। अर्थात् उनका शरीर तो सुन्दर नृत्य में, मन-इन्द्रियाँ ढोल की ताल मे, बुद्धि कलशों में लगी रहती हैं। इसी प्रकार कुशल मनुष्य वही है जो शरीर को संसार का अश मानकर शुभ सकल्प से सभी भूत प्राणियों की [संसार की] सेवा एव मन से भगवान् की उपासना तथा बुद्धि से परमात्मा का निश्चय करते हैं।

विचार करो—कमरे मे चूहा दिन रात कलाबाजियाँ लगाता है बड़ा परेशान करता है परन्तु जानते हो उसकी कलाबाजियाँ कब बन्द होती हैं ? एक बिल्ली को कमरे मे छोड़ दो बस अब तुम्हें ढूँढने पर भी पता ही नहीं लगेगा कि चूहा कहाँ है। बेचारा सारी कलाबाजियाँ भूलकर किसी कोने में छुप जाता है। इसी प्रकार याद रक्खो कि यह मन तब तक उछल कूद मचाता रहेगा जब तक इसको 'मरने' का भय नहीं दिखाओगे। वैराग्य का पद सुनाते ही अथवा सत्संग में बैठते ही इसकी नानी मर जायगी।

विचार करो—गौ के बछड़े व किलोनी दोनों रहते हैं बछड़ा तो सदैव दूध ही पीता है पर क्या किलौनी भी दूध ही पीती है, कदापि नहीं। दूध के पास रहती हुई भी वह रक्त ही चूसती है। इसी प्रकार, सोचो तो, सन्त महापुरुष के पास सज्जन और दुष्ट दोनों जाते हैं। सज्जन तो उनसे भक्ति ज्ञान व वैराग्य आदि की बातें सीख आते हैं परन्तु दुष्ट उन के अवगुण ही नोट कर लाते हैं।

"आनन्द"

शंका-समाधान

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त)

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति करना ही मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य है। जब आवश्यकता इच्छाओं को खाकर सजीव तथा सबल होजाती है तब आवश्यकता पूर्ति की शक्ति अपने आप आजाती है। प्राणी आवश्यकता की पूर्ति तथा इच्छाओं की निवृत्ति में सर्वदा स्वतन्त्र है और भोगों को सुरक्षित तथा नित्य बनाने मे सर्वदा परतन्त्र है। मानव जीवन मे उपभोग का स्थान केवल भोग के यथार्थ ज्ञान के लिये है, क्योंकि भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर भोग से अरुचि अपने आप होजाती है। भोग से अरुचि होते ही भोग वासना का अन्त होजाता है। भोग वासनाओं का अन्त होते ही प्रेमपात्र (नित्य जीवन) की आवश्यकता जागृत होजाती है। नित्य जीवन की आवश्यकता जागृत होते ही निर्वासना निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि अलौकिक दिव्यगुण अपने आप उत्पन्न होजाते हैं।

प्रयत्न दोषों की निवृत्ति के लिये किया जाता है दोषों की निवृत्ति होते ही गुण अपने आप उत्पन्न होते हैं। निवृत्ति उसी की होती है जो अस्वाभाविक (Artificial) हो। दोष दोषी का बनाया हुआ खिलौना है। इसी कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है। दोष उसी समय तक जीवित रहता है जब तक दोषी स्वयं उसे अपनी दृष्टि से देख नहीं पाता, अर्थात् निर्बलताओं को देखने पर निर्बलतायें भाग जाती हैं। ज्यों ज्यों निर्बलताओं का ज्ञान हो जाता है त्यों-त्यो बल की आवश्यकता जागृत होजाती है। ज्यों-ज्यों बल की आवश्यकता सबल तथा स्थाई हो जाती है त्यों-त्यों निर्बलता बल में उसी प्रकार परिवर्तित होती जाती है जिस प्रकार काष्ट अग्नि मे। अतः अपनी निर्बलताओं को अपनी दृष्टि से देखने का प्रयत्न करना निर्बलताओं को मिटाने के लिये परम आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी कल्पतरु की छाया मे सर्वदा निवास करता है। अत उत्पत्ति से निराश होने के लिये वर्त्तमान जीवन मे कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वर्त्तमान अनित्य जीवन वास्तव मे केवल नित्य जीवन की आवश्यकता मात्र है और कुछ नहीं। आवश्यकता तथा आवश्यक सत्ता मे केवल जातीय एकता तथा मानी हुई विभिन्नता है; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो आवश्यकता की पूर्ति कदापि नहीं हो सकती थी। पूर्ति उसी की होती है जिससे मानी हुई विभिन्नता तथा जातीय एकता हो। आवश्यकता से जातीय एकता और इच्छाओं से मानी हुई एकता है। इसी कारण आवश्यकता की पूर्ति और इच्छाओं की निवृत्ति परम अनिवार्य है। इच्छाओं का उत्पत्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद वास्तव में स्वीकृत मात्र को सत्ता मान लेने से होता है। इच्छाओं के बादल छा जाने पर आवश्यकता रूप सूर्य ढक सा जाता है। इच्छायें आवश्यकता से मिट नहीं पाती हैं, परन्तु आवश्यकता इच्छाओं को खा लेती है इस दृष्टिसे आवश्यकता स्वाभाविक और इच्छायें अस्वाभाविक सिद्ध हैं। आवश्यकता कब से उत्पन्न हुई किसी को पता नहीं किन्तु उसकी पूर्ति होने पर आवश्यकता की सत्ता शेष नहीं रहती। प्रेमी आवश्यकता और प्रेम पात्र आवश्यक सत्ता है। प्रेमी तथा प्रेमपात्र के मिलने के लिये तीसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् प्रेमी स्वतन्त्रता पूर्वक प्रेमपात्र से मिल सकता है प्रेमपात्र तथा प्रेमी मे यही अन्तर है कि प्रेमी, प्रेमपात्र को विषयासक्ति के कारण भूलत है, परन्तु प्रेम-पात्र कभी भी प्रेमी को नहीं भूलता। प्रेम-पात्र तो प्रेमी को अपनाने के लिय

निरन्तर प्रतीक्षा करता है। जिस काल में, प्रेमी, प्रेमी हो जाता है, बस उसी काल मे प्रेम-पात्र प्रेमी को अपना लेता है अर्थात् प्रेमी तथा प्रेम-पात्र मे दूरी उसी काल तक रहती है कि जब तक प्रेमी-प्रेमी नहीं हो पाता जब प्रेमी सद्भावपूर्वक प्रेम-पात्र का हो जाता है तब प्रेमी प्रेम-पात्र की सभी निर्बलताओं को खा लेते हैं, क्योंकि दुःखी का दुःख दुःखहारी भगवान का भोजन है। प्रेमी प्रेमपात्र से अपनत्व करता है और प्रेम पात्र प्रेमी को प्रेम करता है। अपनत्व भाव है, प्रेम जीवन है तथा सत्ता है। अपनत्व साधन है और प्रेम साध्य है प्रेमी अपनत्व के बल से प्रेम-पात्र को पाता है यह भली-भाँति समझ लो कि जिसमें आवश्यकता है वह प्रेम नहीं कर सकता, अपनत्व कर सकता है। प्रेम एक मात्र प्रेमपात्र ही कर सकते हैं, क्योंकि प्रेमपात्र सब प्रकार से समर्थ तथा पूर्ण हैं। प्रेमी को अपनाना प्रेमपात्र का स्वाभाविक, पवित्र, नित्य, अनन्त, माधुर्य है। प्रेम वही कर सकता है जो देता है, लेता नहीं। साधारण साधक केवल गुणों के बल से प्रेम-पात्र के दिव्य गुण को पाता है किन्तु अपनत्व के बल से प्रेमी, प्रेमपात्र तथा गुण दोनों को पाता है। अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठबल है। अपनत्व होजाने पर कुछ भी शेष नहीं रहता अपनत्व का होजाना ही भक्ति की दृष्टि में परम पुरुषार्थ है। अपनत्व भाव है, अतः प्राणी स्वतन्त्रता पूर्वक करता है।

आनन्दघन भगवान् से अपनत्व करने के लिये परतंत्रता लेश मात्र भी नहीं है। विषयों से सम्बन्ध करने में जो स्वतंत्रता की झलक मालूम होती है वह विषयों का राग मिटाने के लिये प्रेम-पात्र की कृपा मात्र है, क्योंकि जिस रोग को प्राणी विचार से नहीं मिटा पाता उसको जानकारी पूर्वक मिटाने के लिये भगवान् विषयों की पूर्ति का अवसर देते हैं साधारण प्राणी विषय इच्छा की पूर्ति के रस में फँसकर आनन्दघन भगवान् से विमुख हो जाते हैं। अनित्य-जीवन की प्रत्येक परिस्थिति सदुपयोग करने के लिये मिली है। परिस्थितियों का सदुपयोग करते ही परिस्थितियों से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। परिस्थितियों से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही प्रेमपात्र से स्वतः सम्बन्ध होजाता है। परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि करना भारी भूल है।

× × ×

उन्नतिशील प्राणी वही हो सकता है, जिसको अपनी दृष्टि से अपनी निर्बलताओं को देखने की योग्यता है। निर्बलता का ज्ञान होते ही व्याकुलता उत्पन्न होती है। यह प्राकृतिक नियम है कि ज्यों-ज्यों व्याकुलता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों निर्बलता मिटाने की शक्ति आती जाती है। निर्बलता उसी प्राणी में निवास करती है, जिसको निर्बलता होने पर बेचैनी उत्पन्न नहीं होती। अर्थात् अनन्त शक्ति (Universal energy) बेचैनी को उसी प्रकार खा लेती है जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को खा लेता है।

योग्यतानुसार परिश्रम करने पर बेचैनी का आरम्भ होता है, क्योंकि जब तक करने का अभिमान शेष रहता है तब तक सच्ची व्याकुलता नहीं आती। करने का अभिमान तब मिटता है जब प्राणी जो कर सकता है उससे अपने को नहीं बचाता। साधारण प्राणी करने की शक्ति होते हुए भी अपने को निकम्मा बना लेते हैं और उस दोष को निरभिमानता के नाम से प्रकाशित करते हैं। क्या आनन्द-घन भगवान् हम से वह आशा करते हैं जो हम नहीं कर सकते? क्या हम जो कर सकते हैं उसके करने पर हमारे प्रेम-पात्र वह नहीं करेंगे जो उनको करना चाहिये?

मन से मन का चिन्तन

(श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती)

मन दिन दिन ही विपरिणमित नहीं होता बल्कि इसे तो क्षण क्षण ही परिणाम को प्राप्त होने वाला समझना चाहिये। यह नित्य निरन्तर ही अपनी रूप रेखा को बदलते रहता है जिसे हम किसी अनुमिति से भी जान सकना कठिन समझते हैं। यह चंचल और अस्थिर है जैसा कि भगवान् ने गीता मे अर्जुन के पूछने पर बताया था, परन्तु यह भी बताया था कि इसे निग्रह करना चाहो तो अभ्यास और वैराग्य द्वारा कर सकते हो। मन का यह स्वभाव विशेष ही कहा जा सकता है कि यह अन्तर की वस्तुओं की उपेक्षा कर पुन. पुन. बाहर की ओर ताक लगाये रहता है। जैसे हम कहा करते हैं कि पर्याप्त घास रहते हुये भी बकरियाँ एक खेत से दूसरे खेत को मचलती रहती हैं वैसे ही यह मन भी अपने यथार्थ स्वरूप की अवहेलना करता हुआ व्यर्थ इधर उधर की ओर दौड़ दौड़कर शिथिलता को प्राप्त हुआ करता है। इसके लिये साधक को व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं बल्कि कर्तव्य है कि वे भगवान् की शरण को अपने सुरक्षा के लिये निश्चित रखें क्योंकि जब जब भीर पड़ती है तो उद्धार करने वाले अशरण शरण दीन जन नायक जगत्पति तैयार ही रहते हैं। साथ ही भक्तों की तो ऐसी निष्ठा ही होती है कि वे उनके हाथ की पुत्तलिका बनने में ही गौरव समझकर अपने भूत भावी के भार को उनके चरणों मे सौंप देते हैं और कहते हैं कि 'मैं' और 'मेरा' इसप्रकार का कोई अस्तित्व ही नहीं तुम चाहो तो ठुकरा दो और चाहो तो जी भर कर प्यार ही करलो। अर्थात् भक्तों के लिये तो एक और अनन्य मार्ग है भगवत शरणागति। वे निःशंक भगवान् की प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर—मेरे मन की चञ्चलता के तुम ही संचालक हो और इस संताप पर भी तुम्हीं इसे स्थगित करने में समर्थ हो न इसलिये मैं सर्वतोभावेन तुम्हारी शरण में हूँ, मेरे मन की दुर्वृत्तियों मे परिवर्तन कर तुम हमे अपने चरणों में निष्ठा और प्रेम दो। अपनी पराभक्ति से कृतार्थ करो और दो हमे वह बुद्धि विद्या और ज्ञान जिससे हम तुममे एक, और अभिन्न होकर रहे। साधकों को तो आवश्यक है कि वे भगवद् गुणानुवाद करें। अच्छा है अपने इष्ट के जप-मन्त्र का बार बार आवर्तन करें और प्रार्थना करें मन की अशान्ति के निवारण के लिये और चित्त विश्व की परिशान्ति के लिये। उनके लिये तो यही सरल और सुगम मार्ग है।

मन का दूषण अविद्या का हेतु है, यही माया है। यह कला शक्ति है। चाहे तो क्षण भर में अनन्त योजन की दौड़ लगाकर आ जाये नहीं तो किसी प्रिय वस्तु की प्राप्ति पर दीर्घकाल तक शान्त और तूष्णीं स्थिति मे बैठा रहे। जब मन वेग मे रहता है तो दो मिनट भी दो दिन की नाई प्रतीत होता है पर जब वह एकान्त और मौन रहे तो देखिये आप एक निमिष को घंटे से तुलना करने जायेंगे। स्वप्नावस्था मे भी यह देखते हैं कि ५० साल की घटनायें दो मिनट मे गुजर जाती है और लगता है जैसे सचमुच में पचास साल ही बीता हो। एक कल्प एक क्षण की भाति चला जायेगा और उसीके विपरीत एक क्षण भी एक कल्प के भ्रम को उत्पन्न कर सकता है।

मन एक द्वारपाल के सदृश खड़ा रहता है और अनेकों विचार एक साथ आते हों तो उनमें से एक को ही अन्दर प्रवेश पाने के लिए देता है। यह अनुभव पूर्ण बात है कि मनुष्य मन के द्वारा एक ही

विषय का चिंतन कर सकता है यद्यपि इसकी गति इतनी तीव्र और वेग शालिनी होती है कि मालूम होता है शायद यह अनेकों विषयों के विचारों को एक ही अवस्था मे और एकही गति से कर रहा है। अपनी बात तो रहने दीजिए हमारे विदेशी शास्त्री इसी में भूल कर जाते हैं। परन्तु जो कुछ भी हो यह विश्वसनीय है। विचारोंके उदय होने मे अतीत के संस्कारों का एक बडा हिस्सा रहता है। यही कारण है कि ज्ञानी तत्वविद् भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही आचरण करते हैं जैसाकि गीतामे स्पष्ट लिखा है। मन का अध्ययन करना बाए हाथ का खेल नहीं। यहाँ तक कि बड़े बड़े महापुरुष भी सालों साल के निरन्तर उद्योग के उपरान्त भी इसे थोड़ा ही समझ पाते हैं। बर्नाडशा कहा करते थे कि मैंने विश्व पर विजय पाई है क्यों कि मन को किसी अंश तक निग्रह कर पाने की चेष्टा मे सफल हुआ देखता हूँ। मन की एक बुराई है हवाई किले तैयार करना। मनोराज्य अथवा अनर्थ चिंतन इसी को कहते हैं। एक साधक संसार से हजारों मील दूर रहता हुआ भी ससार के सम्पर्क में रहता है। वह हमेशा कहां कहा के संकल्प किया करता है। और साधना में जो महान् विक्षेप का हेतु और सर्व प्रकार से अनर्थ का जनक है। साधकों को सतर्क रहना चाहिए और जब कभी योंव्यर्थके विशृङ्खलित विचार उमड़ते हुए प्रतीत होते हों सत्वर ही सद्‌विचार और नाम जप के द्वारा उसे दूर करना चाहिए।

मन को सशयात्मक बनाने का एक और भी कुमार्ग है जिसे श्रद्धा का अभाव कहा जाता है। गुरु और वेदान्त के वाक्यों मे श्रद्धा न होने के बिना तत्वबोध असभाव्य है। डाक्टर की बात में श्रद्धा न होने से रोगों के परित्राणके उपाय क्या हो सकते हैं उसी प्रकार भगवान् के अनजाने पूजते रहने मे अविश्वास का उदय हो जाए तो भावी विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसी लिये साधकों को यह बात माननी ही चाहिए कि गुरु के उपदेशों मे तर्क बुद्धि स्थापन न करे क्योंकि गुरु तुम्हारे अहित के लिए नहीं बल्कि तुम्हारे जीवन को ही दूसरे ढाँचे मे ढालने के लिए बैठा है और तुम यदि उनके प्रति सर्वस्व समर्पण कर दो और कभी कभी सशय न करो तो तुम्हारे जीवन मे विकास के सिवा और किसी आपत्ति का दुरागमन न हो सकेगा। मन के विषय मे एक और बात भी स्मरणीय है कि मन सदा सर्वदा कुछ न कुछ करते रहना चाहता है।

× × ×

यदि उसे खाली बैठने को दिया जाए तो वह अपनी मौज मे न जाने क्या से क्या कर डालेगा। सब प्रायः जानते ही होंगे कि एक राक्षस ने साधु के उस शिष्य को किस प्रकार तबाह किया था जिसे हमेशा काम देने की बात कही गई थी और शिष्य देने मे समर्थ नहीं हुआ। परन्तु सर्वत्र विवेक और विचार की आवश्यकता है। अन्धे के द्वारा ले जाया जाने वाला अन्धा कहा पहुँचेगा ? वैसे ही बिना उपयुक्त विचार और निर्णय से किए गए भविष्य मे क्षतिके हेतु होते हैं। यह बात पाठको को गाँठ में बांध रखनी चाहिए।

मन को स्वतन्त्रता देनी भयंकर भूल है। जैसे किसी सोहदे लड़के को सारे दिन की छुट्टी मिल जाए तो वह दिन भर घर बाहर उत्पात मचाकर क्या न क्या कर हानि करेगा वैसे ही मन को निर्बन्ध छोड़ देना अपने को अवनति की ओर से जाने के लिए पहला प्रयास है। साधक सदा सतर्क रहें। वस्तु का ज्ञान मन से ही होता है। तुम एक वृक्ष के अस्तित्व को मन से ही जानते हो। ब्रह्म के परोक्ष और तदुपरान्त अपरोक्षानुभूति भी मनके द्वारा ही करते हो। मन ही ब्रह्ममय अथवा ब्रह्म हो जाता है। ध्यान भी मन से ही आरम्भ होता है। शोचकर देखो तो एक संकल्प के अस्त और दूसरे

का उदय किसी प्रकार होता है। एक विचार के उत्पन्न होते ही लगातार उसी के अनुकूल सब से सब किस प्रकार आते और चलते जाते हैं, इसका अनुसन्धान सूक्ष्मरूप से करना चाहिए। एक बार गुलाब के पुष्प को देखो तो उसी प्रकार के देखे हुए जीवन भर के फूल याद आ जाते हैं। मन वास्तवमें और कुछ भी नहीं केवल संकल्पों का विस्तार ही है मन विचार को कहते हैं और विचार ही मन है। मन की ओर कौर कोई दूसरी परिभाषा नहीं मिल सकती। मोक्ष भी क्या है सर्व प्रकार के संकल्पों के त्याग को ही मोक्ष कहा है। निर्विकल्प समाधि अथवा निर्विचार समाधि में जब विचार शून्य अथवा मनोनाश की अवस्था आती है, मोक्ष की अवधि कही जाती है। इसलिए साधकों को उचित है कि अपनी आवश्यक्ताओं को कम करते जाए और साथ ही कल्पनाओं के उड़ान भी न्यूनतर होते जायँगे। इस प्रकार विचारों के साहित्य को ही योग की परा काष्ठा अथवा सिद्धियों की अवस्था बोलते हैं। मन खेलता और कूदता है। यह धोखे मे डालता है महा वंचक है। इसे पूरी तरह परख लेने वाले ही धीर हैं और इसे इसी रूप से जानलेने वाले ही मोक्ष के अधिकारी हैं, मोक्ष की अवधि पर हैं और जीवन मुक्त हैं। जो भी कहिए। इसलिये साधकों को चाहिए कि मन के द्वारा मन के गूढ़ रहस्यों पर विचार किया करें और इसके नियन्त्रण के साधन जो उसी मन से ही प्राप्त होते हैं, अभ्यास रूप में परिणत करते हुए दुर्लभ मनुष्य जीवन को सफलता और उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ करें। भगवान् उनके साथ हैं और सदा उन्हें किसी भी अवस्था पर परिस्थितियों मे हाथ पकड़ कर राह पर ले आने के सतत सन्नद्ध है अत एव साधकों द्वारा प्रयत्न अपेक्षित और आवश्यक है ही।

श्रीसद्गुरुदेव

(गताङ्क से आगे)

(*श्री मञ्जुल जी*)

सर्वभूतहितेरता' का व्रत आपका पूर्ववत् चलता रहा, कुछ दिन बाद एक दिन सन्ध्यासमय जब भगवान अंशुमाली अस्ताचल गामी हो चुके थे रात्रिका घना अंधकार अज्ञान की भांति समस्त हृदय जगत को आच्छादित करता हुआ शनैः शनै बढ़ रहा था सारे पक्षिगणों का कलरव शान्त हो चुका था। विश्वतो चक्षु भगवान भुवन भास्कर के जाने के पश्चात् सहस्त्र नेत्र रूप नक्षत्रगणों से उदित होकर मानों आकाश विश्व के शुभाशुभ कर्मों को देखने लगा। आप अपनी कुटिया में शान्त भाव से बैठे हुये मियाँगंज निवासी भक्तों के बीच ज्ञान चर्चा में तल्लीन हो रहे थे। सहसा बाहर की ओर से किसी व्यक्ति के रोने कराहने का शब्द सुनाई दिया, आप तत्काल ही भक्तजनों के सहित उधर की ओर चल पड़े, कुटिया के बाहर निकलकर देखा कि एक दीन हीन व्यक्ति आश्रम के पास पड़ा हुआ अत्यन्त दुख भरे स्वर मे रोता हुआ कराह रहा है, आप झटपट उसके निकट पहुंच गये, आपने देखा कि एक दुर्बल कृश शरीर व्यक्ति उदरशूल की पीड़ा से छटपटा रहा है, उसके अश्रु पूर्ण विस्फारित नेत्र उसकी अन्तस्तल की असह्य वेदना का सन्देश सुना रहे थे, उसका एक फटा हुआ जर्जरित वस्त्रखण्ड एवम् फूटा हुआ, जलपात्र (लोटा) डोरी समेत उसके समीप पड़ा

हुआ था, आहट पाते ही उसने घूमकर आपकी ओर देखा, आपको देखते ही उसके नेत्रों का अश्रु प्रवाह झरने की भांति झर झर करता हुआ, वेग पूर्वक प्रवाहित होने लगा, बड़े कष्ट पूर्वक उसने कहा, महाराज बचाओ बचाओ शीघ्र बचाओ मैं पेट की पीड़ा से मरा जा रहा हू, उसकी दयनीय दशा देखकर एक सन्त का हृदय बिना द्रवित हुये भला कैसे रह सकता था, अस्तु आपने करुणाद्र होकर तत्काल ही उसके शिर पर हाथ फेरते हुए कहा, प्यारे! घबड़ाओ नहीं तुम्हारा दु.ख अभी दूर होजावेगा। तुम्हारी आह भरी करुणा पुकार प्रभु के कानों तक पहुँच गई। अस्तु, अब तुम्हारा दु ख दूर होने मे किंचित भी बिलम्ब नहीं है। आपके सुधामय शीतल वचन एवं कर कमल के स्पर्श करते ही वह दुखिया ब्राह्मण प्रसन्न हो गया, उसकी उदर पीडा उसी क्षण शान्त हो गई। उसने उठकर आपके चरण पकड़ लिये और आनन्द में भरकर बोला, महाराज! दर्द बिलकुल बन्द होगया। आपके शीतल करकमल का शिर मे स्पर्श होते ही सहसा मेरे समस्त शरीर में एक अद्भुत शान्त मय विद्युत प्रवाह संचारित हो गया जिससे मेरा दर्द जादू की भाँति उड गया आपने कहा तनिक ठहरो, अभी पूरा-पूरा लाभ नहीं हुआ। जरा ठहरो तुम फिर लेट जाओ, मैं तुमको एक और क्रिया बतलाता हू, पहले जमीन पर पेट के बल लेटो तत्पश्चात नासिका से धीरे धीरे श्वास खींचते हुए पेट में भरकर पेट फुलाओ फिर थोड़ी देर रोक कर शनैः शनैः उसको बाहर निकालो। इस प्रकार करने से तुमको अपूर्व शान्ति मिलेगी, तुम्हें स्थायी लाभ प्राप्त होगा। वह ब्राह्मण आपकी आज्ञानुसार पेट के बल भूमि पर लेट गया तथा धीरे-धीरे श्वास भरना और पेट फुलाना आरम्भ किया, केवल चार छै वार ही ऐसा करने से उसके पेट से घोर शब्द करती हुई अपान वायु निकली। भोजन आमाशय मे ठीक ठिकाने से पहुँच गया, वह रोता हुआ व्यक्ति हँसने लगा। उसने तत्काल ही उठकर हाथ जोडते हुए कहा, स्वामी जी मैं तो अब अच्छा हो गया, अब कोई कष्ट नहीं प्रतीत होता, महाराज आपकी बहुत बड़ी दया हुई। मुझे कल दिनभर कुछ भोजन मिला नहीं था, आज माँगता हुआ जब मैं एक सद्गृहस्थ के द्वार गया तब उसने भिक्षा मे कच्चा दाल चावल मिला हुआ लाकर के दिया और कहा कि लो खिचड़ी बनाकर खालेना मैंने उस को लेकर झट पट एक स्थान पर कडे सुलगाकर इसी लोटे में खिचड़ी डालकर पकाना प्रारम्भ कर दिया। भूख बहुत जोर से लगी हुई थी, अस्तु मैंने अधपकी उतार कर पेट भर के खा ली, दिनभर पेट भारी रहा अभी सूर्यास्त के समय से पेट मे पीड़ा प्रारम्भ हुई दो घटे के बाद आपकी कुटिया के सामने पहुँचते पहुँचते भयानक पीड़ा उदर पीड़ा होने लगी, मैं व्याकुल होकर यहीं भूमि पर लेट गया, पीड़ा से छटपटा रहा था-प्राणान्तक कष्ट हो रहा था, कि आपने आकर दर्शन दिये, और अपने वरद कर स्पर्श से हमारी पीड़ा हर ली, आज आपके प्रसाद से प्राण बचे अन्यथा मरने में कोई सन्देह नहीं था, प्रभो आपने अपार दया दिखाई, इस प्रकार वह ब्राह्मण बार बार प्रशसा करता हुआ हाथ जोड़ कर धन्यवाद देने लगा, आपने कहा प्यारे प्राणीमात्र का दु.ख दूर करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है जो दूसरों की पीड़ा का अनुभव नहीं करता दूसरों के दु.ख दूर नहीं करता, वह मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी नहीं अस्तु तुम्हारा दु.ख दूर करना तो मेरा प्रथम कर्त्तव्य था इसमें धन्यवाद की क्या आवश्यकता इतना कहकर आप अपने प्रिय शिष्य मण्डली के साथ कुटिया में चले आये, वह ब्राह्मण स्वस्थ होकर एक दूसरे ग्राम की ओर चला गया।

आप अपनी कुटिया मे आकर शान्तभाव से बैठ गए। मियाँगञ्ज के प्रेमी भक्तों ने अवसर पाकर

प्रार्थना की कि भगवान् जैसे आपने हमलोगों पर अपनी अहेतुकी कृपा दिखलाकर अपना लिया है उसी प्रकार एक बार हमारे गृह पर चलकर हमारे परिवार तथा ग्राम वालों को दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये। आपने कहा तुम लोगों का प्रेम विशेष है इसलिये जाना तो मुझे एक बार अवश्य ही पड़ेगा. किन्तु अभी उपयुक्त अवसर नहीं है फिर कभी जब तुम लोग मासिक सत्संग में आवोगे तब विचार करूँगा। सभी भक्त जन चुप हो रहे रात्रिभर आश्रम पर रह कर सत्संग उपदेश का परस्पर विचार प्रबोध करते रहे, प्रातःकाल उठकर आवश्यक कृत्यों के बाद श्री गुरुदेव के चरणों में जाकर प्रणाम किया आज्ञा माँगी—आपने कहा कि प्यारे अभी मत जाओ मध्याह्न तक यहीं ठहरो संध्याके समय चले जाना, इस समय जाने से तुम लोग विपत्ति मे फंस जाओगे, अभी थोड़ी देर बाद भयकर ओलों की बर्षा होने वाली है। खुले मैदान मे पत्थरों की वर्षा से तुम्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा अस्तु अभी ठहर जाओ। गुरुदेव की आज्ञा मानकर सब लोग रुक गये, एकान्त मे जाकर परस्पर विचार करने लगे कि गुरुदेव भगवान् ने जो कहा है वह तो ठीक ही है किन्तु आकाश मे बादल का तो कहीं नाम निशान तक नहीं है फिर ओलों की वर्षा कैसे होगी। इसपर श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी ने कहा है कि ऋतम्भरा प्रज्ञा हो जाती है, उस मे अन्यथा बात का अभ्यास कदापि नहीं पड़ सकता अतएव जो गुरुदेव ने कहा है वह मेरा विश्वास है कि अवश्य ही होगा। एक साथी ने कहा कि भाई मुझे अवश्य ही जाना पड़ेगा मेरा तो अभी चले जाने से काम बन सकता है न जाने से कार्य भी नहीं बनेगा। सब ने कहा जैसी आपकी इच्छा हो वही कीजिये किन्तु हमलोग तो अब गुरुदेव की आज्ञा के विरुद्ध कोई कार्य कदापि नहीं करेंगे। आप जाना चाहें तो जा सकते हैं। उन्होंने कहा भाई मैं तो चलता हूँ यदि इसप्रकार कोई संकट आया तब श्री गुरुदेव भगवान मेरी रक्षा करेंगे। ऐसा कहकर वे चल दिये उनके चले जाने के बाद एक घंटे के अन्दर ही अन्दर निर्मल आकाश मे धीरे-धीरे घन घटायें घिरने लगीं। थोड़ी देर में ही बिजली तड़पने लगी और बादल गरजने लगे। बिजली की कड़कड़ाहट और बादलों की घोर गड़गड़ाहट से सभी लोगों के हृदय दहल गये। थोड़ी सी बूँदें गिरने के बाद तत्काल ही बड़े २ ओलों की वर्षा होनी प्रारम्भ हो गई सभी लोग अपने साथी के अनिष्ट की शका से अधीर हो गये। सब लोगों ने गुरुदेव भगवान से जाकर सब वृतान्त निवेदन किया। आपने कहा घबड़ाओ नहीं। प्यारे उसका कल्याण होगा। इधर यह सब लोग अपने साथी के विषय में चिन्ताकर रहे थे। उधर वे महाशय अभी एक मील भी नहीं पहुँचे थे कि अचानक बादल उमड़ आया और शीघ्र ही पत्थरों की वर्षा प्रारम्भ हो गई खुले मैदान में सहसा शिर पर तड़ातड़ ओले गिरने लगे पास में इधर-उधर कोई वृक्ष भी नहीं था। जिससे वे अपने शरीर की रक्षा कर सकें अस्तु-उन्होंने घबड़ाकर कहा हे गुरु-देव बचाओ मेरे गुरू जी बचाओ मैंने आपकी बात नहीं मानी आपकी अवज्ञा की उसी पाप के फल स्वरूप आज यह विपत्ति शिर पर आ पड़ी है अब गुरुदेव क्षमा करो शीघ्र बचाओ इतना कहते ही उनके शरीर से तीन फुट की दूरी पर ओले गिरने लगे, लगातार बीस मिनट तक ओले गिरते रहे, किन्तु उनके शरीर से किसी भी ओले का स्पर्श नहीं हुआ, सारी भूमि पत्थरों से भर गई जब ओलों की वर्षा बन्द हुई तब वे तत्काल ही गुरुदेव के आश्रम की ओर चल पड़े थोड़ी देर में कुटिया पर पहुँच कर देखा कि सब लोग बड़ी उत्सुकता और अधीरता से प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्होंने वहाँ पहुँच कर अपनी सारी बीती हुई घटना सुनाई सब लोग आश्चर्य चकित होकर गुरुदेव का धन्य धन्य कहने लगे, अन्त में सभी लोग कृतज्ञता पूर्ण प्रेमाश्रु भरे हुए नयनों से गुरुदेवके चरणों मे जाकर पड़े। [क्रमशः]

सत्संग से चरित्र निर्माण

(श्री स्वामी प्रकाशानन्द जी महाराज बिठूर)

प्रातःकाल का क्या ही अनुपम सुहावना समय है कि हर ओर शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है उसी समय पूर्व की ओर से शीतल व मन्द वायु सन्देश ला रही है कि पूर्वीय (प्रकाश) सभ्यता वाले सज्जनों जागो, आलस्य को त्यागो और शौच, स्नान, पूजन व भजन से निवृत्त होकर, तैयार हो जाओ स्वागत के लिये क्योंकि जीवन शक्ति प्रदाता सूर्य भगवान इस लोक में पधार रहे हैं जो तुम्हें दिव्य जीवन ज्योति व प्रकाश शक्ति बिना मूल्य लिये यों ही बाँट जावेंगे। मन्दिर की अलार्म वाली घड़ी ने पौने चार बजाया, पुजारी जी भी उठकर राम-राम करने लगे और भगवान को सर्वत्र समझते हुए हर ओर को प्रणाम किया तथा पृथ्वी के पैर छूकर शौचादि से निवृत्त हुए। उन्होंने मन्दिर का काम समाप्त करके, पूजन का समय निकट आया जानकर शंखध्वनि की, यह वह संकेत ध्वनि है जो आस पास वाले भक्तों को सूचित करती है कि ठाकुर भगवान की आरती का समय आ रहा है। सङ्केत समझकर आस पास के भक्त जन आ गये।

आज एक व्यक्ति के साथ उसका जीवन नामक अतिथि भी आया हुआ है जो कि जयपुर का निवासी है और मूर्तियों का निर्माण करता है स्वभाव कुछ तेज सा अभिमानी व सिगरेट, बीड़ी, भाँग व जुवे का शौकीन है किन्तु कारीगर अच्छा है इस मन्दिर वाली मूर्ति भी इसी की बनाई हुई है। आये हुये सज्जनों में से किसी ने घंटा किसी ने घड़ियाल किसी ने शंख आदि बजाने आरम्भ कर दिये और बड़े ठाट से ठाकुर भगवान् का आरती पूजन हुआ। सभी अपनी अपनी भावनानुसार पुष्प माला फल मेवा व मिठाई आदि चढ़ाये और दण्डवत् प्रणाम किया जीवन सभी क्रियाओं को देखता रहा साथ ही उसने यह भी समझ लिया कि यह मूर्ति मेरी ही बनाई हुई है जिसको सभी लोग भोग लगाते तथा प्रार्थना व दण्डवत् करते हैं इन सभी क्रियाओं का कई बार ज्ञानकर जीवन चुप न रह सका और उसने लगभग सभी व्यक्तियों मे यह प्रकट कर दिया कि यह तुम्हारे भगवान हमारे ही निर्माण किये हुए हैं। बुद्धिमान पुरुष इसे मूर्ति-निर्माता समझकर कुछ विशेष आदर भाव से देखने लगे।

दो तीन दिन के बाद जीवन की हृदयभूमि पर एक विचित्र संकल्प नाचने लगा, वह यह कि मन कहता कि देखो लोग कैसे पागल हैं जो कि हमको तो कुछ भी नहीं पूछते हैं और पूजते हैं उसको, जोकि हमारे द्वारा निर्माण की हुई मूर्ति है। मूर्ति को पूजना अच्छा है किन्तु हमारा कुछ भी स्वागत न करना अनीति है चलें, उन कुटिया वाले बाबा जी के पास जिनके यहाँ यह सभी सत्संग करने जाते हैं उनसे खोलकर साफ साफ कह देना अच्छा है कि बाबा जी! क्या आपने इन सबको यही शिक्षा दी है कि हमको तो कुछ भी देते लेते नहीं और नाक रगड़ते हैं उनके सामने, जो हमारे बनाए हुये हैं! ऐसा विचार कर शीघ्र ही चल दिया और जा पहुँचा सन्त जी की शुचि सुन्दर कुटिया के पास, जहाँ पर बहुतेरे फूल वाले पौधों के सहित बहु संख्या में तुलसी-वृक्ष लगे हुये हैं। कुटिया की दीवालों पर रामकृष्णादि नाम, दोहे, चौपाई व शिक्षाप्रद बातें लिखी हुई हैं जैसे ईश्वर को न भूलो, पराये पर न फूलो, बिना सेवा किये नम्रता व विवेक उत्पन्न नहीं होते आदि आदि। सन्तजी कुटिया के समीप वाले वटवृक्ष के नीचे बिछे हुये कुशासन पर बैठे हैं कुछ सज्जनों से सत्संग सम्बन्धी बातें हो रहीं हैं। जले भुलसे हृदय से जीवन भी सत्संगी पुरुषों के पीछे जा बैठे। कुछ अभिवादन भी नहीं किया सत्संग की समाप्ति पर स्वयं सन्त जी ही जीवन का संकोच दूर करने के लिये बोले —

सन्तः—भैया जी! आप कहाँ से आये हुए हैं?

जीवनः—बाबा! मैं जयपुर का रहने वाला हूँ जीवन मेरा नाम है मैं कभी बाबा लोगों से मिलता नहीं हूँ क्योंकि बाबा लोग मुफ्त का खाकर भोले भाले लोगों को न मालूम क्या-क्या सिखाते हैं। बाबा! देखो नाराज न होना, मैं बड़ा खरा आदमी हूँ खरी बात कहता हूँ, कहो तो यहाँ की भी एक बात बता दूँ।

सन्तः—भैया जीवन ! अपनी बुद्धि के अनुसार बात तुमने ठीक ही कही है हाँ ! यहाँ की जो एक बात है उसे ज़रूर ही सुनाने की दया करो, भला इसमें नाराजी की क्या बात !

जीवन—बाबा मेरा नाम अच्छे कारीगरों में है हजारों राम, कृष्ण, शिव व हनुमान की मूर्तियाँ मैंने बना डाली हैं इस कस्बे में भी लगभग एक दर्जन मूर्तियाँ मेरी ही बनाई हुई स्थापित हैं यह देखो आप के पास वाले चेला लोग कितने ना समझ हैं कि मेरी बनाई हुई मूर्तियों के सामने हाथ जोड़ते, नाक रगड़ते, पूजा करते भोग लगाकर प्रार्थना करते हैं किन्तु मुझे कोई पूछता ही नहीं, क्या यही इनके सत्संग का फल है ?

सन्तः—ठीक है भैया जीवनः—इसका दण्ड तो इन लोगों को पीछे दिया जायगा और तुम अपनी राय ले, पहिले यह बताओ कि तुम बहुत अच्छी अच्छी मूर्तियाँ किस प्रकार बना लेते हो।

जीवन —इसमें क्या, जिस पत्थर की मूर्ति बनानी होती है उसीको पहिले हथौड़े से ठोंकपीटकर परीक्षा करते हैं। जब यह समझ लेते हैं कि यह पत्थर परत वाला खराब नहीं है अर्थात् जहाँ से जितना काटेंगे वहाँ से उतना कट जायगा तब उसी में मूर्ति का खाका बनाते हैं फिर टाँकी (छेनी) हथौड़े से काट-काटकर एक-एक अंग बनाना शुरू करते हैं। इस प्रकार जब हाथ, पैर,पेट व मुँह आदि सभी बनाकर मूर्ति को ठीक कर लेते हैं तो रेगमाल आदि से उसे साफकर नाखून व सिर आदि में रंग लगाकर रख देते हैं जिसे लोग ख़रीद ले जाते हैं।

सन्तः—जीवन भाई ! तुम सचमुच में एक अच्छे कारीगर हो किन्तु अब यह बताओ कि यदि दो पत्थर एक समान ही हों उसमें एक पत्थर की मूर्ति बना कर मन्दिर में स्थापित करवा ली गई हो और दूसरा वहीं पर वैसा ही मन्दिर के पास खड़ा हो, तो पूजा दोनों की करनी चाहिये अथवा एक की ?

जीवन—महाराज ! यह बात तो एक छोटा लड़का भी बतला सकता है कि मूर्ति की पूजा होगी क्योंकि उसने किसी कारीगर की टाँकी सही हैं उसके पैर, हाथ, पेट व कान आदि पर टाँकी चलायी गयी हैं, और पत्थर की कोई भी पूजा नहीं करेगा।

सन्त—जीवन ! अब थोड़ा विचार कर यह पता लगाओ कि तुमने क्या किसी कारीगर की चोटें सही हैं अर्थात् क्या तुम बनी हुई मूर्ति हो अथवा पत्थर सरीखे ? पूजा तो मूर्ति की होना चाहिये यह तुम ही निर्णय कर चुके हो !

जीवन—वाह बाबा जी वाह। मैं क्या पत्थर हूँ ? मेरे तो हाथ पैर, पेट व मुँह आदि सभी बने हुए हैं तब मैं तो एक मूर्ति ही हूँ बल्कि मूर्तियों को बनाने वाला हूँ। इस हिसाब से हमारी दुगुनी प्रतिष्ठा होनी चाहिये ?

सन्त जी—मेरे प्यारे जीवन ! तनिक विचारो तो सही कि क्या तुम्हारे पैर तीर्थयात्रा, सत-स्थल अथवा किसी उपकार के हेतु दौड़ जाते हैं ? अगर ऐसा नहीं होता है इन पैरों से तो, यह पैर पैर नहीं हैं बल्कि पत्थर हैं, क्या तुम्हारा पेट, अपना भोजन स्वयं न खाकर समयानुसार दीन दुखियों, अतिथि अनाथों की जठराग्नि में स्वाहाकर स्वयं क्षुधित रहजाने का अभ्यासी है ? यदि नहीं है तो उदर उदर नहीं है बल्कि पत्थर है, क्या तुम्हारे हाथ, देव, द्विज, गुरु, और बुद्धिमानों का पूजन तथा कराहते हुए दीन दुखियों की सहायता के लिये उठकर काम आते हैं ? यदि नहीं आते हैं तो हाथ हाथ नहीं हैं किन्तु पत्थर हैं। क्या तुम्हारी जिह्वा सुन्दर सतोगुणी भगवत् प्रसाद को ग्रहण करती हुई भगवन्नाम, विवेक संयुक्त कथा, सत्य, प्रिय व हितकारी बातों का प्रयोग एवं किसी मानव पर, दानव द्वारा उपस्थित आपत्ति के समय ऐसा कहती है कि 'खबरदार, मैं आगया "अथवा' आप चिन्ता न करिये मैं तन, मन व धन से आपकी सेवा करूंगा" ऐसा कहती है ? यदि नहीं कहती है तो जिह्वा जिह्वा नहीं है बल्कि पत्थर है। क्या तुम्हारी आँखे, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, भगवत् मूर्ति व सन्तदर्शन करना परस्त्रियों को मातृवत् देखना, शील संयुक्त भगवत् प्रेमी व अनाथों के हेतु आँसू बहाना जानती हैं ? यदि नहीं जानती हैं तो आँखे आँखे नहीं हैं बल्कि पत्थर हैं। क्या तुम्हारा मस्तक भगवत् विग्रह सत माता-पिता तथा गुरुजनों के चरणों में नम्रभाव से स्पर्श करना जानता है ? यदि नहीं जानता है तो मस्तक मस्तक नहीं है बल्कि

पत्थर है। अगर तुम्हारा चरित्र ऐसा मिलता जुलता निर्माणित है तब भी किसी अंश में पूजनीय हो यदि मन व बुद्धि भी निर्माण हो जावे तो जीवन तुम पूजनीय समझे जा सकते हो, अब बतओ क्या कह रहे हो।

जीवन कुछ आस्तिक भाव वाला समझदार व्यक्ति था किन्तु महात्माओंके सम्पर्क से वञ्चित रहने के कारण उसे सतजनों के प्रति अश्रद्धा एवं घृणा थी तथा नशे आदि का व्यसन था इस समय इन शब्दों का प्रभाव उसके हृदय पर गहरा पड़ा जिससे उसका अभिमान चूर चूर हो गया और उसे अपनी भूल व उद्दण्डता समझ पड़ी। बेचारा रोता हुआ सन्त जी के चरणों में जा पड़ा, फिर उनका आश्वासन पाकर कुछ शान्त होकर बोला—

जीवन.—प्रभो ! मैंने अपने ज्वालामुखी सदृश धधकते हुये हृदय से क्रोध-लपेटे कटु शब्दों की लपटें आप पर छोड़ी, किन्तु उन लपटों में आप तनिक भी नही लिपटे बल्कि स्वत ज्यों के त्यों निर्विकार रहते हुए मुझ पत्थर को ही अपने शब्द रूपी टाँकियों से मूर्ति बनाने के लिये खाका खींचा। भगवन् अब समझ में आ गया कि मैं निरा पत्थर ही हूँ, बड़ी ही भूल में था जो कि पत्थर होते हुए भी अपने को मूर्ति समझ रहा था, अशरणशरण श्री गुरुदेव ! अब आप मुझ पत्थर को मूर्ति बनाने की कृपा करें, मैं आपकी शरण में हूँ और हर प्रकार से टाँकी सहने के लिये तैयार हूँ— क्योंकि "टांकी सहै सो विष्णु होय।"

सन्त.—जीवन ! इन्द्रिय निग्रह व इनका शुभ कार्य्य सक्षेपत. वर्णन किया जा चुका है शुभ का आचरण करो, इसके विपरीत अशुभ का त्याग करो। इस साधन की कसौटी में इन्द्रियों को कष्ट प्रतीत होगा किन्तु वह कष्ट नहीं वास्तव में निर्माण होगा मूर्ति का। अब एक बात और बतलाओ जीवन ! यदि तुमको ठाकुर जी के पास ही मन्दिर में स्थापित कर दिया जावे तो उस मूर्ति व तुममें अन्तरग से क्या अन्तर होगा ?

जीवन —ज्ञानस्वरूप गुरुदेव जी ! यह मेरी समझ में नहीं आ रही है अतएव बात आप ही समझाने की दया करें।

सन्त—जीवन ! मन्दिर में मूर्ति के पास स्थापित देने में बाहरी रीति से तुम व मूर्ति एक से दिखाई पड़ोगे किन्तु भीतर से अन्तर होगा कि मूर्ति का हृदय अह, मम् (संकल्प विकल्प मनन) से रहित है और तुम्हारे हृदय में अनेकों प्रकार का मनन हुआ करेगा। यदि तुम इस मनन करने वाले मनको साधनों द्वारा अमन कर डालो तो प्यारे जीवन ! तुम्हारा जीवन दिव्य उज्ज्वल हो जावे और चौरासी लाख का मरन शमन होकर नित्य जीवन की साक्षात् मूर्ति बनजाओ क्यों कि मन का जीवन ही मरन है और मन का मरन ही वास्तव में जीवन है, और यही साधु का कोर्स है। महात्मा जन इन्द्रियों को दमन, मन को अमन तथा अहंभाव को शमन करते हुये, परमात्म तत्व में तद्रूप हो रहते हैं इसीलिये तो महात्माओं के प्रति साधारण जन ऐसा प्रयोग करते हैं कि अमुक सज्जन के यहाँ दो मूर्ति पधारे थे। अथवा हमने पाँच मूर्तियों का दर्शन किया किन्तु अन्य पुरुषों के लिये मूर्ति शब्द प्रयोग में नहीं लाया जाता है।

जीवन:—श्री गुरुदेव जी ! यदि मैं इन्द्रियों को दमन कर हृदय से मैं मेरे भाव को शमन कर मूर्तिवत बन जाऊँ, तो क्या सभी लोग मेरी पूजा करेंगे !

सन्त.—जीवन ! सभी लोग तो मन्दिर वाले ठाकुर जी की भी पूजा व वन्दना नहीं करते हैं, सर्वव्यापी निराकार से मूर्तिवत् साक्षात् रूप में आने वाले राम व कृष्ण जी की भी तो सभी ने पूजा नहीं की, जिनकी विभूतियाँ प्रत्यक्ष रूप से प्रकट थी तब हमारी। तुम्हारी क्या कथा ? आसुरी स्वभाव वालों के लिये सन्त भगवन्त एव धर्म आदि कुछ भी नहीं है। हाँ आस्तिक भाव वाले सज्जन सदैव ही सभी की सेवा आदि में तन, मन व धन से तत्पर रहते हैं।

जीवन लगन वाला व्यक्ति था उसके संस्कार भी भी अच्छे थे वह सन्त जी के वाक्य निर्माण द्वारा साधन करता हुआ मूर्ति बन चला और लौकिक देह के जन्म स्थान जयपुर को भूल गया तथा अपने अलौकिक जयपुर [जोपुर (स्थान) जय स्वरूप = परमात्मा स्वरूप] के स्मरण में जीवन व्यतीत करने लगा। कुछ समय पश्चात् पूर्ण निर्माण का सुअवसर आ गया जबकि उसका हृदय शोक रहित, निर्भय, पूर्ण दिव्य-शान्ति से शीतल तथा मन मनन रहित मूर्तिवत् निर्माण रूप से चुप था।

ॐ शान्ति: ! शान्ति: !! शान्ति. !!!

वही व्यवहार करो जो दूसरों से चाहते हो

(पूज्य श्री स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज)

संसार का प्रत्येक प्राणी सदैव यह आकांक्षा करता है कि मुझे अधिकाधिक सुख की उपलब्धि हो। सुख की खोज में अहर्निश वह अपनी प्राप्य शक्तियों का उपयोग करने में संलग्न रहता है। कोई व्यक्ति यह नहीं चाहता कि मेरी सुख शान्ति में किसी प्रकार किंचित् भी बाधा हो। मानव मात्र की समस्त वृत्तियाँ इसी ओर लगी रहती हैं। जन्म जन्मान्तर से जीव की यह खोज अबाधगति से चली जा रही है, किन्तु इस खोज म उसे आजतक प्राय: असफलता ही हाथ लगती रही। सुख के स्थानपर दु:ख मिला, मान की इच्छा होने पर अपमान हुआ, शान्ति लाभ की कामना अशान्ति में परिणित हो गई। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्नपर विचार करने के लिए हमें अपने हृदय की गहराई तक पहुँचना चाहिए। अपने आपको अपने से ही उत्तर मिल जायगा। हम चाहते हैं कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति हमारे मन के अनुकूल चले, सबके द्वारा हमारी मान प्रतिष्ठा हो, सब हमें अच्छा समझें, किसी प्रकार की प्रतिकूलता हमारे मार्ग की बाधक न बने, हम किसी से खरी खोटी बात कह भी डालें तो वह हमें प्रत्युत्तर न दे, इत्यादि।

विचार कीजिये! यदि हमारी ऐसी आकांक्षा है तो हमें उसकी प्राप्ति के लिए क्या करना उचित है। वेद-शास्त्र, उपनिषद् और सन्तों का मत है कि यह मानव योनि कर्म योनी है। इसके द्वारा अच्छे या बुरे जैसे कर्मों का प्रतिपादन होगा वैसा ही फल समय पर अवश्य प्राप्त होगा। यह निर्विवाद सिद्धांत है—प्रकृति का अटल नियम है। लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्यामसुन्दरने अपने परमप्रिय भक्त अर्जुन से कहा—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(गीता १३।१)

अर्थात्—हे अर्जुन यह शरीर क्षेत्र है और इसे जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा तत्वदर्शी ज्ञानियों का मत है। जैसे खेत में बोए हुए बीजों का उनके अनुरूप फल समय पर प्रकट होता है वैसे ही इसमें बोए हुए कर्मों के सस्काररूप बीजों का फल समय पर प्रकट होता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार तो यह निश्चय होता है कि यदि हम औरों को अपने मनके अनुकूल चलाना चाहते हैं तो हमें भी उनके मन के अनुकूल चलना चाहिये। यदि हम इतर जनों से मान प्रतिष्ठा की अपेक्षा करते हैं तो हमें भी उनका सम्मान करना पड़ेगा। यदि हम अपनी उन्नति के अभिलाषी हैं तो दूसरों की उन्नति में हमें अपना यथासम्भव सहयोग देना चाहिये। किसान अपने खेत में गन्ना बोएगा तो उसे गन्ना अवश्य मिलेगा। मिर्च बोएगा तो मिर्च ही मिलेगी, गन्ना नहीं मिल सकता। बबूल के वृक्ष लगाकर मीठे आम की आशा करना मूर्खता है। पृथ्वी के गर्भ में जो बीज बोए जाते हैं वे सहस्रों गुना प्रकट होकर मिलते हैं इसी प्रकार अपनी भावना और संकल्पों से ही हमारी भावी सृष्टि का निर्माण होता है, हमारा भाग्य बनता है। छोटे छोटे बालकों को आपने गेंद खेलते देखा होगा वे गेंद को जितनी तीव्रता से दीवाल में फेंककर मारते हैं उतनी ही तीव्रता से वह गेंद उन्हीं के पास लौट आती है। इसी प्रकार हम यदि दूसरों को सुख पहुँचायेंगे तो हमें निश्चय ही सुख की प्राप्ति होगी।

इसके विपरीत अपने सुख की लालसा मे दूसरों के सुख छीनने का प्रयत्न करेंगे अर्थात् दूसरों को दुखी बनाकर सुखी बनने के प्रयत्न मे, अपनी प्राप्य शक्तियों का दुरुपयोग करेंगे तो परिणाम में अवश्य ही दुख, अपमान आदि मिलेंगे। छः शास्त्र और अठारह पुराणों के रचयिता भगवान वेद व्यास ने कहा—

"अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

इसी बातको भावुक कविने स्पष्ट कर दिया—

चार वेद छ: शास्त्र में बात मिली है दोय।
सुख दीने सुख होत है दुख दीने दुख होय॥

प्राचीन इतिहास के स्मरणीय पृष्ठों मे जिन गौरवमयी गाथाओं के श्रवण और पठन से हमारा हृदय आज भी सुन्दर भावनाओं से ओत-प्रोत हो जाता है, जिनके अलक्षित चरणों मे हमारा मस्तक स्वयमेव श्रद्धावनत होकर भावना के प्रसून अर्पित करता है। उन प्रात स्मरणीय महापुरुषों के जीवन चरित्र से तो यही सुखद सन्देश मिलता है कि उन्होंने अपने जीवन का प्रत्येक क्षण जनता जनार्दन को सुख पहुँचाने मे ही व्यतीत किया था। स्वय सहर्ष संकटों को सहन करते हुए दूसरों के दुख दूर करने मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझी थी। शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी उनकी कीर्ति पताका आज भी ज्यों की त्यों फहरा रही है। उनका विमल यशोगान यावत् चन्द्र दिवाकर इसी रूप में होता रहेगा। वैदिक सनातन धर्मावलम्बी भली भाँति जानते हैं कि निखिल ब्रह्माण्ड नायक ने समय-समय पर अवतार लेकर अपने चरित्रों से मानव-मात्र को यही सन्देश दिया कि यदि तुम्हें सुख-शान्ति-लाभ की अभिलाषा है तो अपने जीवन का प्रत्येक क्षण दूसरों के सुख साधन मे लगा दो। तेइस अवतारों में सर्वश्रेष्ठ माने गये दो अवतार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचन्द्र तथा लीलापुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक लीला परहित के लिए ही हुई थी। राम और कृष्ण के अनुयायियों को अपने इष्टदेव के पावन चरित्रो और उपदेशों से शिक्षा लेकर सर्वप्रथम अपने व्यवहार को शुद्ध करना चाहिये तभी उनकी उपासना सार्थक होगी। अपने उपास्य-देव के गुण यदि उपासक मे नहीं आते तो उपासक की उपासना अधूरी है दोष रहित नहीं है। भगवान के अवतार लेने का रहस्य तो यही है कि हमारे भक्त हमारी लीलाओं से शिक्षा लेकर उसका अनुकरण करते हुए प्राणी मात्र के हृदय मे सुख-शान्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित करदे। भगवान श्रीकृष्ण ने तो स्पष्ट घोषणा ही करदी है कि मुझे वही प्रिय है और वही मुझे प्राप्त कर सकता है जो प्राणिमात्र के हित मे अपनी प्राप्य शक्तियों का सदुपयोग करता है।

"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः"

प्राचीन काल में सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य इसी लिये था कि सभी एक दूसरे को सुख पहुँचाने के लिये तैयार रहते थे। आज का युग तो निराला ही है। सुख तो सभी को चाहिये। अधिकसे अधिक सुख के साधन हमे प्राप्त हों, पड़ोसी से हमे कोई मतलब नहीं। देश की उन्नति से अवनति से अपने को क्या सरोकार ? हम सुखी हों हमारी स्त्री लड़के बच्चे सुखी हो जायें, और सब भाड़-चूल्हे मे चले जायें। ऐसी सकुचित और कलुषित भावनाओं से ओत प्रोत आज का स्वार्थी मानव, मानव नहीं रहा दानव बन गया। अपने सुख-साधनों को अधिकाधिक जुटाने की सर्वहारा लालसा में उसे उचित और अनुचित का किंचित भी ज्ञान नहीं रहा। सहस्त्रों को दुख पहुँचाकर सभी सुखी बनना चाहेंगे तो सुख की छीना झपटी और खींचातानी मे सब के हाँथ परिणाम में दुख ही तो लगेगा। यही

कारण है कि आज विश्व मे सर्वत्र दुख और अशान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। सब एक दूसरे की गर्दन काटने मे सलग्न हैं। दूध वाले की दुकान पर जाइये तो पानी अरारोट मिलाकर दे देगा किसी के रोगी बालक की मृत्यु हो जाय तो उसे क्या ? शुद्ध घी कहकर बेचने वाला चरबी वेजिटेबल घी मिलाकर कहेगा कि यह घी बिल्कुल शुद्ध है। इस घी से आप अपने शरीर का पोषण कीजिये और आहुति देकर देवताओं को भी प्रसन्न कर लीजिये। इसी प्रकार सब एक दूसरे के सुख को लूट लेना चाहते हैं और अपना उल्लू सीधा करके, दूसरों को मूर्ख बनाकर समझलेते हैं कि हमने बहुत बुद्धिमानी का काम किया। आज तो मानव का ऐसा घोर पतन हो गया कि वह अपनी लोमहर्षक क्रियाओं से दानवता को भी मात देने लगा। एक सत्य घटना सुनिये।

अधिक धनसंचय की लालसा से, एक सज्जन ने घोड़े की लीद का संग्रह किया। उस लीद को सुखाया और सूख जाने पर इमामदस्ते मे कूट कर पिसे हुये धनिये मे मिला दिया। क्योंकि पिसे हुये धनिये मे और उस कुटी हुई लीद के रग मे कोई अन्तर नहीं। देखा आपने ! कैसा मौलिक आविष्कार ? बुद्धि का कैसा भीषण दुरुपयोग ? उस पापिष्ठ से पूछिये सहस्त्रों को घोडे की लीद खिलाकर उसने जो अर्थ का सग्रह किया भी होगा उसे वह कितने दिन भोगेगा ? ऐसे गर्हित व्यवहारों को करते हुये भी आज का मानव यही चाहता है कि हम सदैव सुखी रहें ? क्या उसकी ऐसी आशा, दुराशा मात्र नहीं है ? वस्तुत. व्यवहारों की प्रतिक्रिया ही हमारे दु ख या सुख का कारण बनती है। दूसरे को मिटाकर अपने आप को ऊँचा उठाने की आत्मघातिनी कामना ने ही आज प्रेम और सौहार्द्र की मंगलमयी भावनाओं को प्राय. पूर्ण रूपेण आच्छादित कर लिया है। एक माता के उदर से जन्म लेने वाले दो भाइयों में भी आज फौजदारी और मुकदमे बाजी होने लगी। राम और भरत की पुण्य लीलास्थली मे ऐसे विषाक्त वातावरण का कारण क्या है ? आज पिता को पुत्र से और पति को पत्नी से अविश्वास क्यों है ? एक जाति दूसरी जाति को नीचे गिराकर ऊँचा उठना चाहती है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का सर्वनाश करके अपने उत्थान की कामना करता है। अणु बम, हाइड्रोजन बम, उद्जन बम और न जाने कितने बमों की भरमार है। इस प्रकार का प्रत्येक अमगलमयी विचार धारा के मूल मे आपको स्पष्ट रूप से यही विदित होगा कि हम स्वय सुखी होना चाहता हैं किन्तु दूसरों का सुख छीनकर वह अपनी उन्नति चाहते हैं किन्तु दूसरे को अवनत बनाकर ऐसा दृष्टिकोण ही हमको सब ओर से दुखों के जाल मे जकड़ रहा है। इसी के घातक परिणाम से विश्व की आत्मा जर्जरीभूत हो रही है।

स्वामी रामतीर्थ जब प्रोफेसर थे तब उन्होंने अपने विद्यार्थियों की बुद्धि और भावनाओं की परीक्षा लेने के निमित्त एक बार ब्लैकबोर्ड पर खड़िया से एक लकीर खींच दी और विद्यार्थियों से कहा इसे छोटी करो, एक विद्यार्थी उठा, उसे मेटकर छोटी करने लगा। स्वामी रामने कहा—मैंने तुमसे लकीर को छोटी करने के लिए कहा था, मिटाने के लिए तो नहीं कहा था। विद्यार्थी चुपचाप बैठ गया। कुछ क्षणों तक तो संन्नाटा रहा। एक मेधावी छात्र उठा, उसने उस लकीर के नीचे एक बड़ी लकीर खींच दी। स्वामी राम ने कहा : शाबाश। अपने विद्यार्थियों को उन्होंने बताया : तुम यदि अपनी उन्नतिकी अभिलाषा करते हो तो दूसरेको मिट कर नहीं बरन स्वयं अपने पुरुषार्थ से ही उन्नत हो सकते हो। अर्थात् किसी से असद् व्यवहार न करते हुए अपनी उन्नति के लिए जो प्रयत्न किया जाता है वही वास्तविक पुरुषार्थ है। शास्त्रों ने और सन्तों ने उसी पुरुषार्थ की सराहना की है।

ससारासक्त और विषय लोलुप जनों को तो भगवान का दडविधान ही समय-समय पर शिक्षा देता रहता है। किन्तु साधक और भक्तों को सदैव सावधान रहते हुए अपना प्रत्येक व्यवहार करना चाहिए। अपने हृदय की तराजू में तौल तौल कर

विवेक से किया हुआ व्यवहार अपने और दूसरों के सुख का कारण बनता है। अपनी जानकारी मे कभी किसी के प्रति असद् व्यवहार न हावे क्यों कि आराध्य इष्टदेव ही सभी में विराजमान हैं अपनी स्वार्थ साधना में यदि अपने व्यवहार से किसी को दुख पहुँचा तो प्रकारान्तर से प्रियतर से प्रियतम प्रभु को दुख पहुँचेगा। प्रेमास्पद प्रभु के पावन पादारविन्द मे प्रेमानुरागी भक्तोंके लायक दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए भक्ताग्रगण्य प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद् गोस्वामी जी ने श्री रामचरित मानस मे लिखा

उमा जे राम चरण रत विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं विरोध॥

भक्तके लक्षण बताते हुए भगवान् श्रीश्यामसुन्दर ने अर्जुन को समझाया...

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
(गीता १२।१३)

परमार्थ के जिन बड़भागी पथिकों का ऐसा व्यापक दृष्टिकोण बनजाता है वे ही अपनी आदर्श जीवनचर्या से ससार में युगान्तर उपस्थित कर देते हैं। ऐसी वास्तविक मंगलमयी धारणा बन जाने पर स्वप्न मे भी आपके द्वारा असद् व्यहार नहीं होगा तब अपनी उत्तम भावनाओं से आप परहित साधन में एड़ी चोटी का पसीना एक कर देंगे। आप विचार करेंगे कि अपनी समस्त विभूतियों सहित प्रभु ने मुझे इस पृथ्वी पर इसी लिये भेजा है कि अपने व्यवहारों से सबको सुखी बनाऊँ।

भगवान् श्री कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति को ज्ञानोपदेश करते हुए कहा...

हे माता! जो व्यक्ति मन्दिरों मे जाकर मेरी मूर्तियों की पूजा-आरती करता है, माला लेकर नाम, जप भी करता है किन्तु अपनी क्षुद्र वासनाओं की पूर्ति के लिए किसी भी प्राणी से द्वेष करता है, अपने दुर्व्यवहार स किसी भी प्राणी को दुख पहुँचाता है उससे मैं कदापि प्रसन्न नहीं रहता।

उर्दू के एक भावुक कवि ने कितना सुन्दर कहा--

मन्दिर मत जाओ मस्जिद मत जाओ तो कुछ नहीं मुजायका है।

किसी जीव को दुख मत देना यह घर खास खुदा का है॥

इन चलते फिरते मन्दिरों मे विराजमान अपने प्रियतम प्रभु की झाँकी करते हुये हमे अपने सद् व्यवहार से इनकी सेवा-पूजा करना चाहिये। अपने व्यवहार को शुद्ध बनाकर ही हम अपने कुटुम्ब नगर, देश और समस्त विश्व की शान्ति में अपना सहयोग दे सकते हैं क्योंकि विश्व की शान्ति में ही अपनी शान्ति सन्निहित है।

अस्तु, शान्ति सस्थापन का मूल मन्त्र है:--

"वही व्यवहार करो जो दूसरों से चाहते हो"

व्यापार

बन के वणिक जीव विश्व में रहा विचर,
विविध विलास आशा जनित उमग में।
पूंजी पूर्व जन्म की लिये है साथ 'चन्द्रमणि',
तातै ठग काम, क्रोध, लोभ लागे संग में।
चूक पड़ते ही लूट लेते खम ठोंक ठोंक,
पथ भूल जाता फाँद शिखर--उतंग में।
अनिल निराशा की झकोर से फिसल,
नीचे गिर बह जाता दुःख उदधि तरंग में।

—श्री चन्द्रशेखर जी पाण्डेय 'चन्द्रमणि' कविरत्न

योग के प्रकार-भेद

(गताङ्क से आगे)

(श्री स्वामी सनातनदेव जी महाराज)

मन्त्रयोग—'मन्त्रयोग' शब्दका प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है, किन्तु इसका मुख्य तात्पर्य मन्त्रजपके द्वारा जीवात्मा और परमात्माका संयोग होना है। गुरुदेवसे विधिवत् दीक्षा लेकर मन्त्रजप करनेसे कालान्तरमे शब्दात्मक मन्त्र चैतन्य हो जाता है और वह क्रमशः वैखरी से मध्यमा अवस्था को पारकर पश्यन्तीमे स्थित हो जाता है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाश और चिदानन्दमय है। यह चिदात्मक पुरुषकी अक्षय और अपर षोडशी कला है। शब्दके साथ जीवात्मा भी ऊपर की ओर चढता हुआ शब्दातीत स्थितिमें पहुँच जाता है। पश्यन्ती अवस्था मे पहुँचनेपर उसे कृतकृत्यताका अनुभव होने लगता है। इसके पश्चात् पराबाणीमें प्रवेश करते ही अपने आप अव्यक्त परमपदकी अनुभूति हो जाती है। यही जीव और शब्दकी तुरीयावस्था है।

मूलाधारसे शब्दस्रोत निरन्तर ऊपरकी ओर प्रवाहित हो रहा है। यह यद्यपि विश्वव्यापी है तथापि इन्द्रियाधीन जीवकी वृत्ति बहिर्मुख होनेके कारण उसे यह सुनाई नहीं देता। जब किसी क्रिया कौशलसे इन्द्रियों की बहिर्वृत्ति रोक दी जाती है तथा मन और प्राण स्तम्भित हो जाते हैं तो साधक इस अनाहत शब्दको सुन सकता है। बाह्य आघात जनित शब्दको इस अनाहत शब्दमे लीन करनेकी शक्ति हो जानेपर इष्ट मन्त्रका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभवमे आता है। इडा-पिंगलाको छोड़कर प्राणके सुषुम्नामें प्रवेश करनेसे इस नित्य शब्दस्रोत्रका अनुभव होता है। यह षट्चक्रोंको भेदकर जीवको सहस्रारमे ले जाता है और वहाँ वह परब्रह्ममें लीन हो जाता है। हमारे श्वास-प्रश्वास द्वारा निरन्तर हंसमन्त्रका अजपा जप हो रहा है। गुरुकृपा से अभ्यासद्वारा वह उलटकर सोऽहं मन्त्रमे परिणत हो जाता है। यही संक्षेपमे मन्त्रयोगका परिचय है। इसी को शास्त्रोंमे हंसयोग भी कहा है। तन्त्रशास्त्र प्रधानतया इसी योगका निरूपण करता है।

राजयोग—इसे अष्टांग योग भी कहते हैं। पातञ्जल दर्शनका विषय प्रधानतया यही है। इसके आठ अग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमे पहले पाँच बहिरग हैं तथा पिछले तीन अन्तरग। हठयोग और लययोगमें भी इन आठों अगों को स्वीकार किया है। हठयोगमे आसन, प्राणायाम और मुद्राओं की प्रधानता है तथा लययोग मे धारणा और ध्यान की। समाधि तो दोनों ही का ध्येय है। किन्तु राजयोगमें इन आठों अंगोंके अभ्यास की आवश्यकता मानी गई है। उन दोनों योगों से राजयोगका प्रधान भेद यह है कि इसका साधक विवेकी होता है, उसे तत्त्वों का ठीक-ठीक ज्ञान और आत्मा अनात्म का पार्थक्य ज्ञान पहले ही से रहता है तथा उसमें अपेक्षाकृत वैराग्य की भी अधिकता होती है। किन्तु हठयोग और लययोग मे पहले ही से तत्त्वविवेक रहना अनिवार्य नहीं है। उनकी प्रक्रियाओं के द्वारा प्राण और मनका लय हो जानेपर गुरुकृपा से तत्त्व की अनुभूति हो जाती है।

इस प्रकार यह महायोगके चारों अगोंका वर्णन किया गया। इन मे से किसी एक से भी परमपद की प्राप्ति हो सकती है। इन चारोंमें ही मनःसंयम की बडी आवश्यकता है, अत. संयमी पुरुष ही इनमें सफलता प्राप्त कर सकते हैं। जो संयमहीन हैं वे

तो इनमें प्रवृत्त होने से पतित रोगी और अधिक लोलुप हो जाते हैं।

भक्तियोग

भक्तिकी महिमा शास्त्रों मे मुक्त कण्ठ से गायी गयी है। वस्तुत: सर्वसाधारण के लिये परमार्थ में प्रवेश करने का यही द्वार है। जो लोग न विशेष संसारासक्त हैं और न विशेष विरक्त वे इसमे सफलता प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उनके हृदयमे इष्ट के लिये स्वाभाविक अनुराग होना चाहिये। महर्षि शाण्डिल्य ने भक्ति का लक्षण किया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अत अनुरागी पुरुष ही भक्तिका मुख्य अधिकारी है।

भक्तिके दो प्रधान भेद हैं—वैधी और रागात्मिका। वैधीमे नियमकी प्रधानता रहती है और रागात्मिका मे प्रेम की। वह साधनरूपा है और यह साध्यरूपा। इन्हें ही अपरा और पराभक्ति भी कहते हैं। परम भागवत श्रीप्रह्लादजी ने भक्ति के नौ साधन गिनाये हैं—

> श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
> अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
> (भाग० ७।५।२३)

'भगवच्चरित्रों का श्रवण, भगवन्नामकीर्तन, भगवत्स्मरण, भगवान और भक्तोंके चरणोंकी सेवा पूजन, वन्दना, दास्यभाव, सख्यभाव, और भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण—ये मुख्यतया वैधी भक्तिके ही भेद माने गये हैं। परन्तु जब प्रेमकी प्रगाढता से इनमे भक्त की स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है तो रागानुगा भक्ति भी इन्हीं के रूप मे प्रगट हो सकती है। राग का परिपाक होने पर भक्तमें भाव का उदय होता है। भक्तिग्रन्थों में पॉच प्रकार के भाव बताये हैं—शान्त. दास्य सख्य,वात्सल्य और मधुर। इनमे रसकी दृष्टि से उत्तरोत्तर उत्कृष्ट माने गये हैं, किन्तु वस्तुत. यह भाववैचित्र्य भक्तके रुचिवैचित्र्य के कारण ही है। अपने प्यारे को जो जिस प्रकार चाहे उसी प्रकार भज सकता है, और वह उसी रूप में उसके लिये हाजिर हो जाता है—

> 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'
> (गीता ४।११)

नारद, शुकदेव और सनकादि इन्हें शान्तभावसे भजते हैं, हनुमान, उद्धव और गोस्वामी तुलसी दास जी दास्यभाव के उपासक हैं सुग्रीव, अर्जुन गोपगण का सख्यभाव है. यशोदा कौशल्या और मनु-शतरूपा वात्सल्यभाव रखते हैं और व्रजाङ्गनाएँ तथा मीराबाई माधुर्य भाव रखती हैं। इनमे किन्हें न्यूनाधिक कहें। अत भावभेद का मूल भक्तों का रुचिभेद मानना ही अधिक उपयुक्त है।

भक्ति का साधक पहले नियमानुसार जप कीर्तन पूजन एवं सत्सगादि करता है। इससे कालान्तर मे उसे इनमें आनन्द आने लगता है। फिर धीरे-धीरे उसकी आसक्ति हो जाती है, उस अवस्था में इच्छा करने पर भी वह साधन को छोड नही सकता। आसक्ति से सात्विक भावो का विकास होता है। भक्ति ग्रन्थोंमे आठ सात्विक भाव माने हैं—स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभग कम्प. वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। यह भावभक्ति ही प्रेममे परिणत हो जाती है। प्रेम की कोई इयत्ता नहीं है। प्रेमी की प्यास कभी शान्त नहीं होती। यह अशान्ति ही परम शान्ति है। इसकी शान्ति तो उसे मृत्यु जान पड़ती है।

यह सक्षेप मे भक्तियोगका वर्णन हुआ। श्रीहरि भक्ति रसनामृत सिन्धु एव भक्ति रसायनादि रस ग्रन्थों मे इसका बड़ा विस्तार है। भक्ति कृपा-साध्य मानी गयी है। भगवान् या महापुरुषों की कृपा के बिना अपने पुरुषार्थ से किसी का भी भक्ति के राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता। भक्त मे दैन्य और निर्भरता की अत्यन्त आवश्यकता है। भगवद्-भजन किस प्रकार करना चाहिये इस विषय में

भक्तावतार श्रीमच्चैतन्य महाप्रभु जी कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयो सदा हरिः ॥

'तिनके से भी नीचा होकर और वृक्ष से भी अधिक सहनशील होकर स्वयं मान की इच्छा न रखते हुए एवं दूसरों का मान करते हुए श्रीहरि का कीर्तन करना चाहिये।'

ज्ञानयोग

कर्मयोग के अधिकारी सासारिक पुरुष भी हैं। जिनकी भोग-लिप्सा शान्त हो गयी है किन्तु कर्तव्य-बुद्धि की प्रधानता है वे निष्काम कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि होने पर बुद्धियोग प्राप्त करके कृतकृत्यता लाभ करते हैं। महायोग सयमशील पुरुषों का मार्ग है। वे संयम के द्वारा स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर को लाँघकर देहातीत आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके परमपद पर प्रतिष्ठित होते हैं। भक्तियोग सहृदयों की सम्पत्ति है। वे अपने शुद्धहृदय को प्रभु प्रेम में रंगकर सारे संसार को प्रभुमय देखते हैं तथा ससार के स्थान पर अपने प्यारे को प्रतिष्ठित कर उसी की आनन्दमयी लीला के पात्र बन कर मुक्ति का भी तिरस्कार कर देते हैं। इसी प्रकार ज्ञानयोग के अधिकारी वे हैं जिन्हें अनित्यत्वबोध के कारण स्थूल सूक्ष्म और कारण किसी भी प्रकार के प्रपञ्च में आस्था नहीं है, जिन्हें इन्द्रपद और ब्रह्मलोक भी तुच्छ जान पडता है तथा जिनके चित्त में हर समय 'मैं क्या हूँ, यह सब क्या है, यह कहाँ से आया' ऐसी जिज्ञासा जाग्रत रहती है।

ज्ञानयोग के अधिकारी में विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति * और मुमुक्षुता—इन चार साधनों का होना परम आवश्यक है। जिस जिज्ञासु में इनकी कमी रहती है उसमें न तो तीव्र जिज्ञासा ही जाग्रत् हो सकती है और न उसे ठीक-ठीक तत्त्व-बोध ही हो सकता है। जिन्होंने पहले निष्काम कर्म अथवा भगवदुपासना का अच्छी तरह आचरण किया होता है उन्हीं मे तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिसका मल निष्काम कर्म से और चाञ्चल्य उपासना से निवृत्त हो गया है उसी चित्तरूप जलाशय मे आत्मसूर्यका स्फुट प्रतिविम्ब पड़ सकता है।

इसके सिवा ज्ञानमार्ग के पथिक के लिये शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धि की भी बड़ी आवश्यकता है। मन्द बुद्धि का इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय में प्रवेश होना अत्यन्त कठिन है। श्रुति भी कहती है—'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'—सूक्ष्म-दर्शी पुरुषों को ही उनकी श्रेष्ठ और सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उसका साक्षात्कार हो सकता है। यहाँ सूक्ष्म बुद्धि का अर्थ तत्त्वावगाहिनी बुद्धि समझना चाहिये, क्योंकि बाह्यविषयों में रमण करने वाली बुद्धि तो कितनी ही तीव्र हो, उसका परमार्थ में प्रवेश नहीं हो सकता। इसी प्रकार कुतर्की और दुराग्रही पुरुष का भी इस मार्ग मे प्रवेश होना सम्भव नहीं है।

ऐसा साधन-सम्पन्न जिज्ञासु जब श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव की शरण मे जाता है तो उसे अधिकारी जानकर वे अनेक प्रकार की युक्तियों से परमार्थ का उपदेश करते हैं। उनसे श्रवण किये हुए विषय का वह स्वयं तरह-तरह की युक्तियों से मनन करता है। इस प्रकार सद्भावपूर्वक श्रवण-मनन करने से धीरे-धीरे उसकी सारी उलझनें सुलझ जाती हैं, तथा उसे आत्मस्वरूपका यथावत् बोध हो जाता है। जिज्ञासु जितना अधिक साधनसम्पन्न होता है उतना ही शीघ्र और स्पष्ट तत्त्व को ग्रहण कर सकता है। जब श्रवण और मनन के द्वारा तत्त्व का यथावत् बोध हो जाता है और किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रहता तो निष्ठा के परिपाक

* शम, दम, श्रद्धा समाधान, सन्तोष और तितिक्षा।

के लिये निखिल प्रपञ्च का निषेध करते हुए निरन्तर साक्षी रूप से स्थित रहने का अभ्यास किया जाता है। इसे निदिध्यासन या ब्रह्माभ्यास कहते हैं। अभ्यासकी दृढ़ता से जब चित्त सम्पूर्ण भावाभाव का बाधकर चित्तत्व से मुक्त हो केवल विशुद्ध चिन्मात्र रह जाता है तो विद्वान को कृतकृत्यता का अनुभव होने लगता है यद्यपि तत्त्वदृष्टि में चित्त के समाधान या असमाधान का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि उससे परमार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता, तथापि निष्ठा की दृढ़ता बिना इस स्थिति को प्राप्त किये होनी कठिन है। श्री अष्टावक्र जी कहते हैं—

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥
(१६।११)

'चाहे स्वयं शंकर विष्णु अथवा ब्रह्मा तुझे उपदेश करनेवाले हों तथापि बिना सब कुछ भुलाये तुझे शान्ति नहीं मिल सकती।'

इस निर्विकल्प स्थिति के प्राप्त होने के पश्चात् जब अत्यन्त दृढ निष्ठा हो जाती है तो विद्वान् को इसका भी आग्रह नहीं रहता—उसे सब कुछ अपना ही स्वरूप जान पड़ता है। उसके लिये संसार संसार नहीं रहता, सब अपना-आप ही हो जाता है। वह हेयोपादेय से रहित तथा बन्धन और मोक्ष से भी ऊपर हो जाता है। सृष्टि और प्रलय तो उसी के निमेषोन्मेष हैं, फिर वह किसे त्यागे और किसे ग्रहण करे। फिर तो शरीर के प्रारब्धानुकूल जैसी परिस्थिति आती है उसी के अनुकूल उसका आचरण दिखायी देता है। किन्तु वह सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता, सब कुछ भोगते हुए भी कुछ नहीं भोगता तथा वही सब कुछ करता और वही सब कुछ भोगता है। वही कर्ता वही कर्म और वही क्रिया है। भोक्ता भोग्य और भोग रूप भी वही है। इस अनिर्वचनीय स्थिति का वर्णन शब्दों द्वारा किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। यही सारे साधनों का चरम साध्य है, यहीं सब योगों का समन्वय होता है, इसी पद के लिये विभिन्न पथों की प्रवृत्ति हुई है। यहाँ जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की भी मुक्ति हो जाती है। इसी के लिये श्रुति कहती है—'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'—ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही है। भगवान् गौडपादाचार्य ने इसे 'अस्पर्शयोग' कहा है, क्योंकि इससे किसी भी विचारकोटि का, किसी भी प्रकार कल्पना का स्पर्श नहीं हो सकता।

इस प्रकार योग के प्रधान प्रधान भेदोंका संक्षेप में परिचय दिया गया। अन्य अनेकों नामों से प्रचलित योगों का भी प्रायः इन्हीं में समावेश हो जाता है। जिस प्रकार न्यूनाधिक भेदों के कारण इन प्रकारों का विस्तार हुआ है वैसे ही सामान्य धर्मों की दृष्टि से इनका संकोच भी किया जाता है। ऊपर जिन चार प्रकार के प्रधान योगों का वर्णन किया गया है उनमें महायोग और भक्तियोग भावना प्रधान, कर्मयोग विधिप्रधान और ज्ञानयोग विचार प्रधान है। अतः भावना प्रधानत्व में समानता होने के कारण महायोग और भक्तियोग को एक मानकर इनका श्रुतिप्रतिपादित उपासना, कर्म और ज्ञान तीनकाण्डों में अन्तर्भाव किया जाता है। इनमें भी उपासना और कर्म कर्तृतन्त्र हैं तथा ज्ञान वस्तुतन्त्र है। इस लिये इस दृष्टि से गीतोक्त योगनिष्ठा और सांख्यनिष्ठा में अन्तर्भूत हो जाते हैं। फिर दोनोंका लक्ष्य एक ही होने के कारण विद्वानों की दृष्टि में ये एक ही हैं—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः*

उस समय हम इन्हें एक मात्र योगपदवाच्य ही कहेंगे। इस प्रकार यह सारा साधन समुदाय योग ही है।

(क्रमशः)

* सांख्य और योग को मूर्ख लोग ही अलग-अलग बताते हैं, विद्वान् नहीं।

अज्ञान क्या है

(लेखक—परमहंस ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्री भोलेबाबा जी महाराज)

(१)

क्या ब्रह्म है? क्या जीव है? क्या ईश है क्या है जगत?
क्या बन्ध है? क्या मोक्ष है? क्या सत्य है? क्या है असत्?
क्या धर्म वस्तु? अधर्म क्या? क्या भक्ति है? क्या ज्ञान है?
अनभिज्ञता इन सर्व से यह ही महा अज्ञान है॥

(२)

आया कहांसे? कौन हूँ? क्या साथमें लाया यहाँ?
क्या साथमें ले जाऊँगा? जाना मुझे है फिर कहाँ?
क्या प्रेय है? क्या श्रेय है? आचार क्या? क्या दान है?
इत्यादि कुछ ना जानना, यह ही महा अज्ञान है॥

(३)

ज्यों पान आदिक चाबनेसे आय मुखमें रक्तता।
त्यों भूत पांचोंके मिले अजाय तनु-चैतन्यता॥
आत्मा यही है देह जब तक देह मांही जान है।
लेना न देना बाद कुछ, यह ही महा अज्ञान है॥

(४)

ना स्वर्ग है, ना नरक है, ना पुण्य है, ना पाप है।
इतिहास वेद पुराण सब ही मात्र धूर्तालाप है॥
है दृष्ट एक प्रमाण, नांही शब्द ना अनुमान है।
नर मूढ ऐसा मानता, यह ही महा अज्ञान है॥

(५)

मुखसे सदा कहता रहे, संसार यह निस्सार है।
ईश्वर-भजन ही सार है, फिर भी रचे संसार है॥
माला घुमाता हाथ से, पर गालका मन ध्यान है।
करता हजारों कामना, यह ही महा अज्ञान है॥

(६)

धोखा बड़ी व्यापार है, न विचार ना आचार है।
तख्ता लगाया सत्य का है झूँठ का व्यवहार है॥
ऊँची बनी दूकान है, फीका धरा पकवान है।
दे जान कौड़ीके लिये, यह ही महा अज्ञान है॥

(७)

बूढ़े, तरुण, बालक, शिशु, दिन-रात मरते देखता
है आप भी बूढ़ा हुआ, फिर भी नहीं है चेतता॥
नांही मरूँगा मैं कभी, ऐसा करे अभिमान है।
मरको अमर लेता समझ, यह ही महा अज्ञान है॥

(८)

उपदेश देता अन्यको, शिक्षा न लेता आप है।
चौड़े दहाड़े लूटता चोरी बताता पाप है॥
सन्मान चाहे आप, करता अन्यका अपमान है।
मुख मांहि कुछ, मन मांहि कुछ, यह ही महा अज्ञान है॥

(९)

धन का बढ़ाना धर्म है, तनका फुलाना दान है।
सुत-दार पोषण भक्ति है, अपनी चलाना ज्ञान है॥
पांचों विषयके भोगमें ही, देहका कल्याण है।
ऐसी समझ है मूर्खता, यह ही महा अज्ञान है॥

(१०)

परदोष 'भोला' देख मत तू दोष अपने त्यागरे'
निज चित्त करले शुद्ध फिर ईश्वर भजनमें लागरे॥
ईश्वर भजन बिनु पुरुष का होता नहीं कल्याण है।
होना विमुख विश्वेशसे, यह ही महा अज्ञान है।

(हरिगीत-छन्द)

श्री अरविन्द की देन

(पं० श्री दिनेशचन्द्र द्विवेदी, प्राणाचार्य)

योगिराज श्री अरविन्द पर कुछ भी व्यक्त करना एक सामान्य साधक के लिये धृष्टता मात्र है क्योंकि मन तथा बुद्धि की सामान्य अवस्था मे उस की वास्तविक अनुभूति नहीं हो सकती। फिर भी जब हम श्री अरविन्द जी की ओर विचार करते हैं तो हमे एक नया आलोक एक नई आशा और एक विशिष्ट अनुभूति होती है। वैसे जो कुछ भी उन्होंने प्रदान किया वह प्राचीन है परन्तु उसके आगे भी बहुत कुछ है. एक ऐसी नवीनता जिसकी पूर्ति अवश्यभावी है। जहाँ चारों ओर हमे अन्धकार दिखाई देता है वहाँ जब श्रीअरविन्द को ओर दृष्टि फेरते हैं तो उदित होने वाला आदित्य दिखाई पड़ता है। विकास क्रमके अपने उतार चढ़ाव हैं। सामान्य दृष्टि से जिन कुप्रवृत्तियों को भारी आपत्ति जनक समझते हैं, योगदृष्टि से वह शुभ सिद्ध हो सकती हैं। क्योंकि हो सकता है वह कुप्रवृत्तियाँ क्षीण होकर झड़ रही हों और पवित्रता का आकस्मिक उदय होने वाला हो। श्री अरविन्द मानव के लिये अध्यात्मिक भविष्य अवश्यभावी मानते हैं। वे वर्तमान जडवाद के साम्यवाद आदि अनेक मतों से घबड़ाये नहीं, हो सकता है यह मतान्तर उस प्रभु की विकास प्रक्रिया मे पड़ाव मात्र हों।

उनके अनुसार यह जगत मिथ्या नहीं। ब्रह्म सत्य है परन्तु जगत भी उसकी अभिव्यक्ति है। और पूर्णता की प्राप्ति के लिये आवश्यक भी। यह जीवन माया कह कर टाला नहीं जा सकता वरन् विकास क्रम में सहायक है। मानव का व्यक्तित्व भी लहर रूप नहीं, जो ब्रह्मरूप समुद्र में लय हो जायगा, वल्कि अहकार के पूर्ण त्याग के बाद व्यक्ति की आत्मा ब्रह्म के साथ और उसके द्वारा जगत् के साथ, और जगत् के सब प्राणियों के साथ, आन्तरिक एकत्व अनुभव करते हुए अपूर्व निजी भाव का अनुभव करेगी।

व्यष्टि अग है, विश्व की अभिव्यक्ति है, वह समष्टि से अपने आप को अलग नहीं कर सकता। उसकी उन्नति में समष्टि का हित है और समष्टि के विकास में व्यष्टि का हित है।

यहीं से श्री अरविन्द के पूर्णयोग मे साधक का पथ कुछ अलग होजाता है। वह मोक्ष को ही सर्वथा उच्चतम नहीं मानता यद्यपि मोक्ष मार्ग में आवेगा अवश्य। "अनित्यमसुखं लोकम्" कह कर जगत् के क्रिया कलापों से घबड़ाता नहीं, वरन् अपने को ईश्वर के हाथों मे सुपुर्द करने, में, उसका यन्त्र बन जाने में सुख का अनुभव करता है। श्री अरविन्दने कहा है—

"हमारे योग का उद्देश्य मोक्ष पाना नहीं है, मोक्ष तो योग की एक अनिवार्य अवस्था है, योग का वास्तविक उद्देश्य है जगत मे भगवान् की इच्छा को पूर्ण करना, मनुष्य का आध्यात्मिक परिवर्तन सिद्ध करना और मन-प्राण तथा शरीर के स्वभाव में तथा मनुष्य के जीवन मे दिव्य प्रकृति और दिव्य जीवन को उतार लाना।"

परन्तु भगवान् की इच्छा की सच्ची अनुभूति कैसे होगी? उसकी चरितार्थता तो बाद की है। श्री अरविन्द ने नया ज्ञान दिया है अतिमानस के बारे मे। विकास के सामान्य क्रम मे जड़से प्राण फिर मन तथा बुद्धि का उद्भव हुआ है। सामान्य व्यक्ति अभी इसी प्रगति पर है। परन्तु आगे विकास मे व्यक्ति में अतिमानस का अवतरण होगा।

यह अतिमानस तत्व उनके योग को बड़ी

आवश्यक और प्रमुख देन है। इसके बिना उनका योग समझना कठिन है। अतिमानस मानव चेतना का उच्चतम तत्व है जो एक प्रकार से स्वयं भगवान् का ही मन है। यह हमारे अज्ञानी मन से एकदम भिन्न पूर्ण ज्ञानमय है। इसकी शक्ति कभी व्याहृत नहीं हो सकती और हमारे मन, प्राण तथा शरीर तक को पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित कर सकती है।

अतिमानस परम सत्य है, उसके प्रभाव से हमारे मन, देह और प्राण सत्यमय तथा दिव्य हो सकते हैं। इस तरह मानव के स्थान पर अतिमानव या देवदूत का अवतरण होगा और तब सब कार्य सहज, दिव्य और भागवत् होंगे। आनन्द के सिवाय फिर हो ही क्या सकता है।

श्री अरविन्द की ४० वर्ष की साधना इसी की सिद्धि के लिये शरीर में तथा अब व्यापक रूप से चल रही है।

साधना—

इस सिद्धि के लिये त्रिविध अभ्यास हैं। योग मे भगवान् ही साधक हैं और साधना भी। जब उनकी इच्छा होती है तब सब सहज होता है परन्तु जब तक निम्न प्रकृति सक्रिय है तब तक व्यक्तिगत प्रयत्न अवश्यक है।

पहिली आवश्यकता है विमल अभीप्सा-भगवान को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा। यह अभीप्सा अनिमिष, अविच्छिन्न रूप से सदा प्रज्वलित रहनी चाहिये। मन, प्राण तथा शरीर तीनों ही इसकी प्राप्ति में पूर्ण रूप से लगे रहें। इस इच्छा की आग अन्त:करण में जलती ही रहनी चाहिये जब तक कि पूर्ण सिद्ध न मिल जाय।

इसके बाद दूसरा अभ्यास है सदा सतर्क रहने का। मन तथा प्राण की असख्य कामनाओं लालसाओं कल्पनाओं का पूर्ण परित्याग करना होगा। किसी प्रकार की वासना, वेदना, लोलुपता, अहंमन्यता स्वार्थपरता तथा असत्यता का ऐसा त्याग कि स्थिर उदार तथा समर्पित प्राण सत्ता में वास्तविक शक्ति, आनन्द की वर्षा हो। मन की भुलावा देने की बातों को सदा निरीक्षण कर निकाल फेंकने की शक्ति रखनी होगी। मन को निर्बीकरण की स्थिति पैदा करनी होगी।

तीसरा आता है पूर्ण समर्पण—हम जो कुछ हैं, हमारा जो कुछ है, जो-जो हमारी चेतना है, जो हमारी चित्तवृत्ति और गतिविधि है इन सब का प्रभु के हाथों मे समर्पण। अपना कहने को कुछ भी शेष न रह जाय।

इस त्रिविधि अभ्यास के फलस्वरूप जब प्रकृति मे से अहंकार और अज्ञान बहुत कुछ झड़ जाता है तो अन्तरात्मा स्वयं साधन का भार अपने ऊपर ले लेती है। और फिर उतना प्रयत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि अन्तरात्मा प्रकाशित हो चैत्य के प्रकटीकरण से भागवत-तत्त्व का रूप प्रकट कर देती है, "चैत्य" एक ज्योति है, एक स्फुलिंग है जो सदा चेतन और विमल होता है। यह जन्म-मृत्यु के भीतर से गुजरता है। जीवन के नानाविधि अनुभवों को प्राप्त करता है। धीरे-धीरे बढ़ता है और पूर्ण चेतनावस्था को प्राप्त होता है। पर मूलतः यह जन्म, मृत्यु और अज्ञान अन्धकार से मुक्त होता है। यह जन्म-जन्म का साथी, हमारी प्रगति का इतिहास लिये, जब साधन क्रम में प्रगट हो, सामने आ जाता है तो साधना सुगम होकर स्वयं उसके आदेशानुसार होने लगती है तब सब कुछ सहज हो जाता है। दिव्य भाव पूर्ण हो जाता है श्री अरविंद ने ही चैत्य पुरुष का स्पष्ट वर्णन विशद् रूप से किया है।

वास्तव मे आत्मसमर्पण ही सर्वोपरि है। आत्म-समर्पण से पहिले सब कुछ तैयारी ही है। योग की नींव इसके सिवाय कुछ नहीं।

आगे आने वाला समय श्री अरविन्द का समय है। उनके कथनानुसार समस्त मानवता आध्यात्मिक विकास की ओर दौड़ेगी इसके सिवाय कोई चारा नहीं।

विनय

(श्री निरंजन लाल भगानिया, बी० काम, बी० एल०, एडवोकेट)

तिमिर में, प्रलय में, न तूफ़ान में भी,
कदम ये रुकें, प्रभु, न मेरे कभी भी।
सुख-दुःख के झोंके सहता रहूं मैं,
हँसता रहूँ मैं, न रोऊँ कभी भी॥

मंजिल यह मेरी पूरी भी होगी,
रहेगा तुम्हारा सहारा मुझे भी।
डरना ही क्या फिर, थकना भी क्या है,
मंज़िल की दूरी, अमरता मेरी भी॥

आँसू छलकते जब है नयन में,
ढाँढ़स तुम्हीं से पाता हूँ मन में,
कहते तुम्हीं हो—भोले हो बेटा।
दिल क्यों हैं छोटा, हूं क्या मैं लेटा—

जब साथ तेरे, सदा से हूँ मैं भी,
सम्पद्-विपद् में, रण-वन में मैं ही।
काँटों में पथ में, फूलों के रथ में,
उफ् करना कैसा, होना मगन भी—

देखो, तुम्हारे कितने ही साथी,
पहुँचे कहाँ हैं, ताकत भी क्या थी।
चलते गये वे, रुके न कभी वे,
रोते व थकते लखकर तुझे वे—

कहते—"बढ़ो, वीर, रुकना न तुम हे,
निर्द्वन्द्व अपना करतब करो हे।
प्रभु का सहारा, सबको सदा ही,
मिलता रहा है, माँगे बिना ही॥

डरना ही क्या फिर, रोना भी क्या है?
मरण संग साय-सवेरे, तो क्या है?
तिमिर में, प्रलय में न तूफान में भी।
क़दम ये रुकें, प्रभु मेरे कभी भी—

आत्म विश्वास

(श्री चन्द्रप्रकाश अग्रवाल एम काम, एल एल बी, विशारद)

'अहं ब्रह्मास्मि'

अर्थात् मैं ब्रह्म हू जीवन में साफल्य प्राप्त करने के लिए महामत्र हैं।

सफल जीवन ही सच्चा मानव जीवन है। जो जीवन सफल नहीं उसे सच्चे अर्थों मे मानव जीवन नहीं कहना चाहिये प्रत्युत वह तो पशु जीवन है। मानवीय और पशु जीवन में बड़ा अन्तर है। हाँ थोड़ी बातें जरूर ऐसी हैं जो मानव और पशुजीवन मे समान है, यथा आहार, निद्रा, भय मैथुनादि परन्तु इन बातों के अतिरिक्त मानव जीवन की अपनी एक विशेषता है और उस बिशेषता की प्राप्ति ही मानव जीवन की सफलता है। आत्मा मे परमात्मा के दर्शन ही मानव जीवन की विशेषता है और जब स्वय में ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है तो उसकी जीवन यात्रा सफलता के राजमार्ग पर चल पड़ती है जो व्यक्ति स्वयं को आत्मा और उसमें परमात्मा की झलक देखता है वह संसारके प्रत्येक बड़े से बडे कार्य को भी पूर्ण कर सकता है। उसमे अद्भुत आत्म विश्वास का सचार होने लगता है। विना आत्म विश्वास के कोई कार्य पूर्ण नहीं हो सकता।

कहते हैं जब कोई कार्य आत्मविश्वास के साथ प्रारम्भ किया जाता है तो उस कार्य की आधी सफलता तो उसकी आरम्भिक अवस्था मे ही मिल जाती है और शेषार्ध सफलता प्राप्त होना अवश्य-भावी होता है यदि भगवत् प्रसाद रूपा शक्ति कार्य की सफलता के मार्गको अवरुद्ध न करे। श्री अरविंद के अनुसार प्रत्येक कार्य की सफलता के लिये दो बातों का होना आवश्यक है। एक तो उस कार्य की सफलता की अभंग अभीप्सा और दूसरी उसके लिए भगवत् प्रसाद रूपा शक्ति। अभंग अभीप्सा हमारे अन्तर से उत्पन्न होती है और भगवत् प्रसाद रूपा शक्ति ऊपर से उतरती है। एक के भी अभाव में सफलता संदिग्ध रहती है। इन दो बातों में प्रथम अर्थात् अभग अभीप्सा प्रमुख है और यदि कार्य अच्छा हुआ तो भगवत् प्रसाद रूपा शक्ति तो ऊपरसे उतर ही आयेगी।

विना इच्छा (अभीप्सा) के कोई कार्य हो ही नहीं सकता। इच्छा कार्य के लिये कारण होती है। कारण के रहते ही कार्य होता है। जहाँ वहाँ कार्य नहीं हो सकता। कारण ही कार्य के लिये साधन जुटाता है। प्रत्येक कार्य के लिये इच्छा प्रधान कारण है। हाँ कुछ कार्य ऐसे अवश्य होते हैं जो विना इच्छा के भी होते हैं। यथा शरीर के भीतर की रक्तसंचार श्वास प्रश्वासादि क्रियाएँ परन्तु यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाये तो यही ज्ञात होगा कि ये क्रियाएँ भी विना-इच्छा के नहीं हो रही हैं। इन क्रियाओं का कारण परमात्मा की इच्छा है। श्रुति कहती है कि ईश्वर ने एक से बहुत होने की इच्छा की और बहुत होगया।

मनुष्यके सारे कार्य व क्रियाएँ उसकी आन्तरिक इच्छा के अनुरूप ही हुआ करती हैं। उसके सम्पूर्ण कार्य उस की इच्छा के प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। हम जैसी इच्छा करते है वैसीही हमारी मानसिक धाराएँ प्रवाहित होती हैं। चाटखाने की इच्छा होने पर मुंह में खट्टापन, मिठाई की इच्छा होने पर मीठा पन और जलपान की इच्छा होने पर तरलता का अनुभव होता है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार भी हमारी समस्त आर्थिक क्रियाओं की कारण हमारी तदनुरूप इच्छाएँ ही हैं हमारा कोई वाह्य कार्य विना हमारी इच्छा के नहीं होता। निद्रा

अवस्था में हम जो स्वप्न देखते हैं वह भी हमारी इच्छाओं के कारण ही होते हैं। ये अपूर्ण इच्छाएँ हमारे सुप्त मन में वास करती हैं और जब कभी स्वप्न के रूप में उभड़ पड़ती हैं। प्रत्येक कार्य की सफलता के लिये इच्छा प्रधान कारण है। कारण ही साधनों को जुटाता है। इच्छा के साथ साधन जुटने लगते हैं। संकल्प में बड़ा बल होता है। अपने ऊपर भरोसा होना चाहिये। यदि हम इच्छा करें तो पहाड़ को भी पलट सकते हैं दारिद्र को दूर कर सकते हैं। हाँ यह अवश्य है कि समय अवश्य लगेगा। कालिदास ने आत्मविश्वास और इच्छाके बल पर ही अनन्त ज्ञानराशी का उपार्जन किया और संस्कृत साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित प्रख्यात हुआ। महाराणा प्रताप ने जीवन पर्यन्त अकबर से भिड़न्त की आत्म विश्वास के ही बल पर। यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि हम दीन हैं, दरिद्र हैं, विवश हैं, और हम आत्मोन्नति नहीं कर सकते। हम वर्तमान प्रतिकूल परिस्थितियों को आत्मविश्वास के सहारे अनुकूल बना सकते हैं। हम सोचें कि हममें परिस्थितियों के बदल देने की पूर्ण क्षमता है तो हम उनको सरलता पूर्वक बदल सकते हैं। श्रीराम शर्मा आचार्य अपनी पुस्तक 'आत्मगौरवकी साधना' में लिखते हैं—परिस्थितियों को बदल देने की परिपूर्ण क्षमता मनुष्य मे मौजूद है इतिहास का पन्ना साक्षी है कि आत्म विश्वासी मनुष्य अपने पौरुष के द्वारा छोटे से बडे बने और हीन परिस्थितियों से उठकर उच्च कोटि पर प्रतिष्ठित हुए हैं। अपने चारों ओर घोर अन्धकार विवशता दारिद्र्य, पराजय, प्रतिकूलता देखकर निराश नहीं होना चाहिये। निराशावादी बनने से सफलता हाथ नहीं लगती। आत्मविश्वास के बल पर आशावादी बनना चाहिये। वेद की यही शिक्षा है। कभी किसी कार्य को असम्भव न समझिये। नेपोलियन का कथन है कि असम्भव शब्द मूर्खों के कोष मे पाया जाता है। स्वावलम्बी बनने की आवश्यकता है। फ्रैंकलिन का कहना कि 'God helps those who help themselves अर्थात ईश्वर उनकी सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं यह निर्विवाद हैं कि उत्साही और आत्मविश्वासी व्यक्ति ही अपनी सहायता कर सकते हैं। हरबर्ट का भी कहना है कि 'Help thyself & God will help thee" अर्थात अपनी सहायता स्वयं करो, ईश्वर तुम्हारी सहायता तभी करेगा।

आत्म विश्वास ही सफलता का मार्ग है और आत्म अविश्वास पतन का। ब्रोवी का कथन है कि 'Self distrust is the cause of most of our failures—In the assurance of strength there is strength, and they are the weakest, however strong, who have no faith in themselves or their powers—Bovee" अर्थात् "हमारी अधिकाश असफलताओं का कारण आत्मअविश्वास है—शक्ति के विश्वास मे शक्ति है और वे लोग निर्बलतम हैं चाहे वे शक्तिशाली ही क्यों न हों, जो अपने पर या अपने बल पर भरोसा नहीं रखते" ब्रोवी फिर कहता है " ·· Never doubt your-self' "अपने पर सन्देह कभी मत करो'। बिना आत्मविश्वास के विजय सम्भव नहीं। वे लोग ही विजय प्राप्त कर सकते हैं जो यह विश्वास रखते हैं कि उनमे विजय प्राप्त करने की क्षमता है।

'They can conquer who believe they can–Virgil.' आत्मविश्वास को जागृत करने के लिये आवश्यकता है आत्मबोध की। मै समझूँ कि मैं क्या हू ? मेरी क्या शक्ति है ? मै कौन हू ? मेरा क्या कर्तव्य है ?

कोऽहं का चमे शक्तिः कः देशश्च व्ययामौ।
कःकालःकानि मित्राणि, एतच्चिन्तय मुहुर्मुहुः॥

तभी मैं अपने अन्दर आत्मविश्वास का संचार कर सकूँगा। सम्पूर्ण शक्तियाँ आत्मविश्वास में केन्द्रित हैं। आत्मविश्वास हमारे मन की चीज़ है। बस देर है तो केवल आत्मस्वरूप को समझने की और अनुभव करने की। यदि मैं यह जान जाऊँ कि मैं आत्मा हूँ शरीर नहीं तो मुझे मृत्यु भय भी नहीं रहे। मृत्यु भय से बड़ा संसार में कोई भय नहीं। आत्मबोध होने पर मृत्यु भय पर भी विजय पा ली जाती है। जिसने मृत्यु भय को जीत लिया उसके लिये संसार में कुछ भी असम्भव नहीं। वह जो कार्य करता है वह निर्भय होकर। सफलता असफलता की चिन्ता उसे नहीं रहती। सफलता प्राप्त होने पर वह हर्षातिरेक नहीं होता और कार्यपूर्ण होने में विलम्ब होने पर खिन्न नहीं होता और न ही अपने धैर्य को ही छोड़ता है। बस, आवश्यकता है आत्मा के स्वरुप को जानने की। श्री मद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
गी० २।२३॥

'आत्मा शस्त्र से कटता नहीं आग से जलता नहीं, वायुसे सूखता नहीं और नहीं जल से गलता है।"

आत्म स्वरूप का चिन्तन कर यह विचार करना चाहिये कि मैं न उत्पन्न ही हुआ हूँ, फिर मेरा जन्म मृत्यु कैसे ? मैं चित्र नहीं हूँ फिर मुझे शोक-मोह कैसे ! मैं करता नहीं हूँ फिर मेरा बंध मोक्ष कैसे ?

"नाहं जातोजन्म मृत्यू कुतो मे।
नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे॥
नाहं चित्रं शोकमोहो कुतो मे।
नाहं कर्ता बंधमोक्षौ कुतो मे॥

लोंग फैलो कहते हैं "There is no death ! what seems so is Transition" अर्थात् किसी जीव की मृत्यु नहीं होती प्रत्युत परिवर्तन होता है। मोंटगोमरी का कथन है 'The soul, immortal as its Sire Shall never die' अर्थात् आत्मा अजर-अमर है।

भगवान श्रीकृष्ण युद्ध विमुख अर्जुन को उपदेश देते हुये कहते हैं:—

न जायते म्रियतेवा कदाचिन्
नायं भूत्वाभविता वा न भूयः॥
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
गी० २।२०।

अर्थात् आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है, न होकर फिर होता ही है और यह शाश्वत, पुरातन, अज, अमर है तथा तन का वध करने पर मरता नहीं है।

इसलिये आत्मा की नित्यता, अनश्वरता, अजर-अमरता को ध्यान में रखते हुये अशक्तता का अनुभव न करते हुये प्रत्येक अच्छे कार्य में आत्म-विश्वास के साथ जुट जाना चाहिये। सफलता निश्चित है। सफलता दृढ़ निश्चयी व्यक्ति के चरण चुम्बन करती है। आत्मविश्वास और दृढ़ सकल्प के बलपर ऐसा कोई कार्य नहीं जिसकी सम्पन्नता संदिग्ध हो। आत्मविश्वास के साथ विचार करने की आवश्यकता है कि मैं शक्ति, बल और प्रतिभा का केन्द्र हूँ। मैं अविनाशी, अखण्ड, विचार पूर्ण हूँ और मैं आत्मा हूँ शरीर नहीं। ईश्वर हमारी सहायता अवश्य करेगा। स्वामी रामतीर्थ अपने 'Secret of Success' नामक व्याख्यान में आत्मविश्वास का बड़ा सुन्दर उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि "सफलता का छठा साधन आत्मविश्वास है। हाथी का डील डौल सिंह से कहीं बड़ा होता है, किन्तु एक सिंह उनके

सारे गोल को भगा सकता है। इस रहस्य का क्या कारण है ? बात केवल यही है कि सिंह एक सच्चा वेदान्ती है। हाथी शरीर को सब कुछ मानता है इसके विरुद्ध सिंह अपनी आत्मा पर विशेष ध्यान रखता है। यद्यपि सिंह का शरीर छोटा है किन्तु वह अपने को हाथी से अधिक बली समझता है। हाथी बड़े डरपोक होते हैं, इन्हें डर लगा रहता है कि हमारा शत्रु हम पर हमला कर कहीं हमें खा न जाय। यही कारण है कि वे चालीस, पचास, सौ, दोसौ के झुण्ड में रहते और जब सोने लगते हैं तो एक मजबूत हाथी को अपना पहरेदार नियत कर लेते हैं। वे नहीं जानते कि हममे से एक, एक हजार सिंहों को मार सकता है। उन्हें अपनी आत्मा पर विश्वास नहीं है। इसलिये उनमे साहस की कमी रहती है।

उपर्युक्त उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि हाथी मे सिंह की अपेक्षा आत्मविश्वास का अभाव होता है। हाथी इतने बड़े डील डौल का जन्तु होते हुए भी अपने को निर्बल समझता है। वह यह नहीं जानता कि उस मे बड़ी शक्ति है। यह निश्चित बात है कि जो व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक कार्य मैं नहीं कर सकूंगा या अमुक कार्य करना मेरे लिये दुरुह है तो वह उस कार्य को कदापि नहीं कर पायेगा आत्मविश्वास की कमी के कारण उसमें कार्य करने के लिये उत्साह और अखण्ड उद्योगशीलता का सदैव अभाव रहेगा। जहाँ उत्साह और उद्योगशीलता का अभाव होता है वहाँ थोड़ी सी कठिनाई आते ही धैर्य टूट जाता है। बिना धैर्य के किसी महत् कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं। किसी भी महत् कार्य को पूरा करने के लिये यह आवश्यक है कि हमें अपने ऊपर पूरा भरोसा हो कि इस कार्य को हम कठिनाइयों और विघ्नबाधाओं के होते हुये भी पूरा कर सकेंगे। जिसे अपने ऊपर भरोसा नहीं वह न तो दूसरों पर भरोसा रखने का अधिकारी है और न उसपर दूसरे लोग कुछ भरोसा रख सकते हैं। यदि तुम यह सोचोगे कि हम दीन हीन और दरिद्र हैं तो तुम दीन हीन और दरिद्र बन जाओगे और यदि तुम यह सोचोगे कि हम शक्तिशाली एवं सामर्थ्यवान हैं तो तुम्हारा मनोबल बढ़ेगा और वह बढ़ा हुआ मनोबल हमारे प्रत्येक कार्य में सहायक सिद्ध होगा।

जो व्यक्ति यह सोचता है कि यह अमुक कार्य नहीं कर सकूंगा। तो उस के द्वारा उस कार्य के श्रीगणेश का प्रश्न ही नहीं उठता। उस के शरीर में कार्य के प्रति उष्णता की उत्पत्ति ही नहीं होगी बिना शारीरिक उष्णता के शक्ति का सम्पादन सम्भव नहीं। प्रत्येक कार्य के लिये शक्ति की आवश्यकता होती है ड्राईडन का कहना है कि 'They can conquer who believe they can' अर्थात् वे ही विजयी हो सकते हैं जो यह विश्वास रखते हैं कि वे विजय अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। जो यह सोचता है कि विजय संदिग्ध है उसे तो विजय प्राप्त होना सचमुच मे सन्दिग्ध है। महात्मा इमर्शन ने ठीक ही कहा है कि 'Self trust is the essence of heroism' यानी वीरता के लिये आत्मविश्वास का होना परम आवश्यक है। जो वीर नहीं वह विजय क्या प्राप्त करेगा।। जो स्वयं को निर्बल और हतोत्साही समझता है वह वीरता कहाँ से प्राप्त करेगा।

आत्मविश्वास होने पर हममें कितनी शक्ति का संचार होने लगता है इस सम्बन्ध मे मैं गतवर्ष की एक घटना का वर्णन करता हूँ। गत वर्ष २३ मई को मैंने तथा मेरे तीन और साथियों ने नैनीताल से से भीमताल जाने का निश्चय किया और प्रातःकाल जाने वाली बस द्वारा हम लोग लग भग ११ बजे भीमताल पहुँच गये। भीमताल पहुँच कर हम लोगों ने वहाँ से ७ मील से अधिक की दूरीपर स्थित सात तालों के सौन्दर्य का दिग्दर्शन का निश्चय किया। और हम लोग वहाँ से ठीक १२ बजे चल दिये। हम चार लोगों में से एक लगभग १४ वर्षीया बालिका भी थी।

दोपहर का समय था। मार्ग दुरूह और पर्वतीय होने के कारण ऊबड़ खाबड़ था। कई जगह हम लोग मार्ग न जानने के कारण चक्कर भी काट जाया करते थे। नल दमयन्ती ताल, गरुड़ताल होते हुये राम-सीता ताल पहुँचे वहाँ से हम लोग बिना विश्राम किये पैदल ही भुवाली लौट पड़े। हम लोगों को भुवाली से शाम को लगभग ५। बजे वाली अन्तिम बस द्वारा नैनीताल जाना था। राम–सीता ताल से भुवाली तक कठिन चढ़ाई थी। जैसे तैसे करके हम लोग भुवाली आये। भुवाली तक पहुँचने पर हम सभी लोग काफी थक चुके थे और विशेपतया उस वेचारी वालिका की थकान का तो वर्णन करना ही कठिन है। भुवाली वहाँ से लगभग १८ मील चढ़ाव की ओर है। भुवाली पहुँचने पर हम लोगों को ज्ञात हुआ कि अन्तिम बस तो छूट चुकी है और इस समय किसी सवारी का प्रबन्ध होना असम्भव है हम लोग बड़ी द्विविधा मे पड़ गये क्योंकि उसीदिन नैनीताल पहुँच जाना अत्यावश्यक था। हम लोग तो थके, हुये ही थे ही परन्तु हम तीनों को उस वालिका का विशेष ध्यान था। परन्तु जब मुझे यह मालूम हुआ कि वह नैनीताल तक पैदल चलने को तैयार है तो मुझे आश्चर्य हुआ। भुवाली से नैनीताल ७ मील चढ़ाव की ओर स्थित है। उसने वहाँ से चलना प्रारम्भ कर दिया। हमलोग भी चल दिये और बातों ही बातों में नैनीताल आ पहुंचे। वह वालिका नैनीताल तक चढ़ने पर भी प्रसन्न मुद्रा में थी उसके चेहरे से गम्भीर थकान की झलक का विलकुल आभास नहीं मिल रहा था। नैनीताल पहुंच कर मैंने उससे पूछा कि आप इतनी थकी होने पर भी यहाँ तक हंसते हंसते कैसे चल सकीं, तो उसने उत्तर दिया कि आप लोग मेरी थकान के कारण चलने का साहस नहीं कर रहे थे इस लिये मैंने आत्म विश्वास पूर्वक चलने का दृढ़ सकल्प किया। उसने बताया कि उसे अपने ऊपर पूरा भरोसा था।

उसी दिन मुझे आत्म विश्वास की शक्ति का जीता-जागता उदाहरण मिला।

पिछले वर्ष की बात है कि मेरा २२ दिसम्बर को लखनऊ से शाम को देहली एक्सप्रेस द्वारा पटना जाने का प्रोग्राम था। वहाँ से नालन्दा, राजगिरि पाटलिपुत्र आसनसोल, वर्नपुर, कुलटी, धनवाद, झरिया, गेकेनगर, चितरञ्जन, दामोदर-वैली, टाटानगर कलकत्ता, शान्तिनिकेतन इत्यादि स्थानों का पर्यटन करने जाना था। मैं अपने कई मित्रों को वचन दे चुका था परन्तु दुर्भाग्यवश २१ दिसम्बर की रात को मुझे तीव्र ज्वर चढ़ आया ज्वर इतना तीव्र था कि रात्रि भर मैं वेहोश पड़ा रहा। मैंने सोचा कि अब दूसरे दिन पर्यटन के लिये किस प्रकार जाना हो सकेगा ? अन्त में मैंने पूर्ण एव दृढ़ निश्चय किया कि कुछ भी हो, मैं पर्यटन को अवश्य जाऊँगा और अपना इरादा सुबह होते ही अपने साथियों को बतला दिया। मेरे साथियों ने मुझे बहुतेरा समझाया कि इस स्थिति में पर्यटन के लिये आपका जाना उचित न होगा किन्तु मुझे नैनीताल वाली पिछली घटना स्मरण हो पर न जाने मुझमें किवमा आत्म–विश्वास आगया। मुझे विश्वास होने लगा कि मैं आज दोपहर तक कुछ कुछ सुधरी अ स्था को प्राप्त हो सकूँगा। आत्मविश्वास और दृढ़ सकल्प को बल पर हुआ भी ऐसा ही। मैंने स्वयं ही पर्यटन के जाने के लिये दोपहर वाद अपना माल असबाब ठीकफर बाँधा और शामतक मेरी अवस्था मे सतोपजनक परिवर्तन था। मैंने अनुभव किया कि यह सब आत्मविश्वास का चमत्कार था। इन अनुभवों के अतिरिक्त ऐसे कई प्रसंग आये जब मैंने अनुभव किया कि आत्मविश्वास के आधार पर ही अमुक कार्य बिना साधन के सम्पन्न हो सका। अतः आत्मविश्वास जागृति के लिये "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् "मैं परमात्मा हूँ" और "कोई भी कार्य

करने की मुझमे सामर्थ्य है" मन्त्र का जाप चलते-फिरते भी करते रहना चाहिये। इससे आत्मशक्ति का विकास होगा और आप मे आशा और स्फूर्ति का सचार होगा। आप आत्मविश्वास के बल पर ही महान बन सकेंगे।

"अहं ब्रह्मास्मि"

भक्त-वृत्रासुर

(लेखक—चन्द्रशेखर पाण्डेय "चन्द्रमणि" बन्नाव रायबरेली)

प्रत्येक देस, प्रत्येक जाति और प्रत्येक समाज, एवं खग मृग जीवों के मध्य मे भी भक्तों ने अवतार धारण किया है। भक्तों की कोई खास जाति नहीं, कोई निर्दिष्ट रूप नहीं, प्रत्युत् उनके आन्तरिक स्वभाव के ही लक्षणों से उनका परिज्ञान किया जा सकता है भक्तवर हनुमान और जामुवन्त का कौन उत्तम वेष था ? फिर भी—

किये कुवेष साधु सनमानू ।
जिमि जग जामुवन्त हनुमानू ॥

कुछ भक्त ऐसे भी हुए जिनके लक्षणों से यह कोई नहीं कह सकता था कि ये भक्त हैं। उदाहरण मे शिशुपाल और कसादिकों का नाम आता है, ये भक्त वैरानुबन्ध से भगवान को प्राप्त हुए हैं। श्री नारद जी के तो यह वचन है कि जितना प्राणी वैरानुबन्ध से ईश्वर की तन्मयता को प्राप्त होता है, उतना भक्ति योग से नहीं। भ्रमरी के द्वारा पकड़ा गया कीट मिट्टी के उस कैदखाने मे वाह्य ससार का ज्ञान छोडकर—भ्रमरी को ही भय से सोचता हुआ उसी के अनुरूप हो जाता।

कीटः पेशस्कृता रुध्दः कुड्यायां तमनुस्मरन् ।
संरम्भभययोगेन विन्दते तत्सरूपताम् ॥
एवं कृष्णे भगवति मायामनुज ईश्वरे ।
वैरेण पूतपाप्मानों तमापुरनुचिंतया ॥

उपरोक्त दोनों कोटि के भक्तों के अतिरिक्त मुझे एक तीसरी कोटि के भक्त चरित्र पर प्रकास डालना है। इस भक्त का नाम था 'वृत्र'। असुर जाति में उत्पन्न होने के कारण इसे लोग 'वृत्रासुर' कहते थे। भागवत के षष्टस्कन्ध के नवें अध्याय से इसका वर्णन आता है। देवराज इन्द्र के द्वारा विश्वरूपाचार्य का शिरच्छेदन होने पर त्वष्टा ने अभिचार यज्ञ किया। "इन्द्रशत्रों विवर्धस्व मा चिरजहि विद्विषम्" मंत्र का उच्चारण हुआ। किन्तु 'इन्द्रसत्रों' षष्ठी के स्थान मे सम्वोधन बन जाता है। इस उच्चारण दोष के कारण वही 'वृत्र' इन्द्र के द्वारा मारा जाता है।

रज-तम-मिश्रित प्रकृतिवाले वृत्रासुर को हम एक अभिचारिक मशीन कह सकते हैं जो ऐरावत वाहन सहित इन्द्र को निगल गया था और जिसके शिर को इन्द्र ने एक वर्ष तक परिश्रम करके काटा था, उसके आकार प्रकार एव रूप के विषय में श्रीवादरायण जी ने इस प्रकार लिखा है:—

अथान्वाहार्यपचनादुत्थितो घोर दर्शनः
कृतान्त इव लोकानां युगान्त समये यथा।
विश्वग्विवर्धमानं तमिषुमात्रं दिने दिने ॥
दग्ध शैल प्रतीकाशं सन्ध्याभ्रानीक वर्चसम्।
तप्तताम्रशिखाश्मश्रु मध्याह्नार्कोग्रलोचनम् ॥

हवन कुण्ड से घोर मूर्ति के रूप में वृत्र प्रकट हुआ। युगान्त समय में लोगों को नष्ट करने के लिये कृतान्त के समान उसका रूप, एवं जले हुए काले पर्वत के समान रंग, सान्ध्य-बादल समूह के समान

तेज था। वह प्रतिदिन एक बाण प्रमाण बढ़ाता था, उसके बाल तपाये हुए ताम्र के समान थे, और दोपहर के सूर्य समान नेत्रों की ज्योति थी। जब वह जंभाई लेता था तो मानों त्रिलोक को ग्रस लेना चाहता था। यह था उसका रूप, जो दूसरे के वध करने को तमोगुणी नियम से उत्पन्न हुआ था, परन्तु उसका शुद्ध हृदय देखिये तो आप प्रेम से गद्‌गद हो जायेंगे वह पूर्व जन्म का चित्रकेतु राजा था, वह अंगिरा और नारद जी के द्वारा विद्या पाकर श्री विद्याधराधिपति सकर्षण भगवान् की कृपा से विद्याधरत्व प्राप्त करके बरसों आकाश मडल में विचरता हुआ भजन करता रहा। अन्त मे श्री गौरी जी के शाप के कारण उसे दैत्य होना पड़ता था। उसने रूप खोया, वाह्य-स्वभाव खोया किन्तु अपनी प्रिय भक्ति नहीं खोया।

श्री महाविष्णु की आज्ञा से देवराज इन्द्र ने दधीचि की अस्थियों से निर्मित बज्र ग्रहण किया, सदल चल पड़े। उधर वृत्र के सहायक दैत्य गण भी समरांगण मे आये। देवदल ने दैत्यों को पराजित किया। भागे हुए दैत्यो से वृत्र कहता है, उसके ज्ञानविराग भरे वचन उल्लेखनीय है।—

जातस्य मृत्युर्ध्रुव एष सर्वतः,
　　प्रतिक्रिया यस्य न चेह क्लृप्ता।
लोको यशश्चाथ ततो यदि ह्यमु,
को नाम मृत्यु न वृणीत युक्तम् ॥

कायरों! क्यों भागकर अपमान करा रहे हो? 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु' के अनुसार जो पैदा हुआ है, उसको मृत्यु अवश्य है। मृत्यु की प्रति क्रिया है ही नहीं। और युद्ध भूमि की मृत्यु श्रेष्ट है, लोक मे यश देने वाली है, तो ऐसी मृत्यु की क्यों न स्वागत किया जाय?

दैत्यों ने उसकी शिक्षा सुनी ही नहीं, तब उसने देवताओं को धिक्कारा कि "क्यों भागे का पीछाकर रहे हो? मेरे सामने आओ, मुझे जीवन की इच्छा नही।" इतना कहकर उसने गंभीर नाद किया, जिसके श्रवण से ही देवगण मूर्च्छित हो गये तब जैसे हाथी कमल वन को मर्दित करता है उसी प्रकार वृत्र ने देवसैन्य को मर्दित किया। इन्द्र ने गदा मारी उसने हाथ से छीन कर उल्टे ऐरावत के कुम्भस्थल पर प्रहार किया। उस प्रहार से द्विप सात धनुष पीछे पिछड़कर रक्त वमन करने लगा। देवराजइन्द्र उसके पराक्रम से आश्चर्य चकित हो गये। वे अपना कर्तव्य भी भूल गये। वृत्र ने उन्हें कर्तव्य का ज्ञान कराते हुये कहा—"देवेंद्र! आप मुझे मारे तो मेरा पूर्ण हित हो। मै अपने शरीर से प्राणी वलि करके उऋण मनस्वियों की चरणरज को प्राप्त हूँगा।" इतनाकहकर वह मन वचन और कर्म से भगवत्शरणमति की ओर अग्रसर होता हुआ अपने इष्टदेव से कहने लगा।

अह हरे तव पादैक मूल
　　दासानुदासो भवतास्मि भूय।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
　　गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥

कितना सुन्दर आत्मसमर्पण है। उपरोक्त श्लोक का विस्तृत भाव एक छन्द मे पढ़िये—

वाणी से गुणानुवाद गाऊँ दिन रैन प्रभु!
　　श्रवणों की शक्ति शुभ नाम की बनी रहे ॥
शिर से नमित हो प्रणाम करूँ बार-बार,
　　मन की ज्योति नित शोभा में बनी रहे।
स्मृति के अथाह सिंधु में किलोल मारे मन,
　　चरण-सरोजन में दृढता घनी रहे।
'चन्द्रमणि' मांगै वरदान ये विनय-युत,
　　मेरी देह आपके सनेह में सनी रहे।

युद्ध करते करते उसके परिघयुक्त हाथ को इन्द्र

ने काट लिया, फिरभी किंचित् अधीरता नहीं, उसी प्रकार युद्ध करता हुआ हरिस्मरण कर रहा है। समरस्थल, जो क्रोधोत्पत्ति का स्थल है, उसमें इतना मन. सयम आश्चर्य की बात है। मानस के मतानुसार जहाँ.—

कोटि कोटि मुनि जतन कराहीं।
अंत राम कहि आवत नाहीं॥

वहाँ दानव होकर भी गीतोक्त "मामनुस्मर युद्ध्य च" का अमल आदर्श विश्व के सम्मुख रख दिया। उसने प्रभु से विनय किया कि मैं स्वर्ग परमेष्ठि-पद या सार्वभौम-पृथ्वीपतित्व की इच्छा नहीं करता, न योग सिद्धि ही चाहता हू, यहाँ तक कि मोक्ष भी नहीं चाहता। मैं—मैं केवल आपको चाहता हू। ठीक—

न नाक पृष्ठं न च पारमेष्ठ्य,
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा,
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे।

युद्ध के साथ ही ध्यान मे प्रभु से वार्तालाप कितना सुन्दर है। प्रभु-प्राप्ति की इतनी व्याकुलता ही.—

"तदप्राप्तिर्मह दु.खं"

बनकर प्रभु के निकट पहुँचा रही है। वह प्रत्येक क्षण विकलता में प्रभु से आवेदन कर रहा है—"दयामय! आपका वियोग अब असह्य हो रहा है, कब तक तरसाओगे? शीघ्रही अपना दर्शन दो. मैं आपके बिना इसप्रकार व्याकुल हू जैसे बिना पख के खग शावक माता के लिये दिन भर से क्षुधित् नवजात बछडे बाहर चरने गयी हुई गोमाता के स्तन लिये या जैसे कोई विरहिनी कोई प्रिया अपने प्रवासी पति के लिये व्याकुल होती है, उसी तरह से हे कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनों के लिये व्याकुल हो रहा है।

अजातपक्षा इव मातरं खगाः,
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा,
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

श्यामसुन्दर के दर्शन की इतनी उच्च अभिलाषा—वह भी तमोगुण मय युद्ध के वायु मण्डल मे—प्रशसनीय है। आदर्श वही जिस की प्रशंसा शत्रु भी करे। अंतत.गत्वा विपक्षी इन्द्रदेव भी कहने लगे—हे दानव; तुम वास्तव मे सिद्ध हो, जिसकी बुद्धि परमात्मा मे लग जाय. वही तो सिद्धरूप है। ससार को मोहन करने वाली वैष्णवी माया को तुम वास्तव मे तर गये। क्यों कि आसुरी स्वभाव को छोड़कर तुमने महापुरुषता को प्राप्त किया है। महान् आश्चर्य है कि तुम जैसे रजोगुणी प्रकृतिवाले व्यक्ति की वासुदेव भगवान—जो वास्तव मे सत्वगुणमयी हैं—उन में दृढ़ प्रीति है। अपवर्ग के स्वामी श्री हरि में जिसकी इतनी निष्ठा हो, उसको विश्व—सुख से क्या है! ठीक उसी तरह जैसे अमृत समुद्र में स्नान करने वाले को क्षुद्र खत्ती के जल से कोई प्रीति नहीं रहती।

यह थी उस भक्त की निष्ठा। अपने अपूर्व साधन के कारण असुर वृत्र ने जीवनमुक्त की दशा प्राप्त करली थी। और शरीर त्याग के बाद उसका आत्मज्योति विश्व के देखते ही देखते अपवर्ग को प्रस्थान कर गई।

वृत्रस्य देहान्निष्क्रान्तमात्मज्योतिररिंदम।
पश्यतां सर्वलोकानामलोकं समपद्यत॥

धन्य हो महाराज, वृत्र! तुम्हारी प्रससनीय नवधा भक्ति ने विश्व के साहित्य में अमर पद पा लिया और तुमने वह स्थान पाया जिसके लिये उस अविनाशी के वचन हैं—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

सत्संग--समाचार

तीर्थराज प्रयाग का सत्संग

२५ अक्टूबर सायंकाल को पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज इलाहाबाद पधारे। स्टेशन पर सैकड़ों भक्तों ने स्वामी जी का हार्दिक स्वागत किया। रात्रि को ८॥ से १० तक श्री हरीराम ऐण्ड सन्स के निवास पर, अपार जन समुदाय में महाराज का प्रवचन हुआ। प्रातः ६ से ७॥ तथा रात्रि में ८ से ९॥ तक अग्रवाल विद्यालय इन्टर कालेज में स्वामी जी के प्रवचन ४ दिवस हुए। सहस्रों की संख्या में मंत्र-मुग्ध जनता ने महाराज के हृदयस्पर्शी प्रवचनों से लाभ उठाया। भाषण से प्रभावित व्यक्तियों ने दुर्गुणों का परित्याग किया सारस्वत खत्री हाई स्कूल के १४५ विद्यार्थियों ने दुर्गुण त्याग की लिखित प्रतिज्ञा की। श्री अनन्तगोपाल एडवोकेट तथा श्री गजाधर प्रसाद एडवोकेट के निवास स्थानों पर भी श्री स्वामी जी के प्रवचन हुए। २९ को रात्रि में सहसा टेलीग्राम आजाने से स्वामी जी मुमुक्षु आश्रम चले गए।

प्रेषक—श्री विश्वंभरनाथ अग्रवाल

तिलहर में सत्संग

पं० मेवाराम जी शास्त्री के विशेष आग्रह से ७ नवम्बर कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को सायंकाल परमपूज्य स्वामी शुकदेवानन्द जी और स्वामी सदानन्द जी तिलहर पधारे। गोवर्धन महोत्सव के उपलक्ष में आयोजित सभा में दोनों महापुरुषों तथा गयाप्रसाद शास्त्री के प्रवचनों से उपस्थित जनता लाभान्वित हुई। ८ और ९ ता० को श्री 'मंजुल' जी के सुमधुर संकीर्तन और कथा से भावुक भक्तों को विशेष आनन्द हुआ। ९ ता० को सायंकाल को शाहजहाँपुर नगरपालिका के नव-निर्वाचित अध्यक्ष श्री विशनचन्द्र सेठ तथा श्री स्वामी सदानन्दजी सरस्वती पधारे। सेठ जी और श्री स्वामी के भाषणों का लाभ प्राप्त करने के लिए अपार जनसमुदाय एकत्रित हुआ।

बरेली में दैवीसम्पद्मण्डल का महोत्सव

श्री १०८ स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज की अध्यक्षता में १०, ११, १२ नवम्बर को बरेली में श्री दैवीसम्पद् मन्डल का चतुर्थ वार्षिकोत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ। इस महोत्सव में सम्मिलित होने वाले पूज्य स्वामी भजनानन्द जी, स्वामी प्रकाशानंद जी, स्वामी समतानन्दजी स्वामी सदानन्द जी योगिराज जी श्यामप्रकाश जी श्री 'मंजुल' जी पं० दुर्गाप्रसाद जी 'सरल' श्री शंकरानन्दजी प्रतिवादी "भयंकर" और पं० रामप्रसादजी अवस्थी के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रातःकाल ६ बजे से ७॥ तक ध्यान के कार्यक्रम में भी पर्याप्त भीड़ होजाती थी सायंकाल ३ से ८॥ तक सहस्रों भावुक नर-नारियों ने सत्संग से अपूर्व लाभ उठाया। १३ ता० को सायंकाल मेल ट्रेन से स्वामी जी ने परमार्थ निकेतन-स्वर्गाश्रम के लिए प्रस्थान किया। परमार्थ निकेतनकी पावन पुण्यस्थली में कार्तिक पूर्णिमा तक सत्संग का बहुत सुन्दर आयोजन रहेगा।

प्रेषक—श्री रामस्वरूप गुप्त

प्रातः स्मरणीय, ब्रह्मलीन श्री उड़िया बाबा के भक्तों से आवश्यक निवेदन

श्री उड़ियाबाबा ट्रस्ट कार्यालय वृन्दावन की ओर से एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई है कि श्री महाराज का जीवन-चरित्र और उपदेशों की पुस्तक प्रकाशित होने जारही है। ट्रस्ट समिति ने उनके प्रेमी भक्तों से, उनके संस्मरण भेजने का आग्रह किया है। अतएव उन पूज्यचरण के सम्बन्ध में जिन भक्तों को जो कुछ विदित हो अथवा उनके संबंध में जैसे अनुभव हों उनकी विस्तृत सूचना ३० नवम्बर तक निम्नलिखित पते पर अवश्य भेज दें। प्रकाशित विज्ञप्ति भी इसी कार्यालय से प्राप्त हो सकती है।

पता—गोविन्द दास वैष्णव
श्री स्वामी पूर्णानन्द तीर्थ (श्री उड़िया बाबा—ट्रस्ट कार्यालय)
श्रीकृष्णाश्रम (दावानल) पो० वृन्दावन
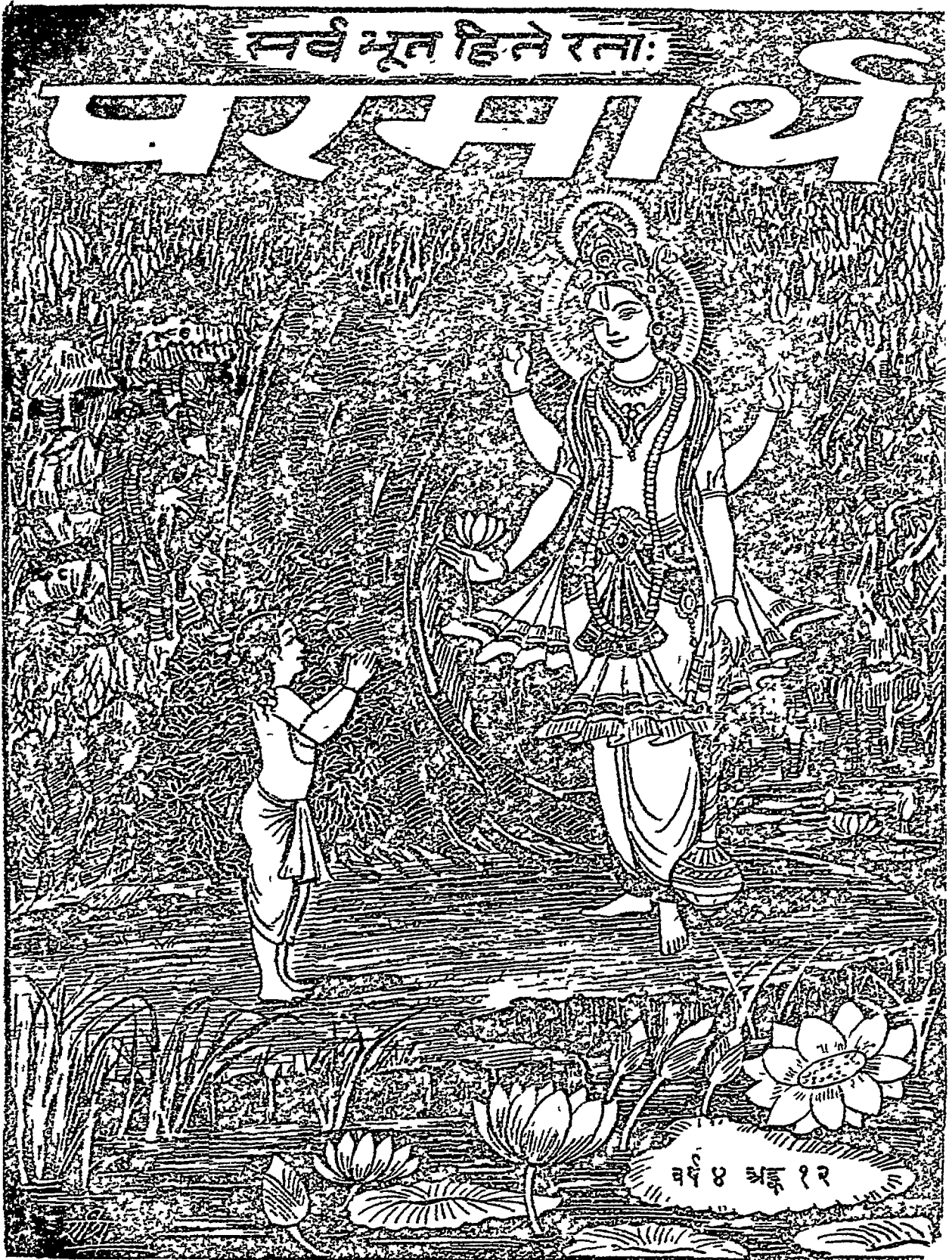
पवित्र मासिक-पत्र

वार्षिक मूल्य ४।।)

विदेश के लिये ८)

अध्यात्मपूर्ण मासिक-पत्र

दैवी गुण विकासक, शान्ति संस्थापक, भक्ति ज्ञान वैराग्य सदाचार आदि अध्यात्मवाद प्रचारक, श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का प्रमुख सुवर्णपूर्ण सचित्र मासिक-पत्र

संस्थापक—

श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज

श्री १०८ श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज

सम्पादक—

स्वामी सदानन्द सरस्वती,

राजाराम पाण्डेय 'मञ्जुल'

विषय सूची

सहायक सम्पादक:—

सर्वश्री पं० भोलानाथ द्विवेदी व्याकरण-साहित्याचार्य धर्म शास्त्री एम, ए०, रमाधार पाण्डेय 'राकेश' साहित्य-व्याकरणाचार्य, पं० गंगाप्रसाद त्रिपाठी शास्त्री "साहित्यरत्न" रामशंकर वर्मा एम० ए० "साहित्यरत्न" शालग्राम कश्यप, रामरक्षपाल गुप्त।

चलो कुम्भ चलें

श्री दैवी सम्पद् महामण्डल का कैम्प पूज्यपाद स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज के संरक्षण में तीर्थराज की पावन भूमि में कुम्भ के पुनीत अवसर पर लग रहा है। मंडल के विशाल पंडाल में भारत के सुविख्यात संत-महापुरुषों, महामण्डलेश्वरों एवं विद्वानों की पावन वाणी के प्रसाद से अपना मानव जीवन सफल बनाइये।

विगत अर्द्धकुम्भी के अवसर पर दैवीसम्पद् मंडल के कैम्प में भक्तों के ठहरने की जैसी सुविधा रही थी, वैसा ही प्रयत्न इस विराट कुम्भ के अवसर पर भी हो रहा है। भक्तों की सेवा में कोई त्रुटि न हो, ऐसी पवित्र भावना रखते हुए भी, संभव है कि स्थानाभाव की विवशता से हम उपयुक्त सेवा न कर पावें। अधिक से अधिक स्थान मिलने के लिये विशेष प्रयत्न हो रहे हैं। यदि समुचित स्थान मिल गया तो भक्तों को कोई असुविधा नहीं रहेगी, भोजन आदि की भी यथासंभव व्यवस्था की जावेगी।

दैवी सपद् मंडल के कैम्प में ठहरने के इच्छुक सज्जनों की सेवा में निवेदन है कि वे अपने आगमन की सूचना अवश्य भेज दें। जो सज्जन अपनी राउटी स्वयं लाकर मंडल के कैम्प में लगाना चाहें वे भी सूचना भेज दें, उन्हें स्थान देने का यथा सम्भव प्रयत्न किया जायगा। दैवी सम्पद् मण्डल की ओर से अधिकाधिक राउटियाँ लगाने का प्रयत्न हो रहा है। मंडल का कैम्प गंगा जी के उस पार कूसी के मैदान में ठीक त्रिवेणी के सामने उस पार रहेगा।

पत्र व्यवहार निम्न लिखित पते से करें—

व्यवस्थापक
(कुम्भ मेला, विभाग)
मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर

---

१४ जनवरी से कुम्भ मेले का पता—
श्री दैवी सम्पद् महामण्डल
कुम्भ मेला प्रचार कैम्प
गंगापार त्रिवेणी के सामने, प्रयाग

आवश्यक-निवेदन

'परमार्थ' के चतुर्थ वर्ष का यह अन्तिम अङ्क आपके कर कमलों में है। इस अङ्क के पश्चात् आपका इस वर्ष का शुल्क समाप्त हो जायगा। (हाँ, जो महानुभाव १०१) भेजकर 'परमार्थ' के आजीवन सदस्य बन गये हैं अथवा बन जायँगे—उनके शुल्क समाप्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता)। यह तो आप स्वयं ही अनुभव कर रहे होंगे कि 'परमार्थ' अपने उद्देश्य के अनुसार सरल एवं सुबोध भाषा द्वारा ऊँचे से ऊँचे आध्यात्मिक विचारों को आपकी सेवा में पहुँचाने का सफल प्रयत्न कर रहा है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई ग्राहक संख्या इसकी उपयोगिता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता से प्रभावित होकर सामयिक परिस्थिति एवं अशान्त वातावरण के उपयुक्त 'परमार्थ' के पंचम वर्ष का विशेषाङ्क 'चरित्र निर्माणाङ्क' प्रकाशित हो रहा है।

इस विशेषाङ्क में भारत के तपःपूत वन्दनीय संतों की कल्याणमयी लेखनी द्वारा गूढ तत्त्वों का अनुभव पूर्ण विवेचन सरल और सुबोध भाषा में आपको मिलेगा। देश के माने हुए चोटी के विद्वानों, महापुरुषों एवं राजनेताओं के सुन्दर सारगर्भित लेखों से आपका गृहस्थाश्रम, कलहपूर्ण, सन्ताप और अशान्त वातावरण से मुक्त होकर प्रेम और सुख-शान्तिमय बनेगा तथा हमारे राष्ट्र के नैतिक उत्थान में इस विशेषाङ्क से सहयोग प्राप्त होगा—ऐसी हमें पूर्ण आशा है। इसी भावना से यह

चरित्र निर्माण अङ्क' प्रकाशित किया जा रहा है।

इस विशेषाङ्क को ठीक समय पर पाठकों की सेवा में पहुँचाने का सतत परिश्रम किया जा रहा है। बहुत पहले से ही मनिआर्डर आने प्रारम्भ हो गये हैं, अतएव ऐसा अनुमान होता है कि "चरित्र-निर्माणाङ्क" ने बहुत पहले से ही प्रेमियों के हृदय में अपना स्थान बना लिया। परन्तु अपनी प्रति सुरक्षित कराने के लिये कृपया शीघ्र ही ३।।) 'परमार्थ' मनिआर्डर भेज दीजिये। वी० पी० खर्च से मुक्त रहने के लिये मनिआर्डर यदि आप पहले भेजेंगे तो आपकी ।।=) की बचत हो जायगी क्योंकि वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क जाने पर नियमानुसार डाक व्यय ग्राहक को ही देना पड़ता है।

पत्र व्यवहार में अथवा मनिआर्डर के कूपन में अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखदें। यदि नम्बर याद न हो तो 'पुराने ग्राहक' लिखना न भूलें अथवा यदि नवीन ग्राहक हों तो 'नवीन' लिखदें, इससे कार्यालय को सुविधा रहेगी। अपना नाम और पता साफ-साफ लिखने की कृपा करें।

किसी विशेष कारणवश यदि ग्राहक न रहना चाहें तो मनाही कार्ड अवश्य भेजदें। कार्ड से व्यय होने वाले आपके)।। परमार्थ के कई आनों तथा श्रम की बचत करेंगे। जिन ग्राहकों की मनाही की कोई सूचना नहीं आवेगी तो उनकी सेवा में नियमानुसार १४ जनवरी के बाद विशेषाङ्क वी० पी० द्वारा भेजना आरम्भ होजायगा। अतएव मनीआर्डर भेजने में शीघ्रता करें।

कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि आप उधर से मनीआर्डर भेज चुके हों और इधर से वी० पी० आपकी सेवा में भेज दी जावे। ऐसी परिस्थिति में कृपया वी० पी० लौटावें नहीं वरन कोई नवीन ग्राहक बनाकर कार्यालय को सूचित करदें। आपके ऐसे सहयोग से 'परमार्थ' व्यर्थ की हानि से बचकर आपका आभारी होगा।

सार्वजनिक एवं धार्मिक संस्था की वस्तु होने के नाते "परमार्थ" आपकी अपनी ही वस्तु है। आर्थिक हानि सहन करते हुए भी चार वर्षों में 'परमार्थ' के द्वारा जो सराहनीय सेवा हुई है वह आपसे छिपी नहीं है। अधिकाधिक प्रचार और प्रसार में इसे आपके सहयोग की आवश्यकता है। अतएव स्वयं तो आप 'परमार्थ' के ग्राहक बने ही साथ ही अपने इष्ट-मित्रों और सम्बन्धियों में से कम से कम एक-एक ग्राहक और बनाकर इस आध्यात्मिक ज्ञान-यज्ञ द्वारा पुण्य-लाभ प्राप्त करें। आपके ऐसे क्रियात्मक सहयोग से परमार्थ सबल और स्वावलम्बी बनकर चिरकाल तक जनता-जनार्दन की सेवा करता रहेगा।

आपके प्रेममय सहयोग में ही 'परमार्थ' की सफलता सन्निहित है।

बम्बई निवासी श्री मदनमलजी धाजोरिया बजरंग भाई, इलाहाबाद के श्री विश्वम्भरनाथजी मोतीलाल जी व श्री [illegible]जी, देहली के श्री चाँद किशोर तथा नाथूलाल जी, कानपुर के श्री मोतीलालजी अग्रवाल, मैनपुरी के रामगोपालजी [illegible], फिरोजाबाद के श्री राम-गोपालजी मित्तल, आगरा के श्री विश्वम्भरनाथजी. खंडेलवाल, सेठ [illegible]जी स्पेशल मजिस्ट्रेट तथा श्रीमती [illegible] देवी, भिवानी के श्री गोवर्धन-दासजी [illegible], शाहाबाद के श्री रामेश्वरदयाल जी आदि, [illegible] के श्री पं० [illegible] जी शास्त्री तथा जगन्नाथ जी, शाहजहाँपुर के श्री घासीरामजी, श्री[illegible]जी [illegible] तथा श्री श्रीकृष्ण जी आदि तथा अन्य कई प्रेमी महानुभावों ने निःस्वार्थ भाव से परमार्थ के ग्राहक बनाये व बना रहे हैं. उन सब के हम आभारी हैं। उनके सहयोग का क्या प्रत्युपकार किया जा सकता है। 'परमार्थ' कार्य में जो सच्चे हृदय से सहायता करते हैं वे भगवत्कृपा के पात्र हैं। इस बार भी पूर्ण आशा ही नहीं वरन पूर्ण विश्वास है कि सभी प्रेमी लगन पूर्वक विशेष चेष्टा करके पुराने ग्राहकों से शुल्क शीघ्र भिजवायेंगे तथा नवीन ग्राहक बनाने का सतत प्रयत्न करते रहेंगे।

निवेदक—सम्पादक

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तुनिरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत् ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्यात्मना वानुसृतःस्वभावात् ॥
करोमि यद् यत् सकल परस्मै, नारायणायेव समर्पयेतत्॥

वर्ष ४ } मुमुक्षु आश्रम, शाहजहाँपुर १५ दिसम्बर १९५३ { अङ्क—१२
मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी मंगलवार, सम्वत् २०१०

आयो सरन सबेरें

ताहि तें आयो सरन सबेरें ।
ग्यान बिराग भगति साधन कछु सपनेहुँ नाथ ! न मेरें ॥१॥
लोभ-मोह-मद-काम-क्रोध रिपु फिरत रैन-दिन घेरें ।
तिनहिं मिले मन भयो कुपथ-रत, फिरै तिहारेहि फेरें ॥२॥
दोष-निलय यह विषय सोक-प्रद कहत संत श्रुति टेरें ।
जानत हूँ अनुराग तहाँ अति सो, हरि तुम्हरेहि प्रेरें ! ॥३॥
विष पियूष सम करहु अगिनि हिम, तारि सकहु बिनु बेरें ।
तुम सम ईस कृपालु परम हित पुनि न पाइहौं नेरें ॥४॥
यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरें ।
तुलसिदास यह बिपति बागुरौ तुम्हहिं सो बनै निबेरें ॥५॥

परमार्थ-बिन्दु

विचार करो—माता कई घंटों से बच्चे को बुला रही है परन्तु बच्चा खिलौनों के साथ खेल मे इतना मस्त है कि उसे माँ के पास जाना तो दूर रहा—उसकी याद भी भुला बैठा। माँ के द्वारा भेजा गया एक व्यक्ति उसके खिलौने छीन लेता है तो बच्चा रोता-चिल्लाता है बडा दुखी होता है परन्तु वहाँ अपना सहायक कोई नहीं पाता। जानते हो अब उसका सहायक कौन है? वह किसके पास दौड़कर जायगा? माँ के पास। वह माँ के पास रोता-चिल्लाता जाता है और शिकायत करता है कि किसी ने मेरे खिलौने छीन लिये। माँ उसे प्रेम से समझाती है "बेटा! तुम प्रात काल से खेल रहे थे, मैंने तुम्हें कितनी बार बुलाया परन्तु तुम तो इन खिलौनों के साथ खेलने में इतने मस्त हो गये कि मुझे भी भूल गये। इसीलिये तो मुझे उस व्यक्ति को तुम्हारे खिलौने छीनने के लिये भेजना पड़ा।" ठीक इसी प्रकार, हम लोग जब इन धन-मकान, स्त्री-पुत्र, मान-प्रतिष्ठा आदि खिलौनों मे मस्त होकर परम-पिता परमेश्वर को भूल जाते हैं तो वे हमारी अनुकूलता छीन लेते हैं और हम बड़े दु.खी होते हैं। तब हम और कोई सहायक नहीं पाकर भगवान को याद करते हैं तथा उनकी शरण ग्रहण करते हैं। सोचो तो क्या खिलौने रूपी अनुकूलता (सुख) छीनने मे भगवान की असीम कृपा नहीं? अवश्य है परन्तु अज्ञानी समझ नहीं पाते।

विचार करो—पहाड़ की चोटी पर पहुँचने के कई मार्ग हैं। एक पथिक एक मार्ग से चढ़ता है—कुछ ऊपर चढ़ जाने पर देखता है कि दस व्यक्ति दूसरे मार्ग से चढ रहे हैं। वे दसों व्यक्ति कहते हैं कि पहला मार्ग गलत है तुम इस दूसरे मार्ग पर हमारे साथ आजाओ तभी ठीकठीक चोटी पर पहुँच पाओगे। बेचारा पहला पथिक असमञ्जस में पड़ जाता है और अधिक संख्या (Majority) देख कर पहला मार्ग छोड़कर दूसरे मार्ग द्वारा चढ़ना प्रारम्भ करता है। दूसरे मार्ग पर भी कुछ ऊपर चढ़ने पर देखता है कि तीसरे मार्ग से सैकड़ों पथिक दूसरे मार्ग के पथिकों को पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि "तुम लोग गलत मार्ग पर हो। यह तीसरा मार्ग बिल्कुल ठीक है। तुम सब यदि चोटी पर पहुँचना चाहते हो तो इसी मार्ग पर चले आओ।" वह व्यक्ति अब फिर असमञ्जस में पड़कर पथिकों की अधिकाधिक संख्या देख कर तीसरे मार्ग पर चला जाता है।

बेचारा पथिक कभी पहले मार्ग पर, कभी दूसरे मार्ग पर तथा कभी तीसरे पर चढ़ता उतरता अर्थात् भटकता है और कभी चोटी पर नहीं पहुँच पाता। एक अन्य महापुरुष जो चोटी पर चढ चुका है, इन पथिकों की ओर देखकर दयावश चिल्ला चिल्ला कर कह रहा है कि तुम किसी भी एक मार्ग पर चढ़ो-उसे छोड़ो नहीं-चोटी पर अवश्य पहुँच जाओगे। जानते हो वह भटका हुआ पथिक कैसे चोटी पर पहुँच सकेगा? वह उस चोटी पर पहुँचे हुए महापुरुष की आज्ञानुसार (जो बीच मार्ग मे हैं उनकी बकवाद न सुनता हुआ) किसी भी एक मार्ग पर चढ़ता ही जाय तो वह चोटी पर अवश्य पहुँच जायगा। इसी प्रकार आनन्द कन्द भगवान की प्राप्ति कराने वाले विभिन्न महापुरुष परमार्थ पथिकों की सरलता हेतु हित-भावना पूर्वक अनेक मार्ग (साधन) बताते हैं। जो साधक किसी एक महापुरुष के बताये हुए साधन (मार्ग) पर चले तो निश्चय ही परमात्मा की प्राप्ति कर लेगा। जो दूसरे महापुरुष द्वारा बताये गये साधन का खण्डन करके अपने साधन को श्रेष्ठ बताते हैं वे स्वयं भूले हुए हैं-पहुँचे हुए नहीं। साधकों को उनके बहकावे में नहीं आना चाहिये और अपने ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के बताये हुए मार्ग पर ही चलना चाहिये।

"आनन्द"

सन्त वाणी

(एक ब्रह्मनिष्ठ सन्त के उपदेश से)

प्रेम प्रेम-पात्र करते हैं, प्रेमी नहीं, क्योंकि प्रेम वह कर सकता है जिसको अपने लिये कुछ भी आवश्यकता न हो। प्रेमी को प्रेम-पात्र की आवश्यकता होती है अतः प्रेमी बेचारा प्रेम नहीं कर पाता।

प्रेमी केवल प्रेम-पात्र से अपनत्व करता है। अपनत्व परम पवित्र तथा सबल भाव है, क्योंकि अपनत्व हो जाने पर और किसी भी प्रकार की योग्यता सम्पादन करना शेष नहीं रहता। अपनत्व वह बल है कि जिसके आ जाने पर प्रेमी का प्रेम-पात्र, स्मरण, चिन्तन, ध्यान करते हैं, अथवा यों कहो कि प्रेमी को प्रेम-पात्र प्यार करते हैं। प्रेम पात्र के प्यार के सिवाय और किसी का प्यार स्वीकार न करना प्रेमी का परम कर्त्तव्य है।

जब तक प्रेमी को प्रेम-पात्र का प्रेम नहीं मिलता, तब तक प्रेमी असह्य व्याकुलता का अनुभव करता है। पवित्र व्याकुलता प्रेमी का स्वरूप है। उस व्याकुलता को अखड आनन्द में विलीन कर देना प्रेम-पात्र का प्रेम है, अत. यह भी भली प्रकार सिद्ध हो जाता है, कि प्रेम पात्र-प्रेम करते हैं और प्रेमी अपनत्व करता है।

पूर्ण अपनत्व करने के लिये अस्वाभाविक संयोग अर्थात माने हुए सयोग काल में ही वियोग अनुभव करना परम अनिवार्य है, क्योंकि सद्‌भाव-पूर्वक पूर्ण अपनत्व दो विरोधी सत्ताओं में नहीं हो सकता।

अनेक माने हुए सयोगों में से जब कभी किसी एक सयोग का वियोग होता है, तब प्राणी घोर व्याकुलता का अनुभव करता है। यदि सभी सयोगों का वियोग हो जाय, तब कितनी अनन्त व्याकुलता होगी, वह कहने मे नहीं आती। जो प्राणी उस अनन्त व्याकुलता से बचने का प्रयत्न करता है, वह सच्चा प्रेमी नहीं हो सकता। जिस प्रकार सभी का वियोग होने पर घोर व्याकुलता का अनुभव होता है, उसी प्रकार स्वाभाविक नित्य योग होने पर अपार असीम अखण्ड आनन्द का अनुभव होता है।

स्वाभाविक नित्ययोग प्राप्त करने मे प्राणी सर्वदा स्वतन्त्र हैं, क्योंकि अस्वाभाविक संयोग का वियोग तो बिना ही प्रयत्न हो जाता है। साधारण प्राणी वियोग काल में भी संयोग का भाव केवल मानते रहते हैं। उस मानी हुई भावना मे सद्भाव होने के कारण वियोग से उत्पन्न होने वाली परम पवित्र व्याकुलता प्रकाशित नहीं हो पाती। व्याकुलता के बिना स्वाभाविक नित्य योग सर्वथा असम्भव है, अत अस्वाभाविक संयोग मे वियोग का अनुभव करना प्रेमी के लिये आवश्यक है। अस्वाभाविक सयोग दो प्रकार के होते हैं, 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा है'। अर्थात कुछ वस्तुओं को अपने में रख लिया जाता है और कुछ वस्तुओं में अपने को रख दिया जाता है। जिन वस्तुओं में अपने को रख दिया जाता है उन वस्तुओं के प्रति 'यह मेरी है' ऐसा भाव रहता है और जिन वस्तुओं को अपने में रख लिया जाया है 'यह मैं हूँ' ऐसा भाव रहता है।

प्रथम अपने को जिन वस्तुओं में रख दिया है उनसे हटा लो, क्योंकि अपने में वस्तुभाव अथवा सीमितभाव अथवा अवस्थाभाव आने पर ही संसार की अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यदि अपने में से वस्तु आदि का भाव निकाल दिया जावे तो फिर किसी भी वस्तु की आवश्यकता शेष नहीं रहती।

अपने मे से वस्तु आदि का भाव निकल जाने

पर प्राणी का जीवन प्रेम पात्र के रहने के योग्य हो जाता है, क्योंकि निरन्तर प्रेम-पात्र वहीं निवास करते हैं कि जिसने अपने में से सभी को निकाल दिया है, तथा अपने को सभी से हटा लिया है, अथवा यों कहो कि सम्बन्ध भाव अथवा मानी हुई अहंता का भाव शेष न रहने पर प्रेम-पात्र स्वयं निवास करते हैं।

प्रेमपात्र आने के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं क्योंकि वह केवल स्थान न मिलने के कारण नहीं आ पाते, प्यारे प्रेमी से अधिक प्रेम-पात्र को प्रेमी की आवश्यकता है, क्योंकि प्रेमी के सिवाय और कहीं ससार में प्रेमपात्र को स्थान नहीं मिलता।

ससार सीमित तथा परिवर्तनशील है और प्रेम-पात्र असीम तथा नित्य है।

नित्य अनित्य मे तथा असीम सीमित मे निवास नहीं कर सकता। इस दृष्टि से यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि प्रेम पात्र को संसार मे स्थान नहीं मिलता। अत. प्रेम-पात्र प्रेमी की प्रतीक्षा करते हैं।

गहराई से देखिये, प्रेमी मे अपने प्रेम-पात्र से वियोग सहने की शक्ति नहीं रहती और ससार की सभी वस्तुओं का अवस्थाओं का तथा परिस्थितिओं का वियोग निरन्तर स्वाभाविक होता है, अतः प्रेमी वेचारे को भी संसार में स्थान नहीं मिलता।

प्रेमी प्रेम-पात्र में और प्रेम-पात्र प्रेमी में निरन्तर निवास करते हैं।

× × ×

विचार-शील अपने आप आई हुई परिस्थिति का सदुपयोग करते हैं। तुम अपने सद्भाव पर दृढ़ रहो। बड़ी से बड़ी प्रतिकूलता अपने आप मिट जायगी। प्रेम-पात्र के सिखाने के अनेक ढंग हैं। तुम्हारा हृदय कोमल है, इसीलिये वेदनाओं से घबरा जाते हो। हृदय से प्रेम पात्र को पुकारो, वें सब कुछ कर सकते हैं।

संसार कुछ नहीं कर सकता, यदि तुम अपने सद्भाव पर दृढ़ रहो। असत्य कितना ही सबल हो, किन्तु निर्बल ही होता है। सत्य वाह्य दृष्टि से कितना ही निर्बल हो, किन्तु सबल ही होता है, अर्थात् तुम्हारा सद्भाव तुम्हारे काम आवेगा। प्रेम-पात्र की जिस अहैतुकी कृपा ने तुमको भयंकर रोग व अनेक कष्टों से बचाया है, उसी का सहारा लो, डरो मत! दुःख डरने से दूना और न डरने से आधा रह जाता है।

दुःख त्याग का पाठ पढ़ाने आता है, उसको पढ़लो और अभय हो जाओ। तुम तो सब प्रकार से भगवान के होकर अचिंत्य हो जाओ। जो प्राणी अपने सद्भाव का आदर करता है, उसकी विजय अवश्य होती । तुमने बड़ी बड़ी भयकर वेदनाओं को सहकर अपने स्वधर्म की रक्षा की है, वह धर्म तुम्हारी रक्षा अवश्य करेगा। अब तुम्हारे जीवन का विकास होगा। इस कारण अनेक प्रतिकूलताएँ आयेंगी और अपना अभिनय दिखाकर चली जायेंगी। तुम शान्ति-पूर्वक प्रेम-पात्र की सुधा-मयी कृपा की लीला देखते रहो। सभी उलझने स्वय सुलझ जावेंगी। प्रतिकूलता आने पर डरा मत करो। डरने से प्रेम-पात्र का विश्वास दूषित हो जाता है। सच्चे प्रेमी प्रसन्नता-पूर्वक फाँसी पर चढ़ जाते हैं, बड़ी से बड़ी वेदना को अपना लेते हैं। अर्थात प्रेमी के हृदय में भय के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

शास्त्रों के स्वाध्याय की युक्तियाँ

सन्तों का कथन है कि ग्रन्थों का स्वाध्याय भी एक उत्तम भजन है। एक बार महापुरुष ने भी कहा था कि लोगों के हृदय अत्यन्त मलिन हो रहे हैं, जैसे कि जंग लगने से दर्पण धुँधला हो जाता है। इस पर लोगों ने पूछा, "ऐसे हृदय किस प्रकार निर्मल होंगे ?" तब वे बोले कि भगवद् वचनों के पाठ और मृत्यु को स्मरण रखने से हृदय निर्मल हो जाता है। फिर उन्होंने यह भी कहा कि मेरे पीछे तुम्हें आदेश करने वाले दो पर्याप्त हैं। उनमें एक मौनी है और दूसरा बोलने वाला। बोलने वाला तो भगवान् और सन्तों के वचन हैं तथा मौनी मृत्यु है। इन दोनों के उपदेशों से जीवों का कल्याण होगा।

निश्चय जानो, जो पुरुष भगवान् के वचनों का पाठ करता है उसे अवश्य उत्तम अवस्था प्राप्त होती है। तथापि उसे चाहिये कि भगवद्वाक्यों का महत्व समझकर अपने को नीच कर्मों से बचाये रहे और हृदय में सर्वदा भगवान् का भय रक्खे। जो ऐसा नहीं करता उसे वे वचन ही झूठा बना देते हैं। महापुरुषों ने कहा है कि अधिक कपटी तो पढ़े-लिखे ही होंगे। तथा प्रभु भी कहते हैं "मनुष्यो! तुमको लज्जा नहीं आती कि जब तुम्हारे पास किसी सम्बन्धी का पत्र आता है तो तुम उसे बारम्बार ध्यान पूर्वक पढ़ते हो और जैसा वह लिखता है सावधानी से वही काम करते हो। मेरे जो ये वचन हैं यह भी तुम्हारे पास मेरा पत्र ही आया है, इसे विचार कर इसी के अनुसार कर्म करो। इसके विपरीत क्यों चलते हो ? यदि थोड़ा पाठ भी करते हो तो भी उसका विचार नहीं करते कि इसमे लिखा क्या है।" एक और सन्त ने कहा कि हमसे पहले ऐसे जिज्ञासुजन हुए हैं जो सन्तों के वचनों को पत्र के समान समझते थे। अत. रात्रि को तो उनका पाठ और विचार करते तथा दिन मे उनके अनुसार आचरण करते थे। किन्तु इस समय तुम लोग तो केवल पाठ को ही आचरण मानने लगे हो। बस अक्षर और मात्राओं को ही सुधारते रहते हो। इनमें जो कुछ लिखा है उसके तात्पर्य की ओर तुम्हारा ध्यान ही नहीं है। यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि पढ़ने का फल पढ़ना ही नहीं है, इसका फल तो यह है कि वचन के रहस्य को समझकर उसके अनुसार आचरण करें। जो वचनों को पढ़कर उनके आदेश का पालन न करे उसकी स्थिति तो ऐसी ही है जैसे किसी सेवक के पास उनके स्वामी का कोई पत्र आवे और उसमें कोई विशेष कार्य करने का आदेश हो, किन्तु वह सेवक उसे स्वच्छ स्थान मे बैठकर पढ़ तो ले और उसके अक्षरों को भी सुधार दे, पर उसमें जो करने को लिखा हो वह न करे। ऐसा सेवक तो नि.सन्देह दण्ड का ही अधिकारी होगा।

अत. याद रक्खो, जो पुरुष भगवद्वाक्यों को छः युक्तियों से अध्ययन करता है उनका ही पढ़ना सफल होता है वे युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) जिस प्रकार सेवक स्वामी के सामने बैठता है उसी प्रकार नम्रता सहित बैठकर वचनों का पाठ करे, तथा पवित्र होकर बैठे।

(२) पाठ धीरे-धीरे करे जल्दी न करे, और उसके कार्य को विचारता जाय। ऐसा न सोचे कि किसी प्रकार जल्दी से पाठ समाप्त करलूँ।

(३) पाठ करते समय भय और प्रेम से आविष्ट होकर रोता जाय। यदि नेत्रों मे आँसू न आवें तो हृदय को द्रवीभूत करे। महापुरुष ने कहा है कि भगवान् के वचन भय प्रकटाने के लिये हैं, अतः भगवान् का भय मानते हुए पाठ करो। जो कोई इन्हें विचारेगा उसे नि.सन्देह भय उत्पन्न होगा।

इस प्रकार जब अपने को दीन और पराधीन समझेगा तो अपनी स्थिति पर शोक भी अवश्य होगा। किन्तु यह भय और शोक की अवस्था तभी प्राप्त होती है जब असावधानी और अचेतनताको त्यागकर पाठ किया जाय।

(४) वचनों के तात्पर्य को अलग-अलग करके विचार करे। अर्थात् जब ताड़ना का प्रसंग आवे तो भगवान्से अपनी रक्षा चाहे और जब भगवत्कृपा का प्रसग हो तो आशावान् हो जाय।

(५) पाठके समय कपट और विक्षेपका कारण न बने। जब कोई दम्भ का आभास जान पड़े अथवा अपने पाठ से दूसरे के भजन मे विक्षेप होता देखे तो ऊँचे स्वर से न पढ़े, क्योंकि गुप्त दान के समान गुप्त पाठ का भी विशेष फल होता है। किन्तु यदि दम्भ का आभास न हो और किसी के भजन मे विक्षेप भी न होता दिखाई दे तो ऊँचे स्वरसे ही पाठ करना अच्छा है, क्योंकि इससे निद्रा और आलस्य पास नहीं आते तथा सुननेवालों को भी लाभ होता है। कभी-कभी तो सोने वाले भी सजग होजाते हैं। यदि पुस्तक देखकर पाठ किया जाय तो और भी अच्छा है, क्योंकि इससे नेत्र भी इसी काममें लग जाते हैं। इस प्रकार नेत्र भी दूसरी ओर न देखकर भजन मे ही लगे रहते हैं। कहते हैं एकबार रात्रिमें एक महापुरुष कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक जिज्ञासु को गुप्तरूप से पाठ करते देखकर पूछा कि "तुम इस प्रकार पाठ क्यों करते हो?" उसने कहा "मैं जिसको सुनाता हूँ वह गुप्त पाठ भी सुन लेता है।" फिर महापुरुष आगे गये तो उन्होंने एक सन्तको उच्चस्वर से पाठ करते देखा। तब उसने पूछा कि तुम ऊँचेस्वर से क्यों पढ़ते हो? उन्होने कहा कि "अपनी ओर सोये हुए पुरुषों की निद्रा और विक्षेप को दूर करता हूँ।" तब महापुरुषने सोचा, "भावनाएँ दोनों ही की शुद्ध हैं, क्योंकि किसी भी कार्य का शुभ या अशुभ होना कर्ता के उद्देश्य पर ही निर्भर करता है। जिसका उद्देश्य शुभ होता है उसका कर्म भी शुभ होता है।"

(६) पाठ कोमल ध्वनिसे करे क्योंकि पाठ की ध्वनि जितनी कोमल होगी उतना ही भगवद्वाक्य चित्तमे अधिक प्रवेश करेंगे।

इसप्रकार छः युक्तियाँ कहीगयी हैं वे तो स्थूल हैं। इन्हींकी तरह छः सूक्ष्म युक्तियाँ भी हैं। उनका विवरण इस प्रकार है :—

१—पाठ करते समय वचनों का महत्व ध्यान मे रक्खे और यह स्मरण रक्खे कि ये वचन साक्षात भगवान् के कहे हुए हैं। अतः भगवान के स्वाभाविक स्वरूप के अनुसार ये भी अविनाशी हैं तथा इनका चरम तात्पर्य भगवान् के ज्ञान मे ही है। मेरी जिह्वा पर जो स्फुरित होते हैं वे तो केवल अक्षर ही हैं। किन्तु जिस प्रकार 'अग्नि' शब्द उच्चारण करना तो सुगम है किन्तु अग्नि का ताप सहन करना बहुत कठिन है, इसी प्रकार इन अक्षरों का उच्चारण तो सुगम है, किन्तु इसका तात्पर्य ऐसा प्रबल है कि उसका साक्षात्कार हो जाय तो उसी के प्रकाश में चौदहों भुवन लीन हो जायँगे और हम उस तेज को सहन नहीं कर सकेंगे। परन्तु प्रभु ने इन बचनों के अर्थ की सुन्दरता और महत्ता को शब्दों और अक्षरों के पर्दे में छिपा रखा है, जिससे कि मन और वाणी को भी वचनों का रसास्वाद हो सके, इस पर्दे के बिना तो मनुष्यों को तात्पर्य समझाया ही नहीं जा सकता था। अतः जिज्ञासुओं को ध्यान रखना चाहिये कि इन बचनों का तात्पर्य अक्षरों से परे है। जिस प्रकार बैल आदि पशु मनुष्यों के शब्दों का अर्थ नहीं समझ सकते और अपनी स्वाभाविकी भाषा से मनुष्य उनसे काम नहीं ले सकते, इसलिये चरस या हल मे चलाने के लिये वे पशुओं की तरह ही शब्द करते हैं। उसे सुन कर वे सावधान हो जाते हैं और उस कार्य को पूरा कर देते हैं। किन्तु फिर भी वे इस रहस्य को नहीं

समझ सकते कि पृथ्वी पर हल किस लिये चलाया जाता है और धरती क्यों खोदी जाती है। वास्तव मे धरती खोदने का जो यह उद्देश्य है कि इससे भूमि कोमल हो जायगी और उसमे पवन एव जल का प्रवेश होने से बीज अकुरित होकर बढ़ने लगेगा यह बात बैलों के चित्त में कुछ नहीं आ सकती। इसी प्रकार बहुत से पाठ करने वाले भी ऐसे होते हैं कि वे सत और भगवान् के वचनों को केवल शब्दमात्र समझते हैं। यह उनकी बुद्धि की अत्यन्त मन्दता है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुप यह तो जानता हो कि 'अग्नि' का अथ 'आग' है किन्तु उसे यह पता न हो कि आग तो कागज को जलाने वाली चीज है। यदि ये अक्षर ही आग हैं तो ये तो कागज पर लिखे ही हुए हैं। इनसे तो इसे कोई हानि नहीं पहुँचती। अत. जिस प्रकार शरीर मे जीव होता है और उसी कारण शरीर की स्थिति होती है तथा वही इसकी महत्ता का कारण है वैसे ही अक्षर तो केवल शरीर के ही समान हैं, इसका जीव तो अर्थ है। अर्थ के कारण ही शब्द और अक्षरों का महत्व हैं। अत सबसे पहिले तो पाठ करने वाले को भगवान् के वचनों का महत्व जानना चाहिये।

२—जिन प्रभु के वचनों का पाठ करता है उन्हें अपने सामने विद्यमान देखे तथा ऐसी धारणा करे कि स्वय वे ही मुझसे ये वचन कह रहे हैं। अत उनके सामने भयभीत से हो कर स्थित हो और जैसे पुस्तक को पवित्र हाथों से स्पर्श करता है उसी प्रकार वचनों को भी पवित्र हृदय से ग्रहण करे, हृदय की पवित्रता से यही तात्पर्य है कि दूषित स्वभावों से शून्य हो और भगवद्वचनों के प्रति आदर एवं महत्ता के प्रकाश से आलोकित रहे। पूर्वकाल में अक्रमा -नाम की एक बालिका थी। वह जब भगवद्वचनों का पाठ करने के लिए पुस्तक खोलती थी तो कहती थी कि ये सर्वेश्वर श्री भगवान् के वचन हैं। बस, ऐसा कहते ही प्रीति और भय के आवेश से उसे मूर्च्छा होजाती थी। मनुष्य जब तक भगवान् की महत्ता नहीं समझता तब तक उनके वचनों की महिमा भी नहीं जान सकता। तथा भगवान की महिमा भी उनकी कारीगरी और गुणों को जाने विना नहीं जानी जा सकती। उनकी कारीगरी तो यह है कि आकाश, पाताल, पृथ्वी, देवता, मनुष्य, पशु, कीट, वृक्ष और पर्वतादि जो कुछ सृष्टि है सब उन्हीं की रचना है, उन्हींके आधीन है और जब वे इसका सहार करते हैं तब भी उन्हें किसी का कोई भय नहीं होता और न इससे उनकी पूर्णता मे ही कोई अन्तर आता है। वे ही सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करने वाले हैं। इस प्रकार विचार करनेसे प्रभु की महिमा की कुछ झलक प्राप्त हो जाती है। अत ऐसा विचार करना चाहिये कि ऐसे जो ईश्वरों के ईश्वर श्री भगवान् हैं उनके वचनों का मैं पाठ कर रहा हूँ। ऐसा भाव रखने से हृदयमें उनका भय भी बना रहता है।

(३) पाठ के समय चित्त को एकाग्र रखे और विक्षेप से दूर रहे। जब कोई वाक्य असावधानी से पढ़ जाय तो उसीको फिर पढे क्योंकि असावधानी से किया हुआ पाठ तो ऐसा है जैसे कोई पुरुष फूलों के लिये किसी बागमें जाय, किन्तु वहाँ विक्षेप से ऐसा अन्यमनस्क होजाय कि वहाँ के विचित्र पुष्पों की रचना को कुछ भी न देख सके और यों ही बाहर चला आवे। तब तो उसका वहाँ जाना व्यर्थ ही होगा। इसी तरह भगवद्वाक्य भी जिज्ञासुओंका बगीचा ही है, इसमें जो नानाप्रकारके रहस्य हैं वे मानों परम विचित्र एव मनोमोहक फल फूल ही हैं। यदि कोई पुरुष इनपर विचार करे और फिर उसका चित्त एकाग्र होजाय तो निःसन्देह उसे ऐसा आनन्द प्राप्त होगा कि किसी पदार्थ की ओर रुचि नहीं होगी। इसी से कहा है कि यदि पाठ करने वाला पुरुष वचनों के अर्थ को न समझे तो उसके पाठ का थोड़ा ही लाभ होता है। अत उसे चाहिये कि वचनों की महिमा और सुन्दरता को हृदय में धारण करे तथा अन्य संकल्पों को दूर रखे

(४) सब वचनों को गम्भीरता पूर्वक विचारे और जो समझ में न आवे उनका बार बार अभ्यास करे। इस प्रकार कई बार पढ़ने से उनका रहस्य प्रगट होगा। फिर उसी रस में निमग्न हो जाय। इसी तरह रसास्वादन करते हुए अध्ययन करने से अधिक लाभ होता है। एक संत का कथन है कि जब कोई पुरुष जिह्वा से तो कोई वचन उच्चारण करता है और मन से दूसरी ही बात सोचता रहता है तो वह उस वचन के तात्पर्य से बहुत दूर पड़ जाता है। एक दूसरे सन्त ने कहा है कि जब भजन या पाठ में मुझे कोई व्यवहार का संकल्प फुरता है तो उसकी अपेक्षा मैं मरना अच्छा समझता हूँ। अतः मनुष्य को चाहिये कि जब किसी वचन का पाठ करने लगे तब चित्त में किसी और संकल्प का चिन्तन न करे। यद्यपि वह संकल्प सात्विक हो तो भी उसे भुला देना ही अच्छा है। जब भगवान् की स्तुति का पाठ करने लगे तो ऐसा ध्यान रक्खे कि वे प्रभु सबसे निर्लिप्त हैं, संकल्प से परे हैं, सबके ऊपर समर्थ हैं और परम देव हैं। और जब उनकी कारीगरी का वचन पढ़े तब ऐसा विचार करे कि पृथ्वी और आकाश को उन्होंने उत्पन्न किया है। तथा उनकी नाना प्रकार की रचना देखकर प्रभु की विद्या, सामर्थ्य और महिमा को पहचाने एवं जिस पदार्थ को भी देखे उसमें उन्हीं की सत्ता अनुभव करे। जब इस वचन को पढ़े कि प्रभु ने जीवको एक पानी की बूँद से बनाया है तो ऐसा विचार करे कि वह वीर्य की बूँद तो एक ही रंग की थी, उन्होंने तो उसी से कई रंग के अवयव बनाये हैं। देखो, त्वचा, मांस, नाड़ी, हाथ पाँव, जिह्वा और कर्ण आदि सभी अवयव कैसे आश्चर्यरूप हैं। यह शरीर एक मांस के पुतले के समान ही तो है, तथापि इसमें देखना, सुनना, बोलना और चेतनता कैसे प्रगट होगई। इस प्रकार सब वचनों का उल्लेख करना बड़ा कठिन काम है। कहने का तात्पर्य यही है कि जिस वचन का पाठ करे उसके तात्पर्य पर विचार और अभ्यास करने में भूल न करे। जिस पुरुष की वृत्ति किसी महापाप में आसक्त होती है, जो मन माने रूप से किसी भी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त हो जाता है तथा जिसे किसी मत या पन्थ का इतना आग्रह होजाता है कि उसके सिवाय वह यथार्थ बात को सुनना ही नहीं चाहता, ऐसे पुरुष को प्रभु के वचनों का अर्थ कभी प्रगट नहीं होसकता।

५—पढ़ते समय जैसे-जैसे वचनों के अर्थों से भिन्न भिन्न भाव अभिव्यक्त हों वैसे-वैसे ही अपने चित्त की वृत्ति को भी उन्हीं के अनुरूप बदलता जाय। यदि कहीं भय या ताड़ना का प्रसंग हो तो भयभीत और अधीन सा हो जाय, जब भगवत्कृपा का प्रसंग पढ़े तो आशायुक्त और प्रसन्नचित्त होजाय तथा जब प्रभु की अपारता का प्रसंग पढ़े तो अत्यन्त दीन भाव ग्रहण करे और ऐसा समझे कि मेरी ऐसी बुद्धि ही नहीं है कि मैं उनकी स्तुति या महिमा का वर्णन कर सकूँ। इस प्रकार जैसा-जैसा वचन हो उसके अनुसार ही अपने चित्त की अवस्था बनावे।

(६) भगवान् के वचनों को ऐसा समझे कि मानों मैं साक्षात् उन्हीं के मुख से सुन रहा हूँ। एक सन्त ने कहा है कि पहले मेरी समझ में भजन का कोई रहस्य नहीं आता था, किन्तु जबसे मैंने ऐसा विश्वास किया कि ये वचन मैं महापुरुष के मुख से सुन रहा हूँ तबसे मुझे उनमें रस आने लगा। और जब मैंने ऐसी भावना की कि इन वचनों के रूपसे मुझे आकाशवाणी हो रही है तो मुझे और भी अधिक आनन्द आने लगा। इसके पश्चात् मैंने ऐसी धारणा की कि स्वयं भगवान ही मुझे ये वचन सुना रहे हैं तब तो मुझे ऐसा रस और आनंद का अनुभव हुआ कि उसका वर्णन नहीं किया जासकता।

इस प्रकार पाठ करने के विषय में छः स्थूल और सूक्ष्म युक्तियाँ बतलायी गईं। जो पुरुष इनके अनुसार पाठ करेंगे उन्हें उससे बहुत अधिक लाभ होगा।

(पारसमणि से)

संत सद्गुरु की शरण से ही कल्याण होगा

(साधुवेश में एक पथिक)

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्यधारा निशिता दुरत्यया,
दुर्गंपथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

उठो, जागो, और महान् पुरुषों के समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो। जिस प्रकार छुरे की धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है, तत्वज्ञानी जन उस पथ को भी वैसा ही दुर्गम बताते हैं ।

सन्मार्ग कितना ही दुर्गम क्यों न हो परन्तु सन्त सद्गुरु की शरण में रहने वाले जिज्ञासुओं के लिए उनकी कृपा से 'अति सुगम' हो जाता है ।

सन्तन ही ते पाइये, राम मिलन को घाट ।
सहजै ही खुल जात है, सुन्दर हृदय कपाट ॥
दादू इस संसार में, ये दो रतन अमोल ।
इक साँई इक सत जन, इन का मोल न तोल ॥

यदि आप परम शान्ति अथवा कल्याण की आशा से सन्त सद्गुरु के अतिरिक्त इस जगत में किसी पदाधिकारी राजा, महाराजा तथा सम्राट् की शरण लेते हैं, और उन्हें प्रसन्न कर पाते हैं, तो वह आप को संसार की वस्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकते, और यह निश्चित सत्य है कि संसार की किसी वस्तु से परम शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि ससार में एक से एक बढ़कर सासारिक सम्पत्ति के धनी होचुके लेकिन कोई भी उस सम्पत्ति से शान्ति प्राप्त न कर सका ।

यदि आप और आगे बढ़कर प्रकृति की अलौकिक शक्तियों एवं देवी-देवताओं की शरण मे आजाते हैं और कदाचित वे प्रसन्न हो जायें तो वे भी कुछ अलौकिक चमत्कार-जनक विद्या या विशेष प्रकार के ऐश्वर्य भोग की सामग्री के अतिरिक्त आपको वह धन नहीं दे सकते, जिससे आप परमशान्ति एवं शाश्वत आनन्द लाभ कर सकें।

वास्तव में जिस साधन के द्वारा, जिस विधि के द्वारा, जिस बल के द्वारा 'परमशान्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है उनके पूर्ण ज्ञाता और दाता एक मात्र सद्गुरु देव ही हैं, अत. आप किसी अन्य की शरण न जाकर सद्गुरु देव की ही शरण लीजिये और उन्हें प्रसन्न कीजिये । सद्गुरुदेव की कृपा से जो परम धन प्राप्त होता है वह लोक-परलोक में और किसी से भी नहीं मिल सकता । इसी लिये किसी सन्त-प्रेमी ने कहा है कि भगवान को पाने के लिए और कुछ भी उपाय न करके पहिले भगवान् के भक्तों की शरण लीजिये क्योंकि भगवान् के प्रेमी-भक्त भगवान् को अवश्य मिला देंगे ।

हरि से तू जनि हेतकर, हरिजन से कर हेत ।
माल मुलुक हरि देत हैं हरिजन हरि को देत ॥

यदि आप परमशान्ति चाहते हैं तो सन्त सद्गुरु की शरण में आकर, उन से ससार के पदार्थों की याचना न कीजिये, वरन् उनकी आज्ञा पालन करते हुए, उनके पास जो दिव्य सम्पत्ति है, उसी को प्राप्त कर सत्यानन्द के भोगी हो जाइये ।

सन्त—सदगुरु की परम सम्पत्ति के आप तभी अधिकारी हो सकेंगे जब अपने को स्वतन्त्रता पूर्वक उनकी शरण मे स्थिर रखने की योग्यता प्राप्त कर लेंगे । शरण में स्थिर रहने की योग्यता तभी प्राप्त होगी जब आप अपने मन को विषयासक्ति से

मुक्त करके स्वाधीन कर लेंगे। जिसका मन स्वाधीन है वही सन्त-सद्गुरु की शरण में अपने को समर्पण कर सकता है और पूर्ण समर्पण द्वारा ही मानव, सत्य प्रभु का सर्वभावेन भक्त और संसार से पूर्ण विरक्त होता है। इसलिये ज्ञानस्वरूप गुरुदेव की शरण में स्थिर होने से ही जीव का परम कल्याण होता है।

जिनके सामीप्य मे अज्ञान का अन्धकार नाश होता है सदज्ञान का प्रकाश होता है, दुःख का सर्वथा नाश होता है, मोह के विरुद्ध प्रेम का ही जहाँ विकास होता है और मुक्ति के पथ में चलते हुए नित्यानन्द-धाम मे, जिनकी कृपा से, मनुष्य का निवास होता है, वही सच्चिदानन्दमय ज्ञानस्वरूप गुरुदेव ससार में अज्ञान रूपी रोग को हरण करने वाले हैं।

तप और त्याग से पावन हुए व्यक्तित्व में जब ज्ञानस्वरूप गुरुत्व अभिव्यक्त होता है तब सभ्य मानव उसी व्यक्तित्व को सन्त, महात्मा, मुनि आदि पवित्र नामोंके द्वारा सम्बोधित करते हैं। यद्यपि ज्ञानस्वरूप गुरुदेव नाम-रूप से अतीत चिन्मात्र रूप हैं, किन्तु जिस प्रकार अदृश्य देवता की उपासना किसी स्थूल मन्दिर, मूर्ति के द्वारा सुलभ होती है उसी प्रकार विशेष चिन्हों एव वेशभूषा से भूषित, त्यागी, वीतरागी साधु-सन्त, मुनि आदि नाम-रूपों के द्वारा ही सद्गुरु की उपासना सुलभ होती है।

ससार में ऐसा कौन प्राणी है, जिसे अज्ञानरूपी रोग न लगा हो, और आधि-व्याधि, उपाधिरूप, त्रिदोष जिसे न घेरे हुए हों ? सत्सगी पुरुषों को छोड़कर प्राय. सभी प्राणी इस महान रोग से ग्रस्त हैं। असतसग से ही इसकी उत्पत्ति होती है। सासारिक भोग सुखों की भूख और कामना पूर्ति की प्यास ही इस रोग के लक्षण हैं। मोह, लोभ, क्रोध, मद, मत्सर एव ईर्ष्या, द्वेष ही इस रोग के पुष्टकारी कुपथ्य हैं। संसार के ऐसे कठिनतम रोग निवारण करने वाले सद्गुरुदेव ही एक वैद्य हैं। उसका सद्ज्ञान ही इस अज्ञान रूपी रोग को दूर करने वाली महौषधि है। सद्गुरुदेव की आज्ञानुसार शुभ कर्म एवं शुभ भाव और पवित्र विचार ही इस महौषधि का सेवन करने के लिये अनुपान हैं रोगी में शक्ति लाने के लिये निष्काम सेवा ही सत् पथ्य है। इस पथ्य को पचाने के लिये त्याग ही दैनिक व्यायाम है।

स्वस्थ पुरुष ही सत्य के ध्यान में अचल है क्योंकि उसमें सद्गुरु के ज्ञान का बल है। इसी से स्वस्थ पुरुष श्रीमान है और निर्मल है। स्वस्थ हुए बिना जीवन व्यर्थ है, स्वस्थ पुरुष ही सदा समर्थ है।

जिनकी कृपा से स्वस्थ पुरुष का सर्वत्र शान्ति दायी सर्वोत्कृष्ट अधिकार है, उन स्वास्थ्य के दाता सद्गुरु को नित्य नमस्कार है।

सद्गुरुदेव के हाथों में गया हुआ कुपात्र जीवन भी सुपात्र बन जाता है। अज्ञान रूपी रोग से ग्रसा हुआ, आधि व्याधि उपाधि मे फँसा हुआ और काम क्रोधादि विकारों से कसा हुआ मानव सद्गुरु की शरण पाकर, समस्त बन्धन एवं दुखों से मुक्त होता है और परमानन्द स्वरुप सत्य से संयुक्त होता है। ससार मे समस्त प्राणियों के सच्चे हितैषी शक्तिमान् महात्मा ही हैं और वही समस्त ससार को कल्याण का मार्ग दिखाते रहते हैं। वही ज्ञात या अज्ञात रूप से, सद्ज्ञान के प्रकाश द्वारा सोये हुओं को जगाते हैं, रोने वाले को हँसाते हैं खोये हुये को मिलाते हैं, वह किसी की भी करुणापूर्ण पुकार सुनकर दौड़े चले जाते हैं पतित को पावन बनाते हैं और जो कोई भी शरणागत हो उसे ही अपनाते हैं; इसी से वे दीन बन्धु, अधमोद्धारक कहलाते हैं।

तीरथ न्हाये एक फल, सन्त मिले फल चारि।
सद्गुरु मिले अनेक फल, कहत कबीर बिचारि॥

सद्गुरुदेव की शरण में आजाने का सौभाग्य जिसको प्राप्त होगया है, उसके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं हैं।

मनुष्य की चिन्मात्र स्वरूप अन्तरात्मा में अनेकों प्रकार की उच्चतम सुन्दर शक्तियाँ सुप्तरूप में छिपी पड़ी हैं। उनकी जागृति, अथवा उनका क्रम पूर्वक विकास सद्गुरु-प्रदत्त युक्तियों के द्वारा ही होता है। इसका अनुभव करते हुये रामचरित मानस के शब्द याद आ रहे हैं:—

गुरु बिन भव निधि तरै न कोई,
जो बिरंचि शंकर सम होई।
नहिं दरिद्र सम दुःख जग माहीं,
सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीं॥

सद्गुरुदेव की महिमा का अगाध समुद्र तो सभी भावुक बुद्धिमान् देखते ही रहते हैं,तब मैं उस महिमा सिन्धु के दो चार बिन्दु किसी को दिखाकर क्या संतोष दे सकता हूँ ? क्योंकि वह तो प्रत्येक जिज्ञासु सत शिष्य के लिये अनुभव गम्य तत्त्व है।

कबिरा यह तन जायगा, कवने मारग लाय।
कै सगत करि साधु की, कै हरि के गुन गाय॥

सन्त-सत्पुरुष की भक्ति उदय होने पर भोगों से विरक्ति होना सुगम है क्योंकि सन्तों के प्रति प्रेम भाव तभी जाग्रत होता है जब सदाचरण की ही जीवन में प्रधानता होती है और इसी से सद्गुणों की वृद्धि होती है।

सदाचरण एवं सद्गुणों की उपासना करना सद्गुरुदेव की मुख्य आज्ञा है, इसी से अन्तः करण निर्मल होता है तभी सुख स्वार्थ के प्रति राग का त्याग होता है।

सन्त सद्गुरु की समीपता में पहुँच कर यदि शिष्य में असत सगियों की तरह सांसारिक सुख, दुख, लोभ, मोह, क्रोध आदि मनोविकार बने रहे तो सत्सग का फल ही क्या मिला। अतः सन्त सद्गुरु के समागम का प्रथम फल तो यही है कि मोह का त्याग हो क्योंकि मोह के त्याग हुए बिना सत्-पथ में चल ही नहीं सकते। मोह नष्ट होने पर भक्ति के सद्भाव दृढ़ होते हैं जिसका मोह दूर नहीं हुआ उस को यां तो सन्त सद्गुरु नहीं मिले या फिर उसने सच्ची जिज्ञासा से सद्गुरु का समागम ही नहीं किया। जिस ने सद्गुरु का सत्सग किया है वह ससार का सगी नहीं रह गया। जिसका मन ऐहिक भोगों में रस ले रहा है उसे तो ससार में ही रहना होगा। भोग सुखों की कामना से विषयों मे राग दृढ़ होता है और राग के कारण ही द्वेष, चरितार्थ होता है। जहाँ द्वेष है वहीं क्रोध उत्पन्न होता है और जहाँ क्रोध का स्थान है वहीं अहंकार बहुल प्रबल होता है।

कोटि करम लागे रहैं, एक क्रोध की लार।
किया कराया सब गया, जब आया अहकार॥

जब विषय भोग जनित सुख कामना का त्याग होगा तभी मोह और लोभ के लिए स्थान न रह जायगा। जहाँ लोभ, मोह न होंगे, क्रोध भी कभी न आयेगा। इस प्रकार विकार रहित होने पर ही कोई पावन प्रेम के सन्मार्ग मे चल सकता है।

इस परिवर्तनशील विनाशी जगत् में सद्वस्तु का बोध प्राप्त करना ही प्रत्येक प्राणी का "परमार्थ" है यद्यपि वह अति सुगम है सरल है. और उसकी प्राप्ति सर्वत्र हो सकती है, बल्कि हर समय वह प्राप्त ही है, फिर भी उस के परिचायक ज्ञानस्वरूप गुरुदेव जब तक नहीं मिलते तब तक उसका बोध होना अति कठिन है। मनुष्य इस ससार मे परम शान्ति तथा सुख प्राप्त करने के लिए और दुखद

बन्धनों से मुक्त होने के लिए अनन्त कर्मों को करते हुए जीवन व्यतीत कर रहा है परन्तु सद्गुरु की आज्ञा-आराधन रूपी एक कर्म का आश्रय लिए बिना न तो परमशान्ति ही प्राप्त कर पाता है और न दुःखद बन्धनों से ही छुटकारा होता है बल्कि सद्गुरु आज्ञा आराधन रूप एक कर्म को किए बिना अनन्त कर्म भोगने के लिए बढ़ते जाते हैं। जिस एक कर्म के करने से अनन्त कर्मों के बन्धन अनायास ही खुल जाते हैं, वह एक कर्म यही है कि सद्गुरु की आज्ञा से ही करणीय कर्मों को पूरा किया जाय।

परम विनय भाव के साथ सद्गुरु की आज्ञाओं का पालन करने से जिज्ञासु के मन मे छिपे हुये स्वेच्छाचारिता रुपी भयानक दोष की निवृत्ति होती है।

पधारो ! पधारो !! विपिन के बिहारी

मिलन की लगाये हैं आशा तुम्हारी।
पधारो ! पधारो !! विपिन के बिहारी ॥

सदा रोते रोते ही, कारण तुम्हारे।
गईं सूख आँखें, ये मोहन-मुरारे ॥
क्षुधित ये नयन तव दरश के भिखारी ॥१॥ पधारो०

जहाँ, वन-लताओं में क्रीडा थी करती।
दिनों-रात तव संग, आमोद भरती।
वही वन-लतायें डराती हैं सारी ॥ २ ॥ पधारो०

सुनाना यह ऊधो संदेशा हमारा।
तुम्हीं पै है तन धन व मन मैंने वारा ॥
फीकी पड़ी क्यों हमारी गुहारी ॥३॥ पधारो०

पड़ा सूना ब्रज, है विकल सारी गैयाँ।
दुखी गोप-गोपी विकल तेरी मैया ॥
कहें सारी सम्पति लुटी है हमारी।
पधारो ! पधारो !! विपिन के बिहारी ॥४॥

(श्री कौलेशचन्द्र पाण्डेय 'विशारद')

श्री सद्गुरुदेव

(गताङ्क से आगे)

(श्री मञ्जुल जी)

अपनी मारी बीती हुई घटना उन्होंने गुरुदेव से कह सुनाई । तत्पश्चात् मध्याह्नकाल के बाद आज्ञा लेकर अपने घर की ओर प्रस्थान किया, कुछ दिन बाद सरायप्रयाग के निकटवर्ती स्थानों के प्रेमी जन लोग अपने गृह पर विशेष उत्सवों के अवसर पर आप को बुलाने लगे। उन्हीं दिनों की एक घटना श्रीमान पं० मनसुखलाल जी दुवे एडवोकेट अपने एक पत्र द्वारा लिख रहे हैं। श्री दुवे जी आप के विशेष कृपा पात्र शिष्यों में रहे हैं, उनके पत्र की अविकल प्रतिलिपि हम अपने प्रेमी पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहे हैं।

वे लिख रहे हैं कि जीवन एक पहेली है, वही पुरुष वास्तव में भाग्यशाली है जो इसको सुलझाने में समर्थ होते हैं और यह सुलझती भी तब है जब पुराने पुण्य-संस्कारों का उदय होता है और कोई सुयोग्य सहृदय कर्णधार मिल जावे। सन् १६१६ई० के मई का शुभ महीना था कि जब मैं अकबरपुर जि० फर्रुखाबाद के ग्राम में अपने फूफा श्रीमान् पं० श्रीराम जी के यहाँ कार्यवश गया हुआ था। दैववशात् वहाँ पता चला कि पं० शंकरसहाय के लघु भ्राता वर्तमान समय के श्री स्वामी गीवानन्दजी जो कि अपनी बजाजी की दुकान पर प्राय: जोर-जोर से सुखसागर, रामायण आदि का पाठ करते थे, उन्हीं पण्डित जी ने हनुमान जी की स्थापना कराई है। उस उत्सव में सरैया के प्रसिद्ध स्वामी जी आये हुये हैं। अत: मैं भी दर्शनार्थ गया, वहाँ पहुँचते ही पहिली मरतबा स्वामी का साक्षात्कार हुआ, चरण छूने के पश्चात थर्ड ईयर बी० ए० के जमाने की उन कर्म विषयक गहन गुत्थियों को जो उस समय के वाद विवाद में प्राय: पैदा हुआ करती थीं, सुलझाने की सूझी चूँकि जिज्ञासु भाव से पूछा गया था अत स्वामी जी ने भली भाँति समझाया और अपने दश नियमों पर प्रवचन किया, उन्होंने संसार स्वप्नवत् है, इससे हम ससार के दुखों को भी सुख मानेंगे, इस पर हाथ उठाकर प्रतिज्ञा कराना चाही। बहुतों ने गैर जिम्मेवारी से हाथ उठा दिये। परन्तु मैंने उसका परिपालन कठिन समझ कर हाथ नहीं उठाये। श्री स्वामी जी का ध्यान मेरी ओर आकर्षित हुआ और पूछा कि अभी तक तो बहुत बातें करते थे अब जब कसौटी का अवसर आया तो क्यों आप पीछे हटते हो, और यह कहकर कि शायद अभी तुम समझे नहीं हो ? मुझसे पूछा कि मैं क्या करता हूँ मेरे उत्तर देने पर कि मैं विद्यार्थी हूँ और बी० ए० की परीक्षा दे आया हूँ, तब फिर समझाने लगे कि मान लो कि मैं फेल होजाऊँ तो मुझे दुखी न होना चाहिये, इत्यादि। इतना कहना था कि मैं स्तब्ध होगया और कब्जों पर उलझे हुये किवाड़ की तरह इधर-उधर हिलने डुलने लगा चित्त स्थिर नहीं होता था जो भी उपदेश हो रहा था। मैं केवल हाँ, हाँ तो करता जाता था। परन्तु कुछ भी नहीं सुना जो सुना सब निरर्थक होगया। बराबर यही ध्यान सामने था कि सिद्ध पुरुष हैं, कहीं इनके कथनानुसार फेल ही न हो जाऊँ। अन्त में जब उपदेश समाप्त हुआ, तब फिर हाथ उठवाये गये सब लोगों की भाँति मैंने भी श्री स्वामी जी के सतोष के लिये हाथ उठा दिये। कुछ समय बाद बी० ए० का नतीजा प्रकाशित हुआ। मैंने देखा कि उत्तीर्ण परीक्षार्थियों में मेरा नाम नहीं था

बहुत ही संकटकाल आगया किसी को मुँह दिखाने को जी नहीं चाहता था निश्चय किया कि श्री स्वामी जी की ही शरण चलूँ वहीं शान्ति मिलेगी। तत्काल ही मैं स्वामी जी के पास आया और दुखी होकर अपने हृदयोद्गार प्रकट किये। स्वामी जी ने लार्ड हार्डिंग की पूर्ण शिक्षा, वैभव और पारवारिक जीवन का हाल (मानों उन्होंने बायोग्राफी जीवन वृतान्त पढ़ा हो) सुनाकर उपदेश किया और कहा कि इतना होने पर भी क्या वे सुखी थे। इत्यादि और फिर कहा कि "तुमने यही क्यों जान लिया है कि फेल होगये कहीं अच्छा फल निकलने वाला हो, ईश्वर सब अच्छा करेगा। बस जैसे फेल होने वाले फिकरे से घाव लगा था, वैसे ही इस फिकरे से अच्छा होगा एक सुखकर मरहम सा लगा दिया। गुरुदेव का आशिष लेकर चला आया ठीक सातवें दिन संशोधक गजट में मेरा नाम पास विद्यार्थियों मे प्रकाशित हुआ उसमें लिखा था कि गलती से छपने से रह गया था। बस इतना पढ़ते ही स्वामी जी के प्रति अपार श्रद्धा होगई, इसके बाद भाई रामेश्वर दयाल के यज्ञोपवीत का निमन्त्रण लेकर श्रीस्वामीजी के पास गया स्वामी जी ने स्वीकार नहीं किया। यज्ञोपवीत के बाद पुनः दर्शनार्थ पहुँचा, और गुरुदेव के कुशल मंगल पूछने पर यज्ञोपवीत के अवसर पर दो मास के भानजे की मृत्यु का दुखद समाचार सुनाया सुनते ही गुरुदेव कुछ तेजी से बोले कि ये ससार कुत्ते की पूँछ की भाँति है चाहे जितना सीधा करो अवसर आने पर पुन. टेढी हो जाती है। जरा सी बात मे रोने लगता है। मैंने बड़े नम्रभाव से पूछा किसी भी उपाय से यह पूँछ सीधी रह सकती है, तो हमारी तरफ देखकर कहा कि हाँ हो सकती है कुत्ता जब पागल हो जाता है तब पूँछ सीधी हो जाती है। श्री गुरुदेव का त्याग और उदारता दोनों ही पराकाष्ठा की थीं उनका जीवन क्रियात्मक था। जब कभी मैं जो भी सोचकर गया बिना पूछे हुये तत्काल ही उसका उत्तर कहना प्रारम्भ कर देते थे इत्यादि। पत्र बहुत बडा है उसका तीन चौथाई भाग पाठकों की सेवा मे उपस्थित किया गया।

(क्रमशः)

गीता का सार

जब तक न हो मन शुद्ध तब तक कर्म में तत्पर रहे।
छोड़े नहीं सुत दार धन कल्याणकांची घर रहे॥
जो कुछ करे दानादि सब विश्वेश के अर्पण करे।
अभिमान अपना त्याग दे, फल में कभी ना मन धरे॥
ना शोक करना चाहिये, ना मोह करना चाहिये।
जब एक अपना आप है, क्यों व्यर्थ डरना चाहिये॥
'भोला'! शरण ले ईश की, भव-सिंधु तरना चाहिये।
जन्मा मरा अब तक घना, अब तो न मरना चाहिये॥

संत की साधना

(श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज)

प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसने वाले आलोचना-प्रिय सज्जन प्राय. कहा करते हैं कि सत महात्माओं को तो एकान्त सेवी होना चाहिए, उन्हें ससारासक्त मनुष्यों के समुदाय में आने-जाने की क्या आवश्यकता ? उन्हें तो जन-सम्पर्क से दूर, वनों में रहकर आत्म-चिन्तन निरत रहना ही शोभा देता है, इत्यादि। सिद्धान्त रूप मे ऐसी बात सुनने में एक प्रकार से ठीक ही लगती है क्योंकि समस्त सासारिक बन्धनों को तोड़कर, घर-द्वार को छोड़कर, प्रभु से नाता जोड़ कर, जब केवल उसी असली रंग में अपने को रंग लिया तो फिर नकली रंग वालों से क्या वास्ता ? किन्तु ऐसे विचारक महोदय, देश-काल-परिस्थिति को भुलाकर केवल एकाङ्गी दृष्टिकोण से ही विचार करते हैं। प्राचीन और वर्तमान काल की सर्वाङ्गीण तुलना करने के लिए अपने विचारों को यदि वे गहराई तक ले जायें तो उन्हें अपनी शंका-समाधान के लिए बहुत कुछ मसाला मिल जायगा।

पूर्वकाल में जब भव्य-भारत के आबाल वृद्ध नर-नारी स्वयं ही मानव के साधारण धर्मों का पालन करते थे, तब उस शान्त और आदर्श वातावरण में साधु-संत भी जन-सम्पर्क से दूर एकान्त में सरिताओं को सुरम्य तटों पर, पावन तपोभूमि में निवास करते हुए निश्चिन्त रहकर आत्म-चिन्तन करते थे। साधन-निरत रहकर भी वे जन कल्याण की भावनाओं को एक क्षण के लिये भी नहीं भूलते थे। वस्तुतः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, एकान्त में रहकर भी वह समाज से दूर कहाँ हुआ ? जब तक शरीर है तब तक अन्न और वस्त्र की आवश्यकता तो पड़ती ही है। मानव द्वारा निर्मित, भोजन-वस्त्रादि का प्रयोग करके भी उनके बदले मे यदि कोई साधु वेशधारी मानव निष्क्रिय रहकर एकान्त में बैठा रहे तो अपने सम्बन्ध की बात तो वही जाने। व्यावहारिक दृष्टि से तो ऐसी क्रिया कुछ उचित नहीं लगती। प्राचीन काल मे हमारे पूर्वज मनीषी-संत, एकान्त में साधन करते हुए भी लोक-कल्याण की जो बौद्धिक सेवायें करते थे, उनसे तो प्रत्येक विचारक भली भाँति अवगत ही है। महर्षि व्यास, गौतम, कपिल, पतजलि कणाद आदि महापुरुषों की प्रात.स्मरणीय पवित्र नामावली के साथ-साथ महाभारत, उपनिषदों एवं शास्त्रों की स्मृति भी हो जाती है। ऐसे अनेक उदाहरणों से भरपूर अपना उज्ज्वल इतिहास स्पष्ट संकेत कर रहा है कि हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने उस काल मे जन-सम्पर्क से दूर रह कर भी जनता जनार्दन की जो अनुपम सेवाएँ की हैं, वह क्या कभी भुलाई जा सकेंगी ? भारत की गौरव-गरिमा को बढ़ा कर समस्त संसार का आध्यात्मिक गुरु बनाने का श्रेय उन्हीं तप.पूत सन्तों की सेवा मे सन्निहित है। उस पावन काल मे सर्वत्र मगलमय वातावरण था, किसी से यह कहने की आवश्यकता नहीं पडती थी कि तुम झूठ क्यों बोलते हो ? चोरी क्यों करते हो ? परपी य ो करते हो ? इत्यादि। तत्कालीन शासक और राजा स्वय उन सतों की सेवा में पहुँच कर, उनसे आध्यात्मिक उपदेश प्राप्त करते थे और अपनी परिमार्जित बुद्धि से सन्तानवत् प्रजा की सेवा करते थे। इस प्रकार संतों राजाओं और प्रजाजनों के पारस्परिक सहयोग से अपना देश सर्वाङ्गीण उन्नति के शिखर पर पहुँचा था। इस प्रकार सर्वत्र विशुद्ध धार्मिक वातावरण होने के कारण सत-जनों को किसी उपदेश के लिए जनता

के बीच आने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। वे किन्हीं विशेष अवसरों पर ही जन-सम्पर्क में आया करते थे।

उपनिषद् में एक कथा आती है कि केकय देश में अश्वपति नामक एक राजा का शासन था, वे बड़े विद्वान और पंडित थे एक समय महर्षि उद्दालक अपने शिष्य मंडल के साथ, कहीं से भ्रमण करते हुए, केकय देश से निकले। राजा ने अपने पूज्य अतिथि की मर्यादानुसार अभ्यर्थना की। षोडश प्रकार से पूजन करके, महर्षि की चरण-धूलि से अपने मस्तक का अभिषेक किया। एकान्तवासी सन्त-प्रवर और उनके शिष्यों को वहाँ अधिक ठहरने में बहुत सकोच करते देख—राजा ने हाथ जोड़कर, गम्भीर वाणी से कहा—"भगवन! आप निस्संकोच मेरे देश में ठहरिये। मेरे देश में न तो कोई चोर है और न कजूस। यहाँ कोई मदिरा का सेवन नहीं करता। मेरी प्रजा पढ़ी-लिखी और विद्वान है। यज्ञ—यागादि से देश का वायुमंडल सुवासित रहता है। ब्रह्ममुहूर्त्त में घर-घर से आपको वेद-पाठ और स्वाहा-स्वधा की आमोदमयी ध्वनि सुनाई देगी। यहाँ कोई भी पुरुष व्यभिचारी नहीं है। स्त्रियाँ पतिव्रता एवं पुरुष एक पत्नीव्रत का पालन करने वाले हैं।"

जिस देश का शासक गर्व के साथ ऐसी बात का दावा करता हो तो वह देश कितना समुन्नत और सुखी होगा। आज तो यह बातें कोरी कल्पना अथवा चण्डूखाने की गप्प जैसी जान पड़ती हैं किन्तु उन दिनों ऐसा ही था, अपना यह देश जिसमे आज उसके सर्वथा विपरीत ३६ के अंक के समान नैतिक पतन अपनी परम सीमा पर पहुँच चुका है। एक कौड़ी के लाभ के लिये दूसरे का यदि गला भी कटवाना पड़े तो भी अब सकोच नहीं। पर-स्त्री मे माता बहिन कन्या की भावना ही नष्ट हो चुकी, —ी के मुख को देखते ही आज की सन्तान माता पिता को घर से धक्के मार कर निकाल देना चाहती है। धर्म के नाम पर हत्या; अपराध, पाप, पाखण्ड ठगी और बेवकूफी का बोलबाला है। यदि ऐसे अवसर पर भी सन्त समुदाय शान्त होकर बैठा रहेगा तो फिर उसकी साधना उसकी तपश्चर्या किस दिन काम आवेगी? वास्तव में यही वह उपयुक्त अवसर है जब कि तपःपूत, संत-समुदाय की अनुभूत विचार धारा मे संतप्त मानव अपने मन की कलुष कालिमा को धोने का अधिकार प्राप्तकर सकता है।

निखिल ब्रह्माण्ड नायक, गीता-गायक लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्री श्यामसुन्दर ने कदाचित् इसी संदेह निवृत्ति से सम्बन्धित व्याख्या करते हुये अर्जुन से कहा थाः—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्॥

धर्म के अभ्युत्थान के लिये ही जगन्नियन्ता को भी समय समय पर अनेक रूपों में प्रगट होना पड़ा शास्त्रों ने सन्तों को भगवान् के नित्यावतार रूप मे माना है। अतएव, सिद्धान्त के अनुसार भगवत्प्रेरणा से ही, इस धराधाम पर महापुरुषों का आविर्भाव होता है। अपनी रहनी, करनी और कथनी से वे संसार की जैसी आश्चर्यजनक सेवा कर जाते हैं उसे तो एक साधारण सी बुद्धि वाला व्यक्ति भी सरलता से समझ सकता है। उनकी ओजस्वी वाणी का प्रभाव जन-मन पर इसी कारण तत्काल पड़ जाता है क्यों कि वे स्वयं उसके प्रतीक होते हैं। वे जैसा दूसरों को बताते हैं वैसा स्वयं आचरण करते हैं। आज ऐसे सन्तों की अपने देश को बहुत बड़ी आवश्यकता है। धर्मोद्धार के निमित्त नैमित्तिक रूप से अवतार लेने वाले मंगलमय प्रभु, अपने प्रिय भक्तों को आनन्द-मार्ग का सकेत करने के लिए अपने प्रियतम पुत्रों को ससार में पहिले भेज देते

इसीलिए साधु-संत को नित्य अवतार की संज्ञा अपने शास्त्रों ने दी। किसी भावुक कवि ने लिखा है—

> राम संत के बाप हैं संत राम के पूत।
> संत न होते जगत में रहते राम निपूत॥

जब एक दूसरे का गला काट कर अपना और अपने बच्चों का पेट भरने का प्रश्न नहीं था, जब "पर दारेषु मातृवत्" की भावना थी, जब अपना गौरवशाली भारत "वसुधैवकुटम्बकम्" का अनुयायी बनकर सर्वभूतों के हित मे रत रहता था तब हमारे प्रातःस्मरणीय पूर्वज सन्त महात्मा भी एकान्त मे शान्त बैठ कर ब्रह्मचिन्तन करते थे।

आज की परिस्थिति तो बदली हुई है, तीव्रगामी गति से बदलती जा रही है। हमारा आचरण-धर्म पूर्ण रूपेण बिगड़ चुका। जब मन ही कलुषित बन गए तो आचरण शुद्धि का प्रश्न ही क्या? पैसे के प्राधान्य मे सत्यासत्य के विवेक को तिलांजलि सी दे दी गई। सारांश में यह कि दानवता ने आज मानवता को दबोच लिया है। मानव की संतप्त आत्मा कराह उठी है। ऐसे में आज संत्रस्त संसार को उसके भाग्य पर छोड़कर नवनीत-हृदय सन्तों का ब्रह्मचिन्तन और स्वरूपानुसंधान कैसे चलता रहेगा? और यदि चलता भी रहे तो फिर उसका मानवता के लिए कौन सा औचित्य सिद्ध हुआ?

मानव के मन का सुधार हो, दानवता के प्रबल पाश से छुटकारा मिले, जन-मन में दैवी सम्पत्ति का प्रकाश जगमगा उठे और आसुरी संपत्ति, सद्विवेक की ज्वाला मे भस्मीभूत होजाय एवं "सर्वभूत हिते रताः" के क्रियात्मक रूप से अपने राष्ट्र को जीवन और जागृति का संदेश मिले। इसी के लिए हमारा सन्त-समुदाय जनता-जनार्दन की सदैव से आध्यात्मिक सेवा करता आया हैं। यही उनका एकान्त साधन है, आज यही उनका ब्रह्म चिन्तन है।

दुःखियों का दुःख

दुखियों के दुख को क्यों भगवन्,
तुम और बढ़ाते जाते हो।
गिरे हुये को क्यों भगवन्,
तुम और गिराते जाते हो॥
दुखों की आँधी आने पर,
क्यों साहस नहीं बढ़ाते हो।
तमसावृत इस जीवन में,
क्यों दीपक नहीं दिखाते हो।
मैं निर्बल निरुपाय आज क्यों,
मार्ग नहीं दिखलाते हो॥
लहरों में मचली नैया है,
क्यों तट पर नहीं लगाते हो।
दुखियों के दुख को क्यों भगवन्।
तुम और बढ़ाते जाते हो।

(सुश्री मीराबाला टंडन)

आगे की तैयारी

(श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज)

यात्रियों के सुविधा के लिये, परमार्थ की भावना से धनी मानी सज्जन, यत्र-तत्र धर्मशालाएँ बनवाते हैं। व्यापार अथवा भ्रमण के निमित्त परदेश जाने वाले यात्री उन धर्मशालाओं में ठहर कर, सुविधा पूर्वक अपने कार्य का सपादन करते हैं। धर्मशाला का निर्माण करने वाले जैसे नियम बनाते हैं उन्हीं नियमों के अनुसार मुसाफिर धर्मशाला में ठहरते हैं। जो यात्री उन नियमों की अवहेलना करता है, उससे मैनेजर कोठरी खाली करा लेता है। यदि तीन दिन या सात दिन ठहरने का नियम है तो उससे अधिक कोई ठहर नहीं सकता। आज तक कोई ऐसा यात्री देखने या सुनने में नहीं आया जो धर्मशाले के निर्माण के समय से लेकर उसके अन्त तक ठहरा रहे। उसमें तो सहस्त्रों व्यक्ति आते हैं, ठहरते हैं और चले जाते हैं। ठीक इसी प्रकार जगन्नियंता ने जीवों के लिये यह संसार रूपी धर्मशाला बनाई है। इसके नियमों के अनुसार कोई भी व्यक्ति अधिक से अधिक सौ वर्ष तक ही ठहर सकता है। सन् १८५३ का कोई व्यक्ति आज इस संसार में नहीं है और २०५३ में आज का कोई व्यक्ति इस ससार में नहीं रहने पावेगा।

जगत धर्मशाला बडी, मालिक परम उदार।
बँधते रहते बिस्तरे, खुलते हैं दो चार॥

भगवान् के इस धर्मशाले की कोई भी वस्तु जीव रूपी यात्री अपने साथ नहीं ले जा सकता। जैसे धर्मशाला का यात्री अपने प्रयोग के लिये मिलने वाली थाली चिमटा आदि वस्तुएँ मैनेजर को सौंप कर आगे चला जाता है। इसी प्रकार यहाँ के भोग्य पदार्थ सब के सब ज्यों के त्यों छोड़कर, परवश जीव इस मृत्यु लोक से अनन्त की ओर चला जाता है। हमारे बाबा-परबाबा और लकड़दादा यहाँ की वस्तुओं को अपनी-अपनी कहते-कहते चले गये। आज हम उन्हीं वस्तुओं को, यह जानकर भी कि यह सभी हमसे बरबस छीन ली जायँगी, उन्हें अपना ही माने बैठे हैं। श्रीराम और श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेने वाले अखिल ब्रह्माण्ड नायक के माया मय पाँचभौतिक शरीर भी इस धराधाम से तिरोहित होगये। हिरण्यकश्यपु और रावण जैसे दुर्दमनीय अमर वरदानी भी नहीं रहे तो फिर अन्य की क्या बिसात ?

रहे राम रौना, श्रीकृष्ण बौना,
सबै जन्म ले लै कहाँ धौं छिपाने।
रहे पाण्डवा, कौरवा, यादवा ना,
कहाँ धौं गये ते नहीं जात जाने॥
कहे जे ते रामे घनेके गने के,
लखौरे सबै ये जिमी काल साने।
धरा के किनारे यहै जो सुने रे,
फरे सो झरे जे बरे ते बुताने॥

इस मिट्टी के शरीर में रहकर हम-हम करते हुये व्यर्थ और अनर्थ के कार्यों से, संसार के अहित में अपनी प्राप्य शक्तियों का दुरुपयोग करने वाले, वे क्रूरकर्मा भी न रहे जिनके नाम से समस्त विश्व थर्राता था। एक दिन उनका वज्रतुल्य शरीर भी भस्म की ढेरी बन कर रह गया।

पाँव थर्राते थे जिनके सामने जाते हुए।
देखा उनकी खोपड़ी को ठोकरें खाते हुए॥

क्रूर काल की कराल गति ही ऐसी है, फिर भी महान् आश्चर्य की बात है कि यह सब देखते और भली भाँति समझते हुए भी हमारे मनीराम तो यह

कहते हैं कि जो मर गए सो मर गए हमें तो नहीं मरना है। इस भयंकर भ्रम का निवारण करने के लिए अपने मनीराम को समझाने की आवश्यकता है कि अपने बचपन में बाबा कहा करते थे कि हमारे नाम मकान का बैनामा है। आज वह कागज पर लिखा हुआ बैनामा तो ज्यों का त्यों संदूक में रक्खा है लेकिन मकान को अपना समझने वाले बाबा हमारे सामने मकान को यहीं छोड़कर चले गए। अर्थात् वह बैनामा नहीं बे-नामा निकला। बाबा का वह मकान एक दिन हमें भी विवश हो कर खाली करना पड़ेगा। जिन के पास चतुरंगिनी सेना थी, जिसके शरीर की रक्षा की लिए सहस्रों वीर योद्धा अहर्निश तत्पर रहते थे, उनकी भी रक्षा नहीं हो सकी। उन्हें भी अपना महल अटारी, अपार धन-वैभव लड़के बच्चे सब कुछ यहीं छोड़कर जाना पड़ा। जिनके पसीने की एक बूंद पर खून की नदियाँ बह जाती थीं उनके महलों पर आज कौवे उड़ रहे हैं। जहाँ आठों पहर नौबतें बजा करती थीं वहाँ आज स्यार और चिमगादड़ों का अड्डा बन गया।

आस पास योद्धा खड़े, सबै बजावें गाल।
बीच महल से ले चला ऐसा काल कराल॥
आठों नौबत बाजती होत छतीसों राग॥
सो मन्दिर खाली पड़े बैठन लागे काग।

परमार्थ के पथिक को इस प्रकार का निश्चय प्रति दिन दृढ़ता से करना चाहिए। यदि यह निश्चय न हो सका तो इस नश्वर संसार की आसक्ति पुनः उसी कष्टमयी शृंखला में बाँध लेगी और यह मानव जीवन व्यर्थ चला जायगा। एक विदेशी की भाँति इस संसार में रहने का अभ्यास यदि हो गया तो बेड़ा पार है। मनीराम को समझाइए कि—

रहना नहिं देश बिराना है।
यह संसार कागज की पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँटे की झाड़ी उलझ उलझि मर जाना है॥
यह ससार झाड़ अरु झाँखर आगि लगे जरि जाना है

सोते, जागते, उठते, बैठते हर समय इस विचार का आश्रय लिए रहो कि इस स्वप्न के संसार में अपना कुछ भी नहीं। यह देव-दुर्लभ शरीर परलोक का सुधार करने के लिये ही मिला है। इस प्रकार की विचारधारा से अपने भोगासक्त मन को एक प्रकाश मिलेगा अर्थात तब वह अपनी सतोगुणी बुद्धि का आज्ञानुवर्ती बनकर सत्य-मार्ग का पथिक बन जायगा। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम सांसारिक कार्यों से नितान्त उदासीन बनकर अपने इस लोक का बिगाड़ कर लेंगे। वास्तविकता तो यह है कि जो व्यक्ति परमार्थ से विमुख होकर केवल एकांगी बनकर, माया में ही लिप्त रहते हैं वे इस लोक में भी सुखानुभूति नहीं कर पाते। उनके प्राप्य सुखों में चिन्ता का विष मिला रहता है। अपने पास अपार धन-वैभव होने पर भी उनका मन अशान्त ही बना रहता है। सत्संग के आश्रय से, परिमार्जित बुद्धि द्वारा ऐसी अकाट्य सरल युक्तियाँ और सूझ मिल जाती है जिनके द्वारा यह बद्ध जीव शुद्ध-बुद्ध बनकर अनायास भवसागर पार उतर जाता है।

एक राज्य का नियम था कि गद्दी पर बैठने वाला केवल ३ वर्ष तक ही राज्य कर सकता था। इन तीन वर्षों में उसकी आज्ञाओं का पालन अनिवार्य रूप से होता था किन्तु तीन वर्ष समाप्त होते ही, उस राजा को पकड़कर सिंह व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं से भरे गहन वन में छोड़ दिया जाता था शेर चीते उसे चीर फाड़ कर खा जाते थे। भोगों के प्रबल आकर्षण से तीन वर्षों के स्वल्प समय में सिंहासनारूढ़ बनकर अनेक मूर्खों ने अपने प्राण गँवाए। एक बार एक सन्त के एक विरक्त शिष्य को भी इस माया-मरीचिका ने अपनी ओर आकर्षित

कर लिया। राजा वनकर वह अपने गुरू को प्रणाम करने गया। गुरू ने कहा बेटा तुम बुरे फँसे। तीन वर्ष के बाद आज का यह अमृत ही तुम्हारे लिये विष वन जायगा, तब सिर धुन-धुन कर पछताओगे। गुरुजी के ऐसे वचन सुनकर चेला जी बहुत घबड़ाये गुरुजी ने कहा अब क्यों पछताते हो, राजा तुम बने हो तो सिंह का भोजन भी तुम्हीं को बनना पड़ेगा। शिष्य के अन्तर्हृदय में मृत्यु की भावी विभीषिका, चलचित्र की भांति स्पष्ट हो चली। उसने अधीर होकर गुरु-भगवान के चरणों में लोटकर रोते रोते कहा—रक्षा करो भगवन्! इस सकट से मुझे उबारो माया की चकाचौंध में मैं अपने कर्त्तव्य से च्युत होगया। दयालु सन्त का नवनीत सा कोमल हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने कहा—चिन्ता न करो मङ्गलमय प्रभु इस अमङ्गल का निवारण करेंगे। कुछ देर तक मौन रहकर सन्त भगवान गम्भीर वाणी से बोले—तुम अभी से उस बन में जाने की तैयारी करो। आश्चर्य से शिष्य ने कहा—महाराज मैं आपका आशय समझ नहीं सका। गुरू जी हसते हुए बोले—साधारण सी बात है—तू अभी राजा है, तेरी सभी आज्ञाओं का पालन होगा उस बीहड वन को कटवा कर साफ करने की आज्ञा जारी कर दे। जगल साफ होने के बाद चतुर शिल्पियों से वहाँ अपने लिये महल और प्रजा के लिये नवीन नगर का निर्माण करवा ले। सारा धन, वैभव हाथी घोडे पहिले से ही वहाँ भेज दे। गुरू जी की इस युक्ति को सुनकर शिष्य के आनन्द का पारावार नहीं रहा। उसने उसी समय मन्त्री को अपनी सभी आज्ञाएँ सुना दीं। दूसरे ही दिन से जगल कटने लगा, हिंसक जन्तु भाग गए या सेना द्वारा मारे गए। सहस्रों शिल्पियों ने एक वर्ष के भीतर ही एक भव्य नगरी का निर्माण कर दिया। दूसरा वर्ष व्यतीत होते-होते वहाँ सुन्दर बाजार बस गया और राजा को इस नगरी से भी अधिक मनोरम बन गया। तीसरे वर्ष के प्रारम्भ से ही उस राजा ने अपना सचित कोष तथा समस्त आवश्यक वस्तुयें उस नव-निर्मित महल में भिजवा दीं। धीरे-धीरे तीन वर्ष समाप्त हुए और नियमानुसार उसे गद्दी छोड़नी पड़ी। राजा के प्रजा वात्सल्य और धर्म प्रेम से सारी प्रजा आकर्षित थी, राजा से प्रेम करती थी। इस सिंहासन को छोड़ कर जब वह चलने लगा तो प्रजा भी उस के साथ चली। सद्गुरु की इस सरल युक्ति से वह हँसते हँसते उस नगरी में चला गया। इस राजा से पहिले के जितने राजा गद्दी से उतारे जाते थे वे रोते चिल्लाते हुए खींच-खाँच कर ले जाए जाते थे।

इस दृष्टान्त पर पाठक गम्भीरता पूर्वक विचार करें और अपने परलोक का सुधार करने की तैयारी मे लग जायँ, हम सब को एक दिन ऐसी नगरी में जाना है जहाँ से फिर इस रूप मे लौटने की सम्भावना नहीं। अस्तु, संत सद्गुरु की शरण में जाकर अपने जीवन की धारा का प्रवाह परलोक के के सुन्दर सुखद मार्ग की ओर मोड़ दो। तुम्हारा सब अमगल नष्ट हो जायगा। सत और सत्संग की कृपा से तुम्हारा यह लोक और परलोक दोनों ही बन जायगे। उर्दू के एक सूफी कवि ने कितना सुन्दर लिखा है।

बहुत मजबूत घर है आकवत का दारे दुनिया से।
उठा लेना यहाँ से अपनी दौलत और वहाँ रखना॥

भाव संशुद्धि

(कृष्णदेवनारायण एडवोकेट, एम० ए०एल० एल० बी०)

भावेन लभते सर्वम् भावेन देवदर्शनम् ।
भावेन परम ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम् ॥

भजन में भाव ही मुख्य है। भक्त तथा रहस्यवादी (Mystic) का तो भाव ही जीवन है। किसी भी साधना मे भाव सहायक या बाधक हो सकता है। इसके द्वारा मनुष्य का पतन व उत्थान दोनों ही होते हैं। तंत्रशास्त्र तथा मत्रशास्त्र ने तो भाव को ही प्रधानता दी है यहाँ तक कि तत्रों ने तो सारे ससार के मनुष्यों का विभाजन तीन भागों मे किया है। १ पशुभावापन्न २ वीरभावापन्न तथा ३ दिव्य-भावापन्न। इन तीनों की व्याख्या तथा लक्षण कुब्जिका तत्र इत्यादि आगम ग्रन्थों में मिलती है। भावों के महत्व को गीता ने भी स्वीकार किया है और इसी हेतु भगवान् श्रीकृष्ण ने भाव संशुद्धि को मानसिक तप बतलाया है "भावसशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते" (गीता १७।१६) भाव क्या हैं उसकी उत्पत्ति विकास तथा सशुद्धि क्यों और कैसे होती है ? इसे समझने की आवश्यकता है।

भाव मन की एक विशेष अवस्था है इसके विकसित रूप को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक "सवेग" कहते हैं। मन के द्वारा दो क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं १ विचार (Thought or Ideation) और २ भाव (emotions) मन का निरोध विचार और भाव दोनों ही के निरोध से होता है ध्यान उसकी क्रिया है परन्तु ध्यान से मुख्यत: विचार का ही निरोध होता है। विचार के निरोध से मन भावशून्य तो हो जाता है परन्तु भाव मरता नहीं और किसी समय भी साधक का पतन हो सकता है। बड़े बड़े योगियों के पतन का कारण मुख्यत असंस्कृत भाव ही होते हैं। विश्वामित्र तथा मेनका की कथा प्रसिद्ध है। ज्ञानयोग विचार प्रधान साधना है और भक्तियोग भाव प्रधान। इसी से साधना में ज्ञान तथा भक्ति का समन्वय होना अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य की जीवनी या प्राणशक्ति (Living or life force) मनुष्य के भीतर विचार और कार्य के रूप मे प्रगट होती है। कोई भी कार्य जो सम्पादित होता है उसका कारण रूप विचार (Thought or idea) ही होता है वह पहले संकल्प के रूप से मन मे आता है और अन्त में कार्यरूप में परिणत हो जाता है। इस विचार द्वारा मन में अपार शक्ति पैदा होती है जो कार्यरूप में परिणित होकर समाप्त हो जाती है। इससे यह प्रत्यक्ष है कि जितनी शक्ति विचार द्वारा उत्पन्न हुई वह यदि सम्पूर्ण की सम्पूर्ण कार्य में परिणत हो जाय तो मन अपनी पूर्व की शान्त अवस्था में फिर पहुँच जायगा परन्तु यदि सम्पूर्ण शक्ति जिसको विचार ने मन में उत्पन्न किया है व्यय नहीं होती है तो मन मे कुछ प्रवृद्ध शक्ति (Unexpended surplus energy) बच रही है वही भाव (Emotion) का रूप धारण कर लेती है फिर वह शक्ति मनुष्य को रजोगुणी बनाकर उससे ऊपर अपना आधिपत्य करके उसमे षट विकारों (काम क्रोध लोभ इत्यादि) को उत्पन्न करती है। गीता के अनुसार इन विकारों की रजोगुण से ही उत्पति होती है (गी० ३।३७) और ये ही मनुष्य को नरकगामी बनाते हैं (गी० १६।२१) मनुष्य इन षट् विकारों के चिन्तन में फँस जाता है और चिन्तन द्वारा अधिक शक्ति उत्पन्न होती है फिर उसका पूर्णत. व्यय न होने से इन विकारों की उत्पत्ति और चिन्तन बढ़ जाता है। इस प्रकार से इस एक दुष्ट चक्र (Vicious circle) बन जाता है और

मनुष्य जीवन इसी में समाप्त होजाता है। मनुष्य शान्ति-शान्ति चिल्लाता रहता है और शान्ति उससे कोसों दूर रहती है क्योंकि उसको इस अशान्ति के कारण का पता नहीं चल पाता। वह यह समझता है कि उसको कोई बाहरी वस्तु अशान्त बना रही है वह यह जानता ही नहीं कि अशान्ति का कारण तो उसके मन में ही वर्त्तमान है

शंका हो सकती है कि विचारों के निरोध से ये भाव स्वय समाप्त हो जावेंगे फिर भाव सशुद्धि इत्यादि क्रियाओं की क्या आवश्यकता? ध्यान द्वारा विचारों का निरोध कर लिया जावे और सब आप से आप ठीक हो जावेगा। बात तो ठीक ही मालूम पड़ती है परन्तु पूर्व-जन्म के सस्कारों की औषधि भी तो होनी चाहिये। इस जन्म के हमारे विचार तथा भाव अगले जन्म में सस्कार के रूप मे प्रगट होते हैं चित्त की "स्मृति" नाम की वृत्ति ही सस्कारों का कारण है। सस्कार से स्मृति तथा स्मृति से संस्कारा यह क्रम है। "संस्काररेभ्यस्मृतिः स्मृतेश्च पुनः संस्कार इत्येवम्" (यो० सू० व्यास-भाष्य ४.६) संस्कार अथवा स्मृति मनुष्य के जीवन का अप्रत्यक्ष रूप से संचालन तथा mould करती है। एक ही माता-पिता की कई सन्तानों में 'एक ज्ञानी, दूसरा लम्पट तीसरा क्रोधी तथा चौथा और भिन्न प्रकृति के होते हुए देखे गये हैं। संस्कार ही उसका मुख्य कारण है सस्कारों से प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है और उसकी वासनाओं में प्रवृति होती है और फिर उन्हीं से नये संस्कार बनते हैं यह चक्र अनवरत चलता रहता है।

इस सचित तथा प्रवृद्ध शक्ति (accumulated & surplus energy) का उपयोग होना ही चाहिये नहीं तो इसका बहुत ही बुरा प्रभाव मानव शरीर तथा इन्द्रियों पर पड़ता है। यह मानव शरीर को समय के पूर्व ही क्षीण तथा नष्ट कर देती हैं। प्रभाव मनुष्य के स्नायु-मडल (nervous system) पर विशेष रूप से पड़ता है जिससे बहुत से शारीरिक तथा मानसिक विकार उसमे उत्पन्न हो जाते हैं रक्त दूषित हो जाता है विचार शक्ति काम नहीं करती तथा इच्छा शक्ति दुर्बल होजाती है और अन्त मे बुद्धि का नाश होकर मानवता का ही नाश होजाता है। (गी० २।६२।६३।)। चिन्ता, भय ईर्ष्या तथा द्वेष से शरीर किस प्रकार विकारयुक्त हो जाता है यह सभी जानते हैं स्त्रियाँ विशेपकर बहुत भावापन्न (emotional) होने के कारण स्नायविक (nervous) रोगों से ग्रसित होती हैं तथा इसी कारण से वह अधिक भक्त और धर्मभीरु भी होती है परन्तु इन प्रभावों के होते हुए भी भाव मानव को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। उनकी समुचित व्यवस्था होने से वे आध्यात्मिक तथा सासारिक दोनों ही क्षेत्रों में लाभदायक हो जाते हैं केवल उनकी सशुद्धि तथा संस्कृति होनी चाहिये। भावों को शुद्ध करना एक दिन का कार्य नहीं उसके लिये आजन्म प्रयत्नशील रहना पड़ता है इस कार्य के लिये जंगल, पहाड़, नदी-कूल या एकान्त गुफा की आवश्यकता नहीं और न वहाँ रहकर इस में सिद्धि ही मिल सकती है। मनुष्य की अपनी गृहस्थी तथा यह संसार ही उसके लिये कार्यक्षेत्र है। ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती भूतपूर्व शंकराचार्य ज्योतिष्पीठ अपने उपदेश में कहा करते थे कि "संसार को भजो" इसका अर्थ यही है कि भाव संशुद्धि संसार से मिलकर रहने से ही हो सकती है।

प्रथम यह बात जानना आवश्यक है कि मन के जितने भी भाव हैं वह राग तथा द्वेप के ही अन्तर्गत हैं ये दोनों प्रकृति (Nature) के आकर्षण तथा दूरीकरन (attraction and repulsion) शक्तियों के स्वरूप हैं। यह निश्चित है कि किसी भी शक्ति का निरोध या पूर्णतः दमन कठिन ही नहीं वरन असम्भव है। पानी के एक छोटे से

सोते को भी रोका नहीं जा सकता यदि उसके बहाव को बिलकुल रोक दिया जाय तो वह कोई न कोई दूसरा मार्ग निकालकर बहना आरम्भ ही कर देगा। उसको वश में करने की सबसे अच्छी विधि अपने बनाये हुए मार्ग से बहाने की अर्थात मार्गान्तरीकरण (Redirection) की है। हरिद्वार से जिन लोगों ने श्री गगा जी के नहर की बनावट को देखा है वह इसको भली प्रकार से समझ सकते हैं। ब्रह्मकुण्ड से ऊपर नीलधारा में गंगा की प्रचण्डधारा को रोककर ब्रह्मकुण्ड की तरफ घुमा दिया है और फिर एक हर की पौड़ी के उस पार और मायापुर से इस धारा को भी बिलकुल रोक कर नहर के रास्ते बहा दिया है। छोटे-छोटे लकड़ी के तख्ते इस विशाल गंगाधारा को रोके हुए हैं जिनको हिमालय पर्वत की बड़ी बड़ी शिलायें भी नहीं रोक सकीं कारण यह है कि उस धार की तीव्रता का मार्ग बदल दिया गया है।

यही कार्यकुशलता (technique) भावों के निरोध तथा संशुद्धि में भी लगानी पड़ती है। ध्यान द्वारा साधना दृढ़ होने पर भाव कम उठते हैं और उनकी समस्या भी कम हो जाती है परन्तु वह मरते नहीं। संशोधित तथा सस्कृत होने पर वे बाधक की जगह पर सहायक हो जाते हैं।

द्वेष जनित मन के जितने भाव हैं उनको शुद्ध करने की विधि पातञ्जलि इत्यादि ऋषियों ने मुख्यत. चार प्रकार से बतलाई है १, मैत्री २, मुदिता ३, करुणा तथा ४ उपेक्षा। संसार में मनुष्य अपने से अन्य प्राणियों को केवल तीन अवस्था मे देखता है, या तो अपने से अच्छा व सुखी या अपने से बुरा व दुखी या अपने ही समान स्थिति वाला। बड़ों तथा सुखियों को देखकर ईर्ष्या तथा बराबर वालों से द्वेष और नीचे तथा दु.खियों से घृणा पैदा होती है और यही भावनाएँ अशान्ति का कारण बन जाती हैं। मैत्री, मुदिता तथा करुणा द्वारा यह भाव बदले जा सकते हैं। बड़ों तथा सुखियों को देखकर मुदित तथा आनन्दित होना, बराबर वालों से मैत्री करना तथा अपने से नीचे और दुखियों से करुणा करने से कुभाव सद्भाव मे परिणत हो जाते है और मन को अशान्त नहीं करते। पापशील अर्थात् पापियों से 'उपेक्षा' करनी चाहिये। पाप का चिन्तन नहीं होना चाहिये क्योंकि आवृत्ति होने से उसी गुण की वृद्धि अपने में होती है अतएव दूसरों का सद्गुण ही देखना चाहिये अवगुण नही।

रागजनित भाव इन्द्रियजन्य हैं, ये वासना के स्वरूप हैं। इन्द्रियों को अपने विषयों (Objects of senses) मे आसक्ति होने से ही ये भाव उत्पन्न होते हैं। आसक्ति से चिन्तन और चिन्तन से आसक्ति तथा भावों की उत्पत्ति। यदि इन्द्रियों से उनके विषयों की आसक्ति हटा दी जाय तो भावों की उत्पत्ति न हो और यदि हो भी तो उनका स्वरूप दिव्य हो और वे साधन रूप हो जावें। जैसे नेत्र का विषय रूप है यदि नेत्र की आसक्ति रूप में न रहे तो फिर कोई डर नहीं। आसक्ति ही इन्द्रियों को उनके सहज प्राकृतिक कर्म से मोड़कर उनके द्वारा मन को संसार की भूल भुलैया में फँसाती है। इन्द्रियों से आसक्ति हटाने की क्रिया योगके पाँचवें अग प्रत्याहार द्वारा की जाती है परन्तु 'इन्द्रियों की विषय वासना सुखस्पृहा उस समय तक नहीं मिटती जब तक उन्हें असली रस का स्वाद न मिले इसी हेतु इन्द्रियाँ विषयों की तरफ भागती हैं।" इसलिये यदि इन्द्रियों की आसक्ति विषयों में स्वाभाविक है तो इस स्वाभाविकता का लाभ उठाने के लिये ही भक्तियोग की व्यवस्था की गई है। नेत्रों को यदि रूप मे आसक्ति ही है तो ससार के सब रूपों को भगवान् या अपने इष्ट का ही रूप समझें स्त्रियों को देखकर यदि काम वासना उत्तेजित हो तो स्त्री-मात्र मे मां या बहिन की भावना बना लेने से यह वासना तत्क्षण शान्त हो जावेगी। 'इसमे सन्देह नहीं'। तन्त्रों ने

ईश्वर के मातृरूप की उपासना का प्रचार करके संसार का सचमुच बड़ा कल्याण किया है सप्तशती के नारायणी स्तोत्र मे इसी का संकेत किया है 'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु' (दु॰स॰ ११।६)

यह आसक्ति ही सबसे बडा दुःख का कारण है और सब अनिष्टों की मूल है । यदि आसक्ति से छुटकारा मिल जाय तो फिर संसार बंधन का नहीं वरन् मोक्ष का कारण बन जावेगा । संसार की सृष्टि जीव के कल्याण तथा उत्थान (Evolution) के लिये हुई है न कि उसके पतन के लिये । आवश्यकता केवल यह है कि संसार के विषय में हमारा दृष्टि कोण (Correct angle of vision) शुद्ध होना चाहिये । इसके लिये ऋषियों तथा शास्त्रों ने वैराग्य का उपदेश किया है । वैराग्य का अर्थ ससार तथा विषयों से असंगता (Dissociation) नहीं क्योंकि संसार मे रहकर उससे पूर्णत. असंगता हो ही नहीं सकती । वैराग्य का अर्थ है ससार तथा उसके विषयों में अनासक्ति (Nonattachment) एक पाश्चात्य लेखक ने वैराग्य की व्याख्या इस प्रकार की है ।

"Vairagya (वैराग्य) is the absence of agitation due to things outside" अर्थात जब वाह्य वस्तुओं से और विषयों से मन चचल न होवे तो उसको वैराग्य कहते हैं इसका अर्थ यह नहीं कि मन भावशून्य हो जावा है वरन् भाव शुद्ध तथा सस्कृत होकर राग-द्वेष तथा प्रेम' और त्याग' मे वदल जाते हैं । इसी लिये भगवान श्रीकृष्ण ने अभ्यास तथा वैराग्य के दो उपाय मन को वश मे करने के लिये बताये हैं । विषयों तथा ससार में दुःख की भावना करने से वैराग्य दृढ़ होता है ।

वैराग्य भावना के अतिरिक्त निम्नलिखित साधनों से भाव संशुद्धि शीघ्र होती है इसकी सत्यता अनुभव से ही प्रमाणित हो सकती है यह केवल पठन का विषय नहीं वरन् अनुभूत प्रयोग हैं ।

(१) पहिला साधन है "भावों के दृष्टा बनना" अर्थात भावों को अपने से भिन्न समझना जब तक हम किसी वस्तु को अपने से भिन्न नहीं समझते हैं उस समय तक वश में करना या उस पर विजय पाना सम्भव नहीं है । यह क्रिया आधुनिक चित्त विश्लेषण (psychoanalysis) की क्रिया से मिलती जुलती है साधक को भावना करनी पडती है कि ये भाव जो उदय हुए हैं वे मुझसे भिन्न है । 'मैं यह भाव नहीं हूँ' इस भावना से भावों की प्रवलता तथा तीव्रता वहुत कम हो जाती है ।

(२) दूसरा साधन है "उपदेश" या भावों के प्रति उदासीन होना (Avoidance) यह क्रिया पूर्व की साधना के ही अन्तर्गत है भेद केवल इतना है कि दृष्टा बनने की क्रिया positive है और यह क्रिया negative है । जिस प्रकार अग्नि में ईंधन न पड़ने से वह स्वयं शान्त हो जाती है उसी प्रकार भावोत्तेजक वस्तु प्राणी या स्थान की उपेक्षा (avoid) करना चाहिये, न उन भावोत्तेजक पदार्थों से सम्पर्क होगा और न भाव उत्पन्न होंगे । जब अपनी इच्छाशक्ति पूर्णरूप से बलवती हो जावे तो फिर कोई भय नहीं ।

(३) तीसरा साधन है महर्षि पातंजलि की बताई हुई "प्रतिपक्ष भावना" या एक भाव के स्थान पर दूसरे भाव को लाना (Replacement) यह साधना बहुत ही सुन्दर ऊँची तथा लाभप्रद है यह तत्काल फल देने वाली साधना है साधारण अभ्यास से ही सफलता दिखलाई पड़ने लगती हैं । आरम्भ में कठिन तथा असम्भव ज्ञात होती है परन्तु हठ करके लगे रहने से सफलता मिलने लगती है । भगवान रामचन्द्रजी की जीवनी मे हमें इस साधना का बहुत ही सुन्दर उदाहरण मिलता है रात्रि में राज्यतिलक का समाचार पाकर भगवान दुःख

दुःख करने लगे कि चार भाइयों के होते हुए अकेले उनको ही तिलक क्यों हो? और फिर उसी के प्रातःकाल बनवास की आज्ञा पाकर हर्ष का अनुभव किया। इसी कारण इन परस्पर विरोधी समाचारों को पाकर भी वह विचलित नहीं हुए। इस साधना से अपने भीतर दिव्य भाव उत्पन्न होते हैं और एक सात्त्विक आनन्द का अनुभव होता है। आध्यात्मिक उन्नति की गति तीव्र हो जाती है। किसी के प्रति द्वेष की भावना के स्थान पर प्रेम की भावना बनाने से जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह अवर्णनीय है। द्वेष की भावना द्वेष से दूर नहीं हो सकती बरनार्डशा (Bernad shaw) के शब्दों मे कीचड़ को कीचड से नहीं धोया जा सकता (Mud cannot be washed -with mud)महर्षि वशिष्ठ तथा विश्वामित्र की कथा प्रसिद्ध है महर्षि वशिष्ठ की प्रेम-भावना ने अन्त मे विश्वामित्र की द्वेष भावना को परास्त कर दिया। कुभाव को शुद्ध तथा दमन करके सद्‌भाव में बदलने से सतोगुण की वृद्धि तथा आध्यात्म शक्ति की उन्नति होगी। क्रोध को क्षमा से बदलने मे जो शान्ति तथा शक्ति प्राप्त होती है वह अनुभवगम्य है। सदाचारी बनाने तथा चरित्र निर्माण में यह साधना बहुत ही सहायक है। स्वाध्याय तथा मनन से इस साधन में बड़ी सहायता मिलती है। परन्तु साधक को समय-समय पर अनुभवी ज्ञानी पुरुषों तथा महात्माओं का सत्संग करते रहना चाहिये और अपनी कठिनाइयों को उन से दूर करते रहना चाहिये।

(४) *चौथी साधना है "शोध करना"* (Sublimation) अर्थात जिन भावों की प्रतिपक्षी भावना सभव न हो उनका रूपान्तर करके दिव्य बनाना। आध्यात्मिक साधन के सबसे बडे बाधक काम भाव को इसके द्वारा वश में किया जा सकता है। मनुष्य की काम भावना (sex instinct) उसके अन्दर की बहुत बड़ी रचनात्मक शक्ति (creative energy) इस शक्ति का रूप बदल कर उससे लाभ उठाया जा सकता है काम को कला तथा प्रेम में परिणित कर देना चाहिये। अनुराग तो काम तथा प्रेम दोनों ही में होता है भेद केवल इतना है कि आसक्तियुक्त अनुराग को काम तथा अनासक्ति अनुराग को प्रेम कहते हैं। जब वह शक्ति प्रेम का रूप धारण कर लेती है तो यह साधन तथा साध्य दोनों हो ही जाती है। प्रेमयोग अथवा भक्तियोग की यही महानता है। भगवान् प्रेम स्वरूप ही हैं "रसोवैस" और इस रस या प्रेम का आस्वाद मिलने पर चित्त की जितनी वृत्तियाँ तथा भाव हैं वह तद्रूप हो जाते हैं। भय के स्थान पर अभय तथा साहस लाना चाहिये। अभयभावापन्न मनुष्य दिव्य हो जाता है। भक्तों में मुख्यत. यह भाव पाया जाता है। ईश्वर-प्रपन्न या उसके शरणागत होने पर फिर भय रह ही नहीं जाता। भय के कारण किस प्रकार दूर हो जाते हैं, "गरल सुधासम अरि हित होई" यह एक रहस्य है। प्रहलाद तथा भक्तिमती देवी मीरा इसके दृष्टान्त हैं। भय अन्धकार है और ईश्वर विश्वास सूर्य, दोनों एक साथ नहीं रह सकते।

इस प्रकार भाव संशुद्धि होने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और वह ईश्वर का निवास-स्थान बन जाता है। भगवान के रहने का स्थान पूज्यपाद गोस्वामी जी ने ऐसा अन्तःकरण ही बताया है :—

काम क्रोध मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया।
तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥

जिनके भाव शुद्ध होगये हैं ऐसे मनुष्य तथा भक्त के लक्षण गीता के बारहवें अध्याय के श्लोक १३ से १६ तक बतलाए गए हैं। उसी को गीता ने स्थितप्रज्ञ भी कहा है (गी० २।५५।५७) और जिसको भाव विचलित तथा चंचल न कर सकें उसी को गुणातीत भी कहते हैं (गी० १४।२४।२५) भाव संशुद्धि से साधक को तारक ज्ञान अथवा प्रातिभ ज्ञान (Intuition) प्राप्त होता है और उससे साधक कृतकृत्य हो जाता है 'भावेन परमं ज्ञानम्' का अर्थ यही है।

भक्त बालक बनवारी

[भक्त-गाथा]

(ले० श्री रामस्वरूप जी गुप्त)

जगज्जाल से जकड़े निराश जीवन मे आशा की जगमग ज्योति जगाने वाले भक्तों के पावन चरित्र, भावुक जन-मन मे श्रद्धा और विश्वास की ऐसी आनन्दमयी निर्झरिणी प्रवाहित कर देते हैं, जिनसे परिप्लावित अन्त करण, कण-कण मे अपने प्रियतम की झाँकी करने का अधिकारी बन जाता है। पुण्य भू भारत की गौरव-गरिमा को बढाने वाले ऐसे प्रात स्मरणीय भक्तों का आविर्भाव, इन गए-बीते दिनों मे भी होता रहता है। ऐसे भक्तों की पुनीत कथाओं से भावुक जनों को श्रद्धा और विश्वास का एक ऐसा सबल सबल मिल जाता है, जिससे वे अपने संतप्त जीवन को अनायास सुखमय बना सकते हैं। इस गाथा मे ऐसे ही एक भक्त बालक की जीवन झाँकी 'परमार्थ' प्रेमियों को मिलेगी।

× × ×

भारत की उस महानगरी मे, उन दिनों एक सम्पन्न वैश्य परिवार निवास करता था। इनके पिता जीविका की खोज में राजस्थान से आये थे। जानकार लोगों का कहना है कि वे एक सेठ के यहाँ परिचारक रूप से, चिलम भरने और बाजार से सौदा सुलुफ लाने के लिये दस रुपये मासिक में नौकर हुए थे। सेवा और स्वामि-भक्ति से उन्होंने शीघ्र ही अपने मालिक के हृदय मे विशेष स्थान बना लिया सेठ ने प्रसन्न होकर किसी काम मे उनकी पत्ती लगा दी। प्रारब्ध और पुरुषार्थ के सम्मिलित वरदान ने उन्हें कुछ दिनों में ही कुछ से कुछ बना दिया। दर-दर की ठोकरें खाने वाले बिहारी पर लक्ष्मी ने कृपा की, भाग्य देवता प्रसन्न हुये। समय के परिवर्तन ने बिहारी को सेठ बिहारीलाल बना दिया जन्मभूमि से बाल-गोपाल भी आगये।

नव निर्मित विशाल अट्टालिका मे गृह-प्रवेश का आयोजन विशेष समारोह से सम्पन्न हुआ। जाति-बिरादरी वालों ने अभ्यागत और अतिथियों के होने वाले स्वागत-सत्कार की भूरि-भूरि प्रशसा की कोठी के पूर्वीय भाग मे, सुरम्य उद्यान के बीच एक छोटे से सरोवर के समीप, कुल-देवता श्री राधाकृष्ण का आकर्षक मन्दिर बना। मन्दिर स्थापना के उत्सव मे, काशी के विद्वान पण्डितों द्वारा वेद-पाठ, स्वाहा-स्वधा की आमोदमयी ध्वनि एव वीतरागी संतों की पावन-वाणी के प्रसाद से उपस्थित भक्त नर-नारी तीन दिनों तक आत्म-विस्मृत से रहे। नव-निर्मित मन्दिर मे विद्युत प्रकाश की जगमगाहट में युगुल सरकार की बाँकी-झाँकी तो बरबस अपनी ओर खींचती थी। छोटे से मन्दिर मे छोटा सा बिजली का पखा भुवन-मनमोहन श्री श्यामसुन्दर और श्री राधारानी के परिधान को हिला-हिलाकर भक्तों की भावना को अपने सुरमुनि-वन्दित कोमल कमनीय चरणों मे बलात खींच लेता था। सुख के दिन व्यतीत होते नहीं जान पड़ते। मानस-पटल पर इन बीते दिनों की स्मृति स्वप्न सी रह जाती है स्थापना के ठीक एक वर्ष बाद भगवन्नाम-संकीर्तन करते-करते उसी मन्दिर मे सेठ बिहारीलाल ने सहसा अपना शरीर छोड़ दिया। सायकाल से प्रारम्भ होने वाले मन्दिर के वार्षिकोत्सव की तैयारियाँ होरही थीं, वहीं पर अब शोक-सागर लहरें मारने लगा। दुखियों के दुख-दर्द में काम आने वाले दानवीर सेठ की दिवगत आत्मा अपने प्रियतम

प्रभु की खोज में अनन्त की ओर चली गई। एक दिन पूर्व उन्होंने उसी मन्दिर में, उसी स्थान पर, प्रातःकालीन प्रार्थना और सतसंग के बाद अपने पुत्र मनोहर, पुत्रवधू और कुटुम्बियों के सामने कहा था—ऐसा जान पड़ता है कि मेरा काम समाप्त हो चुका, अब बुलावा आने वाला है। मेरे पीछे भगवान की सेवा-पूजा में कोई त्रुटि न हो, सन्तों की सेवा इसी भाँति होती रहे—करुणासागर की असीम करुणा और दया का सम्पादन करते-करते उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो चली, फूट फूट कर बालकों की भाँति रोते-रोते उन्होंने कहा था—मेरे जैसे भिखारी को इतना ऊँचा उठाने वाले दयासागर की दया का दिग्दर्शन तुम सबने प्रत्यक्ष रूप से कर लिया उन्हीं श्यामसुन्दर के चरणों मे स्थान मिले अब यही कामना शेष है। वातावरण बहुत करुणोत्पादक बन गया, स्त्री पुरुष बालक सभी रो रहे थे। सबके सामने अपने देव-तुल्य पिता के पूज्य चरणों को आँसुओं से भिगोते हुए मनोहर ने कहा था—आपकी इन बातों से हमारा हृदय फट रहा है, ऐसी बातें न कीजिए।

आज उसी पितृ-भक्त मनोहर ने अपने पिता की चिता में अपने ही हाथों से आग लगा दी। नियति के क्रूर कठोर बंधन में बँधकर प्राणी कितना असहाय-निरुपाय और विवश होजाता है! गंगाजी के तट पर धू-धू करती हुई चिता जल रही थी। भागीरथी के कल-कल-नाद मे लकड़ियों और हड्डियों का चट-चट शब्द मिलकर वातावरण को एक अमर सन्देश दे रहा था।

अंग्रेजी मे कहावत है 'Time is the best Healer' समय पाकर शोक का आवेग धीरे धीरे स्वय ही शान्त हो जाता है। कई वर्ष व्यतीत होगये और अब सेठ बिहारी लाल की स्मृति ही शेष रह गई। दु:ख और सुख तो बारी-बारी से दिन-रात की नाईं हमारे जीवन मे आते ही रहते हैं। अनादि काल से प्रकृति का यही अटल नियम चला आरहा है। आज सेठ मनोहरलाल की कोठी में, प्रमुख द्वार पर पोर्टिको के ऊपर नौबत बज रही है। रग बिरंगे बल्बों से, उद्यान का एक-एक वृक्ष जगमग कर रहा है। बन्दनवार के स्थान पर विद्युत प्रकाश की झालरें लान मे सर्वत्र बाँधी गई हैं। कोठी के बाहर चारदीवारी के किनारे-किनारे, मोटरों की लम्बी लाइन के सामने उनके ड्राइवर बीड़ी-सिगरेट का धुँआँ उड़ा रहे हैं। दर्शक समुदाय एकटक दृष्टि से गेट के ऊपर भगवान विष्णु की सौन्दर्यमयी चतुर्भुजी मूर्ति के दर्शनों में तल्लीन है। विद्युत-कला प्रवीण कारीगरों ने, भगवान के घूमते हुए चक्र और तेज को ऐसा आकर्षक बनाया कि राहगीर दस मिनट इधर देखे बिना आगे जा नहीं सकता। श्रीराधाकृष्णजी के मन्दिर की शोभा तो निराली है। मन्दिर में दर्शकों का ताँता लगा हुआ है। अपार भीड़ होने पर भी सुव्यवस्थित प्रबन्धकों की चतुरता से विशेष कोलाहल नहीं हो रहा। पडाल में इस समय कोई कुशल गायक, अपने मधुर कठ से, महाकवि सूरदास का विख्यात-पद "सब दिन जात न एक समान" गारहे हैं और सहस्रों भावुक नर-नारी तन्मयता से सुन रहे हैं।

× × ×

स्वर्गीय सेठ बिहारीलाल की मूर्ति का अनावरण एवं सेठ मनोहरलाल के एकादश वर्षीय पुत्र बनवारी की वर्षगांठ के उपलक्ष मे इस समारोह का आयोजन हुआ। प्रीतिभोज में नगर के धनी-मानी सज्जन, आमंत्रित साधु-महात्मा विद्वान और कथा वाचक सम्मिलित हुये थे। भोज के अन्त में, सौन्दर्य की साकार प्रतिमा, बालक बनवारी ने माइक्रोफोन के सामने खड़े होकर जो भक्तिरसपूर्ण हृदयग्राही कविता सुनाई वह तो श्रोताओं के कानों

में बहुत दिनों तक गूँजती रहेगी।

× × ×

हरिद्वार मे कुम्भ के विशाल पर्व पर सेठ मनोहरलाल अपनी धर्मपत्नी और एकमात्र पुत्र वनवारी को साथ लेकर आये। स्वर्गीय पिता के पद चिन्हों पर चलने वाले मनोहरलाल जी विशेष धर्मभीरु थे। अपने से कोई पाप कर्म न बन पड़े, किसी के मन को अपनी क्रिया से किंचित भी ठेस न लगे। साधु-सेवा में कोई त्रुटि न होने पावे, इन बातों का उन्हें विशेष ध्यान रहता था। कुम्भ की विशाल भीड़ में होने वाले कष्टों के अनुमान से उन्होंने चलने से पूर्व कई दिनों तक आनाकानी की किन्तु बनवारी और उसकी माता के प्रेमपूर्ण हठ के आगे विवश हो गये। कहार रसोइया और छोटे मुनीम जी, तीन प्राणी और साथ में आये। भीमगोड़ा के पास एक कोठी पडा जी ने ठीक कर रक्खी थी।

नामी और दानी सेठ का आगमन सुन-सुनकर याचकों का ताँता लगा रहता। कभी साधु-सन्तों का भंडारा होता तो कभी ब्राह्मण भोजन चलता। कोई भी याचक सेठ के द्वार से विमुख नहीं लौटा किसी न किसी अंश मे उसकी पूर्ति अवश्य हुई।

श्रीरामचरितमानस में राजा प्रतापभानु की कथा प्रसंग में एकतनु का वर्णन है जिसने राजा को अपनी सिद्धियों के चमत्कार में फसा कर, उनका सर्वनाश कर दिया था। इसी प्रकार के दुखप्रद और करुण-घटना चक्र मे भोले भक्त सेठ दम्पति भी फँस गये। विचित्र वेश-भूषा बनाये एक कापालिक इनकी कोठी मे नित्य आने लगा चौड़े मस्तक में लाल, त्रिपुण्ड, गले में मोटे रुद्राक्ष की माला, दाहिने हाथ में चमचमाता हुआ त्रिशूल और बाँयें हाथ में खप्पर। उसकी लाल-लाल आँखें और कंधों पर छितराये रूखे बाल देखकर सहसा उसे देखने के लिये लोग ठिठक जाते उसकी बड़ी-बड़ी आँखों मे अनोखी आकर्षण शक्ति थी। मेघ-गर्जन सी गम्भीर वाणी में शुद्ध संस्कृत श्लोक उच्चारण करते हुये उसने सेठ को आशीर्वाद दिया। सेठ के भूतकाल की बातें कापालिक ने एक-एक करके ऐसे सुना दीं जैसे सब कुछ उसने स्वयं देखा हो। सेठ दम्पति प्रभावित हुये। मुनीम, महराजिन ने साष्टाग दंडवत की और अपने हाथ दिखाए। सबसे अधिक कौतूहल हुआ सेठ-कुमार बनवारी को क्योंकि उसके सामने बाबा जी खाली हाथ दिखाते और हाथ ऊँचा करके ऊपर ही मुट्ठी बाँधते और जब खोलते तो कभी किशमिश कभी पिस्ता कभी इलायचियाँ ढेर की ढेर निकल पड़तीं। बनवारीने वे चीजें स्वयं खाईं बुधुआ कहार और महराजिन को भी बाँटी।

औघड़ बाबा नित नया चमत्कार दिखाते और तर माल छक कर चले जाते।

× × ×

भागो! भागो!! आग लगी है, चीत्कार और कोलाहल को सुनकर बुधुआ ने ऊपर चढ़कर देखा और शीघ्रता से आकर हाँफते हुए कहा—सरकार! अपनी कोठी के पीछे साधूबाड़ा में बड़ी जोर की आग लगी है ऊँची ऊँची लपटें दीवाल को छू रही सेठ ने जाकर देखा, प्रलयङ्कर दृश्य था। भयंकर ज्वाला में उन सैकड़ों फूस की झोपड़ियों को भस्मसात होते हुए एक विशाल जन समूह खड़ा किंकर्त्तव्य-विमूढ़ देख रहा था। किसी गंजेड़ी साधु की चिलम की लपट छप्पर से लटकते हुए फूस में छू गई थी उसी ने अब ऐसा विकराल रूप धारण कर लिया। मनोहर लाल जी नीचे भागे—उन्होंने देखा कि पीछेवाला बड़ा फाटक धू-धू कर जलने लगा। नीचे पहुँचते पहुँचते पीछे के भाग में आग पहुँच चुकी। शीघ्रता से सेठानी और महाराजिन को एक प्रकार से घसीटते हुए बाहर सड़क पर खीच लाये। बुद्धिमान बुधुआ पहिले से ही आवश्यक सामान हटा रहा था। संयोग से उस समय बनवारी

मुनीम जी के साथ प्रदर्शनी देखने गया था। प्रकृतिस्थ होकर सेठ ने कहा—भगवान् सब की रक्षा करें।

"अभी लाल जी नहीं आए ? बड़ी देर होगई महराजिन ने सेठानी से कहा।

बुद्धू ! तुम जाकर नुमाइश की तरफ देखो तो—अपने दुलारे लाल के आने में विलम्ब होता देख माता का हृदय धडक रहा था।

"चिन्ता की क्या बात है मुनीम जी तो साथ ही हैं"—सेठ जी बोले—

बुधुआ जाते जाते कुछ रुका फिर बोला—सरकार ! कई घंटे तो होचुके, अब तक तो आजाना चाहिये था। मैं उनका पता लगाकर जल्दी लौटूंगा

बुधुआ चला गया। मनोहर सेठ के मन को कोई अज्ञात आशंका आन्दोलित कर रही थी। गम्भीर होकर वे भक्तभयहारी भगवान् का स्मरण करते करते टहलने लगे। "सरकार ! क्या लालजी यहाँ पहुँच गए ?" कहते हुए मुनीम ने सहसा सेठ के सामने आकर पूछा—मुनीम के चेहरे परहवाइयाँ उड़ रही थीं।

नहीं तो—विचार-तन्द्रा से चौंकते हुए मनोहर जी ने कहा—कहाँ गये लाल जी ?

"प्रदर्शनी मेंजबइस दुर्घनाकी सूचना मिली कि साधूवाडा मे अग्निकाण्ड होगया है तो वहाँएक प्रकार की भगदड़ सी मच गई थी और लाल जी से मेरा साथ छूट गया। दो घंटे से उन्हें खोजता हुआ भटक रहा हूँ लेकिन लाल जी तो यहाँ भी दिखाई नहीं देते"—सहमे हुए मुनीम ने अपनी सफाई दी।

सेठानी का बुरा हाल था। उनका कलेजा मुँह को आ रहा था। सेठ की गम्भीरता व्यग्रता मे बदली जा रही थी। अपार जन-सागर मे कहाँ उसे ढूंढा जाय ? फिर आशा होती कि मेरा बालक बुद्धिमान है स्वयं ही आजायगा कुछ देर में। मार्ग भूल गया होगा, पूछता पूछता अवश्य पहुँच जायगा निराशा और आशा के प्रबल झंझावात में सेठ दम्पति का मन पीपल के पत्ते की भाँति अशान्त सा काँप रहा था। निराशा बढ़ती जा रही थी। बुधुआ भी हताश होकर लौट चुका था। सेठानी की आँखें रोते-रोते बीर बहूटी हो रही थीं। मुनीम और बुधुआ लाल जी की खोज मे रात भर सड़कों पर चक्कर लगाते रहे। लाउड स्वीकार से दस-दस मिनट मे सेठ-कुमार बनवारी की हुलिया का वर्णन किया जाता था। दैव दुर्वियात से बनवारी का कुछ पता नहीं चला।

× × ×

प्रदर्शिनी में अग्निकाण्ड की सूचना से जब भगदड़ मची तो उस समय भीड़ के धक्के से बनवारी और मुनीम का साथ छूट गया। कौतूहल प्रिय जन समुदाय अग्निकाण्ड को देखने उसी ओर भागा जारहा था। भारी भीड़ में वह बालक बुरी तरह से दबा जारहा था सहसा उसके परिचित औघड़ बाबा अपने बलिष्ठ हाथों से उसे ऊपर उठाकर एक ओर लेगये। बनवारी ने चैन की साँस ली। "भीड़ कुछ कम हो तो उधर चलेंगे तुम घबराना नहीं" औघड़ बोला—तब तक मेरी कुटी में चलकर बैठो। आश्वस्त बालक उसके पीछे पीछे चला। देर तक चलते रहने से बनवारी थक गया था। प्यार और दुलार मे पला हुआ सुकुमार बनवारी ठुनक कर बोला। "मैं थक गया हूँ" "चल इधर चुपचाप"—कड़क कर औघड़ बोला—बालक सहम गया, बाबा जी रुष्ट क्यों हुए वह नहीं समझ सका। नीरव-निस्तब्ध और निर्जन एकान्त में, ऊबड़ खाबड़ पत्थरों पर वह औघड़ बनवारी को न जाने कहाँ लिये जा रहा था। औघड़ के फ़ौलादी पंजों में जकड़ी उसकी कोमल कलाई दु:ख रही थी और आतंक से मन और तन दोनों काँप रहे थे। पहाड़ की एक गम्भीर कन्दरा में

सामने का बड़ा सा पत्थर एक ओर हटाकर, औघड़ प्रविष्ट हुआ, गहन अन्धकार में कुछ दूर भीतर भीतर चलकर भयभीत बनवारी ने देखा—एक ओर अष्टभुजी कालिका की भयकर काजल सी काली मूर्ति है उसकी लाल जिह्वा मुख के बाहर निकली हुई है। औघड ने लालटैन की बत्ती तेज की और गरजते हुए कहा—'उधर बैठ जा'। बालक ने देखा-तेज धार वाला एक चमचमाता कुठार डोरी से बँधा हुआ पत्थर मे लटक रहा है। कुछ बोतलें एक ओर लुढ़की पड़ी हैं और कुछ रक्खी हुई हैं। संत्रस्त बालक ने दोनों हाथों से अपनी आँखें बन्द कर लीं। धर्म के नाम पर होने वाली इस पाशविक लीला को देखकर पर्वत श्रेणियों के मध्य में चन्द्रदेव अपना मलिन मुख छिपाये ले रहे थे।

× × ×

"तैयार हो जाओ बालक! आज तुम्हारा जीवन धन्य होजायगा—माँ चन्डी तुमसे प्रसन्न हुई है"—कापालिक के एक शिष्य ने बनवारी को जगाते हुए कोमल वाणी से कहा—बनवारीने समझा इस भीषण कारागार से वह मुक्त होरहा है—हाँ हाँ चलो मैं तैयार हूँ, शीघ्रता से बोला। "तुम्हारी इस नश्वर देह के प्रसून आज माता काली के चरणों मे अर्पित होंगे धन्य है तुम्हारे जन्म दाता माता-पिता को" कापालिक शिष्य ने कहा।"शीघ्रता करो चन्डीदास—पार्श्व की गुफा से गम्भीर गर्जन सा करता कापालिक बोला कालिका की विकराल काली मूर्ति, लपलपाती लाल जिह्वा और चमचमाता हुआ कुठार चलचित्र की भाँति, बालक के मानस-पटल पर चित्रित होगया। हाय! यह नर पिशाच मेरी हत्या करने जा रहे हैं। "बचाओ! बचाओ!! मुरारी!!! अपने बनवारी को इस राक्षस से, तन मन का पूरा बल लगाकर वह चिल्लाया और भयातिरेक से अचेत होगया। "मूर्ख चण्डीदास! तेरी असावधानी से बालक अचेत होगया, यह घोर-अपशगुन है, अब आज नहीं कल—कापालिक की कर्कश वाणी से मूर्ख चेला काँप गया।

न जाने कब बनवारी की चेतना जागृत हुई। अपना अन्त सन्निकट जान, वह संस्कारी बालक, अपनी जन्मदात्री मैया और देवता जैसे पिता को पुकार-पुकार कर अस्फुटस्वरों में रोने लगा। रोते-रोते उसे उन भक्तों की कथायें याद आईं, जिन्हें उनके प्रियतम प्रभु ने महान संकटों के अवसर पर उबार लिया था। उसके अन्तःकरण में प्रबल विश्वास का विद्युत-प्रवाह तीव्रगति से प्रवाहित होने लगा। श्रद्धा के अमोघ सबल ने उसकी अश्रुधारा को लीलाविहारी, भक्त-भयहारी मुरारी के मुनिमनहारी चरणों की ओर मोड़ दिया। श्रद्धा-विश्वास और करुणा की त्रिवेणी ने सन्त-रंजन भक्त भय भजन श्यामसुन्दर के सुरमुनि-वन्दित चरणों में आर्त्त बालक ने आँसुओं के सुमन चढ़ाये।

सहसा पत्थर की छोटी बजरी ऊपर गुफा की छत से सर-सर करती बनवारी के सर पर गिरी तो उसने सर उठाकर देखा कि एक भारी शिला-खण्ड कोई ऊपर से एक ओर सरका रहा है। पत्थर हट गया, शुभ्र ज्योत्सना का धवल प्रकाश गुफा में फैला "इस सीढी के सहारे ऊपर आजाओ"—एक वीणा विनिन्दित स्वर लहरी उसके कानों में गूँज गई। रस्सी की सीढ़ी नीचे लटकी और यन्त्र चालित कठपुतली की भाँति निस्तब्ध बनवारी ने उस काल कोठरी के बन्धन से मुक्त होकर चैन की स्वाँस ली।

बनवारी ने देखा, सामने शिला खंड की आड़ में कोई छिपा हुआ एक जलती मशाल पकड़े बैठा है। "इस प्रकाश के पीछे पीछे चले आओ बच्चे" कानों में गुंजरित होती हुई उस दिव्य वाणी ने बालक की हृत्तन्त्री के तारों को झंकृत किया स्वप्न सा देखता हुआ विस्मय-विमुग्ध बनवारी तीव्र गति से चला। द्रुतगामिनी मशाल के पीछे पीछे दो हाथ के अन्तर से, उस नीरव निस्तब्ध निशा में पर्वत के

ऊंचे-ऊंचे पत्थरों को लाँघता-फाँदता वह भाग रहा था।

"ठहर! ठहर!! कहाँ जाता है।" भीमकाय भयंकर कापालिक हाँफता हुआ पीछे भागा आरहा था। अपने शिकार को पंजे से छूटा देख वह क्रुद्ध सिंह सा दहाड़ रहा था।

कई सौ फीट गहरा खड्ड अब बनवारी के सामने था और निकट आरहा था पीछे वह काल पुरुष। "साहस न छोड़ना" प्रकाशमयी मशाल से शब्द हुआ। अपने समस्त साहस को बटोर कर कूदा वह उस पर्याप्त चौड़ी खाई को। किसी अलौकिक दिव्य शक्तिने जैसे उसे गोद में उठाकर एक ओर बैठा दिया, ऐसा लगा बनवारी को। कापालिक ने समझा बालक की भाँति सरलता से मैं भी कूद जाऊँगा किन्तु वह क्रूर-कर्मा उस गम्भीर खड्ड में भयंकर चीत्कार करता गिर गया। किसी को क्षमा न करने वाली प्रकृति माता ने कापालिक की कपाल क्रिया करदी।

× × ×

कोमल कर-स्पर्श से अचेत बनवारी ने आँखें खोलीं तन मन में सिहरन हुई। सर पर अपना हाथ फेरा, कोई तो नहीं, यह क्या व्यापार है? भक्ति और श्रद्धा के तड़ित प्रवाह से उसके रोम काँटे जैसे खड़े हो गये। बुद्धिमान बालक अपने अनोखे उद्धारक को अपने चर्म चक्षुओं से देखने के लिये मचल गया। फूट-फूट कर रो पड़ा— अब क्यों छिपते हो मुरारी, तुम्हारे सिवा अपने बनवारी को मृत्यु के मुख से, इस प्रकार कौन खींच सकता है। आँसुओं का वेग बढ़ता गया हिचकियाँ बँध गई। मशाल दो हाथ की दूरी पर अधर में लटकी सी जल रही थी। कोई प्रत्युत्तर न पाकर उस बड़भागी बालक ने कहा—अब यदि तुम सामने नहीं आते तो तुम्हारा बनवारी यह चला"—उसने खाँई की ओर पैर बढ़ाया और सचमुच कूदने को उद्यत हो गया। पीछे से उसे उठालिया किसी ने अपनी ममतामयी गोद में, उस गोद में जिसे पाने के लिये जन्म जन्मान्तरों में ऋषि-मुनि साधन-रत रहकर भी प्राप्त नहीं कर पाते।

अश्रु पूरित नयनों को खोलकर उसने अनिर्वचनीय-अलौकिक दृश्य देखा—शत-शत सूर्यों के प्रकाश को मन्द करने वाले दिव्य प्रकाश में, कोटि कोटि कन्दर्प-कमनीय भुवनमनमोहन, नवकिशोर श्यामसुन्दर पृथ्वी से कुछ ऊपर उठे, अधरों पर धरी बाँसुरी को धीरे धीरे बजा रहे हैं। शीतल मन्द सुगन्ध समीरसे पीताम्बर और मोर पंख हिल रहे हैं।

आनन्दातिरेक से भक्त-बालक ने दोनों हाथों से अपनी आँखें मीच लीं।

× × ×

निरुपाय और हताश सेठ दम्पति हरिद्वार से घर चले गये थे। भारत के सभी पत्र-पत्रिकाओं में बनवारी के चित्र प्रकाशित हुए। सहस्त्रों की धन राशि बालक को लाने वाले के लिये इनाम में रक्खी गई। दान पाठ यज्ञ हवनादि भी हुए। प्रसिद्ध ज्योतिषियों ने बताया—बारहवें वर्ष में गम्भीर मारकेश है, भगवान ही उसकी रक्षा करें। हर प्रकार से हताश और भग्न-हृदय सेठ सबसे बचाकर एकान्त में आँसू बहाकर अपनी पुत्र विरहाग्नि को शान्त करने का असफल प्रयास करते। पुत्र विरह कातरा जननी को कोई नहीं समझा सका—वह "हाय मेरा छौंना" हाय मेरा लाल!! चिल्लाती गैया सी डकराती मन्दिर मन्दिर में भगवान् के चरणों में मस्तक पटकती पड़ी रहती, कभी बेहोश रहती और जब होश में आती तो आँखें सावन-भादों सी झड़ी लगा देतीं। जबसे उसका लाल खोया तबसे मैया के मुख में अन्न का एक दाना नहीं पहुँचा। इधर तीन दिन से सेठानी की दशा बिगड़ती जा रही थी, पुत्र वियोग में अपने प्राण त्याग का जैसे उसने प्रण कर लिया। सेठ के सभी प्रयत्न व्यर्थ हुए, पुत्र वियोग से छिन्न

भिन्न हृदय अब अपनी जीवनसंगिनी के होने वाले वियोग से तड़प उठा। भगवान् श्रीराधाकृष्ण के चरणों मे अश्रु धारा की अनेक मालाएँ समर्पित कर दी उस आर्त्तभक्त ने। भक्त के अन्तर्हृदय से निकली आकुल पुकार क्या कभी व्यर्थ जा सकती है ?

लाल जी आगये ! लाल जी आगये !! अनेक कण्ठों की ध्वनि स्पष्ट होती मन्दिर की ओर आ रही थी। सेठ ने समझा यह जागृत स्वप्न है, सेठानी समझी मैं किसी अन्य लोक मे पहुँच गई हूँ और वहीं मेरा लाल मेरे पास आ रहा है।

"माँ ! माँ !! पिता जी ! पिताजी !!" दोनों हड़बड़ा कर उठे। सचमुच उनकी आँखों का तारा दुलारा हृदयधन दोनों हाथ फैलाये उन्मत्त सा दौड़ा चला आ रहा था। आनन्द के आधिक्य से मूर्च्छिता जननी और पिता के चरणों को दोनों हाथों मे लपेट कर उस बालक ने रोते-रोते करुणा की गंगा यमुना सी बहा दी।

× × ×

माता-पिता सगे-सम्बन्धियों और उपस्थित जनों की आँखें अविरल अश्रु धारा प्रवाहित करती हुई भक्त-बालक बनवारी के मुख की ओर एकटक देख रही थी। इस अघट घटना पटीयसी को सुनाते हुए गद्गद् बनवारी ने कहा—पुनः जब मैंने अपनी आँखें खोलीं तो अपने को कोठी के द्वार पर खड़ा पाया।

भव्य-भावनाओं के प्रवाह में प्रवाहित, भावुक भक्त नर नारियों के जयघोष से आकाश मंडल गूँज उठा। आइये ! उसी स्वर मे हम भी अपना स्वर मिला कर प्रेम से बोलें—

भक्त और उनके भगवान् की जय।

पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्दजी महाराज के साथ राजस्थान भ्रमण में एक भक्त से इस प्रकार की एक सत्य घटना सुनी थी, उसी के आधार पर यह गाथा लिखी गई है। —लेखक

तीर्थराज प्रयाग में कुम्भ-पर्व स्नान की मुख्य तिथियाँ

प्रथम स्नानः—पौष शुक्ल १० ता० १४-१-५४ मकर संक्रांति।

द्वितीय स्नानः—माघ कृष्ण ३० ता० ३-२-५४ मौनी अमावस्या।

तृतीय स्नानः—माघ शुक्ल पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण के स्नान का पुण्ययोग भी त्रिवेणी-संगम में प्राप्त होगा।

नोटः—पूज्यपाद श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज १० जनवरी के लगभग इलाहाबाद पहुँच जायेंगे।

'परमार्थ' मासिक पत्र के नियम

(१) दैवी-गुणपूर्ण, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य सदाचार समन्वित विचारों द्वारा जनता को परमार्थ पथ पर पहुँचाने का प्रयत्न करना ही इसका उद्देश्य है।

(२) 'परमार्थ' का नया वर्ष १५ जनवरी से आरम्भ होकर १५ दिसम्बर को समाप्त होता है अतः ग्राहक जनवरी से ही बनाये जाते हैं। वर्ष के किसी भी महीने में ग्राहक बनाये जा सकते हैं किन्तु जनवरी के अङ्क के बाद निकले हुए तब तक के सब अङ्क उन्हें लेने होंगे 'परमार्थ' के बीच के किसी अङ्क से ग्राहक नहीं बनाये जाते, छः या तीन महीने के लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(३) इसका विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्ष में ४।) और भारतवर्ष से बाहर के लिये ८) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(४) ग्राहकों को चन्दा मनीआर्डर द्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देर से जा पाते हैं और वी० पी० खर्चा ग्राहक को देना पड़ता है।

(५) इसमें बाहर के विज्ञापन किसी भी दर पर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(६) कार्यालय से 'परमार्थ' को तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहक के नाम से भेजा जाता है। यदि किसी मास का अङ्क मास के अन्तिम सप्ताह तक न पहुँचे तो अपने डाकघर से फौरन लिखा पढ़ी करनी चाहिये। डाकघर का उत्तर शिकायती पत्र के साथ न आने से दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलने में अड़चन हो सकती है।

(७) पता बदलने की सूचना कम से कम १५ दिन पहले कार्यालय में पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक संख्या, पुराना व नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो अपने पोस्ट मास्टर को ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलने की सूचना न मिलने पर अङ्क पुराने पते से चले जाने की अवस्था में दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(८) ग्राहकों को अपना नाम-पता स्पष्ट लिखने के साथ साथ ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्र में आवश्यकता का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(९) पत्र के उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बात के लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्र की तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१०) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र ग्राहक होने की सूचना मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "परमार्थ" मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के नाम से और सम्पादक से सम्बन्ध रखने वाले पत्रादि, सम्पादक 'परमार्थ' मुमुक्षु आश्रम शाहजहाँपुर के नाम से भेजने चाहिये।

(११) पुस्तकों सम्बन्धी पत्र मैनेजर पुस्तक विक्रय विभाग के नाम भेजना चाहिये। तथा पुस्तकों का मूल्य अग्रिम भेजना चाहिये।

(१२) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एक से अधिक अङ्क रजिस्ट्री से या रेल से मँगाने वालों से चंदा कम नहीं लिया जाता।

(१३) भगवद्भक्ति, भक्तचरित्र, ज्ञान, वैराग्यादि दैवी गुण विकासक परमार्थ मार्ग में सहायक अध्यात्म-विषयक, आक्षेपरहित लेखों के अतिरिक्त अन्य विषयों के लेख भेजने का कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखों को घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापने का सम्पादक को पूर्ण अधिकार है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेख में प्रकाशित मत के लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं है।

सत्संग-समाचार

पूज्यपाद श्री स्वामी भजनानन्द जी महाराज के हृदयग्राही प्रवचन ता० १८, १९ अक्टूबर को गणेश पार्क — परमट घाट कानपुर में हुए। उपस्थित जनता स्वामी जी के सत्संग से विशेष प्रभावित हुई।

ता० २१-२२-२३ अक्टूबर को इटावा में पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी के संरक्षण में श्री दैवी सम्पद् मण्डल के सत्संग का आयोजन हुआ। पं० दुर्गाप्रसाद 'सरल' की सुन्दर कथा, ब्रह्मचारी रामचैतन्य के कीर्तन और स्वामी जी के सारगर्भित उपदेशों से प्रेमी भक्त लाभान्वित हुए। कई व्यक्तियों ने अवगुण तथा मादक-द्रव्य त्याग की प्रतिज्ञा की।

प्रेषक—चौबे ज्योतिप्रसाद

श्री दैवी सम्पद् मण्डल के सत्संग का आयोजन साहब गंज (बिहार) में स्वामी भजनानन्द जी की अध्यक्षता में ता० २९, ३०, ३१ अक्टूबर को समारोह से सम्पन्न हुआ। 'मंजुल' जी के सुमधुर कथा-कीर्तन, श्री रामचैतन्य ब्रह्मचारी जी के कीर्तन तथा स्वामी जी की अमृतमयी वाणी से जन-समुदाय आत्म-विस्मृत सा बन गया था। कई सज्जनों ने बीड़ी सिगरेट आदि अवगुणों का परित्याग किया।

प्रेषक—श्री बैद्यनाथ साह

श्री दैवी सम्पद् मण्डल का वार्षिकोत्सव परम पूज्य श्री स्वामी भजनानन्द जी की अध्यक्षता में ता० ७, ८, ९ नवम्बर को समारोह से सम्पन्न हुआ इस उत्सव में सम्मिलित होने वाले विशिष्ट वक्ताओं एवं कथावाचकों में श्री पं० चन्द्रमणि जी, ब्रह्मचारी रामचैतन्य जी श्री श्यामप्रकाश जी के नाम उल्लेखनीय हैं। बनारसी स्वामी श्री पूर्णानन्द जी महाराज के भी बड़े प्रभावशाली प्रवचन हुए और श्री महाराज की पावन वाणी का प्रसाद प्राप्त करके तो श्रोताओं का मन अतृप्त बना ही रहता है।

प्रेषक—जवाहर लाल दरोगा, रायबरेली

पूज्य चरण श्री १०८ श्री स्वामी शुकदेवानन्द जी महाराज मैनपुरी, आगरा, लखनऊ व प्रयाग (इलाहाबाद) निवासियों को सत्संग-लाभ प्रदान करते हुए बम्बई पधार गये हैं। १५ दिसम्बर ५३ से ५ जनवरी ५४ तक बम्बई के माधोबाग में श्री पूज्य महाराज के उपदेशों एवं श्रद्धेय श्री 'मञ्जुल' जी की 'रसमयी' वाणी का अमृतोपम प्रसाद वितरित होगा। इस आयोजन का श्रेय बम्बई निवासी सेठ श्री मटरूमल जी बाजोरिया को है।

प्रेषक—प्यारेलाल 'दादा'